

आचार्य श्री सकलकीर्तिविरचित-

प्रश्नोत्तरश्रावकाचार

(मूल सहित हिंदी भाषा वचनिका),

अनुवादक-

चावली (आगरा) निवासी श्रीमान् पं० लालारामजी शास्त्री-देहली।

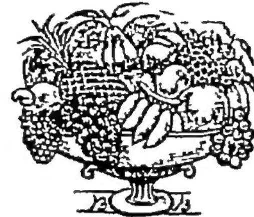
(आदिपुराण, उत्तरपुराण, शांतिपुराण, सागारधर्मामृत, धर्मप्रश्नोत्तर, चारित्रसार आदि अनेक ग्रंथोंके अनुवादक)

प्रकाशकः-मूलचन्द किसनदास कापडिया, दि० जैन पुस्तकालय-सूरत।

प्रथमावृत्ति] वीर सं० २४५३ विक्रम सं० १९८३ [प्रति १०००

मूल्य-रू० ३-८-० साढेतीन रुपये।

प्रकाशक–
मूलचन्द किसनदास कापडिया,
प्रकाशक 'जैनमित्र व मालिक दि० जैन
पुस्तकालय, चदावाड़ी–सूरत।



मुद्रक–
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रेस, खपाटिया चकला,
तासवालाकी पोल–सूरत।

प्रस्तावना।

प्राय आचार्य

प्रस्तावना।

प्रायः आचार्य श्री सकलकीर्तिके समस्त-ग्रथ उपदेशसे भरपुर और सर्वसाधारण लोगोंको स्वाध्याय करनेके लिये वडे उपयोगी है। प्रश्नोत्तरश्रावकाचार भी उनमेंसे एक है और इसमें श्रावकाचारका वर्णन वडी खूवीसे किया गया है। यदि इसको रत्नकरड-श्रावकाचारकी एक अच्छी सुवोधिनी टीका कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। आचार्यने उसी क्रमसे सव वर्णन लिखा है व बहुत ही खुलासा व विस्तारके साथ लिखा है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें जो कथाए आई है वे कथाए भी इसमें सव विस्तार पूर्वक दे दी गई है। आचार्य महाराजने प्रत्येक विषयको वडी सरलतापूर्वक समझाया है। आशा है स्वाध्याय करनेवालोंको यह ग्रथ विशेष उपयोगी होगा।

इसका अनुवाद दो प्रतियोंपरसे किया गया है। एक तो चावली (आगरा) निवासी विद्वद्वर्य प० नरसिंहदासजीकी कृपासे प्राप्त हुई थी और दूसरी प्रति देहली निवासी विद्वद्वर्य प० गौरीलालजीसे प्राप्त हुई थी, इनमें दूसरी प्रति प्रायः शुद्ध थी अतएव मैं इन विद्वानोंका वडा आभारी हू और दोनोंको अनेकानेक धन्यवाद देता हू।

यदि स्वाध्याय करनेवाले महाशयोंने इसे अपनाया तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूगा।

लालाराम जैन।

* * * * *

प्रकाशकीय निवेदनः—इस महत्वपूर्ण ग्रन्थका अनुवाद छपना प्रारम्भ होजानेके वाद इसमें मूल श्लोक भी रखनेका विचार इसलिये हुआ कि इससे सस्कृतज्ञ महानुभाव भी लाभ उठा सके इसलिये प्रथम तीन परिच्छेदके मूल श्लोक उनके अनुवादके पीछे एकसाथ छपे है, परन्तु चतुर्थ परिच्छेदसे मूल श्लोक हरएक पृष्ठके नीचे साथ साथ दिये गये हैं ताकि किसी भी नंवरके अनुवादका मूल श्लोक शीघ्र ही प्राप्त होसके।

वीर सं० २४५३ मगसिर वदी ५

प्रकाशक।

विषय-सूची ।

विषय		पृष्ठ
	पहिला सर्ग ।	
१	मंगलाचरण	१
२	धर्मका स्वरूप	२
३	धर्मके भेद	३
४	धर्मकी महिमा	४
	दूसरा सर्ग ।	
५	सम्यग्दर्शनका लक्षण	५
६	तत्त्वोंका स्वरूप	६
७	पुण्यकी महिमा	९
	तीसरा सर्ग ।	
८	देवका लक्षण	१२
९	कवलाहार निषेध	१५
१०	आप्तके ४६ गुण	१७
११	कुदेवोंका स्वरूप	१९
१२	धर्मका स्वरूप	२०
१३	कुधर्मका स्वरूप	२१
१४	गुरुका स्वरूप	२३
१५	कुगुरुका स्वरूप	२४
	(पृष्ठ २५ से ३५ तक तीन सर्गके मूल श्लोक)	
१६	सम्यग्दर्शनके भेद	३६
१७	मिथ्यात्वका स्वरूप	३७
१८	आठों अंगोंका स्वरूप	३९
	पांचवां सर्ग ।	
१९	प्रथम अंगमें प्रसिद्ध होनेवाले अञ्जनचोरकी कथा	४३
	छट्ठा सर्ग ।	
२०	दूसरे अंगमें प्रसिद्ध होनेवाली अनंतमतीकी कथा	५०
	सातवां सर्ग ।	
२१	तीसरे अंगमें प्रसिद्ध होनेवाले उद्दायनकी कथा	५५
२२	चौथे अंगमें प्रसिद्ध होनेवाली रेवती रानीकी कथा	५९

॥

शुद्धयशुद्धिपत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१६	सप्त	सत्तर
१०	१५	६७॥	६७॥ जो वाक्य धर्मके उपदेशसे परिपूर्ण हों, समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाले हों और विकथा आदिसे रहित हों ऐसे वाक्य भी पुण्यके कारण होते हैं।
१४	९	अनंतर	अनत
१५	१	हो जानेके	हो जानेके कारण
१७	१९	सभाल	समझ
२१	७	पक्ष	यज्ञ
२४	१९	नीधि	निधि
२५	९	स्मराम्ह	स्मराम्यहम्
२६	२	श्वेत	श्वेतं
२८	१८	पंचर्विशतिः—	पंचविंशतिः। दशपंचप्रमादाश्च योगाः कौटिल्यतत्पराः ॥४३॥ मदाष्टकं चतुःसंज्ञा विषयाः सप्तविंशतिः।
३०	१८	शिवशर्माकरं	शिवशर्वाकरं
३१	१५	मोः	मोः
३१	१६	३५॥	३५॥ आहारं वीतरागस्य ये केचन वदति भो। तत्स्यात्सत्यमसत्यं वा स्फोटय त्वं हि सशयम् ॥ ३६ ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२	७	कली	व्यली
३३	५	कंर्दें	र्दें
३८	१०	क्षयोय	धर्मोप
३९	१८	दर्शयन्	दर्शनं
४०	१७	सर्वाग	सर्वांग
४६	१४	भरण	मरणं
४८	९	क्षोम	क्षोभ
४८	१७	भद्रा	भद्र
४८	२०	मोक्षसना	मोक्षं स नाः
४९	७	कमा	कम।
४९	१९	कमाणि	कर्माणि
५२	११	पहलेकी वनदेवी	नगरकी देवी
५२	१६	दुर्बुद्धि	दुर्बुद्धिः
५६	१७	प्रजस्य	प्रशस्य
६२	१८	पीडित·	पंडितः
६५	२०	श्रेष्ठिन्या	श्रेष्ठिनो
६६	१६	श्रेटिन्या	श्रेष्ठिनो
७०	१९	गृण	गुण

७३	९	चढ़ोइ	चढाई
८१	१७	नादौ	नादौ
८७	१७	ऐश्वय	ऐश्वर्य
८८	७	पर्दों	मर्दों
८८	१९	देव	देवे
८९	६	३४	३५
८९	८	३५	३६
९२	१५	दर्शनाच्च ते	दर्शनात्ते
९५	१५	चयत्	यत्
९७	१७	सस्कध	सत्स्कंध
९७	१७	सम	समि
९८	१५	ग्राय	ग्राम
९८	१६	नाव्य	नाव्या
९८	१६	गुणानितान्	गुणान्वितान्
९९	१८	रोहित	रोहितु
१०१	१५	मित्रम्	मित्र
१०१	२०	मूलत्वा	मूलत्वाद्
१०४	१९	चेतसा	चेतसः
१०६	२०	महाजन	महाव्रत
१०७	१४	एका	एक
१०९	१८	वृद्धर्थं	वृद्धयर्थं
१०९	२०	नायकीं	नारकीं
१०९	२०	फ्रू	प्रक्रू
११०	१२	उग्रसे	उससे दूना हो अथवा उग्रसे
११०	२०	नैंघं	नेत्र
११२	१४	शोकेन	स्तोकेन
”	१४	मूत्र	भू त्र
”	१९	विर्यगार्ति	तिर्यग्मर्ति
११३	१८	न्या	न्य
११९	१७	तेष	तेन
१२१	१२	वाले	पाले
१२४	१७	विपादि	विषाहि
१२४	१७	सदृश	सदृग
१२५	७	अन्यथा	अथवा
१२५	१५	मिथ्योप्र	मिथ्योप
१३०	१९	किमागतो	किमागतोऽसि
१३१	१८	कोर्तिका	कर्तिका
१३५	१७	मिव	मिवा
१३६	१६	भुक्ते	भुक्ते
१३६	१६	विपादि	विपाहि
१४१	११	वापस	वापिस
१५०	१७	अस्मात्	अस्मान्
१५१	१९	प्राणहिता	‘प्राणहरा’ ऐसा भी पाठ है
१५५	१३	मालीन	मालिन

१५५	१४	हि माता	माता	२०२	४	मीलि	भीलि
१५६	१७	षट्	त्रि	२०३	१५	तिष्ठते	तिष्ठति
१५८	१८	स्वट्वा	खट्वा	२०५	१८	वधरा	धरा
१५९	१८	च्क्री	च्क्रीः	२०७	२०	तीर्थेश	तीर्थेश
१६३	१७	कृतसंख्यां	कृतसंख्या	२१०	२	मो	मोक्ष
१६५	४	है	हूं	२१०	६	भव	भवभव
१६५	७	सप्रकार	इसप्रकार	२१०	१५	सर्व	पर्व
१६५	१४	त्यज्यमान	त्याज्यान्	२१०	१९	ज्ञय	ज्ञेय
१६७	१६	सद्व्रते	सद्घृते	२११	४	. .	है
१७०	१९	विवर्जनाम्	विवर्जनात्	२११	५	. . .	है
१७२	१२	सांकल	सांकल आदि	२११	८	.	है
१७४	१५	नरोसमैः	नरोत्तमैः	२११	९	तपश्चरण	तपश्चरणसे
१८५	१५	तीर्थ	तीर्थं	२११	१०	तपश्च	तपश्चरण
१९५	१८	मेत	मेन	२११	१२	पुज	पूजा
१९६	१६	तब्धः	स्तब्धः	२११	१३	उपवा	उपवास रू
१९७	१६	ललाटै	ललाटे	२११	१५	श्रियाः	श्रिया.
१९८	१८	भवं	भयं	२१३	२	मृष्ट	मृष्ट
१९८	१८	तजितं	तर्जितं	२१३	३	मृष्ट	मृष्ट
१९९	२०	निर्वत्य	निर्वर्त्य	२१३	४	मृष्ट	मृष्ट
२००	४	श्वर	स्वर	२१३	६	मृष्टदान	मृष्टादान
२०१	११	चाविन्य	चार्वन्य	२१३	८	मृष्ट	मृष्ट

२१५	८	मुस्र	मुख
२१५	१९	सर्वांग	सर्वांगा
२१७	४	गृहस्थोंको	गृहस्थोंकि
२२०	१८	भोगाश्च	भोगांश्च
२२३	१८	पूर्णा	पूर्णी
२२३	१९	प्राणिनो भयात्	प्राणिनोऽभयात्
२२४	१६	स्वप्नेन	स्वप्ने न
२२५	७	कुगतिम	कुगतिमें
२२६	१३	तीर्यंच	तिर्यंच
२२७	१७	ज्ञेया	ज्ञेया
२२८	१४	यका	या का
२२९	१७	त्रिवे	त्रिवें
२३६	१	खेंवते	खेंते
२४०	६	दिखलाने	दिखलानेके
२४३	२०	काकजाम्	कामजाम्
२४७	१७	मानुष्य	मातुश्च
२४८	७	पिंजडों	पिंजडोंमें
२४९	१५	सखे	सखि
२५०	६	पसर	परस्पर
२६०	२०	सोनुपु	सोनुपु

२६९	२	दूसरा	दुवारा
२६९	११	नाग	नागर
२७१	१७	साव्य	साव्यं
२७४	२	विस	किस
२७४	१७	सकल्पैः	संकल्पैः
२७४	१८	रत्नरय	रत्नस्य
२७७	१७	घातान्	घातात्
२८३	१६	काय	काम
२८८	१४	अखिल वसु	अखिलसु
२९३	१९	घर्मः	द्यर्मः
२९४	१६	मुडन	मुडनं
२९५	११	गृहण	ग्रहण
२९६	९	चर्चा	चर्या
३०१	१५	नेतव्वा	नेतव्या
३०५	१४	गेंहि	गेंहि
३०७	३	सेव	सेवा
३०८	७	दीपक	दीपकके

नोट—जो श्लोक व टीका छपनेसे रह गये है वे लेखक द्वारा कापीमें न लिखनेके कारण ही रह गये है तथा कितनीक अशुद्धियां छपते समय टाइप न उठनेकी है। प्रकाशक।

॥४॥

विषय		पृष्ठ
४७	चोरी करना अच्छा नहीं	१३४
४८	अचौर्याणुव्रतके अतिचार	१३६
४९	अचौर्याणुव्रतमें प्रसिद्ध होनेवाले वारिषेणकी कथाका संकेत	१३८
५०	चोरी करनेमें प्रसिद्ध तपसीकी कथा	१३८
५१	इसके अन्तर्गत ४ कथाएं	१३९
	पंद्रहवां सर्ग ।	
५२	ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप	१४३
५३	परस्त्रीका त्याग ही श्रेष्ठ है	”
५४	वेश्यासेवनका निषेध	१४५
५५	शीलकी प्रशंसा	१४६
५६	ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार	१४७
५७	ब्रह्माणुव्रतमें प्रसिद्ध होनेवाली नीलीबाईकी कथा व फल	१४९
५८	कुशीलसेवनमे प्रसिद्ध होनेवाले यमदंड कोतवालकी कथा व फल	१५४
	सोलहवां सर्ग ।	
५९	परिग्रहपरिमाणका स्वरूप	१५८
६०	परिग्रहपरिमाणाणुव्रतके अतिचार	१६२
६१	परिग्रहपरिमाणमें प्रसिद्ध होनेवाले जयकुमारकी कथा व फल	१६३
६२	अत्यंत लोभमें (परिग्रहमें) प्रसिद्ध होनेवाले श्मश्रुनवनीतकी कथा व फल	१६६
	सत्रहवां सर्ग ।	
	गुणव्रतका स्वरूप—	
६३	दिग्व्रतका स्वरूप	१७०
६४	दिग्व्रतके अतिचार	१७१
६५	अनर्थदंडव्रतका स्वरूप	”
६६	अनर्थदंडके ५ भेद व उनका स्वरूप	१७२
६७	अनर्थदंड व्रतके अतिचार	१७७
६८	भोगोपभोग परिमाणका स्वरूप	१७८
६९	यम, नियम, प्रत्येक साधारण वनस्पति व अभक्ष्य वर्णन	१७८
७०	भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचार	१८३
	अठारहवां सर्ग ।	
	शिक्षाव्रत—	
७१	देशावकाशिक व्रतका स्वरूप	१८५
७२	” ” अतिचार	१८६

॥ ६ ॥

विषय		पृष्ठ
७३	सामायिकके ६ भेद व उनका स्वरूप	१८७
७४	सामायिक कहा किस प्रकार करनी चाहिए तथा उसका फल	१८८—९१
७५	पच नमस्कार महात्म्य, आवश्यक वर्णन	१९३
७६	सामायिकके अतिचार	१९५
७७	सामायिकके बत्तीस दोष	१९६
७८	कायोत्सर्गके बत्तीस दोष	२०१
७९	सामायिक प्रशसा	२०५
	उन्नईसवां सर्ग।	
८०	प्रोषधोपवासका स्वरूप व उस दिनका कर्तव्य	२०६
८१	तपकी प्रशसा	२१०
८२	प्रोषधोपवासके अतिचार	२१३
८३	प्रोषधोपवास-प्रशसा	२१४
	वीसवां सर्ग।	
८४	वैयावृत्यका स्वरूप	२१५
८५	पात्रोंके भेद व स्वरूप	,,
८६	आहारदान वर्णन	२१८
८७	औषधदान वर्णन	२२०

विषय		पृष्ठ
८८	ज्ञानदान वर्णन	२२१
८९	अभयदान वर्णन	२२२
९०	कुपात्र अपात्र लक्षण	२२६
९१	कुपात्र दान वर्णन	२२६
९२	अपात्र दान वर्णन	२२८
९३	कुदान वर्णन	२३०
९४	प्राप्त हुए धनसे जिनबिंब, जिनभवन बनवा कर पूजा प्रतिष्ठा करनी चाहिए व अन्यको पुन्योपार्जन कराना चाहिए	२३२
९५	अष्टद्रव्य पूजन वर्णन व पूजन फल	२३५—६
९६	दया धर्म बढानेको करुणादान करना चाहिए	२३९
९७	कुवा तालावादि बनवानेका निषेध	२३०
९८	चारदान, जिनबिंब, जिनभवन निर्माण, प्रतिष्ठा महिमा	२४०
	इकईसवां सर्ग।	
९९	वैयावृत्यके अतिचार	२४१
१००	आहारदानमें प्रसिद्ध होनेवाले श्रीषेण व श्री शातिनाथकी कथा	२४३

विषय		पृष्ठ
१०१	औषधिदानमें प्रसिद्ध होनेवाली .... वृषभसेनाकी कथा	२४६
१०२	ज्ञानदान वा शास्त्रदानमें प्रसिद्ध होनेवाले कौंडेशकी कथा	२५३
१०३	वसतिका दानमें प्रसिद्ध होनेवाले शूकरकी कथा	२५४
१०४	भगवान अरहतदेवकी पूजा करनेवाले मेंडककी कथा	२५६
	बाईसवां सर्ग ।	
१०५	सल्लेखनाका स्वरूप	२६२
१०६	,, अतिचार	२६७
१०७	सामायिक प्रतिमाका स्वरूप	२६८
१०८	प्रोषधोपवास प्रतिमाका स्वरूप	२६९
१०९	सचित्तत्याग प्रतिमाका स्वरूप	२६९
११०	रात्रिभोजनत्याग प्रतिमाका स्वरूप	२७१
१११	ये छह प्रतिमाएं पालन करनेवाला जघन्य श्रावक हैं	२७५
	तेईसवां सर्ग ।	
११२	ब्रह्मचर्य प्रतिमाका स्वरूप	२७५
११३	आरम्भत्याग प्रतिमाका स्वरूप	२८६
११४	परिग्रहत्याग प्रतिमाका स्वरूप	२८८
	चौवीसवां सर्ग ।	
११५	अनुमतित्याग प्रतिमाका स्वरूप	२९२
११६	उद्दिष्टत्याग प्रतिमाका स्वरूप	२९४
११७	भोजनके अन्तराय	२९७
११८	सदोष आहारके दोष	२९९
११९	सयमियोंका कर्तव्य	३००
१२०	प्रतिमाओंका माहात्मय	३०३
१२१	ग्रन्थका माहात्मय	३०५
१२२	अन्तिम मगल	३०७



॥८॥



आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित—

प्रश्नोत्तरश्रावकाचार ।

(भाषा वचनिका)

प्रथम सर्ग ।

जिनेशं वृषभं वंदे वृषदं वृषनायकम् ।
वृषाय भुवनाधीशं वृषतीर्थप्रवर्तकम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं, धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं, धर्मके स्वामी हैं और धर्मको देनेवाले हैं ऐसे श्री वृषभदेव जिनेंद्रदेवको मैं (श्री सकलकीर्ति आचार्य) धर्मके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ जिन्होंने अपने वचनरूपी किरणोंसे मोहरूपी नींदको दूरकर संसारको जगा दिया अर्थात भव्य जीवोंका मोह दूरकर मोक्षमार्गमें लगा दिया ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामीको मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥ २ ॥ मैं अपने प्रारंभ किये हुए ग्रंथको पूर्ण करनेके लिये धर्म-साम्राज्यके स्वामी और भव्य जीवोंको सुख देनेवाले ऐसे शेष बाईस तीर्थंकरोंको भी नमस्कार करता हूं ॥३॥ जो ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंसे रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठों गुणोंसे सुशोभित हैं और लोकाकाशके शिखरपर विराजमान हैं ऐसे श्री सिद्ध भगवानको मैं अपने कार्यकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥ जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार,

वीर्याचार और तपाचार इन पांचो आचारोंको स्वयं पालन करते हैं और अपने शिष्योंको पालन कराते है, ऐसे आचार्य परमेष्ठीके चरणकमलोंको मै नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥ जो अंगपूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रोंको स्वयं पढते है और अन्य धर्मात्माओंको पढाते है ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीको मै नमस्कार करता हूं ॥ ६ ॥ जो सवेरे दोपहर और शाम तीनों समय योग धारण करते है, मूलगुण और उत्तर गुणोंका पालन करते है तथा तप रूपी लक्ष्मीको सदा साथ रखते है अर्थात् सदा तपमें लीन रहते है ऐसे साधु परमेष्ठीके चरणकमलोंको मै नमस्कार करता हूं ॥ ७ ॥ जो वीतराग अरहंतदेवके मुखसे प्रगट हुई है, अंगपूर्व आदि अनेक रूपसे जो विस्तृत हुई है और मुनिलोग सदा जिसकी आराधना करते रहते हैं ऐसी सरस्वतीदेवीको मै अपनी बुद्धिको प्रसिद्ध करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ ८ ॥ जो अंगपूर्व आदि श्रुतज्ञानके पारगामी है और महा कवि है ऐसे गौतम आदि समस्त गणधरोंको मै अपनी बुद्धि और ज्ञान बढानेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ ९ ॥ इस प्रकार मंगल कामनाके लिये देव, सिद्धांत और श्रेष्ठ गुरुओंको नमस्कारकर मै केवल धर्मके बढानेसे प्रश्नोत्तर श्रावकाचार नामके ग्रंथको कहता हूं ॥ १० ॥ जो मतिज्ञान श्रुतज्ञान सहित है, श्रावकाचार पालन करनेमें तत्पर है, बुद्धिमान है और संवेग वैराग्यसे सुशोभित है उसको श्रावक कहते है ॥ ११ ॥ ऐसा कोई श्रावक केवल धर्मश्रवणकी इच्छासे रत्नत्रयसे सुशोभित और सब तरहके परिग्रहोंसे रहित ऐसे निर्ग्रंथ गुरुको नमस्कारकर पूछने लगा ॥ १२ ॥

प्रश्न–हे भगवन्! अनेक दुःखोंसे भरे हुए और असार ऐसे इस अनादि संसारमें क्या सार है सो कृपाकर आज मुझसे कहिये? उत्तर–चारो गतिरूप बड़े बड़े भंवरोंसे शोभायमान इस संसाररूपी क्षार सागरमें संसारी जीवोको गुणोंसे सुशोभित मनुष्य जन्म प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ वा सार है ॥ १३–१४ ॥

प्रश्न–हे भगवन्! इस मनुष्य जन्ममें भी क्या सार है जिससे कि यह मनुष्य जन्म सफल हो सके? मै आपके श्रीमुखसे ये सब बात सुनना चाहता हूं। उ०–इस मनुष्य जन्ममें भी श्रेष्ठ धर्मका प्राप्त होना ही परम सार है। यह धर्म ही संसाररूपी समुद्रसे पार करनेवाला है, सुखका परम निधि है और स्वर्गमोक्षके सुखोंको देनेवाला है ऐसा श्री जिनेंद्रदेवने कहा है ॥ १५–१६ ॥

प्रश्न–हे देव! वह धर्म एक ही प्रकारका है या दो प्रकारका है सो मैं कुछ नहीं जानता हूं। मैंने तो अन्य शास्त्रोंमें

अनेक प्रकारका धर्म सुना है ? उ०—जिस प्रकार जन्मांध पुरुष सूर्यको नहीं जानते उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव पदार्थोंके स्वरूपको नहीं पहिचानते। ऐसे तत्त्वहीन पुरुष पापको ही धर्म कह देते हैं। जिस प्रकार चतुर पुरुष सुवर्णादिकको घिस देखकर लेते हैं उसी प्रकार ज्ञानी जीवोंको परीक्षाकर धर्मको स्वीकार करना चाहिये ॥ १७–१९ ॥ जिस प्रकार भैंसका दूध और आकका दूध दोनोही नामसे दूध हैं तथा दोनों ही सफेद हैं तथापि उनके स्वादमें बड़ा भारी अंतर है, उसी प्रकार बुद्धिमान लोग धर्मके स्वरूपको भी अनेक प्रकारका बतलाते हैं ॥ २० ॥ जो रागद्वेष रहित हैं वे सर्वज्ञ कहलाते हैं, उन सर्वज्ञका कहा हुआ जो धर्म है वही धर्म कहलाता है। अन्य रागद्वेषसे परिपूर्ण लोगोंके द्वारा कहा हुआ धर्म कभी धर्म नहीं हो सकता ॥ २१ ॥ श्री सर्वज्ञदेवने जैन शास्त्रोंमें वह धर्म दो प्रकारका बतलाया है—एक श्रावकोंके पालन करने योग्य श्रावकाचार और दूसरा मुनियोंके पालन करने योग्य यत्याचार ॥ २२ ॥ उनमेंसे पहिला श्रावकाचार धर्म एक देशरूप है, सुगम है और उसे श्रावक लोग अपने घरके व्यापार आदि भारको चलाते हुए भी इस संसारमें अच्छीतरह पालन कर सकते हैं। दूसरे यत्याचार धर्मको घोर परीषहोंको सहन करनेवाले मुनिराज ही पालन कर सकते हैं। उसे अन्य दीन गृहस्थी मनुष्य कभी पालन नहीं कर सकते ॥ २३–२४ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन ! आप कृपाकर श्रावकाचारका वर्णन कीजिये जिसके सुननेसे मेरा आत्मा धर्म पालन करनेमें तत्पर हो और सुखी हो ॥२५॥ उ०—हे वत्स ! तू चित्त लगाकर सुन। जो श्री जिनेन्द्रदेवने सातवें उपासकाध्ययन नामके अंगमें वर्णन किया है वह सब मै कहता हूं ॥२६॥ यह उपासकाध्ययनाग बहुत बड़ा है और अंगोंमें सारभूत है। भगवान वृषभदेवने जो अपनी दिव्यध्वनिमें कहा था उसका अर्थ लेकर श्री वृषभसेन गणधरने उसकी रचना की है ॥२७॥ उसके सब पदोंकी संख्या ग्यारह लाख सात हजार है तथा एक एक पदमें सोलहसौ चौंतीस करोड (सोलह अरब चौंतीस करोड) तेरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी वर्ण हैं ॥२८–३०॥ यह श्रावकाचार धर्म जैसा श्री वृषभदेवने निरूपण किया था वैसा ही अजितनाथ आदि सब तीर्थंकरोंने निरूपण किया था ॥३१॥ श्रावकोंके सुखके लिये श्री वर्द्धमान स्वामीने भी निरूपण किया, और गौतम गणधरने भी निरूपण किया ॥३२॥ मुनिराज श्री सुधर्माचार्य तथा श्री जम्बूस्वामीने अपने केवलज्ञानके द्वारा इस सब गृहस्थाचारका निरूपण किया ॥३३॥ इनके अनंतर भव्य जीवोका उपकार करनेके लिये द्वादशांग

श्रुतज्ञानको जाननेवाले विष्णु आदि श्रुतकेवलियोंने भी इस अंगका निरूपण किया ॥ ३४ ॥ श्रुतकेवलियोंके वाद काल दोषसे मनुष्योंकी आयु बुद्धि शरीर संहनन आदि घट जानेके कारण धर्मको स्थिर रखनेवाला अंग पूर्वोंका ज्ञान भी कम होगया ॥ ३५ ॥ तब श्री कुंदकुंद आदि अनेक आचार्योंने इस श्रावकाचारका वर्णन किया। इस प्रकार अनुक्रमसे जिनका वर्णन चला आया है ऐसे महाशास्त्रोंको जानकर धर्मके कारण भव्य जीवोंको सुख देनेवाले और ज्ञानको वढाने-वाले शास्त्रको मै कहता हूं ॥३६-३७॥ जो यह शास्त्र पहिलेके वडे वडे बुद्धिमान और चतुर आचार्योंने निरूपण किया है उसे मै यद्यपि अपने थोड़े ज्ञानसे कह नही सकता तथापि उन आचार्योंके चरणकमलोंको नमस्कार करनेसे जो पुण्य प्राप्त हुआ है उसके प्रभावसे मै थोडासा सारभूत श्रावकाचार धर्म कहता हूं ॥३८-३९॥ इस जैन धर्मके प्रभावसे जीवोंको पाप दूरसे ही देखता रहता है पास नही आता, तथा स्वर्गकी लक्ष्मी अपने आप उसके पास आजाती है और मोक्षरूपी कन्या भी उसे सदा देखती रहती है ॥ ४० ॥ जो जीव धर्मसिंहासनपर विराजमान है वह तीनों लोकोंमें उत्पन्न हुए सुखोंमेंसे जो जो चाहता है वह सव उसके पास स्वयं आजाता है ॥ ४१ ॥ जो जीव इस श्रेष्ठ धर्मको पालन करता है उसके हाथमें चिंतामणि रत्न ही समझना चाहिये अथवा कल्पवृक्ष उसके घरमें ही समझना चाहिये और कामधेनु उसकी दासी समझनी चाहिये ॥ ४२ ॥ इस संसारमें धर्म ही वंधु है, धर्म ही मित्र है, धर्म ही स्वामी है, धर्म ही सुख करनेवाला है, धर्म ही हित करनेवाला है और इस लोक तथा परलोक दोनों लोकोंमें धर्म ही जीवोको श्रेष्ठ फल देनेवाला है ॥ ४३ ॥ जो जीव इस सर्व श्रेष्ठ श्रावकाचार धर्मका पालन करता है वह सोलहवें स्वर्गके सुख भोगकर मोक्षमहलमें जा विराजमान होता है ॥ ४४ ॥ जिस प्रकार इस लोकमें विना मेघोंकी वर्षाके अच्छे धान्योंकी उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार विना धर्मके धन्य धान्य आदि किसी भी प्रकारकी लक्ष्मी प्राप्त नही होती ॥ ४५ ॥ जिस प्रकार सर्पके मुखमें पडी हुई कोई भी वस्तु अमृत रूप नहीं हो सकती उसी प्रकार पापाचरणोसे धन धान्यादि ऋद्धियां कभी नही मिल सकती ॥ ४६ ॥ जो जीव इस धर्मको साक्षात होकर पालन करता है उसको अन्य किसी फलकी आवश्यकता नही है क्योंकि इस धर्मको पालन करने-वाला पुरुप स्वयं स्वर्गका स्वामी वन जाता है ॥ ४७ ॥ इसलिये अपने आत्माका हित चाहनेवाले जीवोको अज्ञान छोड़कर सदा धर्मका ही पालन करते रहना चाहिए क्योंकि धर्मका पालन करनेसे ही सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ४८ ॥

हे भाई तू दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्तत्याग प्रतिमा, रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा,
ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग इन ग्यारह प्रतिमाओंको अनुक्रमसे पालन
कर। ये सब प्रतिमाएं पापोंको नष्ट करनेवाली हैं ॥ ४९ ॥ जिसमें दान देना और श्री जिनेंद्रदेवकी पूजा करना ही
मुख्य है और जो संसारके समस्त विकारोंसे रहित है ऐसे इस श्रावकाचार धर्मको बुद्धिमान लोग पालन करते है। श्री
तीर्थंकर परमदेवने इसका निरूपण किया है। यह अनेक निर्मल गुणोंका निधि है, स्वर्गोंके सुख देनेमें चतुर है और निर्मल
सुखका समुद्र है ऐसे इस श्रावकाचार धर्मको हे भव्य! तू पालन कर ॥ ५० ॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे संक्षेपसे
व्रतोको निरूपण करनेवाला यह प्रथमसर्ग समाप्त हुआ।



अथ दूसरा सर्ग।

अव मै राग द्वेष आदि समस्त दोषोंको जीतनेवाले भगवान आजितनाथको नमस्कारकर श्रावकोंके व्रतोंको
विशेष रीतिसे कहता हूं सो हे भव्य! तू सुन ॥ १ ॥ जिस प्रकार वृक्षका आधार उसकी जड़ है उसी प्रकार समस्त व्रतोंकी
जड़ सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार विना जड़के वृक्ष ठहर नही सकता उसी प्रकार विना सम्यग्दर्शनके कोई व्रत नही हो
सकता ॥ २ ॥ इसलिये विवेकी गृहस्थोंको सवसे पहिले सव व्रतोंका सारभूत सम्यग्दर्शन ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि
सम्यग्दर्शनके साथ साथ होनेवाले व्रत ही समस्त पापोंको दूर कर सकते है अन्यथा नहीं ॥ ३ ॥ जीवादिक सातों तत्त्वोका
श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। सम्यग्दर्शन धारण करनेवाले जीवोंको उन तत्त्वोंका ज्ञान अवश्य कर लेना
चाहिये ॥ ४ ॥

प्र०—हे भगवन्! वे तत्त्व कौन कौन हैं? उनमें क्या क्या गुण है? उनका स्वरूप क्या है? उनके भेद कितने हैं? आदि
सव बातें विस्तारपूर्वक मेरे लिये कहिये? उ०—हे बुद्धिमान्! भाग्यवान! सुन, मैं उन तत्त्वोंका स्वरूप आदि अपनी बुद्धि

और आगमके अनुसार संक्षेपसे कहता हूं ॥ ५–६ ॥ जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व जैन शास्त्रोंमें बतलाये हैं ॥ ७ ॥ जो द्रव्य प्राण और भाव प्राणोंसे अनादि कालसे लेकर जीवित रहता है और आगे भी वार वार जीवेगा और ऐसा होनेपर भी जिसका स्वरूप निश्चल है उसको जीव कहते हैं ॥ ८ ॥ द्रव्य प्राण दश हैं–पांच इंद्रियां, मन, वचन, शरीर ये तीन वल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इनसे ही यह जीव जीवित रहता है। यदि शुद्ध निश्चयनयसे देखा जाय तो केवल उपयोगमय जीव है। व्यवहार नयसे मूर्त ज्ञान तथा दर्शनके गोचर है (व्यवहार नयसे मूत है और मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानके गोचर है) ॥ १० ॥ निश्चय नयसे अमूर्त है और कर्मादिकोंका भोक्ता नहीं है। व्यवहारनयसे मूर्त है और कर्मोंके सुख दुःख आदि फलोंका भोक्ता है ॥ ११ ॥ शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे यह जीव न तो कर्म नोकर्मोंका कर्ता है न राग द्वेषोंका कर्ता है और न घट पट आदि पदार्थोंका कर्ता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे यह जीव संसारमें परिभ्रमण भी नहीं करता ॥ १२ ॥ व्यवहार नयसे यह जीव कर्म नोकर्म वा शरीर आदिका कर्ता है, मोह द्वेष आदिका कर्ता है और घट पट आदि पदार्थोंका भी कर्ता है तथा दीर्घ संसारमें परिभ्रमण भी करता है ॥ १३ ॥ इस आत्मामें दीपकके प्रकाशके समान संकोच और विस्तार होनेकी शक्ति है इसलिये व्यवहार नयसे यह जीव समुद्घात[1] अवस्थाको छोडकर कर्मोंके उदयके अनुसार प्राप्त हुए छोटे वडे शरीरके प्रमाणके वरावर है–जव जितना वड़ा शरीर पाता है तव उतना ही वड़ा हो जाता है ॥ १४ ॥ परंतु निश्चय नयसे लोकाकाशके समान असंख्यात प्रदेशवाला है। (उन प्रदेशोंमें कभी हीनाधिकता नही होती) जो जीव मुक्त हो जाते हैं उनका आकार अंतिम शरीरसे कुछ कम होता है ॥ १५ ॥ जीव दो प्रकारके हैं–संसारी और सिद्ध। (कर्म सहितको संसारी और कर्म रहितको सिद्ध कहते हैं)। यदि जाति आदिका भेद न भी गिना जाय तो भी संसारी जीव छह प्रकारके है (त्रस और पांच प्रकारके स्थावर) ॥ १६ ॥ पृथ्वी कायिक जीवोंकी योनियां सात लाख हैं, जल कायिककी सात लाख, अग्निकायिककी सात लाख, वायु कायिककी सात लाख, नित्य निगोदकी सात लाख, इतर निगोदकी सात लाख, वनस्पतिकायिककी दश लाख, द्वींद्रिय जीवोंकी दो लाख, त्रींद्रिय जीवोंकी दो लाख, चौइंद्रिय जीवोंकी दो लाख, तिर्यंच पंचेंद्रिय जीवोंकी चार लाख, देवोंकी चार

१ आत्माके प्रदेश शरीरमें रहते हुए भी शरीरके वाहर निकल जाते है उसको समुद्घात कहते हैं।

लाख, नारकियोंकी चार लाख और मनुष्योंकी चौदह लाख इस प्रकार जैन शास्त्रोंमें जीवोंकी सब चौरासी लाख योनियां
बतलाई हैं। तत्त्वोंके जानकार जीवोंको आयु काय आदिके भेदसे ये सब योनियां जान लेनी चाहिये ॥ १७–१९ ॥ जो
चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणाओंमें रहे वह भी संसारी जीव ही समझना चाहिये। इसप्रकार सम्यग्दर्शनको विशुद्ध
करनेके लिये बुद्धिमानोको जीव तत्त्वका स्वरूप समझ लेना चाहिये ॥ २० ॥

तत्त्वोंके जानकार जीवोंको अजीव तत्त्वके पांच भेद समझने चाहिये। धर्म, अधर्म, आकाश और काल चार तो
ये हैं, ये चारों ही पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है तथा पांचवां अजीव तत्त्व पुद्गल है उसमें स्पर्श, रस, गंध,
वर्ण गुण हैं और वह अणु स्कंध आदि भेदसे अनेक प्रकारका है। यह पुद्गल जीवोको सुख दुःख भी देता है ॥ २१–
२२ ॥ धर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशवाला है और अमूर्त है तथा जिस प्रकार मछलियोंके चलनेमें पानी सहायक होता है
उसी प्रकार यह धर्मद्रव्य भी जीव और पुद्गलोंके गमन करनेमें सहायक होता है ॥ २३ ॥ अधर्म द्रव्य अमूर्त है, क्रिया
रहित है और जिस प्रकार पथिकोंके ठहरनेमें छाया सहायक होती है उसी प्रकार यह अधर्म द्रव्य भी जीव पुद्गलोंके
ठहरनेमें सहायक होता है ॥ २४ ॥ आकाशके दो भेद हैं एक लोकाकाश दूसरा अलोकाकाश। जो जीवादिक समस्त
पदार्थोंको जगह दे सके उसे आकाश कहते हैं। जो समस्त द्रव्योंसे भरा हुआ है और जिसमें असंख्यात प्रदेश हैं उसको
लोकाकाश कहते हैं। यह लोकाकाश भी अविनश्वर है, कभी नाश नहीं होता ॥ २५ ॥ अलोकाकाशमें अनंत प्रदेश है वह
अकेला है। उसमें अन्य कोई द्रव्य नहीं है। वह अमूर्त है, नित्य है और जैन शास्त्रोंके द्वारा ही चतुर पुरुषोंको उसका ज्ञान
होता है ॥ २६ ॥ घड़ी, घंटा, दिन आदिको व्यवहार काल कहते हैं। द्रव्योंकी पर्यायोंको बदलनेवाला यह व्यवहार काल
ही है। यह व्यवहार काल अनित्य है और सूर्य चंद्रमा आदि घूमते हुए ज्योतिषी देवोंके विमानोंसे मालूम होता है ॥२७॥
निश्चयकाल अमूर्त है और क्रिया रहित है। उसके भिन्न भिन्न असंख्यात प्रदेश हैं और वे अलग अलग एक एक करके
लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर ठहरे हैं ॥ २८ ॥ इस प्रकार अजीव तत्त्वके ये पांच भेद हैं। यदि इनके साथ जीव
मिला लिया जाय तो ये ही (धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, जीव) छह द्रव्य कहलाते हैं। इनमेंसे काल द्रव्यको
छोड़कर बाकीके पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं ॥२९॥ कर्मोंके आनेके कारणोंको आस्रव कहते हैं। मिथ्यात्व, अविरति

योग, कषाय और प्रमाद ये सब कर्मोंके आनेके कारण हैं अर्थात् इनसे ही कर्म आते हैं ॥ ३० ॥ जिस प्रकार किसी नावमें छिद्र होजानेके कारण उसमें पानी भर जाता है और फिर उस नावके साथ उसपर बैठनेवाला मनुष्य समुद्रमें डूब जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरत आदि दोषोंसे मलिन हुआ यह जीव भी कर्मोंके आश्रव होनेके दोषोंसे संसाररूपी समुद्रमें डूब जाता है ॥ ३१ ॥ बुद्धिमान लोग जीव और कर्मके संबंध होनेको बंध कहते हैं। यह कर्मबंध अनंत दुःखोंको देनेवाला है, दाह वा जलन रूपी अग्निके लिये महा ईंधनके समान है ॥ ३२ ॥ जिस प्रकार शरीरपर तैल लगा लेनेसे उसपर धूल आकर जम जाती है उसी प्रकार राग द्वेष आदि दोषोंसे दूषित होनेपर जीवके भी कर्मोंका समूह आकर बंधको प्राप्त होजाता है ॥ ३३ ॥ सब प्रकारके आस्रवका निरोध होजाना—रुकजाना—संवर कहा जाता है, यह संवर ही अनंत कर्म समूहको नाश करनेवाला है और मोक्ष सुखको देनेवाला है ॥ ३४ ॥ मुनियोंके यह संवर तप, समिति, चारित्र, गुप्ति, धर्म, परीषहजय और ज्ञान, ध्यान, व्रत आदिके द्वारा होता है ॥ ३५ ॥ कर्मोंके एक देश क्षय होनेको निर्जरा कहते हैं वह दो प्रकारकी होती हैं—अविपाक निर्जरा और सविपाक निर्जरा। जो ज्ञान, ध्यान और तपके द्वारा पहिलेके इकट्ठे किये हुए कर्म नष्ट होते हैं उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं ॥ ३६ ॥ इस अविपाक निर्जराको मुनि लोग ही करते हैं यह निर्जरा स्वर्ग मोक्षकी कारण है। तथा जो कर्मोंके विपाकसे होती है, कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं उसको सविपाक निर्जरा कहते हैं यह सविपाक निर्जरा अन्य अनेक कर्मोंका आस्रव करनेवाली है ॥ ३७ ॥ यह सविपाक निर्जरा संसारी सब जीवोंके होती है, कर्मके आधीन है और अन्य अनेक कर्मोंका आस्रव करनेवाली है तथा दूसरी अविपाक निर्जरा विद्वानोंको मोक्ष देनेवाली है ॥ ३८ ॥ जीव कर्मोंके संबंधके छूट जानेको अर्थात् समस्त कर्मोंके नाश हो जानेको मोक्ष कहते हैं। संवर निर्जरा आदिको धारण करनेवाले मुनियोंके तप चारित्र आदिसे वह मोक्ष प्राप्त होती है ॥ ३९ ॥ जिस प्रकार किसी बंधनसे बंधे हुए पुरुषको छोड देनेसे सुख होता है उसी प्रकार कर्मोंसे बंधे हुए जीवको उन कर्मोंके नाश होजानेसे अनंत सुख प्राप्त होता है ॥ ४० ॥ मोक्षका सुख स्वाभाविक है, अनंत है फिर कभी भी नष्ट नहीं होता, संसारमें कोई भी इसकी उपमा नहीं, संसारके परिभ्रमणसे सर्वथा रहित है और आत्यंतिक है ऐसा श्री जिनेंद्रदेवने कहा है ॥ ४१ ॥

जीवोंके शुभ अशुभ भावोंसे पुण्य पाप होता है अर्थात् शुभ भावोंसे पुण्य होता है और अशुभ भावोंसे पाप होता है। साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये कर्म पुण्य हैं और बाकीके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र ये पाप हैं ॥ ४२ ॥ मिथ्यात्व पांच, कषाय पच्चीस, प्रमाद पंद्रह, कुटिलतामें तत्पर रहनेवाले योग ये सब पापबन्धके कारण हैं। इनके सिवाय मद आठ, संज्ञा चार, विषय सत्ताईस, आर्तध्यान चार, रौद्रध्यान चार, व्यसन सात, अविरति बारह, राग, द्वेष, मोह, भय सात, वेद, शोक क्रिया चौवीस, इन सबका होना कुटिलता कहलाती है ये सब पापबन्धके कारण हैं ॥ ४३–४५ ॥ किसी स्वीकार किये हुए नियमके भंग करनेसे (किसी व्रतका भंग कर देनेसे) महापाप उत्पन्न होता है तथा देव शास्त्र गुरुके छिपानेसे अथवा उनकी आज्ञाका भंग करनेसे भी जीवोंको महापाप होता है ॥ ४६ ॥ धर्मकार्योंमें विघ्न करनेसे पाप और मिथ्यात्वकी पुष्टि करनेसे तथा सदा मिथ्या उपदेश देनेसे सबसे बडी कुटिलता प्रगट होती है अर्थात् सबसे अधिक पाप होता है ॥४७॥ यह पाप जीवोंका सबसे बडा शत्रु है। अनेक बडे बडे दुःखरूपी अग्निके लिये ईंधन है, नरक आदि दुर्गतियोंका कारण और रोग क्लेश आदिका महासागर है ॥ ४८ ॥ जब इस जीवके पहिले किये हुए पाप सामने आते हैं अर्थात् वे उदयमें आकर अपना फल देते हैं तब भोजन, वस्त्र, धन, घर आदि सब नष्ट हो जाता है ॥ ४९ ॥ जब इस जीवके पाप रुक जाते हैं–नष्ट हो जाते हैं तब इस जीवकी सब इच्छाएं पूरी हो जाती हैं। यदि पाप न रुके हों–नष्ट न हुए हों तो फिर तप करना, चारित्र पालन करना, श्रुतज्ञानका बढाना आदि सब व्यर्थ और क्लेश बढानेवाला है ॥ ५० ॥ संसारमें वे ही मित्र हैं और वे ही बन्धु हैं जो हम लोगोंसे धर्मसेवन कराते हैं। जो धर्ममें विघ्न करनेवाले हैं वे शत्रु हैं इसमें कोई संदेह नहीं ॥ ५१ ॥ जो मुनिराज इस महापापरूपी सागरमें पड़े हुए भव्य जीवोंको धर्मोपदेशरूपी दोनों हाथोंका सहारा देकर उस पापरूपी महासागरसे पार कर देते हैं–मोक्षमार्गमें लगा देते हैं वे ही इस जीवके सच्चे बांधव हैं ॥ ५२ ॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ? थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि संसारमें जो कुछ बुरा है, दुःख है, दरिद्रता है, रोग आदि आधिव्याधि हैं वे सब पापसे ही उत्पन्न होती हैं ॥ ५३ ॥ इसलिये हे धीमन्! यदि तू स्वर्ग मोक्षके सुख चाहता है और दुःखोंसे बचना चाहता है तो बुद्धिपूर्वक पापोंका त्याग कर ॥ ५४ ॥ इन पापोंके बीजभूत कारणोंको य

फलोंको जब भगवान वर्द्धमानस्वामीने कहा है फिर भला अन्य कौन कह सकता है ॥ ५५ ॥ तथापि पापके कारण जो पहिले बतलाये हैं उनके प्रतिकूल कारण पुण्य सम्पादन करनेके लिये कहे जाते हैं ॥ ५६ ॥ उत्तम क्षमा आदि दश धर्म, बारह व्रत, उत्कृष्ट श्रावकाचारका पालन करना, बारह प्रकारका तप, श्रेष्ठ मुनियोंको आहार आदि चार प्रकारका दान देना, ज्ञान सम्पादन करना, ध्यान करना, भगवान अरहंतदेवकी पूजन करना, धर्मात्मा लोगोंका आदर सत्कार करना, गुरुकी सेवा करना, जिन प्रतिमाका बनवाना, अरहन्तदेवकी भावना करना, अनेक विभूतियोंकी देनेवाली जिनबिंबोंकी प्रतिष्ठा करना, बड़े भारी उत्सवके साथ अरहन्तदेवकी प्रतिमाका अभिषेक करना, बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन करना, तप करना, अपने आत्माका कल्याण करना, अन्य जीवोंका उपकार करना, अन्य जीवोंके लिये धर्मोपदेश देना, हृदयमें धर्मध्यानका चिंतवन रहना आदि सब प्राणियोंको पुण्य सम्पादन करनेवाले हैं ॥ ५८-६२ ॥ जब यह मनुष्यका हृदय सब प्राणियोंके लिये दयासे द्रवीभूत होता है, दयासे पिघल जाता है तभी इस जीवको पुण्य होता है। विना दयाके सब प्रकारके तप करनेसे भी कोई लाभ नहीं है ॥ ६३ ॥ व्यर्थ ही बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि अन्य जीवोंका अनिष्ट न करना ही पुण्यकी जड़ है ॥ ६४ ॥ भव्य जीव रत्नत्रयकी भावना करनेसे, भगवान् जिनेन्द्रदेवका स्मरण करनेसे और निर्ग्रंथ मुनियोंकी भक्ति करनेसे ही अद्भुत पुण्य सम्पादन करते हैं ॥ ६५ ॥ जीवोंको देव शास्त्र गुरुकी सेवाका भाव होना, सदा संसारसे भयभीत होकर संवेग धारण करना और सम्यग्दर्शनको बढ़ानेवाली क्रियाओंका होना बड़े पुण्यसे प्राप्त होते हैं ॥ ६६ ॥ हृदयका वैराग्यसे भरपूर होना, ज्ञानके अभ्यास करनेमें सदा तत्पर रहना और सब जीवोंपर दया धारण करना इन तीनों बातोंसे जीवोंको सदा पुण्य सम्पादन होता रहता है ॥ ६७ ॥ सब तरहके विकारोंसे रहित, खड्गासन वा पद्मासन लगाकर बैठना, अपने शरीरको सौम्य और संवृत रीतिसे रखना भी मनुष्योंको पुण्य उत्पन्न करता है ॥ ६८ ॥ पंच परमेष्ठीका वाचक जो णमो अरहंताणं आदि महामंत्र है वह सबसे अधिक पुण्यका कारण है तथा वह अनन्त पापोंको नाश करनेवाला है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ ६९ ॥ मुनिराज जो सम्यग्दर्शन पूर्वक तप करते हैं, ज्ञानका अभ्यास करते हैं, यम नियम आदिका पालन करते हैं वह सब आगेके लिये मोक्षका कारण है और वर्तमानमें अनेक प्रकारके पुण्य सम्पादन करनेवाला है ॥ ७० ॥ विना सम्यग्दर्शनके दान देने व व्रत पालन

करने आदिसे न तो पुण्य ही होता है और न मोक्ष ही प्राप्त होती है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥७१॥ हे भव्य जीव! तू केवल मोक्षके लिये ज्ञानका अभ्यास कर, मोक्षके लिये ही ध्यान कर तथा व्रतोका पालन व दान आदि सब मोक्षके लिये कर। केवल पुण्यके लिये मत कर ॥ ७२ ॥ जो तप दान यम नियम आदि मोक्षके लिये किया जाता है उससे जीवोको हृदय शुद्ध होनेसे महापुण्य उत्पन्न होता है ॥ ७३ ॥ जो मुनिराज मोक्षकी प्राप्तिमे लगे रहते हैं और ज्ञान चारित्रसे सदा सुशोभित रहते हैं वे संसारको बढानेवाले पुण्यकी कभी इच्छा नही करते ॥ ७४ ॥ बुद्धिमानोको पुण्यकर्मके उदयसे अनेक भोग उपभोगोसे परिपूर्ण और अनेक ऋद्धि सिद्धियोंसे भरी हुई स्वर्गकी लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ७५ ॥ पुण्यकर्मके उदयसे इन्द्रकी विभूति प्राप्त होती है जिसमें अनेक देव सेवा करते है और अनेक सुन्दर देवांगनाएं प्राप्त होती हैं ॥ ७६ ॥ धर्मके ही प्रभावसे चक्रवर्तीकी दिव्य लक्ष्मी प्राप्त होती है जिसमें छहों खंडोके अनेक राजा आकर नमस्कार करते हैं और नारी-रत्न आदि चौदह रत्न तथा नौ निधियोसे जो सदा सुशोभित रहती है ॥ ७७ ॥ इस संसारमें जिस जीवके पुण्य कर्मका उदय होता है उसके धन धान्य आदिसे परिपूर्ण और तीनो लोकोमें रहनेवाली समस्त लक्ष्मी वश होजाती है ॥ ७८ ॥ संसारमे जो कुछ दुर्लभ है, जो कुछ सारभूत ऋद्धियां हैं और जो कुछ सुख है वे सब मनुष्योको पुण्य कर्मके ही उदयसे प्राप्त होते हैं इसमें कोई संदेह नही ॥ ७९ ॥ इंद्रादिकको जो प्रतिक्षण नवीन नवीन सुख उत्पन्न होते हैं अथवा तीर्थंकरोको जो गृहस्थ अवस्थामें सुख उत्पन्न होते हैं वे सब पुण्य कर्मके उदयसे ही होते हैं ऐसा श्री सर्वज्ञ देवने कहा है ॥ ८० ॥ इस प्रकार आगमके अनुसार संक्षेपसे पदार्थोंका स्वरूप कहा। इनका विशेष वर्णन सम्यग्दृष्टि पुरुषोको अन्य ग्रंथोंसे जान लेना चाहिये ॥ ८१ ॥ इन सातों तत्त्वोंका श्रद्धान करनेसे जीवोको शंका आदि सब दोषोसे रहित और सुखका निधि ऐसा निर्मल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ॥ ८२ ॥ हे भव्य जीव! यह सम्यग्दर्शन समस्त तत्त्वोंका सारभूत है, अनेक देव इसकी सेवा करते हैं, यह अत्यंत विशाल है और अनंत ज्ञान आदि परम गुणोसे पवित्र, समस्त लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाले तथा समस्त दोषोसे रहित ऐसे तीर्थंकर परमदेवने इसको वर्णन किया है। इसलिये सम्यग्ज्ञान प्रगट करनेके लिये तू भी शंका आदि सब दोषोंको छोडकर इस सम्यग्दर्शनका सेवन कर—इसको धारण कर ॥ ८३ ॥ इन सब तत्त्वोंका स्वभाव भिन्न भिन्न है। ये सब तत्त्व अनेक निर्मल गुणोंसे ही उत्तम गिने जाते हैं, इनका स्वरूप श्री जिनेंद्रदेवने कहा है, इनका

स्वरूप अनेक नयोंसे कहा जाता है और सम्यग्दर्शन रूपी रत्नके लिये ये मुख्य कारण हैं इसलिये हे भव्य जीव ! ज्ञानको बढानेके लिये और मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू इन तत्त्वोंको धारण कर—इनको जान ॥ ८४ ॥

इसप्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें सात तत्त्व और नौ पदार्थोंके
स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह दूसरासर्ग समाप्त हुआ ।



अथ तीसरा सर्ग ।

अथानंतर—अब मैं भव्य जीवोंको सुख देनेवाले भगवान संभवनाथको नमस्कार कर सम्यग्दर्शनको दृढ करनेके
लिये देव धर्म और गुरुका स्वरूप वर्णन करता हूं ॥ १ ॥ जो वीतराग है वही देव है, जो हिंसासे रहित है वही धर्म है
और जो परिग्रह रहित है वही गुरु है। इनके सिवाय न देव है, न धर्म है और न गुरु है ऐसा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन
कहलाता है ॥ २ ॥ अब मैं भगवान जिनेंद्रदेवके कुछ नाम उनके अर्थ सहित बतलाता हूं। वे नाम भव्य जीवोंका उप-
कार करनेवाले हैं और मुनियोंके द्वारा ध्यान करने योग्य है ॥ ३ ॥ वे भगवान पंच कल्याणक पूजाके योग्य हैं, स्वर्गके
अनेक इंद्रोंने उनके गर्भ जन्म आदि संस्कार किये हैं और विद्वान् लोग सदा उनका स्मरण करते रहते हैं इसीलिये
उनका नाम अर्हत् (जो पूज्य हो) प्रसिद्ध हुआ है ॥ ४ ॥ वे भगवान दुःख शोक आदिको बढानेवाले, कर्मरूप शत्रुओंको
नाश करनेवाले हैं इसीलिये अरिहंत (अरि—कर्मरूप शत्रुको हंत—मारने वाले, नाशकरनेवाले) कहलाते हैं। ऐसा
भगवान जिनेंद्रदेवने कहा है ॥ ५ ॥ अथवा उनका मोहरूपी सबसे अधिक अशुभ कर्म नष्ट होगया है तथा धूलिके समान
ज्ञान दर्शनको रोकनेवाले ज्ञानावरण दर्शनावरण नष्ट होगये हैं और अंतरायकर्म नष्ट होगया है। इस प्रकार चारो
घातिया कर्म नष्ट होनेसे अरहंत कहलाते हैं ॥ ६ ॥ उन भगवानने अनंतानंत जन्मोंतक बराबर दुःख देनेवाले कर्मरूप
शत्रुओंको जीता है अर्थात् समस्त कर्मरूप शत्रुओंको नष्ट किया है इसलिये वे जिन (कर्मोंको जीतनेवाले) कहलाते हैं ॥ ७ ॥
उनका केवलज्ञान समस्त लोक अलोकमें व्याप्त होकर रहता है तथा लोक अलोक दोनोंको प्रकाशित करता है इसलिये वे

विष्णु कहलाते हैं। भगवान जिनेन्द्रदेवके सिवाय अन्य कोई विष्णु नहीं है ॥८॥ केवलज्ञानके उत्पन्न होनेसे उनके अनन्त चतुष्टय
वा समवसरण आदि अनेक प्रकारकी लक्ष्मी प्रगट हुई है इसलिये वे ईश्वर कहलाते हैं। इनके सिवाय अन्य कोई नामका भी
ईश्वर नहीं है ॥ ९ ॥ देव और मनुष्योंको समवसरण सभामें उनके चारों ओर चार मुंह दिखाई देते हैं अथवा वे भगवान
परम ब्रह्म स्वरूप हैं, शुद्ध आत्म स्वरूप हैं इसलिये वे ब्रह्मा कहलाते है। ब्रह्मा भी उनके सिवाय अन्य कोई नहीं है ॥१०॥
वे भगवान अनन्त सुखसे परिपूर्ण और सब प्रकारकी सिद्धियोंसे सुशोभित ऐसे मोक्षपदको प्राप्त हुए हैं इसलिये संसारमें
शिव (कल्याण करनेवाले) कहलाते है । शिव भी उनके सिवाय अन्य कोई नहीं है ॥ ११ ॥ भगवान अरहन्तदेव लोका-
काशके समस्त पदार्थोंको तथा अलोकाकाशको उनकी अनन्त पर्यायों सहित जानते हैं इसलिये वे ही बुद्ध हैं वे ही संसारमें
मान्य है, उनके सिवाय संसारमें अन्य कोई बुद्ध नही है ॥ १२ ॥ वे भगवान अपने आत्माको तथा अन्य समस्त द्रव्योंको
उनकी भूत, भविष्यत, वर्तमान तीनों कालोंमें होनेवाली पर्यायों सहित साक्षात जानते हैं इसलिये सर्वज्ञ कहलाते है ॥१३॥
वे भगवान् अपने चिदानन्दमय आत्माको स्वयं अपने आत्मामें ही देखते है तथा चर अचर रूप बाहरके समस्त संसारको
देखते हैं इसलिये वे सर्वदर्शी (सबको देखनेवाले) कहलाते हैं ॥ १४ ॥ समस्त जीवोंका हित करनेवाले वे भगवान्
धर्मरूप तीर्थकी और ज्ञानरूप तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले है इसलिये तीर्थंकर कहलाते हैं॥ १५ ॥ उन्होंने स्त्री वस्त्र आदिका
सर्वथा त्याग कर दिया है इसलिये वे वीतराग कहलाते है, अरहन्त अवस्थामें सदा धर्मोपदेश देते रहते है इसलिये धर्म
कहलाते है और सब तरहके परिग्रहसे रहित है इसलिये निर्ग्रंथ कहलाते हैं ॥ १६ ॥ वे भगवान् देवोंके भी देव है इसलिये
देवदेव वा देवाधिदेव कहलाते हैं, सबके गुरु है इसलिये जगद्गुरु कहलाते हैं और वस्त्रादिकके त्यागी है इसलिये दिगंबर
कहे जाते हैं ॥ १७ ॥ ऋषियोंमें भी सबसे बड़े हैं इसलिये ऋषीश कहे जाते हैं। सब तरहके मल वा दोषोंसे रहित हैं
इसलिये विमल कहलाते हैं और मुक्तिरूपी कांताके साथ क्रीड़ा करते हैं इसलिये देव कहलाते हैं ॥ १८ ॥ इस प्रकार
सार्थक अर्थको धारण करनेवाले एक हजार आठ नाम भगवान् अरहन्तदेवके ही हैं उनकी यह नामावली सबसे उत्तम है
और पुण्य उत्पन्न करनेवाली है इसलिये हे भव्य! तू उन्हींका जप कर ॥ १९ ॥ जो बुद्धिमान् एकाग्रचित्त होकर भगवान
जिनेन्द्रदेवका नाम लेकर जप करता है वा ध्यान करता है वह भी कालांतरमें साक्षात जिनेन्द्रदेव हो जाता है ॥ २० ॥

हे भव्य! यदि तू मुक्तिरूपी लक्ष्मीका साथ करना चाहता है मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो सब दोषोंसे रहित और अनंत महिमाको धारण करनेवाले भगवान जिनेंद्रदेवकी सेवा कर ॥ २१ ॥

प्रश्न–हे भगवन्! भगवान जिनेंद्रदेवने जिन दोषोंको नष्ट कर दिया है, मूर्ख लोक ही जिनको स्वीकार वा धारण करते हैं और जो मोक्षको रोकनेवाले है–मोक्ष प्राप्त नहीं होने देते उन दोषोंको कहिये। उ०–भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, मोह, चिंता, बुढापा, रोग, मृत्यु, खेद, पसीना, मद, अरति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा, विषाद ये अठारह दोष कहलाते है, ये दोष नरकादि अनेक कुजन्मोंमें दुःख देनेवाले है और नीच लोग ही इनमें रत रहते हैं ॥ २२–२४ ॥ भगवान अरहंतदेवके दुष्ट मोहनीय कर्म नष्ट होगया है, वेदनीय कर्म अत्यंत मंद होगया है और अनंत सुख प्राप्त होगया है इसलिये भगवान अरहंतदेवके भूखका (क्षुधा नामके दोषका) सर्वथा अभाव है॥ २५ ॥ इसी प्रकार मोहनीय कर्मके नाश होनेसे, वेदनीय कर्मके मंद होनेसे और अनंतर सुख प्राप्त होनेसे उनके प्यास भी नहीं लगती है। उन्होंने समस्त अस्त्र शस्त्रोंका त्याग कर दिया है इसीसे जान पडता है कि उनके द्वेष नहीं है। तथा उनका स्वरूप अत्यंत सौम्य है, सब तरहके विकारोंसे रहित है इसीलिये मालूम होता है कि उनके भय बिल्कुल नही है॥ २६ ॥ उनके स्त्री समागम सर्वथा नही है इसलिये उनके रागका अभाव स्वयं सिद्ध होजाता है तथा उनके वस्त्र आभरण आदिका सर्वथा त्याग है इसीलिये मालूम होता है कि उनका मोह सर्वथा नष्ट होगया है ॥२७॥ उन्होंने स्वाभाविक रीतिसे ही अपने आत्माको सिद्ध कर लिया है इसलिये अशुभ कर्मोंको उत्पन्न करनेवाली चिंता भी उनके कभी नहीं हो सकती। तथा उन्हें अजर अमर मोक्षस्थान प्राप्त होगया है अतएव उनके बुढापा भी कभी नही हो सकता है॥ २८ ॥ उन तीर्थंकर भगवानके असातावेदनीयकर्म सर्वथा नष्ट होगया है और आगेके लिये आयु कर्मका बंध नहीं है। आयुकर्मके बंधका सर्वथा अभाव है इसलिये उनके मृत्यु भी कभी नही हो सकती अथवा उनका आयु कर्म ही सर्वथा नष्ट होगया है इसलिये भी उनकी मृत्यु नहीं हो सकती॥ २९ ॥ अहंकारका नाश होनेसे उनके मद भी नही है और रति कर्मके नाश होनेसे सभा आदिमें उनको रति भी नही है॥ ३० ॥ वे लोक अलोक सबको एक साथ जानते है इसलिये उन्हें किसी पदार्थमें भी आश्चर्य नहीं हो सकता तथा समस्त कर्मोंके नाश होनेसे वे किसी योनिमें भी जन्म नहीं

ले सकते अर्थात् उनके जन्मका भी सर्वथा अभाव है ॥ ३१ ॥ निद्रा आदि कर्मोंके नाश हो जानेके उनके निद्राकी संभा-
वना भी नहीं हो सकती और वे शुक्लध्यानमें लीन रहते है इसलिये उनके विषाद भी किसी प्रकार नही होसकता ॥३२॥
ये अठारह दोष महा निंद्य है और धर्मको नष्ट करनेवाले हैं, परन्तु इन दोषोंसे तीनों लोक भरा हुआ है यहांतक कि
कुदेवोंके समूह भी इनसे नहीं वचे है ॥ ३३ ॥ जो इन अठारह दोषोंसे रहित हैं वे ही भगवान् जिनेन्द्रदेव है, वे ही जगत
पूज्य हैं, वे ही संसारमें उत्तम हैं और वे ही मनुष्योंके परम देव हैं ॥३४॥ हे भव्य जीव ! भगवान अरहन्तदेव इन अठारह
महादोषोंसे रहित हैं, समस्त जीवोंका हित करनेवाले है और देवोंके द्वारा भी पूज्य हैं इसलिये तू उनकी ही सेवा भक्ति
कर ॥ ३५ ॥ कोई कोई लोग भगवान् वीतरागके भी आहार मानते हैं उनका कहना सत्य है अथवा असत्य है तू इस
सन्देहको भी सर्वथा छोड दे ॥ ३६ ॥ यदि भगवान् अरहन्तदेव आहार ग्रहण करें तो उनके क्षुधा दोष अवश्य मानना
पड़ेगा तथा क्षुधाके साथ साथ प्यास भी अवश्य होगी और जव भूख प्यासकी तीव्र वेदना होगी तव भय भी अवश्य ही
होगा ॥ ३७ ॥ द्वेष भूख प्यासकी वेदनासे ही उत्पन्न होता है और भोजन करनेसे राग मोह होता है। भोजन आदिका
चिंतवन करनेसे चिंता होती ही है और फिर तीव्र दुःख होनेसे रोग होता ही है ॥ ३८ ॥ जो श्री जिनेंद्रदेव ईश्वरके
समान आहार संज्ञाको करते है—आहार लेते है तो फिर वे जन्म मरण आदि दोषोंको भला कैसे छोड़
सकते हैं ? अर्थात् आहारके साथ जन्म मरण जरा आदि अन्य दोष भी अवश्य मानने पड़ेंगे ॥ ३९ ॥
यदि आहारकी प्राप्ति न हो तो द्वेष होता है, विषाद होता है और अरति होती है तथा आहारकी प्राप्ति
होनेसे निद्रा अवश्य होती है। ऐसी अवस्थामें अरहंत देवकी सेवा करना हमारी सेवा करनेके ही समान है। भावार्थ-यदि
अरहंतदेवके आहार माना जायगा तो फिर उनके भी हमारे तुम्हारे समान सव दोष मानने पडेंगे फिर उनमें हममें कोई
अंतर नही रहेगा ॥ ४० ॥ अरे जो देवाधिदेव होकर भी कातरता धारणकर आहार ग्रहण करते हैं फिर भला उनके
व्यर्थ ही अनंत वीर्यकी कल्पना क्यों करते हो अर्थात् कातरोंके अनंतवीर्य कैसे हो सकता है ॥ ४१ ॥ इस संसारमें
जीवोंके भूखके दुःखके समान और कोई पीड़ा नहीं है और ऐसी वह सवसे वड़ी पीड़ा सबसे वड़ा दुःख जिसके है उसके
भला अनंत सुख कैसे हो सकता है। भावार्थ—भगवान अरहंतदेवके आहारकी कल्पना करनेपर फिर उनके अनन्त सुखका

भी अभाव अवश्य मानना पडेगा ॥ ४२ ॥ अरे जो मुनि आहारका नाम भी लेते हैं वे भी प्रमत्तसंयमी कहलाते हैं— प्रमाद सहित कहलाते हैं फिर भला जिन्होंने आहारका त्यागतक नहीं किया है—जो आहार ग्रहण करते हैं वे सर्वज्ञ कैसे हो सकते हैं ? ॥ ४३ ॥ जो अत्यंत अल्प शक्तिका धारण करनेवाले हैं वे भी मद्य मांस आदि निषिद्ध पदार्थोंके देखलेने-पर भोजन नहीं करते, अंतराय मानकर भोजनका त्याग कर देते हैं फिर भला वे श्री जिनेंद्रदेव अनंत शक्तिको धारण करते हैं—अनंतवीर्य सहित हैं और सर्वज्ञ वा सर्वदर्शी होनेसे संसारभरके मद्य मांस आदि समस्त निषिद्ध पदार्थोंको एक साथ देखते हैं फिर भला वे किस प्रकार आहार ग्रहण कर सकते हैं ? अर्थात् कभी नहीं ॥ ४४ ॥ विचार करनेकी बात है कि जब भगवान् अरहन्तदेवके सदा भोजन करनेकी इच्छा बनी रहेगी तो फिर उनके अन्य संसारी जीवोंके समान लोभ भी अवश्य मानना पड़ेगा (क्योंकि इच्छा लोभसे ही होती है लोभकी ही एक पर्याय है) ॥ ४५ ॥ तथा लोभके रहते हुए उनके केवलज्ञान प्रगट नहीं हो सकता और केवलज्ञानके न होनेसे वे कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकते ॥ ४६ ॥ इसके सिवाय एक बात यह भी है कि आहार ग्रहण करनेसे उनके आहारका स्वाद भी अवश्य होगा और स्वाद होनेसे उनका ज्ञान इंद्रियजन्य ज्ञान मानना पडेगा क्योंकि स्वादका ज्ञान जिह्वा इंद्रियसे ही होगा, विना जिह्वा इंद्रिय ज्ञानके स्वाद आ ही नहीं सकता तथा उनके ज्ञानको इंद्रियजन्य माननेपर केवलज्ञानके लिये पानीकी तीन अंजलि अवश्य देनी पडेगी अर्थात् फिर उनके केवलज्ञानका सर्वथा अभाव मान लेना पडेगा (और केवलज्ञानका अभाव होनेसे सर्वज्ञता आदि सबका अभाव मानना पडेगा। इसलिये श्री अरहंतदेवके आहारकी कल्पना करना सर्वथा भ्रम है) ॥ ४७ ॥ जो भोजन करेगा उसके अन्य दोषोंका समूह अवश्य उत्पन्न होगा इसमें कोई संदेह नहीं है। ऐसा अनेक मुनिराजोने निरूपण किया है॥४८॥ यदि आहार ग्रहण करते हुए ही देव हो जाय तो फिर संसारके सभी मनुष्योंको सर्वज्ञ मान लेना चाहिये ॥ ४९ ॥ भगवान अरहंतदेव अनेक गुणोंसे परिपूर्ण हैं, सर्वज्ञ हैं, समस्त लोक अलोकके जानकार हैं और घातिया कर्मोंके नाश होनेसे आहार परिग्रह आदि सब दोषोंसे रहित है ॥ ५० ॥ यदि कदाचित् चंद्रमासे अग्नि निकलने लगे और मंदराचल पर्वत चलने लगे तो भी अनंत सुखोंके निधि भगवान जिनेंद्रदेव आहार ग्रहण नही कर सकते ॥ ५१ ॥ यदि किसी जीवने उपवास किया हो और उसके लिये कोई यह कहे कि आज इसने भोजन किया है तो उस कहनवालेको झूठ बोलनेके

आहार ग्रहण करनेकी
कारण महा पाप होता है, फिर भला जो लोग जगतगुरु देवाधिदेव वीतराग भगवान अरहंतदेवके
कल्पना करते हैं उनके पापको हम लोग कभी नहीं जान सकते अर्थात वे सवसे अधिक पापी है ॥ ५२–५३ ॥ इसलिये
हे मित्र ! उन्हें निश्चय कर लेना चाहिये कि भगवान् अरहन्तदेव भूख, प्यास आदि सव दोपोसे रहित हैं अतएव आहार
भी कभी ग्रहण नहीं करने इसीलिये मुक्तिस्त्रीने उनको स्वयं स्वीकार किया है ॥ ५४ ॥ हे भव्य ! वे भगवान् जिनेन्द्र-
देव अनेक अतिशयोंसे सुशोभित हैं, आठो प्रतिहार्योसे विभूपित है और ज्ञानादि अनन्त गुण सहित है ऐसे भगवान्
जिनेन्द्रदेवकी तू सेवा भक्ति कर ॥ ५५ ॥

हे बुद्धिमान् वत्स ! अब मै समस्त दुःखोंको दूर करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवके गुणोको कहता हूं, तू चित्त
लगाकर सुन ॥ ५६ ॥ उनके शरीरपर पसीना नहीं आता, उनके मल मूत्र नहीं होता, उनके शरीरका रुधिर दूधके समान
सफेद होता है, उनके शरीरका संस्थान समचतुरस्र होता है संहनन वज्रवृपभनाराच होता है, उनका शरीर अत्यन्त रूपवान
होता है, सुगन्धित होता है, उनके शरीरपर सव सुन्दर लक्षण होते हैं, प्रमाण रहित महावीर्य (महावल)होता है और उनके
वचन सत्य, सवको प्रिय लगनेवाले और सवका हित करनेवाले होते है। ये दश अतिशय भगवानके शरीरके साथ ही
उत्पन्न होते है ॥ ५७–५९ ॥ जव भगवानके घातिया कर्म नष्ट हो जाते है तव नीचे लिखे दश अतिशय प्रगट होते है।
भगवान् अरहन्तदेव जहां विराजमान होते है उसके चारों ओर चारसौ कोस तक सदा सुभिक्ष वना रहता है, वे भगवान्
आकाशमें गमन करते है, उनके पास कोई भी प्राणी किसीकी हिंसा नही कर सकता अर्थात् सव जीव आपसमें मित्रता
धारण कर लेते हैं, वे भगवान् निराहार रहते है, उनपर कभी किसी प्रकारका उपसर्ग नही होसकता, समवसरणमें उनका
मुंह चारों ओर दिखाई देता है, वे समस्त विद्याओंके स्वामी होते हैं, उनके शरीरकी छाया नही पडती, उनके नेत्रोंमें
टिमकार (पलकसे पलक) नही लगती, उनके केश और नख नही वढते। भगवानके ये दश अतिशय घातिया कर्मोंके
नाश होनेसे होते है ॥ ६०–६२ ॥ नीचे लिखे चौदह अतिशय देवकृत कहलाते है–भगवान् जिनेन्द्रदेवकी दिव्यध्वनि
निरक्षरी होकर भी अर्ध मागधीभापाके रूपमें परिणत होजाती है फिर उसे सव जीव अपनी अपनी भापामें संभाल लेते
हैं। देवलोग उसका प्रसार वा फैलाव करते रहते हैं। चूहे विल्ली वा वाघ हिरण आदि जातिविरोधी जीव भी (जन्मसे

ही विरोधी) अपना विरोध छोडकर परम मित्रता धारण कर लेते हैं। भगवानके समीपवर्ती समस्त वृक्ष छहों ऋतुओंके फल फूलोसे सुशोभित होजाते है। समवसरणकी पृथ्वी रत्नमयी और दर्पणके समान अत्यंत निर्मल होजाती है। समस्त जीवोको प्राण देनेवाला सुख देनेवाला वायु शीतल मंद सुगंधित वहा करता है। देवलोग वहांकी भूमिको सदा कांटे कंकर आदिसे रहित वनाये रखते हैं। देवरूपी वादलोंसे सर्वदा गंधोदककी महा वृष्टि होती रहती है। भगवान विहार करते समय जहां जहां अपने चरण कमल रखते है उनके नीचे देवलोग अनेक सुवर्णके कमलोंकी रचना किया करते हैं। चांवल आदिके खेत सव फलोंसे नम्रीभूत हुए (नवे हुए) शोभायमान रहते हैं। आकाश सदा निर्मल रहता है। दिशाएं भी सव निर्मल रहती है उनमें कभी अंधकार नहीं होता। इंद्रकी आज्ञासे देवलोग सदा आह्वान करते रहते है-बुलाते रहते हैं। दैदीप्यमान रत्न और सुवर्णका वना हुआ एक हजार आरोंसे सुशोभित और अत्यंत दैदीप्यमान धर्मचक्र सदा तीर्थंकर भगवानके आगे रहता है। ये भगवानके महा गुणरूप चौदह अतिशय देवकृत होते हैं। इसप्रकार भगवानके चौतीस उत्तम अतिशय होते हैं ॥६३-७०॥ भगवानके समीप ही अशोक महावृक्ष रहता है, अनेक गुणोंसे सुशोभित अनेक प्रकारकी पुष्पवृष्टि होती रहती है, उपमा रहित भगवानकी दिव्यध्वनि खिरती रहती है, देवलोग चौसठ चमर सदा ढोरते रहते हैं, भगवान सुंदर तीन सिंहासनपर विराजमान रहते हैं, उनके पीछे देदीप्यमान भामंडल रहता है, देवोंके द्वारा साडे वारह करोड दुंदुभी वाजे सदा वजते रहते हैं और उनके मस्तकके ऊपर सफेद तीन छत्र सदा फिरा करते है ॥ ७१-७३ ॥ इसप्रकार देवोके द्वारा किये हुए इन आठ प्रातिहार्योंसे भगवान सदा सुशोभित रहते है। इनके सिवाय अनंत ज्ञान (केवलज्ञान), अनंत दर्शन (केवल दर्शन), अनंत महावीर्य और जो वाणीसे भी नही कहा जा सके ऐसा अनंत सुख ये चार अनंत चतुष्टय भगवानके होते हैं। इसप्रकार भगवान अरहंतदेवके सव गुण मिलाकर छ्यालीस होते हैं ॥ ७४-७५ ॥ इसके सिवाय भी भगवान जिनेंद्रदेवमें अनंत गुण रहते हैं जिन्हें मुनिराज ही जान सकते है ॥ ७६ ॥ जिस प्रकार महासागरकी लहरें गिनी नहीं जा सकती, जिस प्रकार वादलोंकी धारा गिनी नहीं जा सकती और जिस प्रकार आकाशमें ताराओंकी संख्या नहीं हो सकती उसी प्रकार भगवान जिनेंद्र देवके गुणोंकी संख्या भी कभी नही हो सकती ॥ ७७ ॥ हे भव्यजीव ! भगवान जिनेंद्र देव अनंत गुणोंसे परिपूर्ण हैं, पंच कल्याणकोंसे पूज्य है और अनंत महिमासहित विराजमान हैं इसलिये तू

जो जीव कुदेवोंको छोडकर भगवान तीर्थंकर परमदेवको ही एक अद्वितीय शरण
उन्हींकी सेवा भक्ति कर ॥ ७८ ॥ जो जीव कुदेवोंको छोडकर भगवान तीर्थंकर परमदेवको ही एक अद्वितीय शरण
मानकर उनकी सेवा भक्ति करता है वह उन्हीं जैसा परमात्मा होजाता है ॥ ७९ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! कुदेव कौन है कृपाकर उनको बतलाइये, क्योंकि उनका ज्ञान होनेपर ही यह जीव उनका त्याग कर सकता है ॥ ८० ॥ उत्तर—जिनके साथ स्त्रियां हैं जो शस्त्र आभरण आदिसे शुशोभित हैं और संसाररूपी महासागरमें डूबे हुए हैं ऐसे विष्णु, ब्रह्मा आदि सब कुदेव ही हैं ॥ ८१ ॥ जो कृष्ण गोपियोंमें आसक्त है, अनेक पापारम्भोंकी प्रवृत्ति करता है, जिसके हाथमें शस्त्र है और जो संसारमें तल्लीन है वह देव किस प्रकार हो सकता है ? ॥ ८२ ॥ जिसके आधे अङ्गमें पार्वती विराजमान है, जिसके गलेमें हड्डियोंकी माला पड़ी हुई है और जो लज्जासे सर्वथा रहित है ऐसा महादेव भला किस प्रकार देव माना जासकती है ? ॥ ८३ ॥ देवीके नृत्यको देखकर जिसने अपने तपका अभिमान छोड दिया और रागमें फँस गया वह अत्यन्त तुच्छ पराक्रमको धारण करनेवाला ब्रह्मा देव कैसे होसकता है ? ॥ ८४ ॥ गणेश आदि अन्य कितने ही देव पशु रूपमें विराजमान हैं वे केवल मूर्ख लोगोंने कल्पना करालिये हैं तथा वे इस संसारमें अनेक दुःख दरिद्रता आदिको देनेवाले हैं ॥ ८५ ॥ जिसके हाथमें शस्त्र है, जो महाक्रूर है और जो जीवोंके मारनेमें सदा तत्पर है ऐसी पाप कर्म करनेवाली चन्डीदेवीको विद्वान् लोग कैसे पूजते हैं ? ॥ ८६ ॥ जो विष्ठा भक्षण करनेमें तत्पर है, जो दुष्ट है, अपने पैर और सींगोंसे जीवोंको मारती है ऐसी गायको लोग किस प्रकार पूजते हैं ? ॥ ८७ ॥ जिनके ऊपर कौवे बैठे हैं ऐसे पीपल आदि ऐकेन्द्रिय वृक्ष भला किस प्रकार पूज्य हो सकते हैं ॥ ८८ ॥ जो लोग छाछकी हंडी, घरका कूआ और कौआ आदिकी पूजा करते हैं वे बडे मूर्ख हैं उन्हें पशु कहना चाहिये मनुष्य नही ॥ ८९ ॥ जो क्रूर कर्म करनेवाले, दुष्ट पुरुष नीच देवोंको पूजते हैं वे अनेक पाप उत्पन्न कर नरकरूपी महासागरमें गोता खाते हैं ॥ ९० ॥ जो मूर्ख मनुष्य गाय, हाथी आदि पशुओंको नमस्कार करते हैं वे इस लोकमें भी पशु समझे जाते हैं और मरकर परलोकमें भी पशु ही होते हैं ॥९१॥ जिस प्रकार कोइ पुरुष चोरोंकी संगति करनेसे चोर होजाता है उसी प्रकार जो मूर्ख भक्तिपूर्वक वृक्षोंकी पूजा करते हैं उन्हें नमस्कार करते हैं वे परलोकमें वृक्ष ही होते हैं ॥ ९२ ॥ जो मनुष्य नदी सरोवर आदिके जलको पूजते हैं, नमस्कार करते हैं, भक्तिपूर्वक उसमें स्नान करते हैं वे परलोकमें मछली, मगरमच्छ आदिकी योनिमें

उत्पन्न होते हैं ॥ ९३ ॥ जो मूर्ख लोग गायको नमस्कार करते हैं फिर वे उसे लकड़ी आदिसे मारते क्यों हैं? जिस जलको वंदना करते हैं फिर वे उस जलमें शौचक्रिया क्यों करते हैं ॥ ९४ ॥ आश्चर्य है कि जिन पीपल आदि वृक्षोंको पहिले पूजते हैं, नमस्कार करते हैं फिर उन्हींको वे नष्ट बुद्धि मूर्ख काटते हैं ॥ ९५ ॥ इसलिये हे बुद्धिमान भव्य जीव! स्वर्ग मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिये तू एकाग्रचित्त होकर समस्त कुदेवोंको छोडकर श्री जिनेन्द्रदेवकी ही पूजा भक्ति कर ॥ ९६ ॥ जो अज्ञानी वीतराग परम देवको छोडकर कुदेवोंकी सेवा भक्ति करता है वह मानों अमृतको छोडकर हलाहल विष ग्रहण करता है ॥ ९७ ॥ जो तीर्थंकर परमदेवकी पूजा करता हुआ भी अन्य कुदेवोंकी पूजा करता है वह उस मूर्ख (उस शृगाल)के समान है जो इधरसे भी भ्रष्ट होजाता है और उधरसे भी भ्रष्ट होजाता है ॥ ९८ ॥ जिस प्रकार परमाणुसे अन्य कोई छोटा नहीं है और आकाशसे अन्य कोई बड़ा नहीं है उसी प्रकार श्री जिनेंद्रदेवके समान अन्य कोई देव नहीं है ॥ ९९ ॥ यही समझकर हे वत्स! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये आत्माको विशुद्ध करनेवाले भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा भक्ति मन वचन कायसे कर ॥ १०० ॥

इस प्रकार तीर्थंकर परमदेवका निश्चय कर लेनेपर तू उन्हींके कहे हुए धर्मका आचरण कर। वही धर्म अहिंसामय है, सारभूत है और सब जीवोंको सुख देनेवाला है ॥ १०१ ॥ वह धर्म दो प्रकारका है-एक मुनियोंके करने योग्य और दूसरा श्रावकोंके पालने योग्य। मुनियोंका धर्म मोक्ष सुखको देनेवाला है और एक देश श्रावकोंका धर्म स्वर्गोंके सुख देनेवाला है ॥ १०२ ॥ जो संसाररूपी महासागरमें डूबे हुए जीवोंको निकालकर मोक्षपदमें विराजमान करदे उसीको गणधरादि देवोंने धर्म कहा है। वह धर्म उत्तम क्षमा आदि ही है अन्य नहीं ॥ १०३ ॥ श्री जिनेन्द्रदेवने उस धर्मका फल सदा ऐश्वर्य विभूतियोंका प्राप्त होना, स्वर्गके सुख प्राप्त होना और साक्षात मोक्षके सुख प्राप्त होना बतलाया है ॥ १०४ ॥ उस धर्मके प्रभावसे मनुष्योंको अनेक प्रकारके ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं और चक्रवर्ती इन्द्र आदिके सुख सदा प्राप्त होते रहते हैं ऐसा श्री तीर्थंकर परमदेवने कहा है ॥ १०५ ॥ श्री जिनेन्द्रदेव उस धर्मको एक कल्पवृक्षके समान बतलाते हैं। सम्यग्दर्शन इसकी बड़ी भारी जड़ है, यह दयारूपी जलसे सींचा जाता है, ज्ञान और चारित्र ही इसके महा स्कन्ध हैं, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मरूपी शाखाओंसे यह सुशोभित है, दान पूजा आदि नित्य कर्म ही उसके पत्ते हैं, ध्यान ही इसके पुष्प हैं

और स्वर्ग मोक्ष ही इसके फल है। इस प्रकार यह धर्म एक कल्पवृक्षके समान है ॥ १०६-७ ॥ अव्रत आदिक इस धर्मसे भिन्न है अधर्म है। जिस प्रकार कल्पवृक्षसे अन्य कोई मधुर वृक्ष नही है उसी प्रकार दयाधर्मके सिवाय अन्य कोई धर्म नही है ॥१०८॥ इसलिये हे भव्य ! तू पापरूप कुधर्मको छोडकर भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए तथा सुख देनेवाले दयारूपी धर्मको प्रतिदिन एकाग्रचित्त होकर पालन कर ॥ १०९ ॥

प्रश्न हे भगवन् ! अब कृपाकर मुझे कुधर्मका स्वरूप बतलाइये। यह दुःख देनेवाला पापरूप कुधर्म इस संसारमें किसने चलाया है ॥ ११० ॥ उत्तर—यज्ञ आदिका करना और बुद्धिपूर्वक जीव हिंसा आदिका करना सब कुधर्म है इसके सिवाय धर्म समझकर नदी, समुद्रोंमें स्नान करना, तर्पण श्राद्ध करना आदि भी कुधर्म है ॥ १११ ॥ जो पक्षके लिये धर्मके लिये वा कुदेवोंके लिये जीवकी हिंसा करते है वा कराते हैं वे अवश्य नरकमें पडते हैं ॥ ११२ ॥ यदि हिंसा आदि पापोमें आसक्त रहनेवाले नीच लोग ही स्वर्गको जाते हैं तो फिर कौनसे जीव कौन कौनसे कामोंके द्वारा नरकमें जांयगे ? इसका थोडासा भी विचार कर ॥ ११३ ॥ प्रतिदिन नदी समुद्रमें स्नान करनेसे अनेक जीवोंका नाश होता है, रागादिक पाप बढते है और धर्मका नाश होता है, ऐसा तू समझ ॥ ११४ ॥ यदि हिंसा करनेसे ही धर्म होता है और स्नान करनेसे ही पवित्रता आती है तो फिर मछली आदि जलचर जीव और धीवर आदि घातक जीव ही स्वर्गको जांयगे अन्य नहीं ? ॥ ११५ ॥ जिस प्रकार मद्यसे भरे हुवे घडेकी शुद्धि धोनेसे नहीं होती उसी प्रकार जिसका हृदय सदा दुष्ट बना रहता है उसकी शुद्धि केवल स्नान करनेसे कभी नहीं हो सकती ॥ ११६ ॥ जो अज्ञानी जीव पितरोंको तृप्त करनेके लिये तिलोंका पिंड जलमें डालते हैं वे जीव त्रस जीवोंकी और जलकायिक जीवोंकी हिंसा करनेके कारण दुर्गतिमें ही उत्पन्न होते हैं ॥११७॥ जो जीव मरे हुए जीवोंका कल्याण करनेके लिये तर्पण करते हैं और उसमें अनेक जीवोंकी हिंसा करते हैं वह सब उनका मिथ्यात्व है। ऐसे मिथ्यात्वको सेवन करनेवाले जीव संसाररूपी वनमें सदा परिभ्रमण ही किया करते हैं ॥११८॥ जो जीव मृत माता पिता-ओंको सुख पहुंचानेके लिये श्राद्ध करते हैं वे आकाशके पुष्पोंसे वंध्यापुत्रके लिये मुकुट बनाते है। भावार्थ—जिसप्रकार वंध्यापुत्रके लिये मुकुट बनाना व्यर्थ है क्योंकि वंध्याके पुत्र होता ही नहीं उसी प्रकार मृत पुरुषोंके लिये श्राद्ध करना

भी व्यर्थ है क्योंकि वह उनके पास पहुंचता ही नहीं ॥११९॥ जिस समय पुत्र भोजन करता है और पिता उसे स्वयं देखता है तथापि वह पुत्रके भोजनसे तृप्त नहीं होता फिर भला मरनेपर वह किस प्रकार तृप्त होसकता है ॥ १२० ॥ श्राद्ध करनेके लिये द्रव्य कमाना पडता है, वहुतसा अन्न सेकना पडता है और इन दोनों कामोंमें वहुतसे जीवोंकी हिंसा होती है इस प्रकार श्राद्ध करनेमें भारी पाप तो होता है परन्तु उससे किसी प्रकारका पुण्य उत्पन्न नहीं होता ॥ १२१ ॥ विवेकी पुरुषोंको केवल अपना धर्मपालन करनेके लिये श्रद्धापूर्वक सुपात्रोंको दान देना चाहिये यही सबसे उत्तम श्राद्ध है। दूसरोंके लिये (मृत पुरुषोंके लिये) श्राद्ध कभी नहीं करना चाहिये क्योंकि वह श्राद्ध केवल पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥ १२२ ॥ जो अपने वर्तमान माता-पिताओके धर्ममें तो विघ्न करते हैं और उनके मरनेपर उनका श्राद्ध करते हैं वे अवश्य नरकके स्वामी होते हैं ॥ १२३ ॥ वहुत कहनेसे क्या ? जो मूर्ख अपने पितरोंके लिये वा कुदेवोंके लिये तप करते हैं वा दान देते हैं उनका वह सव इस संसारमें व्यर्थ हो जाता है ॥ १२४ ॥ इसी प्रकार संक्रातिके दिन वा ग्रहणके दिन दान देना, एकादशीके दिन उपवास करना, सूर्यको पूजना आदि सव कुतप है, सव पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥ १२५ ॥ जो राग द्वेपमें आसक्त हैं, धूर्त हैं, मिथ्या उपदेश देनेवाले हैं, कुमार्गगामी हैं, मूर्ख हैं और जिनका हृदय स्त्रियोंमें आसक्त है ऐसे लोगोंके ही द्वारा इस कुधर्मका उपदेश दिया गया है। यह कुधर्म अज्ञानियोंको ठगनेवाला है, इंद्रियोके अनेक दोपोको उत्पन्न करनेवाला है और दुष्ट है इसलिये हे भव्य ! तू ऐसे इस कुधर्मको विषैले सर्पके समान छोड ॥१२६–१२७॥ जो अज्ञानी हिंसा धर्ममें आसक्त है, जो दुष्ट हैं, कुगुरुओंकी सेवा करनेवाले है कुदेवोंकी सेवा करनेवाले हैं और मिथ्या तप करनेमें लगे हुए है ऐसे जीव पाप करनेके कारण कुगतियोंमें जाकर जन्म लेते हैं ॥ १२८ ॥ अग्निमें जल मरना अच्छा है, गलेमें सर्पको डाल लेना अच्छा है और विप खालेना अच्छा है परंतु मिथ्यात्वका सेवन करते हुए जीवित रहना अच्छा नही ॥ १२९ ॥ भगवान जिनेंद्र देवने जो कुछ दान, पूजा, व्रत, तप, आदिका वर्णन किया है वही धर्म है इसके सिवाय जो कुछ है वह अधर्म है ॥ १३० ॥ जो धर्म तप दान पूजा आदि भगवान जिनेंद्र देवके कहे हुए मार्गसे विरुद्ध है उस सवको दुःख देनेवाला मिथ्यात्व समझना चाहिये ॥ १३१ ॥ इसप्रकार भगवान जिनेंद्रदेवका कहा हुआ धर्म तुझे वतलाया उसका, तू निश्चय कर ।

अब आगे गुरुका स्वरूप बतलाते हैं। जिनका भेष श्री जिनेंद्र देवके समान हैं और जो चौवीस प्रकारके परिग्रहसे रहित हैं ऐसे गुरुकी तू सेवा कर ॥१३२॥ जो समस्त जीवोंपर दया करते हैं, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंका उपदेश देते है, विकथा आदि पापोंसे सर्वथा रहित है, जो तृण और सुवर्णको समान जानते हैं, जो पर्वतोंपर अथवा कोटर गुफा आदि सूने मकानोंमें रहते हैं, जिन्होंने अपने ध्यानसे समस्त पापोंको धो डाला है, जिन्होंने दश प्रकारका बाह्य परिग्रह और चौदह प्रकारका अन्तरंग परिग्रह सर्वथा छोड दिया है, जिन्होंने इन्द्रियरूपी चोरोंको सर्वथा जीत लिया है, कामदेवरूपी हाथीको मार भगाया है, शरीरके नहाने धोने आदि सब संस्कारोंका साग कर दिया है, जो महाबलवान हैं अथवा महापुरुष हैं, जिनके परिणाम सदा निर्मल रहते है, यद्यपि जिनके समस्त शरीरमें मैल लगा हुआ है तथापि परिग्रह रहित होनेसे जो सदा निर्मल रहते हैं, जो प्रातःकाल मध्यान्हकाल, सायंकाल तीनो समय योग धारण करते हैं, जो ध्यान और अध्ययन करनेमें सदा तल्लीन रहते हैं, जो मौनव्रत पालन करते हैं, धीर वीर हैं, द्वादशांगश्रुतज्ञानके पारगामी हैं, उत्तम क्षमा आदि दशों धर्मोंको पालन करते हैं, समस्त परीषहोंको जीतते हैं, दिगम्बर मुद्रा धारण करते हैं, जिन्होंने तीनों शल्य और दन्डोंका साग कर दिया है, जो काम भोगोंसे विरक्त हैं मोक्ष सुखमें आसक्त हैं, जिनका समस्त शरीर दुर्बल होरहा है, परंतु श्रेष्ठ गुणोंको जिन्होंने अत्यंत बलवान बना लिया है, जिनका हृदय सिंहनिःक्रीडन, उग्र तप आदि कठिन तपोंमें सदा तल्लीन रहता है, जो मूल गुण और उत्तर गुणोंसे सुशोभित हैं, जो कर्मरूपी ईंधनके लिये जलती हुई अग्निके समान हैं, जो समुद्रके समान गंभीर हैं, जो वर्षाकालमें वृक्षके नीचे विराजमान रहते हैं, शीतकालमें चौहटे मैदानमें अकेले विराजमान रहते हैं और ग्रीष्मऋतुमें पर्वतकी शिखरपर जाकर तप करते हैं, जो अनेक ऋद्धि सिद्धियोंसे परिपूर्ण हैं, भव्य जीवोंको संसार समुद्रसे पार कर देनेके लिये समर्थ हैं और जो सदा निर्भय रहते हैं ऐसे मुनिराज ही श्रेष्ठ गुरु कहे जाते हैं। हे भव्य ! स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू ऐसे श्रेष्ठ गुरुओंकी ही सेवा कर ॥ १३३–१४२ ॥ जो अनेक दुःखोंसे भरे हुए इस संसार सागरसे स्वयं तरते हैं और अन्य भव्य जीवोंको पार कर देनेमें समर्थ हैं ऐसे परिग्रह रहित गुरुओंकी जो बुद्धिमान सेवा भक्ति करते हैं वे स्वर्गादिकके उत्तम साम्राज्य भोगकर अंतमें मोक्ष सुखके स्वामी होते हैं ॥ १४३–१४४ ॥ जो अधम निर्ग्रंथ गुरुओंको छोड़कर कुगुरुओंकी सेवा करते हैं वे चिंतामणि रत्नको छोडकर काचको स्वीकार करते हैं ॥ १४५ ॥ इसलिये

हे विवेकी भव्य ! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये कुगुरुओंको छोड़कर एकाग्र चित्तसे महा धीर वीर दिगम्बर और निर्ग्रंथ मुनियोंकी सेवा भक्ति कर ॥ १४६ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! जो संसाररूपी महासागरमें डूब रहे हैं और धर्मध्यान आदिसे शुभ भावनाओंसे रहित हैं ऐसे कुगुरुओंका स्वरूप कृपाकर कहिये ॥ १४७ ॥ उ०—जो धन धान्य आदिमें लगे हुए हैं, सदा अर्थ और काम दो पुरुषार्थोंकी ही लालसा रखते हैं, जो आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानमें तत्पर रहते हैं, घर संबंधी व्यापारके बोझसे दबे हुए हैं, मिथ्यात्वको प्रगट करनेवाले हैं, पापोंके करनेमें चतुर हैं, स्त्रियोंके आश्रय रहते हैं, सदा मागनेमें लगे रहते हैं, जो दुष्ट है, मूर्ख है, दुर्गतिके देनेवाले हैं, मिथ्या उपदेश देनेवाले हैं, नीच हैं, मूर्ख जीवोंको ठगते फिरते हैं, क्रोधादिक कषायोंमें लगे हुए हैं, सदा मिथ्यात्वको बढाते रहते हैं, और जिन्होंने जिनमार्गको छोड रक्खा है, ऐसे अनेक कुगुरु हैं, हे भाई ! तू पापोंसे बचनेके लिये सर्पके समान दूरसे ही उनका त्याग कर ॥ १४८–१५१ ॥ अनेक दुराचारोंमें लगे हुए जो कुगुरु संसाररूपी समुद्रमें स्वयं डूब रहे हैं वे भला अन्य जीवोंको कैसे पार कर सकेंगे ॥ १५२ ॥ सर्प, शत्रु, और चोर आदिका समागम करना अच्छा परंतु मिथ्यात्व मार्गमें लगे हुए इन कुगुरुओंका समागम अच्छा नही क्योंकि सर्प शत्रु आदिके समागमसे एक ही भवमें दुःख होता है परन्तु इन कुगुरुओंके समागमसे अनन्त भवोंतक दुःख प्राप्त होता रहता है ॥ १५३ ॥ यही समझकर हे भव्यजीव ! हे भाग्यशालिन् ! स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेकेलिये तूं समस्त जीवोंका उपकार करनेवाले श्रेष्ठ निर्ग्रन्थ गुरुओंकी ही सेवा भक्ति कर ॥ १५४ ॥ हे भव्यें जीव ! गणधरादि महापुरुष भी जिनकी सेवा करते हैं ऐसे श्री जिनेंद्रदेवकी सेवा कर, तथा उन्ही श्री जिनेंद्र देवके कहे हुए परम पवित्र धर्मको धारण कर, और अनेक गुणोंसे सुशोभित निर्ग्रन्थ गुरुओंका स्मरण कर। ये तीनों ही सम्यग्दर्शनके प्रधान कारण हैं अर्थात् इन तीनोंका यथार्थ श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥ १५५ ॥ हे वत्स ! यह सम्यग्दर्शन एक अमृतके समान है क्योकि यह समस्त दोपोंसे रहित है। भगवान तीर्थंकर परमदेवने स्वयं इसको निरूपण किया है, तीनों लोकोंके इंद्र इसकी सेवा करते हैं, यह भव्यरूपी पात्रमें ही रह सकता है अभव्यके कभी नहीं होता, तथा यह उत्तम गुणोका नीधि है इसके होनेसे अनेक उत्तम गुण अपनेआप प्रगट हो जाते है और मोक्षरूपी वृक्षका तो यह वीज है। इसके प्रगट होनेसे

॥४२॥ तुच्छवीर्यो नरो
भन्तसुखं कुत ॥ ४१ ॥ आहारनाममात्रेण प्रमत्त कथ्यते मुनि । अत्यक्ताहारभोगो य स॰ सर्वज्ञ॰ कथ भवेत्
नात्ति मद्यमासादिदर्शनात् । सयुक्तोनन्तवीर्येण कथ भुक्ते जिनोत्तम ॥ ४३ ॥ इच्छा यस्य भवेन्नित्य भक्षनादिकगोचरा । तस्य लोभ
कथ न स्यात्ससारीजीववत् ध्रुवम् ॥ ४४ ॥ सति लोभे नहि ज्ञान केवल प्रकट भवेत् । ज्ञानादिविरहान्नैव सर्वज्ञ कथ्यते बुधैः ॥४५॥
आहारास्वादनाद्यस्य ज्ञानमिन्द्रियसम्भवम् । तस्य श्रीकेवलस्यैव दत्त नीराजलित्रयम् ॥ ४६ ॥ भोजन कुरुते यस्तु तस्य दोषकदम्बकम् ।
भवन्त्येव न सन्देहो भाषित मुनिपुगवे ॥ ४७ ॥ आहारादिसमामुक्ता यदि देवा भवन्ति वै । तदा सर्वे मनुष्याश्च सर्वज्ञा॰ संभवन्त्यहो
॥ ४८ ॥ अनेकगुणसम्पूर्ण॰ सर्वज्ञ॰ सर्वलोकवित । त्यक्ताहारमहासज्ञो भवेद् घातिविघातनात् ॥ ४९ ॥ यदींदुस्तीव्रता धत्ते चचलत्व च
मन्दरः । तथापि वल्भते नैवं जिनोनन्तसुखाकर ॥५०॥ उपोषितस्य जीवस्य भोजन कथ्यते यदि । महत्पाप भवत्येव कलीकालपढानत
॥५१॥ जगद्गुरो सुदेवस्य वीतरागस्य भोजनम् । ये वदन्ति दुराचारा॰ तेषा पाप भवेन्महत् ॥५२॥ निश्चय कुरु भो मित्र क्षुद्दोषादि
विवर्जिते । वल्लभादिपरित्यक्ते जिने मुक्तिस्वयवरे ॥ ५३ ॥ अनेकातिशयापन्नं प्रातिहार्यादिभूषितम् । ज्ञानादिगुणसयुक्त भज त्वं जिन-
नायकम् ॥ ५४ ॥ श्रृणु वत्स महाप्राज्ञ कथ्यमान मयाधुना । गुणग्राम जिनेन्द्रस्य सर्वदु खविनाशनम् ॥ ५५ ॥ नि स्वेदत्व भवत्स्येव
वपुर्मलविवर्जितम् । रुधिर क्षीरतुल्य सस्थान प्रथममुत्तमम् ॥ ५६ ॥ सद्वज्रवृषभनाराचनाम्ना सहननं भवेत् । महारूप च सौरम्यं
सौलक्षण्यं बुधै स्मृतम् ॥ ५७ ॥ अप्रमाण महावीर्यं वच॰ सत्य शिव हितम् । दशैवातिशया जाता वपुषा सह स्वामिनाम् ॥ ५८ ॥
सुभिक्षता भवेन्नित्य गव्यूति शततुर्यकम् । आकाशगमन हिंसावर्जित सर्वसत्त्वकम् ॥ ५९ ॥ निराहारश्चोपसर्गरहित श्रीजिनेश्वर॰ ।
चतुर्मुखो भवेत्सर्वविद्येश॰ छायवर्जित ॥ ६० ॥ अस्पदनयन॰ केशनखवृद्धिविवर्जितः । दशातिशयसम्पन्नो जिन स्याद् घातिनाशनात्
॥ ६१ ॥ जिनाधिस्वामिना भाषा भव्यधान्याब्दवृष्टिका । भिन्नदेशादिजाताना भवेत्सर्वार्थदायिका ॥ ६२ ॥ मार्जारमूषकादीना मित्रत्व
परम भवेत् । सर्वर्तुफलसयुक्तास्तरवः श्रीजिनाधिपे ॥ ६३ ॥ दर्पणेन समा ज्ञेया मही रत्नमया वभौ । सुगन्धानिल एव स्यात्प्रानन्द
सर्वदेहिनाम् ॥ ६४ ॥ मरुत्कता भवेद् भूमि॰ कटकादिविवर्जिता । गन्धोदकमहावृष्टिं कुर्वन्ति सुरवारिदाः ॥ ६५ ॥ पादन्यासे जिने-
न्द्राणा हेमपद्मानि सन्ति वै । शाल्यादि धान्यसदोह फलनम्रो विराजते ॥ ६६ ॥ आकाश निर्मल विद्धि प्राधकारविवर्जिता॰ । दिशश्चा-
ह्वाननं कुर्यु देवा इन्द्राज्ञया सदा ॥ ६७ ॥ धर्मचक्र स्फुरद्रत्न हेमनिर्मापित भवेत् । सहस्रार महादीप्त श्रीतीर्थस्वामिसन्निधौ ॥ ६८ ॥
एतान् देवा हि कुर्वन्ति जिनेन्द्राणां महागुणान् । चतुर्दश भवन्त्येव सर्वेत्रातिशया वरा॰ ॥६९॥ अशोकाख्यो महावृक्ष॰ पुष्पवृष्टिरनेकधा ।

सतत मिथ्योपदेशदानात्कौटिल्याज्जायते पुन ॥४७॥ पाप शत्रु पर विद्धि महादु.खानलेन्धनम्। श्वभ्रादिदुर्गतेर्वीज रोगक्लेशादिसागरम् ॥४८॥ यदा जीवस्य स्यात्पूर्वकृत पाप च सन्मुखम्। तदा भोजन सद्वस्त्रधनं नश्येद् गृहादिकम् ॥४९॥ यदि पाप भवेद् गुप्त तत सिद्ध समीहित। अन्यथा विफल क्लेशस्तपोवृत्तश्रुतादिभि. ॥५०॥ ते बान्धवा महामित्रा धर्मं व कारयन्ति ये। धर्मविघ्नकरा ये च शत्रवस्ते न संशयः ॥५१॥ ये तारयन्ति भव्याना महापापाम्बुधेश्च ते। धर्मोपदेशहस्ताभ्यां मुनयः सन्ति बाधवा. ॥५२॥ किमत्र बहुनोक्तेन यत्किंचिद्धि विरूपकम्। दु खदारिद्ररोगादि सर्वं तत्पापज भवेत् ॥५३॥ इति मत्वा त्वया धीमन् पाप त्याज्य विवेकतः। यदि स्वर्मुक्तिसौख्यादौ वाच्छा ते वर्तते तराम् ॥५४॥ अघस्य बीजमूतानि कारणानि फलानि च। वीरनाथो यदि ब्रूते वक्तुमन्यो नच प्रभु ॥५५॥ एन. कारणभूतानि पूर्वं प्रोक्तानि यानि च। विपरीतानि तान्येव सत्पुण्याय भवन्ति नु ॥५६॥ क्षमादिदशधा धर्मो द्वादशैव व्रतानि च। उत्कृष्टश्रावकाचारो द्वादशैव तपासि च ॥५७॥ आहारादिचतुर्भेद दान सन्मुनये वरम्। ज्ञानध्यानादिकादिकाभ्यास. पूजनं श्री जिनेशिनाम् ॥५८॥ सद्धर्मिणा च सन्मान सेवन सद्गुरोः सदा। निर्मापणं जिनार्चायाः भवनानि चाप्यर्हताम् ॥५९॥ प्रतिष्ठा जिनविम्बाना महाभ्युदयसाधिनी। अभिषेकोर्हन्मूर्तीणां महोत्सवपुरस्सरः ॥६०॥ अनुप्रेक्षादिकाचिंता प्रोद्यमस्तपस्यजसा। सोपकारोन्यजीवस्य धर्मादिकथन नृणाम् ॥ ६१ ॥ कृपादिसहित चित्त धर्मध्यानादिवासितम्। प्राणिना यद्भवेदेतत्सर्वं पुण्याय जायते ॥६२॥ यदा चित्त द्रवीभूत कृपया सर्वजन्तुषु। महापुण्य तदैव स्यात्तद्विना किं तपोखिलैः ॥६३॥ अरिष्टं यद्भवेत्स्वस्य परेषा क्रियते न तत्। यच्च पुण्यस्य मूल स्यात् किं वृथा ब्रूयते तराम् ॥६४॥ रत्नत्रयादिभावेन श्रीजिनस्मरणेन च। निर्ग्रन्थभक्तितो भव्या लभन्ते पुण्यमद्भुतम् ॥६५॥ देवशास्त्रगुरुसेवा संसारे नित्यभीरुता। पुण्याय जायते पुसा सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया ॥६६॥ वैराग्यवासित चित्त ज्ञानाभ्यासादितत्परम्। सर्वसत्त्वदयोपेत सूते पुण्य शरीरिणाम् ॥ ६७ ॥ धर्मोपदेशसंयुक्त वाक्यं भूतहितावहम्। विकथादिविनिर्मुक्त भवेत्सत्पुण्यकर्मणे ॥ ६८ ॥ शुभाय सवृत देह भवेत्सौम्य शरीरिणाम्। आसनादिसमायुक्त स्थितं वा त्यक्तविक्रियम् ॥ ६९ ॥ महापुण्यनिमित्त हि महामंत्र जगुर्बुधा। अनन्तपापसन्ताननाशक गुरुनामजम् ॥ ७० ॥ दृष्टिपूर्वं मुनीनां च तपो ज्ञानयमादिकम्। मुक्तेर्बीज भवेदग्रे साम्प्रत पुण्यकर्मदम् ॥ ७१ ॥ दर्शनेन विना पुसां दानवृत्तादिसेवनम्। पुण्याय न च मुक्त्यै हि भाषितं मुनिपुंगवैः ॥ ७२ ॥ ज्ञानध्यानसुवृत्तादि सर्वं दानादिकं तथा। आचारत्व विमुक्त्यर्थं न च पुण्याय धान्यवत् ॥ ७३ ॥ मुक्त्यर्थं क्रियते किंचित्तपोदानयमादिकम्। महापुण्याय तत्सस्याचित्तशुद्धेन देहिनाम् ॥ ७४ ॥ मुक्तिसगसमासक्ता ज्ञानचारित्रभूषिताः। मुनयो

१ यह श्लोक क पुस्तकमें अधिक है।

वै तिर्यक् सुरनारका. । चतुर्लक्षो मनुष्याश्च चतुर्दशविभेदतः ॥ १८ ॥ चतुरशीतिलक्षा स्यु. योनय' श्रीजिनागमात् । आयुकायादिभेदेन ज्ञातव्याः तत्त्वदर्शिभि' ॥ १९ ॥ चतुर्दशगुणस्थानान् मार्गणादिषु प्रत्ययाः । जीवतत्त्व च निश्चेयं बुधैर्दृष्टिविशुद्धये ॥ २० ॥ अजीव' पञ्चधा ज्ञेय पुद्गलस्तत्वशालिभि । धर्मोधर्मो नभः कालः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मक. ॥ २१ ॥ स्पर्शादिगुणसंयुक्तः पुद्गलो बहुधा भवेत् । अणुस्कंधादिजैर्भेदै सुखदु'खप्रदोगिनाम् ॥२२॥ धर्मोऽसंख्यप्रदेश स्याज्जीवपुद्गलयोर्गतौ । सहकारी विमूर्तश्च मत्स्यानामुदकं यथा ॥२३॥ अमूर्तो निष्क्रयोऽधर्मो जीवपुद्गलयो' स्थितौ । साह्यकर्ता यथास्थाया पथिकानां जिनैर्मत' ॥२४॥ अवकाशप्रदो ज्ञेयो द्रव्याणा संभृतश्च तैः । असंख्यातप्रदेशो हि लोकाकाशोऽविनश्वरः ॥२५॥ अतातीतप्रदेशोपि केवलो मूर्तिवर्जित । नित्यो जिनागमे ज्ञेयोऽलोकाकाशो विचक्षणै ॥२६॥ व्यवहाराभिध कालो दिवसादिमयो भवेत् । द्रव्यप्रवर्तको नित्यो व्यक्त. सूर्यादिविम्वत' ॥२७॥ अमूर्तो निष्क्रिय' प्रोक्तो लोकाकाशसमो जिनै' । कालो निश्चयसज्ञश्च भिन्नभिन्नप्रदेशवान् ॥२८॥ जीवद्रव्येण सयुक्ता अमी द्रव्या भवन्ति षट् । कालद्रव्याद्विनाप्येते पंचास्तिकायका मता ॥ २९ ॥ मिथ्यात्वाविरतीयोगकषाया एव प्रत्ययाः । प्रमादसहिता ह्येते कर्मादानस्य हेतवः ॥३०॥ सच्छिद्रनाववज्जीवा मज्जन्ति भववारिधौ । कर्मास्रवस्य दोषेण मिथ्यात्वादिमलीमसा ॥ ३१ ॥ जीवकर्मादिसश्लेषो बन्ध सकीर्तितो बुधै. । अनन्तदु खसन्तान दाहवन्हिर्महेन्धन' ॥ ३२ ॥ तैलस्निग्धे भवेदङ्गे यथा रेणुसमागमः । कर्माणवस्तथा यान्ति जीवे रागादिदूषिते ॥ ३३ ॥ सर्वास्रवनिरोधो यः सवरोऽसौ जिनै स्मृतः । असंख्यकर्मसन्तानस्फेटको मुक्तिसौख्यद' ॥ ३४ ॥ तप समितिचारित्रगुप्तिधर्मपरीषहै. । सवर' स्यान्मुनीना च ज्ञानध्यानव्रतादिभि ॥३५॥ पूर्वकर्मकृतस्यैव ज्ञानध्यानतपोरतै । विधीयते क्षय. यश्च निर्जरा सा विपाकजा ॥ ३६ ॥ कर्तव्या मुनिभि' सा च सर्वमुक्तिनिबधना । विपाकात्कर्मणा जाता साप्यन्या परकर्मदा ॥ ३७ ॥ सविपाका हि सर्वेषा भवेत्कर्मवशाच्च सा । हेयान्यकर्मदादेया परा मोक्षकरा बुधै ॥३८॥ यो जीवकर्मविश्लेष स मोक्ष कथ्यते जिनै । मुनीना सत्तपोवृत्तसवरणादिकृतात्मनाम् ॥३९॥ यथा बन्धनबद्धस्य पुरुषस्य विमोचनात्। सुख भवेत्तथा कर्मबन्धस्य तत्क्षयाद्वरम् ॥ ४० ॥ आत्यतिको स्वभावोत्थमनन्तमविनश्वरम् । अनौपम्य भ्रमातीतं मोक्षसौख्य जगुर्जिना ॥४१॥ शुभाशुभेन भावेन पुण्यपापद्वय भवेत् । सातायुर्नामगोत्राणि पुण्य पाप तथा परम् ॥४२॥ मिथ्यात्वपञ्चक क्रूरं कषाया' पञ्चविंशति' । आर्तरौद्राष्टक ध्यान सप्तैव व्यसनानि च ॥४३॥ विषादो द्वादशैर्वापि पापाढ्यास्त्वविरतय. । रागो द्वेषो महामोहो भया सप्त शरीरिणाम् ॥४४॥ वेदाः शोक क्रियाश्चैव विंशतिश्चतुरुत्तरा' । कौटल्य सर्वमेतच्च पापबन्धाय सम्भवेत् ॥४५॥ नियमस्य विभंगेन महापापं प्रजायते । प्राणिनां देवसच्छास्त्रगुरुलोपनयोगत' ॥ ४६ ॥ धर्मादिविघ्नकरणात्पाप मिथ्यात्वपोषणात् ।

सतत मिथ्योपदेशदानात्कौटिल्याज्जायते पुन ॥४७॥ पाप शत्रु पर विद्धि महादु.खानलेन्धनम् । श्वभ्रादिदुर्गतेर्वीज रोगक्लेशादिसागरम् ॥४८॥ यदा जीवस्य स्यात्पूर्वकृतं पाप च सन्मुखम् । तदा भोजन सद्वस्त्रधनं नश्येद् गृहादिकम् ॥४९॥ यदि पाप भवेद् गुप्त तत सिद्ध समीहितं । अन्यथा विफल' क्लेशस्तपोवृत्तश्रुतादिभि ॥५०॥ ते वान्धवा महामित्रा धर्मं व' कारयन्ति ये । धर्मविघ्नकरा ये च शत्रवस्ते न सशय ॥५१॥ ये तारयन्ति भव्याना महापापाम्बुधेश्च ते । धर्मोपदेशहस्ताभ्यां मुनयः सन्ति वाधवा. ॥५२॥ किमत्र वहुनोक्तेन यत्किंचिद्धि विरूपकम् । दु.खदारिद्ररोगादि सर्वं तत्पापज भवेत् ॥५३॥ इति मत्वा त्वया धीमन् पाप त्याज्यं विवेकत । यदि स्वर्मुक्तिसौख्यादौ वाच्छा ते वर्तते तराम् ॥५४॥ अघस्य वीजभूतानि कारणानि फलानि च । वीरनाथो यदि ब्रूते वक्तुमन्यो न च प्रभुः ॥५५॥ एन कारणभूतानि पूर्वं प्रोक्तानि यानि च । विपरीतानि तान्येव सत्पुण्याय भवन्ति नु. ॥५६॥ क्षमादिदशधा धर्मो द्वादशैव व्रतानि च । उत्कृष्टश्रावकाचारो द्वादशैव तपासि च ॥५७॥ आहारादिचतुर्भेद दानं सन्मुनये वरम् । ज्ञानध्यानादिकादिकाभ्यास पूजनं श्री जिनेशिनाम् ॥५८॥ सद्धर्मिणा च सन्मान सेवन सदगुरो. सदा । निर्मापणं जिनार्चायाः भवनानि चाप्यर्हताम् ॥५९॥ प्रतिष्ठा जिनविम्बाना महाभ्युदयसाधिनी । अभिषेकोर्हन्मूर्तीणा महोत्सवपुरस्सरः ॥६०॥ अनुप्रेक्षादिकाचिंता प्रोधमस्तपस्यजसा । सोपकारोन्यजीवस्य धर्मादिकथन नृणाम् ॥ ६१ ॥ कृपादिसहितं चित्त धर्मध्यानादिवासितम् । प्राणिना यद्भवेदेतत्सर्वं पुण्याय जायते ॥६२॥ यदा चित्त द्रवीभूत कृपया सर्वजन्तुषु । महापुण्य तदेव स्यात्तद्विना किं तपोखिलैः ॥६३॥ अरिष्ट यद्भवेत्स्वस्य परेषा क्रियते न तत् । यच्च पुण्यस्य मूल स्यात् किं वृथा ब्रूयते तराम् ॥६४॥ रत्नत्रयादिभावेन श्रीजिनस्मरणेन च । निर्ग्रन्थभक्तितो भव्या लभन्ते पुण्यमद्भुतम् ॥६५॥ देवशास्त्रगुरुसेवा संसारे नित्यभीरुता । पुण्याय जायते पुसा सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया ॥६६॥ वैराग्यवासित चित्त ज्ञानाभ्यासादितत्परम् । सर्वसत्त्वदयोपेतं सूते पुण्य शरीरिणाम् ॥ ६७ ॥ धर्मोपदेशसयुक्त वाक्य भूतहिता-वहम् । विकथादिविनिर्मुक्त भवेत्सत्पुण्यकर्मणे ॥ ६८ ॥ शुभाय सवृतं देह भवेत्सौम्य शरीरिणाम् । आसनादिसमायुक्त स्थितं वा त्यक्त-विक्रियम् ॥ ६९ ॥ महापुण्यनिमित्त हि महामत्र जगुर्वुधाः । अनन्तपापसन्ताननाशक गुरुनामजम् ॥ ७० ॥ दृष्टिपूर्वं मुनीनां च तपो ज्ञानयमादिकम् । मुक्तेर्वीज भवेदग्रे साम्प्रत पुण्यकर्मदम् ॥ ७१ ॥ दर्शनेन विना पुसा दानवृत्तादिसेवनम् । पुण्याय न च मुक्त्यै हि भाषित मुनिपुगवै. ॥ ७२ ॥ ज्ञानध्यानसुवृत्तादि सर्वं दानादिक तथा । आचारत्व विमुक्त्यर्थं न च पुण्याय धान्यवत् ॥ ७३ ॥ मुक्त्यर्थं क्रियते किंचित्तपोदानयमादिकम् । महापुण्याय तत्सस्याच्चित्तशुद्धेन देहिनाम् ॥ ७४ ॥ मुक्तिसगसमासक्ता ज्ञानचारित्रभूषिताः । मुनयो

१ यह श्लोक क पुस्तकमें अधिक है ।

मोक्ष अवश्य मिलती है इसलिये सब प्रकारकी शंकाओंको छोडकर तू इसका पान कर अर्थात् इस सम्यग्दर्शनको धारण कर ॥ १५६ ॥

इसप्रकार आचार्य सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें देव गुरु धर्मके स्वरूपको कहनेवाला यह तीसरा सर्ग समाप्त हुआ।



आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचितः—

प्रश्नोत्तरश्रावकाचारः।

जिनेशं वृषभं वंदे वृषदं वृषनायकम्। वृषाय भुवनाधीशं वृषतीर्थप्रवर्तकम् ॥ १ ॥ मोहनिद्रातिरेकेण जगत्सुप्तं वचोंशुभिः। बोधितं शिरसा येन तस्मै वीराय सन्नमः ॥२॥ द्वाविंशतिजिनान् शेषान् भव्यलोकसुखप्रदान्। वंदे प्रारब्धसिद्ध्यर्थं धर्मसाम्राज्यनायकान् ॥३॥ अष्टकर्मविनिर्मुक्तान् गुणाष्टकविभूषितान्। लोकाग्रशिखरारूढान् सिद्धान् सिद्ध्यै स्मराम्यहम् ॥ ४ ॥ सूरयः पंचधाचारं स्वयमेवाचरंति ये। चारयन्ति विनेयानां तेषां पादौ नमाम्यहम् ॥५॥ अङ्गपूर्वप्रकीर्णानि ये पठन्ति सधर्मिणाम्। पाठयन्ति सदा तेभ्यः पाठकेभ्यो नमोस्तु वै ॥६॥ त्रिकालयोगयुक्तानां मूलोत्तरगुणात्मनाम्। तपःश्रीसंगिनां पादौ साधूनां प्रणमाम्यहम् ॥ ७ ॥ वीतरागमुखोद्गीर्णामङ्गपूर्वादिविस्तृताम्। आराध्यां मुनिभिः वंदे ब्राह्मीं प्रज्ञां प्रसिद्धये ॥ ८ ॥ गौतमादिगणाधीशानङ्गपूर्वादिपारगान्। महाकवीनहं वंदे बुद्धिसज्ज्ञानहेतवे ॥ ९ ॥ मंगलार्थं नमस्कृत्य देवसिद्धान्तसद्गुरून्। वक्ष्ये प्रश्नोत्तरं ग्रन्थं धर्मव्याजेन केवलम् ॥ १० ॥ मतिश्रुतसमायुक्तः श्रावकाचारतत्परः। भवेद् यः श्रावको धीमान् संवेगादिगुणान्वितः ॥११॥ स पृच्छति गुरुं नत्वा रत्नत्रितयभूषितम्। सर्वसंगविनिर्मुक्तं निर्ग्रंथं धर्महेतवे ॥१२॥ अस्मिन्ननादि संसारे निःसारे दुःखपूरिते। सारं किं भगवन्नद्य कृपां कृत्वा निरूपय ॥ १३ ॥ चतुर्गतिमहावर्ते संसारे क्षारसागरे। मानुष्यं दुर्लभं विद्धि गुणोपेतं शरीरिणाम् ॥ १४ ॥ मनुजत्वेपि किं सारं येन तत्सफलं भवेत्। तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि भवतः श्रीमुखादहम् ॥ १५ ॥ सद्धर्मं परमं सारं संसाराम्बुधितारकम्। सुखाकरं जिनैरुक्तं स्वर्गमुक्तिसुखप्रदम् ॥ १६ ॥ एकभेदं द्विभेदं वा धर्मं विद्धो वयं नाहं। २८ मया कुशास्त्रेषु नानाभेदैः प्ररूपितम् ॥ १७ ॥ धर्मं पापं प्रजल्पन्ति तत्त्वहीनाः कुदृष्टयः। वस्तुतत्त्वं न जानन्ति

जात्यन्धा इव भास्करम् ॥ १८ ॥ हेमादिक यथा दक्षैर्गृह्यते घर्षणादिभिः । तथा धर्मो गृहीतव्य सुपरीक्ष्य विवेकिभि ॥ १९ ॥ यथा दुग्ध भवेन्नाम्ना श्वेत च स्वादुनान्तरम् । मद्यिप्यर्कप्रभेदेन तथा धर्मं जगुर्बुधा ॥ २० ॥ यो रागद्वेषनिर्मुक्त सर्वज्ञस्तेनभाषित. । धर्म सत्यो हि नान्यैश्च रागद्वेषपरायणै. ॥ २१ ॥ स धर्मो हि द्विधा प्रोक्त सर्वज्ञेन जिनागमे । एकश्च श्रावकाधारो द्वितीयो मुनिगोचर ॥ २२ ॥ एको हि देशतो धर्म सुगमः श्रावकादिभिः । शक्यते कर्तुमत्रैव गृहव्यापारभारितै ॥ २३ ॥ द्वितीयो मुनिभि. शक्यो धर्मो घोरपरीषहै । [गृहमोहादिसत्यक्तै नान्यैर्दीनै कदाचन ॥ २४ ॥ स्वामिन् तच्छ्रावकाचार कथय त्वं कृपाद्रधी । येनात्मा मे सुखी भूयात् श्रुतेन धर्मतत्पर ॥ २५ ॥ एकाग्रचेतसा वत्स श्रृणु तत्कथयाम्यहम् । यत्प्रोक्त जिननाथेन सर्वमङ्गे हि सप्तमे ॥ २६ ॥ अग सार विशाल प्रोपासकाध्ययन जिनात् । अर्थमादाय सद्ग्रन्थं वृषभाख्यगणेशिना ॥ २७ ॥ तस्य सख्या प्रवक्ष्यामि पदानि सकलानि स्यु । सप्ततिश्च सहस्राणि लक्षा ह्येकादशस्फुटाम् ॥ २८ ॥ षोडशापि शतान्येव द्विसप्तदशकोटय । लक्षास्त्र्यशीतिर्वै सप्त सहस्राणि शताष्टकम् ॥ २९ ॥ अष्टाशीतिश्च सद्वर्णा प्रोक्ता एकपदस्य वै । सर्वसख्या जिनेन्द्रेण ज्ञातव्या तत्त्वदर्शिभि ॥ ३० ॥ अजितादिजिनाधीशैर्धर्मतीर्थप्रवर्तकै. । सर्वैरग प्रणीतं तत् श्रावकाचारगोचरम् ॥ ३१ ॥ श्रीवीरस्वामिदेवेन गौतमेन गणेशिना । प्रोक्तमग महाग्रन्थ श्रावकस्य सुखाप्तये ॥ ३२ ॥ श्रीसुधर्ममुनीन्द्रेण चोक्त श्रीजम्बुस्वामिना । केवलज्ञाननेत्रेण ज्ञान गार्हस्थ्यगोचरम् ॥ ३३ ॥ विष्ण्वादिमुनिभि सर्वै द्वादशागश्रुतातगैः । प्रणीतं भव्यसत्वानामुपकाराय तत्कृतम् ॥ ३४ ॥ तत कालादिदोषेण प्रायुर्मेधादिहानित । हीयते प्रागपूर्वादिश्रुत श्रीधर्मकारणम् ॥ ३५ ॥ तत कुन्दकुन्दाचार्यादिमुख्ययतीश्वरा । प्रकाशयन्ति सज्ज्ञान सद्ग्रहाधिष्ठितात्मनाम् । क्रमात्तद्धि समायातं परिज्ञाय महाश्रुतम् । वक्ष्ये सद्धर्मबीज हि ज्ञानं भव्यसुखप्रदम् ॥ ३७ ॥ यत्प्रोक्त मुनिभि पूर्वं महामतिविशारदैः । तच्छक्य कथमस्माभि प्रोक्त ज्ञानलवेन वै ॥ ३८ ॥ तथापि तत्क्रमाम्भोजप्रणामार्जितपुण्यत । स्तोक सार प्रवक्ष्यामि धर्मं श्रावकगोचरम् ॥ ३९ ॥ येन धर्मेण जीवाना पापं नश्यति दूरत. । स्वर्गश्री स्वयमायाति मुक्तिरालोक्यते पुन ॥४०॥ धर्मसिंहासनारूढो यद्यदगी समीहते । तत्तदेव समायाति सुखं लोकत्रयोद्भवम् ॥४१॥ सद्धर्मो यस्य जीवस्य हस्ते चिंतामणिर्भवेत् । कल्पवृक्षो गृहे तस्य कामधेनुश्च किंकरी ॥४२॥ धर्मो बधुश्च मित्रं स्याद्धर्म. स्वामिसुखाकर. । हित करोति जन्तूनामत्रामुत्र फलप्रद ॥४३॥ श्रावकाचारज धर्मं श्रेष्ठ यो वितनोति सः । स्वर्गे षोडशमे भुक्त्वा सुख मुक्त्यालय व्रजेत् ॥ ४४ ॥ यथा मेघाद्विना न स्यात्सस्य निष्पत्तिरत्र भो । तथा धर्माद्विना लक्ष्मीर्धनधान्यादिगोचरा ॥ ४५ ॥ ऋद्धि सजायते नैव पापेनाचरणेन वा । यथा हि मुखसजातममृत

नैव दृश्यते ॥ ४६ ॥ धर्मं य कुरुते साक्षाद्दक्षं तस्य फलं परम् । विभते सर्वमन्नाम योऽसौ स्वर्गोनिधो भवेत् ॥ ४७ ॥ अथवहितमाति नोदेन किं साध्यं हितकाङ्क्षिणाम् । धर्मः सदैव कर्तव्यो येन जीवः सुखायते ॥ ४८ ॥ प्रारम्भ भज दर्शनं व्रतमथ सामायिकं प्रोषधं, त्याग चैव सचित्तवस्तुविषये सूर्यास्तमे भोजनम् । अब्रह्म त्यज पापद गृहभव प्रारम्भमेव मनसा, ग्रन्थ त्यज गृहकार्यानुमनन प्रोद्दिष्टभुक्त्यादि-कम् ॥ ४९ ॥ बुधजनपरिसेव्यं तीर्थनाथैः प्रणीत, विमलगुणनिधान स्वर्गमोक्षादिवृक्षम् । जनकसुखसमुद्र दानपूजादियुक्तं, भज विगतविकार त्व च सागारधर्मम् ॥ ५० ॥

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे धर्मप्रश्नवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ।

अथ द्वितीयः सर्गः ।

अजित जिनमानम्य निर्जिताशेषविद्विषम् । सविशेषमतो वक्ष्ये शृणु श्रावकसद्व्रतम् ॥ १ ॥ दर्शनं मूलमित्याहुर्जिनाः सर्वव्रतात्मनाम् । अधिष्ठानं यथा प्रासादस्तन्मूलमेव न ॥ २ ॥ तस्मात्सद्दर्शनं सार गृहीतव्यं विवेकिभिः । गुरुदर्शनेन नाशन्ते व्रतान्यपि निमुक्तये ॥ ३ ॥ श्रद्धान सततत्त्वाना सम्यक्त्व कथ्यते जिनैः । श्रद्धेयानि कुत्सितानि पुंसा सद्दर्शनानि ते ॥ ४ ॥ भगवन् तत्त्वसद्भावं विस्तार कारण गुणान् । संख्याभेदान्तदर्श न कथय त्वं ममादरात् ॥५॥ शृणु धीमन् महाभाग तत्त्वं त्वां कथयाम्यहम् । जिनेन्द्रसिद्धानुयोगेन चागमेनापि तत्त्वतः ॥६॥ जीवाजीवास्रवो बन्धः सवरो निर्जरा तथा । मोक्ष सप्तैव तत्त्वानि भाषितानि जिनागमे ॥ ७ ॥ जीवितोऽजीवितो जीवो जीविष्यति पुन. पुनः । द्रव्यभावविभेदैश्च प्राणैः सौख्य नरात्मनाम् ॥ ८ ॥ पञ्चैव चेन्द्रियप्राणा मनोवाक्कायगोचरः । बलप्राणास्त्रिधायुश्च नि श्वासोच्छ्वास एव हि ॥९॥ उपयोगमयो जीव शुद्धनिश्चयतो भवेत् । व्यवहारेण मत्यादिज्ञानदर्शनगोचरः ॥१०॥ अमूर्तो निश्चयादंगी भोक्ता कर्मादिक न च । व्यवहारेण मूर्तोऽपि भोक्ता कर्मफलं भवेत् ॥ ११ ॥ अकर्ता कर्मनोकर्मरागद्वेषादिकान् । शुद्धद्रव्यार्थिकेनापि ससारे भ्रमण न च ॥ १२ ॥ कर्ता कर्मशरीरादिमोहद्वेषादिकान् । भ्रमन् ससारे व्यवहारनयात् पुनः ॥ १३ ॥ कायप्रमाण आत्मायं समुद्घात विना भवेत् । प्रदीप इव सकोचविस्तारो व्यवहारतः ॥ १४ ॥ लोकाकाशसमो जीवो निश्चयेन भवेत् सदा । मुक्तः पूर्वशरीरस्य किंचिदूनाकृतिर्भवेत् ॥ १५ ॥ द्विधा जीवा भवन्त्येव सिद्धा ससारिणः पुनः । जात्यादिभेदनिष्क्रान्ता. पञ्चधा कर्मविचेष्टिता ॥ १६ ॥ भूनीराग्निसमीराश्च नित्येतरनिगोदकाः । भवन्ति सप्तलक्षाणि दशैव तरुजातयः ॥ १७ ॥ द्वित्रिचतुरिन्द्रिया द्वौ द्वौ

वै तिर्यक् सुरनारका. । चतुर्लक्षो मनुष्याश्च चतुर्दशविभेदत. ॥ १८ ॥ चतुरशीतिलक्षा स्यु योनय' श्रीजिनागमात् । आयुकायादिभेदेन ज्ञातव्याः तत्त्वदर्शिभि' ॥ १९ ॥ चतुर्दशगुणस्थानान् मार्गणादिषु प्रत्ययाः । जीवतत्त्वं च निश्चेयं बुधैर्दृष्टिविशुद्धये ॥ २० ॥ अजीव पञ्चधा ज्ञेय पुद्गलस्तत्वशालिभि. । धर्मोधर्मो नभः काल. स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मक ॥ २१ ॥ स्पर्शादिगुणसयुक्त. पुद्गलो वहुधा भवेत् । अणुस्कंधादिजैर्भेदै सुखदु खप्रदोगिनाम् ॥२२॥ धर्मोऽसख्यप्रदेशः स्याज्जीवपुद्गलयोर्गतौ । सहकारी विमूर्तश्च मत्स्यानामुदक यथा ॥२३॥ अमूर्तो निष्क्रयोऽधर्मो जीवपुद्गलयो' स्थितौ । साह्यकर्ता यथास्थाया पथिकाना जिनैर्मत ॥२४॥ अवकाशप्रदो ज्ञेयो द्रव्याणा सभृतश्च तै. । असख्यातप्रदेशो हि लोकाकाशोऽविनश्वर' ॥२५॥ अतातीतप्रदेशोपि केवलो मूर्तिवर्जित । नित्यो जिनागमे ज्ञेयोऽलोकाकाशो विचक्षणै ॥२६॥ व्यवहाराभिध कालो दिवसादिमयो भवेत् । द्रव्यप्रवर्तको नित्यो व्यक्त सूर्यादिविम्वत ॥२७॥ अमूर्तो निष्क्रिय प्रोक्तो लोकाकाशसमो जिनै. । कालो निश्चयसज्ञश्च भिन्नभिन्नप्रदेशवान् ॥२८॥ जीवद्रव्येण सयुक्ता अमी द्रव्या भवन्ति षट् । कालद्रव्याद्विनाप्येते पंचास्ति-कायका मता ॥ २९ ॥ मिथ्यात्वाविरतीयोगकषाया एव प्रत्ययाः । प्रमादसहिता ह्येते कर्मादानस्य हेतव' ॥३०॥ सच्छिद्रनाववज्जीवा मज्जन्ति भववारिधौ । कर्मास्रवस्य दोषेण मिथ्यात्वादिमलीमसा ॥ ३१ ॥ जीवकर्मादिसश्लेषो वन्ध' सकीर्तितो वुधै । अनन्तदु खसन्तान दाहवन्हिर्महेन्धन' ॥ ३२ ॥ तैलस्निग्धे भवेदङ्गे यथा रेणुसमागमः । कर्माणवस्तथा यान्ति जीवे रागादिदूषिते ॥ ३३ ॥ सर्वास्रवनिरोधो य' सवरोऽसौ जिनै स्मृतः । असख्यकर्मसन्तानस्फेटको मुक्तिसौख्यद. ॥ ३४ ॥ तप समितिचारित्रगुप्तिधर्मपरीषहै । सवर' स्यान्मु-नीना च ज्ञानध्यानव्रतादिभि ॥३५॥ पूर्वकर्मकृतस्यैव ज्ञानध्यानतपोरतै । विधीयते क्षय. यश्च निर्जरा सा विपाकजा ॥ ३६ ॥ कर्तव्या मुनिभि' सा च सर्वमुक्तिनिवधना । विपाकात्कर्मणा जाता साप्यन्या परकर्मदा ॥ ३७ ॥ सविपाका हि सर्वेषा भवेत्कर्मवशाच्च सा । हेयान्यकर्मदादेया परा मोक्षकरा वुधै ॥३८॥ यो जीवकर्मविश्लेष स मोक्ष कथ्यते जिनै । मुनीना सत्तपोवृत्तसवरणादिकृतात्मनाम् ॥३९॥ यथा बन्धनबद्धस्य पुरुषस्य विमोचनात् । सुखं भवेत्तथा कर्मवन्धस्य तत्क्षयाद्वरम् ॥ ४० ॥ आत्यतिको स्वभावोत्थमनन्तमविनश्वरम् । अनौपम्य प्रमातीतं मोक्षसौख्य जगुर्जिना ॥४१॥ शुभाशुभेन भावेन पुण्यपापद्वय भवेत् । सातायुर्नामगोत्राणि पुण्य पाप तथा परम् ॥४२॥ मिथ्यात्वपञ्चक क्रूरं कषाया' पञ्चविंशति । आर्तरौद्राष्टक ध्यान सप्तैव व्यसनानि च ॥४३॥ विषादो द्वादशैर्वापि पापाख्यास्त्वविरतय । रागो द्वेषो महामोहो भया' सप्त शरीरिणाम् ॥४४॥ वेदाः शोक क्रियाश्चैव विंशतिश्चतुरुत्तरा । कौटल्य सर्वमेतच्च पापवन्धाय सम्भवेत् ॥४५॥ नियमस्य विभगेन महापाप प्रजायते । प्राणिनां देवसच्छास्त्रगुरुलोपनयोगत' ॥ ४६ ॥ धर्मादिविघ्नकरणात्पाप मिथ्यात्वपोषणात् ।

कहूं। यदि मैं कुछ कहूंगा भी तो भी मेरे महाराज मेरे लिये ही नाम रक्खेंगे। इसके सत्यकी प्रसिद्धिके सामने मेरी कुछ चल नहीं सकेगी" यही सोचकर सब चुप होजाते थे ॥ ६५ ॥

किसी एक समय उस नगरमें धन कमानेके लिये बुद्धिमान सागरदत्त नामका सेठ पद्मखंडपुर नामके नगरसे आया ॥६६॥ वह अपने अमूल्य पांच रत्न सत्यघोषके समीप रखगया और स्वयं आगे धन कमानेके लिये गया ॥६७॥ बाहर जाकर उसने बहुत धन कमाया,और लौटकर सिंहपुर आरहा था कि पापकर्मके उदयसे उसके सब जहाज नष्ट हो गये ॥६८॥ परंतु सागरदत्तका कुछ पुण्यकर्म बाकी था इसलिये वह किसी एक लकड़ीके तख्तेपर बैठकर समुद्रके किनारे पर आगया और फिर वहांसे चलकर सत्यघोषके पास आ पहुंचा ॥ ६९ ॥ उस समय वह सागरदत्त एक रंकके समान आरहा था। उसे दूरसे ही आते हुए देखकर सत्यघोषने अपना विश्वास जमानेके लिये समीपवर्ती लोगोंसे कहा कि हे लोगो! देखो यह मनुष्य जो आरहा है सो ऐसा मालूम होता है कि इसका द्रव्य सब नष्ट होगया है इसलिये यह व्याकुल होरहा है। अब यह यहां आकर मुझसे रत्न मांगेगा ॥७०–७१॥ इतनेमें ही सागरदत्त वहां आगया और उसने प्रणामकर सत्यघोषसे कहा कि मैं जिन रत्नोंको धरोहर रखगया था कृपाकर अब उनको दे दीजिये ॥७२॥ सागरदत्तकी यह बात सुनकर सत्यघोषने उसका समस्त द्रव्य हरण करनेके लिये समीपवर्ती लोगोंसे कहा कि देखो जो बात मैंने पहिले कही थी वह ठीक निकली। तब सागरदत्तने कहा कि आप सब जानते हैं ॥ ७३–७४ ॥ तब सत्यघोषने कहा कि नहीं यह एक

न लोकास्तत्ख्याति हेतुतः ॥६४॥ तस्य सत्य परिज्ञाय न श्रृणोति स पूत्कृतम्। राजा मत्वेति लोका हि तूष्णीभाव भजन्ति ते ॥६५॥ अथैकदा पुनस्तत्र पद्मखडपुरात्सुधीः। श्रेष्ठी सागरदत्ताख्य आगतो धनहेतवे ॥ ६६ ॥ सत्यघोषसमीपे स धृत्वा रत्नानि पञ्च वै। अनर्घ्याणि गतोऽतीव धनार्थं सागरान्तिकम् ॥ ६७ ॥ समुत्पाज्र्य घना लक्ष्मी यावदायाति तत्र स। व्याधुट्य पापयोगेन स्फुटित पोतमजसा ॥ ६८ ॥ सम्प्राप्य फलक ह्येकं तितीर्यागाधसागरम्। समीप सत्यघोषस्य स प्राप्त पुण्यपाकत ॥ ६९ ॥ आगच्छन्त तमालोक्य रङ्केन सदृश परम्। समीपस्थजनाना तत्प्रार्थ्यं तेषामुवाच स. ॥ ७० ॥ श्रूयध्व भो जना वाच जातोऽय विफलो नर। द्रव्यनाशादिहागत्य रत्नानि प्रार्थयिष्यति॥ ७१ ॥ तेनागत्य प्रणम्योक्तं देहि रत्नानि मे प्रभो। न्यासार्थं यानि दत्तानि स्वात्मान प्रोद्धरामि वै ॥७२॥ आकर्ण्य तद्वचस्तेन सत्यघोषेण भाषितम्। तद्द्रव्यहरणार्थं स्वपार्श्ववर्तिजनान् प्रति ॥ ७३ ॥ भो जना वचनस्याद्य मे जातो निश्चयो न

पागल मनुष्य है इसे यहांसे निकाल देना चाहिये। यह सुनते ही उन मनुष्योंने उसे जबरदस्ती वहांसे निकलवा दिया ॥७५॥ बिचारा सागरदत्त सब तरहसे लाचार होकर रोता हुआ उसी नगरमें घूमने लगा और चिल्ला चिल्लाकर कहने लगा कि सत्यघोषने मेरे पांच माणिक्य मारलिये हैं ॥७६॥ राजभवनके पास एक इमलीका वृक्ष था। उसीपर चढ़कर सवेरेके स... यही कह कहकर वह प्रतिदिन पुकार मचाने लगा ॥ ७७ ॥ इसप्रकार पुकार करते करते उसे छह महीने होगये ... दिन रानीने राजासे कहा कि हे देव ! यह पुरुष सदा एकसी पुकार करता है इसलिये यह पागल नहीं हो सकता। तब राजाने कहा कि क्या सत्यघोष ऐसी चोरी कर सकता है ? इसके उत्तरमें रानीने कहा कि हे देव ! संभव है ऐसा ही। रानीके इतना कहनेपर महाराजने आज्ञा दी कि तू ही इसकी परीक्षा कर ॥७८–८०॥ इसप्रकार रानीको परीक्षा करनेकी आज्ञा मिल चुकी थी और प्रातःकाल ही वह पुरोहित महाराजके पास प्रणाम करनेके लिये आया था। रानीने उस दुष्ट पुरोहितको देखते ही बुलाया और पूछा कि हे मित्र ! आज सवेरे ही कैसे आए ? पुरोहितने कहा कि आज मेरा साला आया है वह भोजन करनेके लिये घर बैठा है इसीलिये मैं यहां चला आया ॥ ८१–८२ ॥ रानीने फिर कहा कि अच्छा आज कुछ देरतक यहां ही ठहरना। हे तात ! आज मुझे कुछ पाशा खेलनेकी इच्छा हुई है, मैं आज तुम्हारे ही साथ पांसेसे खेलूंगी। रानीके इतना कहते ही वहांपर महाराज आपहुंचे और उन्होंने भी आज्ञा दे दी कि महारानीकी इच्छा पूरी करो ॥ ८३–८४ ॥ इसप्रकार रानीने पुरोहितको तो रोक लिया और निपुणमती नामकी किसी चतुर वेश्याको बुलाकर और

किम्। भवता ते पुनरुक्त सर्वं वेत्सि त्वमेव हि ॥ ७४ ॥ तत. प्रोक्त पुनस्तेन नाऽय तु गृहिलो गृहात्। अस्मान्निस्सार्यतामेव स तैर्निस्सारितो हठात् ॥ ७५ ॥ भ्रमन् लोके स पूत्कार कुर्वन्नित्य प्रतिस्थित'। सत्यघोषेण पञ्चैव माणिक्यानि हृतानि मे ॥ ७६ ॥ चिंचावृक्ष समारुह्य स पूत्कार करोति वै। राजगृहसमीपे नु रात्रौ यामे च पश्चिमे ॥ ७७ ॥ एव प्रतिदिन कुर्वन् षण्मासात्स वणिग्वर। स्थित पूत्कृतिमाकर्ण्य सुराज्ञ्या भणितो नृप ॥ ७८ ॥ नाथ ना गृहिलो देव सादृश्यवचनात्सदा। राजोक्त सत्यघोषस्य किं चौर्यं हि प्रभाव्यते ॥ ७९ ॥ पुनर्निरूपित रामदत्तया देव भाव्यते। ततोऽपि सिंहसेनेन प्रोक्त त्व हि परीक्षय ॥ ८० ॥ लब्ध्वादेश प्रभाते स प्रणामार्थं समागत'। राज्ञास्तया समाकार्य पृष्ठो दुष्टपुरोहितः ॥ ८१ ॥ किमागतो भो मित्र वृहद्वेलामुवाच स। आगत श्यालको मेऽद्य तस्य भुक्त्यै गृहे स्थित ॥ ८२ ॥ पुनर्निरूपित राज्ञ्या क्षणैक चात्र तिष्ठ भो। ममाति कौतुक जात द्यूतक्रीडादिहेतवे ॥ ८३ ॥ करोम्यद्य

उसे एकांतमें ले जाकर उसके कानमें सब बात समझाकर कह दी और कहा कि देख, तू पुरोहितके घर जा, पुरोहितानीसे कहना कि " पुरोहितजी महाराणीके पास बैठे हैं उन्होंने उस परदेशी पागलके माणिक मगाये हैं उन माणिकोंसे उन्हें आवश्यक कार्य है मुझे इसीलिये आपके पास भेजा है। " इसप्रकार उसकी स्त्रीसे कहकर और उन माणिकोंको लेकर शीघ्र ही मेरे पास आ जा। यह सब समझ बूझकर वह वेश्या पुरोहितानीके पास गई, उससे जाकर सब बात कही परंतु उस पुरोहितानीको भी सदा झूठ बोलनेका अभ्यास था और पुरोहितने न देनेके लिये कह रक्खा था इसलिये उसने वे माणिक दिये ही नही ॥ ८५–८८ ॥ तब लाचार होकर वह वेश्या रानीके पास लौट आई और आकर कहा कि वह पुरोहितानी उन माणिकोंको किसी तरह नही देती है ॥ ८९ ॥ इसी बीचमें रानीने उस पांसेके खेलमें पुरोहितकी एक अंगूठी जीत ली थी अतएव रानीने पुरोहितके चिन्ह रूपमे वह अंगूठी भेजी तथापि पुरोहितानीने ब्राह्मणके डरसे वे रत्न नही दिये ॥ ९० ॥ इधर रानीने पुरोहितजीका यज्ञोपवीत (जनेऊ) और उसमें बंधी हुई वह कैंची भी जीत ली थी इसलिये रानीने उस वेश्याके साथ चिन्हरूपमें वे दोनों चीज भेजकर वे रत्न मंगाये ॥ ९१ ॥ अबकी बार जनेऊ और कैंची दोनो चीजें देखकर पुरोहितानीको विश्वास होगया और उसने शीघ्र ही वे रत्न निकालकर दे दिये ॥९२॥ वेश्याने वे रत्न लाकर रानीको दे दिये और रानीने वे बहुमूल्य माणिक राजाको दिखाये ॥ ९३ ॥ अब राजाने उस सेठकी भी

त्वया सार्द्धमक्षक्रीडामहं स्वयम्। तत्रागत्य नृपेणापि प्रोक्तः कुरु समीहितम् ॥ ८४ ॥ ततो द्यूते सम जाते प्रोक्तं कर्णे तदा तया। निपुणादिमतीनामविलासिन्या' प्रपचत ॥८५॥ पुरोहितः स्थित. राज्ञी पार्श्वेऽइ तेन प्रेषिता। याचित्वा गृहिलस्यैव माणिक्यानि स्वकार्यत ॥ ८६ ॥ तद्भार्यायै भणित्वेति शीघ्र नीत्वापि तानि वै। आगच्छात्र ततः सागात्तद्गृह रत्नहेतवे ॥ ८७ ॥ रत्नानि याचितान्येव विलासिन्या निषिद्धया। तद्भार्यया न दत्तानि तरा पूर्ववचोऽनृतात् ॥ ८८ ॥ आगत्य तद्विलासिन्या राज्या कर्णे निरूपितम्। ददाति नैव सा तानि माणिक्यानि कदाचन ॥ ८९ ॥ साभिज्ञान प्रदत्त्वा सा प्रेषिता निजमुद्रिका। तस्यास्तथा न दत्तानि तद्ब्राह्मणातिभीतया ॥९०॥ ततस्तया जिते यज्ञोपवीतछुरिके तदा। साभिज्ञानद्वय दत्त्वा प्रेषिता ननु तद्गृहे ॥ ९१ ॥ कार्तिका ब्रह्मसूत्र च दृष्ट्वा दत्तानि भीतया। तद्भामया विलासिन्याः शीघ्रं रत्नानि पच वै ॥ ९२ ॥ तयागत्यप्रदत्तानि राज्यस्तानि तया पुन'। राज्ञ प्रदर्शितान्येव माणिक्यानि वराणि च ॥९३॥ ततोऽतिबहुसद्रत्नमध्ये निक्षिप्य तानि सः। आकर्ण्य गृहिलो राज्ञा भणित सत्यहेतवे ॥९४॥ माणिक्यानि त्वदीयानि

परीक्षा लेनी चाही। इसलिये उसने अपने घरके वहुतसे माणिकोंमें मिलाकर वे माणिक रख दिये और सेठको बुलाकर कहा कि इनमें जो माणिक तुम्हारे हों वे परीक्षा करके निकाल लो। तव सेठने देखकर अपने माणिक छांट लिये ॥९४–९५॥ सागरदत्तके इस कार्यसे राजाको वहुत सन्तोष हुआ। शुभ कर्मके उदयसे सागरदत्त सेठको अपने नगरका राजश्रेष्ठी वना लिया ॥ ९६ ॥ सो ठीक ही है क्योंकि सत्य और संतोपके माहात्म्यसे इस संसारमें क्या क्या प्राप्त नही होता है। सत्यके माहात्म्यसे देव भी सेवक समान होजाते हैं फिर मनुष्योंको राज्यके सुखकी तो वात ही क्या है ॥९७॥ तदनन्तर राजाने महा झूठ वोलनेवाले सत्यघोषसे पूछा कि वता तूने यह काम किया है या नही ॥ ९८ ॥ इसके उत्तरमें पुरोहितने कहा कि हे देव! मै ऐसा निंद्य कर्म कभी नहीं कर सकता। क्या मै ऐसा महा पाप करनेवाला काम कर सकता हूं? ॥९९॥ तदनंतर महाराज उसके कामसे वहुत ही क्रोधित हुए और उन्होंने उसके लिये तीन प्रकारका दण्ड निश्चित किया। या तो वह तीन थाली गोवरकी खावे या वह दुर्मति किसी मल्लके तीन घूंसे खावे अथवा उस दोषको शांत करनेके लिये अपना सव धन दे देवे ॥१००–१०१॥ पुरोहितने सोच विचार कर पहिले गोवर खाना प्रारंभ किया। जव वह उसे न खा सका तव मल्लके घूंसे खाये उनकी भी पूरी चोट न सह सका तव अपना सव धन देना प्रारंभ किया तथा उस लोभी और पापीने फिर गोवर खाना आदि तीनों प्रकारके दंडोंको सहा। इस प्रकार उस नीचको तीनो प्रकारके दंड सहन करने पड़े ॥१०२–१०३॥ इस प्रकार तीनों प्रकारके दंडोंको भोगकर वह मरा और अतिशय लोभके कारण राजाके भण्डारमें गंधन् नामका सर्प हुआ

परिज्ञाय गृह्णाण रे। परीक्ष्य श्रेष्ठिना तानि गृहीतानि निजानि च ॥ ९५ ॥ प्रतिपन्नश्च स तासा पुरस्तोषाच्छुभोदयात्। श्रेष्ठी समुद्रदत्तो नु राज्ञा श्रेष्ठी कृत पुरे ॥९६॥ सत्यसन्तोषमाहात्म्यात् किं न स्यादिह भूतले। भृत्यायते सुरा नृणा राजसौख्यस्य का कथा ॥९७॥ ततो नृपतिना पृष्ट. सत्यघोषोऽनृताकरः। इद कर्म कृत मूढ त्वया वा न निरूपय ॥९८॥ तनोक्त देव नात्राह निंद्य कर्म करोमि तत्। ममेदृश महापाप कर्तुं किं कर्म युज्यते ॥९९॥ ततो रुष्टेन भूपेन तस्य दडत्रय कृतम्। गोमयेन भृत स्थालत्रय भक्षय निश्चितम् ॥१००॥ मल्लमुष्टेर्दृढ घातत्रय चाप्यद्य दुर्मते। स्वद्रव्य सकल देहि स्वदोपस्यातिशान्तये ॥१०१॥ आलोच्य तेन प्रारव्ध खादितु गोमय मलम्। तस्याशक्तेन तन्मुष्टिघातं सोढु च पापत ॥१०२॥ तदाशक्य धन दातुमारव्ध लोभिना स्वयम्। तस्यासक्तेन प्रारव्ध गोमयादिकभक्षणम् ॥१०३॥ एव दड स्वय भुक्त्वा भाण्डागारे नृपस्य स। मृत्वा लोभवशाज्जात· सर्पो गधनसज्ञक ॥१०४॥ दिव्याग्निना ततो मृत्वा कुर्कुटो

सिंहासनत्रय रेके दीप्त भामडल सदा ॥७१॥
भाति सर्वगुणोपेता दिव्यध्वनिरनोपमा ॥७०॥ वीज्यमानो जिनो देवैश्चतु षष्ठिप्रकीर्णकैः । प्रातिहार्याष्टकै' देवकृतै. श्रीजिननायकाः ।
सार्द्धद्वादशसकोटिवादित्रैर्भाति देवजैः । दुदुभिः शब्द एवात्र श्वेतछत्रत्रय भवेत् ॥ ७२ ॥ पिण्डीकृता. गुणाः सर्वे षट्चत्वारिंशदेव स्युः
भान्ति प्रान्तव्यतिक्रान्त ज्ञानं केवलदर्शनम् ॥७३॥ अनन्त च महावीर्यं सुख वाचामगोचरम् । ज्ञायन्ते न यथाऽसख्या ऊर्मय सागरे
॥७४॥ अन्ये गुणा जिनेन्द्राणां वहवः सन्ति भूतले । विज्ञेया मुनिभिरन्यशास्त्रादुपशमादिकाः ॥७५॥ अनन्तमहिमोपेतान् भज त्वं जिन-
घने । धारा कर्द्देगिनस्तारास्तथा श्रीजिनसद् गुणाः ॥७६॥ अनन्तगुणसम्पूर्णान् पञ्चकल्याणपूजितान् । ये कुदेवाः भवन्त्यत्र
नायकान् ॥७७॥ अनन्यशरणो यस्तु सेवते तीर्थंकारकान् । कुदेवानपि सत्यज्य स. स्यात्तादृग्विधोऽचिरात् ॥७८॥ ससार-
स्वामिन् तान् मे निरूपय । ज्ञाते सति जनैस्तेषा त्याग कर्तुं च शक्यते ॥७९॥ विष्णुब्रह्मादयो ज्ञेया कुदेवा योषिदन्विता' । भवेत् ॥८१॥
सागरे मग्ना शस्त्राभरणमण्डिताः ॥८०॥ गोपांगनासमासक्तः पापारम्भप्रवर्तकः । शस्त्रहस्तो भवे रक्तो देव. कृष्णः कथ
अर्द्धांगे योषितायुक्त. प्रास्थिमालाविभूपितः । लज्जादिरहितो देव कथ स्यादीश्वरो बुध. ॥८२॥ तपोभिमानसयुक्तो देवीनृत्यावलोकनात्।
रागाविष्ट' कथ ब्रह्मा हीनसत्त्वोऽमरो भवेत ॥ ८३ ॥ विनायकादयो देवा. पशुरूपेण सस्थिताः । मूढैः संस्थापिता लोके दु खदारिद्र-
दायका ॥८४॥ शस्त्रहस्ताः महाक्रूरा व्युद्युक्ता सत्त्वखंडने । चडिका पापकर्माढ्या. कथ सेव्या बुधोत्तमै. ॥८५॥ विष्ठादिभक्षणे लोला या
दुष्टा हन्ति देहिनाम् । पादशृंगै कथ सा गौर्वंद्या भवति देहिनाम् ॥८६॥ काकविष्टादिकैर्जातास्तरवः पिप्पलादय । एकेन्द्रियत्त्वमापन्ना
कथ पूज्या भवन्त्यहो ॥८७॥ आचाम्ल भाजन गेह कूपिका काकमेव ये । पूजयन्ति महामूढा पशवस्ते न मानवा ॥८८॥ नीचदेवान्
भजन्त्येव क्रूरकर्मात्मन. खला । ये ते पापार्जन कृत्वा मज्जन्ति श्वभ्रसागरे ॥८९॥ नमन्ति ये पशून् मूढा गोहस्त्यादिवह्नन् वृथा ।
पशवस्ते भवन्त्यत्र लोकेऽमुत्र विनिश्चितम् ॥९०॥ दुर्द्धियाः ये तरून् भक्त्या प्रार्चयन्ति नमन्ति च । स्युस्तेऽमुत्र नगा नूनं तस्करादि
कुसगवत् ॥९१॥ नद्यादिजलमत्रैव पूजयन्ति नमन्ति ये । स्नान कुर्वन्ति तेऽमुत्र मत्स्ययोर्नि व्रजन्ति वै ॥९२॥ नमन्ति यदि गां मूढा
घ्नन्ति यष्ट्यादिभि' कथम् । वदते यज्जल तेन शौच कुर्यु' कथ च ते ॥९३॥ अहो पिप्पलदूर्वादीन पूर्वं यान् पूजयन्ति ये । छेदयन्ति
पुनस्तांश्च ते खला दुष्टवुद्धयः ॥९४॥ कुदेवादिसमस्तांश्च त्यक्त्वा त्व भज श्रीजिनान् । एकचित्तेन भो धीमन् स्वर्गमुक्तिसुखाप्तये ॥९५॥
वीतरागान् परित्यक्त्वा कुदेवान् सेवते कुधीः । योऽमृतं हि स सत्यज्य गृह्णन् हालाहाल विषम् ॥९६॥ भजते तीर्थनाथान् य. कुदेवान्
सेवते पुनः । इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट. सः स्याज्जंवुकवत्कुधी ॥९७॥ यथाणोश्च पर नाल्प न महदगगनात्परम् । तथा श्रीजिनदेवेन समो

देवो न विद्यते ॥९८॥ इति मत्वा जिनाधीशान् मनोवाक्कायकर्मभि । भज त्व वत्स मुक्त्यर्थं धर्मार्थं वा विशुद्धिदान् ॥९९॥ निश्चयं कृत्य तीर्थेश तदुक्तं धर्ममाचर । अहिंसालक्षण सार सर्वसत्त्वसुखप्रदम् ॥१००॥ मुक्तिसौख्याकरो धर्मो मुनीना कथितो जिनै । स्वर्गऋद्धिप्रद स्तोक. स च श्रावकगोचर. ॥१०१॥ संसारसागरे मग्नान् जीवानुद्धृत्य यो ध्रुवम् । धत्ते मुक्तिपदे त हि धर्मं धर्मेश्वरा विदु. ॥१०२॥ वदन्ति फलमस्यैव धर्मस्य श्रीजिनेश्वरा. । नित्याभ्युदयस्वर्गादिसुखं साक्षाद्धि मुक्तिजम् ॥१०३॥ धर्मादभ्युदय पुंसां सुखं चक्र्यादिगोचरम् । इन्द्रादिजं च स्यान्नित्य तीर्थनाथनिषेवितम् ॥१०४॥ सद्दर्शनमहामूल सद्दयाजलसिंचितम् । ज्ञानवृत्तिमहास्कन्दं क्षमादिशाखशोभितम् ॥१०५॥ दानादिपल्लवोपेत ध्यानपुष्पं जिनेश्वरा । स्वर्गमुक्तिफलाढ्यं च धर्मं कल्पद्रुम जगु ॥१०६॥ अमृतादपर न स्यान्मिष्ट कल्पतरोः परम् । वृक्षो यथा तथा धर्मो दयायाश्च परो न च ॥१०७॥ कुधर्मं दूरतस्त्यक्त्वा श्रीधर्मं कुरु सौख्यदम् । जिनाख्यातं दयोपेतमेकाचेत्तन प्रत्यहम् ॥१०८॥ भगवस्तं कुधर्मं हि प्ररूपय ममादरात् । प्रणीत केन सल्लोके पापादिदु खदायक ॥१०९॥ यागादिकरण विद्धि जीवहिंसादिसम्भवम् । कुधर्मं स्नानन निंद्य तर्पण श्राद्धमेव च ॥११०॥ जीवादिहिंसनं ये च कुर्वन्ति कारयन्त्यहो । धर्मयागकुदेवादिकार्ये श्वभ्रे पतन्ति ते ॥१११॥ यदि हिंसादिसंसक्ता नाक गच्छन्ति दुर्मदा । केनैव कर्मणा श्वभ्रं के च यान्ति विचारय ॥११२॥ जीवनाशकर स्नानं रागपापादिवर्द्धनम् । धर्मध्वंसकर विद्धि सागरादिषु प्रत्यहम् ॥ ११३ ॥ यदि स्वर्गो भवेद्धर्म स्नानादपि पवित्रता । प्राणिना च तदा मत्स्याः स्वर्गं गच्छन्ति धीवराः ॥११४॥ चित्तमन्तर्गत दुष्ट यस्य नित्य प्रवर्तते । तस्य शुद्धि. कथ स्नानाज्जायते मद्यकुम्भवत् ॥ ११५ ॥ तिलपिंड जले मूढा क्षिपन्ति पितृतृप्तये । ये तेऽतिदुर्गतिं यान्ति त्रसनीरागिहिंसनात् ॥११६॥ तर्पण ये प्रकुर्वन्ति मृतजीवादि श्रेयसे । मिथ्यात्वसत्त्वसघाताद्भवारण्ये भ्रमन्ति ते ॥११७॥ मातृपित्रादिसिद्ध्यर्थं श्राद्ध कुर्वन्ति ये वृथा । गृह्णन्ति ते खपुष्पेण विंवंध्यासुतशेखरम् ॥११८॥ भोजन कुरुते पुत्र पिता पश्यति त स्वयम् । यदि तृप्तिं भजत्येव मृतः सोपि कथ श्रयेत् ॥११९॥ द्रव्यार्जनात्रसपाकजातजीवक्षयाद् ध्रुवम् । बृहत्पापकरं श्राद्ध न च पुण्यप्रद भवेत ॥ १२० ॥ श्रद्धापूर्वं सुपात्राय दान देय विवेकिभि । स्वधर्माय परार्थं न श्राद्धं कार्यं च पापदम् ॥१२१॥ वर्तमाने स्वपित्राणा धर्मविघ्न भजन्ति ये । तन्मृतानां च श्राद्धं ते श्वभ्रनाथा भवन्ति वै ॥१२२॥ बहुनोक्तेन किं मूढ. पितृदेवादिकारणम् । तपोदान च य कुर्याद् व्यर्थं तस्य भवेच्च तत ॥१२३॥ सर्वं च पापदं विद्धि संक्रांतिग्रहणादिकम् । दानमेकादशीसूर्यप्रभवं कुतपोऽखिलम् ॥१२४॥ रागद्वेषादिसंसक्तैर्धूर्तै मिथ्योपदेशिभिः । मूर्खैं कुमार्गसलग्नैर्योपितसस-क्तमानसै. ॥१२५॥ प्रणीतो य. कुधर्मो हिं मूढसत्त्वप्रतारण. । अक्षसपोपको दुष्टस्त त्यज त्व विषाहिवत् ॥१२६॥ हिंसाधर्मरता मूढा दुष्टा

कुगुरुसेवका.। कुदेवकुतप.सक्ता' कुगतिं यान्ति पापत' ॥१२७॥ वर हुताशने पातो वर कंठे च सर्पिणी। विपस्य भक्षण श्रेष्ठ मिथ्यात्वान्न च जीवितम् ॥१२८॥ यदुक्त जिननाथेन दानपूजाव्रतादिकम्। तप' सोपि भवेद्धर्म कुधर्मं सर्वमन्यथा ॥१२९॥ जिनमार्गाद्विपक्ष यद्व्रत-धर्मतपोऽखिलम्। दानपूजादिक तच्च मिथ्यात्व विद्धि दु खदम् ॥१३०॥ विधाय निश्चय प्रोच्चे धर्मे श्रीजिनभाषिते। जिनवेपान्विता सेव्या निर्ग्रंथाः गुरव त्वया ॥१३१॥ सर्वसत्त्वदयोपेतान् शश्वद्धर्मोपदेशकान्। विकथादिविनिर्मुक्तान् हेमतृणसमोपमान् ॥१३२॥ गिरि-शून्यगृहावासान् ध्यानविध्वस्तकिल्विषान्। वाह्याभ्यन्तरभेदेन त्यक्तसर्वपरिग्रहान् ॥१३३॥ निर्जितेन्द्रियसच्चौरान् मारमातंगघातकान्। त्यक्तकार्यादिसंस्कारान् महासत्त्वान् शुभाशयान् ॥१३४॥ सर्वांगमलसलिप्तान् निर्मलान् सगवर्जितान्। त्रिकालयोगसयुक्तान् ध्यानाध्ययन-तत्परान् ॥१३५॥ मौनव्रतधरान् धीरान् सर्वांगश्रुतपारगान्। क्षमादिदशधाधर्मयुक्तान् जितपरीषहान् ॥१३६॥ दिगम्बरधरास्त्यक्तदड-शल्यत्रयादिकान्। विरक्तान् कामभागेषु रक्तान् मुक्त्यादिके सुखे ॥१३७॥ दुर्वलीकृतसर्वांगान् सवलीकृतसद्गुणान्। सिंहनिष्क्रीडिता-द्युग्रतप'ससक्तमानसान् ॥१३८॥ मूलोत्तरगुणोपेतान् प्रसन्नान् सज्जलोपमान्। कर्मेन्धनाग्निसादृश्यान् गभीरान् सागरानिव॥१३९॥ प्रावृट्काले स्थितान् वृक्षमूले हेमन्तिकेऽचलान्। चतुर्मार्गे च ग्रीष्मे तान् नगशृंगमुखीश्वरान्॥१४०॥ अनेकऋद्धिसम्पूर्णान् समर्थान् भव्यतारणे। निर्भयान् सद्गुरून् नित्यं भज त्व स्वर्गमुक्तये॥१४१॥ देशका ये तरन्ति स्वं संसारे दु खसागरे। तारयन्ति समर्थास्ते परेपा भव्यदेहिनाम्॥१४२॥ गुरून् सगविनिर्मुक्तान् ये भजन्ति बुधोत्तमाः। नाकराज्यादिक प्राप्य मुक्तिनाथा भवन्ति. ते ॥१४३॥ निर्ग्रंथान् ये गुरून् मुक्त्वा सेवन्ते कुगुरून् पुनः। चिंतामणीन् परित्यज्य काचान् गृह्णन्ति तेऽधमाः ॥१४४॥ एकाग्रचेतसा धीमन् त्व त्यक्त्वा कुगुरून्, भज। दिगम्बरान् महाधीरान् निर्ग्रन्थान् मुक्तिहेतवे॥१४५॥ स्वामिस्त्व कुगुरूनत्र तान् मे कथयादरात्। ससारजलधौ मग्नान् धर्मध्यानादिवर्जितान् ॥१४६॥ धनधान्यादिसंसक्तान् नित्यं कामार्थलालसान्। आर्तरौद्रपरान् मूढान् गृहव्यापारभारितान् ॥१४७॥ मिथ्यात्वप्रेरकान् पापपडितान् योपि-ताश्रितान्। सप्रार्थनपराल्लोके दुष्टान् दुर्गतिदायकान् ॥ १४८ ॥ मिथ्योपदेशकान् नीचान् मूढसत्त्वप्रतारकान्। सत्क्रोधानपदान् लग्नान् पथि मिथ्यात्वपूरिते ॥१४९॥ जिनमार्गपरित्यक्तान् त्यज त्वं कुगुरून् वहून्। सर्पानिव सदा भ्रातो दूरत' पापशकया ॥१५०॥ स्वयं मज्जन्ति ये मूढाः भवाब्धि तारयन्ति ते। कथ वा परजीवानां दुष्टाचारपरायणा ॥१५१॥ वर सर्पारिचौराणा सग स्यान्न परे' समम्। मिथ्यात्वपथसलग्नैरनन्तबहुदुःखदम्॥१५२॥ इति मत्वा महाभाग भज सद्गुरुपुङ्गवान्।स्वर्गमुक्त्यादिसिद्धयर्थं सर्वसत्त्वोपकारकान् ॥१५३॥ भज जिनवरदेव श्रीगणेन्द्रादिसेव्य, कुरु परमपवित्रं तत्प्रणीतं सुधर्मम्। सकलगुणगरिष्ट सद्गुरु संश्रय त्व, भवति बुधसुबीजं तत्त्रय

दर्शनस्य ॥१९४॥ विगतसकलदोषं तीर्थनाथैः प्रणीतं, भुवनपतिसुसेव्यं भव्यसत्त्वैकपात्रम्। परमगुणनिधानं मोक्षवृक्षस्य बीजं, पिव विगत-कुसंग दर्शनाख्य सुधाबु ॥ १९९ ॥

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे देवधर्मगुरूप्ररूपकोनाम तृतीय सर्गः ।

अथ चौथा परिच्छेद ।

अथानंतर—आनंद बढानेवाले भगवान अभिनंदन परमदेवको नमस्कार कर सम्यग्दर्शनके भेद, कारण और हेतु कहता हूं ॥ १ ॥ जो जीव भव्य हो, पंचेंद्रिय हो, संज्ञी हो, पर्याप्तक हो और काललब्धि आदि समस्त कारण जिसे प्राप्त होगये हों ऐसा जीव प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है ॥२॥ फिर वह अंतर्मूहूर्तके वाद मिथ्यात्व गुणस्थानमें निवासकर क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है। भावार्थ—औपशमिक सम्यग्दर्शनका समय अंतर्मुहूर्त है। अंतर्मुहूर्तके वाद मिथ्यात्व होता ही है। इसके वाद समयानुसार क्षायोपशमिक होता है ॥ ३ ॥ अत्यंत शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करने वाले जीव क्षायिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होते है। यह क्षायिक सम्यग्दर्शन सुमेरु पर्वतके समान अकंप है, कभी नष्ट नहीं होता और कर्मरूपी ईंधनको अग्निके समान है ॥ ४ ॥ जिसप्रकार मिट्टी मिले पानीमें फिटकरी या कतकफल डाल देनेसे मिट्टी नीचे वैठ जाती है और शुद्ध जल ऊपर आजाता है उसी प्रकार अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोंके उपशम होनेसे भव्य जीवोंके पहिला औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है ॥ ५ ॥ जिस प्रकार उस स्वच्छ जलको दूसरे वर्तनमें उतार लेनेसे फिर उस स्वच्छ जलमें किसी प्रकारकी मिट्टी

अथ चतुर्थः सर्गः।

आनन्दोत्पत्तिसद्गेह नमस्कृत्याभिनन्दनम्। भेदं च कारणं हेतु वक्ष्ये सद्दर्शनस्य च ॥१॥ भव्य पञ्चेन्द्रिय' सज्ञी काललब्ध्यादिप्रेरित.। पूर्ण' गृह्णाति सम्यक्त्वमग्युपशमादिकम् ॥२॥ अन्तर्मुहूर्तकालेन मिथ्यात्व प्रतिपद्य स । क्षायोपशमिकं नाम्ना प्रादत्ते दर्शन भुवि ॥३॥ क्षायिक भजते कश्चिद भव्यो व्यासन्नमुक्तिग. । अकंप मेरुसतुल्य कर्मेन्धनहुताशनम् ॥४॥ सप्तप्रकृतिदुष्कर्मशमने प्रथम शमम् । जायते भव्यजीवानामूर्द्ध्वस्वच्छजलोपमम् ॥५॥ षट्प्रकृतिशमेनैव सम्यक्त्वोदयकर्मणा । क्षायोपशमिक विद्धि प्रार्द्धस्वच्छोदकोपमम् ॥६॥ सप्तप्रकृति-

नही रहती उसी प्रकार ऊपर लिखी हुई सातों प्रकृतियोंके अत्यंत क्षय होनेसे जीवोंके क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है यह सम्यग्दर्शन सारभूत है और मोक्ष प्राप्त करानेवाला है ॥ ६ ॥ पहिले छह प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय होनेसे तथा उपशम होनेसे और देशघाती सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय होनेसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। जैसे मिट्टी मिले जलमेंसे मिट्टीका कुछ भाग निकल गया हो और थोडासा बना हो। उसी प्रकार चल मलिन आदि दोप जिसमें हों वही क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है ॥ ७ ॥ मिथ्यात्व प्रकृतिके तीन भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व। तथा अनंतानुबंधी कपायके चार भेद हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ। हे वत्स तू इन सातों प्रकृतियोंको नष्ट कर सम्यग्दर्शनको धारण कर। यह सम्यग्दर्शन मोक्ष महलकी प्रथम सीढी है ऐसा भगवान सर्वज्ञदेवने कहा है ॥ ८–९ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् यह मिथ्यात्व कैसा है और कपाय कैसे हैं सो कृपाकर बतलाइये। क्योंकि ये जीव जानकर ही उनका त्याग कर सकते हैं ॥१०॥ उत्तर—जिससे विवेक सब नष्ट होजाय, मूढता प्रगट हो और जो प्राणियोंको नरकमें पटक दे उसको श्री जिनेंद्रदेवने मिथ्यात्व कहा है ॥११॥ यह मिथ्यात्व अनेक रोग क्लेश उत्पन्न करनेवाला है, दुष्ट है, अनंत संसारमें परिभ्रमण करानेवाला है, और मोक्षमहलमें जानेसे रोकनेके लिये जुडे हुए किवाडोंके समान है। यह मिथ्यात्व अनंत परंपगरूप दुःखोंको देनेमें चतुर है, पापका बीज है और धर्मरूपी वनको जलादेनेके लिये अग्निके समान है इसलिये हे वत्स ! इसे तू दूरसे ही छोड़ ॥ १२–१३ ॥ मिथ्यादृष्टी जीव हिंसा रहित धर्मको कभी नही समझ सकता। जिसप्रकार पागल पुरुप पदार्थोंको उलटा ही जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव भी असत्य और कुधर्मको ही जानता है ॥ १४ ॥ उस मिथ्यात्वसे ज्ञान चारित्र धर्म आदि सब नष्ट होजाता है। यह जीवोंको विपके समान है और बुद्धिको नाश

निःशेषक्षयाज्जीवा भजन्ति वै। क्षायिक मुक्तिदं सारं स्वच्छनीरसम क्रमात् ॥ ७॥ सम्यङ्मिथ्यात्वमिश्रेण मिथ्यात्वप्रकृतिर्भवेत्। त्रिधा चतुर्थानन्तानुबधिकर्मकषायजम् ॥८॥ सप्तप्रकृतिकर्माणि हत्वा त्व भज दर्शनम्। सोपान प्रथम मुक्तिगेहे श्रीजिनभाषितम् ॥९॥ मिथ्यात्वं कीदृश स्वामिन् कषाय मे निरूपय। ज्ञाते सति पुनस्त्यागं तत्कर्तुं शक्यते जनै. ॥१०॥ विवेको हन्यते येन मूढता च प्रसूयते। नीयन्ते प्राणिनः श्वभ्रं मिथ्यात्व तज्जगुर्जिनाः ॥११॥ अनन्तदुःखसन्तानदानदक्ष बुधैः मतम्। मिथ्यात्व पापसवीजं धर्मारण्यहुताशनम् ॥१२॥ रोगक्लेशकर दुष्टमनन्तभवकारणम्। मुक्तिधामकपाट च मिथ्यात्वं त्यज दूरतः ॥१३॥ मिथ्यादृष्टिर्न जानाति धर्मं हिंसाविवर्जितम्।

करनेवाला है इसलिये हे भव्य इसे तू शीघ्र ही छोड़ ॥ १५ ॥ मुनिराजोंने इस मिथ्यात्वके पांच भेद बतलाए हैं—एकांत, विपरीत, वैनयिक, संशय और अज्ञान ॥ १६ ॥ जिस मतमें जीव तत्त्वोंको तथा अन्य तत्त्वोंको सर्वथा क्षणिक बतलाता है, जिस मतमें कर्मोंको अन्य जीव करता है और उनके फलोंको अन्य ही भोगता है तथा जो मछली आदिके भक्षण करनेमें दोष ही नही समझते उनका वह दुःख देनेवाला, दुष्ट और केवल अपनी कुबुद्धिसे कल्पना किया हुआ एकांत मिथ्यात्व है ॥ १७–१८ ॥ जिस मतमें जीवोंकी हिंसासे पुण्य बतलाया गया हो, स्नानसे शुद्धि बतलाई गई हो, जिनके देव हिंसा आदि क्रूर कर्मोंमें लगे हुए हैं, गुरु लोग कामकी लालसामें लिप्त हों, जिसमें पशु वृक्ष आदिकी पूजा करना बतलाया हो और मृत मनुष्योंका तर्पण बतलाया हो, ऐसा ब्राह्मणोंका वैदिक मत विपरीत मिथ्यात्व समझना चाहिये ॥१९–२०॥ जिस मतमें प्रितिदिन पात्र अपात्रोंकी, देव अदेवोंकी सबकी विनय की जाती हो वह तापसियोंका विनय मिथ्यात्व कहलाता है ॥ २१ ॥ जो तीर्थंकर अरहंतदेवमें भी आहारकी कल्पना करते हैं, स्त्रियोंको भी मोक्ष होना बतलाते हैं, जो वर्द्धमान स्वामीका गर्भापहरण मानते हैं, जो लकड़ी, वस्त्र, पात्र आदि सबको धर्मका साधन मानते हैं (क्षयोपकरण मानकर साधुलोग रखते हैं) वह दुःख देनेवाला श्वेतांबरोंका सांशयिक मिथ्यात्व है ॥ २२–२३ ॥ अज्ञान मिथ्यात्व म्लेच्छ आदि जीवोंके होता है, जिनमें भक्ष्य अभक्ष्यका कुछ विचार नही होता ॥ २४ ॥ यह पांचों प्रकारका मिथ्यात्व पापोंको उत्पन्न

असत्य च कुधर्मं ना यथोन्मत्त' पदार्थकम् ॥१४॥ ज्ञानचारित्रधर्मादि सर्वं नश्यति येन तत् । मिथ्यात्व विषतुल्य भो त्यज त्वं बुद्धिनाशकम् ॥१५॥ एकान्तविपरीत च वैनयिक च सशयम् । अज्ञान पञ्चधा प्रोक्त मिथ्यात्व मुनिपुगवैः ॥१६॥ कथ्यते क्षणिको जीवो यत्र तत्र च सर्वथा । अन्य कर्मकरोत्येव भुक्ते अन्यो हि तत्फलम् ॥१७॥ मत्स्यादिभक्षणे दोषो नास्ति दुःखाकर खलम् । मिथ्यात्वं विद्धि तन्मित्र कुवोधमतकल्पितम् ॥१८॥ पुण्य जीववधाद्यत्र शुद्धि स्नानेन कल्प्यते । क्रूरकर्मरतादेवाः गुरव' कामलालसाः ॥१९॥ पूजन पशुवृक्षाना तर्पण मृतस्वजनात् । विपरीत च त ज्ञेय मिथ्यात्व द्विजसभवम् ॥२०॥ विनयो गीयते यत्र पात्रापात्रेषु प्रत्यहम् । देवादेवेषु तद्विद्धि मिथ्यात्व तापसप्रजम्॥२१॥ ब्रूयते यत्र तीर्थेश चाहारो मुक्तिसभवम् । स्त्रीणा गर्भापहार च वर्द्धमानस्य दुःखदम् ॥२२॥ यष्टिकावस्त्रपात्रादि सर्वं धर्मस्य साधनम् । तद्धि सशयमिथ्यात्व भवेत्स्वेतपटप्रजम् ॥२३॥ अज्ञानक कुमिथ्यात्व भवेत्स्वेच्छादिगोचरम् । खाद्याखाद्यपरित्यक्त विचार शून्यवादनम् ॥२४॥ पचप्रकारमिथ्यात्व दूर त मतकल्पितम् । उक्त स्याद्बहुधाप्यन्यदनेकाशयज भुवि ॥२५॥

करनेवाला है, और बुद्धिके द्वारा स्वयं कल्पित किया हुआ है। इनके सिवाय अभिप्रायोंके भेदसे इस संसारमें और भी अनेक प्रकारका मिथ्यात्व समझ लेना चाहिये ॥ २५ ॥ यह मिथ्यात्व मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होता है। यह धर्मको नाश करनेवाला है। ज्ञान चारित्रको जडसे उखाड देनेवाला और अनेक पापोंका कारण है ॥ २६ ॥ सम्यक्त्वप्रकृति सम्यग्दर्शनमें मल उत्पन्न कर देती है तथा यह जिनालय हमारा है, यह प्रतिमा हमारी है यह दूसरेकी है, इसप्रकार हठ पूर्वक ममत्व उत्पन्न कर देती है ॥ २७ ॥ सम्यङ् मिथ्यात्व प्रकृति सब देवोंमें तथा सब धर्मोंमें समान परिणाम उत्पन्न कर देती है इसीलिये उसको मिश्र प्रकृति कहते हैं ॥ २८ ॥ इसी प्रकार अनंत संसारमें परिभ्रमण करानेवाले और पापोंके कारण ऐसे अनंतानुबंधी कषायके भी क्रोध मान माया लोभके भेदसे चार भेद होते हैं ॥ २९ ॥ हे वत्स ! तू इन सातों प्रकृतियोंका त्याग कर और दुःखोंको दूर करनेवाले, स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करानेवाले तथा नरक और तिर्यंच गतिको रोकने वाले सम्यग्दर्शनको स्वीकार कर ॥३०॥ जो भव्य जीव शंका आदि दोषोंसे रहित और आठों अंगों सहित इस शुभरूप सम्यग्दर्शनको स्वीकार करते हैं वे अवश्य ही परम निर्वाण पदको प्राप्त करते हैं ॥ ३१ ॥

प्रश्न–हे प्रभो ! अब कृपाकर मेरे लिये सम्यग्दर्शनके अंगोंका निरूपण करिये, क्योंकि जानलेनेपर ही वे स्वीकार किये जा सकते हैं ? ॥३२॥ उत्तर–चाहे पर्वतमाला चलायमान होजाय और अग्नि शीतल होजाय तथापि भगवान सर्वज्ञदेवके कहे हुए तत्त्वोंमें, कभी अंतर नहीं पड सकता ऐसा श्री जिनेंद्रदेवने कहा है। इसी प्रकार सूक्ष्म तत्त्वोंमें, धर्मके स्वरूपमें, अरहंतदेवके स्वरूपमें, श्रेष्ठ मुनियोंमें और शुभ ज्ञानमें शंकाका त्याग करदेना निश्चल होजाना निःशंकित अंग कहलाता है

मिथ्यात्वकर्मजं ज्ञेयं मिथ्यात्वं धर्मनाशकम् । ज्ञानचारित्रनिर्मूलस्फोटकं पापकारणम् ॥ २६ ॥ सम्यक्त्वप्रकृतिर्ज्ञेया दर्शनस्य मलप्रदा । स्वपरादिषु विम्बेषु ममत्वजनका हठात् ॥ २७ ॥ समानं सर्वदेवेषु सर्वधर्मादिकेषु च । करोति परिणामं यन्मिश्रकर्म तदुच्यते ॥ २८ ॥ क्रोधमानादिभेदेन कषायाः पापहेतवः । चतुर्धा हि भवन्त्याद्या अनन्तभवकारकाः ॥ २९ ॥ त्यक्त्वा सप्तप्रकृतीः भज दुःखविनाशकम् । दर्शयन् स्वर्गसोपानं श्वभ्रतिर्यक्निवारणम् ॥३०॥ अष्टांगसयुतं यत्र भजति दर्शनं शुभम् । शंकादि दोषनिर्मुक्तं ते व्रजन्ति परं पदम् ॥३१॥ अंगानि यानि सत्वत्र दर्शने तानि भोः प्रभो । निरूपय ममाग्रे हि कृपां कृत्वा तदाप्तये ॥३२॥ चलत्यचलमालेयं शीततां लभतेऽनलः । देवात् ज्ञानादिजं तत्त्वं न च श्रीजिनभाषितम् ॥३३॥ सूक्ष्मतत्त्वेषु धर्मेषु जिनेषु सन्मुनौ शुभे । ज्ञाने संत्यज्यते शंका या सा निःशंकिता

॥ ३३–३४ ॥ जिसे किसी प्रकारका भय नहीं है जिसने कुदेवादिकोंका सर्वथा त्याग कर दिया है और भगवान जिनेंद्रदेवके कहे हुए तत्त्वोंमें किसी प्रकारकी शंका नहीं करता वह अवश्य ही मोक्ष लक्ष्मीको अपने वश कर लेता है ॥ ३५ ॥ सौभाग्य प्राप्त होनेमें उत्तम भोगोंके मिलनेमें, स्वर्गके सुखोंमें, राज्यमें और धनादिकमें इच्छाका त्याग कर देना–इनके प्राप्त होनेकी इच्छा न करना सो निःकांक्षित अंग कहलाता है ॥ ३६ ॥ जो मूर्ख धर्म सेवन कर अपने भोग सेवन करनेकी इच्छा करता है वह स्वर्ग मोक्षको सिद्ध करनेवाले अमुल्य रत्नको देकर काच खरीदता है ॥ ३७ ॥ जो विद्वान् धर्म सेवन कर सदा मोक्ष प्राप्त होनेकी और कर्मोंके नाश होनेकी इच्छा करते हैं वे अवश्य ही भगवान जिनेंद्रदेवको प्राप्त हुए सुखोंको पाते हैं ॥ ३८ ॥ यदि मुनिराजका शरीर रोग आदिसे पीडित हो अथवा उनके सब शरीर पर मैल लगा हो तोभी उन्हें देखकर घृणा न करना उनके गुणोमें प्रेम करना निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है ॥ ३९ ॥ जिनमार्गमें सब जगह परीषहोंका सहन करना ही उत्तम होता है ऐसा विचारकर घृणाका त्याग देना भावपूर्वक निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है ॥४०॥ जो धीर वीर मुनि रोगादिकसे पीडित होकर भी महाव्रतोंको पालन करते हैं, घोर तपश्चरण करते हैं इसलिये वे तीनों लोकमें धन्य गिने जाते हैं ॥ ४१ ॥ जो चतुर पुरुष धर्म, देव, मुनि, पुण्यदान और शास्त्र आदिमें पूर्ण विचार करते है उनके वह अमूढदृष्टि अंग समझा जाता है ॥ ४२ ॥ जो जीव देव, सद्धर्म, गुरु और तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको विचार करनेमें चतुर है, वह स्वर्गादिकके सुख और राज्य आदिको पाकर अंतमें मोक्षलक्ष्मीका स्वामी होता है ॥ ४३ ॥ जो मूर्ख

मता ॥३४॥ भयसप्तविनिर्मुक्ता कुदेवादि विवर्जितम् । नि शका कुरुते योऽसौ मुक्तिश्रीवशमानयेत् ॥३५॥ सौभाग्ये भोगसारे च स्वर्गे राज्यादिके धने । इच्छा संत्यज्यते धर्माद् या सा नि.काक्षिता भवेत् ॥३६॥ धर्मं कृत्वापि यो मूढः ईहते भोगमात्मनि । रत्न दत्वा स गृह्णाति काच स्वर्मोक्षसाधनम् ॥३७॥ इच्छन्ति ये बुधा नित्य मुक्ति कर्मक्षय पुनः । धर्मं कृत्वा लभेन्नित्य सुख श्रीजिनसेवितम् ॥३८॥ सर्वांगमलसलिप्ते मुनौ रोगादि पीडिते । घृणा न क्रियते या सा ज्ञेया निर्विचकित्सता ॥३९॥ जिनमार्गे भवेद्भद्रं सर्वं नो चेत्परीषहाः। इति सकल्प्यसंत्यागे भावपूर्वा मता हि ता ॥४०॥ रोगादि पीडिता येऽपि तपोवृत्तादिकं शसा। चरंति मुनयो धीरास्ते धन्या भुवनत्रये ॥४१॥ धर्मे देवे मुनौ पुण्ये दाने शास्त्रे विचारणम् । दक्षैर्यत्क्रियते तद्धि प्रामूढत्व गुण भवेत् ॥ ४२ ॥ यो दक्षो देवसद्धर्मगुरुतत्त्वविचारणे । नाकराज्यादिक प्राप्य सः स्यान्मुक्तिस्वयवरः ॥४३॥ धर्माधर्मं न जानाति मूढो देवादिक च य. । धर्ममुद्दिश्य पाप स. कृत्वा दुर्गतिमाप्नुयात् ॥४४॥

धर्म अधर्मके स्वरूपको नहीं जानता, न देव कुदेवोंके स्वरूपको जानता है वह धर्म समझकर अनेक पाप करता है और इसीलिये अंतमें दुर्गतिको प्राप्त होता है ॥४४॥ जो विवेकी पुरुष धर्मात्मा और मुनियोके दोपोंको देखकर भी ढक देते है, प्रगट नही करते उसे उपगूहन अंग कहते है ॥ ४५ ॥ जो विद्वान जिनमार्गके आये हुए (अज्ञान वा प्रमादसे लगे हुए) दोषोंको देखकर ढक देते हैं उन्हें स्वर्ग मोक्षादिक क्यों प्राप्त नही होंगे अर्थात अवश्य होंगे ॥ ४६ ॥ जो निंद्य जिनधर्मकी वा मुनियोकी निंदा करता है वह पापके भारसे अवश्य नरकरूपी महासागरमें पडता है ॥ ४७ ॥ जो धर्मात्मा पुरुष व्रत चारित्र वा धर्मसे डिगते हुए पुरुषोंको फिर उसीमें स्थिर करदेता है, धर्ममें लगा देता है वह उसका स्थितिकरण अंग कहलाता है ॥ ४८ ॥ जो विद्वान् अन्य मनुष्योंको धर्मादिकमें सदा स्थिर करते रहते है वे स्वर्गादिकके सुख पाकर अंतमें मोक्षपदमें जा विराजमान होने हैं ॥४९॥ जो मूर्ख दान धर्म तप ज्ञान पूजा आदिमें विघ्न करते हैं वे अवश्य ही नरकोंके दुःख भोगते है ॥ ५० ॥ जिस प्रकार हालकी प्रसूता गाय अपने वच्चेपर प्रेम करती है उसी प्रकार जो विद्वान् धर्मात्मा भाइयोंमें, मुनियोंमें और जैन धर्ममें प्रेम करते है उनका वह सवसे उत्तम वात्सल्य अंग समझना चाहिये ॥५१॥ जो भव्य मुनियोंमें जैन धर्ममें और धर्मात्माओंमें सुख देनेवाला धर्मरूप प्रेम करता है वह तीर्थंकरकी विभूतिको पाकर मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ५२ ॥ जो अधम स्त्री पुत्र आदि संतानोमें पाप उत्पन्न करनेवाला प्रेम करते हैं वे अनेक दुःखोंको पाकर अवश्य ही दुर्गतियोंमें जन्म लेते है ॥ ५३ ॥ ज्ञानके द्वारा, उग्र तपश्चरणके द्वारा तथा दान पूजा आदिके द्वारा जैनधर्मका

सद्धर्मिणा मुनीना च दृष्ट्वा दोष विवेकिभिः । छादन क्रियते यच्च तद्भवेदुपगूहनम् ॥४५॥ आगत दोषमालोक्य जिनमार्गस्य ये बुधा । छादयन्ति न किं तेषा स्वर्गमुक्त्यादिक भवेत ॥ ४६ ॥ जिनधर्मस्य यो निंद्यो मुनीना वा करोति वे। निंदा स पापभारेण मज्जति श्वभ्रसागरे ॥ ४७ ॥ व्रतचारित्रधर्मादिचलता धर्मदेशिभि । स्थिरत्व क्रियते यत्तत् स्थितिकरणमुच्यते ॥ ४८ ॥ श्रीधर्मदौ सदा येऽपि कुर्वन्ति स्थिरता बुधा । पुसां नाकादिक प्राप्य ते व्रजन्ति स्थिर पदम् ॥४९॥ कुर्वन्ति ये महामूढा विघ्न दानवृषादिषु। तपोज्ञानसुपूजादौ स्युस्ते वै श्वभ्रगामिन ॥५०॥ सद्धर्मिणि मुनौ जैने स्नेहो यत्क्रियते बुधैः । सद्य प्रसूतगोवत्स ज्ञेय वात्सल्यमुत्तमम् ॥५१॥ ये कुर्वन्ति मुनौ जैने स्नेह धर्मसुखप्रदम् । ते तीर्थनाथसंभूतिं लब्ध्वा मुक्तिं भजन्ति भो ॥ ५२ ॥ पुत्रदारादि सन्ताने स्नेहं कुर्वन्ति येऽधमाः । पापाकर महादु ख प्राप्य ते यान्ति दुर्गतिम् ॥५३॥ ज्ञानोग्रतपसासक्तैः दानपूजादिकारकै. । जिनधर्मस्य माहात्म्य क्रियते सा प्रभावना

माहात्म्य प्रगट करना प्रभावना अंग है ॥ ५४ ॥ जो भव्य जीव श्रुतज्ञानके द्वारा अथवा पूजा प्रतिष्ठाके द्वारा अथवा अन्य धार्मिक कार्योंके द्वारा जिनधर्मकी महिमा प्रगट करते हैं वे अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ५५ ॥ जो दुष्ट पुण्य उत्पन्न करनेवाली जिनधर्मकी प्रभावनामें विघ्न करते हैं वे अवश्य ही अनेक दुःखोंको पाकर नरकमें पडते है ॥ ५६ ॥ जिसप्रकार अपनी सेनाके साथ होनेसे राजा अपने शत्रुओंको नष्ट कर देता है उसी प्रकार इन आठो अंगोंसे परिपुर्ण और सारभूत सम्यग्दर्शन समस्त कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट कर देता है ॥ ५७ ॥ इस सम्यग्दर्शनके एक एक अंगको पालन करके ही अनेक भव्य जीवोंने मोक्ष प्राप्त किया है फिर भला जो समस्त अंगोंको पालन करते हैं वे क्यों नहीं मोक्ष प्राप्त कर सकते अर्थात् वे अवश्य मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ५८ ॥ इसलिये हे भव्यजीव! तू इन आठों अंगोसे परिपूर्ण सम्यग्दर्शनको धारण कर। यह सम्यग्दर्शन शुभ है, अनेक कर्म—समूहको नष्ट करनेवाला है और मोक्षका साधन है ॥ ५९ ॥

प्रश्न—हे भगवन्! इन आठो अंगोंके सेवन करनेसे किस किस भव्य जीवको क्या क्या फल प्राप्त हुआ है सो आप कृपाकर सब मुझसे कहिये ॥ ६० ॥ उत्तर—हे भव्य! यह सम्यग्दर्शन अनुपम गुणोंका निधि है, स्वर्ग मोक्षकी जड है। तीनों लोकोंके स्वामी तीर्थंकर भी इसकी सेवा करते हैं। यह कर्मरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुठारके समान है। संसार-रूपी महासागरसे पार होनेके लिये जहाजके समान है। पुण्यरूप है, तीर्थरूप है और अत्यंत पवित्र है। इसलिये तू सब तरहकी कुसंगतियोंसे बचकर आठों अंगों सहित इसका पालन कर ॥ ६१ ॥

इसप्रकार आचार्य श्री सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें आठों अगोको निरूपण करनेवाला यह चौथा परिच्छेद समाप्त हुआ।

॥५४॥ कुर्वन्ति प्रकटं ये च जिनधर्मं श्रुतादिभि.। प्रतिष्ठादिकैर्धर्मैस्ते भव्या यान्ति निर्वृतिम् ॥५५॥ प्रभावनादिकं येऽपि घ्नन्ति दुष्टाः सुपुण्यदम्। जिनधर्मस्य ते दुःखं प्राप्य श्वभ्रे पतन्ति वै ॥५६॥ अष्टांगसयुतं सारं समर्थं दर्शनं भवेत्। नाशने कर्मशत्रूणां यथा सैन्ययुतो नृप· ॥५७॥ एकैकमंगमासाद्य गता भव्याः शिवालयम्। सर्वांगसयुता ये ते किं न मुक्ता भवन्त्यहो ॥५८॥ अष्टांगपरिपूर्णं हि भज त्वं दर्शनं शुभम्। अनेककर्मसन्तानस्फोटकं मुक्तिसाधनम् ॥५९॥ यस्य यच्च फलं यातं स्वामिन्नंगादिसेवनात्। तस्य भव्यस्य तत्सर्वं दयां कृत्वा प्रकाशय ॥६०॥ अतुलगुणनिधानं स्वर्गमोक्षैकमूलं, त्रिभुवनपतिसेव्यं कर्मकक्षे कुठारम्। भवजलनिधिपोतं पुण्यतीर्थं पवित्रं, भज रहितकुसंगं दर्शनं व्यंगयुक्तम् ॥ ६१ ॥ इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे अष्टांगप्ररूपकोनाम चतुर्थः सर्गः।

पांचवां परिच्छेद ।

अथानंतर—अपनी बुद्धिको श्रेष्ठ बनानेके लिये मैं श्री सुमतिनाथ भगवानको नमस्कार कर आठों अंगोंमें प्रसिद्ध होनेवाले अंजन आदिकी कथा कहता हूं ॥ १ ॥ सम्यग्दर्शनके प्रथम निःशंकित अंगमें जो मनुष्य प्रसिद्ध हुआ है उसकी संवेग प्रगट करनेवाली कथा मैं कहता हूं ॥ २ ॥ एक धन्वंतरी राजा था। विश्वानुलोम नामका एक ब्राह्मण उसका मित्र था। पुण्यके प्रभावसे धन्वंतरीका जीव तो मरकर ज्योतिष्क विमानोंमें अमितप्रभ नामका देव हुआ और उस ब्राह्मणका जीव विद्युत्प्रभ नामका देव हुआ। इनमेंसे अमितप्रभ धर्मात्मा था और अच्छी ऋद्धियां उसे प्राप्त थी तथा विद्युत्प्रभ धर्म-हीन था और ऋद्धियां भी उसे उससे कम प्राप्त हुई थी ॥ ३–४ ॥ किसी एक दिन अमितप्रभ नामका देव सम्यग्दर्शन ग्रहण करानेके लिये विद्युतप्रभके घर आया परंतु उस मूर्खने सम्यग्दर्शन स्वीकार किया ही नही ॥ ५ ॥ तदनंतर वे दोनों धर्मके विषयमें कुछ विवाद करने लगे और अपने अपने धर्मकी परीक्षा करानेके लिये यमदग्नि नामके तपस्वीके पास आए ॥ ६ ॥ उन दोनोंने पक्षीका रूप धारण कर लिया और किसी तरह उसके तपश्चरणको भंग कर दिया। फिर वे दोनो देव विद्युतप्रभकी सलाहसे राजगृह नगरमें आए ॥ ७ ॥ वहांपर एक जिनदत्त नामका सम्यग्दृष्टी सेठ था, वह बुद्धिमान व्रतोंसे भी सुशोभित था और दान पूजा आदि कार्योंमें सदा तत्पर रहता था ॥ ८ ॥ उस दिन कृष्ण पक्षकी अष्टमी थी। उस सेठने प्रोषधोपवास किया था और रात्रिमें कायोत्सर्ग धारणकर स्मशानमें जा विराजमान हुआ था।

अथ पञ्चमः सर्गः ।

सुमतीश जिन नत्वा वक्ष्ये सन्मति हेतवे। कथामगादिसजातामञ्जनादिभवामहम् ॥१॥ अगे निःशकिताख्येऽपि विख्यातो योऽञ्जनो भवेत्। कथा तस्य प्रवक्ष्यामि सवेगादिकरामहम् ॥ २ ॥ वै धन्वंतरि विश्वानुलौमौ नृप द्विजात्मजौ। मित्रौ पुण्यवशाज्जातौ स्वर्गज्योतिष्कसद्गृहे ॥३॥ अमितप्रभनामा स.देवोऽभूद्धर्मतत्परः। नृपो द्विज पुन जातो नीचो विद्युत्प्रभोऽमर. ॥ ४ ॥ धो जैन. स समायात इतरस्य गृहे पुन । दातु सद्दर्शन सोपि न च गृह्णाति मूढधी. ॥५॥ परस्परविवाद तौ कृत्वा धर्मसमुद्भवम्। पार्श्वे तु यमदग्नेश्च तत्परीक्षार्थमागतौ ॥६॥ पक्षीरूप समादाय तपोभग विधाय च। तस्यैव वचनेनैव प्राप्तौ राजगृहे पुरे ॥७॥ जिनदत्तो भवेच्छ्रेष्ठी तत्रदर्शनधारक। व्रतेनालकृतो धीमान् दानपूजादितत्पर ॥८॥ आदाय प्रोषधं रात्रौ कृष्णपक्षेऽष्टमी दिने। कायोत्सर्गं श्मशानेऽसौ ध्यात्वामात्मावलोकत.॥९॥

अकस्मात् वहींपर वे दोनों देव आ निकले और उन्होंने ध्यान करते हुए सेठको देखा ॥ ९ ॥ तब आमितप्रभ देवने कहा कि हमारे साधु लोगोंकी वात तो दूर ही रहो, हे भाई ! यदि तुझमें शक्ति है तो ये गृहस्थ सेठ ध्यान लगाये हुए विराजमान हैं अनेक गुणोंके सागर हैं, निस्पृह हैं और अपनी शक्तिके अनुसार ध्यान कर रहे हैं इन्हींको तू ध्यानसे चलायमान कर दे ॥ १०–११ ॥ आमितप्रभकी यह वात सुनकर विद्युतप्रभने वध, बंधन, हाव, भाव आदि अनेक कुरीतियोंसे असह्य और महा घोर उपसर्ग करना प्रारंभ किया ॥ १२ ॥ परंतु वे सेठ भगवान वीतराग परमदेवके ध्यान करनेमें तल्लीन बने रहे, उन्होने शरीरसे ममत्व छोड़ दिया। अपने संवेग आदि गुण वढा लिये और वे निश्चल होकर ध्यान करते रहे ॥१३॥ उस समय वे धीरवीर सेठ पर्वतके समान निश्चल थे, मुनिके समान परिग्रह रहित थे, जलके समान निर्मल थे, और सागरके समान गंभीर थे ॥ १४ ॥ जब देव सब कुछ कर चुका ,आगे करनेमें असमर्थ होगया तब वह अपने चित्तमें वहुत ही लज्जित हुआ । उसने अपना अभिमान छोडकर धर्म स्वीकार किया और संवेग धारण किया ॥ १५ ॥ इधर सवेरा होते ही सब परीषहोंको जीतकर सेठने अपने कायोत्सर्गका विसर्जन किया और कुछ देरतक सुखसे वैठे ॥१६॥ इतनेमें ही वे दोनों देव इनके पास आए । दोनोंने सेठको नमस्कार किया और वड़ी भक्तिसे दिव्य वस्त्र और आभूषणोंसे सेठकी पूजा की ॥१७॥ तदनंतर उन देवोंने सब हाल कहा और प्रार्थना की कि हे उत्तम विद्वान् ! आप धर्मकार्योंके लिये तथा यात्रा आदि धार्मिक कार्य करनेके लिये सब कार्योंको सिद्ध करनेवाली और सारभूत इस आकाशगामिनी विद्याको स्वीकार कीजिये ॥१८॥ यदि सारभूत पंच नमस्कार मंत्रके द्वारा आराधना और पूजा की जायगी तो पुण्यकर्मके उदयसे

अमितप्रभदेवेन प्रोक्त तिष्ठन्तु साधव । दूरे मे प्रास्ति शक्तिश्चेद्धातुस्ते गृहनायकम् ॥१०॥ इम ध्यानसमापन्न निस्पृह गुणसागरम् । चालय शीघ्रमागत्य ध्यानाद्धैर्यावलवितम् ॥११॥ तेन कृतो महाघोरोपसर्गो दुस्सहो घन । वधबधप्रयोगैश्च हावभावैः दुरुक्तिभिः ॥१२॥ दयाश्चित्त स सद्ध्याने वीतरागादिगोचरे । निश्चल देह निर्मुक्त सवेगादिगुणाश्रितम् ॥१३॥ सुस्थिरोऽचलवद्धीर साधुवत्सगवर्जित. । प्रसन्नो जलवत्सोऽभूदगाधः सागरादिवत् ॥१४॥ निरर्थकोऽमरो जातो लज्जाकुलितमानस' । धर्मसंवेगसम्पन्नस्त्यक्तमानस्तदा च स' ॥१५॥ प्रभातसमये सोऽपि जित्वा शेषपरीषहान् । कायोत्सर्गं विमुच्याशु स्थितो यावत्सुखे च वै ॥१६॥ ताभ्यामागत्य शीघ्रेण नमस्कार विधाय स । पूजित परया भक्त्या दिव्यवस्त्रादि भूषणै ॥१७॥ आकाशगामिनीं विद्या गृहाणेमा बुधोत्तम। सिद्ध कार्यकरा सारा धर्मयात्रादिहेतवे ॥१८॥

यह विद्या अन्य लोगोंको भी सिद्ध हो जायगी ॥१९॥ इसप्रकार कहकर, उनको नमस्कार कर, बार बार उनकी प्रशंसा कर और अनेक प्रकारकी बातें कर वे दोनों देव अपने स्थानको चले गये ॥२०॥ उधर जिनदत्त सेठ उस आकाशगामिनी विद्याके प्रभावसे पूजाकी सामग्री लेकर मेरु आदि पर्वतोंपर ढाईद्वीपके अकृत्रिम चैत्यालयोंकी पूजा करनेके लिये प्रतिदिन जाने लगे ॥ २१ ॥

किसी एक दिन उस सेठसे सोमदत्त नामके मालीने पूछा कि हे प्रभो! आप प्रतिदिन कहां जाया करते हैं? तब सेठने उत्तर दिया कि हे वत्स सुन! मैं प्रतिदिन अकृत्रिम चैत्यालयमें विराजमान अत्यन्त मनोहर जिनप्रतिमाकी पूजा करनेके लिये और उससे पुन्य संपादन करनेके लिये जाया करता हूं॥२२-२३॥ तब सोमदत्तने फिर पूछा कि आप किस प्रकार जाया करते हैं तब इसके उत्तरमें सेठने विद्युत्प्रभ देवकी सब कथा कह सुनाई और उस आकाशगामिनी विद्याका भी सब हाल कह सुनाया ॥२४॥ तब सोमदत्तने फिर प्रार्थना की कि हे विद्वन्! कृपाकर मुझे भी यह विद्या दे दीजिये मैं भी आपके साथ पुष्पादिक लेकर चला करूंगा ॥२५॥ उसकी यह प्रार्थना सुनकर सेठने धर्मकार्य करनेके लिये धर्मकार्योंको सिद्ध करनेवाली उस विद्याके सिद्ध करनेका सब उपाय बतला दिया ॥२६॥ उस विद्याको सिद्ध करनेके लिये सोमदत्तने पहिले दो उपवास किये फिर कृष्ण पक्षकी चतुर्दशीके दिन किसी अत्यत भयानक स्मशानमें एक भारी वटवृक्षकी पूर्व शाखा पर एक दाभका सींका बांधा उस सींकेमें एकसौ आठ दाभकी लडियां थीं और उसके नीचे भूमिपर ऊपरको मुंह किये हुए तीक्ष्ण शस्त्र

सारपञ्चनमस्कारप्राराधनप्रपूजनात्। परेषां सिद्धिमायाति मा विद्या पुण्ययोगतः ॥ १९ ॥ इत्युक्त्वा तं नमस्कृत्य प्रशस्य च मुहुर्मुहुः। अनेकवचनालापैः स्वस्थानं तौ गतौ पुनः ॥२०॥ पूजामादाय सयाति नृलोके मंदरादिके। पूजार्थं जिनबिम्बानां प्रत्यहं गगनेनने ॥२१॥ एकदा सोमदत्तादिपुष्पान्तवटकेन स। प्रपृष्टः प्रत्यहं कुत्र व्रजतीति भवानहो ॥२२॥ सन्ने शृणु लेवत्स पूजनार्थं व्रजाम्यहम्। अकृत्रिम-जिनागारे प्रतिमाना शुभाय वै ॥२३॥ आह सोपि पुनः श्रेष्ठिन् कथं तत्र प्रयासि भो। तेनोक्तं तस्य तत्सर्वं विद्यालाभादिकारणम् ॥२४॥ ऊचे स शृणु भो धीमन्! विद्या देहि ममादरात्। पुष्पादिकं समादाय गच्छामि भवता सह ॥२५॥ ततो हि श्रेष्ठिना तस्मै धर्मसिद्धि-कारणं। उपदेशोपि सम्पूर्णो दत्तः श्रीधर्महेतवे ॥२६॥ ततः कृष्णचतुर्दश्यां कृत्वा सत्प्रोषधद्वयम्। न्यग्रोधाख्यनगे पूर्वशाखायां सत्स-बांधवैः ॥२७॥ अष्टोत्तरशतापाद दर्भशक्यं निपाय च। अधो सुक्ष्मशस्त्राणि स्मशानेऽतिभयप्रदे ॥२८॥ पुष्पादिकं समादाय शक्यमध्ये

गढ़े हुए थे ॥ २७—२८ ॥ इतना काम करनेपर वह पुष्पादिक लेकर उस सींकेमें जा बैठा और सर्वश्रेष्ठ पंच नमस्कार मंत्रका उच्चारण कर एक एक लड़ी काटनेका उद्योग करने लगा। इसप्रकार वह पहिली लड़ी काटना ही चाहता था कि नीचेके छुरा आदि तीक्ष्ण शस्त्रोंको देखकर वह डर गया और विचार करने लगा कि यदि दैवयोगसे सेठके वचन असत्य हो जांय (सब लड़ियोंके काट लेनेपर भी विद्या सिद्ध न हो) तो फिर अवश्य ही मेरा मरण हो जायगा ॥ २९—३१ ॥ इसप्रकार विचार कर वह मूर्ख सींकेसे उतर आया परंतु कुछ सोचकर फिर चढ़ गया इसी प्रकार वह बहुत देर तक चढ़ने उतरनेका काम करता रहा। इसी बीचमें एक दूसरी घटना इसप्रकार हुई ॥ ३२ ॥

उस समय उस नगरमें प्रजापाल नामके राजा राज्य करते थे, उनको सुख देनेवाली कनकावती रानी थी उसके गलेमें एक रत्नोंका हार था जो कि बहुत ही सुंदर था ॥ ३३ ॥ उस हारको देखकर एक वेश्याने अपने मनमें विचार किया कि इस हारके विना जीना व्यर्थ है ॥३४॥ रातको उस वेश्याके घर अंजन नामका चोर आया। उससे उस वेश्याने कहा कि यदि तू राजमहलमेंसे लाकर वह रानीका हार मुझे देगा तभी मैं तुझे अपना स्वामी बनाऊँगी अन्यथा नहीं। वेश्याकी यह बात सुनकर चोरने उसे धैर्य बंधाया और बड़े अहंकारसे उस हारको लेनेके लिये निकला ॥३५—३६॥ अपने विज्ञानबलसे वह राजभवनमें घुस गया और अपनी कुशलतासे हार लेकर चलता बना। परंतु उस हारमें लगे हुए

प्रविश्य च। उच्चरित्वानमस्कारान् पञ्चनायकमन्त्रपात् ॥२९॥ उद्यम कुरुते यावत् तत्पादेकैक छेदने। तावच्छुरिकयालोक्य तीक्ष्णास्त्राणि भय ययौ ॥३०॥ चिन्तित तेन मूढेन यद्यसत्य भविष्यति। वचन श्रेष्ठिनो दैवात् तदा मे मरण भवेत् ॥३१॥ इति मत्वा शठ सोपि चढनोत्तरण भयात्। कुर्वन् पुन पुन यावत्तावदन्या कथा शृणु ॥३२॥ प्रजापाल नृपस्यैव कनकाख्या सुखप्रदा। राज्ञी बभूव तस्या हि हृदि हारो विराजते ॥३३॥ दृष्ट्वा त चिंतित सार विलासिन्या स्वमानसे। किमनेनविना जीवितव्येनास्ति प्रयोजनम् ॥३४॥ अजनाख्यः पुनश्चौर आगतो निशि तद्गृहम्। सा ब्रूते यदि मे हार ददासि नृपमन्दिरात् ॥ ३५ ॥ तदा भर्ता त्वमेक स्यादन्यथा न च भूतले।

१ एक एक वार पच नमस्कार मत्रका उच्चारण एक एक लड़ी काट लेनेपर अर्थात् एकसौ आठ वार नमस्कार मत्रका उच्चारण कर एकसौ आठ लड़ियाँ काट लेनेपर उस विद्याके सिद्ध होनेका नियम था।

२–उस समय एक प्रकारका अंजन होता था जिसे लगा लेनेसे उसको तो सब कुछ दिखाई देता था परन्तु वह स्वयं किसीको भी दिखाई नहीं पडता था और इसीलिये वह अजनचोर कहलाता था।

रत्नोंका प्रकाश बहुत था इसलिये कोतवाल और पहरेदारोंसे छिप न सका और उन्होंने पकड़नेके लिये चोरका पीछा किया परन्तु वह चोर पहरेदारोंको अपने पीछे पीछे आवा हुआ जानकर उस हारको छोडकर भाग गया। भागते भागते वह उसी वटवृक्षके नीचे आया जहां कि सोमदत्त माली आकाशगामिनी विद्या सिद्ध करनेके लिये प्रयत्न कर रहा था और डरकर चढने उतरनेका काम कर रहा था। चोरने उस सबका कारण पूछा। उत्तरमें उस सोमदत्त मालीने भी सब ज्योंका त्यों बतला दिया॥ ३७-३८ ॥ अंजनचोरको सेठके वचनोंपर विश्वास होगया और उसने विना किसी शंकाके उसपर चढकर एक ही वार पंच नमस्कारका उच्चारण कर सब लडियें काट डालीं। जिस समय सब लडियोंके कट जानेपर वह नीचे गिरने लगा उसी समय आकाशगामिनी विद्याने आकर उसे रोक लिया और उससे प्रार्थना की कि हे स्वामिन्! कृपाकर मुझे आज्ञा दीजिये इस समय आपका कौनसा काम करूं॥ ३९-४० ॥ तब अंजनचोरने कहा कि इस समय मुझे जिनदत्त सेठके समीप ले चलो। यह सुनकर उस विद्यादेवताने उसी समय विमान बनाया और उसपर विठाकर आकाश मार्गसे ले चली। उस समय सेठ सुदर्शनमेरुपर चैत्यालयमें थे इसलिये वह विद्या भी उसे अनेक महिमाओंसे सुशोभित उस सुदर्शनमेरुके चैत्यालयमें लेगई और सेठके सामने जाकर पृथ्वीपर उसे उतार दिया॥ ४१-४२ ॥ अंजनचोर उस सुवर्ण और रत्नोंके बने हुए अकृत्रिम दिव्य जिन चैत्यालयको देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ॥ ४३ ॥ उसने बड़ी भक्तिसे भगवान अरहंत देवको नमस्कार किया और फिर उस बुद्धिमानने भव्य जिनदत्तके समीप आकर उनको नमस्कार किया और वह उनसे इसप्रकार मधुर वचन कहने लगा कि ॥४४॥ हे स्वामिन्! जिसप्रकार आपके प्रसादसे मुझे यह महा

इति श्रुत्वा स संतोष्य तामतो निर्गतो दरात् ॥३६॥ प्रविश्य गृहमध्येऽस्य विज्ञानेन निजेन तम्। समादाय व्रजन् वेगाद्दृष्टो रत्नादितेजसा ॥३७॥ ध्रियमाण स त त्यक्तः कोटपालांगरक्षकैः। आगतो वटवृक्षे तं दृष्ट्वा पृष्ट्वा ददौ च तम् ॥३८॥ भूत्वा निःशंकितो धीमान् स श्रेष्ठिवचने शुभे। एकवारेण सर्वं सः शक्यं छित्वा पतेद्यदा ॥३९॥ तदा विद्या समायाता सिद्धा त प्रार्थयत्यहो। आदेशं देहि मे स्वामिन् कृपया कार्यसाधनम् ॥४०॥ नयेति तेन सा प्रोक्ता समीपं श्रेष्ठिनो हि माम्। तया नीतः स्वमार्गेण समारोप्य विमानके ॥४१॥ सुदर्शनमहामेरौ जिनचैत्यालये शुभे। अनेकमहिमोपेते धृतस्तस्य पुरो भुवि ॥४२॥ अजनो वीक्ष्य तं देव जिनं चैत्यालयादिकम्। अगमन्मुदमत्यन्तं हेमरत्नादितन्मयम् ॥४३॥ प्रणम्य श्रीजिन भूयस्तं भव्य भक्तिनिर्भरः। अवोचच्च वचो धीमान् श्रेष्ठिनं प्रत्यसौ शुभान् ॥४४॥

विद्या सिद्ध हुई है उसी प्रकार इसलोक और परलोक दोनों लोकोंमें कल्याण करनेवाला धर्म मुझे बतलाइये ॥ ४५ ॥ अंजनचोरकी यह बात सुनकर वे सेठ उसको साथ लेकर समीप ही विराजमान दो चारण मुनियोंके समीप पहुंचे। दोनोंने उन मुनिराजोंके चरणकमलोंको नमस्कार किया और बैठकर सर्वोत्तम धर्मका स्वरूप पूछा ॥ ४६ ॥ उन दोनोंमें से बड़े मुनिराजने उन दोनोंके लिये अनेक महिमाओंसे सुशोभित और सदा सुख देनेवाला मुनि और श्रावक दोनोंका धर्म निरूपण किया ॥४७॥ सब तरहके परिग्रहसे रहित और सब दोषोंसे रहित ऐसे मुनिराजके महाधर्मको सुनकर उस अंजन-चोरने उन मुनिराजसे दीक्षा धारण करनेकी प्रार्थना की ॥४८॥ उत्तरमें मुनिराजने कहा कि हे भद्र ! तूने यह बहुत ही अच्छा विचार किया क्योंकि अब तेरी आयु थोड़े ही दिनोंकी रह गई है इसलिये अब तपश्चरण करना ही सर्वोत्तम है ॥४९॥ तदनंतर उस अंजनचोरने दीक्षा धारण की घोर तपश्चरण किया और शुक्लध्यानके निमित्तसे चारों घातिया कर्मोंको नष्ट किया ॥५०॥ उन अंजन मुनिराजने घातिया कर्मोंको नाशकर तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला और सदाकाल एकसा रहनेवाला केवलज्ञान रूपी साम्राज्य बहुत शीघ्र प्राप्त कर लिया ॥ ५१ ॥ उस बुद्धिमानने समयानुसार बाकीके अघातिया कर्मोंका नाश कर डाला और इंद्र नरेंद्र आदि सबसे पूज्य होकर कैलाश पर्वतसे मोक्ष प्राप्त किया ॥ ५२ ॥

देखो जो अंजनचोर अनेक व्यसनोंमें लीन था वह भी निःशंकित गुणके प्रभावसे ध्यान कर अनंत सुखोंसे परि-पूर्ण मोक्षमें जा विराजमान हुआ फिर भला जो सम्यग्दृष्टी है, अनेक श्रेष्ठ व्रतोंको पालन करता है और अनेक धर्मकार्योंसे सुशोभित है वह निःशंकित गुणके प्रभावसे मोक्षका स्वामी क्यों नहीं हो सकता ? ॥ ५३-५४ ॥ इसी प्रकार महाराज

स्वामिन् यथा महाविद्या सिद्धा युष्मत्प्रसादतः । अत्रामुत्रभवेत्सौख्य मम धर्मं निरूपय ॥४५॥ ततो मत्वा समीप तौ नत्वा चारणयोः क्रमौ । पृष्टवन्तौ स्थितौ धर्मं महानर्घ्यं मुनीशयोः ॥४६॥ ज्येष्ठो मुनिस्ततो ब्रूयाद्धर्मं तौ प्रतिसौख्यदम् । अनेकमहिमोपेत यति श्रावक गोचरम् ॥४७॥ त्यक्तदोष महाधर्मं श्रुत्वा सगविवर्जितम् । अजनो याचयामास दीक्षा श्रीमुनिपार्श्वगान् ॥४८॥ मुनिर्ब्रूते त्वया भद्रा भद्र-मेतत्कृतं तप. । याचित तव चायु स्याद्यतः काश्चिद्दिनानपि ॥४९॥ जिनमुद्रां समादाय कृत्वा घोरतर तपः । शुक्लध्यानादियोगेन हत्वा घातिचतुष्टयम् ॥५०॥ शीघ्रमुत्पादयामास त्रैलोक्यक्षोभकारणम् । केवलज्ञानसाम्राज्यमव्यय सोऽजनो मुनिः ॥५१॥ शेषकर्माणि निर्मूल्य शक्रराजादिपूजितः । कैलाशशिखरारूढो गतो मोक्षसना सुधीः ॥५२॥ अजनो व्यसनासक्तो धीरो नि शकिताश्रयात् । मुक्ति यदि गतो

विभीषणने भी निःशंकित गुणका पालन किया था उनकी कथा रामायणमें (पद्मपुराणमें) है वहांसे समझ लेना चाहिये ॥ ५५ ॥ द्वारिकापुरीके राजा वसुदेव और उनकी रानी देवकी भी निःशंकित अङ्गमें प्रसिद्ध हुई है उनकी कथा भी हरिवंशपुराणसे जान लेनी चाहिये ॥ ५६ ॥ इस निःशंकित गुणसे विभूषित और भी वहुतसे लोग हुए हैं उन सबकी कथाएं भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंसे जान लेना चाहिये ॥ ५७ ॥ इसलिये भव्य जीवोको भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए सिद्धांतशास्त्रोंमें तथा उनके उपदेशमें कभी शंका नही करनी चाहिये और ज्ञानी पुरुषोंको अपना सम्यग्दर्शन निश्चल और निर्मल वना लेना चाहिये ॥ ५८ ॥ जिस अंजनने सम्यग्दर्शनके निःशंकित गुणको सबसे उत्तम रीतिसे पालन किया फिर चारित्र धारणकर परम तपश्चरण किया तथा समस्त कर्मोको नष्टकर मोक्षके निर्मल सुखको प्राप्त किया ऐसे संसाररूपी महासागरसे पार करनेके लिये जहाजके समान वे अंजन जिनराज हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ ५९ ॥

इसप्रकार आचार्य सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें निःशकितगुणके वर्णनमे अजनचोरकी कथाको कहनेवाला यह पाचवांपरि०समाप्तहुआ।

अथ छठा परिच्छेद ।

अथानन्तर—जिन्होंने संसारमें कमलसे उत्पन्न हुई लक्ष्मीको लात मार दी है अथवा जिनके चरणकमलोंके नीचे कमलोंकी रचना होती है, जो कमलके चिन्हसे सुशोभित हैं, कमलकीसी ही जिनकी कांति है और जो अन्तरङ्ग वहिरंग

ध्यानादनन्तसुखसयुतम् ॥५३॥ सद्दृष्टिः सँन् व्रतोपेतो यो धर्मादिविभूषितः । निःशंकितगुणो सोऽपि न स्यात् किं मुक्तिवल्लभ ॥५४॥ विभीषणमहाराजा निःशंकगुणधारक. । यः स्यात्तस्य कथा ज्ञेया रामायण निरूपिता ॥ ५५ ॥ वसुदेवोऽभवद् भूपो राज्ञी तस्यापि देवकी । ज्ञेया कथा तयोरेव हरिवंशात्सम्यक्त्वजा ॥५६॥ अन्येपि बहवः सन्ति नि शका गुणभूषिता । ये ते सर्वेपि विज्ञेया आगमाज्जिनभाषित ॥५७॥ तस्माद्भव्यैर्न कर्तव्या शका सिद्धातदेशने। नि.शंकिता विधेयापि दृष्टिज्ञानादिसयुते ॥५८॥ धृतप्रथमगुणो यो नीतचारित्रभार., कृतपरमतपश्च सर्वकर्माणि हत्वा । अगमदमलसौख्य मुक्तिजं सोऽपि नोव्याद्, भवजलनिधिपोतादजनाख्यो यतीन्द्र ॥५९॥

इति श्री भट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे निःशंकितगुणव्यावर्णने अजनचोरकथा निरूपणोनाम पचम सर्गः ।

अथ षष्ठः सर्गः ।

पद्मप्रभमहं वंदे पद्मयानासन भुवि। सत्पद्मालंकृत पद्मद्युति पद्माकर परम् ॥१॥ नि.शंकितगुणे ख्याता ज्ञातानन्तमती हि या।

लक्ष्मीके परम निधि हैं ऐसे भगवान पद्मप्रभको नमस्कार कर मैं सम्यग्दर्शनको निर्मल करनेके लिये दूसरे निःकांक्षित गुणमें प्रसिद्ध हुई अनन्तमतीकी कथा संक्षेपसे कहता हूं ॥ १-२ ॥

अनेक मनुष्योंसे भरे हुए अंग देशकी राजधानी चम्पापुरी थी। वह चम्पापुरी नगरी बड़ी ही अच्छी थी, अनेक जिनालयोंसे सुशोभित थी और सदा अनेक उत्तम मुनियोंसे विभूषित रहती थी। पुण्य कर्मके योगसे उसमें वर्द्धमान नामका राजा राज्य करता था उसकी प्राणप्यारी रानीका नाम लक्ष्मीमती था ॥ ४ ॥ उसी नगरीमें एक प्रियदत्त नामका धर्मात्मा सेठ रहता था। उसकी सेठानीका नाम अङ्गवती था और वह अनेक गुणोंसे सुशोभित थी ॥ ५ ॥ उन दोनोंके एक पुत्री थी जिसका नाम अनन्तमती था। वह अनन्तमती सम्यग्दर्शनसे सुशोभित थी और दान, पूजा आदि धार्मिक कार्योंमें सदा लीन रहती थी ॥ ६ ॥ किसी एक दिन नंदीश्वर पर्वके दिनोंमें केवल आठ दिनके लिये दोनों सेठ सेठानियोंने श्री धर्मकीर्ति नामके आचार्यके पास ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया ॥ ७ ॥ उस धर्मात्मा सेठने सदा धर्मकार्योंमें लगी रहनेवाली अनन्तमतीको भी विनोदपूर्वक सुख देनेवाला ब्रह्मचर्य व्रत धारण करा दिया ॥ ८ ॥ अनन्तर जब सेठने उसके विवाहकी चर्चा चलाई तब अनन्तमतीने अपने पितासे कहा कि-हे तात ! आपने मुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिला दिया है फिर आप मेरे विवाहकी चर्चा क्यों करते हैं ? ॥ ९ ॥ उसके उत्तरमें सेठने कहा कि-हे पुत्री ! मैंने वह व्रत विनोदके लिये दिलाया था वास्तवमें नहीं। यह सुनकर अनन्तमती कहने लगी कि हे तात ! धर्म, दान, पूजा और व्रतोंमें भी कहीं विनोद हुआ करता है ? ॥ १० ॥ तब सेठने फिर कहा कि हे पुत्री ! वह तो केवल आठ दिनके लिये दिलाया था ?

कथा वक्ष्ये समासेन तस्याः सद्दृष्टिहेतवे ॥२॥ अंगदेशे जनाकीर्णे चंपाख्या नगरी शुभा । उच्चैर्जिनालयोपेता नित्यं सन्मुनिसंयुता ॥३॥ वर्द्धमानो महीपालस्तत्राभूत्पुण्ययोगतः । राज्ञी लक्ष्मीमती तस्य बभूव प्राणवल्लभा ॥ ४ ॥ संजातः प्रियदत्ताख्यः श्रेष्ठी श्रीधर्मकारकः । भार्या चांगवती तस्य जातानेकगुणाश्रिता ॥५॥ तयोः पुत्री समुत्पन्ना सम्यक्त्वादिविभूषिता । दानपूजादिसंलीना ख्यातानंतमती सती ॥६॥ गृहीतं ब्रह्मचर्यं च स्वयमष्टदिनान्वितम् । धर्मकीर्तिमहाचार्यपार्श्वे नंदीश्वरविधौ ॥ ७ ॥ ग्राहितासौ विनोदेन ब्रह्मचर्यं सुखाकरम् । पुत्री धर्मादिसंसक्ता श्रेष्ठिना धर्मशालिना ॥८॥ प्रदानसमये साह तात मे दापितं त्वया । ब्रह्मचर्यमतस्तेन सत्पाणिग्रहणेन किम् ॥९॥ दापितं क्रीडया पुत्री मया ते तन्नचान्यथा । का क्रीडा तात सद्धर्मदानपूजाव्रतादिके ॥१०॥ दिनाष्टकमिदं पुत्री दापितं ते मया तदा । ब्रूत न

इसके उत्तरमें अनन्तमतीने कहा कि उस समय मुनिराजने व्रतोंके पालन करनेके लिये दिनोंकी कुछ मर्यादा नहीं वतलाई थी इसलिये मैंने तो वह उत्तम ब्रह्मचर्य जीवनपर्यंत धारण कर लिया है। अब मैं उसे प्राण नाश होनेपर भी कभी नहीं छोड़ूंगी और मेरु पर्वतके समान निश्चल होकर आजन्म उसका पालन करूंगी ॥ ११–१२ ॥

किसी एक दिन युवावस्था प्राप्त होनेपर चैत्रके महीनेमें अपने वगीचेमें महा रूपवती और कला विज्ञानसे परिपूर्ण वह अनन्तमती झूल रही थी ॥ १३ ॥ इसी समय विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीके किन्नरपुर नगरके विद्याधरोंका राजा कुण्डलमंडित अपनी रानी सुकेशीके साथ विमानमें बैठा हुआ आकाशमार्गसे जारहा था। अचानक उसकी दृष्टि अनन्तमतीपर पड़ी। उसे देखकर वह मोहित होगया और विचार करने लगा कि इसके विना मेरा जीना ही व्यर्थ है ॥ १४–१५ ॥ यही सोचकर वह घर लौटा, उसने अपनी रानीको घरपर छोड़ा फिर वह दुष्ट शीघ्र ही आकर शीलगुणसे सुशोभित और रोती हुई अनन्तमतीको लेकर आकाशमार्गसे चलने लगा ॥ १६ ॥ उसकी रानीको भी कुछ संदेह होगया था इसलिये वह भी उसके पीछे पीछे ही दौडी आई। रानीको देखकर वह विद्याधर डर गया और शीघ्र ही अनंतमतीको प्रज्ञप्ती और पर्णलघ्वी नामकी विद्याके आधीन किया ॥ १७ ॥ उन दोनों विद्याओंने अत्यन्त दुःखसे व्याकुल सती अनन्तमतीको किसी एक वड़े वनमें छोड़ दिया परन्तु वहां भी उस वेचारीको सुख नहीं मिला। एक भीम नामके भीलोंके राजाने उसे अपने आधीन कर लिया और अपने घर ले जाकर प्रार्थना की कि तू मुझे स्वीकार कर, मै तुझे पट्टरानी वना लूंगा, परन्तु वह सती कव स्वीकार करनेवाली थी; उसकी अनिच्छा देखकर रात्रिमें वह भीम उसपर वलात्कार करने

मुनिना किंचिद्दिनमानं व्रते वरे ॥११॥ गृहीतं नियमं सार यावज्जीवं जहामि न। अचलं मेरुवत्तात प्राणान्तेपि कदाचन ॥१२॥ कलाविज्ञानसम्पन्ना चैत्रे सख्या वनेपि सा। निजोद्याने महारूपा दोलयती यदा स्थिता ॥१३॥ रूप्याद्रिदक्षिणश्रेण्यां किन्नराख्ये पुरे वसन्। विद्याधराधिपो नाम्ना कुंडलाद्यंतमण्डित ॥१४॥ सुकेशीभार्यया युक्तो गच्छन् खे स सरत्यहो। दृष्ट्वा ता जीवितव्येन तेन किं मेऽनया विना ॥ १५ ॥ गृहे धृत्वा स्वरामां च शीघ्रमागत्य तेन सा। नीता दुष्टेन खे वाला रुदन्ती शीलभूषिता ॥ १६ ॥ उन्मानादागतां भार्यां दृष्ट्वा तेन भयेन सा। समर्पितानुप्रज्ञप्त्याख्यपर्णलघुविद्ययोः ॥१७॥ स्थापिता सा महाटव्या ताभ्या दुःखाकुला सती। नीता भीमाख्यभिल्लेन राज्ञापि निजपल्लिकाम् ॥१८॥ पट्टराज्ञिपद देवि ददामीच्छसि मां हठात्। अनिच्छंती हि प्रारव्धा मोक्तुं रात्रौ खलेन सा ॥१९॥

लगा ॥ १८-१९ ॥ परन्तु उस सतीके शीलके माहात्म्यसे क्षुब्ध होकर वनदेवी प्रगट हुई और उसने लकड़ी थप्पड आदिकी चोटोंसे भीमकी खूब ही खबर ली ॥ २० ॥ भीम वहुत ही डर गया और उसने समझ लिया कि यह नारी नहीं है किन्तु नीचेको नेत्र किये हुए कोई देवता है । उसने शीघ्र ही पुष्पक नामके एक साहूकारको वह अनन्तमती सोंप दी ॥ २१ ॥ वह मूर्ख साहूकार भी लोभ दिखाकर उसके साथ विवाह करनेकी प्रार्थना करने लगा, परंतु निःकांक्षितगुणको धारण करनेवाली उस सतीने किसीकी भी इच्छा नहीं की ॥ २२ ॥ तब उस दुष्ट साहूकारने अयोध्या नगरीमें आकर शीलगुणसे विभूपित वह अनंतमती एक कामसेना नामकी वेश्याके हाथ सोंपदी ॥२३॥ उस कामसेनाने भी उसे अनेक प्रकारके दुःख दिये तथा हाव भाव विकारोंसे समझाया तथापि वह अपने शीलगुणसे रंचमात्र भी न डिगी-जिस प्रकार मेरु पर्वतका शिखर निश्चल रहता है उसी प्रकार अत्यंत धीरवीर वह अनंतमती अपने व्रतमें निश्चल रही ॥ २४ ॥ अंतमें हारकर कामसेनाने वह राजा सिंहराजको दे दी । उसने भी उसपर अपना चक्र चलाना चाहा और अत्यन्त दृढतारूपसे व्रतको पालन करनेवाली और किसीको भी न चाहनेवाली उस अनंतमतीपर किसी एक रातको वलात्कार करनेपर उतारू हो गया ॥२५॥ परंतु उसके शीलव्रतके माहात्म्यसे पहिलेकी वनदेवी आ उपस्थित हुई और उसने लकड़ी घूंसोंसे राजाकी खूव ही खवर ली ॥२६॥ तव तो राजाको उससे वहुत ही डर लगा और उसने उसी समय उसे अपने घरसे निकाल दिया । चलते चलते उसे पद्मश्री अर्जिकाके दर्शन हुए। उसे देखकर वह और भी रोने लगी और उसे अपनी सव कथा कह सुनाई ॥२७॥ उस अर्जिकाने अपना धर्म पालन करनेके लिये उसे अच्छी श्राविका जानकर अपने

शीलमहात्म्यसक्षोभादागत्य दु.खदुष्कृत. । वनदेवतया तस्योपसर्गो यष्टिमुष्टिभि ॥ २० ॥ भीतेन तेन ता नीत्वा देवता सा समर्पिता । सार्थपुष्पकनाम्नश्च सार्थवाहस्य वेगतः ॥२१॥ लोभ प्रदर्श्य दुर्वुद्धि परिणेतु स याचते । न वाच्छति सती त सा नि.काक्षितगुणाश्रिता ॥२२॥ नगर्यामप्ययोध्यायां दत्तां चानीय तेन सा । वेश्यायै कामसेनायै शीलसम्पूर्णभूषणा ॥२३॥ न जाता तत्र वेश्या सा हावभावविकारिभि. । कृतातिधीरतापन्ना यथा मेरुशिखा दृढा ॥ २४ ॥ तया दत्ता पुनः सिंहनृपाय तेन सा निशि । हठात्सेवितुमारब्धा प्राणिच्छती महाव्रता ॥२५॥ पुरदेवतया तस्य कृतो घोरउपद्रव. । तस्या. शीलप्रभावेन यष्टिमुष्ट्यादिभिर्महान् ॥ २६ ॥ भीतेन तेन सा वाला गृहान्निस्सारिता हठात् । अर्यिकया समादृष्टा रुदन्ती कमलश्रिया ॥ २७ ॥ आकाराच्छ्राविकां मत्वा नीत्वा पार्श्वे स्वय तया । धृतातिगौरवोपेता स्वस्य

करने लगी ॥ २८ ॥
ही पास रक्खा और यथायोग्य आदर सत्कारके साथ उसको अपने पास रखकर उसका निर्वाह करने लगी ॥ २८ ॥
इधर पुत्रीके हरे जानेसे सेठ प्रियदत्तको बहुत ही शोक हुआ। साथमें अन्य कुटुंबियोंको भी हुआ। उसके शोकसे
वे अपना सुख और धर्म सब भूल गये ॥२९॥ उस शोकको दूर करनेके लिये सेठ प्रियदत्त तीर्थयात्राको निकला और वंदना
करते हुए अयोध्यापुरीमे आया ॥३०॥ अयोध्यापुरीमें एक जिनदत्त नामका सेठ रहता था, जो प्रियदत्तका साला था प्रियदत्त
उसीके मकानमें आकर ठहरा। सायंकालके समय सब कामोंसे निवट लेनेपर प्रियदत्तने जिनदत्तसे अपनी पुत्रीके हरे
जानेके समाचार कहे ॥३१॥ प्रातःकाल होनेपर नहा धोकर सेठ प्रियदत्त अयोध्या नगरके जिनमंदिरोंकी तथा वहां टिकनेवाले
मुनियोंकी वंदना करनेके लिये निकला ॥३२॥ इधर सेठ जिनदत्तकी स्त्रीने पद्मश्री अर्जिकाके समीप रहनेवाली श्राविकाको
(अनंतमतीको) अपने घर भोजन करनेके लिये और चौक पूरनेके लिये वुलाया ॥३३॥ वह श्राविका (अनंतमती) भोजनकर
और चौक पूरकर अपने स्थानको चली गई। इसके वाद वंदनाकर सेठ प्रियदत्त आया और अनन्तमतीके द्वारा पूरे हुए उस
चौकको देखकर और पहिचानकर उसके शोकसे आंसू डालने लगा ॥ ३४ ॥ प्रियदत्तने कहा कि जिसने यह चौक पूरा
है उसे लाकर मुझे दिखलाओ। तब सेठ जिनदत्तने वह श्राविका (अनन्तमती) वुलवा दी ॥ ३५ ॥ पुत्रीको देखकर
प्रियदत्तने वह गोदीमें उठा ली और फिर पीछेकी सब वातें पूछीं। सेठ जिनदत्तने भी अपनी भानजीके मिल जानेपर
वडा भारी उत्सव किया ॥ ३६ ॥
सबसे मिलाभेटी हो जानेके वाद अनन्तमतीने कहा कि हे पिताजी ! मैंने इस संसारको खूब देख लिया है

धर्मादिहेतवे ॥ २८ ॥ तदा शोकः समुत्पन्नो दुस्सहस्तद्वियोगतः। पितृबन्धुजनादीना सुखधर्मैकनाशकृत ॥ २९ ॥ अथानन्तमतीशोक-
विनाशार्थं जगाम सः। यात्रार्थे जिनतीर्थाना दृष्टायोध्यापुरी शुभात् ॥३०॥ प्रविष्टो जिनदत्तस्य श्रेष्ठिनो मन्दिरे शुभे। शालकस्यापराह्ले
स पुत्री वार्ता कृता निशि ॥३१॥ प्रभाते वन्दना भक्तिं कर्तुं यातः स्वय पुरीम्। श्रेष्ठी पूजादिसंयुक्तो जिनचैत्यमुनीशिनाम् ॥ ३२ ॥
सा श्रेष्ठिभार्यया चापि श्राविकाकारिता गृहे। दक्षा रसवती कर्तुं चतुष्क रातुमप्यहो ॥ ३३ ॥ सर्वं कृत्वा गता सोपि स्वस्थान प्रागतो
वणिक्। दृष्ट्वा त करोति तूर्णमश्रुपातं विशोकजम् ॥३४॥ उक्तं तेन यया गेहमंडन कृतमप्यहो। तां मम दर्शयानीता जातो मेलापक-
स्तयोः ॥३५॥ विधायालिंगनं तेन पृष्टा वार्ता वियोगजा। श्रेष्ठिना जिनदत्तेन कृतोत्यतमहोत्सवः ॥३६॥ अथानन्तमती ब्रूते दृष्टं ससा-

इसमें अनेक प्रकारके विचित्र दुःख भरे हुए हैं। यह दुःखोंसे भर रहा है इसलिये हे तात ! अब मुझे दीक्षा दिला दीजिये ॥ ३७ ॥ तव प्रियदत्तने उत्तर दिया कि पुत्री ! तू शीघ्र ही तपश्चरण धारण कर, क्योंकि यह तपश्चरण ही कर्मोको नाश करनेवाला है, स्वर्ग मोक्षके सुख देनेवाला है, सवमें सार है और दुःखरूपी दावानल अग्निके लिये मेघकी धाराके समान है ॥ ३८ ॥ तव पिताकी आज्ञासे उस अनन्तमतीने परम संयम धारण किया और वह भगवान जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ बारह प्रकारका घोर तपश्चरण करने लगी ॥ ३९ ॥ अन्तमें उसने समाधिमरण धारण किया तथा प्राणोंको छोडकर और स्त्रीलिंगको छेदकर वारहवें सहस्रार स्वर्गमें उत्तम देव हुई ॥ ४० ॥ वहांपर उसको अठारह सागरकी आयु थी। अठारह सागर पर्यन्त उत्तम सुख भोगकर वह अनंतमतीका जीव सम्यग्दर्शनके प्रभावसे अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करेगा ॥ ४१ ॥ रामचन्द्रकी पट्टमहादेवी सीताने भी निःकांक्षित अंगका पालन किया था और उसीके प्रभावसे वह सोलहवें स्वर्गमें इन्द्र हुई थी जहां कि अनेक देव उसकी पूजा करते थे ॥४२॥ उस सती सीताकी कथा पद्मपुराणसे जान लेनी चाहिये। इनके सिवाय इस निःकांक्षित अगको पालन करनेवाले और भी वहुतसे जीव हुए हैं उन सबको कोई कह भी नही सकता है ॥ ४३ ॥ यही समझकर भव्य जीवोंको सदा निःकांक्षित अंगका पालन करना चाहिये और स्वर्गादिके सुखोकी इच्छा कभी नहीं करना चाहिये ॥ ४४ ॥ देखो शीलव्रतको दृढ़तापूर्वक पालन करनेवाली और अनेक गुणोंसे सुशोभित तथा सम्यग्द-

रसभवम् । वैचित्र्य दु खसम्पूर्णं तात दापय मे तपः ॥ ३७ ॥ गृहाण पुत्रि वेगेन तपः कर्मविनाशकम् । स्वर्गमुक्तिकर सारं दुःखदावाग्निवार्मुचम् ॥ ३८ ॥ सा तस्याहि समीपे च आदाय सयम परम् । तप. कृत्वा महाघोर द्विपट्भेद जिनोदितम् ॥ ३९ ॥ अन्ते संन्यासमादाय त्यक्त्वा प्राणान् वभूव सा । हत्वा स्त्रीलिगमप्युच्चै. सहस्रारे सुरोत्तम ॥४०॥ अष्टादशसमुद्रायु भुक्त्वा तत्र सुख वरम् । सम्यक्त्वयोगतोप्यग्रे क्रमात्मुक्तिं प्रयास्यति ॥ ४१ ॥ या सीताख्या महादेवी धृत्वा निःकाक्षित गुणम् । जाता षोडशमे स्वर्गे देवो देवै प्रपूजित ॥ ४२ ॥ तस्या कथा परिज्ञेया शास्त्रे रामायणादिके । अन्येपि बहव. सन्ति कस्ताश्च गदितु क्षम ॥ ४३ ॥ इति मत्वा सदा कार्यो गुणो निःकाक्षिताभिध. । काक्षादिक परित्यज्य भोगे स्वर्गादिगोचरे ॥ ४४ ॥ निःकाक्षिताख्य परम हि धृत्वा, गुण गरिष्ठा दृढशीलयुक्ता । स्वर्ग वृजित्वा पुनरेति मुक्तिं, सद्दर्शनानंतमती सुधर्मात् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे निःकाक्षितगुणप्ररूपणे अनंतमतीकथा प्ररूपणोनाम षष्ठ परिच्छेद ।

र्शनको धारण करनेवाली अनन्तमती एक निःकांक्षित परम गुणको धारण करनेसे ही स्वर्गमें उत्तम देव हुई है और धर्मके प्रभावसे अन्तमें मोक्ष प्राप्त करेगी (वह अनन्तमती सबका कल्याण करे) ॥ ४५ ॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें नि.कांक्षित गुणमें प्रसिद्ध होनेवाली अनंतमतीकी कथाको कहनेवाला यह छठा परिच्छेद समाप्त हुआ।



अथ सातवां परिच्छेद।

मै श्री सुपार्श्वनाथ भगवानको नमस्कार कर कुछ धर्मोपदेश कहता हूं और उसमें भी निर्विचिकित्सा गुणमें प्रसिद्ध होनेवाले राजा उद्दायनकी कथा कहता हूं ॥ १ ॥ किसी एक दिन देवोंसे भरी हुई सभामें भव्य जीवोंको समझानेके लिये सौधर्म इन्द्रने सम्यग्दर्शनके गुणोंका वर्णन किया ॥ २ ॥ और कहा कि भरतक्षेत्रके वंग देशांतर्गत रोरुक नामके शुभ नगरमें राजा उद्दायन राज्य करता है। वह अपने पहिले जन्ममें उपार्जन किये हुए पुण्यकर्मके प्रभावसे सम्यग्दर्शनके तीसरे निर्विचिकित्सा गुणको विना किसी दोपके पालन करता है। इस प्रकार मति श्रुत और अवधि तीनो ज्ञानोंको धारण करनेवाले इन्द्रने उद्दायनकी बहुत प्रशंसा की ॥ ३–४ ॥ उद्दायनकी ऐसी भारी प्रशंसा सुनकर वासव नामका देव उसकी परीक्षा लेनेके लिये आया। उसने एक मुनिका विकृतरूप धारण कर लिया, उस समय उसके उस बनाये हुए शरीरसे कोढ गल रहा था और वह बहुत ही विकृति (घृणा करने योग्य) रूपमें था ॥ ५ ॥ अपना ऐसा मुनिका रूप बनाकर वह देव उद्दायनके द्वारपर आया। पुण्यवान उद्दायनने देखते ही भक्तिपूर्वक उसका पड़गाहन किया और विधिपूर्वक आहार दिया ॥६॥

अथ सप्तमः सर्गः।

सुपार्श्वं जिनमानम्य वक्ष्ये सद्धर्मदेशकम्। गुण निर्विचिकित्साख्य नृपोद्दायनगोचरम् ॥१॥ सौधर्मेन्द्र. सभामध्ये सम्यक्त्वगुणवर्णनम्। करोति देवसम्पूर्णे भव्यसम्बोधहेतवे ॥२॥ भरते वगदेशेऽभूद्रोरुकाख्ये पुरे शुभे। उद्दायनो महाराज· पूर्वपुण्यप्रभावत. ॥ ३ ॥ गुण निर्विचिकित्साख्य त्यक्तदोषं स सेवते। इति प्रशसयामास शक्रस्त्रिज्ञानसंयुत ॥ ४ ॥ वासवाख्योऽमरो नाकादागतस्तं परीक्षितुम्। विकृत्य मुनिरूपं स कुष्टादिगलितं घनम् ॥५॥ गृहद्वारे स्थितस्तस्य त विलोक्य स पुण्यधी·। ददौ हि विधिनाहार प्रतिगृह्य सुभक्तित.

अपनी मायासे (विद्यासे) वह देव उद्दायनका सव अन्न खा गया और सव पानी पी गया और फिर उसने अत्यन्त दुर्गन्ध और घृणित वमन कर दिया ॥ ७ ॥ उस वमनकी असह्य दुर्गन्धसे राजाके कुटुम्वी और सेवक सव भाग गये। केवल रानी प्रभावती और पुण्यवान् राजा उद्दायन मुनिकी वैयावृत्य करनेके लिये रह गये ॥ ८ ॥ रानी उसके शरीरको पोंछने लगी। परन्तु उस मायाचारी मुनिने उसके ऊपर भी वमन कर दिया, परन्तु फिर भी वे दोनों उसके शरीरको धोने लगे और उस दुर्गन्धमय वमनको भी धोने लगे ॥ ९ ॥ इतना ही नही उस समय राजाने स्वयं अपनी वड़ी निंदा की और कहा कि हा हा इन दुःखी मुनिराजके लिये मेरे द्वारा न जाने कौनसा अयोग्य आहार दिया गया है उसीके कारण इनको इतना कष्ट हुआ है ॥ १० ॥ राजाके इस प्रकारके वचनको सुनकर देवको वहुत ही आनन्द हुआ और उसे निश्चय हो गया कि इन्द्रका कहा हुआ सर्वथा ठीक है। इससे अपना वनाया हुआ मुनिका रूप छोड़ दिया और अपना स्वाभाविक दिव्यरूप वनाकर अपनी सव कथा कही, राजाकी वहुत वहुत प्रशंसा की और दिव्य वस्त्राभरणोंसे राजाकी पूजाकर वह देव अपने स्वर्गलोकको चला गया ॥ ११–१२ ॥ कुछ दिनोंके वाद राजा उद्दायनने भी अपना सव राज्य छोड़कर श्री वर्द्धमान स्वामीके समीप जिनदीक्षा धारण कर ली ॥ १३ ॥ उसने महा घोर तपश्चरण किया, सव कर्मसमूहोंका नाश किया और केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्तिलक्ष्मीका स्वामी हुआ ॥ १४ ॥ रानी प्रभावतीने भी दीक्षा धारण कर ली और घोर तपश्चरण कर स्त्रीलिंगको छेदकर पांचवें व्रह्मस्वर्गमें दिव्य आभरणोंसे सुशोभित देव हुई ॥ १५ ॥

॥६॥ सर्वान्नं च जलं सोऽपि भक्षयित्वातिमायया। अतिदुर्गंधवीभत्सं वमनं कुरुते पुनः ॥७॥ नष्टः परिजनस्तस्माद् दुर्गंधादतिदुःसहात्। स्थितो राजा प्रभावत्या सहितः सोपि पुण्यवान् ॥ ८ ॥ राज्ञः प्रतीच्छतो वान्तं देव्या उपरि छर्दितम्। सा क्षालयति हस्तेन राजा तद्वमनादिकम् ॥ ९ ॥ हा हा दत्तो मयाहारोऽयोग्यो रुक्पीडितात्मने। इति निंदां स्वयं स्वस्य करोति स मुनीशिने ॥१० ॥ श्रुत्वा तद्वचनं देवः सानन्दो जातनिश्चयः। मायारूपं परित्यज्य दिव्यरूपं व्यधादसौ ॥ ११ ॥ कथयित्वा कथां स्वस्य प्रजल्प्य तं मुहुर्मुहुः। प्रपूज्य वस्त्राभरणैः स्वर्गलोकं ययौ सुरः ॥ १२ ॥ उद्दायनो नृपो भूयस्त्यक्त्वा राज्यादिसंपदः। पार्श्वे श्रीवर्द्धमानस्य दीक्षामंगीचकार स ॥१३॥ तपः कृत्वा महाघोरं हत्वा कर्मकदंबकम्। उत्पाद्य केवलज्ञानं जातो मुक्तिस्वयंवरः ॥१४॥ प्रभावती तपः कृत्वा हत्वा स्त्रीलिंगमप्यसौ। ब्रह्मस्वर्गे सुरो जातो दिव्याभरणमण्डितः ॥१५॥ परमसुखनिधिश्रोदायनो लोकपूज्यो, विधृतगुणनिमग्नो दर्शनस्यैव योगात्। कृतपरमतपो

जो मुनिराज उद्दायन परम सुखके निधि थे, लोकपूज्य थे, जिन्होंने सम्यग्दर्शनके समस्त गुण धारण किये थे, जिन्होंने
घोर तपश्चरण किया और समस्त कर्मोंको नष्टकर अपार परमपद—मोक्षपद प्राप्त किया वे उद्दायन मुनिराज हम लोगोंकी
रक्षा करें ॥ १६ ॥ इस निर्विचिकित्सा गुणको धारण कर और भी वहुतसे जीव मोक्ष पधारे हैं, परन्तु उन सबकी कथा
कौन कह सकता है ॥ १७ ॥

सम्यग्दर्शनके चौथे अमूढदृष्टि अंगमें रेवती रानी प्रसिद्ध हुई है इसलिये सम्यग्दर्शनको निर्मल करनेके लिये
उसकी भी कथा कहता हूं ॥ १८ ॥ विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक मेघकूट नगर है। पुण्यकर्मके उदयसे वहांपर
सम्यग्दृष्टी राजा चन्द्रप्रभ नामका विद्याधर राज्य करता था ॥ १९ ॥ किसी एक समय वह राजा चन्द्रप्रभ अपने पुत्र
चन्द्रशेखरको राज्य देकर भक्तिपूर्वक गुरु और देवोंकी वंदना करनेके लिये किसी एक विद्याके साथ चल दिया ॥ २० ॥
चलते चलते वह दक्षिण मथुरामें आया। वहांपर उसे श्रीगुप्ताचार्यके दर्शन हुए। उनकी पूजाकर उस बुद्धिमान राजाने
उनके ही पास क्षुल्लककी दीक्षा धारण कर ली ॥ २१ ॥

किसी एक दिन उस चन्द्रप्रभ क्षुल्लकने अपने गुरु गुप्ताचार्यसे पूछा कि हे स्वामिन्! मैं तीर्थयात्रा करनेके लिये
उत्तर मथुराको जा रहा हूं, क्या आपको किसीसे कुछ कहना है? ॥ २२ ॥ उत्तरमें मुनिराजने कहा कि पापोंसे डरनेवाले
और संसाररूपी समुद्रसे पार कर देनेवाले मुनिराज सुव्रतके लिये हमारा नमस्कार कहना तथा राजा वरुणकी रानी रेवतीसे
स्वर्ग मोक्षकी देनेवाली हमारी अनेक प्रकारसे धर्मवृद्धि कहना ॥ २३—२४ ॥ इतना कहकर वे चुप हो गये। तब क्षुल्लकने

हि सर्वकर्माणि हत्वा, परमपदमपारं प्राप्तवान् नो मुनीन्द्रः ॥१६॥ गुणं निर्विचिकित्साख्यं धृत्वाऽन्ये बहवो गताः। मुक्तिं येऽत्र कथां दक्षः
कस्तेषां गदितुं क्षमः ॥१७॥ विख्याता रेवती राज्ञी प्रामूढत्वगुणे प्रिया। कथा तस्याः प्रवक्ष्यामि दर्शनस्यैव हेतवे ॥ १८ ॥ रूप्याद्रि-
दक्षिणश्रेण्यां मेघकूटे पुरे खगः। राजा चन्द्रप्रभो जातः पुण्यात्सद्दर्शनान्वितः ॥१९॥ चन्द्रशेखरपुत्राय दत्वा राज्यं स निर्गतः। भक्त्यर्थं
गुरुदेवानां युक्तः काचिद्विद्यया ॥२०॥ आगतो दक्षिणाख्यां स मथुरां सत्कृतार्चनः। सूरेः श्रीमुनिगुप्तस्य पार्श्वेऽभूत् क्षुल्लको बुधः ॥२१॥
एकदा श्रीगुरुः पृष्टो व्रजता तीर्थहेतवे। तेनोत्तरमथुरायां किं कस्य कथ्यते न वा ॥२२॥ तेनोक्तं पापभीताय सुव्रताय नमोस्तु मे। कथ-
नीयो मुनीन्द्राय तारकाय भवार्णवे। राज्ञो वरुणनाम्नश्च रेवत्याः कथयस्व मे। धर्मवृद्धिमनेकार्थस्वर्गमुक्तिसुखप्रदाम् ॥२४॥ एकादशांग-

सोचा कि वहांपर ग्यारह अंगके पाठी मुनिराज भव्यसेन भी हैं तथा और भी मुनि होंगे उनको गुरुदेवने नाम तक नहीं लिया। यही सोचकर क्षुल्लकने फिर पूछा, परन्तु दुवारा पूछनेपर भी मुनिराजने यही कहा कि अब और किसीसे कुछ नहीं कहना है तब क्षुल्लकने विचार किया कि इसका कुछ भी कारण होना चाहिये; मैं उसे अभीतक समझ नहीं सका हूं ॥ २५–२६ ॥ इसके बाद वह क्षुल्लक उत्तर मथुरामें पहुंचा और सुव्रत मुनिराजके समीप जाकर मस्तक झुकाकर उनको नमस्कार किया और उनके गुणोंसे वह बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ २७ ॥ उनके विशेष वात्सल्यको देखकर गुरुके वाक्योंपर उसका दृढ़ निश्चय हुआ और फिर उसने गुरुका कहा हुआ नमस्कार भी उनको कह सुनाया ॥ २८ ॥ इसके बाद वह शीघ्र ही वसतिकामें आया। वहांपर भव्यसेन मुनि विराजमान थे, परन्तु उन्होंने अपने अभिमानमें आकर इससे कुछ बात भी नहीं की ॥ २९ ॥ जब वे भव्यसेन मुनि कमंडलु लेकर शौचके लिये बाहर गये तब उनकी परीक्षा करनेके लिये वह क्षुल्लक भी उनके साथ गया ॥ ३० ॥ क्षुल्लकने कुछ आगे चलकर अपनी विद्यासे सब मार्ग अनेक जीवोंसे भरी हुई हरी घाससे आच्छादित कर दिया ॥ ३१ ॥ उस हरी घाससे भरे हुए मार्गको देखकर भी और "भगवान जिनेन्द्रदेवने इनमें एकेन्द्री जीव कहे हैं" ऐसा जानकर भी भव्यसेनने उसकी परवा नहीं की और उस घासको पैरोंसे कुचलता हुआ चला गया ॥ ३२ ॥ जब भव्यसेन शौचको बैठ गया तब उस चन्द्रप्रभ विद्याधरने अपनी विद्यासे उसके कमंडलुका पानी सुखा दिया और सामने आकर कहने लगा कि–हे स्वामिन्! कमंडलुमें जल नहीं है तो न सही इसमें कुछ चिंता करनेकी बात नहीं है, यह पासमें ही एक सरोवर स्वच्छ जलसे भरा है उसमें जाकर शुद्धि कर लीजिये। यह कहकर वह तो चला गया

विद्भव्यसेनसूरिस्तथापरे। सन्ति तेषां न नामापि नीयते गुरुणाऽधुना ॥२५॥ द्विःपृष्टेनापि तेनैतदुक्तं नान्यद्विचिंतितम्। कारणं किंचिदत्रास्ति नाहं जाने च मानसे ॥२६॥ तत्र गत्वा स्थितः पार्श्वे सुव्रतस्य मुनेः स वै। नमस्कृत्योत्तमांगेन तद्गुणग्रामरंजितः ॥ २७ ॥ दृष्ट्वा तदीयवात्सल्यं विशिष्टं जातनिश्चयः। प्रतिपाद्य नमस्कारं संगतो गुरुणोदितम् ॥२८॥ ततो वसतिकां शीघ्रमागतो भाषणं स्वयम्। न कृतं भव्यसेनेन तस्य गर्वितचेतसा ॥ २९ ॥ गृहीत्वा कुण्डिकामेष बहिर्भूमिं गतो व्रती। तेनापि सहमार्गेण तत्परीक्षादिहेतवे ॥३०॥ हरितांकुरसंछन्नो मार्गस्तेनापि दर्शितः। स्वविकुर्वणया तस्य स्वयं मार्गांगिसंकुलः ॥३१॥ तं दृष्ट्वास्यागमे जीवाः कथ्यन्ते जिनभाषिते। एष तत्रारुचिं कृत्वा गतः पादेन मर्दयन् ॥ ३२ ॥ शौचादिसमये नीरं शोषयित्वा वदन्नसौ। कुण्डिकायां जलं नास्ति स्वामिन्नो विकृतिं

और मूर्ख भव्यसेनने उसी सरोवरमें जाकर अपनी शुद्धि कर ली ॥ ३३–३४ ॥ इसपरसे उस क्षुल्लकने समझ लिया कि यह कुमार्गगामी मिथ्यादृष्टी है। उसने उसी दिनसे उसका नाम अभव्यसेन रख दिया ॥ ३५ ॥

अब उसने रेवतीकी परीक्षा करनी प्रारम्भ की। दूसरे दिन नगरके पूर्व दिशाकी ओर वह ब्रह्माका रूप धारण कर विराजमान हो गया। उसने विद्याके बलसे अपने चार मुंह बना लिये, यज्ञोपवीत धारण कर लिया, देवोको अपनी पूजामें लगा लिया और इस प्रकार पद्मासन लगाकर बैठ गया। उसे इस प्रकार ब्रह्माके रूपमें देखकर राजा तथा भव्यसेन आदि सब मूर्ख उसकी पूजा करनेके लिये पहुंचे ॥ ३६–३७ ॥ अनेक अज्ञानी लोगोने रेवती रानीको भी बहुत समझाया, चलनेके लिये बहुत प्रेरणा की परन्तु उसने सबको यही उत्तर दिया कि भाई ब्रह्मा नामका कोई देव आगया होगा ॥३८॥ तीसरे दिन नगरके पश्चिमकी ओर जाकर उस क्षुल्लकने रेवतीकी प्रसिद्धि सुनकर उसकी परीक्षा करनेके लिये विष्णुका रूप धारण कर लिया। विद्यावलसे अनेक गोपियां बना ली, चार भुजाएं बना ली, गरुडपर सवार होगया, शंख चक्र और शस्त्र आदि चिह्न बना लिये और अनेक मिथ्यादृष्टियोंको अपनी सेवामें लगा लिया ॥ ३९–४० ॥ परन्तु रेवती रानी वहांपर भी नही गई। चौथे दिन नगरके दक्षिण ओर जाकर उसने महादेवका रूप बना लिया, माथेपर आधा चन्द्रमा लगा लिया, मस्तकपर जटाजूट रख लिया, वृषभपर (नादियापर) सवार हो गया और आधे अंगमें पार्वतीको धारण कर लिया। उसे देखकर बहुतसे मूर्ख भक्ति करते हुए चले आए, परन्तु रेवती रानी तथा कितने ही अन्य समझदार लोग वहां भी नही गये ॥ ४१–४२ ॥ पांचवें दिन उत्तर दिशाकी ओर जाकर उसने तीर्थंकरका रूप बनाया। अतिशय,

---

कचित् ॥३३॥ सरोवरेऽत्र संस्वच्छनीरे शौच द्रुतं कुरु। भणित्वा पूर्ववत्मूढ प्राकरोच्छौचमजसा ॥३४॥ ततस्त स परिज्ञाय दृष्टिहीन कुमार्गगम्। कृत्वा सोऽभव्यसेनाख्य तस्य लोके गतो बलात् ॥३५॥ ततोऽन्यस्मिन् दिने तेन ब्रह्मरूप प्रदर्शितम्। चतुर्मुखं सुयज्ञोपवीतयुक्त सुरार्चितम् ॥३६॥ तत्पूर्वदिशि पद्मासनस्थं तत्रापि मायया। राजादयो भव्यसेनादयो मूढाः समागता ॥३७॥ रेवती प्रेर्यमाणापि मूढलोकैरनेकधा। भणित्वा ब्रह्मनामाय कश्चिद्देवो हि चागतः ॥३८॥ रेवत्याः ख्यातिमाकर्ण्य तत्परीक्षादिहेतवे। पुनर्दक्षिणदिग्भागे कृष्णरूपं प्रदर्शितम् ॥३९॥ गोपाङ्गनादिसयुक्त गरुडारूढ चतुर्भुजम्। शखचक्रायुधोपेत दृष्टिहीनैर्जनैर्वृतम् ॥४०॥ तत. पश्चिमदिग्भागे रुद्ररूपं व्यधादसौ। अर्द्धचन्द्रजटाजूटमारूढ वृषभस्य च ॥४१॥ गौरीरूपसमासक्त. तद्दृष्ट्वा भक्तितत्परः। आगतास्तत्र सर्वे च

प्रातिहार्य आदि सब गुण बना लिये, सभाके मध्यभागमें सिंहासनपर विराजमान हो गया, अनेक देव विद्याधरोंको नमस्कार करते हुए दिखला दिया और सब तरहसे धर्मको प्रगट करनेवाले तीर्थंकरका रूप बना लिया ॥ ४३–४४ ॥ अनेक श्रावक अनेक मुनि भक्ति करनेके लिये आये, रानी रेवतीसे भी अनेक लोगोंने प्रेरणा की परन्तु वह वहां भी नहीं गई ॥४५॥ उस बुद्धिमती रानीने सबसे कह दिया कि वासुदेव नौ होते हैं, महादेव ग्यारह होते हैं और तीर्थंकर चौवीस होते हैं ऐसा जैन शास्त्रोंमें वर्णन किया है और वे सब हो चुके फिर अब वासुदेव, महादेव वा तीर्थंकर कहांसे आये। यह तो लोगोंको भ्रम जालमें फंसानेके लिये कोई देव अपनी मायासे रूप धारण कर आया है ॥ ४६–४७ ॥ इसके दूसरे दिन उस क्षुल्लकने अपना रूप क्षुल्लकका ही रक्खा परन्तु उसे अनेक व्याधियोंसे पीडित बनाया और चर्याके समय रेवती रानीके राजमहलकी देहलीके निकट आकर अपनी विद्यासे ही वेहोशमा होकर गिर गया। रेवती रानी सुनते ही बाहर आई और धर्मकी भावनासे भक्तिपूर्वक उसे उठाकर अपने भवनमें ले गई ॥ ४८–५० ॥ रानीने उसके लिये पथ्य और शुद्ध आहार खिलाया और उचित जल ग्रहण कराया परन्तु उसने ग्रहण करनेके बाद सब दुर्गन्धमय वमन कर दिया ॥ ५० ॥ रानीने उस सब उच्छिष्टको स्वयं धोया और अपनी निंदा की कि अवश्य ही मेरेसे आहारमें कोई अपथ्य वा अयोग्य वस्तु दी गई है ॥५१॥ रेवतीके अपने निंदात्मक वचन सुनकर उसने अपना बनाया हुआ रूप छोडकर अपना असली रूप धारण कर लिया। उसने रानीकी बार बार प्रशंसा की और पहिलेका अपना सब हाल कह सुनाया ॥ ५२ ॥ तदनंतर उसने रानीसे अपने

शठा नैव विचक्षणा. ॥४२॥ अतोप्युत्तरदिग्देशे रूप तीर्थंकरस्य च । व्यधाद्द्विषट्गुणोपेत प्रातिहार्यादिभूषितम् ॥४३॥ सिंहासनसमासीन देवविद्याधरादिभि. । नुत धर्माकर दिव्य सभामध्ये परिस्थितम् ॥४४॥ श्रावकास्तत्र भक्त्यर्थमागता मुनयो परे । रेवती बहुभि. लोकै प्रेरितापि न चागता ॥४५॥ नवैव वासुदेवाश्च रुद्रा एकादश स्मृता । चतुर्विंशतिसत्तीर्थंकरा श्री।जिनशासने ॥४६॥ अतीतास्तेप्यहो सर्वे मूढाना भ्रान्तिहेतवे । कश्चिदेष समायातो मायावी ज्ञायते न च ॥ ४७ ॥ अथापरदिने चर्या वेलाया व्याधिपीडितम् । पतितो मूर्च्छया रूप विधाय क्षुल्लकस्य स ॥ ४८ ॥ प्रतोलीनिकटे मार्गे रेवत्या धर्मवाञ्छया । श्रुत्वा त द्रुतमागत्य नीतो भक्त्या स्वमालयम् ॥४९॥ तया पथ्य कृतं तस्य शुभभावनया निजम् । सर्वमादाय दुर्गंधं वमन तदधादसौ ॥५०॥ अपनीय तदुच्छिष्टं तं प्रक्षाल्य करोति सा । निंदा स्वस्य मया दत्त आहारोय विरूपक. ॥५१॥ रेवत्या वचन श्रुत्वा त्यक्त्वा रूपादिविक्रियाम् । तोषात्प्रशस्य वृतान्त पूर्वं च कथित

गुरुदेवकी कही हुई धर्मवृद्धि कही, उसके अमूढदृष्टि अंगकी प्रशंसा की और फिर अपने स्थानको चला गया ॥५३॥ इसके
बाद राजा वरुणने कितने ही दिन तक राज्य किया और फिर अपने पुत्र शिवकीर्तिको राज्य देकर कर्मोको नाश करनेके
लिये दीक्षा धारण कर ली ॥५४॥ उसने बहुत दिन तक सुख देनेवाला तपश्चरण किया और अंतमें समाधिपूर्वक शरीरका
त्यागकर माहेंद्र स्वर्गमें बड़ी ऋद्धिका धारक देव हुआ ॥५५॥ रानी रेवतीने भी दीक्षा धारण कर ली और भयको भी भय
देनेवाला घोर तपश्चरण कर, स्त्रीलिंग छेदकर ब्रह्मस्वर्गमें उत्तम देव हुई ॥५६॥ वहांपर उसकी दस सागरकी आयु थी।
दस सागर तक अनेक सुखोंका अनुभव कर वह रेवती रानीका जीव अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करेगा ॥५७॥ इस अमूढदृष्टी
अंगमें और भी बहुतसे लोग प्रसिद्ध हुए हैं परन्तु उन सबकी कथाएं कौन कह सकता है। उन सबकी कथाएं जैन शास्त्रोंसे
जान लेनी चाहिये ॥५८॥ जो विद्वान् विचार करनेमें चतुर हैं उन्हें देव, धर्म, गुरु तथा दान पूजा शास्त्र आदिमें होनेवाली
मूढता अवश्य छोड़ देनी चाहिये ॥५९॥ यह अमूढदृष्टी अंग इस संसारमें स्वर्ग मोक्षके सुखको देनेवाला है इसलिये सम्य-
ग्दर्शन गुणको प्राप्त करनेके लिये मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक इस अमूढदृष्टी अंगको अवश्य पालन करना चाहिये
॥६०॥ जिसने सम्यग्दर्शनके निर्मल गुणोंकी विभूतिसे मूढता आदि सब दोषोंको छोड़ दिया था, भगवान जिनेंद्र देवकी

स्वयम् ॥५२॥ धर्मवृद्धिर्गुरोस्तस्याः प्रतिपाद्य प्रकाश्य च। अमूढत्वगुण लोके गत स्थानं पुनर्निजम् ॥५३॥ सद्राज्यं वरणो राजा दत्वा
दीक्षां समाददौ। स्वशिवकीर्तिपुत्राय कर्मनिर्नाशहेतवे ॥५४॥ कृत्वा तपः सुखाधारं त्यक्त्वा देहं समाधिना। स्वर्गे माहेन्द्रसञ्ज्ञे स देवो
जातो महर्द्धिकः ॥५५॥ रेवती तप आदाय दुष्कर भवभीतिदम्। हत्वा स्त्रीलिंगमेवाभूद् ब्रह्मस्वर्गेऽमरो वरः ॥५६॥ दशसागरपर्यन्तमा-
यु भुक्त्वा सुख क्रमात्। हत्वा कर्माणि निर्वाण गमिष्यति न चान्यथा ॥५७॥ अन्ये च बहवः सन्ति प्रामूढत्वगुणाश्रिता। कस्ता च
गदितुं शक्यो ज्ञातव्यास्ते जिनागमे ॥५८॥ मूढत्व विबुधैस्त्याज्यं गुरुधर्मामरादिषु। दानपूजादिशास्त्रेषु विचारचतुरैः सदा ॥५९॥ अमू-
ढत्वगुणं लोके स्वर्गमुक्तिसुखाकरम्। भज त्व हि विशुद्धात्र दर्शनं च गुणाप्तये ॥६०॥ अमलगुणविभूषा त्यक्तमूढादिदोषा, जिनचरण-
विभक्ता संश्रिता श्रीसुधर्मे। जिनवचनवियुक्ता रेवती संयमाढ्या, सकलसुखनिधाने ब्रह्मस्वर्गेऽमरोऽभूत् ॥६१॥

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे निर्विचिकित्सामूढत्वगुणव्यावर्णनो
उद्दायननृप रवेतीराज्ञीकथा प्ररूपणोनाम सप्तमः परिच्छेदः।

भक्तिपूर्वक जिसने श्रेष्ठ धर्मका पालन किया था, जो जिन वचनोंमें तल्लीन रही थी और जिसने दृढतापूर्वक संयम पालन किया था ऐसी रेवती रानी समस्त सुखोंकी निधि ऐसे ब्रह्म स्वर्गमें जाकर देव हुई थी ॥ ६१ ॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें निर्विचिकित्सा और अमूढदृष्टी अंगमें प्रसिद्ध होनेवाले राजा उद्दायन और रेवती रानीकी कथाको निरूपण करनेवाला यह सातवां परिच्छेद समाप्त हुआ।



अथ आठवां परिच्छेद।

जिनकी कांति चन्द्रमाके समान है, जिनके चन्द्रमाका ही चिह्न है और जो भव्य जीवोंको सदा आनन्द देनेवाले हैं ऐसे श्री चन्द्रप्रभ भगवानको मैं उनके गुणोंको प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ सम्यग्दर्शनके पांचवें उपगूहन अंगमें जिनेन्द्रभक्त प्रसिद्ध हुआ है इसलिये अब मैं उस सेठकी कथा कहता हूं ॥ २ ॥ सौराष्ट्र (सोरठ) देशके पाटलीपुर नगरमें पुण्य कर्मके उदयसे राजा यशोधर राज्य करता था। उसकी रानीका नाम सुसीमा था। उन दोनोंके एक सुवीर नामका पुत्र हुआ था जो कि पाप कर्मके उदयसे सातों व्यसनोंके सेवन करनेमें चतुर था। उसने अपने समान ही बहुतसे सेवक रख लिये थे और इस प्रकार वह कुमार्गगामी बन गया था ॥ ३–४ ॥ सोरठ देशकी पूर्व दिशामें गौड नामके देशकी तामलिप्त नामकी नगरीमें एक जिनेन्द्रभक्त नामका धनी सेठ रहता था ॥ ५ ॥ उस सेठका भवन सात मंजिलका था और वह सेठ बहुत ही बड़ा ऐश्वर्यशाली था। उसके उस भवनमें एक चैत्यालय था जिसमें श्री पार्श्वनाथ भगवानकी प्रतिबिम्ब विराजमान थी। सेठने उसकी रक्षाका बहुत ही अच्छा प्रबन्ध कर रक्खा था ॥ ६ ॥ उस प्रतिमापर तीन छत्र लगे हुए थे

अथ अष्टमः सर्गः।

चन्द्रप्रभमहं वन्दे चन्द्राभं चन्द्रलाञ्छनम्। जनानन्दकरं देवं तद्गुणग्रामहेतवे ॥१॥ ख्यातो योऽभूदिहैव प्रोपगूहनगुणे शुभे। जिनेन्द्रभक्तस्तस्याहं कथां वक्ष्ये हि श्रेष्ठिनः ॥२॥ सौराष्ट्रविषये पाटलिपुत्रे हि स्वपुण्यतः। राजा यशोधरो जातः सुसीमा तस्य वल्लभा ॥३॥ तयोः पुत्रः सुवीराख्यः सप्तव्यसनपीडितः। जातस्तथाविधैर्भृत्यैर्वेष्टितोऽतिकुमार्गगः ॥४॥ पूर्वदेशे हि गौडाख्यविषये श्रेष्ठिनन्दनः। तामलिप्तनगर्यां च जिनदत्तो वसन् धनी ॥५॥ तस्य सप्ततलप्रासादोपर्यस्ति महाशुभा। प्रतिमा पार्श्वनाथस्य बहुरक्षासमन्विता ॥६॥ तस्या

और उन छत्रोंमें एक अत्यन्त वहुमूल्य वैडूर्यमणि लगा हुआ था। उस वैडूर्यमणिकी वात परम्परासे ऊपर लिखे राजपुत्र सुवीरने भी सुन ली ॥ ७ ॥ उस मणिकी वात सुनकर उसे लोभने दवाया और लोभके वश होकर उसने अपने सेवकोसे पूछा कि तुममेंसे कोई सेवक अपना छल कपट रचकर क्या उस मणिको ला सकता है ? ॥ ८ ॥ उन सेवकोंमें एक सूर्य नामका चोर था। वह गर्जकर वोला कि यह कौनसी वड़ी वात है। मैं इंद्रके मुकुटमें लगी हुई मणिको भी ला सकता हूं ॥९॥ यह कहकर वह उस मणिको लेनेके लिये चल दिया। उसने कपट कर अपना क्षुल्लकका रूप वना लिया और नगर गांवोंमें लोगोंको क्षोभ प्रगट करता हुआ और प्रतिदिन चलता हुआ शीघ्र ही तामलिप्त नगरीमें आ पहुंचा। वुद्धिमान जिनेंद्रभक्त क्षुल्लकके आनेकी वात सुनते ही उसके समीप आया। सेठने उसे नमस्कार किया, उसके साथ वातचीत की, उसे सव तरहसे संतुष्ट किया और अपने घर लाकर श्री पार्श्वनाथकी प्रतिमाके दर्शन कराये ॥१०—१२॥ सेठने उससे चैत्यालयमें रहनेकी प्रार्थना की परन्तु उसने कपटपूर्वक अपनी अनिच्छा प्रगट की। तथापि उस सेठने धर्मकी वृद्धि होनेके लिये उस मणिकी रक्षार्थ उस दुष्ट क्षुल्लकको वहां ठहरा लिया ॥१३॥

किसी एक दिन सेठने समुद्रयात्रा करनेका विचार किया और उस क्षुल्लकसे आज्ञा लेकर घरसे निकलकर नगरके वाहर डेरा दिये॥१४॥ उस रातको सेठके अन्य कुटंवी लोग भी अपना अपना सामान संभालनेमें लगे हुए थे। ऐसे समयको देखकर वह चोर क्षुल्लक भी आधी रातके समय उस मणिको लेकर चलता वना ॥ १५ ॥ वह मणिको लेकर जा रहा था परन्तु उस मणिके प्रकाशसे कोटवालको दिखाई पड़ ही गया, इसलिये वह भयंकर कोटवाल पकड़नेके लिये उसके पीछे

छत्रत्रये लग्ना वैडूर्यमणिरेव च। अत्यनर्घ्या सुवीरेण पारपर्येण सश्रुत ॥ ७ ॥ पुनर्लोभातिशक्तेन तेन पृष्टा सुसेवका। आनेतु कोपि शक्तोपि ता मणिं स्वप्रपचत ॥८॥ तस्कर सूर्यनामापि जल्पदत्यतगर्जितम्। हत्वाहमिंद्रशेखरमणिमप्यानयाम्यहम् ॥ ९ ॥ तस्मान्निर्गत्य संजात क्षुल्लक कपटेन स। कुर्वन् क्षोभ पुरे ग्रामे कायक्लेशेन प्रत्यहम् ॥१०॥ तामलिप्तनगरीं स क्रमाच्छीघ्र समागत। जिनेन्द्रभक्त संश्रुत्वा तूर्णं तत्रागत सुधीः ॥ ११ ॥ वदित्वा त स सभाष्य प्रशस्य वचनेन च। गृहमानीय श्रीविंव पार्श्वनाथस्य दर्शितम् ॥१२॥ अनिच्छन्नपि तत्पार्श्वे स्थापितो मायया खल। मणिरक्षार्थमेवासौ श्रेष्ठिना धर्मसिद्धये ॥१३॥ एकदा क्षुल्लक पृष्ट्वा श्रेष्ठी निर्गत्य संस्थित। पुराद्बहि समुद्रादियात्राया गमनोद्यतः ॥१४॥ सोपि गृहजन व्यग्र नेतु वस्त्वादिक स्वयम्। परिज्ञायार्द्धरात्रौ ता मणिमादाय निर्गत ॥१५॥

दौड़ा ॥ १६ ॥ वह क्षुल्लक और अधिक दौड़ न सका उसने देखा कि मैं अब किसी तरह बच नहीं सकता तब वह दुष्ट उसी सेठके शरणमें पहुंचा और कहने लगा कि इस समय मेरी रक्षा कीजिये ॥ १७ ॥ उधर सेठने पहरेदारोंका चोरके भागनेका कोलाहल भी सुन रक्खा था इसलिये उसने उसे चोर तो समझ लिया परन्तु एक क्षुल्लक वेपधारीको चोर कहनेमें जैनधर्मकी हंसी होगी यह समझकर उसने उस विपयको दवाना ही उचित समझा ॥ १८ ॥ सेठने आये हुए कोतवाल और अन्य लोगोंसे यही कहा कि यह तो मेरी आज्ञासे ही इस रत्नको लाया है। आप लोगोंने यह बहुत बुरा किया जो एक क्षुल्लकके लिये चोरकी घोपणा की ॥ १९ ॥ सेठकी यह बात सुनकर वे सब लोग उसे नमस्कार कर चले गये। उनके चले जानेके बाद धर्ममें सदा तत्पर रहनेवाले सेठने उस दुष्टको शीघ्र ही अपने यहांसे निकाल दिया ॥ २० ॥ बुद्धिमान् सम्यग्दर्शनसे सुशोभित व्रत और ज्ञानादि गुणोंसे विभूपित और विचार करनेमें अत्यन्त चतुर वह सेठ आगे स्वर्ग मोक्षके सुखोंको प्राप्त होगा ॥ २१ ॥ इसलिये सम्यग्दृष्टी पुरुपोंको चाहिये कि वे बालक, अज्ञानी अथवा असमर्थ लोगोंके आश्रयसे होनेवाले धर्मके दोपोंको सदा ढकते रहें॥२२॥ जो विद्वान् अपनी निंदा करते हैं और दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करते है वे मनुष्य संसारमें धन्य हैं। वे अवश्य ही स्वर्गके सुखोंको भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥२३॥ जो मनुष्य अपने मुंहसे दोपोंको कभी नहीं कहते और दूसरोके श्रेष्ठ गुणोंको सदा प्रगट करते रहते हैं वे इंद्रादिकके सुख भोगकर अंतमें मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ॥ २४ ॥ जो मूर्ख अपने गुणोंको अपनेआप कहते फिरते हैं और अपने दोपोंको

गच्छंत तस्कर तस्मादालोक्य मणितेजसा। आरब्धो धर्तुमेवासौ कोट्टपालैर्भयकरै ॥१६॥ पलायितु क्षमो नेव श्रेष्ठिनः शरण पुनः। प्रविष्टो रक्ष रक्षेति मम दुष्टो वदन्नसौ ॥ १७ ॥ कोलाहल समाकर्ण्य तेपा विज्ञाय तस्करम्। त शासनोपहासस्यालोच्य प्रच्छादनाय सः ॥१८॥ ब्रूते मद्वचनेनैव नीत रत्नमनेन भोः!। कृतं भवद्भिश्चानिष्ट न चौरो घोषणा कृता ॥१९॥ ततस्ते त नमस्कृत्य गताः सर्वे स श्रेष्ठिना निर्घाटितोऽतिवेगेन धर्मतत्परचेतसा ॥२०॥ सद्दृष्ट्यालकृतः श्रेष्ठी व्रतज्ञानगुणान्वित। विचारचतुरो धीमान् स्वर्गमुक्त्यादिक व्रजेत् ॥२१॥ एव सद्दृष्टिना बालाज्ञानाशक्तजनाश्रयात्। आगतस्यापि दोपस्य कर्तव्य छादनं वृपे ॥२२॥ स्वस्य निन्दां प्रकुर्वन्ति स्तुवन्ति परगुणान् ये। धन्यास्ते यान्ति स्वर्लोक क्रमान्मुक्त्यालय बुधाः ॥ २३ ॥ परदोपान् व्यपोहन्ति प्रकटीकृत्य सद्गुणान्। सौख्य शक्रादिज ये ते भुक्त्वा यान्ति शिवास्पदम् ॥२४॥ ये वदन्ति स्वयं स्वस्य गुणान् दोषान् पुनर्न च। गर्दभादिकुयोनिं ते श्वभ्र वा यान्ति दुर्धियः ॥२५॥

भोगते हैं ॥२५॥ जो मनुष्य
कभी प्रगट नहीं करते वे गधे आदिकी कुयोनियोंमें जन्म लेते है अथवा नरकमें जाकर दुःख भोगते हैं ॥२५॥ जो मनुष्य
दूसरोंकी निंदा करते रहते हैं और दूसरोंके गुणोंको ढंकते रहते है वे दुष्ट सवसे अधिक पापी है। उन मूर्खोको नरकमें ही
स्थान मिलता है ॥२६॥ वह श्री जिनेंद्रभक्त सेठ अनेक निर्मल गुणोंसे सुशोभित था, तीर्थंकर परमदेवका भक्त था, परम
तत्त्वका जानकार था, दान धर्म आदि क्रियाओंमें निपुण था, सम्यग्दर्शनके उत्तम गुण प्रगट करनेमें चतुर था और निंदा
आदि सव दोषोंसे रहित था ॥ २७ ॥

इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके स्थितिकरण गुणमें वारिषेण प्रसिद्ध हुआ है। अव मै सम्यग्दर्शनके गुण वढानेके लिये
उसकी कथा कहता हूं ॥२८॥ मगधदेशके राजगृह नगरमें राजा श्रेणिक राज्य करता था। उसकी पट्टरानीका नाम चेलना था
॥२९॥ उन दोनोंके वारिषेण नामका पुत्र था जो कि सम्यग्दृष्टी था, श्रावकोके सव व्रतोंको पालन करता था, धीरवीर था,
जिनेंद्रदेवका भक्त था और उदार हृदय था ॥ ३० ॥ किसी एक दिन चतुर्दशी पर्वके दिन उसने प्रोषधोपवास किया था
इसलिये उस रातको उस वुद्धिमानने स्मशानमें जाकर कायोत्सर्ग धारण कर ध्यान लगाया था ॥३१॥ उसी दिन ढिनके
समय किसी वागमें सेठ श्रीकीर्ति वायु सेवनके लिये आया था। पुण्य कर्मके उदयसे उसके गलेमें एक अत्यन्त मनोहर
हार पड़ा हुआ था। वह हार मुग्धसुंदरी नामकी किसी वेश्याने देखा। उस हारको देखकर वह विचार करने लगी कि
इस हारके विना जीना व्यर्थ है। यही सोचती विचारती वह घरको चली गई और शोक करती हुई शय्यापर जा लोटी
॥३२-३३-३४॥ विद्युच्चर नामका एक चोर उस वेश्यापर आसक्त था। वह रातको उसके घर आया और उस वेश्याको रातमें

परनिंदा प्रकुर्वन्ति गुणान् प्रच्छादयन्ति ये। ते मूढा श्वभ्रगा ज्ञेया भूरिपापावृता खला ॥ २६ ॥ विमलगुणगरिष्टस्तीर्थनाथस्य भक्तो,
विदितपरमतत्त्वो धर्मदानादियुक्त.। प्रकटितगुणसारो दर्शनस्यैव वद्याद्रहितसकलदोषोऽत्रैव जैनेन्द्रभक्त ॥२७॥ वारिषेणोऽतिविख्यातो य
स्थितिकरणे गुणे। प्रवक्ष्यामि कथां तस्य तद्गुणग्रामसिद्धये ॥२८॥ मगधाख्ये शुभे देशे पुरे राजगृहेऽभवत्। श्रेणिको भूपतिस्तस्य राज्ञी
स्याच्चेलिनी शुभा ॥२९॥ वारिषेणस्तयोर्जात. सुत सद्दर्शनान्वित.। श्रावकाचारसम्पन्नो धीरो जैनो महाशयः ॥३०॥ एकदा स चतु-
र्दश्यां कृत्वा सत्प्रोषध सुधीः। कायोत्सर्गं समादाय श्मशाने सस्थितो निशि ॥३१॥ तस्मिन्नेवाह्नि प्रोद्याने विलासिन्या विलोकित।
गतया मुग्धसुन्दर्या वै हारोति मनोहरः ॥३२॥ स्थित श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या हृदि पुण्यफलेन सा। चिंतयामास किं मेऽहो जीवितव्येन साप्र-

भी उस प्रकार शोकाकुलित देखकर पूछने लगा कि हे प्रिये ! तू आज किस चिंतामें डूब रही है ॥ ३५ ॥ इसके उत्तरमें उस वेश्याने कहा कि हे स्वामिन् ! यदि आप सेठ श्रीकीर्तिके गलेमें पड़ा हुआ दिव्य हार लाकर मुझे दें तो मैं आपको अपना स्वामी बनाऊंगी अन्यथा नहीं ॥ ३६ ॥ यह सुनकर विद्युच्चरने उसे धीरज बंधाया और आधी रातके समय सेठ श्रीकीर्तिके घर जाकर और उस हारको लेकर कुशलपूर्वक बाहर निकल आया ॥ ३७ ॥ परन्तु उस हारका प्रकाश छिप न सका इसलिये कोतवालने और पहरेदारोंने उसे चोर समझकर पकड़ना चाहा। आगे वह चोर दौड़ता जाता था और पीछे पीछे पहरेदार। वह चोर उसी स्मशानकी ओर दौड़ा और अंतमें पकड़ जानेके डरसे उस हारको ध्यानमें लीन हुए वारिषेण कुमारके आगे पटककर छिप गया ॥३८–३९॥ कोटवालने वारिषेणको हारके पास इस प्रकार खड़े देखकर महाराज श्रेणिकसे जाकर कहा कि हे महाराज ! कुमार वारिषेण हार चुराकर इस प्रकार स्मशानमें ध्यान लगाकर जा खडा हुआ है ॥ ४० ॥ कोतवालकी यह बात सुनकर महाराज श्रेणिकको अपने पुत्रपर बहुत ही क्रोध आया और उसने उसका मस्तक काट डालनेकी आज्ञा दे दी ॥ ४१ ॥ आज्ञा होते ही चांडालने जाकर उसके गलेपर तलवार चलाई परन्तु उस व्रतके माहात्म्यसे वह तलवार भी पुष्पमाला होकर उसके गलेमें जा पड़ी ॥ ४२ ॥ पुत्रका यह अतिशय सुनकर राजा श्रेणिक भी अपनी निंदा करता हुआ आया और उस कुमारसे क्षमा मांगी ॥ ४३ ॥ विद्युच्चर भी यह सब लीला देख रहा था वह तुरन्त ही आ उपस्थित हुआ और अभयदान मांगकर राजा श्रेणिकसे हार चुरानेकी तथा वारिषेणके आगे डालनेकी

तम् ॥३३॥ हारेणापि विना लोके चेति चिंताकुलापि सा। गेहं गत्वा स्थिता शोकात्पतित्वा शयनोदरे ॥३४॥ तदासक्तेन विद्युच्चौरेणागत्य प्ररूपितम्। रात्रावेव स्थिता किं हे प्रिये चिंतातुरासि वै ॥३५॥ तयोक्तं यदि मे नाथ ददासि दिव्यभूषणम्। हारं श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या भर्त्ता त्वं चात्र नान्यथा ॥३६॥ तच्छ्रुत्वा तां समुद्धीर्य तस्या गेहं प्रविश्य तम्। चौरयित्वार्द्धरात्रौ स कौशलेन विनिर्गतः ॥३७॥ हारोद्योतेन तं चौरं ज्ञात्वा सोपि च तस्करः। ध्रियमाणो बलाद्गेहरक्षकैः कोटपालकैः ॥ ३८ ॥ तेभ्यः पलायितुं सोऽसमर्थो हारं स्थितस्य वै। वारिषेणकुमारस्याग्रे धृत्वाद्दृश्यतामगात् ॥ ३९ ॥ कोटपालैस्तथा तं च दृष्ट्वागत्य प्ररूपितम्। श्रेणिकस्य महाचौरो वारिषेण. स्थितोधुना ॥ ४० ॥ तेनोक्तं दृष्टिवैकल्यात्स्थितस्य तस्य मस्तकम्। गृहीत्वा त्यक्तदेहस्य ग्रय सत्कृतमायया ॥ ४१ ॥ क्षिप्तोसिस्तेन तत्कंठे मातंगेन स चाजनि। सत्पुष्पदामरूपेण व्रतमाहात्म्ययोगतः ॥ ४२ ॥ तं श्रुत्वातिशयं जातं देवात्तं निंदां विधाय सः। श्रेणिकेन समागत्य

अपनी सब कथा कह सुनाई ॥ ४४ ॥ तदनंतर महाराज श्रेणिकने कुमार वारिषेणसे घर चलनेके लिये कहा परन्तु वारिषेणने उत्तर दिया कि अब तो मैने जिनदीक्षा लेकर पाणिपात्र भोजन करनेकी प्रतिज्ञा ले ली है ॥ ४५ ॥ इस प्रकार अपने पिताकी आज्ञा लेकर वह कुमार वारिषेण सूर्यदेव मुनिराजके समीप गया और उन्हें नमस्कार कर उस बुद्धिमानने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली ॥ ४६ ॥

किसी एक दिन तपश्चरण और व्रतोंसे सुशोभित वे वारिषेण मुनि आहारके लिये राजगृहके समीपवर्ती पलासकूट गांवमें पधारे ॥ ४७ ॥ वहांपर महाराज श्रेणिकका महामंत्री अग्निभूत रहता था और उसके पुत्रका नाम पुष्पडाल था। उस पुष्पडालने उन मुनिराजको देखकर शीघ्र ही उनका पड़गाहन किया ॥ ४८ ॥ उसने मुनिराजको आहार दिया और फिर अपनी सोमिला ब्राह्मणीसे पूछकर उसकी आज्ञानुसार कुछ दूर तक उन मुनिराजके साथ गया ॥ ४९ ॥ कुछ दूर जाकर उसे लौटनेकी पड़ी। अपने लौट जानेकी आज्ञा मागनेके लिये कभी कोई क्षीरवृक्ष दिखाकर स्मरण कराया और कभी उन्हें वंदना कर स्मरण कराया परन्तु वे मुनिराज कुछ न बोले, चले ही गये। लाचार होकर पुष्पडालको भी जाना पड़ा। अपने स्थानपर जाकर मुनिराजने सद्धर्म ग्रहण करनेके लिये उसे समझाया और कहा कि ॥ ५०–५१ ॥ हे मित्र ! यह गृहस्थका निवास अत्यन्त निंदनीय है, पापका कारण है, अनेक दुःखोंको उत्पन्न करनेवाला है, अनेक चिंताओंसे भरपूर है और धर्मकार्योंमें विघ्न करनेवाला है, इसलिये तू इसे छोड़ और चारित्र धारण कर। यह चारित्र ही स्वर्ग मोक्षको वश करनेवाला है, सुखकी खानि है, महापापोंको नाश करनेवाला है और दुखोंको दूर करनेवाला है ॥५२–५३॥

क्षमा स्वकारितोप्यसौ ॥ ४३ ॥ याचयित्वाभयं दान विद्युच्चौरेण तत्क्षणम् । प्रकटीकृत्य स्व राज्ञो वृत्तात कथितं निजम् ॥ ४४ ॥
वारिषेणो गृह नेतुं प्रारब्ध. सोवदत्सुधी. । पाणिपात्रेपि भोक्तव्यं गृहीतो नियमो मया ॥४५॥ राजा देश समादाय गत्वा श्रीगुरुसन्निधौ ।
सूर्यदेवमुनिं नत्वा दीक्षां जग्राह शुद्धधी' ॥ ४६ ॥ राजगृहसमीपे पलाशकूट स वेकदा । ग्राम प्रविष्टश्चर्यायै सुतीव्रतपसान्वित ॥४७॥
श्रेणिकस्य महामत्री योऽग्निभूतसमाह्वयः । तत्पुत्रपुष्पडालेन दृष्ट्वा सस्थापितो मुनिः ॥४८॥ दान दत्त्वा मुनीन्द्राय सोमिल्लां ब्राह्मणीं पुन ।
दृष्ट्वानुव्रजन कर्तुं निर्गतो मुनिना सह ॥४९॥ स्वस्य व्याघुटनार्थं स क्षीरवृक्षादिक मुहुः । दर्शयन् वदना कुर्वन् मुहुस्तस्मै मुनीशिने ॥५०॥
मुनिना हस्तमादाय नीत स वालमित्रत' । कुर्वता बोधन तस्य परं सद्धर्महेतवे ॥ ५१ ॥ गृहवासं महानिंद्य पापबीज कुदु:खदम् ।

मुनिराजका उपदेश सुनकर पुष्पडालको कुछ लज्जा आई, लज्जासे कुछ अभिमान आया और कुछ वैराग्य प्रगट हुआ इसलिये उसने संयम धारण कर लिया परन्तु वह सोमिला ब्राह्मणीको अपने हृदयसे कभी नहीं भूलता था ॥ ९४ ॥ तदनन्तर वे दोनों मुनिराज तीर्थयात्राको निकले। बारह वर्ष तक तीर्थयात्रा की और फिर श्री वर्द्धमानस्वामीके समवशरणमें आए ॥ ९५ ॥ वहां आकर उन दोनोंने अपने दोनों हाथ जोड़कर तीर्थंकर परमदेवको नमस्कार किया और हृदयमें धर्मकी आराधना करते हुए अपने कोठेमें जा बैठे ॥ ९६ ॥ वहांपर कुछ देव पृथ्वीके विषयमें कुछ रसीले गीत गा रहे थे और उनमेंसे एक गीत यह था " कि हे राजन् ! फटे और मैले वस्त्र पहिने तथा अपने हृदयमे जलती हुई पवित्र पृथ्वी तूने छोड़ दी है इसलिये अब वह किस प्रकार जीवेगी " देवोंका यह गीत पुष्पडालने भी सुना और उसने ज्योंका सों अपनी सोमिला ब्राह्मणीपर घटा लिया। बस फिर क्या था वह बुद्धिहीन मुनि मोहमें फंस गया और हृदयमें राग भाव उत्पन्न हो जानेके कारण वहांसे घरके लिये चल पड़ा ॥९७-९८-९९॥ उसकी यह लीला सम्यग्दृष्टि मुनिराज वारिषेणने भी जान ली और उसको अपने धर्ममें स्थिर करनेके लिये वे उसे अपने राजभवनमें ले गये ॥ ६० ॥ रानी चेलनाने उन दोनों मुनिराजोंको आते हुए देखकर विचार किया कि वारिषेण क्यों आया ? क्या वह चारित्रसे चलायमान तो नहीं हो गया ? ऐसी शंका उसके हृदयमें उत्पन्न हुई ॥ ६१ ॥ उस शंकाको दूर करनेके लिये और अपने पुत्रकी परीक्षा करनेके लिये उसने उन मुनियोके लिये दो प्रकारके आसन डलवाए। एक स्थानपर सुवर्ण चांदीके रागरूप और दूसरे स्थानपर वीतराग काठके ॥ ६२ ॥ वे मुनिराज वीतराग आसनपर विराजमान हो गये और फिर उन्होंने अपनी मातासे कहा कि-हे माता !

चिंतादिशतसम्पूर्णं धर्मविघ्नकरं त्यज ॥९२॥ मित्र गृहाण चारित्रं स्वर्गमुक्तिवशीकरम् । सुखाकरं महापापस्फोटकं दु:खदूरगम् ॥ ९३ ॥ लज्जाप्तमानवैराग्याद् गृहीत्वा संयमं परम् । सोमिल्ला स्वचित्तस्थां नैव स विस्मरेत् सदा ॥ ९४ ॥ तौ मुनी द्वादशाब्दैश्च कृत्वा सत्तीर्थवन्दनाम् । वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य प्रागतौ सत्सभां शुभात् ॥ ९५ ॥ नमस्कृत्य जिनाधीशमुपविष्टौ निजे गणे । स्वहस्तौ कुड्मलीकृत्य सद्धर्मान्वितचेतसौ ॥ ९६ पृथिव्यादिसमुद्भूतं गीयमानं सुरैर्वरम् । गीतं सर्वरसाढ्यं हि पुष्पडालेन संश्रुतम् ॥ ९७ ॥ कुवस्त्रमललिप्तांगा दह्यमाना हृदि त्वया । त्यक्ता शुभा कथं पृथ्वी जीविष्यति महीधरः ॥ ९८ ॥ एतत्स्वस्यापि संयोज्य सोमिल्लायाश्च नष्टधी: । निर्गतो रागसंयुक्तो स्वगेहं मोहितो मुनिः ॥ ९९ ॥ स ज्ञात्वा वारिषेणेन स्थितीकरणहेतवे । नीतो राजगृहं तस्मात्सम्यग्दर्शनशालिना ॥ ६० ॥

शीघ्र ही मेरे सामने सब स्त्रियोंको बुला दो ॥६३॥ रानी चेलनाने वस्त्र और आभूषणासे सुशोभित तथा हावभाव विलास आदि गुणोंसे शोभायमान उनकी बत्तीसों सुन्दर स्त्रियां बुलाकर उनके सामने खड़ी कर दीं ॥ ६४ ॥ तब मुनिराज वारिषेणने पुष्पडालसे कहा कि यदि अब भी तेरी लालसा नही मिटी है तो इन स्त्रियोको और मेरे युवराज पदको स्वीकार कर ॥ ६५ ॥ मुनिराजकी यह बात सुनकर (और उनको ऐसी परम विभूतिसे भी विरक्त जानकर) पुष्पडाल हृदयमें बहुत ही लज्जित हुआ। उसे उसी समय परम वैराग्य प्रगट हुआ और वह स्वयम् अपनी निंदा करने लगा ॥ ६६ ॥ वह कहने लगा कि इनको धन्य है जिन्होंने राज्यलक्ष्मी और ऐसी ऐसी सुन्दर स्त्रियां त्याग दी हैं तथा मुझ मूर्खको बारबार धिक्कार है जो त्याग करनेपर भी स्त्रीकी चितामें लगा रहता हूं ॥ ६७ ॥ तदनन्तर पुष्पडालने परम संवेग धारण किया, निरन्तर तीव्र तपश्चरण किया और अन्तमें स्वर्गसुख प्राप्त किया। अनुक्रमसे वह मोक्ष प्राप्त करेगा ॥ ६८ ॥ रत्नत्रयसे विभूपित हुए मुनिराज वारिपेण भी बारह प्रकारका घोर तपश्चरण कर स्वर्गमें महाऋद्धिके धारक देव हुए ॥ ६९ ॥ जो अनुपम गुणोंसे शोभायमान थे, जिन्होने शंका आदि सब दोष दूरकर सम्यग्दर्शनके समस्त उत्तम गुणोंको धारण किया था, जिन्होंने बारह प्रकारका तपश्चरण किया था और जो ज्ञान विज्ञानसे विभूषित थे ऐसे वे मुनिराज वारिपेण हम लोगोंको मोक्ष सुख प्रदान करें ॥ ७० ॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें उपगूहन और स्थितिकरण अगमें प्रसिद्ध होनेवाले जिनेन्द्रभक्त और वारिपेणकी कथाको कहनेवाला यह आठवां परिच्छेद समाप्त हुआ।

चेलिनी तौ मुनी दृष्ट्वा वारिपेण' किमागत' । चारित्राच्चलितोभूत्वा चेति शका चकार सा ॥ ६१ ॥ वीतरागसरागौ द्वौ चासनौ दापितौ तया। स्वपुत्रस्य परीक्षार्थं स्वय सविग्नचेतसा ॥ ६२ ॥ उपविश्य ततः प्रोक्त मुनिना मातर प्रति। ममान्तःपुरमेवात्र प्रानय त्व सुवेगत ॥ ६३ ॥ तया सुदेव्यो द्वात्रिंशद्वस्त्राभरणभूषिताः। हावभावविलासाढ्या आनीता मुनि सन्निधौ ॥ ६४ ॥ भणित वारिषेणेन पुष्पडालं प्रति स्वयम्। इमा स्त्रियो गृहाण त्व यौवराज्य पद च मे ॥ ६५ ॥ तच्छ्रुत्वा पुष्पडालोभूल्लज्जाकुलितमानस'। वैराग्यं परम गत्वा स्वस्य निंदा करोत्यसौ ॥ ६६ ॥ धन्योयं येन सत्यक्ता राज्यश्री सुभगास्त्रियः। धिङ्मां रागान्वित मूढम् त्यक्तभार्यादिचित्तकम् ॥६७॥ पुष्पडालोतिसवेगात्कृत्वा तीव्रतपोनघम्। स्वर्गऋद्ध्यादिक प्राप्य क्रमान्मोक्ष प्रयास्यति ॥६८॥ वारिषेणो मुनीन्द्रः सुरत्नत्रयविभूषितः। कृत्वा

अथ नौवां परिच्छेद ।

जो सब इच्छाओको पूर्ण करनेवाले हैं, कामदेवको नष्ट करनेवाले हैं, कुंदके पुष्पके समान जिनका शरीर है और जो धर्मके स्वामी है ऐसे श्री पुष्पदन्त भगवानको मै अपने प्रारम्भ किये हुए कार्यको प्रसिद्ध करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ मुनिराज श्री विष्णुकुमार सम्यग्दर्शनके वात्सल्य अंगमें प्रसिद्ध हुए हैं इसलिये उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिये मै उनकी कथा कहता हूं ॥ २ ॥ इसी भरतक्षेत्रके मनोहर अवन्ती देशके अन्तर्गत उज्जयिनी नगरीमें अपने पुण्यकर्मके उदयसे श्रीधर्म नामका राजा राज्य करता था ॥ ३ ॥ उसके चार मंत्री थे। वलि, बृहस्पति, प्रल्हाद और नमुचि उनका नाम था। ये चारों ही मंत्री बड़े दुष्ट थे ॥ ४ ॥

किसी एक समय अवधिज्ञानी अकंपनाचार्य अनेक मुनियोके साथ उस उज्जयिनी नगरीके बाहर वनमें आ विराजे ॥ ५ ॥ उनके साथ सातसौ मुनिराज थे, वे सब बुद्धिके पारगामी थे, तपश्चरणसे उनका शरीर कृश हो रहा था और वे अनेक गुणरूपी संपदाओसे विभूपित थे ॥ ६ ॥ गुरुराज अकंपनाचार्यने अपने निमित्त ज्ञानसे जानकर सब संघको आज्ञा दे दी थी कि राजा आदिके आनेपर भी कोई किसीसे कुछ भापण न करे क्योंकि भापण करनेपर संघपर किसी उपद्रवके

तपो द्विषड्भेद स्वर्गऋद्ध्यादिक व्रजेत् ॥६९॥ निरुपमगुणयुक्तस्त्यक्तशकादिदोपो, विसृतगुणगरिष्टो दर्शनस्यैव नित्यम्। कृतसकलतपो यो ज्ञानविज्ञानदक्षो, दिशतु शिवसुख नो वारिषेणो मुनीन्द्र ॥ ७० ॥

इतिश्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे उपगूहनीस्थीतकरणप्ररूपणो जिनेन्द्रभक्त वारिपेण कथा प्ररूपणो नाम अष्टम परिच्छेद ।

अथ नवमः सर्गः ।

पुष्पदन्तमह वन्दे कामद कामघातकम् । प्रारब्धार्थप्रसिद्ध्यर्थं कुन्दाभ धर्मनायकम् ॥१॥ सद्विष्णवादिकुमारो य सद्वात्सल्यगुणे मुनि । विख्यातोह कथा तस्य वक्ष्ये तद्गुणप्राप्तये ॥ २ ॥ अवन्तीविषये रम्ये उज्जयिन्यामभूत्पति । नगर्यामपि श्रीधर्मो पूर्वोपार्जित-पुण्यत ॥ ३ ॥ मन्त्रिणस्तस्य सजाताश्चत्वार प्रथमो वलि । बृहस्पतिश्च प्रह्लादो नमुचो दुष्टमानस ॥ ४ ॥ एकदाकपनो नाम्नाचार्योवधि-सुवीक्षण' । तत्रागत्य स्थितो ज्ञेयो बने सह मुनीश्वरै ॥ ५ ॥ धीरैः सप्तशतैर्दक्षै· सज्ञानाम्बुधिपारगै । तपसा कृशसर्वांगैरनेकैर्गुण सपदा ॥ ६ ॥ गुरुणा वारित सघ· कर्तव्यं नैव जल्पनम् । राजादिके समायाते अन्यथा सघव्यत्यय ॥ ७ ॥ हर्म्योपरिस्थितेनैव राज्ञा पुजाकरा-

होनेकी आशंका है ॥ ७ ॥ मुनिराजको आए हुए जानकर नगरके लोग पूजाकी सामग्री लेकर आए। किसी कारणवश उस समय राजा अपने भवनकी ऊपरी छतपर था। वहांसे उसने सब लोगोंको पूजा की सामग्री लेकर जाते हुए देखा तब उसने मंत्रियोसे पूछा कि आज ये लोग पुण्य उपार्जन करनेके लिये किसकी यात्रा करने जा रहे हैं? मंत्रियोने उत्तर दिया कि हे महाराज! नगरके बाहर उद्यानमें मुनिराज पधारे हैं ॥ ८-९ ॥ उन्हीकी वंदना करनेके लिये ये लोग निरन्तर आ जा रहे हैं। मंत्रियोंकी यह बात सुनकर राजाने भी कहा हम भी उनकी वंदना करनेके लिये चलेंगे। यह कहकर वह राजा उन मंत्रियोको साथ लेकर चल दिया। वहां जाकर उसने सब मुनियोंकी वंदना की परन्तु किसी मुनिने राजाको आशीर्वाद नहीं दिया ॥ १०-११ ॥ यह देखकर राजाने समझा कि शरीरसे ममत्व छोड़े हुए ये निस्पृह और अनेक गुणोंसे विराजमान मुनिराज अपने ध्यानमें लगे हुए हैं यह समझकर वह वापिस लौट गया ॥१२॥ परन्तु उन दुष्ट मंत्रियोंने उनकी हंसी उड़ाई और कहा कि ये कोरे बैल हैं, कुछ जानते नहीं। इन्होंने केवल छलकपट कर मौन धारण कर लिया है ॥१३॥ आगे जाते हुए उन मंत्रियोको एक श्रुतसागर नामके मुनि मिले जो चर्या करके वापिस लौट रहे थे। उन्हें देखकर उन दुष्ट मंत्रियोंने कहा कि एक यह भी तरुण बैल आया। यह भी मूर्ख और ज्ञानादिकसे सर्वथा रहित है और यह अभी अपना पेट भरकर आया है ॥ १४-१५ ॥ यह सुनकर मुनिराजने राजसभाके मध्यमें उन चारो मंत्रियोके साथ शास्त्रार्थ किया और अनेकांतकी युक्तियोंसे उन सबको पराजित किया ॥१६॥ फिर अपने संघमें आकर अपने गुरुराजको नमस्कार किया और

न्वितम् । गच्छत मन्त्रिण· दृष्टा आलोक्य नागर जनम् ॥ ८ ॥ क्वाय लोक प्रयातिस्म यात्राया सत्पुण्यहेतवे । तेरुक्त बहिरुद्याने प्रागता मुनयो ध्रुवम् ॥ ९ ॥ वंदनार्थमय तेषा लोको याति निरन्तरम् । गच्छामो वयमपीति भणित्वा निर्गतो नृप ॥ १० ॥ मन्त्रियुक्तेन भूपेन गत्वा सर्वे प्रवन्दिता । आशीर्वादो न दत्तोस्य केनापि मुनिना पुन ॥ ११ ॥ तिष्ठति निस्पृहाश्चैते त्यक्तदेहा मुनीश्वरा । ध्यानारूढा गुणैर्युक्ता इति मत्वा नृपो गत ॥ १२ ॥ उपहास· कृतश्चैतैर्मन्त्रिभिर्दुष्टमानसै । बलीवर्दा न जानन्ति दम्भमौनेन संस्थिता· ॥ १३ ॥ गच्छद्भिस्तैर्महादुष्टैरग्रे दृष्टो मुनीश्वर । चर्यां कृत्वा समागच्छन् श्रुतसागरसंज्ञक ॥१४॥ उक्त चाय बलीवर्दस्तरुणो याति साम्प्रतम् । पूरयित्वोदर स्वस्य मूर्खो ज्ञानादिभिश्च्युत ॥१५॥ तच्छ्रुत्वा मुनिना तेपि वाद कृत्वा विनिर्जिता· । नीत्वा राजसभामध्ये सत्स्याद्वाद-

१ मुनिराज श्रुतसागर आहारको गये थे और उन्होंने आचार्यकी आज्ञा सुनी नहीं थी इसलिये इन्होंने मन्त्रियोंके साथ बातचीत की थी।

मार्गमें होनेवाले शास्त्रार्थकी सब कथा कह सुनाई। उसे सुनकर आचार्यने कहा कि हे विद्वन्! आपने संघके लिये एक उपद्रव खड़ा कर दिया ॥१७॥ आचार्यकी यह बात सुनकर श्रुतसागरने प्रार्थना की कि हे स्वामिन्! वह मुनियोंका उपद्रव किस प्रकार दूर हो सकता है? आप कृपाकर मुझसे कहिये ॥ १८ ॥ तब आचार्यने कहा कि जहांपर शास्त्रार्थ किया है वहीं जाकर यदि आप आज रहें तो संघका जीवन बच सकता है और आपकी शुद्धि भी हो जायगी ॥ १९ ॥ आचार्यकी यह आज्ञा सुनकर वे धीरवीर मुनिराज वहींपर गये और निर्भय होकर कायोत्सर्ग धारण कर पर्वतके समान निश्चल होकर उस रातको वहींपर विराजमान रहे ॥ २० ॥ शास्त्रार्थमें हार जाने और मान भंग हो जानेके कारण उन चारों दुष्ट मंत्रियोंने क्रोधित होकर सब संघके मारनेका विचार किया। वे इस कामके लिये रातमें निकले परन्तु मार्गमें उन मुनिराजको देखकर परस्पर कहने लगे कि हम लोगोका मानभंग तो इसने किया है इसलिये इसे ही मारना चाहिये, दूसरोंको नहीं। यह कहकर चारों मंत्री एक साथ तलवार उठाकर मारनेके लिये तैयार हुए ॥ २१–२२ ॥ परन्तु जैनधर्मके प्रभावसे और मुनिराजके महात्म्यसे नगरके देवताने वे चारों ही मंत्री उसी प्रकार (मारनेके लिये हाथमें तलवार उठाए) कील दिये ॥ २३ ॥ सवेरा होते ही नगरके सब लोग मुनिराजकी वंदनाके लिये आये। सबने उन ध्यानारूढ मुनिराजको मारनेका उद्यम करनेवाले उन चारों मंत्रियोंकी निंदा की ॥२४॥ राजाने स्वयं जाकर उनको देखा। उसे बड़ा क्रोध आया परन्तु उसने उनके प्राण नही लिये। काला मुंह कर गधेपर सवार कराकर नगरमें फिराया और इस प्रकार महादंड देकर अपने राज्यसे बाहर निकाल दिया ॥ २५ ॥

निरुक्तिभि ॥ १६ ॥ तेनागत्य गुरु नत्वा स्ववार्ता कथिता पुन । गुरुणोक्त त्वया धीमन् सघस्योपद्रव कृत ॥१७॥ तच्छ्रुत्वा त प्रति प्राह सोपि स्वामिन् कथ हि स । विनश्यति मुनीना त्व कृपा कृत्वा निरूपय ॥१८॥ यदि गत्वा त्वमेकाकी वादस्थाने हि तिष्ठति। सघस्य जीवितव्य ते शुद्धिश्चैव भविष्यति ॥१९॥ ततो गत्वाप्यसौ तत्र कायोत्सर्गेण सस्थितः । धीरस्त्यक्तभयो रात्रौ ध्यानारूढोऽचलो यथा ॥२०॥ गच्छद्भिस्तैर्महाक्रुद्धैः सघ मारयितु निशि । मानभगान्मुनिं दृष्ट्वा मार्गे ब्रूत परस्परम् ॥२१॥ मानभग कृतो येन स हन्तव्यो न चापरे। चतुर्भिर्युगपत्खड्गा उद्गीर्णा तद्वधाय तै ॥२२॥ जिनधर्मप्रभावेन मुनिमाहात्म्ययोगत. । पुरदेवतया तत्र कीलितास्ते तथैव च ॥२३॥ प्रभातसमये तेपि दृष्ट्वा लोकैश्च निन्दिताः । ध्यानारूढ मुनिं धीर हतु कृतमहोद्यमा. ॥२४॥ निर्धाटिता हता नैव कोपाद्राज्ञा क्रमा-

कुरुजांगल देशके हस्तिनागपुरमे राजा महापद्म राज्य करता था। उसकी रानीका नाम लक्ष्मीमती था। उन दोनोंके दो पुत्र थे। वड़ेका नाम पद्मकुमार था और छोटेका नाम विष्णुकुमार था। किसी निमित्तको पाकर राजा महापद्मने वड़े पुत्र पद्मकुमारको राज्य देकर छोटे पुत्र विष्णुकुमारके साथ श्रुतसागर मुनिराजके समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली ॥२६–२७॥ दैवयोगसे वे वलि आदि चारों मंत्री मानभंगसे दुःखी होकर, राजा पद्मकुमारके यहां आकर मंत्री होगये ॥२९॥

हस्तिनागपुर राज्यके पास ही एक कुंभपुर नगर था। उसमें सिंहवल नामका राजा राज्य करता था। उसके पास एक सुदृढ किला था और इसीलिये वह हस्तिनागपुर राज्यकी प्रजापर उपद्रव किया करता था ॥ ३० ॥ पद्मकुमार उसे अपने वश नहीं कर सकता था इसीलिये वह चिंता करते करते प्रतिदिन दुर्वल होता जाता था। किसी एक दिन मंत्रियोंने उससे दुर्वलताका कारण पूछा तव राजा पद्मकुमारने सव हाल कह सुनाया। राजाकी वात सुनकर मंत्रियोंने सेनाके साथ उसपर चढ़ाइ करनेकी आज्ञा मांगी। आज्ञा पानेपर सेनाके साथ वे उसपर चढाइ करनेके लिये चल दिये ॥ ३१–३२ ॥ उन्होने अपनी वुद्धिमानीसे किलेको तोड़ दिया और वलिने सिंहवलको पकड़कर राजा पद्मकुमारके सामने उपस्थित किया ॥ ३३ ॥ वलिका यह काम देखकर राजा वहुत प्रसन्न हुआ और वलिसे कहा कि इस समय तुम जो कुछ मागोगे वही दूंगा। इसके उत्तरमें वलिने प्रार्थना की कि महाराज, जव हमें आवश्यक्ता होगी तव मांग लेंगे ॥ ३४ ॥

इधर अकंपनाचार्य आदि धीरवीर सातसौ ही मुनिराज विहार करते हुए हस्तिनागपुर आ पहुंचे ॥ ३५ ॥ उनके

गत.। कारयित्वा महादड गर्दभारोहणादिकम् ॥२५॥ कुरुजागलदेशेऽथ हस्तिनागपुरे पति। महापद्मो भवेदस्य राज्ञी लक्ष्मीमती सती ॥२६॥ तयो पुत्रौ समुत्पन्नौ पद्मविष्णुसमाह्वयौ। प्राप्य किंचिन्निमित्तं स वैराग्य कृतवान् नृप. ॥२७॥ राज्यं दत्वा स पद्माय वभूव विष्णुना सह। श्रुतसागरसूरेश्च समीपे सन्मुनिर्नृप. ॥२८॥ वलिप्रभृतयस्तेपि पद्मराज्यस्य साम्प्रतम्। आगत्य मन्त्रिणो जाता मानभगाकुला खला. ॥२९॥ अथ कुम्भपुरे दुर्गे राजा सिंहवलोऽवसत। उपद्रवमकरोत्तस्य मण्डलस्य मदान्वित ॥३०॥ तद्वृत्ताकर्ण्य सजातचिंतया तैश्चतुर्वलम्। पद्म दृष्ट्वोदित किं हि देव दौर्वल्यकारणम् ॥३१॥ वलै निरूपित राजा तत श्रुत्वा ससाधन। आदेश प्रार्थ्य शीघ्रं च गतस्तत्र वलान्वित ॥३२॥ वुद्धिमाहात्म्यसामर्थ्यात् दुर्गं भक्त्वा प्रगृह्य तम्। व्याघुट्यागत्य पद्मस्य वलिना स समर्पित ॥३३॥ तोषादुक्त स्वय राज्ञाऽभीष्ट-प्रार्थय सद्वरम्। तेनोक्त प्रार्थयिष्यामि यदा कार्यं भविष्यति ॥३४॥ अथ तेऽकपनाचार्यादयो धीरा मुनीश्वरा। सप्तशतगणोपेताः प्रभ्र-

आते ही नगरमें क्षोभ होगया। नगरके सब लोग दर्शन करने जाने लगे। इन सब कारणोमे राग, द्वेष, मद, उन्माद, भय, शोक आदि सब दोषोसे रहित उन मुनिराजका आना बलि मंत्रीने जान लिया। राजा पद्मकुमारको मुनिराजका भक्त जानकर बलि मंत्रीने उसके पास जाकर प्रार्थना की कि हे महाराज! हमें पहिले दिये हुए वरके बदले सात दिनका राज्य दे दीजिये। इस प्रकार उस दुष्टने मुनियोको मारनेके लिये वर मांगा। राजा वचन दे चुका था इसलिये वह लाचार होकर सात दिनके लिये बलिको राज्य देकर अन्तःपुरको चला गया ॥ ३६–३८ ॥ वे मुनिराज किसी पर्वतपर कायोत्सर्गके द्वारा आतापनयोग धारण किये हुए विराजमान थे, उन सबको उस दुष्टने घेर लिया और सब स्थानके ऊपर एक मण्डप बना डाला ॥ ३९ ॥ फिर उस दुष्टने नरक निगोदके दुःख देनेवाला और धर्मको सर्वथा नाश करनेवाला नरमेध यज्ञ (जिसमें मनुष्य मारकर हवन किये जाते हैं) करना प्रारम्भ किया ॥ ४० ॥ उस नीचने मुनियोको मारनेके लिये जीवोंके कलेवरोका तथा हड्डी चमड़ा आदिका बहुतसा धूँआ किया और ऐसे ही ऐसे और भी अनेक उपसर्ग करने प्रारम्भ किये ॥ ४१ ॥ परन्तु जिनका हृदय निश्चल है, शरीर निश्चल है, जिन्होंने शरीरसे ममत्व छोड़ दिया है और जो अत्यन्त धीर-वीर हैं ऐसे वे मुनिराज उभय विकल्पात्मक (यदि इस उपद्रवसे बचेंगे तो अन्नजलादिक ग्रहण करेंगे अन्यथा सबका त्याग है) सन्यास धारण कर लिया ॥ ४२ ॥

इसी समय मिथिला नगरीके बाहर आचार्य सागरचन्द्रने आकाशमें शुभ श्रवण नक्षत्रको कम्पायमान होते देखा। उसी समय उन्होंने अपने अवधिज्ञानको जोड़ा। अवधिज्ञानसे जानते ही उनके मुंहसे निकला कि हा! हा! समस्त परिग्रहके

मन्तत्र चागता ॥३५॥ पुरक्षोभात्परिज्ञाय बलिना तन्मुनीश्वरान्। रागद्वेषमदोन्मादभयशोकादिवर्जितान् ॥३६॥ ज्ञात्वा भूप हि तद्भक्त गत्वा पद्मोभिप्रार्थित। पूर्वं वेर मुनीन्द्राणा वधाय दुष्टचेतसा ॥३७॥ अस्माक देहि भो देव राज्य सप्तदिनान्वितम्। तस्मै दत्वा तु स राजा प्रविश्यान्त पुरे स्थित. ॥३८॥ आतापन गिरौ कायोत्सर्गेणापि स्थितान् मुनीन्। बलिनावेष्टय सवृत्या कृत्वा सन् मडप पुन ॥३९॥ यज्ञ कर्तुं समारब्धो नरमेधसमाह्वय। श्वभ्रतिर्यक्फलोपेतो धर्मध्वसकरोऽपद ॥ ४० ॥ अस्थिचर्मादिजैर्धूम्रैस्तथा जीवकलेवरै। मारणार्थं मुनीन्द्राणामुपसर्गं करोति स ॥४१॥ आदाय मुनयो धीरा सन्यास द्विविकल्पजम्। त्यक्तदेहा स्थिता सर्वे निश्चलागा स्थिराशया ॥४२॥ अथापि मिथिलाख्याया नगर्या निर्गतो वहि। अर्द्धरात्रौ स्वय सागरचन्द्राचार्यसज्ञक ॥४३॥ तेनाकाशे समालोक्य नक्षत्रं श्रवण शुभम्।

त्यागी मुनिराजोंको असन्त कठिन और अत्यन्त भयानक उपसर्ग हो रहा है ॥ ४३—४५ ॥ उनके ये वचन सुनकर पुष्पदन्त नामके क्षुल्लक विद्याधरने पूछा कि हे स्वामिन् ! वह उपसर्ग कहां और किनको हो रहा है ॥४६॥ उत्तरमें आचार्यने कहा कि हे वत्स ! हस्तिनापुर नामके शुभ नगरमे बड़े ज्ञानवान अकंपनाचार्य आदि बहुतसे मुनियोंको उपसर्ग हो रहा है। ॥ ४७ ॥ विद्याधरने पूछा कि हे भगवन् ! शरीरसे ममत्व छोडनेवाले उन मुनिराजोंका यह उपसर्ग आज ही शीघ्रताके साथ किस प्रकार नष्ट हो सकता है ॥ ४८ ॥ इसके उत्तरमें आचार्यने कहा कि धरणिभूषण पर्वतपर विक्रिया ऋद्धिको धारण करनेवाले विष्णुकुमार मुनिराज विराजमान हैं। वे इस उपद्रवको दूर कर सकते हैं ॥४९॥ यह सुनते ही वह विद्याधर स्वयं मुनिराज विष्णुकुमारके समीप गया और नमस्कार कर उसने सब वृतांत कहा ॥ ५० ॥ विद्याधरकी यह बात सुनकर उन्हे आश्चर्य हुआ और मुझे विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हुई है इसकी परीक्षा करनेके लिये उन्होने अपना हाथ फैला दिया ॥५१॥ उनका वह हाथ पर्वतको भेदकर दूर तक चला गया तब उन्हे अपनी विक्रिया ऋद्धिका निश्चय हो गया और फिर वे स्वयं राजा पद्मकुमारके समीप आकर कहने लगे कि तूने यह व्यर्थ ही मुनियोंका उपसर्ग क्यों किया है, . तेरे कुलमें और कोई भी ऐसा दुर्बुद्धि नही हुआ है ! ॥ ५२—५३ ॥ तब पद्मकुमारने कहा कि हे भगवन् ! आज मैं क्या करू ! मै अपने अशुभ कर्मके उदयसे इस पापीको एक बुरा वचन दे चूका हूं—अर्थात् वरमें सात दिनका राज्य दे चुका हूं ॥ ५४ ॥ तब विष्णु-

---

कम्पमान परिज्ञायावधिज्ञानेन तत्क्षणम् ॥४४॥ उक्त हा ! हा ! मुनीन्द्राणामुपसर्गोऽति वर्तते। समस्तसगत्यक्ताना दुष्करो भीरुभीतिद. ॥४५॥ तच्छ्रुत्वा पुष्पदन्ताख्यक्षुल्लकेन प्ररूपितम् । विद्याधरेण भो स्वामिन् क्व स केषा प्रवर्तते ॥४६॥ उक्त तद्गुरुणा वत्स हस्तिनागपुरे शुभे । वर्ततेऽकंपनाचार्यादीना सज्ज्ञानशालिनाम् ॥४७॥ तेनोक्त भगवन् सोद्य कथ शीघ्र विनश्यति । उपसर्गो महांस्तेषा यतीना त्यक्तदेहिनाम् ॥ ४८ ॥ विष्णुकुमारसज्ञश्च गिरौ धरणिभूषणे । सद्विक्रियर्द्धिसम्पन्नो मुनिर्नाशयितु क्षम ॥४९॥ एतदाकर्ण्य तेनैव गत्वा तत्सन्निधौ पुन । कृत्वा तस्मै नमस्कार वृत्तान्त कथित स्वयम् ॥ ५० ॥ तच्छ्रुत्वा विक्रियाऋद्धि किं जाता मम साम्प्रतम् । तत्परीक्षार्थमप्याशु तेन हस्त प्रसारित ॥५१॥ सोपि भित्वा गिरि दूर गतो निश्चित्य ता पुन. । आगत्य पद्मराज्यस्य समीपे भणित स्वयम् ॥ ५२ ॥ मुनीनामुपसर्गो हि किं त्वया कारितो वृथा । भवत्कुले न संजात सदृशस्तव दुर्मते ॥५३॥ तेनोक्त भगवन्नद्य किं करोमि मयाऽशुभात् । पूर्वं दत्तो वरो ह्यस्य पापिष्ठस्य विरूपक ॥ ५४ ॥ ततो विष्णुकुमारेण द्विजरूप विधाय वै । वामनरूपसयुक्त मुनिना बलिसान्निधौ ॥५५॥

कुमारने वामन रूप ब्राह्मणका भेष बनाया और बलिके समीप पहुंचे ॥ ५५ ॥ वहांपर जाकर उन्होंने बड़ी अच्छी दिव्य आवाजसे शुभ प्रार्थना की। तब बलिने कहा कि महाराज आपको क्या दें, आपको जो इच्छा हो वही आप मांग लें ॥५६॥ तब विष्णुकुमारने कहा कि मुझे तीन पेंड पृथ्वी दे दीजिये। तब बलिने कहा कि हे ब्राह्मण! यह क्या मांगा और भी घर आदि बहुतसी चीजें मांगो ॥ ५७ ॥ और अधिक मांगनेके लिये बलिने भी बारबार कहा तथा और भी अनेक लोभी पुरुषोंने भी अधिक मांगनेके लिये कहा परन्तु सन्तोषको धारण करनेवाले विष्णुकुमार अपनी उसी मांगपर डटे रहे ॥५८॥ तब बलिने हाथपर पानीकी धारा छोड़कर विष्णुकुमारके लिये कल्याण करनेवाला तीन पेंड पृथ्वीका दान दे दिया ॥५९॥ मुनिराजने दान लेकर पृथ्वी नापनी प्रारंभ की। उन्होंने विक्रिया ऋद्धिसे अपना शरीर बढ़ाकर एक पैर तो मेरु पर्वतपर रक्खा दूसरा मानुषोत्तर पर्वतपर रक्खा, अब तीसरा पैर रखनेके लिये कहीं स्थान न रहा। उनके इस कृत्यसे समस्त संसारमें क्षोभ होगया और देवोंके विमानोंमें भी क्षोभ हो गया तब लाचार होकर उन्होंने अपना तीसरा पैर बलिकी पीठ पर रक्खा ॥६०–६१॥ तब वे सब मंत्री महाराज पद्मकुमारके भयसे घबड़ाये। वे सब उसी समय मुनिराज विष्णुकुमारके तथा उन सातसौ मुनियोंके शरणमें जा पड़े ॥ ६२ ॥ उन्होंने उन सबको नमस्कार किया और जैनधर्मका ऐसा महात्म्य देखकर वे चारों ही मंत्री अच्छे श्रावक बन गये ॥ ६३ ॥ इस संसारमें विष्णुकुमार मुनिराज बड़े ही धन्य हैं। उनका वात्सल्य अंग बहुत ही प्रशंसनीय है क्योंकि मुनियोंका साक्षात् उपसर्ग उन्होंने स्वयं दूर किया था ॥ ६४ ॥ इनके सिवाय रामचन्द्र आदि और भी बहुतसे महापुरुष इस वात्सल्य गुणको धारण करनेवाले हुए हैं उन सबके जीवनचरित्र श्री जैन

दिव्येन ध्वनिना गत्वा कृत्वा सत्प्रार्थनं शुभम्। किं ते ददामि तेनोक्तं यदिष्टं तच्च प्रार्थय ॥५६॥ तेनोक्तं देहि मे पादत्रयं भूमेरुवाच सः। अन्यद्बहुतरं दानं विप्र गृहिल याचय ॥५७॥ तदेवं याचते सोपि भण्यमानो मुहुर्मुहु। लोभैरनेकधा लोभाविष्टैः संतोषतत्परः ॥ ५८ ॥ ततो हि बलिना दत्तं भूमिपादत्रयं स्वयम्। हस्तोदकादिविधिना दानं तस्मै शुभप्रदम् ॥५९॥ दत्तो नु मुनिना चैकपादो मेरुगिरौ पुनः। द्वितीयो विक्रियायोगान्मानुषोत्तर पर्वते ॥६०॥ पातेन तृतीयेनापि कृत्वा क्षोभं बलाच्च स। खे देव विमानादीना दत्तः पृष्ठे बलेरपि॥६१॥ ततस्ते मन्त्रिणः पद्मभयादागत्य तत्क्षणम्। मुनेर्विष्णुकुमारस्य मुनीनां शरणं गताः ॥६२॥ कृत्वा तेभ्यो नमस्कारं जाता सच्छ्रावका शुभात्। चत्वारो जैनधर्मस्य दृष्ट्वा माहात्म्यमीदृशम् ॥६३॥ धन्यो विष्णुकुमारोय सद्वात्सल्यगुणान्वितः। येन सद्योगिनां साक्षादुपसर्गो निवारित

यह वात्सल्य गुण सदा सुख देनेवाला है और धर्मको
शास्त्रोंसे जान लेना चाहिये ॥ ६५ ॥ हे वत्स ! हे बुद्धिमान ! यह वात्सल्य गुण सदा सुख देनेवाला है और धर्मको वढ़ानेवाला है इसलिये यथायोग्य रीतिसे मुनि और श्रावकोंमें सदा वात्सल्य धारण करना चाहिये ॥६६॥ जो अभिमानी मूर्ख धर्मात्माओंमें प्रेम नही करते हैं वे धर्मरूपी पर्वतसे गिरकर संसाररूपी समुद्रमें डूब जाते हैं ॥ ६७ ॥ जो अभिमानी गुणवान् मुनिको देखकर भी उनमें प्रेम नही करते हैं अपना उत्कृष्ट धर्म छोड़कर नरकमें पड़ते हैं ॥ ६८ ॥ जो संयमी पुरुष केवल धर्म-पालन करनेके लिये मुनियोंमें प्रेम करते हैं वे इन्द्रादिकके पदको पाकर अवश्य ही मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥ ६९ ॥ जिन मुनिराज विष्णुकुमारको अनेक ऋद्धियां प्राप्त हुई थीं, जिन्होंने सम्यग्दर्शनका सातवां उत्तम वात्सल्य अंग धारण किया था, जो संसारके भारको छोड़कर मोक्षसुखके पारगामी हुए थे और जो संसाररूपी महासागरसे पार कर देनेके लिये जहाजके समान है उन्हें मै मोक्ष प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ ७० ॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें वात्सल्य अगमें प्रसिद्ध होनेवाले विष्णुकुमार मुनिराजकी कथाको कहनेवाला यह नौवा परिच्छेद समाप्त हुआ ।

अथ दशवां परिच्छेद ।

जो धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करनेके लिये वादलके समान है और पापरूप संतापको दूर करनेवाले हैं ऐसे श्री

॥६४॥ अन्ये ये वहव सन्ति सद्वात्सल्यविधायका । ते श्रीरामादयो ज्ञेया दक्षे सच्छ्रीजिनागमात् ॥ ६५ ॥ सद्वात्सल्यं प्रकर्तव्य त्वया धीमन् सुखावहम् । यतीना श्रावकाणा च यथायोग्यं सुधर्मदम् ॥६६॥ ये वात्सल्य न कुर्वन्ति मूढा गर्वसमन्विताः । पतित्वा धर्मशैलात्ते मज्जन्ति भवसागरे ॥६७॥ गुणान्वित मुनि दृष्ट्वा ये वात्सल्यं भजन्ति न । गर्वात्ते स्व परित्यज्य धर्मं श्वभ्रे पतन्त्यघात् ॥६८॥ प्रकुर्वन्ति मुनीनां ये वात्सल्यं धर्महेतवे । ते शक्रादिपद लब्ध्वा मुक्तिं गच्छन्ति संयता ॥६९॥ कलितविविधऋद्धिर्विष्णुसंज्ञ मुनीन्द्र, विधृतगुणगरिष्ट सप्तम दर्शनस्य । गतशिवसुखपार त्यक्त ससारभारं, भवजलनिधिपोतं मुक्तयेऽहं प्रवन्दे ॥ ७० ॥

इतिश्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे वात्सल्यगुणे विष्णुकुमारेणागीकृत. इति कथा निरूपको नाम नवमः परिच्छेदः ।

अथ दशमः सर्गः ।

शीतलेशमह वन्दे सद्धर्मामृतवारिदम् । जन्मदाहविनाशाय पापतापविनाशकम् ॥१॥ गुणे प्रभावनाख्ये यो विख्यातो मुनिपुंगव. ।

शीतलनाथ भगवानको मैं अपने जन्ममरण रूप दाहको नाश करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ सम्यग्दर्शनके आठवें प्रभावना अंगमें मुनिराज वज्रकुमार प्रसिद्ध हुए हैं इसलिये अब संक्षेपसे उनकी कथा कहता हूं ॥२॥ हस्तिनागपुरमें राजा बल राज्य करता था उसके गरुड़ नामका एक धार्मिक पुरोहित था और उसके पुत्रका नाम सोमदत्त था ॥ ३ ॥ वह सोमदत्त अनेक शास्त्रोंका पारगामी था। वह किसी समय अहिछत्रपुर नगरमें अपने शिवभूति मामाके पास गया। किसी एक दिन उसने अपने मामासे कहा कि हे मामा ! इस समय यहांके राजा दुर्मुखसे मेरी भेट करा दीजिये। उसका मामा भी अनेक शास्त्रोंका पारगामी था परन्तु वह अभिमानी था इसलिये उसने राजासे सोमदत्तकी भेट नहीं कराई ॥ ४-५ ॥ तब सोमदत्तने स्वयं ही कुछ उपाय किया और पुण्यकर्मके उदयसे राजसभामें जाकर सिंहासनपर विराजमान हुए राजाके दर्शन किये ॥ ६ ॥ सोमदत्तने महाराजको आशीर्वाद दिया, अपने शास्त्रोंकी कुशलता प्रगट की और इस प्रकार राजाको प्रसन्न कर उसने सर्वोत्तम मंत्री पद स्वयं प्राप्त कर लिया ॥ ७ ॥ शिवभूतिने भी अपने भानजेको इस प्रकार विद्वान् और धनी देखकर उसे यज्ञदत्ता नामकी अपनी पुत्री व्याह दी ॥८॥ समयानुसार उसे गर्भ रहा। किसी एक दिन वर्षाकालके दिनोंमें जब कि पानी पड़ रहा था तब यज्ञदत्ताको आम खानेका दोहला उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥ वह समय आमोंका समय नहीं था इसलिये सोमदत्तने बहुतसे उद्यान और वन ढूंढ़े परन्तु आम कहीं न मिले। अंतमें वह एक वनमें गया पर एक आमके वृक्षके नीचे सुमित्र नामके आचार्य मुनिराज विराजमान थे। तथा उस वृक्षपर बहुतसे आमके फल लग रहे थे।

तस्य वज्रकुमारस्य कथा वक्ष्ये समासतः ॥ २ ॥ हस्तिनागपुरे जातो धर्माधारपुरोहितः । गरुडो बलिराजस्य सोमदत्तस्तदात्मजः ॥ ३ ॥ पठित्वानेकशास्त्राणि चाहिछत्रपुरे शुभे । शिवभूतिमामपार्श्वे गत्वा तेन प्रपृच्छितम् ॥ ४ ॥ माम दुर्मुखराजस्य त्वं मा दर्शय साम्प्रतम् । शास्त्रार्थपारगः तेन गर्वितेन न दर्शितः ॥५॥ ततः किंचिदुपायं स रचयित्वा प्रविश्य वै । सभां सिंहासनस्थं तं ददर्श पुण्ययोगतः ॥६ ॥ आशीर्वादादिकं दत्वा स्वकौशल्यं प्रकाश्य सः । सच्छास्त्रस्य परिप्राप्तो वरं मन्त्रिपदं शुभात् ॥७॥ तथाभूतं तमालोक्य मामेनापि धनान्वितम् । स्वपुत्रीयज्ञदत्तास्मै दत्ता भोगाय तत्क्षणम् ॥८॥ एकदा खलु गुर्विण्यान्तस्या दोहलकोऽजनि । वृषाकाले पतन्नीरे सदाम्रफलभक्षणे ॥९॥ सोमदत्तेन तान्युच्चैरुद्यानवनसन्निधौ । अन्वेषयता यत्राम्रवृक्षे योगं चकार सः ॥ १० ॥ आचार्योऽपि सुमित्राख्यस्तं दृष्ट्वा फलितं पुनः । गृहीत्वाम्राणि सद्वृत्य हस्तेन प्रेषितानि वै ॥ ११ ॥ तमाचार्यं नमस्कृत्य श्रुत्वा धर्मं सुखाकरम् । स्वर्गमुक्तिकरं सारं वैराग्यं सोऽप्यगात्तदा

सोमदत्तने आम तोड़कर सेवकके हाथ घर भेज दिये ॥ १०–११ ॥ तदनंतर उसने उन आचार्यको नमस्कार किया और
उनसे सुख देनेवाले तथा स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करा देनेवाले धर्मका स्वरूप सुना। उसे सुनते ही उसे वैराग्य उत्पन्न होगया ॥१२॥
उसने इस संसारको असार समझा और स्त्री पुत्र धन जीवन आदिको अनित्य समझा तथा ऐसा निश्चय कर उसने संयम
धारण कर लिया ॥ १३ ॥ मुनिराज सोमदत्तने अनेक शास्त्रोंका अभ्यास किया और ज्ञान ध्यानमें तल्लीन होनेका
अभ्यास किया। किसी एक समय वे नाभिगिरि पर्वतपर तपश्चरण करनेके लिये सूर्यके सामने जा विराजमान हुए ॥१४॥
इधर समय पाकर यज्ञदत्ताके पुत्र उत्पन्न हुआ। इसके कुछ दिन बाद उसने अपने पतिका समाचार भी सुना।
उनके मुनि होनेके समाचार सुनकर उसे बहुत ही क्रोध आया और भाई आदिको साथ लेकर वह नाभिगिरि पर्वतपर
पहुंची ॥ १५ ॥ वहां जाकर देखा शरीरसे ममत्व छोड़े हुए पर्वतके समान अचल, सूर्यके सामने विराजमान होकर तप कर
रहे है ॥ १६ ॥ उस दुष्टाने उन मुनिराजको अनेक दुर्वचन कहे और क्रोधमें आकर उस बालकको उन मुनिराजके
पैरोंपर डालकर अपने घरको चली गई ॥ १७ ॥ परन्तु समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देनेवाले और सब तरहकी चिंताओंसे
रहित वे मुनिराज उसी प्रकार एकाग्रचित्त होकर ध्यानमें तल्लीन बने रहे ॥ १८ ॥
इसी समयकी एक कथा और है और वह इस प्रकार है कि विजयार्द्ध पर्वतपर एक अमरावती नामकी नगरी है
जिसमें अनेक धर्मात्मा लोग निवास करते थे ॥ १९ ॥ उस नगरीमें दिवाकर देव नामका विद्याधर राज्य करता था।
उसके छोटे भाईका नाम पुरंदर था। पुरंदरने अपने बलसे अपने बड़े भाईको नगरसे निकाल दिया था और उसका राज्य

॥१२॥ ससार तमसार च दारापुत्रधनादिकम्। अध्रुव जीवितव्य च मत्वा जग्राह संयमम् ॥१३॥ परिज्ञायागम सोपि ज्ञानध्यानतपोरत।
गत्वा नाभिगिरौ सूर्यसन्मुख सस्थितो मुनि ॥१४॥ यज्ञदत्ता प्रसूता सा पुत्र श्रुत्वा स्वभर्तृजम्। वृत्तात कोपसम्पन्ना गता स्वबांधवा-
न्तिकम् ॥ १५ ॥ मुने शुद्धिं परिज्ञाय गत्वा नाभिगिरौ सह। बधुभिस्त्यक्तदेहोसौ यतिर्दृष्टोऽचलस्तया ॥ १६ ॥ कोपाद्दत्वा स्वबाल
तत्पादोपरि कुमार्गगा। दत्वा दुर्वचनान्यस्य मुनेर्गेहं गता हि सा ॥ १७ ॥ मुनिस्तथैव ध्यानेन स्थित एकाग्रमानसः। सर्वचिन्तादि
निर्मुक्त सर्वत्यक्तपरिग्रह ॥१८॥ तस्मिन्नेव हि प्रस्तावे वसन् रूप्याचले शुभे। नगर्याममरावत्यामाकराया सुधर्मिणाम् ॥१९॥ दिवाक-
रादिदेवान्तनामा विद्याधराधिप। पुरन्दरलघुभ्रात्रा पुर्य्यान्निर्घाटितो बलात् ॥२०॥ इदं पापफल मत्वा सद्राज्यादिविनाशनम्। वदनार्थं

स्वयं ले लिया था ॥ २० ॥ दिवाकर देवने अपने राज्यका नाश होना पापका फल समझा इसलिये वह अपनी स्त्रीको साथ लेकर मुनियोंकी वंदना करनेके लिये निकला ॥ २१ ॥ वह चलता चलता नाभिगिरि पर्वतपर आया और मुनिराजको नमस्कार कर बैठ गया। उसने उनके चरणोंपर पड़े हुए सुन्दर बालकको देखा और उसे उठाकर अपनी स्त्रीको सौंप दिया ॥ २२ ॥ दिवाकर देवने उसका नाम वज्रकुमार रक्खा और वह मुनिराजके दर्शन कर बड़ी प्रसन्नताके साथ कनकपुरको चला ॥ २३ ॥ वहांपर वज्रकुमारका मामा (दिवाकर देवका साला) विमलवाहन राज्य करता था। वह विमलवाहन बहुत ही विद्वान् था। उसीके पास रहकर वज्रकुमारने अनेक विद्याएं सीखीं ॥ २४ ॥

किसी एक दिन वज्रकुमार शोभा देखनेके लिये ह्रीमंत पर्वतपर गया था। वहांपर गरुड़वेग विद्याधरकी स्त्री गंगावतीकी पुत्री पवनवेगा प्रज्ञप्ति नामकी विद्याको सिद्ध कर रही थी। वह पवनवेगा बड़ी गुणवती थी, बड़ी ही रूपवती थी, और उस समय एकाग्र चित्त होकर बड़े परिश्रमसे विद्या सिद्धकर रही थी। दैवयोगसे उसी समय वायुसे उड़कर एक वेरका कांटा उसकी आंखमें पड गया था और उसकी पीडासे उसका चित्त चञ्चल हो उठा था। तथा चित्तके चंचल होनेसे वह विद्या सिद्ध नहीं हो रही थी। वज्रकुमारने अपने विज्ञानबलसे वह कांटा देख लिया था और पास जाकर स्वयं अपने हाथसे उसे निकाल डाला था ॥ २५-२८ ॥ कांटेके निकल जानेसे उसका चित्त स्थिर होगया और चित्तके स्थिर हो जानेसे तथा पुण्यके प्रभावसे उस विद्याधर पुत्रीको अनेक कार्य करनेवाली विद्या स्वयं आकर सिद्ध होगई ॥ २९ ॥ विद्या सिद्ध हो जानेपर उस विद्याधर पुत्रीने वज्रकुमारसे कहा कि हे स्वामिन् ! मुझे यह विद्या आपके प्रसादसे सिद्ध हुई है

समायात सकलत्रो मुने स वै ॥२१॥ प्रणम्य मुनिनाथं तं दृष्ट्वा तच्चरणे स्थितम्। गृहीत्वा बालकं कान्तं स्वभार्यायै समर्प्य स. ॥२२॥ नाम वज्रकुमारोयमिति कृत्वा पुन स्वयम्। कनकाख्य पुरं रम्य धर्महर्षान्वितो ययौ ॥२३॥ तत्र वज्रकुमारश्च जातो विद्यान्वितो युवा। विमलादिवाहनान्तस्वमैथुनिकसन्निधौ ॥ २४ ॥ ततो गरुडवेगाख्यगंगावत्योर्गुणाकरा। पुत्री पवनवेगाख्या जाता रूपादिभूषिता ॥२५॥ ह्रीमन्तपर्वते गत्वा विद्यां प्रज्ञप्तिसंज्ञिकाम्। साधयन्ती श्रमेणैव स्वयमेकाग्रचेतसा ॥ २६ ॥ वाताकंपितबदरीकण्टकेनैव लोचने। विद्धा तत्पीडया जाता चलचित्ता नभेश्वरी ॥२७॥ नैव सिद्ध्यति सा विद्या स्वविज्ञानबलेन सा। दृष्ट्वा वज्रकुमारेण स्वयं कंटकउद्धृत ॥२८॥ तत' सुस्थिरचित्तायास्तस्या सिद्धिं गता पुन। विद्या कार्यकरा पुण्यप्रभावेनैव तत्क्षणम् ॥ २९ ॥ उक्तं तया ममैषापि विद्या भो भव्य

इसलिये इस जन्ममें मेरे पति आप ही हैं अब मैं और किसीको स्वीकार कर नहीं सकती ॥ ३० ॥ तदनंतर माता-पिताकी
आज्ञासे उन दोनोंका विवाह होगया सो ठीक ही है, क्योंकि इस संसारमें पुण्योदयसे क्या क्या प्राप्त नही होता है ॥३१॥
किसी एक दिन मालूम हो जानेपर वज्रकुमार अपनी स्त्रीकी विद्या लेकर और कुछ सेना लेकर अमरावतीपर चढ़ गया
और अपने काकाको जीतकर अपने पिताको राज्यगद्दीपर विठाया ॥ ३२ ॥

किसी एक दिन वज्रकुमारकी माता जयश्री (दिवाकरदेवकी रानी) अपने निजके पुत्रको राज्य दिलानेके
लिये वज्रकुमारसे कुछ ईर्षाके वचन कह रही थी और कह रही थी कि यह वज्रकुमार कहां तो उत्पन्न हुआ है और कहां
आकर हम लोगोंको दुःखी करता है। अपनी माताकी यह बात सुनकर वज्रकुमार उसी समय अपने पिताके पास पहुंचा
॥ ३३–३४ ॥ और कहने लगा कि हे तात ! आज सच बतला दीजिये कि मैं किसका पुत्र हूं। आज यह बात जान
लेनेपर ही मैं अन्नपानी ग्रहण करूंगा, अन्यथा नही ॥ ३५ ॥ पुत्रके असाग्रहसे दिवाकरदेव विद्याधरने भी पहला सब हाल
ज्योंका त्यों कह सुनाया ॥ ३६ ॥ उस कथाको सुनकर वज्रकुमार अपने पूज्य पिताके दर्शन करनेके लिये पिता, भाई
आदि सबके साथ निकला। उस समय उसके पिता श्री सोमदत्त मुनिराज मथुरा नगरीमें एक क्षत्रिय नामकी गुफामें तप-
श्चरण कर रहे थे। वज्रकुमार भक्तिपूर्वक वही पहुंचा ॥ ३७ ॥ सब लोग मुनिराजको नमस्कारकर बैठ गये। तब दिवा-
करदेवने उन मुनिराजसे उस वज्रकुमार पुत्रके होनेकी सब कथा कह सुनाई ॥ ३८ ॥ यह सुनकर मुनिराज वज्रकुमारसे

सांप्रतम्। सिद्धा भवत्प्रसादेन भर्ता त्वं मे न चापर ॥ ३० ॥ महोत्सवेन सा वज्रकुमारेणैव तत्क्षणम्। परिणीता स्वपुण्येन किं किं न
स्यान्महीतले ॥३१॥ तद्विद्यामाशुचादाय गत्वा तेनामरावतीम्। पितृव्य सगरे जित्वा राज्ये संस्थापित· पिता ॥३२॥ एकस्य तस्य धीरस्य
जनन्यापि जयश्रिया। अमर्षं प्रोद्वहन्त्या स्वपुत्रस्य राज्यहेतवे ॥ ३३ ॥ प्रोक्तमन्येन सजातश्चान्य सतापयत्ययम्। श्रुत्वा तद्वचन सोऽपि
पितृपार्श्वे समाययौ ॥३४॥ भो तात ! कस्य पुत्रोहं सत्य त्व कथयेति मे। तस्मिन्प्ररूपितेनाद्यौ प्रवृत्तिर्मे न चान्यथा ॥ ३५ ॥ ततस्तेन
खगेशेन सत्यमेव निरूपित·। वृत्तांत· पूर्वज· सर्वस्तस्याग्रे मायया विना॥३६॥ तदाकर्ण्य ततो द्रष्टु स्वगुरु बधुभि·समम्। मथुरा सक्षत्रि-
याख्यां गुहा सद्भक्तितो ययौ ॥३७॥ गुरु नत्वा स्थितस्तत्र कुमार· कथितोऽमुना। दिवाकरादिदेवेन वृत्तान्त पुत्रसंभव· ॥३८॥ तच्छ्रुत्वा
मुनिना ब्रूत पुत्र दीक्षा गृहाण भो। हत्वा मोहमहामल्लं स्वर्गमुक्तिसुखप्रदम् ॥३९॥ आकर्ण्य तद्वचो वज्रकुमार सर्वबाधवान्। महत्कष्टेन

कहने लगे कि हे पुत्र ! मोहरूपी महा मल्लको नाशकर स्वर्ग मोक्षके सुख देनेवाली दीक्षा ग्रहण कर ॥ ३९ ॥ मुनिराजके वचन सुनकर वज्रकुमारने भी सब कुटुम्बका साग किया और अपने पूज्य पि ।से दीक्षा धारण की ॥ ४० ॥

इधर मथुरा नगरमें राजा पूतिगन्ध राज्य करता था उसकी रानीका नाम उर्विला था जो रानी सदा धर्ममें तत्पर रहती थी ॥ ४१ ॥ वह रानी सम्यग्दर्शन गुणसे सुशोभित थी, धर्मोत्सव करनेमें तत्पर थी, प्रभावना अंगको पालन करनेमें चतुर थी और जिनेंद्रदेवमें परम भक्ति रखती थी ॥ ४२ ॥ वह प्रत्येक नंदीश्वर पर्वमें श्रेष्ठ रथमें भगवान जिनेंद्रदेवको विराजमानकर आठ दिनतक बराबर रथयात्रा करती थी और इस प्रकार प्रत्येक वर्षमें तीन वार किया करती थी ॥४३॥ उसी मथुरा नगरीमें सेठ सागरदत्तकी सेठानी समुद्रदत्ताके उदरसे एक दरिद्रा नामकी पुत्री हुई थी। उसके होते ही पापकर्मके उदयसे उस सेठका सब धन नष्ट होगया था और माता पिता भी मरगये थे। तब वह दरिद्रा अकेली इधरउधर फिरा करती थी और दूसरोंके घर जूठा और बुरा अन्न खाया करती थी। किसी एक दिन उस नगरीमें दो मुनिराज पधारे। उनमेंसे छोटे मुनिने उस दरिद्राको देखकर बड़े मुनिसे कहा कि देखो, पहिले जन्ममें उपार्जन किये हुए पापकर्मके उदयसे यह दरिद्रा बड़े कष्टसे अपना जीवन बिता रही है ॥४४–४७॥ छोटे मुनिकी यह बात सुनकर बड़े मुनिने कहा कि कालांतरमें यह यहांके इसी राजाकी पट्टरानी होगी ॥ ४८ ॥ मुनिराजकी यह बात एक बौद्ध भिक्षुक धर्मश्री वंदकने भी सुन ली। उस समय वह भी भिक्षाके लिये आया था। उसने यह बात सुनकर निश्चय कर लिया कि मुनिराजकी बात

सत्यक्त्वा व्रतमगीचकार स ॥४०॥ अत्रान्तरे मथुरायां पूतिगन्धनृपोऽभवत्। उर्विला तस्य सद्राज्ञी बभूव धर्मतत्परा ॥४१॥ सम्यक्त्वादिगुणोपेता रता धर्ममहोत्सवे। प्रभावनादिसयुक्ता भक्ता श्रीजिनपुगवे ॥४२॥ करोति रथयात्रां सा प्रतिवर्षं दिनाष्टकम्। नदीश्वरे त्रिवार सद्रथे प्रारोप्य श्रीजिनम् ॥४३॥ तत्रैव सन्नगर्यां च दरिद्राख्या सुताऽजनि। श्रेष्ठिसागरदत्तस्य धनहीनस्य पापत ॥४४॥ श्रेष्ठिन्या हि समुद्रादिदत्ताया उदरे शुभे। मृते सागरदत्ते सा क्षुधाक्राता बहिर्गता ॥४५॥ भक्षयन्ती कुसिक्तानि परगेहे विरूपिका। दृष्टा चर्याप्रविष्टेन मुनियुग्मेन सा स्वयम् ॥४६॥ लघुना मुनिना प्रोक्त हा वराकी हि जीवति। कष्टेन महता नित्य पूर्वोपार्जितपापत ॥४७॥ तदाकर्ण्य पुन प्रोक्तं ज्येष्ठेन मुनिना स्वयम्। इह अस्य ध्रुव राज्ञ पट्टराज्ञी भविष्यति ॥ ४८ ॥ वचस्तस्य समाकर्ण्य धर्मश्रीवदकेन भो। मत्वेति भ्रमता भिक्षां नान्यथा मुनिभाषितम् ॥४९॥ शीघ्रेण स्वमठ सा च नीता सपोषिता पुन। मिष्टाहारैश्च सप्राप्ता यौवन रूपसम्पदम् ॥५०॥

कभी मिथ्या नहीं होती है ॥ ४९ ॥ वह वंदक शीघ्र ही उसे अपने मठमें ले गया और उसे मीठे मीठे आहार खिलाकर
संतुष्ट किया। अनुक्रमसे वह दरिद्रा यौवनरूपी संपदाको प्राप्त होगई ॥ ५० ॥

किसी एक समय चैत्रके महीनेमें अनेक गुणोंसे सुशोभित वह दरिद्रा झूल रही थी, कि राजा पूतगन्ध भी वायु
सेवनके लिये उधर आ निकला था। उस समय वह राजा उसको देखकर मोहित और विह्वल होगया ॥ ५१ ॥ दरिद्रा
अब रूपवती और लावण्यवती होगई थी तथा उसके पुण्यकर्मका भी उदय हो गया था इसलिये मंत्रियोंके द्वारा राजाने
वंदकसे वह कन्या मांगी ॥ ५२ ॥ इसके उत्तरमें वंदकने कहा कि यदि राजा जैनधर्मको छोडकर केवल मेरा बौद्ध धर्म
स्वीकार कर लेगा तो मै यह कन्या राजाको दे दूंगा, विना इस शर्तको पूरी किये मै नहीं दे सकता ॥ ५३ ॥ राजा मूर्ख
था इसलिये उसने वंदककी यह शर्त मान ली और उसके साथ विवाह करलिया। उसने उसे पट्टमहादेवी बनाया और
वह उसपर वहुत प्रेम करने लगा ॥ ५४ ॥

इधर उर्विला रानी फाल्गुन महीनेके अष्टाह्निका पर्वमें रथोत्सवकी तैयारी कर रही थी। अनेक प्रकारके वस्त्राभ-
रणोंसे सुशोभित उसका अद्भुत और वहुत वड़ा रथ खड़ा हुआ था ॥ ५५ ॥ उसे देखकर दरिद्राने अपने पतिसे (राजासे)
कहा कि हे देव ! इस समय बुद्धका रथ भी निकलना चाहिये और धर्मके लिये वह मेरा रथ इस नगरीमें सबसे पहिले
निकलना चाहिये ॥ ५६ ॥ राजाने भी उसकी इच्छानुसार आज्ञा दे दी। उसका रथ तैयार होने लगा। अब उर्विलाको
वड़ी कठिनता पडी, क्योंकि पहिले बुद्धका रथ निकलनेके लिये उसका रथ रोक दिया गया था। इसलिये उसने प्रतिज्ञा

एकदा चैत्रसन्मासे दृष्ट्वा राजा गुणान्विताम्। वभूवान्दोलयन्तीं ता कामासक्तोतिविह्वल. ॥ ५१ ॥ ततोपि याचितस्तूर्णं वदको
मन्त्रिभिः स्वयम्। तदर्थं रूपसम्पन्ना ता पुण्यपरिपाकत. ॥५२॥ तेनोक्त यदि मे राजा धर्मं गृह्णाति केवलम्। त्यक्त्वा जिनेन्द्रसद्धर्मं
तां ददामि न चान्यथा ॥५३॥ राज्ञा मूढेन तत्सर्वं कृत्वा सापि विवाहिता। कृता पट्टमहादेवी जाता तस्यातिवल्लभा ॥५४॥ सुनन्दीश्वर-
यात्रायामुर्विलारथमद्भुतम्। फाल्गुने सन्महाटोप वस्त्राभरणभूपितम् ॥ ५५ ॥ आलोक्य भणित देव तया बुद्धरथोऽधुना। मदीयः प्रथम
पुर्यां भ्रमतु धर्महेतवे ॥५६॥ राज्ञोक्तमस्तु चैव हि तया निर्मापितो रथ.। बुद्धदेवसमोपेत. श्रृंगारादिसमन्वितः ॥५७॥ ब्रूते तत्रोर्विलादेवी
भ्रमते प्रथम रथः। मदीयो मे तदाहारे प्रवृत्तिर्नैव चान्यथा ॥ ५८ ॥ गृहीत्वेति प्रतिज्ञा सा सोमदत्तमुनीशिने। गत्वा क्षत्रियगुहायामूचे

की कि जब मेरा रथ निकल जायगा तभी मैं आहार ग्रहण करूंगी अन्यथा नहीं ॥ ५७-५८ ॥ ऐसी प्रतिज्ञाकर वह रानी सोमदत्त मुनिराजके समीप क्षत्रिय गुफामें पहुंची और उन मुनिराजसे सब हाल कहा ॥ ५९ ॥ दैवयोगसे उसी समय वज्रकुमार मुनिकी वंदना करनेके लिये दिवाकरदेव आदि बहुतसे विद्याधर आए थे ॥ ६० ॥ वे मुनिराजकी वंदनाकर और मुनिराजके श्री मुखसे सुख देनेवाले धर्मका स्वरूप सुनकर हृदयमें धर्मकी भावना करते हुए बैठे थे ॥ ६१ ॥ रानीकी प्रतिज्ञा सुनकर वज्रकुमारने उन विद्याधरोंसे कहा कि आपको यह धर्मकी प्रभावना अवश्य कर देनी चाहिये और इस उर्विला रानीका रथ निकलवा देना चाहिये ॥ ६२ ॥ मुनिराजकी यह बात सुनकर वे सब विद्याधर नगरमें पहुंचे और बुद्ध दासी दरिद्राका रथ तोडफोडकर चूर्ण कर डाला । फिर जिन धर्मकी प्रभावना करनेवाले उन लोगोंने बडी विभूतिके साथ उर्विलाका रथ निकलवाया जिसमें अनेक लोगोंने खूब उत्सव किया और नगरमें बडी शोभा हुई ॥ ६४ ॥ राजा पूतगन्ध और बुद्धदासी दरिद्राने भी जैनधर्मका ऐसा माहात्म्य देखकर बौद्ध धर्मका त्याग कर दिया और भगवान जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ जैनधर्म स्वीकार कर लिया ॥ ६५ ॥ उन विद्याधरोंके द्वारा किये हुए बडे भारी अतिशयको देखकर अनेक लोगोंने मिथ्यात्व छोड दिया और पवित्र जैनधर्मको स्वीकार कर लिया ॥ ६६ ॥ लोगोंने रानी उर्विलाकी बडी प्रशंसा की और मुक्त कण्ठसे कहा कि सम्यग्दर्शनसे सुशोभित होनेवाली और प्रभावना आदि सम्यक्त्वके गुणोंमें आसक्त रहनेवाली इस उर्विला रानीको बार बार धन्य है ॥ ६७ ॥ सम्यग्दर्शनसे विभूषित होनेवाले और भी ऐसे अनेक भव्य हैं जिन्होंने इस जैनधर्मकी प्रभावना की है उनका वर्णन अन्य शास्त्रोंसे जान लेना चाहिये ॥ ६८ ॥ जैसे मुनिराज अपनी

सा सन्यासकारणम् ॥५९॥ प्रस्तावेऽस्मिन्मुनेर्वज्रकुमारस्य महात्मनः । वन्दनां विधातुमायाता दिवाकरमुखाः सुराः ॥६०॥ वन्दित्वा मुनिनाथं ते श्रुत्वा धर्मं सुखाकरम् । मुनीश्वरमुखाज्ज्ञात्वा स्थिता धर्मप्रभाविना ॥६१॥ उक्तं वज्रकुमारेण मुनीन्द्रेण प्रभावना । भवद्भिर्विधातव्या कर्तव्येति रथक्रिया ॥६२॥ ततस्ते तत्र गत्वाशु बुद्धदासीरथं क्षणात् । भङ्क्त्वा पूर्वं महोत्सवपूर्वकं प्रभावैः ॥६३॥ पश्चात्तैर्जिनबिम्बस्य रथयात्रा सुकारिता । उर्विलाया महापुण्यदा या शोभाकरा परा ॥६४॥ दृष्ट्वा माहात्म्यमतुलं जैनधर्मस्य तादृशम् । त्यक्त्वा बौद्धमतं सर्वं सा जग्राह जिनोदितम् ॥६५॥ अन्ये चातिशयं दृष्ट्वा कृतं विद्याधरैर्जनाः । जैनधर्मं प्रपन्ना हि त्यक्त्वा मिथ्यात्वमुत्तमाः ॥६६॥ धन्येयमुर्विला राज्ञी सम्यग्दर्शनभूषिता । प्रभावनादिसंसक्ता साऽतिलोकैः प्रशंसिता ॥६७॥ अन्ये ये बहवः सन्ति शासनस्य प्रभावकाः । जिनस्य चाग-

शक्तिको प्रकटकर ज्ञान और तपश्चरणके द्वारा इस जैनधर्मकी प्रभावना प्रगट करते हैं तथा श्रावक जन भी अपनी शक्तिको प्रगटकर दान पूजा और उत्सवों द्वारा सदा इस जैनधर्मकी प्रभावना किया करते हैं ॥ ६९–७० ॥ जो अनेक निर्मल गुणोंके निधि हैं, जिन्होंने ससारमें सारभूत पदार्थ सम्यग्दर्शन प्राप्त करलिया है, जो समस्त दोषोंसे रहित हैं, सारभूत रत्नत्रयसे विभूषित हैं और जिन्होने संसारभरमें जैन धर्मका प्रभाव प्रगट किया था ऐसे मुनिराज वज्रकुमार सदा जयशील हों ॥ ७१ ॥

इसप्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें प्रभावनाअगमे प्रसिद्ध होनेवाले वज्रकुमारकी कथाको निरूपण करनेवाला यह दशवां परिच्छेद समाप्त हुआ ।



अथ ग्यारहवां परिच्छेद ।

जो संसारके समस्त प्राणियोंका कल्याण करनेवाले हैं, अनन्त गुणोंसे सुशोभित हैं और धर्मकी खानि है ऐसे श्री श्रेयांसनाथको मैं श्री जैनधर्मकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूं ॥१॥ पहिले सम्यग्दर्शनके आठों गुणोंका व्याख्यान किया था अब सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाले उसके दोषोंको कहता हूं ॥ २ ॥ आठों गुणोंसे परिपूर्ण और समस्त दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन ही मोक्ष महलकी पहिली सीढ़ी है हे वत्स ! तू ऐसे ही निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण कर ॥ ३ ॥

माद्रज्ञेया भव्या' सम्यक्त्वभूषिता ॥६८॥ स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य ज्ञानेनतपसाथवा । मुनीश्वरा प्रकुर्वन्ति जैनधर्मप्रभावनाम् ॥६९॥ अनाच्छाद्य स्वशक्ति च दानपूजा महोत्सवै. । श्रावका जैनधर्मेषु व्यक्त कुर्वन्ति प्रत्यहम् ॥७०॥ विमलगुणनिधान. प्राप्तससारपारो, विगतसकलदोष. साररत्नत्रयाढ्य. । कृतप्रकटप्रभावो जैनधर्मस्य लोके, जयतु खलु कुमारोन्त्यादिवज्रो मुनीन्द्र. ॥७१॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्ति विरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे प्रभावनागुणवर्णने वज्रकुमारमुनिकथा प्ररूपकोनाम दशम परिच्छेदः ।

अथ एकादशमः सर्गः ।

श्रेयोभिधं जिन वन्दे लोके श्रेयोविधायकम् । वृषाकर गुणैर्युक्त जिनधर्मादिसिद्धये ॥१॥ पूर्वंगुणाष्टकस्यैव कृत्वा व्याख्यानमंशतः । इदानीं दर्शनस्यैव दोषान् वक्ष्ये मलप्रदान् ॥२॥ गुणाष्टकेन सयुक्त सर्वदोषविवर्जितम् । सोपान प्रथम मुक्तेस्त्वं वत्स भज दर्शनम् ॥३॥

प्रश्न—हे प्रभो ! सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाले वे कौनसे दोष हैं कृपाकर मेरे लिये उन सबका निरूपण कीजिये ॥४॥

उत्तर—हे वत्स ! तू एकाग्र चित्त होकर सुन, मै केवल त्याग करनेके लिये सम्यग्दर्शनके गुणोको घात करनेवाले महा निंद्य उन दोषोंको कहता हूं ॥ ५ ॥ तीन मूढता, जाति आदिके आठ मद, छह अनायतन और शंका आदि आठ दोष इस प्रकार ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष कहलाते हैं। अज्ञानी लोग बड़ी कठिनतासे इनका त्याग करते हैं परन्तु सम्यग्दर्शनको शुद्ध करनेके लिये इनका त्याग कर देना ही चाहिये ॥६–७॥ भगवान वीतराग अरहंत देव अत्यन्त निर्दोष है तथापि अज्ञानी लोग कृष्ण, ब्रह्मा आदि सदोष देवोंकी पूजा करते हैं, कोई कोई बुद्धिहीन तो पशुओंकी भी पूजा करते है। इस प्रकार विना किसी परीक्षाके वे लोग पुण्य करनेके लिये प्रतिदिन मूढ भावोंको प्राप्त होते रहते हैं इसीको विद्वान् लोग देवमूढता कहते है ॥ ८–९ ॥ जैन शास्त्रोंमें, जैन सिद्धांत सूत्रोंमें भगवान जिनेन्द्रदेवने धर्मका यथार्थ स्वरूप वर्णन किया है तथापि पांचों प्रकारके मिथ्यात्वमें लगे हुए अज्ञानी जीव वेद आदिमें कहे हुए धर्मको ही मानते हैं। वे लोग श्रेष्ठ विचारोको छोडकर वेदादिके कहे अनुसार चलते हैं इसीको बुद्धिमान लोग शास्त्रमूढता वा समय मूढता कहते हैं ॥१०-११॥ भगवान जिनेन्द्रदेवने धर्मका स्वरूप अहिंसामय बतलाया है, परन्तु अज्ञानी लोग उसपर विचार न कर स्नान श्राद्ध आदि लोकाचारको ही धर्म मान लेते है इसीको श्री जिनेन्द्रदेव लोकमूढता कहते हैं ॥ १२–१३ ॥ हे वत्स ! तू परीक्षारूपी नेत्रोंसे देखकर मिथ्यात्वको छोडकर जैन धर्मको स्वीकार कर और तीनों मूढताओंका त्याग कर ॥ १४ ॥ जो मूर्ख इन

प्रभो ! ये सन्ति दोषा हि सम्यक्त्वमलहेतवे । कृपा कृत्वा ममाग्रेपि तांश्च सर्वान् निरूपय ॥४॥ शृणु त्व शिष्य तान् दोषानेकचित्तेन मुक्तये । कथयामि महानिद्यान् सम्यक्त्वगुणघातकान् ॥५॥ मूढत्रय भवेच्चाष्टौ मदा जात्यादिजा बुधै । षडनायतनान्यष्टौ दोषा शकादयो मता ॥६॥ ते सम्यक्त्वमलदोषा स्युस्त्वया पञ्चविंशति । दुस्त्याज्या मूढलोकाना त्याज्या सम्यक्त्वशुद्धये ॥७॥ वीतरागोऽतिनिर्दोषो कृष्ण-ब्रह्मादिकोऽथवा । सदोष पूज्यते मूढै पशुर्वा गतबुद्धिभि ॥८॥ यत्परीक्षा परित्यज्य मूढभावेन प्रत्यहम् । पुण्यहेतोर्बुधैस्तच्च देवमूढत्व-मुच्यते ॥९॥ जिनसिद्धातसूत्रे य उक्तो धर्मो जिनेश्वरै । पचमिथ्यात्वसलग्नैर्मूढैर्वेदादिके च ये ॥१०॥ सद्विचार परित्यज्य क्रियते स शठैर्जनै । कथ्यते तद्बुधैर्लोके मूढत्व समयोद्भवम् ॥११॥ अहिंसालक्षणोपेतो जिनोक्तो धर्म एव य । स्नानादिभिश्च श्राद्धादौ लोका-चारेण चागत ॥१२॥ आचर्यते शठैर्लोके परित्यक्त्वा विचारणम् । प्ररूपित जिनैस्ताद्धि लोकमूढत्वमेव भो ॥१३॥ परीक्षालोचनैस्त्व सज्जैन

तीनों मूढताओंको स्वीकार करता है वह जीवित रहनेके लिये विष खाता है अथवा सुखी रहनेके लिये अपने प्राणोंका घात करता है ॥ १५ ॥

सज्जाति, सत्कुल, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, बल और शिल्प आदि विद्या । इन आठोंके आश्रय मद करना आठ मद कहलाते हैं । हे मित्र ! तू इनको शीघ्र ही छोड़ ॥१६॥ मातृपक्षमें उत्पन्न हुए कुटुम्बसमूहको जाति कहते हैं । संसारके सब कुटुम्बादिक नश्वर हैं नाश होनेवाले हैं यही समझकर हे शिष्य ! तू इस जातिके मदको छोड़ ॥ १७ ॥ हे मित्र ! इस संसारसागरमें परिभ्रमण करते हुए तूने भिन्न भिन्न सब जातियोंकी माताओंका अलग अलग इतना दूध पिया है कि जो एक एक जातिका इकट्ठा किया जाय तो वह महासागरसे भी अधिक होजाय । फिर भला उसका अभिमान करना कैसा ? ॥ १८ ॥ पिताके पक्षमें उत्पन्न हुए कुटुम्बको कुल कहते हैं । ये स्वजन परिजन भी दाभकी नोकपर पड़ी हुई जलकी बूंदके समान चंचल हैं शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं यही समझकर कुलका अभिमान कभी नहीं करना चाहिये ॥ १९ ॥ धन धान्य घर राज्य आदि भी अग्नि चोर आदिके द्वारा नष्ट होता है किसीकी सम्पदा सदा नहीं बनी रहती, यही समझ कर ऐश्वयका मद छोड देना चाहिये ॥ २० ॥ यह शरीर सुन्दर होनेपर भी अनित्य है, किसी न किसी दिन अवश्य नष्ट होगा यह केवल वस्त्रोंसे ढका हुआ ही अच्छा दिखता है, वास्तवमें बुढापा रोग आदि अनेक व्याधियोंसे घिरा हुआ है यही समझकर बुद्धिमानोंको रूपका अभिमान छोड़ देना चाहिये ॥ २१ ॥ बुद्धिमानोंको थोडासा ज्ञान पाकर कभी अभिमान नहीं करना चाहिये क्योंकि यदि पहिलेके ज्ञानियोंकी तुलना का जाय तो उनके सामने अवका ज्ञान एक अंश मात्र भी नहीं है ॥२२॥

धर्म परीक्ष्य सः । मिथ्यात्व च समादाय त्यज मूढत्रय सुहृत ॥१४॥ मूढभावेन यो मूढो धर्मं गृह्णाति लोकजम् । पुण्याय स विषं भुंक्ते सुखाय प्राणनाशनम् ॥१५॥ सज्जातिसत्कुलैश्वर्यरूपज्ञानतपःप्रजम् । बलशिल्पिभव मित्र त्यज त्वं मदमजसा ॥१६॥ सन्मातृपक्षसजातं कुटुम्बादिकदवकम् । विनश्वर परिज्ञाय जात्याख्य त्वं मदं त्यज ॥१७॥ सदवाना त्वया मित्र पीत दुग्ध भवार्णवे । भिन्नभिन्नविजातीनामधिकं सागराम्बुधे ॥१८॥ पितृपक्षसमुद्भूतं वलंदर्भाग्रबिंदुवत् । ज्ञात्वा स्व स्वजनं दक्ष कुलनाममद त्यजेत् ॥१९॥ धनधान्यादिकं गेह सर्वं राज्यादिक बुधैः । अग्न्यादिभिश्चल मत्वा चैश्वर्याख्यं मद त्यजेत् ॥२०॥ शरीरं सुन्दराकारमनित्य वस्त्रशोभितम् । जराव्याध्यग्निभिर्दग्धं रूपाख्य त्व मदं त्यज ॥२१॥ किंचिद्ज्ञान परिज्ञाय मदो न क्रियते बुधै । अपेक्षया हि पूर्वस्य अतो न ज्ञायते लव ॥ २२ ॥

इसी प्रकार चतुर पुरुषोंको तपश्चरणका अभिमान भी नहीं करना चाहिये। क्योंकि पहिलेके मुनि जो तपश्चरण करते थे उसका तो एक अंश भी इस समय नहीं किया जा सकता ॥ २३ ॥ चतुर पुरुषोंको बलवान शरीर पाकर भी उसका अभिमान छोड देना चाहिये। क्योंकि यह शरीर केवल अन्नादिकसे पुष्ट होता है और क्षणभरमें नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥ इसी प्रकार सुन्दर लेख आदि कलाकौशलोंका अभिमान भी नहीं करना चाहिये क्योंकि इस उसका अभिमान भी अशुभ ही है ॥ २५ ॥

हे बुद्धिमान्! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेके लिये श्रेष्ठ मार्दव धर्मको स्वीकार कर अनेक दुःख और दुर्गतियोंके देनेवाले इन आठों मदोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ २६ ॥ जो नीच अनेक प्रकारके बुरे दुःख देनेवाले ऊपर लिखे आठो मदोको करता है, इनका अभिमान करता है वह सम्यग्दर्शनको नष्टकर नीच गतिको प्राप्त होता है ॥ २७ ॥ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और मिथ्यादृष्टी, मिथ्याज्ञानी तथा मिथ्याचारित्रको धारण करनेवाला ये छह पद् अनायतन कहलाते है ॥ २८ ॥ अज्ञानी जीवोंके द्वारा जो पाप और दुःख देनेवाले कुदेव कुगुरु और कुधर्ममें विश्वास किया जाता है वह मिथ्यादर्शन कहलाता है ॥ २९ ॥ मिथ्यादृष्टी जीव जो वेदशास्त्र वा स्मृतिशास्त्र आदिका पठनपाठन करते हैं और उनके द्वारा पापोंको उत्पन्न करनेवाला ज्ञान बढाते है चतुर पुरुष उसको मिथ्याज्ञान कहते है ॥ ३० ॥ अज्ञानी जीव पंचाग्नि तपके द्वारा अथवा और भी कुतपोंके द्वारा जो कायक्लेश करते हैं उसे मिथ्याचारित्र कहते है ॥ ३१ ॥ जो मिथ्यादर्शन सहित है, श्रेष्ठ तत्वोंपर अथवा सम्यग्दर्शनपर जो कभी विचार नहीं करता और जो जैनधर्मसे बहिर्भूत है उसे

तपसा सभवो दक्षैर्मदो न क्रियते मनाक्। तपश्चापेक्षया पूर्वमुनेः कर्तुं न शक्यते ॥२३॥ सम्प्राप्य सबलं देहं गर्वं त्याज्यं विवेकिभिः। पुष्टमन्नादिभिस्तद्धि यतो याति क्षयं क्षणात् ॥२४॥ शिल्पिगर्वं न कर्तव्यं सुलेखादि समुद्भवम्। विचित्रैर्दर्शनायैव त्वया वत्साशुभप्रदम् ॥२५॥ सन्मार्दवं समादाय दुःखदुर्गतिवारणम्। मदाष्टकं त्यजेद्धीमान् दर्शनज्ञानप्राप्तये ॥२६॥ अहंकारं हि यः कुर्याद्दष्टभेदं कुदुःखदम्। विनाश्य दर्शनं सोपि नीचो नीचगतिं व्रजेत् ॥२७॥ मिथ्यादर्शनकुज्ञानकुचारित्रत्रयात्मकाः। तद्युक्तपुरुषाश्चैव षडनायतनं भवेत् ॥२८॥ कुदेवकुगुरौमूढैः कुधर्मे पापदुःखदे। निश्चयः क्रियते योऽत्र तन्मिथ्यादर्शनं मतम् ॥२९॥ प्रणीते वेदशास्त्रादौ स्मृत्यादौ वा कुदृष्टिभिः। श्रुतं पापकरं दक्षैस्तन्मिथ्याज्ञानमुच्यते ॥३०॥ पञ्चाग्निसाधने योऽपि कायक्लेशो विधीयते। कुत्सिततपसा मूढैस्तन्मिथ्याचरणं भवेत् ॥३१॥

विद्वान् लोग मिथ्यादृष्टी कहते हैं ॥३२॥ जो मनुष्य वेदादि कुशास्त्रोंका पठनपाठन करता है और जिसने सिद्धांत शास्त्रोंको सर्वथा छोड़ दिया है वह मिथ्याज्ञानी कहलाता है ॥३३॥ जो मनुष्य पंचाग्नि तप तपता है अथवा और भी मिथ्या तपोंमें उद्यम करता है उसको मुनीश्वर लोग कुतपसी कहते हैं ॥३४॥ ये ऊपर लिखे हुए छह (मिथ्यादर्शन, मिथ्यादृष्टी, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र और कुतपसी) अनायतन (जो धर्मके आयतन वा स्थान न हो किन्तु अधर्मके स्थान हों) कहलाते हैं। ये छहों अनायतन नरक और तिर्यंच गतिके दुख देनेवाले है, अनेक पापोंको उत्पन्न करनेवाले है, निंद्य हैं और सम्यग्दर्शनको नाश करनेवाले है ॥ ३४ ॥ हे मित्र ! ये छहों अनायतन शत्रुके समान दुःख देनेवाले हैं और दुःख रूपी दावानलके लिये महा ईंधनके समान है इसलिये इनको अच्छी तरह जानकर दूरसे ही इनका त्याग कर देना चाहिये ॥ ३५ ॥ पहिले जो निःशंकित आदि सम्यग्दर्शनके आठ गुण कहे थे उन्हीके उलटे शंका आदिक आठ दोष कहलाते है ॥ ३७ ॥ हे वत्स ! अनेक पापोंको उत्पन्न करनेवाले ये सम्यग्दर्शनके सब दोष मिलकर पच्चीस होते हैं। सम्यग्दर्शनको शुद्ध करनेके लिये तू इन पच्चीसों दोषोंका त्याग कर ॥ ३८ ॥ जिस प्रकार मलिन दर्पणमें अपना मुंह अच्छा दिखाई नही दे सकता उसी प्रकार अशुद्ध (दोष सहित) सम्यग्दर्शनमें विद्वान् लोगोंको भी मुक्तिलक्ष्मीका मुंह दिखाई नही दे सकता ॥ ३९ ॥ जिस प्रकार हृदयके मलिन होनेपर ध्यान नही किया जा सकता उसी प्रकार सदोष सम्यग्दर्शनसे कर्मरूप शत्रु कभी नष्ट नहीं किये जा सकते ॥ ४० ॥ जिस प्रकार निर्मल दर्पणमे ही मुंह दिखाई देता है उसी प्रकार चतुर

मिथ्यासम्यक्त्वयुक्तो यो न शक्तः सुविचारके। जैनधर्मवहिर्भूतो मिथ्यादृष्टिर्बुधैर्मत ॥३२॥ जनो वेदादियुक्तो य कुशास्त्रादिसमन्वित.। त्यक्तसिद्धान्तसारश्च मिथ्याज्ञानी स कीर्तित ॥ ३३ ॥ पञ्चाग्निसाधको मिथ्यातपसादिकृतोद्यम.। य शठ सोऽत्र सम्प्रोक्त कुतपस्वी मुनीश्वरैः ॥३४॥ षडनायतन ज्ञेय श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम्। अघाकर बुधैर्निंद्य दर्शनस्य विनाशनम् ॥३५॥ सम्यक्त्व त्व परिज्ञाय त्यज भेद विदूरत.। शत्रुवत्षड्विध मित्र दु खदावमहेन्धनम् ॥३६॥ नि शङ्कितादयो ये ते प्रोक्ता अष्टौ गुणा शुभा। विपरीताश्च विज्ञेया दोषाः शङ्कादयो बुधैः ॥३७॥ सर्वान् पिंडीकृतान् दोषान् पापदान् पञ्चविंशति। सम्यक्त्वस्य त्यज त्व हि दर्शनस्य विशुद्धये ॥३८॥ आदर्शे मलिने यद्वत्सन्मुख नैव दृश्यते। तथाशुद्धे च सम्यक्त्वे मुक्तिश्रीवदन बुधै. ॥ ३९ ॥ यथा च मलिने चित्ते ध्यान कर्तुं न शक्यते। कर्मारातिं तथा हतु सम्यक्त्वे समले जनै ॥४०॥ निर्मले दर्पणे यद्वल्लोक्यते वदन नरै। तद्वद्दक्षैश्च सम्यक्त्वे मुक्तिश्रीमुखपङ्कजम् ॥४१॥

मनुष्योंको निर्मल सम्यग्दर्शनमें ही मुक्ति लक्ष्मीका मुखरूपी कमल दिखाई देता है ॥ ४१ ॥ मुनियोंको विना ज्ञान और
विना व्रतादिकोंके केवल सम्यग्दर्शनसे ही इन्द्रकी विभूति तथा तीर्थंकरकी विभूति प्राप्त होजाती है ॥ ४२ ॥ जिस प्रकार
मकानका आधार उसकी जड वा नीव है उसी प्रकार तप, ज्ञान, व्रत आदि सबका आधार सम्यग्दर्शन है ऐसा श्री जिनेन्द्र-
देवने कहा है ॥ ४३ विद्वान् लोग विना सम्यग्दर्शनके ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहते हैं, चारित्रको कुचारित्र कहते हैं और
मनुष्योंके व्रतोंको सबको निरर्थक बतलाते हैं ॥ ४४ ॥ विना व्रत, तप, ज्ञान और श्रुतके अकेला सम्यग्दर्शन तो अच्छा,
परन्तु विना सम्यग्दर्शनके अकेले व्रत तप ज्ञान और श्रुत अच्छे नहीं, क्योंकि विना सम्यग्दर्शनके अकेले तप व्रत ज्ञान श्रुत
आदि मिथ्यात्वरूपी विषसे दूषित होजाते हैं ॥ ४५ ॥ इसमें कोई संदेह नहीं कि विना सम्यग्दर्शनके यह प्राणी सर्वथा
पशु ही है क्योंकि जिस प्रकार जन्मका अन्धा पुरुष सूर्यको नहीं जानता उसी प्रकार विना सम्यग्दर्शनके यह प्राणी धर्म
अधर्मको भी नहीं जान सकता है ॥ ४६ ॥ यदि सम्यग्दर्शनके साथ साथ अत्यन्त दुःख देनेवाले नरकमें भी निवास करना
पड़े तो भी अच्छा परन्तु विना सम्यग्दर्शनके स्वर्गलोकमें शोभायमान होना भी अच्छा नहीं ॥ ४७ ॥ क्योंकि इस सारभूत
सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे यह प्राणी नरकसे निकलकर लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाला तीर्थंकर होता है, परन्तु विना
सम्यग्दर्शनके भोगोंमें तत्पर रहनेवाला स्वर्गका देव भी आर्तध्यानमें लीन होकर स्थावर जीवोंमें आ उत्पन्न होता है
॥ ४८-४९ ॥ सदा कालसे यह निश्चित चला आरहा है कि तीनो काल और तीनो लोकोंमें सम्यग्दर्शनके समान कल्याण
करनेवाला धर्म आज तक न हुआ, न अब है और न आगे होगा ॥ ५० ॥ सम्यग्दर्शनके समान न कोई मित्र है, न धर्म है,

इन्द्रश्रीर्जिनदेवादिलक्ष्मीर्नैवोपजायते । मुनीना दर्शनेनैव विना ज्ञानव्रतादिभि ॥ ४२ ॥ अधिष्ठान भवेन्मूल हर्म्यादीना यथा तथा ।
तपोज्ञानव्रतादीना दर्शन कथित जिनै ॥४३॥ दर्शनेन विना ज्ञानमज्ञान कथ्यते बुधै. । चारित्र च कुचारित्र व्रत पुसा निरर्थकम् ॥४४॥
वर सम्यक्त्वमेक च व्रतज्ञानतपश्च्युतम् । न पुन सद्व्रत ज्ञान मिथ्यात्वविषदूषितम् ॥४५॥ सम्यक्त्वेन विना प्राणी पशुरेव न संशय ।
धर्माधर्म न जानाति जात्यध इव भास्करम् ॥४६॥ सम्यक्त्वेन सम वासो वर श्वभ्रेऽतिदु खगे । राजते देवलोके न तद्विना देहिना क्वचित्
॥४७॥ श्वभ्रान्निर्गत्य जीवोऽय तीर्थनाथो भवेद् ध्रुवम् । सारसम्यक्त्वमाहात्म्याल्लोकालोकप्रकाशक ॥४८॥ सम्यक्त्वेनविना स्वर्गात्स्थावरेषु
प्रजायते । आर्तध्यान विधायोच्चैर्मिथ्यात्वाद्भोगतत्पर ॥४९॥ सम्यक्त्वसदृशो धर्मो न भूतो न भविष्यति । नास्ति कालत्रये लोकत्रितये

न सार पदार्थ है, न हितकारक है, न कुटुम्ब है, न सुख है ॥ ९१ ॥ इस सम्यग्दर्शनसे सुशोभित चांडाल भी देवके समान है और विना सम्यग्दर्शनके साधु भी स्थान स्थानपर निंदनीय गिना जाता है ॥ ९२ ॥ जो जीव सम्यग्दर्शनको पाकर दो घड़ीके लिये भी छोड़ देते हैं वे थोड़े दिन तक तो मोक्ष जानेसे रुक ही जाते हैं इसमें कोई संदेह नही ॥ ९३ ॥ जिस भव्यके पास सम्यग्दर्शन है उसके हाथमें चिंतामणि रत्न समझना चाहिये तथा उसके घरमें कल्पवृक्ष समझना चाहिये और कामधेनु उसके पीछे पीछे चलनेवाली समझना चाहिये ॥ ९४ ॥ यह सम्यग्दर्शन इस संसारमें एक निधिके समान है और असन्त सुख देनेवाला है इसलिये जिस भव्य जीवने इसको प्राप्तकर लिया उसने जन्म लेनेका फल पा लिया ॥ ९५ ॥ यदि सम्यग्दर्शन न हो तो साधु होकर भी यह मनुष्य वृक्षके समान ही समझना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार वृक्ष अकेला रहता है उसी प्रकार वह साधु भी अकेला रहता है। वृक्ष हिंसा नही करता वह साधु भी हिसा नही करता, वृक्ष भी वनमें रहता है, साधु भी वनमें रहता है और वृक्ष भी शीत, उष्ण आदिकी वाधाएं सहता है, साधु भी शीत उष्ण आदिकी वाधाएं सहता है इसलिये जिस प्रकार वृक्षको मोक्ष प्राप्त नहीं होती उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित साधुको भी मोक्ष प्राप्त नही होती ॥९६॥ सम्यग्दर्शनके विना यह मनुष्य दान पूजा व्रत आदि जो कुछ पुण्यकर्म करता है वह सव व्यर्थ हो जाता है ॥ ९७ ॥ विना सम्यग्दर्शनके यह मनुष्य एकादिवार व्रत दान आदि करता है परंतु उसके फलस्वरूप थोडेसे भोग पाकर फिर वह सदा इस संसाररूपी वनमें परिभ्रमण किया करता है ॥ ९८ ॥ इस सम्यग्दर्शनके बलसे मुनिराज जिन कर्मोको क्षणभरमें

निश्चित सदा ॥९०॥ सम्यक्त्वान्नापरं मित्रं न धर्मः सार एव च। हितं न पितृमात्रादिकुटुम्बं न सुखं न च ॥९१॥ सम्यक्त्वालंकृत पूज्यो। मातंगोपि सुरैर्भवेत्। सम्यक्त्वेन विना साधुर्निंदनीयः पदे पदे ॥ ९२ ॥ गृहीत्वा दर्शनं येऽपि त्यजन्ति घटिकाद्वयम्। कियत्काले न ते मुक्तिं यास्यन्त्यत्र न संशयः ॥९३॥ सम्यक्त्वं यस्य भव्यस्य हस्ते चिन्तामणिर्भवेत्। कल्पवृक्षो गृहे तस्य कामगव्यनुगामिनी ॥९४॥ प्राप्तं जन्मफलं तेन सम्यक्त्वं येन स्वीकृतम्। निधानमिव लोकेऽस्मिन् भव्यजीवेन सौख्यदम् ॥९५॥ एकाकी त्यक्तहिंसः स वनस्थो दर्शनं विना। शीतोष्णादिसहो नित्यं तरुवन्नैव सिद्धचति ॥ ९६ ॥ सम्यक्त्वेन विना किंचित्पुण्यं यत्क्रियते जनैः। तत्सर्वं विफलं च स्याद्दानपूजाव्रतादिकम् ॥९७॥ दृष्टिहीनः पुमान् किंचिद्व्रतदानादिकं सकृत्। कृत्वा लब्ध्वा च भोगं हि भवारण्ये भ्रमेत्पुनः ॥९८॥ सम्यक्त्वस्य बलाज्जीवा निघ्नंति कर्म यत्पुनः। तद्विना न तदाघोरैस्तपस्तीव्रैर्मुनीगिनः ॥९९॥ वरं गार्हस्थ्यमेवार्हं सम्यक्त्वादिविभूषितम्। व्रतं दानादिसंपूर्णं

नष्ट कर देते हैं उनको विना सम्यग्दर्शनके घोर और तीव्र तपश्चरण करनेपर भी कभी नष्ट नहीं कर सकते ॥५९॥ सम्यग्दर्शनसे सुशोभित होनेवाला गृहस्थधर्म ही अच्छा क्योंकि सम्यग्दर्शन सहित गृहस्थधर्म व्रत दान आदि शुभ कार्योंसे परिपूर्ण होता है और भावि मोक्षका कारण होता है ॥ ६० ॥ सबतरहके परिग्रहोंसे रहित और व्रतोंसे सुशोभित ऐसा मुनियोंका अरहंतोंके समान निर्ग्रंथ रूप यद्यपि देवोंके द्वारा पूज्य होता है तथापि विना सम्यग्दर्शनके वह प्रशंसनीय नहीं गिना जाता ॥ ६१ ॥ जो जीव सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे तीनों लोकोंमें भ्रष्ट हैं क्योंकि विना सम्यग्दर्शनके वे किसी समयमें भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ॥ ६२ ॥ परंतु जो जीव सम्यग्दर्शनसे सुशोभित हैं और चारित्र आदिसे रहित हैं वे किसी समय भी संयमको पाकर अवश्य मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ६३ ॥ जिस प्रकार नेत्रहीन मनुष्य रूपको नहीं जान सकता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित जीव भी न देवको जान सकता है, न धर्म अधर्मको जानता है और न गुण अवगुणोंको जान सकता है ॥ ६४ ॥ जिसप्रकार प्राणरहित शरीरको लोग मृतक कहते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित मनुष्य चलता फिरता हुआ जीवित होकर भी मृतक कहलाता है ॥ ६५ ॥ सम्यग्दर्शनके साथ साथ केवल नमस्कार करने मात्रका ज्ञान होनेपर वह जीव सम्यग्ज्ञानी कहलाता है ऐसा श्री गौतम आदि गणधरोंने कहा है ॥ ६६ ॥ परंतु ग्यारह अंगोंको जानने वाला मुनि भी विना सम्यग्दर्शनके अभव्यसेन मुनिके समान चतुर पुरुषोंके द्वारा सदा अज्ञानी कहलाता है ॥ ६७ ॥ हे भव्य जीव यह सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रका वीज वा कारण है, मोक्षके सुख देनेवाला है, अमूल्य है और उपमा रहित है इसलिये सुख प्राप्त करनेके लिये इसे अवश्य धारण करना चाहिये ॥ ६८ ॥ जिन्होंने स्वप्नमें भी सम्यग्दर्शनको पाकर

भाविनिर्वाणकारणम् ॥६०॥ जिनरूप सुरैः पूज्य सर्वसगविवर्जितम् । मुनीना व्रतसयुक्त तद्विना नैव शस्यते ॥६१॥ ये भ्रष्टा दर्शनाच्च ते च भ्रष्टा लोकत्रये मता । नैव यास्यन्ति निर्वाण कदाकालेपि तद्विना ॥६२॥ सम्यक्त्वालकृता जीवा चारित्रादिपरिच्युताः। कदाचित्स यमं प्राप्य ये ते गच्छन्ति निर्वृतिम् ॥६३॥ नेत्रहीना यथा जीवा रूपं जानन्ति नैव च । दृष्टिहीनास्तथा ज्ञेया देवधर्म गुणागुणम् ॥६४॥ त्यक्तप्राण यथा देह मृतक कथ्यते जनैः । दृष्टिहीनो नरस्तद्वच्चलन् मृतक उच्यते ॥६५॥ नमस्कारादिक ज्ञान सम्यक्त्वेन सम हि यः । जानाति सोऽपि सज्ज्ञानी प्रोक्त श्रीगौतमादिभि ॥६६॥ एकादशांगयुक्तोपि यो मुनि सोऽपि तद्विना । अज्ञानी कीर्तित सद्भिरभव्यसेनवत्सदा ॥६७॥ ज्ञानचारित्रयोर्वीज दर्शन मुक्तिसौख्यदम् । अनर्घ्यमुपमातीत्यक्त गृहाण त्व सुखाय तत् ॥ ६८ ॥ धन्यास्ते भुवने पूज्या

अनेक नयोके द्वारा अपने ही पास रख लिया है वे ही मनुष्य संसारमें धन्य हैं, पूज्य है, वंदनीय हैं, प्रशंसनीय हैं और वे ही विद्वानोंमें सर्वोत्तम विद्वान हैं ॥ ६९ ॥ इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह जीव नीच कुल और नीच गतिको छोडकर श्रेष्ठ देव तथा मनुष्य होकर मुक्तिलक्ष्मीका स्वामी ही होता है ॥ ७० ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! सम्यग्दृष्टी पुरुष किस किस नीच गतिको और किस किस नीच कुलको प्राप्त नहीं होता सो मै आपसे सुनना चाहता हूं ॥ ७१ ॥

उत्तर—हे मित्र ! चित्त लगाकर सुन, मै अब सारभूत सुखकी खानि ऐसे इस सम्यग्दर्शनकी महिमा कहता हूं ॥ ७२ ॥ जो विद्वान् शुद्ध सम्यग्दर्शनसे सुशोभित हैं वे चाहे व्रत धारण न भी करें तो भी वे नरकगति और तिर्यंच गतिमें उत्पन्न नही होते, स्त्री पर्याय तथा नपुंसक पर्यायको धारण नहीं करते, खोटे कुलमें उत्पन्न नही होते, बहिरे, गंजे, गूंगे, बौने, अन्धे नहीं होते, दरिद्री नही होते, उनकी आयु थोडी नहीं होती, उनका शरीर विकृत नही होता, उन्हें कभी शोक वा भय नही होता, वे कुरूप नही होते, निंदनीय नहीं होते, दास नही होते, दुष्ट नही होते और मूर्ख नहीं होते ॥ ७३–७५ ॥ जिन जीवोंके पास यह सम्यग्दर्शनरूपी महारत्न विराजमान है वे जीव उद्यम आदि अनेक गुणोसे सुशोभित होते हैं, तेजस्वी और स्वज्ञान विज्ञानके पारगामी होते हैं, वे वज्रसंहनन (वज्रवृषभनाराच) वाले होते हैं, चतुर होते हैं, बड़े बलवान और बड़े उदार होते हैं, वे यशस्वी होते हैं, अनेक लोगोंके स्वामी होते हैं, धन धान्य आदि विभूतियोसे परिपूर्ण होते हैं, समस्त शत्रुओको वश करनेवाले चारों पुरुषार्थोको उत्तम रीतिसे प्राप्त करनेवाले और धर्म, अर्थ, कामको

वधा शस्या बुधोत्तमे । दृष्टिरत्नं स्वस्वप्नेपि मलपार्श्वे कृत न यैः ॥६९॥ सम्यग्दृष्टि स्फुट नीचकुल नीचगति च ना । त्यक्त्वा सुदेव मानुष्य लब्ध्वा मुक्तिवरो भवेत् ॥७०॥ दृष्टियुक्तो नर स्वामिन् या गतिं यत्कुलं न च । याति तत्सर्वमेवाह श्रोतुमिच्छामि तत्त्वत ॥७१॥ एकाग्रचेतसा मित्र श्रृणु त्वं कथयाम्यहम् । माहात्म्य दर्शनस्यैव सारसौख्याकरस्य भो ॥ ७२ ॥ सम्यग्दर्शनसंशुद्धा ये बुधा यान्ति न क्वचित् । श्वभ्रतिर्यग्गति स्त्रीत्व क्लीवत्व कुकुलं च ते ॥७३॥ वधिरत्वं च खजत्वं वामनत्व च मूकताम् । अधत्वं विकलांगत्वमल्पायुस्त्वं दरिद्रताम् ॥७४॥ महाशोकभयत्व च दुर्भगत्व च निदिताम् । दासत्व खलु मूर्खत्वं व्रतादिरहिता अपि ॥७५॥ उद्यमादिगुणोपेतास्तेजोविज्ञानपारगाः । वज्रसहनना दत्वा महावीर्या महाशया ॥७६॥ यशोयुक्ता महानाथा धनधान्यादिसयुताः । निर्जितारिमहावर्गा धर्मार्थ-

सिद्ध करनेवाले होते हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टी जीव अनेक प्रकारकी महिमासे सुशोभित होते हैं, वे समस्त इंद्रियोंके सुखरूपी महासागरमें डूवे रहते हैं और वड़े धर्मात्मा होते हैं॥७६–७८॥ इस सारभूत सम्यग्दर्शनके प्रभावसे जो पुण्य प्राप्त होता है उसके फलसे यह जीव यदि परलोकमें मनुष्य भवमें जन्म लेगा तो वड़े कुलमें जन्म लेगा ॥७९॥ इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ही चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त होती है जिसमें चौदह महारत्न प्राप्त होते हैं, छह खण्ड पृथ्वीका राज्य प्राप्त होता है, सारभूत नौ निधियां प्राप्त होती हैं, विद्याधर आदि अनेक राजा उसकी सेवा करते हैं, सेना आदि छह प्रकारका वल प्राप्त होता है, समस्त पृथ्वीके स्वामीपनेको सूचित करनेवाला एक छत्र उसके मस्तकपर फिरा करता है और देव लोग भी उसकी पूजा किया करते है ॥ ८० ॥ इस सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले परम सुखी उत्तम विद्वान् मनुष्योंको तीर्थंकरकी परम विभूति प्राप्त होती है, जिसमें पंच कल्याणक प्राप्त होते है, इन्द्रादि सव देव उन्हें वंदना करते है, तीनों लोकोंमें क्षोभ होजाता है, धर्मचक्र उनकी अलग ही शोभा वढाता है और उन्हें अनन्त महिमा प्राप्त होती है ॥ ८१–८२ ॥ सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह जीव भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवोंमें उत्पन्न नही होता तथा कल्पवासियोंमें भी किल्विषक, आभियोग आदि नीच देव कभी नही होता ॥ ८३ ॥ जीवादिक पदार्थोंमें यथार्थ श्रद्धा रखनेवाले सम्यग्दृष्टी पुरुष स्वर्गोंमें भी इन्द्र होते हैं वहांपर उन्हें अणिमा महिमा आदि आठों ऋद्धियां प्राप्त होती हैं, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तीनों ज्ञान प्राप्त होते है, उनका शरीर अत्यन्त दिव्य होता है, वे धीरवीर होते है समस्त आभरणोसे सुशोभित होते हैं, केवल मानसिक अमृताहारसे सदा तृप्त रहते है, रोग क्लेश आदि दुःखोसे सदा रहित होते है, दिव्य माला और दिव्य वस्त्रोंसे सदा सुसज्जित रहते हैं और

कामसाधका ॥७७॥ अनेकमहिमायुक्ता दृष्टिरत्नविराजिता । सर्वेंद्रियसुखाब्धेश्च मध्यगा धर्मसंयुता ॥७८॥ अमुत्र सारसम्यक्त्वजातपुण्यफलाद् ध्रुवम् । मनुजत्वे च जायन्ते खगादिनृपसेवितम् ॥७९॥ षडगवलसपाद्य चैकछत्र सुरार्चितम् । लभन्ते चक्रिवर्तित्व प्राणिनो दर्शनान्विता ॥ ८० ॥ पञ्चकल्याणकोपेता शक्रादिसुरवन्दिताम् । त्रैलोक्यक्षोभिका सारा धर्मचक्रविभूषिताम् ॥८१॥ अनन्तमहिमायुक्तां दर्शनाढ्या सुखाकराम् । तीर्थंकरविभूति च प्राप्नुवन्ति बुधोत्तमा. ॥ ८२ ॥ ज्योतिष्कव्यतरत्व च कुदेवता सर्वा स्त्रियम् । भावनत्व न गच्छति वाहनत्व सुदृष्टय ॥८३॥ ऋद्ध्यष्टकसमायुक्ताः ज्ञानत्रितयलोचना । दिव्यदेहधरा धीरा सर्वाभरणशोभिताः ॥८४॥ मानसाहारसतृप्ता. रोगक्लेशादिवर्जिता । दिव्यमालाम्बरोपेता निष्कपा मेरुवत्सदा ॥८५॥ सुगधीकृतदिग्भागानिःश्वासा चारुलक्षणा । धातुनेत्रपरिस्पद

मेरुपर्वतके समान सदा निष्कंप अचल रहते हैं। वे इन्द्र अपने उच्छ्वाससे समस्तदिशाओंको सुगन्धित करते रहते हैं, उनके शरीरपर सुन्दर लक्षण रहते हैं, उनका शरीर धातु उपधातुओंसे रहित होता है, उनके नेत्रोंकी टिमकार नहीं लगती, वे वडे रूपवान और शुभ हृदयके होने है। उनके नख केश नहीं वढते, दिव्य स्त्रियोंके भोगोंसे सदा सुखी रहने हैं, सब देव उनको नमस्कार करते हैं इस प्रकार वे देवोंकी सभामें विराजमान होकर आनंद किया करते है, गीत नृत्य आदि सुख देनेवाले कार्योंमें आसक्त रहते हैं और सुख सागरमें सदा डूवे रहते है ॥ ८४–८८ ॥ हे मित्र ! वहुत कहनेसे क्या लाभ है थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि स्वर्गलोकमें और मनुष्यलोकमें जो कुछ उत्तमसे उत्तम सुख है वे सव सम्यग्दृष्टी जीवोंको ही प्राप्त होते हैं ॥ ८९ ॥ यह विधि पूर्वक ग्रहण किया हुआ सम्यग्दर्शन ही समस्त शास्त्रोंका सर्वस्व है, यही सिद्धांतका जीवन है और यही मोक्षरूपी वृक्षका वीज है ॥९०॥ इस संसारमें कितने ही सम्यग्दृष्टी भव्य तो ऐसे है जो पहले सुख देनेवाले स्वर्गोंमें देव होते है फिर वहांसे आ मनुष्य होकर संयम धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेने हैं तथा भगवान जिनेंद्रदेवके भक्त कितने ही भव्य ऐसे है जो मनुष्य और देवोंके सुख भोगकर सात आठ भवके वाद मोक्ष प्राप्त करते है ॥ ९१–९२ ॥ इस संसारमें सम्यग्दृष्टी जीवोंको सुख देने वाली देवगति अथवा मनुष्यगतिको छोडकर और कोई गति नहीं होती है ॥ ९३ ॥ जो बुद्धिमान् इस सम्यग्दर्शनको अतिचार रहित पालन करता है उसके लिये मोक्ष अपने आप आजाती है फिर भला उसके लिये स्वर्गके सुखोंकी तो वात ही क्या है ॥ ९४ ॥

त्यक्तरूपा. शुभाशया ॥८६॥ नखकेशादिसहीना दिव्यस्त्रीभोगसगता । सर्वामरैर्नुता नित्य स्थिता देवसभादिषु ॥८७॥ गीतनृत्यादिसक्ताः सौख्यसागरमध्यगाः । इन्द्रा भवन्ति ते स्वर्गे ये तत्त्वरुचयो नराः ॥८८॥ किमत्र बहुनोक्तेन सम्यक्त्वाद्यत्सुख वरम् । देवलोके नृलोके च तत्सर्वं देहिनां भवेत् ॥ ८९ ॥ एतत्समयसर्वस्वमेतत्सिद्धातजीवितम् । एतन्मोक्षगतेर्बीज सम्यक्त्व विद्धि तत्त्वत ॥ ९० ॥ केचित्सद्दृष्टयो भव्याः स्वर्गं गत्वा सुखाकरम् । मनुष्यत्व पुन प्राप्य निर्वृति यान्ति सयमात् ॥ ९१ ॥ केचिच्छ्रीजिनभक्त्या हि भोगान् भुक्त्वा नृदेवजान् । सप्ताष्टभवपर्यन्त पश्चाद्यान्ति शिवालयम् ॥९२॥ त्यक्त्वा देवगतिं सारां नृगतिं च सुखाकराम् । अन्यागतिर्भवेन्नैव सम्यग्दृष्टिनृणा भुवि ॥ ९३ ॥ अतिचारविनिर्मुक्त यो धत्ते दर्शनं सुधी । तस्य मुक्ति समायाति नाकसौख्यस्य का कथा ॥९४॥ प्रभो

प्रश्न—हे प्रभो ! कृपाकर मेरे लिये सम्यग्दर्शनके उन सब अतीचारोंका निरूपण कीजिये जिससे उनका त्याग कर देनेपर आज ही मेरा सम्यग्दर्शन निर्मल होजाय ! ॥ ९५ ॥

उत्तर—हे वत्स ! हे श्रावकोत्तम ! तू अपने चित्तको अपने वशमें करके सुन, अब मैं सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाले अतिचारोंको त्याग करनेके लिये कहता हूं ॥९६॥ शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अन्यदृष्टि संस्तव ये पांच सम्यग्दर्शनके अतिचार गिने जाते हैं ॥९७॥ जो अज्ञानी तीर्थंकरोंमें, गुरुओंमें, शास्त्रोंमें, श्रेष्ठ तत्त्वोंमें और अहिंसामय उत्तम धर्ममें शंका करता है उसके शंका नामका पहिला अतिचार लगता है ॥९८॥ जो बुद्धिहीन चारित्र पालन कर अथवा और भी कोई धर्मकार्य कर फिर उससे इस लोक संबंधी अथवा परलोक संबंधी भोगोंकी इच्छा करता है वह आकांक्षा दोषका भागी होता है ॥ ९९ ॥ जो मुनियोंके मलिन अथवा रोगी शरीरको देखकर घृणा करता है वह सम्यग्दर्शनके विचिकित्सा नामक दोषको प्राप्त होता है ॥ १०० ॥ मिथ्यादृष्टि, कुतपसी, मिथ्याज्ञानी अथवा मिथ्या व्रतोंको पालन करनेवालेकी जो प्रशंसा करता है उन्हें मनमें अच्छा प्रशंसनीय समझता है उसके सम्यग्दर्शनका अन्यदृष्टिप्रशंसा नामका अशुभ अतिचार लगता है ॥ १०१ ॥ जो बुद्धिहीन, मिथ्याज्ञानी अथवा मिथ्याचारित्रवालोंकी वचनसे स्तुति करता है उसके अन्यदृष्टिसंस्तव नामका सम्यग्दर्शनका पांचवा अतिचार लगता है ॥ १०२ ॥ जो मनुष्य इन पांचों अतिचारोंका त्यागकर निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण करते हैं उनके लिये इन तीनों लोकोंमें ऐसा कौनसा पदार्थ है जो प्राप्त न हो सके अर्थात् उनके लिये इस संसारमें अलभ्य पदार्थ कोई नहीं है ॥ १०३ ॥

सर्वानतीचारान् दयां कृत्वा निरूपय । तेषां त्यागान्ममाद्यैव सम्यक्त्वं निर्मलं भवेत् ॥९५॥ स्वचित्तं सन्निधायोच्चैः स्ववशे श्रावक शृणु । अतीचारान् प्रवक्ष्येऽहं तत्त्यागाय विरूपकान् ॥ ९६ ॥ शंका कांक्षा भवेत्पापा विचिकित्सा तथा परा । अन्यदृष्टिप्रशंसा च संस्तवो हि कुलिंगिनाम् ॥९७॥ तीर्थेशे सद्गुरौ शास्त्रे सप्ततत्त्वे वृषे च यः । शंकां करोति यो मूढः शंकादोषं लभेत सः ॥९८॥ चरणादिवृषं कृत्वा भोगान् वाञ्छति योऽशुभान् । इहामुत्र भवे सोऽधीराकांक्षादोषभाग्भवेत् ॥९९॥ दृष्ट्वा मुनीश्वराणां यो मललिप्तरुजान्वितम् । घृणां धत्ते भजेत्सोपि मलं विचिकित्साभिधम् ॥१००॥ कुदृष्टेः कुतपोज्ञानव्रतेषु यः करोति ना । प्रशंसां जायते तस्य सम्यक्त्वस्य मलेऽशुभे ॥१०१॥ करोति संस्तवं योऽधीः कुज्ञानकुव्रतादिजम् । पाखंडिनामतीचारं लभेत्तद्दर्शनस्य सः ॥१०२॥ पञ्चातिचारसंत्यक्तं सम्यक्त्वं शशिनिर्मलम् ।

इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे मुनियोंको मोक्षका वह सुख प्राप्त होता है जो स्वजन परिजनोंके सुखसे पारंगत है, शरीरादिके दुःखोंसे रहित है, उपमा रहित है, सारभूत है, संसारसे पारंगत है, ज्ञानावरणादि सब शत्रुओंसे रहित है और सब तरहकी वाधाओंसे दूर है ॥ १०४ ॥ यह सम्यग्दर्शन समस्त सुखोंका निधि है, स्वर्ग मोक्षका एक अद्वितीय कारण है, नरकरूपी घरको वन्द कर देनेके लिये किवाड़ोंके समान है, कर्मरूपी हाथीके लिये सिंह है, पापरूपी वनके लिये कुल्हाडी है, समस्त सुखोंकी खानि है और सब तरहकी शंकाओंसे रहित है। हे वत्स! ऐसे इस सम्यग्दर्शनको तू धारण कर ॥ १०५ ॥ हे मित्र! यह सम्यग्दर्शन कर्मरूपी पर्वतको चूर चूर करनेके लिये वज्रके समान है, दुःखरूपी दावानल अग्निको शांत करनेके लिये मेघकी धाराके समान है, मोक्षके सारभूत सुखको देनेवाला है और अनेक गुणोंका घर है अतएव मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू इसे धारण कर ॥ १०६ ॥ यह सम्यग्दर्शन मोक्ष–सुख देनेवाले एक सर्वोत्तम कल्पवृक्षके समान है। भगवान जिनेंद्रदेवमें श्रद्धा रखना ही इसकी जड़ है, जीवादिक तत्वोंपर श्रद्धान रखना इसका स्कंध वा पीड है, निःशंकित आदि समस्त गुणरूपी जलके सींचनेसे यह वढता है, चारित्र ही इसकी शाखाएं हैं, समस्त समितियां ही इसके पत्ते और फूल हैं उनके भारसे यह नम्र होरहा है और मोक्ष–सुख ही इसका फल है। इसप्रकार यह सम्यग्दर्शनरूपी वृक्ष सर्वोत्तम कल्पवृक्ष है ॥ १०७ ॥ यह सम्यग्दर्शन सबमें सारभूत है, समस्त गुणोंका घर है और उपमा रहित है, ऐसे इस सम्यग्दर्शनको जिन्होंने धारण कर लिया है इस संसारमें वे ही पुरुषोत्तम धन्य हैं, वे ही पुण्यवान हैं, वे ही तीनों

ये भजन्ति नरास्तेषा किं नास्ति भुवनत्रये ॥१०३॥ स्वयमपरमसार त्यक्तदेहादिभार निरुपममतिसार प्राप्तससारपारम्। अरुजमजमशक सर्ववाधादित्यक्तं, भवति शिवसुख वै दृष्टियोगान्मुनीनाम् ॥१०४॥ सकलसुखनिधान स्वर्गमोक्षैकवीज नरकगृहकपाट कर्मनागस्य सिहम्। दुरितवनकुदाव सर्वसौख्यादिखानि विगतनिखिलशक दर्शनं त्व भजस्व ॥१०५॥ कर्मपर्वतनिपातनवज्र दुःखदावशमनेकसुमेघम्। मुक्तिसारसुखदं गुणगेह दर्शन भज मित्र! विमुक्त्यै ॥१०६॥ जिनवरवचमूलस्तत्त्वसस्कधपीठ सकलगुणपयोधिवर्द्धितो वृत्तशाख। अखिलसमतिपत्रपुष्पभारोवतान्न. शिवसुखफलनम्रो दृष्टिसत्कल्पवृक्ष ॥१०७॥ धन्यास्ते पुरुषोत्तमाः सुकृतिनो लोकत्रये पूजिता। सारासारविचारमार्गचतुरा. पापारिविध्वसका। सार सर्वगुणैकगेहमसम सद्दर्शन ये श्रियात्, भुक्त्वा सर्वसुख नृदेवजनित यात्येव मुक्त्यालयम् ॥१०८॥

इतिश्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे सम्यक्त्वमलमाहात्म्य वर्णनो नामैकादशम परिच्छेदः।

लोकोंमें पूज्य हैं, सार असारके विचार करनेमें वे ही सबसे अधिक चतुर हैं और वे ही पापरूप शत्रुओंको सर्वथा नाश करनेवाले हैं। ऐसे मनुष्य, देव और मनुष्योंके सर्वोत्तम सुखोंका अनुभवकर अंतमें अवश्य ही मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥ १०८ ॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें सम्यग्दर्शनके दोष और उसके माहात्म्यको वर्णनकरनेवाला यह ग्यारहवा परिच्छेद समाप्त हुआ।



अथ बारहवां परिच्छेद।

जो तीनो लोकोमें पूज्य हैं, पूजाके योग्य हैं और राग द्वेषसे सर्वथा रहित हैं ऐसे श्री वासुपूज्य भगवानको मैं उनके गुणसमूह प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ यहांतक सम्यग्दर्शनका व्याख्यान होचुका है अब भव्य जीवोंका उपकार करनेके लिये ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन करता हूं ॥ २ ॥ उन ग्यारह प्रतिमाओंमें भी मैं सबसे पहिले सर्वोत्तम दर्शन प्रतिमाको कहता हूं। इस दर्शन प्रतिमामें सम्यग्दर्शनके साथ साथ आठ मूलगुणोंका पालन किया जाता है ॥ ३ ॥ जो सम्यग्दर्शनके साथ साथ आठ मूलगुणोंका पालन करता है और सातों व्यसनोंका त्याग करता है उस पुरुषको श्री जिनेन्द्रदेव दर्शनिक अथवा दर्शन प्रतिमावाला कहते हैं ॥ ४ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! आज आप कृपाकर मेरे लिये आठ मूलगुण और सातों व्यसनोंका स्वरूप वर्णन करिये ॥५॥

उत्तर—हे मित्र ! तेरा हृदय ज्ञान और वैराग्यसे सुशोभित है इसलिये उसको और भी निर्मल बनाकर सुन। अब

अथ द्वादशमः सर्गः।

वासुपूज्य जिनं वन्दे लोकत्रितयपूजितम्। पूजार्हं रागनिर्मुक्तं तद्गुणग्रामसिद्धये ॥१॥ व्याख्याय दर्शनं पूर्वं वक्ष्येह प्रतिमां वराम्। भव्यलोकोपकाराय विश्वैकादश सत्यया ॥२॥ तासां मध्ये प्रवक्ष्यामि प्रथमां प्रतिमां वराम्। दर्शनाख्यं ससम्यक्त्वामष्टमूलगुणान्वितान् ॥३॥ दर्शनेन समं यस्तु धत्ते मूलगुणाष्टकम्। जिनैर्दर्शनिकः प्रोक्तः स पुमान् व्यसनोज्झितः ॥४॥ स्वामिन् मूलगुणानद्य सर्वाणि व्यसनानि च। कथय त्वं ममाग्रेऽपि कृपां कृत्वा विशुद्धये ॥५॥ स्वचित्तं निर्मलीकृत्य ज्ञानवैराग्यवासितम्। शृणु तेऽहं प्रवक्ष्यामि मित्र !

मैं तेरे लिये आठो मूलगुणोंको कहता हूं ॥ ६ ॥ मद्य मांस मधुका त्याग और पांचो उदंबरोंका त्याग ही श्री जिनेंद्रदेवने गृहस्थोंके आठ मूलगुण वतलाए है ॥ ७ ॥ हे मित्र ! यह मद्य अनेक त्रस जीवोंसे भराहुआ है, धर्म कर्मको नाश करनेवाला है और बुद्धिको नष्ट करदेनेवाला है इसलिये धर्मकी इच्छा रखनेवालोंको इसका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ॥ ८ ॥ जो मद्यपान करता है वह चतुर पुरुषोंके द्वारा सदा निंदनीय गिना जाता है, जिससमय वह मद्य पीकर वेहोश होकर मुंह फाडकर पड़ जाता है तो उस समय कुत्ते भी उसके मुंहमें मूत जाया करते है और वह उस मूतको वडे मजेसे चाटा करता है, हाय हाय ! ऐसे जीवनको भी धिक्कार है ॥ ९ ॥ जो जीव इस जन्ममें मद्य पीते हैं वे मरकर नरकमें पडते हैं और वहांपर अन्य नारकी उनका मुंह फाडकर जवर्दस्ती उनके मुंहमें तपाया हुआ गलाहुआ तांवेका पानी डालते है ॥१०॥ जो मूर्ख मद्यपानका त्याग किये विना ही धर्म धारण करना चाहते हैं वे विना पैरोंके ही मेरुपर्वतपर चढना चाहते हैं ॥ ११ ॥ यह मद्यपान नरक निगोद आदि कुगतियोंको प्राप्त करानेवाला है, असार है, बुद्धिको नष्ट करनेवाला है, नरकको ले जानेका एक मार्ग है, पाप और दुःखोंकी जड़ है, व्याकुलता उत्पन्न करनेवाला है और धर्मरूपी वृक्षको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान है, इसलिये हे वत्स ! धर्मकी प्राप्तिके लिये तू इस निंद्य मद्यपानका त्याग कर ॥ १२ ॥

इसी प्रकार मांस भी महा निंद्य है, जीवोंकी हिंसासे उत्पन्न होता है और अनेक पापोंकी खानि है इसलिये इसे केवल मूर्ख लोग ही सेवन करते हैं। विवेकी पुरुष दूरसे ही इसका त्याग करदेते हैं ॥ १३ ॥ देख, जो दुष्ट विना किसी कृपा वा दयाके जीवोंको मारकर मांस खाते हैं वे वैरभावका संस्कार होजानेके कारण परलोकमें उन्ही जीवोंके द्वारा मारे

मूलगुणादिकम् ॥६॥ मद्यमांसमधूनैव तथोदुंबरपञ्चकम् । अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ता श्रीजिनैर्गृहमेधिनाम् ॥७॥ अनेकत्रससम्पूर्णं धर्मादिक्षयकारकम् । बुद्ध्यादिनाशकं मद्य. त्याज्य वृषजिघृक्षुभि. ॥८॥ पीतमद्यो बुधैर्निंद्य पथि वा पतितो मुखे । मूत्र कृत्वापि लिह्याच्च यो धिक् तस्यास्तु जीवितम् ॥९॥ मद्य पिवन्ति यो मुत्र मुखे तस्य विदार्य वै । क्षिपन्ति नारका श्वभ्रे तप्त ताम्रादिज रसम् ॥१०॥ मद्यपानमत्यक्त्वा यो धर्ममिच्छति मूढधी । विना स चरणैनैव मेरुमारोहित च स· ॥११॥ कुगतिकर्मसारं बुद्धिनिर्नाशक वै, नरकगमनमार्गं पापदुःखादिमूलम् । विकलकर्मयित्व धर्मवृक्षाग्निदाव, त्यज विषमिव धर्मप्राप्तये मद्यपानम् ॥१२॥ जीवहिंसादिसजात निंद्य पापकर शठे । स्वीकृत चास्पृश लोके पल त्याज्य विवेकिभि ॥१३॥ हत्वा यस्यामिष योऽत्र प्राप्ति दुष्ट· कृपां विना । चामुत्र तस्य लोके स वैरसस्कारयोगत

जाते हैं ॥ १४ ॥ जो नीच केवल स्वादसे ठगे जानेके कारण मांस खाते हैं वे अनेक दुःखोंसे भरे हुए संसाररूपी महासागरमें अवश्य डूबते हैं ॥ १५ ॥ जो मूर्ख मांसभक्षणका तो त्याग कर नहीं सकते और धर्म धारण करना चाहते हैं वे विना नेत्रोंके नाटक देखना चाहते हैं ॥ १६ ॥ यह मांस सेवन नरकके दुःख देनेवाला है, असार है, पापरूप वृक्षकी जड़ है, अनेक प्रकारके जीवसमूहोंसे भरा हुआ है, उसके छूने मात्रसे ही अनंत जीवोंका घात होता है, इसीलिये धार्मिक सज्जन लोग विषके समान इसका त्याग कर देते हैं। यह पापरूप है और कुगतिका बीज है, इसलिये हे वत्स ! धर्म धारण करनेके लिये तू इसका त्याग कर ॥ १७ ॥

यह मधु वा शहत भी अनेक त्रस जीवोंके उत्पन्न होनेका स्थान है, और मक्खियोंका वमन किया हुआ उच्छिष्ट है इसीलिये इसका सेवन करना अनेक पाप और दुःखोंको उत्पन्न करनेवाला है, निंद्य है और अपवित्र है। बुद्धिमानोंको दूरसे ही इसका त्याग कर देना चाहिये ॥ १८ ॥ जो अज्ञानी रोग आदिको दूर करनेके लिये भी शहतको काममें लाता है वह अनेक रोगोंका पात्र होकर नरकादि दुर्गतियोंमें प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ जो मूर्ख मद्य और मांसके समान शहतको खाता है वह मद्य मांस आदि सबका सेवन करता है और अनेक दुर्गतियोंमें प्राप्त होता है, क्योंकि शहतमें असंख्य जीव रहते हैं ॥२०॥ जो मूर्ख मधुके सेवन करनेसे रोगोंका नाश करना चाहते हैं वे अवश्य ही तेलसे अग्निको बुझाना चाहते हैं ॥ २१ ॥ हे मित्र ! यह शहत अनेक छोटे छोटे कीडोंसे भरा हुआ है, अनेक चौइंद्रिय जीवोंके घातसे उत्पन्न होता है, इसका सेवन करना अनेक दुर्गतियोंका कारण है, सज्जन लोगोंके द्वारा स्पर्श करने योग्य भी नहीं है, यह समस्त पापोंकी

॥१४॥ पलाशनं प्रकुर्वन्ति येऽधमाः स्वादुवञ्चिताः । मज्जन्ति दुःखसम्पूर्णे ते संसारमहार्णवे ॥१५॥ असक्ता आमिषं त्यक्तुं धर्मं वाञ्छति ये शठाः । नयनाभ्यां विना तेपि द्रष्टुमिच्छन्ति नाटकम् ॥१६॥ नरककर्मसारं पापवृक्षस्य कन्दं, कृमिकुलशतपूर्णं चास्पृशं नैव दृश्यम् । इह विषमतिपापं सज्जनैर्धर्मयुक्तैः त्यज कुगतिकुबीजं त्वं पलं धर्महेतोः ॥१७॥ त्रसजीवादिसंव्याप्तं मक्षिकाछर्दितं मधु । पापदुःखादिकं निंद्यं अपवित्रं त्यजेद्बुधः ॥१८॥ मधु रोगादिशान्त्यर्थं यो गृह्णाति स मूढधीः । रोगस्य भाजनं मृत्वा सोप्यधातु यान्ति दुर्गतिम् ॥१९॥ समं मद्यामिषेणैव यो भुंक्ते माक्षिकं शठः । भुक्तं मद्यादिकं सर्वं तेन दुर्गतिदायकम् ॥२०॥ रोगनाशं सुवाञ्छन्ति ये खला मधुना स्वयम् । निवारयन्ति ते नूनं तैलेनैव हुताशनम् ॥२१॥ कृमिकुलशतपूर्णं सत्त्वघातादिजातं, कुगतिगमनहेतुं प्रास्पृशं साधुलोकैः । सकलदुरितखानि

खानि है, क्लेश तथा व्याधियोंकी जड़ है और अत्यन्त अपवित्र है। हे मित्र! सुख प्राप्तकरनेके लिये तू इसका त्याग कर ॥२२॥
इसी प्रकार विवेकी पुरुषोको उदंवर फलोका त्याग भी कर देना चाहिये, क्योंकि ये भी अनेक सूक्ष्म जन्तुओंसे
भरे रहते हैं इसलिये इनके सेवन करनेसे नरकादिकके अनेक दुःख प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥ जो मूर्ख दुर्भिक्ष आदि पडनेपर
भी अनेक कीड़ोंसे भरे हुए इन फलोंको खाता है वह अनेक जीव-राशिका नाश करदेनेके कारण नरक वा तिर्यंच गतिमें
ही जन्म लेता है ॥ २४ ॥ इसलिये प्राणोंका त्याग कर देना अच्छा परन्तु भारीसे भारी दरिद्रता पडनेपर भी असंख्यात
जीवोंसे भरे हुए पांचो उदंवरोका सेवन करना अच्छा नही ॥२५॥ हे मित्र ! तू धर्मकी प्राप्तिके लिये इन वड, पीपल, ऊमर
(गूलर), कठूमर (अंजीर), पाकर पांचों उदंवर फलोंका त्यागकर, क्योकि मांसके समान इसे भील आदि नीच लोग ही
सेवन करते हैं ॥ २६ ॥ हे वत्स ! वट, पीपल आदि पांचो उदंवरोका सेवन करना नरकमें ले जानेका कारण है, दुःख
और दरिद्रताको उत्पन्न करनेवाला है, और सर्वोत्तम मोक्ष-सुखका शत्रु है। ये पांचों फल अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरे रहते
हैं, और नीच लोगोंके द्वारा ही सेवन किये जाते हैं इसके सिवाय ये पापकी जड़ है। इसलिये हे मित्र ! धर्मकी प्राप्तिके
लिये तू इनका भी त्याग कर ॥ २७ ॥ जो मनुष्य श्रेष्ठ नियम लेकर इन आठो मूलगुणोंका पालन करते है वे अवश्य ही
स्वर्गसुखको प्राप्त होते हैं ॥ २८ ॥ ये आठों मूलगुण आगे कहे हुए वारह व्रतोंके मूल कारण हैं, और वारह व्रतोंके
पहिले धारण किये जाते है तथा स्वर्गादिकके सुख देनेवाले हैं, इसलिये जिनेन्द्र भगवान इनको मूलगुण कहते है ॥२९॥
जो मनुष्य धर्मकी जड़रूप इन मूलगुणोको भी धारण नहीं कर सकते वे अनेक प्रकारके पापोंका संग्रहकर संसार महासा-

---

क्लेशवाध्यादिमूलम्, त्यज मधु सुखहेतोश्चापवित्र सुमित्रम् ॥२२॥ उदम्बरफलान्येव न ग्राह्याणि विवेकिभि । सूक्ष्मजन्तुभृतान्येव दु ख-
श्वभ्रकराणि वै ॥२३॥ दुर्भिक्षेनैव यो भुक्ते कीटाद्यानि फलानि सः । श्वभ्रतिर्यग्गतिं यान्ति जीवराशिप्रभक्षणात् ॥२४॥ वरं प्राणपरि-
त्यागो न चोदुबरपंचकम् । भ्राह्य विसख्यजीवादिव्यात तीव्रदरिद्रकम् ॥२५॥ त्यज त्वं धर्मसिद्धयर्थं वटादिफलपचकम् । भिल्लादिकुजनै-
र्भक्ष्यमामिषेण समं ध्रुवम् ॥२६॥ नरकगमनमार्गं दुःखदारिद्र्यबीजं, वरशिवसुखशत्रुं सूक्ष्मजीवादिपूर्णम्। कुजनगणगृहीत पिप्पलादिप्रसूतं,
फलमपि त्यज धर्मप्राप्तये पापमूलम् ॥२७॥ अष्टौ मूलगुणानेव पालयन्ति सदा नरा. । ये ते स्वर्गं प्रयान्त्येव प्रादाय नियमं वरम् ॥२८॥
द्वादशव्रतमूलत्वा गुणानां प्रथमोद्भवात् । स्वर्गादिसुखसदानादुक्ता मूलगुणा जिनैः ॥२९॥ व्रतं धर्तुमसक्ता येऽधमा मूलगुणादिजम् । ते

गरमें डूबते हैं ॥ ३० ॥ इसलिये हे बुद्धिमान् ! आगे कहे हुए व्रतोंको पालन करनेके लिये और स्वर्ग मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिये इन आठों मूलगुणोंको चित्त लगाकर पालन कर ॥ ३१ ॥ इस प्रकार पहिले मूलगुणोंका व्याख्यान किया।

अब हे श्रावक ! धर्मकी सिद्धिके लिये सातों व्यसनोंको कहता हूं ॥ ३२ ॥ जूआ खेलना, मांस खाना, मद्यपान करना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्रीसेवन करना ये सात व्यसन कहलाते हैं। ये सातों व्यसन पापोंकी जड़ हैं इसलिये हे भव्य ! तू इनका त्याग कर ॥ ३३ ॥ जो दुष्ट मनुष्य इस संसारमें जूआ खेलते हैं वे संसारमें अपनी अपकीर्ति फैलाते हैं, उनके द्रव्यका नाश होता है और अन्तमें नरकमें पड़ते हैं ॥ ३४ ॥ सातों व्यसन इस जूआ खेलनेसे ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये जो जूआ खेलता है उसे समस्त व्यसनोंके सेवन करनेका ही फल प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥ अरे जिस जूआके खेलनेसे राजा युधिष्ठिर ऐसे नष्ट होगये फिर भला जूआ खेलनेवाले अन्य साधारण लोग किसप्रकार दुःखी नहीं हो सकते अर्थात् अवश्य होते हैं ॥ ३६ ॥ जूआ खेलनेवालोंको जो पाप लगता है तथा भवभवमें जो पाप उन्हें लगता है और जो वध बंधन आदिके दुःख भोगने पड़ते हैं उन्हें कौन कह सकता है ? अर्थात् वे पाप और दुःख किसीसे कहे भी नहीं जासकते ॥ ३७ ॥ यह जूआ खेलना पापोंके वनको बढ़ानेके लिये मेघकी धाराके समान है, दुःख और दरिद्रताका मुख्य कारण है, नरकरूपी घरमें ले जानेवाला है, मोक्षमहलके लिये किवाड़ जुड़ देनेवाला है, समस्त व्यसनोंका मूल कारण है और सदाकालतक अपकीर्तिका कारण है इसलिये हे मित्र ! तू धर्म प्राप्त करनेके लिये कुगतियोंमें डालनेवाले इस जूआका त्याग कर ॥ ३८ ॥

पापमग्रहं कृत्वा मज्जन्ति भवसागरे ॥ ३०॥ एकचित्तेन भो धीमन् ! भज त्वं व्रतशुद्धये। अष्टौ मूलगुणानेव नाकमुक्तिसुखाय वा ॥३१॥ आदौ मूलगुणान् सर्वान् व्याख्याय शृणु श्रावकान् । वक्ष्ये श्रीधर्मसिद्ध्यर्थं सप्तैव व्यसनान्यहम् ॥३२॥ द्यूतक्रीडा प्रकुर्वन्ति ये नरा अत्र ते ध्रुवम् । अकीर्तिं द्रव्यनाशं च प्राप्य श्वभ्रे पतन्त्यहो ॥ ३३ ॥ द्यूतामिषसुरावेश्याखेटचौर्यपरस्त्रियः । सप्तैव व्यसनान्येव पापमूलानि भो त्यज ॥ ३४ ॥ द्यूतमूलानि सप्तैव व्यसनानि भवन्ति वै । द्यूतं यो रमते तस्य स्युः सर्वव्यसनान्यलम् ॥३५॥ युधिष्ठिरादयो द्यूतयोगान्नष्टा नृपा यदि । अन्यो यो रमते द्यूतं न स्यात्किं सोपि दुःखभाक् ॥३६॥ द्यूतासक्तस्य यत्पापं यच्च दुःखं भवे भवे । वधबंधादिकं यत्स्यात्तद्वक्तुं कः प्रभुर्भवेत् ॥३७॥ दुरितवनकुमेघं दुःखदारिद्रदीनं, नरकगृहप्रवेशं मुक्तिगेहे कपाटम् । सकलव्यसनमूलं सर्वदा-

इसी प्रकार मांस भी जीवोंके घात होनेसे उत्पन्न होता है, नरक और तिर्यंच गतिके अनेक दुःख देनेवाला है, निंद्य है, पापकी खानि है, इसलिये हे भ्रात ! इसका भी तू त्यागकर ॥ ३९ ॥ मद्य भी अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरा हुआ है, विवेक और बुद्धिको नाश करनेवाला है, अनेक पापोंको बढ़ानेवाला है और धर्मका ध्वंस करनेवाला है इसलिये सुख प्राप्त करनेके लिये इस मद्यका भी त्यागकर ॥ ४० ॥ यह वेश्या मद्य मांस आदिमें सदा आसक्त रहती है, चांडाल आदिकोंमें भी लॅपट रहती है, और सदा अपकीर्ति देनेवाली है इसलिये हे मित्र ! सर्पिणीके समान इस वेश्याको तू दूरसे ही छोड ॥ ४१ ॥ शिकार खेलनेमे भी अनेक जीवोंकी हिंसा होती है, हिंसासे पाप, दुःख और दुर्गतियां प्राप्त होती हैं तथा अनेकवार वध बंधन आदिके दुःख सहने पडते हैं इसलिये इस शिकारको भी दूरसे त्यागकर ॥ ४२ ॥ चोरी करनेसे कभी मर जाना पडता है, कभी शरीर काटा जाता है, बंधनमें पडना पडता है तथा और भी अनेक प्रकारके दुःख तथा दरिद्रता प्राप्त होती है। इसके सिवाय चोरी करनेसे दूसरोंको सदा दुःख पहुंचाना पडता है इसलिये हे वत्स ! इस चोरीको भी तू छोड़ ॥ ४३ ॥ परस्त्रीसेवन सब दुःखोंकी खानि है, पापकी वेल है, भय अपकीर्ति देनेवाली है और नरककी देहली है इसलिये परस्त्रीसेवन करना भी सर्वथा छोड देना चाहिये ॥ ४४ ॥ इन व्यसनोंमेंसे एक एक व्यसनको सेवन करनेवाले अनेक जीव नष्ट हो चुके हैं फिर भला जो समस्त व्यसनोंमें आसक्त है वह क्यों दुःखी नहीं होसकता ? अर्थात् वह अवश्य महा दुःखी होगा ॥ ४५ ॥ जूआके खेलनेसे राजा युधिष्ठिरको अनेक प्रकारके दुःख प्राप्त हुए थे—उन्हें राज्यसे भ्रष्ट होना पडा था, निर्जन बनमें निवास करना पडा था और फिर भारी युद्ध करना पडा था ॥ ४६ ॥ मांस सेवन करनेसे राजा

कीर्तिहेतुं, त्यज कुगतिकरं त्वं धर्मलाभाय द्यूतम् ॥३८॥ सत्त्वघातादिसंजातं श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम्। निंद्यं पापकरं भ्रातस्त्यज त्वं निखिलामिषम् ॥३९॥ सूक्ष्मजीवभृतं मद्यं विवेकबुद्धिनाशकम्। धर्मविध्वंसकं प्राघप्रदं त्यज सुखायते ॥४०॥ मद्यमांसादिसंसक्तां मातंगादिषु लंपटाम्। सर्पिणीमिव भो मित्र त्यज वेश्यां कुकीर्तिदाम् ॥४१॥ जीवहिंसाकरं पापं दुःखदुर्गतिदायिकम्। वधबंधकरं दक्ष आखेटं दूरतस्त्यजेत् ॥४२॥ वधमाच्छेदवधादिदुःखदारिद्रकारणम्। परपीडाकरं वत्स चौर्याख्यं व्यसनं त्यज ॥४३॥ सर्वदुःखाकरं पापवल्ली भयकुकीर्तिदाम्। परनारीं त्यज त्वं भो श्वभ्रतिर्य्यग्गतिप्रदाम् ॥४४॥ एकैकव्यसनासक्ता नष्टा जीवा अनेकधा। यः सर्वव्यसनासक्तो दुःखभाक् किं भवेन्न सः ॥४५॥ द्यूताद् धर्मसुतो राजा प्राप्तो दुःखमनेकधा। राज्यभ्रष्टाटवीवासः संगरादिभवं घनम् ॥४६॥ पलाशनवशान्नष्टः इह

वकको इस लोकमें ही राजभ्रष्ट होना होना पडा था—अपने राज्यसे हाथ धोना पडा था और अन्तमें इस अपार संसार-सागरमें मग्न होना पडा था ॥ ४७ ॥ मद्यपानके सेवन करनेसे कुमार्गगामी राजपुत्र यादव अनेक दुःखोंको पाकर इसी लोकमें प्राण नाशको प्राप्त हुए थे ॥ ४८ ॥ वेश्यासेवनसे सेठ चारुदत्तको कितने दुःख भोगने पडे थे, उनका सब द्रव्य नष्ट होगया था और अन्तमें उन्हे विष्टामें फेंक दिया गया था ॥ ४९ ॥ शिकार खेलनेसे राजा ब्रह्मदत्तको बहुतसे दुःख भोगने पडे थे और अन्तमें संसाररूपी महासागरमें परिभ्रमण करनेका महा घोर दुःख भोगना पड़ा था ॥ ५० ॥ चोरी करनेसे शिवभूतिको घोर और असह्य दुःख भोगने पडे थे, तथा इस लोकमें भी वध बंधन आदिके अनेक दुःख भोगने पडे थे ॥ ५१ ॥ सीताका हरण करने मात्रसे ही तीन खण्डके स्वामी रावणकी संसारभरमें अपकीर्ति हुई थी, उसका राज्य नष्ट हुआ था, उस कुमार्गगामीको मरना पडा था, और अन्तमें नरक जाना पडा था ॥ ५२ ॥ ये सब एक एक व्यसनमें आसक्त होनेवालोंके नाम हैं इन सबकी कथा संवेग बढानेवाली है और पापोंसे डरानेवाली है इसलिये अन्य शास्त्रोंमे अवश्य जान लेनी चाहिये ॥ ५३ ॥ इन व्यसनोंमें आसक्त हो जानेके कारण और भी बहुतसे लोग नष्ट हुए हैं उन सबकी कथाओको तीनो लोकोमे कोई कह भी नहीं सकता ॥ ५४ ॥ एक एक व्यसनके सेवन करनेसे कितने ही जीवोंको अनेक वार नरकोंमें जाना पड़ा है, फिर भला जो सातो व्यसनोका सेवन करते हैं वे भला नरकमें कैसे बच सकते हैं ॥ ५५ ॥ जो मनुष्य इन व्यसनोंको विना छोड़े ही धर्म धारण करनेकी इच्छा करता है, वह मूर्ख विना पैरोंके ही मेरुपर्वतपर चढ़ना चाहता है ॥ ५६ ॥ इस संसारमें सात ही नरक हैं और सात ही व्यसन हैं इसलिये जो जीव इन व्यसनोंमें आसक्त रहते

लोके वको नृप । राज्यनाशं परिप्राप्य मग्नः ससारसागरे ॥४७॥ मद्यपानात्प्रनष्टा हि यादवा नृपनन्दना । इहैव प्राणपर्यन्त प्राप्य दुःख कुमार्गगा ॥४८॥ चारुदत्तेन संप्राप्त दुःख वेश्याप्रसगतः । द्रव्यनाशभव विष्टामध्यनिक्षेपज परम् ॥४९॥ ब्रह्मदत्तो नृपो प्राप्तो दुःखमाखेटतः स्वयम् । भवाब्धौ बहुशो घोर मज्जनोन्मज्जनादिजम् ॥५०॥ चौर्यव्यसनतो घोर दुःख प्राप्नोति दुस्सहम् । शिवभूतिरिहामुत्र क्लेशवधवधादिजम् ॥५१॥ सीताहरणाद्गत श्वभ्र त्रिखडाधिपरावण । कुकीर्ति राज्यनाश च वधं प्राप्य कुमार्गगः ॥५२॥ एतेषां व्यसनाज्जाता ज्ञेया शास्त्रे निरूपिताः । कथाः सवेगदाः तीव्र पापभीतिप्रदाः वराः ॥५३॥ अन्ये ये बहवो नष्टा व्यसनासक्तचेतसा । कथा को गदितु तेषा समर्थो भुवनत्रये ॥५४॥ एकैकव्यसनाज्जीवा श्वभ्र प्राप्ता अनेकशः । य सप्तव्यसनासक्ति धत्ते श्वभ्र न यान्ति किम् ॥५५॥

हैं वे अवश्य ही नरकोंमें पडते हैं ॥ ५७ ॥ पापरूपी राजाने धर्मरूपी शत्रुको नाश करनेके लिये और अपना स्वराज्य सुदृढ़ करनेके लिये इन सातों व्यसनोंको सेनाके समान स्थापन कर रक्खा है ॥ ५८ ॥ ये सातों व्यसन अनेक दुर्गति-योंमें जन्म देनेवाले हैं, दुःख शोक आदिके मुख्य कारण हैं, पापरूपी वनको वढानेके लिये मेघकी वर्षाके समान हैं, धर्मके शत्रु हैं, बुरी संगति देनेवाले हैं, परभवमें परिभ्रमण करानेवाले हैं और सब प्रकारकी दरिद्रताके मूल कारण हैं। इसलिये हे मित्र ! तू धर्म धारण करनेके लिये शत्रुके समान इन सातों व्यसनोंका त्याग कर ॥ ५९ ॥ जो बुद्धिमान् सम्यग्दर्शनके साथ साथ ऊपर कहे हुए आठों मूलगुणोंका पालन करता है और सातों व्यसनोंका त्याग करता है वह दार्शनिक अथवा दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाला कहलाता है ॥ ६० ॥ इस प्रकार सब प्रतिमाओंकी मूल कारण ऐसी दर्शन प्रतिमाका स्वरूप वर्णन किया।

अब आगे उत्तम व्रत प्रतिमाका निरूपण करते हैं ॥ ६१ ॥ पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत ये गृहस्थोंके वारह व्रत कहलाते है ॥६२॥ स्थूल हिंसाका त्याग, स्थूल असत्यका त्याग, स्थूल चोरीका त्याग, स्थूल अब्रह्मका त्याग और स्थूल परिग्रहका त्याग इस प्रकार हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह इन पांचो पापोंसे एक देश विरक्त होना श्रावकोंके पांच अणुव्रत कहलाते है ॥ ६३ ॥ अपने हृदयको दया पालन करनेमें सदा तत्पर रखनेवाला जो मनुष्य मन, वचन, कायसे न तो कभी स्वयं त्रस जीवोंकी हिंसा करता है न दूसरोंसे कराता है और न कभी त्रस जीवोंकी हिंसामें

व्यसनान्येव य. त्यक्तुमशक्तो धर्ममीहते । चरणाभ्या विना खञ्जो मेरुमारोहितु स च ॥५६॥ सप्तैवात्र नरकाणि सप्तैव व्यसनानि तत् । अनुक्रमेण गच्छन्ति जीवास्तल्लंपटाशया. ॥ ५७ ॥ धर्मशत्रुविनाशार्थं पापराज्ञा दृढीकृतम् । स्वराज्य सप्तव्यसनैरंगैरिव यथापरे ॥ ५८ ॥ कुगतिगमनहेतु दु.खशोकादिबीज, दुरितवनकुमेघ धर्मशत्रु कुसगम् । परभवशतखानि सर्वदारिद्रमूलं, जहि व्यसनसमस्त शत्रुवद्धर्महेतो ॥५९॥ दर्शनेन सम योऽत्र सोऽष्टमूलगुणान् सुधी. । दधाति व्यसनान्येव त्यक्त्वा दर्शनिको भवेत् ॥६०॥ दर्शनाख्य प्रव्याख्याय प्रतिमा मूलकारणम् । इदानी खलु वक्ष्येऽहं व्रताख्या प्रतिमां वराम् ॥६१॥ पंचेवाणुव्रतानि स्युस्त्रिधापि स्याद्गुणव्रतम्। शिक्षाव्रत चतुर्भेदं द्वादशैव व्रतानि च ॥ ६२ ॥ स्थूलहिंसानृतस्तेयान्मैथुनाच्च परिग्रहात् । विरति' श्रावकाणां तत् पचभेदमणुव्रतम् ॥६३॥ स्वय हि त्रसजीवानां हिंसा नैव करोति यः । कारयति न चान्येन कृत नैवानुमन्यते ॥ ६४ ॥ मनोवाक्काययोगेन दयातत्परचेतसः । आद्य व्रत भवेत्तस्य

अनुमति देता है उसके सबसे पहिला अहिंसाणुव्रत होता है। यह अहिंसा अणुव्रत अन्य सब व्रतोंका मूल है ॥ ६४-६५ ॥ हे मित्र ! जीवोंके सब भेद पहिले बताये जाचुके हैं अतएव मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अनेक प्रकारके भयोंमे भयभीत हुए समस्त जीवोपर तू प्रतिदिन दयाकर ॥ ६६ ॥ श्री गणधरादि देवोंने उस अहिंसाको सब व्रतोंकी जननी वा माता बतलाया है, क्योंकि यह अहिंसा समस्त जीवोंकी सदा हित करनेवाली है, और माताके समान सबका कल्याण करनेवाली है ॥६७॥ मुनिराजोंने इस दयाको सब जीवोंकी जन्मभूमि बतलाया है, यह दया सबको सुख देनेवाली है. सबमें सारभूत है और समस्त उत्तम गुणोंको देनेवाली है ॥ ६८ ॥ बुद्धिमान् लोग इस दयाको सब सुखोंकी निधि बतलाते हैं, स्वर्ग मोक्षरूपी घरमें जानेके लिये यह दया ही द्वारकी देहली है और यही समस्त संसारको सुख देनेवाली है ॥ ६९ ॥ दया पालन करनेमें अत्यन्त चतुर पुरुषोंने निरूपण किया है कि यह दया ही रत्नत्रयकी खानि है. दया ही सम्यग्ज्ञान आदि श्रेष्ठ रत्नोंको उत्पन्न करनेवाली है और यही सबका हित करनेवाली है ॥ ७० ॥ श्री जिनेन्द्रदेवने वर्णन किया है कि श्रेष्ठ धर्मरूपी बागकी शोभा बढानेके लिये, उसपर स्वर्ग मोक्षके फल लगानेके लिये और दुःखरूपी उष्णता वा अग्निको (संतापको) नष्ट करनेके लिये यह दया ही मेघकी वर्षाके समान है ॥ ७१ ॥ यह अहिंसा ही मुक्तिरूपी स्त्रीकी सखी है और वरके चित्तको प्रसन्न करनेवाली है, इसलिये सत्संगकी लालसा रखनेवाले मुनियोंको इस अहिंसाका सेवन अवश्य करना चाहिये ॥७२॥ इस अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिये ही चतुर पुरुषोंने पांचों महाव्रतोंका निरूपण किया है, पांचों समितियोंका निरूपण किया है और गुप्ति आदि सब व्रतोंका निरूपण केवल अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिये ही किया है ॥ ७३ ॥ अनेक मुनिराजोंने

मूल सर्वव्रतस्य भो ॥६५॥ पूर्वोक्तान् जीवभेदान् भो ज्ञात्वा मित्र दया कुरु । सर्वसत्त्वेषु मुक्त्यर्थं भयभीतेषु प्रत्यहम् ॥ ६६॥ अहिंसा जननी प्रोक्ता व्रतादीना गणाधिपै । सर्वजीवहिता शश्वन्मातेव हितकारिणी ॥ ६७ ॥ जन्मभूमिर्गुणानां भो दया प्रोक्ता मुनीश्वरै. । सर्वसौख्यकरा सारा सारसर्वगुणप्रदा ॥ ६८ ॥ निधि. सर्वसुखादीनां कृपापि कथिता बुधै । स्वर्गमुक्तिगृहद्वारे प्रतोली कृत्स्नसौख्यदा ॥६९॥ रत्नत्रयस्य सत्खानिर्दयदक्षै प्ररूपिता । सम्यग्ज्ञानादिसद्रत्नकारणा हितकारिका ॥७०॥ सद्धर्मारामसारस्य नाकमोक्षफलस्य वै । कृपावृष्टिर्जिनै. प्रोक्ता दु:खदावविनाशिनी ॥७१॥ सखी सन्मुक्तिनार्या हि वरा तच्चित्तरंजिका । अहिंसा मुनिभि. सेव्या नित्य सत्सग-लालसै· ॥७२॥ अहिंसाव्रतरक्षार्थं भो महाजनपञ्चकम् । दक्षै समितिगुप्त्यादि सर्वं चाचर्यते स्फुटम् ॥ ७३ ॥ मुनीना च गृहस्थाना

स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि मुनि और गृहस्थोंके समस्त व्रतोंके समूहका वर्णन केवल अहिंसा व्रतकी रक्षा वा प्रसिद्धिके लिये ही है ॥ ७४ ॥ जो बुद्धिमान् इस एक अहिंसा नामके व्रतको ही प्रयत्नके साथ पालन कर लेता है उसके विना किसी कष्टके प्रतिदिन समस्त व्रतोंका पालन होजाता है ॥ ७५ ॥ जिसप्रकार विना अंकके अनन्त शून्य भी व्यर्थ होते हैं उसी प्रकार जो मनुष्य दयाको पालन किये विना ही तप व्रत आदि करना चाहता है उसका वह तप व्रत आदि सब व्यर्थ और निष्फल है ॥ ७६ ॥ जो बुद्धिमान् अपने हृदयमें दयाको सुदृढ बनाकर थोडासा भी तप करता है वह इस लोक और परलोकमें भी अनेक महाफलोंको प्राप्त होता है ॥७७॥ विना दयाके तप, धर्म, व्रत, ज्ञान, ध्यान, पूजा और गुण आदि सब व्यर्थ है। विना दयाके ये तप आदिक सब जीवोंके शरीरोंको केवल कष्ट पहुंचानेवाले है और इनसे कोई लाभ नहीं ॥७८॥ समस्त जीवोंको अभयदान देनेवाला और सबमें सारभूत ऐसा यह अहिंसा रूप एक व्रत ही अच्छा परंतु इसके विना समस्त व्रतोंका समुदाय भी जीवोंके लिये कल्याणकारी नहीं ॥ ७९ ॥ जिस धर्मात्माका हृदय प्रतिदिन समस्त जीवोंपर होनेवाली कृपासे सुगंधित है, भरपूर है उसीको मैं (आचार्य) सबसे अधिक पुण्यवान् मानता हूं ॥ ८० ॥ जो धर्म दयारहित है, जो तप दया रहित है और प्राणियोंका जो जीवन दया रहित है उस धर्म, तप वा जीवनसे इस संसारमें कोई लाभ नही और न ऐसे दयाहीन धर्म, तप वा जीवनसे कोई कार्यसिद्धि हो सकती है ॥ ८१ ॥ इस दयाके समान पूजा, दान, जप, तप, धर्म आदि कुछ नही हो सकता क्योंकि यह दया उन सबका वीज है, सबका मुख्य कारण है ॥ ८२ ॥ " जो जीवोंकी दयासे

सर्वं व्रतकदम्बकम् । एकाहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं भाषित मुनिपुंगवैः ॥७४॥ अहिंसाख्यं व्रत धीमन् यस्तनोति प्रयत्नत. । तस्य सर्वव्रतानि स्यु. विना कष्टेन प्रत्यहम् ॥७५॥ दया त्यक्त्वापि यः कुर्याद यत्तपोव्रतादिक तत् । सर्वं विफलं तस्य विना चाकेन शून्यवत् ॥७६॥ दृढीकृत्य दयां चित्ते तपः स्तोकं करोति यः । सुधीस्तत्तस्य वामुत्र स्यान्महाफलकारणम् ॥७७॥ तपो धर्मं व्रतं दानं ध्यान पूजा गुणादिकम् । दया विनात्र व्यर्थं स्यात्कायक्लेशं च प्राणिनाम् ॥ ७८ ॥ वर चैकव्रत सारं सर्वजीवाभयप्रदम् । तद्विना देहिनां नैतत् सर्वं व्रतकदवकम् ॥७९॥ मन्ये स एव पुण्यात्मा यस्य चित्तं सुवासितम् । कृपया सर्वजीवेषु धर्मयुक्तस्य प्रत्यहम् ॥ ८० ॥ दयाहीनेन किं तेन धर्मेण तपसाथवा । कार्यसिद्धिर्भवन्नैव जीवितव्येन चांगिनाम् ॥ ८१ ॥ कृपासम भवेन्नैव पूजा दान जपादिकम् । तपो धर्म च सर्वेषा दयाबीजं यतो मतम् ॥ ८२ ॥ श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च । धर्मो जीवदयोपेतस्तद्विपक्षोऽशुभप्रदः ॥ ८३ ॥ एतत्समयसर्वस्वमेतच्चारित्र-

रहित है वह अनेक दुःखोंको देनेवाला अधर्म है " यह बात सब शास्त्रोंमें और सब मतोंमें सुनी जाती है ॥ ८३ ॥ यह दयारूप धर्म ही समस्त शास्त्रोंका समस्त मतोंका सर्वस्व है, यही सजीव चारित्र है, यही धर्मरूपी वृक्षका मूल है और यही समस्त जीवोंका रक्षक है ॥ ८४ ॥ जो मूर्ख जीवोंकी हिंसाका संकल्प भी करते हैं वे उस पापकर्मके उदयसे तंदुल[1] मत्स्यके समान नरकमें ही पड़ते हैं ॥ ८५ ॥ इस संसारमें जीवोंकी हिंसा करनेसे कास (खांसी), श्वास (दमा), महापित्त, वात, कोढ आदि अनेक वडे वडे महा रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ८६ ॥ दयाके विना ही यह जीव इस लोकमें दीन होता है, निर्धन होता है, डरपोक होता है, थोडी आयुवाला होता है और दरिद्री होता है तथा परलोकमें भी ऐसे ही अनेक दुःखोंको प्राप्त होता है ॥ ८७ ॥ यह जीव प्राणियोंका घात करनेसे ही पुत्र, पौत्र, वहिन, स्त्री, माता पिता और भाई आदिका तीव्र वियोग पाता है अर्थात् उनके वियोगसे उत्पन्न होनेवाले दुःखको भोगता है ॥८८॥ वहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि इस लोकमें वा परलोकमें जितने दुःख हैं वे सब प्राणियोंको दयाका त्याग करनेसे ही होते हैं ॥८९॥ जो नीच मनुष्य केवल रोग शांत करनेके लिये प्राणियोंका घात करते हैं उनके वात पित्त और महा कोढ़ आदि भयंकर रोग अवश्य उत्पन्न होते हैं ॥९०॥ जो नीच अपना वा पुत्र पौत्रोंका कल्याण करनेके लिये जीवोंकी हिंसा करता है वह अनेक

जीवितम् । मूलं धर्मतरोर्यच्च सर्वजीवाभिरक्षणम् ॥ ८४ ॥ जीवहिंसादिसंकल्पं ये कुर्वन्ति शठा हि ते । पापात् श्वभ्रे पतन्त्येव शालिशि-क्षादिमत्स्यवत् ॥ ८५ ॥ कासश्वासमहापित्तवातकुष्टादयो ध्रुवम् । वृहद्रोगाः प्रजायन्ते प्राणिघातादिहागिनम् ॥ ८६ ॥ दीनत्वं निर्धनत्वं च भीरुत्वं स्वल्पजीवितम् । भवेज्जीवस्येहामुत्र दारिद्र्यं ता दयां विना ॥ ८७ ॥ पुत्रपौत्रस्वसृभार्यामातृपितृस्ववांधवैः । प्राप्नुवन्ति वियोगं च सत्त्वघातात्सदाङ्गिनः ॥ ८८ ॥ किमत्र वहुनोक्तेन यत्किंचिद्दुःखमंजसा । तत्सर्वं हि श्रयेदङ्गी चेहामुत्र कृपां विना ॥ ८९ ॥ कुर्वन्ति प्राणिनां घातं येऽधमा रोगशान्तये । वातपित्तमहाकुष्टादिकं तेषां भवेद् ध्रुवम् ॥९०॥ विधत्ते देहिनां हिंसा योऽधमो मंगलाय भो । अमंगल

१ स्वयंभूरमण समुद्रमें सबसे वडा राघवमत्स्य होता है उसकी आंखपर एक तंदुलमत्स्य बैठा रहता है। राघवमत्स्य सबसे वड़ा है इसलिये उसके मुह फाडते ही अनेक जीव उसके मुहमें आजाते हैं और उनमेंसे वहुत सासके साथ वाहर निकल जाते हैं। तंदुलमत्स्य आंखपर वैठा हुआ यह सोचा करता है कि यह मत्स्य मूर्ख है जो इन छोटे मत्स्योंको मुहके भीतर आजानेपर भी फिर वाहर जाने देता है, यदि मैं होता तो एकको भी वाहर न जाने देता–सवको खाजाता। वस सदाके इसी संकल्पसे वह मरकर सातवें नरक जाता है।

अमंगलोंको—दुःखोंको प्राप्त होता है तथा भयंकर दुःख देनेवाले समस्त पापोंको प्राप्त होता है-अर्थात् उसके तीव्र पापकर्मोंका वन्ध होता है ॥९१॥ जो मूर्ख केवल धर्मपालन करनेके लिये जीवोंके समूहका घात करता है वह अपने जीवित रहनेके लिये मृत्यु देनेवाले हलाहल विषको पीता है॥९२॥जो अज्ञानी चंड़ी मुंड़ी आदि देवियोंके वहानेसे जीवोंकी हिंसा करता है वह अपने दुःखोंको शांत करनेके लिये अपनेआप दुःख क्लेशादिकोमें जा पडता है॥९३॥ जो जीव नीच देवोंकी पूजा करनेके लिये अनेक जीवोंको मारता है वह मनुष्य अपने सुखके लिये अमृतको सर्पके मुखसे निकालना चाहता है ॥९४॥ इंद्रियभोगोंमें असन्त लालसा रखनेवाले जो नीच अपने भोगोपभोगोंके लिये जीवराशिका विनाश करते हैं—उन्हें मारते हैं वे महा दुःखी होते हैं, अत्यन्त कुरूप होते हैं और महा दरिद्री होते है ॥ ९५ ॥ जो नीच अपने पुत्र पौत्र और कुटुम्वकी वृद्धिके लिये पशुओंको मारता है उसके सव कुटुम्वका नाश होता है और अंतमें उसे अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करना पडता है॥९६॥ श्री जिनेन्द्रदेवने धर्मका स्वरूप अहिंसामय ही कहा है क्योंकि समस्त जीवोंका कल्याण इसी अहिंसामय धर्मसे होसक्ता है और इसी धर्मसे स्वर्ग-मोक्षके सुख प्राप्त हो सकते है ॥ ९७ ॥ परन्तु कुशास्त्रोको पढ़नेवाले और इंद्रियोंके स्वादकी लालसा रखनेवाले मूर्ख लोगोंने असत्य भापण करके झूठ वोल करके जीवोंको नाश करनेवाली हिंसाको ही धर्म वतला दिया है ॥ ९८ ॥ जो धूर्त लोग समस्त इंद्रियोंको तृप्त करनेवाले कुशास्त्रोंको दिखा दिखाकर लोगोंसे धन इकट्ठा करते है वे अंतमें मरकर अवश्य ही नरक गतिमें उत्पन्न होते हैं ॥ ९९ ॥ जिन दुष्टोंने केवल भोगोपभोगोंके लिये अपने शास्त्रोंमें अहिंसाका निरूपण किया है और जिन लोगोंने उसे स्वीकार किया है वे सव मरकर दुर्गतिमें उत्पन्न होंगे ॥ १०० ॥ जो स्वयं हिंसा

भजेत्सोपि पापात्सर्वं कुदुःखदम् ॥९१॥ धर्मार्थं सत्त्वसघात ये शठाः घ्नन्ति मृत्युदम् । पिवन्ति जीवितार्थं ते विप हालहल स्फुटम् ॥९२॥ उद्दिश्य चण्डिका पाप जीवहिंसां करोति यः । दुःखादिशान्तये सोऽधीः दुःखं क्लेशादिक भजेत् ॥ ९३ ॥ पूजार्थं नीचदेवाना ये घ्नन्ति पशून् वहून् । स्वसुखाय ते वांछन्ति सुधा सर्पमुखाच्च ते ॥ ९४ ॥ भोगार्थं जीवराशिं ये घ्नन्ति चेन्द्रियलालसाः । दुखदुर्भगदारिद्रं ते लभन्ते भवे भवे ॥९५॥ पुत्रपौत्रकुटंवादिवृद्ध्यर्थं हन्ति यः पशून् । कुटुंवपरिनाश च प्राप्य स याति दुर्गतिम् ॥९६॥ अहिंसालक्षणो धर्मः उक्तः श्रीजिननायकैः । सर्वजीवहितायैव स्वर्गमुक्तिसुखप्रदः ॥ ९७ ॥ सोऽसत्यवलतः धर्म उक्तः सत्त्वक्षयंकरः । कुशास्त्रपाठकैर्मूढैरिन्द्रिय-स्वादुलालसैः ॥ ९८ ॥ दर्शयित्वा कुशास्त्रं भो लोकानामर्थप्राप्तये । सर्वाक्षपोपकं धूर्त्तं नयन्ति नायकीं गतिम् ॥ ९९ ॥ हिंसा परूपिता

करते हैं वा दूसरोंसे कराते हैं अथवा हिंसाको देखकर आनन्द मानते हैं वे सब उस पापसे नरकमें पडते हैं ॥ १०१ ॥ यदि कदाचित् दैवयोगसे सर्पके मुंहसे अमृत उत्पन्न होजाय अथवा रात्रिमें सूर्य दिखाई दे तथापि जीवोंकी हिंसासे कभी धर्म नहीं हो सकता ॥ १०२ ॥ यदि हिंसासे धर्म होता हो और स्वर्गादिकके सुख प्राप्त होते हों तो सदा शिकार खेलनेवाले म्लेच्छ लोगोंको भी स्वर्गकी ही प्राप्ति होनी चाहिये ॥ १०३ ॥ इसलिये हे बुद्धिमान् ! हिंसाको छोडकर तथा हिंसा आदिको पुष्ट करनेवाले शास्त्रोंको छोडकर अहिंसारूप धर्मको स्वीकार कर और जीवोंपर सदा दया कर ॥ १०४ ॥

इसी अहिंसाको पालन करनेके लिये सब पानी उसी समय छानकर काममें लाना चाहिये । नहाना, कपडे धोना, प्रक्षालन करना आदि सब काम उसी समयके छने हुए पानीसे करना चाहिये ॥ १०५ ॥ जो विना छने पानीसे स्नान आदि भी करते हैं उनसे जीवोंकी हिंसा होती है और जीवोंकी हिंसा होनेसे उनका अहिंसा व्रत नष्ट होजाता है ॥ १०६ ॥ हे धीमन् ! पशुओंको भी छना हुआ पानी ही देना चाहिये क्योंकि विना छने पानीमें अनंत जीवोंकी हिंसा होती है इस-लिये वह पशुओंको देने योग्य नहीं है ॥ १०७ ॥ हे धीमन् ! तुझे जलसे जो जो कार्य करने पडें उन सब कामोंमें अपना धर्म धारण करनेके लिये छना हुआ पानी ही काममें ला ॥ १०८ ॥ जिस वस्त्रसे पानी छाना जाय वह मोटा होना चाहिये, चिकना होना चाहिये और नया होना चाहिये तथा जितना बडा वर्तनका मुंह हो उससे तिगुना होना चाहिये, ऐसे वस्त्रको दुहराकर फिर उससे जल छानना चाहिये ॥ १०९ ॥

शास्त्रं दुष्टैर्यैं भोगसिद्धये । अगीकृता च लोकैर्यैस्ते सर्वे यान्ति दुर्गतिम् ॥ १०० ॥ ये कुर्वन्ति स्वयं हिंसा परैः सकारयन्ति ये । दृष्ट्वा हिंसाप्रानद ये ते श्वभ्रे पतन्त्यधात् ॥ १०१ ॥ क्वचित्सर्पमुखाद्दैवादमृत जायते नृणाम् । रात्रौ दिवाकरश्चैव न धर्मो जीवहिंसनात् ॥ १०२ ॥ हिंसया यदि जायेत धर्मो नाक च निस्तुपः । तदा स्वर्गं प्रयात्येव म्लेच्छाश्चाखेटकारिणः ॥ १०३ ॥ त्यक्त्वा हिंसां च भो धीमन् ! शास्त्रं हिंसादिपोपकम् । अहिंसालक्षण धर्मं कुरु त्वमगिना दयाम् ॥१०४॥ सद्यो गालितनीरेण स्नान वस्त्रादि धोवनम् । प्रक्षा-लन च यत्किंचित्तत्सर्वं कुरु भो बुध ॥ १०५ ॥ स्नानादिक प्रकुर्वन्ति चागालित जलेन ये । अहिंसाख्य व्रत तेपां जीव घाताद्विनश्यति ॥ १०६ ॥ गालयित्वा जल दत्वा पशूनां यत्नतो बुधः । अगालित न योग्यं स्यात्पातु च जीवसक्षयात् ॥ १०७ ॥ यद्देवोत्पद्यते कार्यं जलसाध्य तदेव तत् । गालयित्वा जल धीमन् कुरु त्व धर्महेतवे ॥ १०८ ॥ वस्त्रेण स्थूलस्निग्धेन नूतनेनैव भो बुधाः । भाजनस्य द्विगु-

हे श्रावकोत्तम ! जिसमें कीडे पडगये हों ऐसे उडद, मूंग आदि धान कभी नहीं खाना चाहिये । क्योंकि ऐसे धान्योंके खानेसे जीवोंकी हिंसा होती है इसलिये धर्मपालन करनेके लिये इनको छोड देना चाहिये ॥११०॥ श्रावकोंको लकड़ी वा थप्पड आदिसे शत्रु, वालक, स्त्री अथवा कुत्ते आदि पशुओंको भी कभी नहीं मारना चाहिये ॥ १११ ॥ जो प्राणी अपने तथा दूसरोंके सुख दुःखादिकोंका विचार किये विना ही लकड़ी आदिसे अन्य जीवोंको मार देते हैं वे मनुष्य होकर भी राक्षसके समान हैं ॥ ११२ ॥ गृहस्थी लोगोंको अपना वैठना, सोना, चलना आदि सव काम आंखोंसे देखकर प्रयत्नपूर्वक करने चाहिये जिससे किसी जीवकी हिंसा न होने पावे ॥ ११३ ॥ यदि जीवोंकी रक्षा करनेमें प्रयत्न न किया जाय तो विना किसी जीवकी हिंसा हुए भी व्रतका भंग होजाता है और व्रतका भंग होनेसे भवभवमें कर्मबंध होता है ॥ ११४ ॥ जो गृहस्थ अपना हृदय दया पालन करनेमें लगाता है उसके अज्ञानसे यदि किसी जीवकी हिंसा भी हो जाय तो भी न तो उसके व्रतका भंग ही होता है और न कर्मका बंध ही होता है ॥११५॥ इसका भी कारण यह है कि गौतमादि ऋषियोंने धर्मका पालन करना वा व्रतोंका पालन करना भावपूर्वक वतलाया है इसलिये बुद्धिमान लोगोंको जीवोंकी रक्षा करनेमें सदा अपने भाव लगाते रहना चाहिये ॥ ११६ ॥ उत्तम श्रावकोंको जीवराशिको क्षय करनेवाले प्रमादको छोड़कर घरमें प्रतिदिन होनेवाले पांचों पापोंमें (चक्की, उखली, चूलि, बुहारी और पानी ये गृहस्थीके पांच सून वा पाप कहलाते हैं) जीवोंकी रक्षाका सदा प्रयत्न करना चाहिये ॥ ११७ ॥ व्रतोंकी रक्षाके लिये गृहस्थोंको अग्निके

णेन गालय त्व सदोदकम् ॥ १०९ ॥ मापमुद्गादिकं सर्वं धानं कीटादिसभृतम् । जीवहिंसाकर धर्मसिद्ध्यर्थं त्यज भो सुहृत् ॥ ११० ॥ शत्रवो वालका नार्य. पशवो मण्डलादयः । मुष्टियष्ट्यादिघातैश्च न हतव्या हि श्रावकैः ॥ १११ ॥ अविचार्य सुखं दु.ख स्वान्ययोर्ये च देहिन' । घ्नन्ति यष्ट्यादिभिस्तेपि मनुजत्वेपि राक्षसा. ॥ ११२ ॥ आसन शयनं सर्वं यत्नेन गमनादिकम् । निरीक्ष्य नयनाभ्यां च कुरुध्वं गृहिणः सदा ॥ ११३ ॥ कर्मबन्धो गृहस्थस्य व्रतभगो भवेद्ध्रुवम् । यत्नहीनस्य जीवादिरक्षणे च वधं विना ॥ ११४ ॥ दयायुक्तगृहस्थस्य मृते जीवगणे क्वचित् । अजानात्कर्मबधश्च व्रतभंगो भवे भवे ॥ ११५ ॥ भावेन कथितो धर्मो व्रतं च गौतमादिभि. । तस्माद्भावो विधातव्यो बुधैर्जीवादिरक्षणे ॥ ११६ ॥ सूनादिके सदा यत्न कुरुध्व श्रावकोत्तमाः । प्रमाद हि परित्यज्य जीवराशिक्षयंकरे ॥ ११७ ॥ हुताशने गृहस्थैश्च यद्जीवादिविनाशके । महायत्नोपि कर्तव्यो व्रतरक्षादिहेतवे ॥ ११८ ॥ नीरं चागलितं येन पीतमजलि-

जलानेमें भी सबसे अधिक प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि अग्निके जलानेमें छहों कायके जीवोंकी हिंसा होती है ॥११८॥

इसी प्रकार जो एक अंजलिमात्र भी विना छना पानी पीता है और विना छने एक घडेसे भी नहाता है उसके पापोंको हम लोग जान भी नहीं सकते ॥ ११९ ॥ बुद्धिमान लोगोंको भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा, प्रक्षाल आदि करनेके लिये बहुत थोडे छने जलसे देखभाल कर स्नान करना चाहिये ॥ १२० ॥ बहुत कहनेसे क्या, थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि विद्वान लोगोंको व्रत पालन करनेके लिये मनसे, वचनसे और शरीरसे जीवोंकी रक्षा करनी चाहिये ॥१२१॥

जो दुष्ट बलवान होकर दुर्बलोंको मारता है वह परलोकमें उसी जीवके द्वारा अनेक वार मारा जाता है ॥ १२२ ॥ अरे जो एक जरासे तृणके स्पर्शसे दुःखी होता है वह दूसरे जीवोंके शरीरपर किसप्रकार शस्त्र चलाता है ? ॥ १२३ ॥ जो मनुष्य निर्दयी है, जीवोंकी हिंसा करते रहते हैं वे मूर्ख अन्धे, कुवजे, बौने, अङ्ग उपाङ्गोंसे रहित, कोढ़ आदि अनेक रोगोंसे घिरे हुए, दरिद्री, चँचल, देखनेमें घृणित भयानक, मूर्ख, होते हैं, दूसरोंके दास होते हैं, अत्यन्त दुःखी होते है, परभवमें थोड़ी आयु पाते हैं और चांडाल आदि नीच योनियोंमें उत्पन्न होते है ॥ १२४ ॥ जो मूर्ख और दुष्ट लकड़ी आदिसे पशुओंको मारते हैं वे भी अत्यन्त दुःखी होते हैं और मरकर उस पापसे परलोकमें तिर्यंच गतिमें ही जन्म लेते हैं ॥ १२५ ॥ जो दुष्ट जीव इस जन्ममें जीवोकी हिंसा करते हैं वे बुद्धिमानोंके द्वारा सदा निंदनीय गिने जाते हैं तथा कोढ आदि अनेक रोगोंको पाकर परलोकमें उस पापकर्मके उदयसे विषम नरकमें ही जन्म लेते हैं ॥ १२६ ॥ यह हिंसा

मात्रकम् । घटेनैव कृतं स्नानं तस्य पापं न वेद्म्यहम् ॥ ११९ ॥ अतिशोकेन नीरेण निरीक्ष्य मूत्रसादिकम् । स्नानादिकं प्रकर्तव्यं बुधैः पूजादि हेतवे ॥ १२० ॥ वहुनोक्तेन किं साध्यं कायवाङ्मनसादिभिः । जीवरक्षा कुरुध्वं भो बुधाः श्रीव्रतसिद्धये ॥ १२१ ॥ सबलो दुर्बलो चात्र हन्ति यो दुष्टमानसः । सहेत परलोके स तस्माद्धिंसामनेकधा ॥ १२२ ॥ तृणेन स्पर्शमात्रेण किंचिद्दुःखमवैति यः । स कथं परजीवानामगे शस्त्रं निपातयेत् ॥ १२३ ॥ अंधा कुब्जकवामनातिविकलाः कुष्ठादिरोगान्विताः । दारिद्रोपहता अतीवचपला बीभत्स-रूपाः शठाः । भृत्या दुःखविपीडिताः परभवे चाल्पायुषः स्युर्ध्रुवं । मातंगादिकुजातिष्वगिहननान्मदा नराः निर्दया ॥१२४॥ ये घ्नन्ति दुष्टा हि शठाः पशूश्चऽयष्टचादिभिस्ते बहुदुःखपूर्णाम् । तिर्यग्गतिं यान्ति सदाप्यमुत्र । पापव्रजात्स्थावरजातियुक्ताम् ॥ १२५ ॥ कुर्वन्ति ये दुष्टधियश्च हिंसा, जीवस्य तेऽमुत्र बुधैर्विनिंद्या । कुष्ठ्यादिरोगं प्रतिपद्य लोके । पतति श्वभ्रे विषमेऽतिपापात् ॥ १२६ ॥ हिंसा श्वभ्र-

मूर्ख लोग ही इसको स्वीकार करते हैं, अनेक पापोंकी खानि है, स्वर्गका द्वार बन्द करनेके लिये अर्गल है, अपनेको दूसरोंको सबको दुःख देनेवाली है, बड़ी कठिनतासे छूटती है और मुक्ति लक्ष्मीको भय देनेवाली (दूर भगानेवाली) है। इसलिये हे भव्य ! तू जीवोंपर दया कर इस पापमयी हिंसाको छोड़ ॥ १२७ ॥ हे भ्रात ! तू समस्त जीवोंको अपने समान मानकर सब जीवों-पर दया कर, क्योंकि यह दया सबको सुख देनेवाली है। मुनि लोग भी इसकी सेवा करते हैं, मोक्षमार्गमें प्रवेश करानेके लिये यह अत्यन्त कुशल है। नरकरूपी घरको बन्द करनेके लिये अर्गल है, सद्धर्मरूपी निर्मल रत्नोंकी खानि है और स्वर्ग लोककी देहली है, ऐसा समझकर इसको सदा धारण करना चाहिये ॥ १२८ ॥ यह जीवोंकी रक्षा करनेवाला व्रत निर्मल सुखकी निधि है, धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है, सब समितियोंसे सिद्ध होता है, तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं, यह निर्मल यशको देनेवाला है और स्वर्गमोक्षका कारण है। इसलिये हे भव्य ! तू भी इस व्रतका सेवन कर ॥ १२९ ॥ जो बुद्धिमान इस अहिंसा अणुव्रतको समस्त अतीचारोंको छोडकर पालन करता है वह अवश्य ही सोलहवें स्वर्गमें जाकर उत्तम देव होता है ॥ १३० ॥

प्रश्न—हे मुने ! इस अहिंसा अणुव्रतको निर्मल निर्दोष पालन करनेके लिये इस व्रतके जितने अतिचार हैं उन सबको मेरे लिये निरूपण कीजिये ॥ १३१ ॥

उत्तर—हे वत्स ! तू चित्तको एकाग्रकर सुन। मैं केवल धर्मकी वृद्धिके लिये व्रतोंमें दोष उत्पन्न करनेवाले अती-

---

रोगक्लेशभयादिदुःखजननीं पापादिखानिं सदा। स्वर्गद्वारमहार्गला स्वपरयोर्बाधाकरा दुस्त्यजा। मुक्तिस्त्रीभयदा त्यज त्वमपि भो जीवेषु कृत्वा दयाम् ॥ १२७ ॥ भ्रात. सर्वसुखाकरा मुनिजनैः सेव्या दयां भो भज। मुक्तिद्वारप्रवेशमार्गकुशला श्वभ्रगृहेष्वर्गलाम्। सद्विद्यामलरत्नखानिपरमा नाकगृहे दीपिका। मत्त्वा जीवकदवक हि स्वसम सर्वेषु सत्त्वेषु वै ॥ १२८ ॥ अमलसुखनिधान धर्मवृक्षस्य मूल, सकलसमितिसाध्यं तीर्थनाथस्य सेव्याम्। विमलनियमकन्द स्वर्गमोक्षैकहेतोस्त्वमपि भज व्रत भो जीवरक्षाख्यमेव ॥ १२९ ॥ सर्वातिचारनिर्मुक्त अहिंसाख्यमणुव्रतम्। यो धत्ते मतिमान् सोपि याति षोडशम दिवम् ॥१३०॥ भवन्त्यणुव्रतस्यैव व्यतिचारा हि ये मुने। अहिंसाव्रतशुद्धयर्थं तान् सर्वान् मे निरूपय ॥ १३१ ॥ निश्चल स्ववशे चित्त कृत्वा त्वं शृणु श्रावक। प्रतोलिका वुधजनैर्निंद्या शठै स्वीकृता।

चारोंको कहता हूं ॥ १३२ ॥ इस अहिंसा अणुव्रतके बंध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध ये पांच अतिचार हैं। इन पांचो अतीचारोंको तू छोड ॥ १३३ ॥ पशुओंको रस्सी आदिसे मजबूत बांध देना (जिससे कि वे अग्नि आदि लगनेपर भी भाग न सकें) वह बंध नामका अहिंसाणुव्रतका पहिला अतीचार गिना जाता है ॥ १३४ ॥ जो नीच मनुष्य, स्त्री वा पशुओंको लकडी आदिसे मारते हैं उनको यह वध नामका दूसरा निंद्य अतीचार लगता है ॥१३५॥ जो बुद्धिहीन कान नाक आदि छेदा करते हैं उनके दुःख देनेवाला यह छेद नामका तीसरा अतिचार लगता है ॥ १३६ ॥ जो लोभके वश होकर पशुओंपर अधिक बोझ लाद देते हैं उसके दोष उत्पन्न करनेवाला अतिभारारोपण नामका अतीचार लगता है ॥ १३७ ॥ जो मनुष्य वा पशुओंका अन्नपान रोक देता है अथवा समयपर नहीं देता उसके अन्नपाननिरोध नामका पांचवां अतीचार लगता है ॥ १३८ ॥ जो भव्य इन समस्त अतीचारोंको छोडकर निर्मल अहिंसाव्रतको पालन करता है वह स्वर्ग वा राज्यादिके सुख भोगकर अंतमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥ १३९ ॥ जो बुद्धिमान् इस प्रथम अहिंसा अणुव्रतको पालन करता है वह देवोंके द्वारा भी पूज्य होता है और परलोकमें भी सुखी होता है तथा इस व्रतके न पालनेसे वह सदा दुःखी रहता है ॥ १४० ॥

प्रश्न—हे प्रभो ! इस अहिंसा अणुव्रतको पालन करनेसे किसको उत्तम फल मिला है उसकी कथा कृपाकर मेरे लिये कहिये ॥ १४१ ॥

व्यतीपातान् प्रवक्ष्यामि ते घर्माय मलप्रदान् ॥१३२॥ श्रृणु त्व बन्धवधच्छेदातिभारारोपणमेव हि । अन्नपाननिरोध च त्यजातिचारपचकम् ॥ १३३ ॥ रज्वादिभिः पशूना यो विधत्ते बधन दृढम् । अतिचारो भवेद्वंधो नाम तस्य व्रतस्य वै ॥ १३४ ॥ यष्ट्यादिभिर्मनुष्यस्त्रीपशूना हन्ति योऽधम. । भवेद्व्यतिक्रमस्तस्य वधो नाम विरूपकः ॥ १३५ ॥ ये कर्णनासिकादीना छेद कुर्वन्ति दुर्धिय. । व्यतीपातोऽि स्यात्तेषा छेदो नामा कुदुःखदः ॥ १३६ ॥ लोभादादधे पशूना य. प्रभाराधिरोपणम् । अतिक्रमो भवेत्तस्य व्रतस्य मलदायकः ॥१३७॥ पशूना यो नृणा धत्ते चान्नपाननिरोधनम् । अन्नपाननिरोध· स्यादतिचारोपि तस्य वै ॥१३८॥ कृत्स्नातिचारसत्यक्त यो धत्ते व्रतमंजसा । स्वर्गराज्यादिक प्राप्य क्रमाद्याति शिवालयम् ॥ १३९ ॥ आद्य व्रत विधत्ते यः प्राप्य पूजा सुरैरिह । नाक प्रयाति सोऽमुत्र तद्विना दुःखभाग् भवेत् ॥१४०॥ येन पूजा परिप्राप्ता अहिंसाव्रतरक्षणात् । भट्टारक ! कथा तस्य कृपा कृत्वा वदस्व मे ॥१४१॥ निधाय चित्तमेकाग्र

उत्तर–हे वत्स ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं इस अहिंसा अणुव्रतमें प्रसिद्ध होनेवालेकी सारभूत कथा संक्षेपसे कहता हूं ॥ १४२ ॥ इस अहिंसा अणुव्रतके पालन करनेमें यमपाल नामका चांडाल प्रसिद्ध हुआ है इसलिये अव मैं उसीकी पुण्य वढानेवाली कथा कहता हूं ॥ १४३ ॥

सुरम्यदेशके पोदनपुर नगरमें पुण्यकर्मके उदयसे महाचल नामका वलवान राजा राज्य करता था । उसका एक पुत्र था जो दुष्टबुद्धिवाला था और वल उसका नाम था ॥ १४४ ॥ किसी एक समय नंदीश्वरपर्वके दिनोंमें राजाकी आज्ञासे मंत्रीने आठ दिन पर्यंत जीवोंके न मारनेकी सव जगह घोषणा कर दी ॥ १४५ ॥ परंतु राजकुमार वल मांसासक्त था उस पापीने राजाके ही वागमें छिपकर राजाका ही मेढा मारा और उसका मांस पकाकर खाया ॥ १४६–१४७ ॥ मेढाके न मिलनेसे उसके मारे जानेकी वात राजाने सुनी और वह उस मेढाको मारनेवालेकी तलाश करने लगा ॥१४८॥ जिस समय कुमारने मेढा मारा था उस समय उस वागका माली एक वृक्षपर चढा हुआ था इसलिये उसने उस कुमारके पाप कर्मके उदयसे उसका सव कृत्य देख लिया था ॥१४९॥ रातको घर आनेपर उसने वह सव वात अपनी स्त्रीसे कही थी, क्योंकि उसने उस राजकुमारका सव कृत्य देख ही लिया था ॥१५०॥ राजाके किसी गुप्तचरने कानोंको दुःख देनेवाली वह सव वात सुन ली और जाकर राजाको सव-हाल ज्योंका सो सुना दिया ॥ १५१ ॥ सवेरा होते ही राजाने मालीको वुलाकर पूछा । उसने महाराजसे सव वात ज्योंकी सों यथार्थ कह दी ॥१५२॥ महाराजने विचार किया कि ऐसे

शृणु वत्स कथा तव । वक्ष्ये समासत' सारामहिंसाव्रतसभवाम् ॥१४२॥ विख्यातो यो भवेदत्र मातंग' प्रथमे व्रते । यमपालाभिधस्तस्य कथां वक्ष्ये शुभप्रदाम् ॥ १४३ ॥ सुरम्यविषये पुण्यात्पोदनाख्ये पुरे वली । महावलो भवेद्राजा तस्य पुत्रः कुधीर्वलः ॥ १४४ ॥ अथ नदीश्वराष्टम्यां जीवामारणघोषणा । कृता राजाज्ञया लोके प्रधानैश्च दिनाष्टका ॥ १४५ ॥ वलनामकुमारेण मासासक्तेन मेढकः । राजकीयो हत. शीघ्रं कश्चिन्नरमपश्यता ॥ १४६ ॥ तस्यामिषं सुसस्कार्य भक्षितं तेन तत्क्षणम् । राजोद्यानेपि प्रच्छन्ने नैव पापाढ्यचेतसा ॥१४७॥ राज्ञा रुष्टेन व्याकर्ण्य वार्ता तन्मरणोद्भवाम् । गवेषयितुमारब्धो मारको मेढकस्य य. ॥ १४८ ॥ मालाकारेण प्रोद्यानवृक्षोपरि स्थितेन वै । तन्मारण प्रकुर्वाणो दृष्टः पापोदयात् स्वयम् ॥१४९॥ गृहमागत्य रात्रौ हि स्वभार्यायाः निरूपितम् । दृष्टं तेनैव यत्तद्धि सर्वं राजकुमारजम् ॥ १५० ॥ प्रच्छन्नेन तदाकर्ण्य वचन कर्णदुःखदम् । राज्ञश्चरपुरुषेण प्रोक्त सर्वं विशेषतः ॥ १५१ ॥ आकारितः पुनः पृष्टो मालाका-

पुत्रसे क्या लाभ है जो जीवघात करे और राजाकी आज्ञाका उल्लंघन करे । यही विचार कर उसने यमपाल चांडालको आज्ञा दी कि वह मांसभक्षक राजकुमार बलको मार डाले ॥१५३–१५४॥ तदनन्तर वह राजकुमार वधस्थानमें पहुंचाया गया और उसी समय यमपाल चांडालको बुलानेके लिये सेवक लोग भेज दिये गये ॥१५५॥ कोतवालके सिपाहियोंको आते हुए देखकर चांडालने अपनी स्त्रीसे कहा कि "हे प्रिये ! ये आनेवाले मुझे पूंछे तो कह देना कि आज वह गांवको गया है ।" इस प्रकार अपनी स्त्रीको समझाकर वह घरके एक कोनेमें छिप गया। उन सिपाहियोंने आते ही पूछा कि चांडाल कहां है? इसके उत्तरमें उसकी स्त्रीने उत्तर दिया कि आज वह गांवको गया है। चांडालीका यह उत्तर सुनकर सिपाहियोंने कहा कि "छी छी वह बडा पापी है और बहुत ही पुण्यहीन है। अरे ! आज वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित राजकुमार मारा जायगा इसलिये आज अनेक रत्न, बहुतसा सोना तथा और भी बहुतसी प्राप्ति होगी ॥१५६–१५९॥ उन सिपाहियोकी यह बात सुनकर वह चांडाली अपने लोभको न दबा सकी और उस चांडालके डरसे उसने मुंहसे तो कपटपूर्वक यही कह दिया कि 'वह आज तो गांवको ही गया है, परन्तु उसने हाथके इशारेसे चांडालको दिखला दिया। इसके बाद उन सिपाहियोंने उस चांडालको बलात्कार घरसे निकाला और मारनेके लिये कुमार उसको सौंपा, परन्तु उस चांडालने कहा कि मैं आज जीवघात कभी नही कर सकता ॥१६०–१६२॥ इसके उत्तरमें कोतवालने कहा कि इस कुमारको मारनेकी राजाकी

रोऽपि तेन स' । प्रभाते तेन तत्सर्वं तस्य सत्य निरूपितम् ॥१५२॥ तेन पुत्रेण किं साध्य जीवघात करोति य । आज्ञामुल्लघन राज्ञ. प्रोक्तं चेति विचार्य वै ॥ १५३ ॥ यमाख्य तलवर त्व नवखण्ड प्रकारय । शीघ्र बलकुमार मे रुष्टेन मासभक्षकम् ॥ १५४ ॥ ततस्त मारणस्थाने नीत्वा भृत्याश्च प्रेषिता । आनेतु यमपालाख्य मातगं तेन तत्क्षणम् ॥ १५५ ॥ दृष्ट्वा तेनैव तानुक्त प्रिये त्व सुनिरूपय । एतेषा सोऽद्य मातगो गतो ग्राम सुनिश्चितम् ॥१५६॥ इत्युक्त्वा गृहकोणे ता प्रच्छन्न स स्वय स्थितः। आगत्याकारित तैश्च मातगस्तलरक्षकै' ॥ १५७ ॥ मातग्या कथित तेषा सोऽद्य ग्राम गतो ध्रुवम् । तैरुक्त हि पापीऽय पुण्यहीन कुतो गत. ॥१५८॥ कुमारमारणे तस्य वस्त्राभरणमडिते । बहुरत्नसुवर्णादिलाभो भवति निश्चितम् ॥ १५९ ॥ तेषा वचनमाकर्ण्य तया मातगभीतया । द्रव्यादिलुब्धया सोऽपि दर्शितो हस्तसज्ञया ॥ १६० ॥ भणत्या मायया ग्राम गतश्चेति पुन पुन । ततो निस्सारितो गेहात् हठात्तूर्णं स तै. स्वयम् ॥ १६१ ॥ मारणार्थं कुमारस्तै स तस्यापि समर्पित । तेनोक्त नाहमद्यैव जीवघातं करोमि भो ॥ १६२ ॥ तैरुक्तमद्य घस्रे त्व कुमार हसि किं न भो।

दिन है, आजके दिन मेरे जीवोंके न मारनेका
आज्ञा है इसलिये तू इसे मार। तब चांडालेने कहा कि आज चतुर्दशीका दिन है, आजके दिन मेरे जीवोंके न मारनेका
नियम है ॥ १६३॥ यह सुनकर कोतवाल बहुत ही शीघ्र उस चांडालको राजाके पास ले गया और महाराजसे प्रार्थना की
कि हे महाराज! यह चांडाल कुमारको आपका पुत्र समझकर नहीं मारता है ॥१६४॥ राजाने उस चांडालसे पूछा कि तू
इस कुमारको क्यों नहीं मारता है? तब चांडालेने कहा कि हे प्रभो! मेरी एक छोटीसी कथा सुन लीजिये ॥१६५॥
"किसी एक दिन मुझे सर्पने काट लिया था और मै उसके विषसे मूर्छित होगया था, तब मेरे भाई बंधु आदि कुटुम्बियोंने
मुझे मरा समझकर स्मशानमें लाकर पटक दिया था ॥६६॥ वहांपर एक सर्वौपधि ऋद्धिको धारण करनेवाले मुनिराज विरा-
जमान थे, उनके शरीरको स्पर्श करनेवाली वायु मेरे शरीरपर लगी और शुभ कर्मके उदयसे मैं जीवित होगया ॥१६७॥
जीवित होते ही मैंने परमोपकार करनेवाले उन मुनिराजसे व्रत लिया था कि मै चतुर्दशीके दिन किसीकी हिंसा नहीं करूंगा।
इसीलिये हे देव! स्वर्ग-मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिये और पर्वके दिनोंमें समस्त पापोंको शांत करनेके लिये आज मैं उसे
कभी नहीं मारूंगा" ॥१६८–१६९॥ राजाने सोचा कि 'यह अस्पृश्य चांडाल है इसके ऐसा उत्तम व्रत कहांसे होसकता है'
यही सोचकर राजाने कड़े शब्दोंमें कहा कि "हे कोतवाल! ये दोनो ही दुष्ट हैं इसलिये इन दोनोंको रस्सी आदिसे खूब
अच्छी तरह बांधकर शिशुमार नामके भयंकर सरोवरमें पटक दो! ॥१७०–१७१॥ राजाकी यह आज्ञा सुनकर वह चांडाल
विचार करने लगा कि "प्राणोका त्याग कर देना अच्छा, परंतु व्रतका भंग करना अच्छा नहीं, क्योंकि व्रत भंग करनेसे

ततः तूर्णं तलारैः स नीत्वा राज्ञो निरूपित। देवाय तव पुत्रं त नैव मारयति
चतुर्दशीदिने प्राह ध्रुवं स नियमोस्ति मे ॥ १६३ ॥ ततः तूर्णं तलारैः स नीत्वा राज्ञो निरूपित। देवाय तव पुत्रं त नैव मारयति
स्फुटम् ॥६४॥ राजा ब्रूते हि मातग त्व पुत्रं हंसि किन्न वै। तेनोक्त श्रृणु भो देव! काचिन्मम कथा वराम् ॥१६५॥ एकदा सर्पदष्टोऽहं
मूर्छितो बाधवादिभिः। स्मशाने परिनिक्षिप्तो नीत्वा च मृतकं यथा ॥ १६६ ॥ सत्सर्वौपधर्द्धिमुनेः शरीरस्पर्शिवायुना। त्यक्तदेहस्य तत्रैव
जीवितोहं शुभोदयात् ॥ १६७ ॥ पार्श्वे तस्य मुनीन्द्रस्य गृहीतं हि मया व्रतम्। चतुर्दशीदिने सारे सर्वजीवाभयप्रदम् ॥१६८॥ अतो
देव! तमद्याहं मारयामि न निश्चितम्। स्वर्गमुक्तिसुखायैव पूर्वपापादिशान्तये ॥१६९॥ व्रतमस्पृश्यचांडालस्यापि सार कथं भवेत्। इति
सचिन्त्य रुष्टेन राज्ञा प्रोक्तं विरूपकम् ॥१७०॥ एतयोश्चडकर्मं त्वं बंधयित्वा विबंधनैः। शिशुमारह्रदे नीत्वा निक्षेपं कुरु दुष्टयोः ॥१७१॥
वरं प्राणपरित्यागो न च भंक्तुं क्वचिद्व्रतम्। व्रतभंगोऽतिदुःखाय प्राणाः सन्ति भवे भवे ॥१७२॥ जीवितव्य भवेद् यत्र व्रतं त्यक्त्वाति-

जन्म जन्ममें दुःख प्राप्त होते हैं और प्राण तो प्रत्येक भवमें प्राप्त होते रहते हैं। व्रतकी प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है, ऐसे प्राप्त हुए व्रतको छोडकर जीवित रहनेसे क्या लाभ है ? इसलिये प्राण भले ही चले जांओ, परंतु मैं अपने व्रतको कभी नहीं छोड सकता।" हृदयमें ऐसा निश्चय कर वह धीर वीर चांडाल अपने व्रत पालनेमें तत्पर बना रहा और अपने प्राणोंका भय छोडकर सिंहके समान निर्भय बना रहा ॥ १७२–१७५ ॥ तदनंतर उस कोतवालने उन दोनोंको अच्छी तरह बांधकर उस सरोवरमें पटक दिया। चांडाल अपने व्रतमें अचल रहा था इसलिये उसके व्रतके माहात्म्यसे उसी समय जलकी देवी आई। आते ही उसने उस जलके मध्यमें ही एक मणियोंका मंडप बनाया। उसमें एक सिंहासनपर चांडालको विराजमान किया, दुंदुभी बाजे बजाये, प्रातिहार्य बनाये और पुकारकर कहा कि "हे चांडाल! तेरी जय हो, तू संसारमें बहुत अच्छा है, बहुत उत्तम है और तू ही धन्य है" इसप्रकार उस देवीने उस चांडालके व्रतकी बड़ी प्रभावना की ॥ १७६–१७७ ॥ उस अतिशयको सुनकर राजा भी दौडता आया, भयसे उसका सब शरीर कंपने लगा और उसने बार बार अपनी निंदा की ॥ १७८ ॥ राजाने आते ही उसकी प्रशंसा की, पूजा की, वस्त्राभूषणोंसे उसका सत्कार किया और अपने छत्रके नीचे बिठाकर स्वयं उसे स्नान कराया ॥ १७९ ॥ इस प्रकार वह चांडाल एक केवल अहिंसाव्रतके माहात्म्यसे राजाके द्वारा पूज्य हुआ, और देवोंके द्वारा पूज्य हुआ तथा मरकर स्वर्गमें देव हुआ ॥ १८० ॥ इस अहिंसाव्रतके प्रभावसे जब एक चांडालने इतना फल पाया तब फिर श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुआ भव्य पुरुष, मन वचन कायसे जीवोंकी दया पालन करता है,

---

दुर्लभम् । तेन मे पूर्यतामद्य प्राणान्ते न गृह्णामि तत् ॥ १७३ ॥ इति निश्चित्य चित्ते स धीरः सद्व्रततत्परः । त्यक्तप्राणः परित्यक्तभयः सिंह इव स्थितः ॥१७४॥ तेन निक्षिपितौ शीघ्रं दृढबंधनबंधितौ । मातंगव्रतमाहात्म्यादागता जलदेवता ॥ १७५ ॥ तयाशु जलमध्येपि कृत सन्मणिमण्डपम् । सिंहासन महाप्रातिहार्यं सद्दुदुभिस्वनम् ॥ १७६ ॥ जयात्र भो सन्मातंग साधु साधु त्वमेव हि । धन्योऽसीति तया तस्य कृता व्रतप्रभावना ॥ १७७ ॥ त प्रातिशयमाकर्ण्य स्व विनिंद्य मुहुर्मुहुः । भयकंपितसर्वांगः स्वयं तत्रागतो नृपः ॥ १७८ ॥ प्रशस्य पूजयित्वा च विशिष्टस्तेन सत्कृतः । सदृश्य स्नापयित्वा च निजछत्रतले स्वयम् ॥१७९॥ एवं चादि व्रतेनैव मातंगोऽपि दिवं गतः । अमुत्रात्र परिप्राप्य पूजा राज्ञा सुरेण स ॥१८०॥ यो भव्यो सत्कुलोत्पन्नो धत्ते जीवदयाव्रतम् । मनोवाक्काययोगेन फल तस्य न वेद्म्य-हम् ॥१८१॥ नृपजनसुरपूज्यो धीरवीरैकचित्तो, धृतप्रथमव्रतो य कीर्तिलाभादिसारम् । अमलमिह समस्तं प्राप्य स्वर्गं गतो ना। स जयतु

अहिंसाव्रतको धारण करता है उसके फलको हम जान भी नहीं सकते ॥ १८१ ॥ देखो धीर वीर और सिंहके समान निर्भय यमपाल चांडालने एकाग्रचित्तसे प्रथम अहिंसाव्रतका पालन किया था इसलिये वह राजा और देवोंके द्वारा पूज्य हुआ, संसारमें उसकी निर्मल कीर्ति हुई और सवतरहकी महिमाको पाकर अंतमें स्वर्गका देव हुआ। इसलिये यह अहिंसाव्रत सवको पालन करना चाहिये ॥ १८२ ॥ हे वत्स ! इसप्रकार तुझे सर्वोत्तम अहिंसाव्रतका फल वतलाया। अव आगे विना दयाके जो दोष होते हैं उन्हें कहता हूं तू सुन ॥ १८३ ॥

विना दयाके धनश्रीने वहुत दिनों तक अपार दुःख पाया था इसलिये भव्य जीवोंको उस निर्दयताके पापसे भय उत्पन्न करनेवाली उसकी कथा कहता हूं ॥ १८४ ॥ लाट देशके भृगुकक्ष नामके नगरमें पुण्य-कर्मके उदयसे श्रीमान् राजा लोकपाल राज्य करता था ॥१८५॥ उसी नगरमें एक धनपाल नामका वैश्य रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था। उन दोनोंके सुन्दरी नामकी पुत्री थी और गुणपाल नामका एक पुत्र था ॥ १८६ ॥ पहिले किसी समय धनश्रीने एक कुंडल नामके वालकको पुत्र समझकर पाला था और उसपर उसका वहुत मोह था ॥१८७॥ परन्तु धनपालके मरनेपर वह दुराचारिणी धनश्री उसी कुंडलके साथ कामक्रीड़ा करने लगी ॥१८८॥ धनश्रीके पुत्र गुणपालने अपनी माताका यह सव दुराचार जान लिया इसलिये धनश्रीको उससे कुछ डर लगा और उसने कुंडलसे कहा कि "हे कुंडल! मैं सवेरे ही गुणपालको गायें चरानेके लिये जंगलमें भेजूंगी सो तू वहां जाकर गुणपालको मार आना। गुणपालके मारनेसे फिर हमारे तुम्हारे एक स्थानपर रहनेमें कोई वाधा नहीं होगी।" धनश्रीकी यह वात सुंदरीने भी सुन ली और उसने उसी समय अपने भाई

यमपालो नाम मातगसिंहः ॥ १८२ ॥ अहिंसाव्रतसारस्य प्रतिपाद्य फल तव । वक्ष्येऽहं शृणु भो वत्स दोष जीवदया विना ॥ १८३ ॥ कृपा विना धनश्रीर्या प्राप्तदु खपरम्परा । कथा तस्या हि वक्ष्यामि भव्यलोकभयप्रदाम् ॥१८४॥ लाटदेशेऽतिविख्याते भृगुकक्षाख्यपत्तने । लोकपाल नृप· श्रीमान् वभूव पुण्ययोगत· ॥१८५॥ वणिक् स्याद्धनपालोऽत्र धनश्रीस्तस्य वल्लभा· । तयोश्च सुन्दरी पुत्री गुणपालाभिध सुतः ॥१८६॥ पूर्वं धनश्रिया योऽपि पुत्रवुद्ध्याऽतिपोषित । मोहेन पुत्रकालेऽपि कुण्डलाख्योति वालकः ॥१८७॥ धनपाले मृते पश्चात्तेनैव सह रूपिणा । करोति कामक्रीडा सा दुष्टाचारैकमानसा ॥ १८८ ॥ गुणपालेन तज्ज्ञात अपायाश्चेष्टित ध्रुवम् । प्रोक्त धनश्रिया जार प्रतिशंकितया स्वयम् ॥१८९॥ रे कुण्डल ! प्रभातेऽहं चारयितु स्वगोधनम् । अटव्या प्रेषयामि त्व गुणपाल हि मारय ॥१९०॥ येनाव-

गुणपालसे कहा कि भाई माता आज तुझे गाय चरानेको भेजेगी और कुंडलके हाथसे तुझे मरवावेगी। वह ये सब वांत रातमें कुंडलसे कह रही थी इसलिये तूं खूब सावधान रहना ॥ १८९–१९३ ॥ सवेरा होते ही धनश्रीने गुणपालसे कहा कि हे पुत्र आज कुंडलका शरीर ठीक नहीं है इसलिये आज जंगलमें जाकर गायोंको तू ही चरा ला। माताकी यह वात सुनकर गुणपाल सब गायोंको लेकर जंगलमें चला गया ॥ १९४–१९५ ॥ वहां जाकर उसने अपने सब कपडे एक लकडीको पहिनाये। उसे सोती हुई वनाकर ऊपरसे उढाकर आप छिप गया और दूरसे ही माताकी चेष्टा देखने लगा ॥१९६॥ कुंडल आया, उसने कपडोंसे गुणपाल समझकर तलवारका वार किया। गुणपाल यह सब कुछ देख ही रहा था इसलिये वह झट निकल आया और तलवारसे कुंडलको मारकर स्वयं घर आगया ॥ १९७–१९८ ॥ गुणपालके घर आते ही धनश्रीने उससे पूछा कि कुंडल कहां है ? इसके उत्तरमें गुणपालने कहा कि उसकी वात मेरी तलवार जानती है ॥१९९॥ धनश्रीने देखा कि गुणपालकी तलवार रक्तसे लाल हो रही है तव उसे वडा क्रोध आया और उसने उसी तलवारसे विना किसी दयाके गुणपालको मार डाला ॥ २०० ॥ गुणपालको मारते हुए देखकर सुंदरीको भी भाईका स्नेह उमड़ आया और धनश्रीके पाप कर्मके उदयसे सुंदरीने भी मूसलोंसे धनश्रीको खूब मारा ॥ २०१ ॥ पीछे वहुत कोलाहल हो गया, कोतवाल भी आगया और वह उसे वांधकर सव कुटुंवियोंके साथ राजाके सामने ले आया ॥ २०२ ॥ राजाने

योरेक स्थान भवत्येव निरकुशम्। ब्रुवाण मातर श्रुत्वा जगौ तत्सुन्दरी स्वयम् ॥ १९१ ॥ हे वाधवाद्य यामेपि पश्चिमे निशि गोधनम्। गृहीत्वा प्रेषयित्वा च माता त्वा मारयिष्यति ॥ १९२ ॥ अटव्या कुण्डलस्यैव हस्तेन कूटयोगत'। अतस्तत्राधुना त्व हि सावधानो भव स्वयम् ॥ १९३ ॥ यामे धनश्रिया रात्रौ पश्चिमे भणितोगज.। हे पुत्र! कुडलस्याग वर्ततेऽति विरूपकम् ॥१९४॥ अतो व्रज गृहीत्वा त्व गोधन प्रसरे स्वयम्। तस्या वचनतस्तेन तत्र नीत तदेव हि ॥१९५॥ काष्ठ पिधाय वस्त्रेण भूत्वा तत्र तिरोहितः। स्थितोऽन्वेषयितु मातुश्चेष्टित सोऽतिमूढतः ॥ १९६ ॥ आगत्य कुण्डलेनैव कृतो घातोऽसिना स्वयम्। मत्वेति गुणपाल तत् काष्ठे सद्वस्त्रकपिते ॥१९७॥ ततो घादगुणपालेन मारितः सोऽतिदुष्टधीः। खड्गेनैव पुनः गेहमागत' स्वयमेव सः ॥१९८॥ ततो धनश्रिया पृष्ठो गुणपालः क्व कुडलः। तेनोक्त तस्य वार्ता मे खड्गो जानाति तत्त्वत' ॥ १९९ ॥ ततो रक्तसमालिप्त खड्गमालोक्य कोपतः। तया तेनैव खड्गेन हतः पुत्रो दया विना ॥ २०० ॥ दृष्ट्वा ता मारयन्तीं स्वस्यां वा वाधवस्नेहतः। हता सा मुशलेनैव सुन्दर्याः पापयोगत' ॥ २०१ ॥ पश्चात्कोलाहले

पुत्री सुंदरीके मुखसे सब बातें सुनीं और क्रोधित हो उसने बहुत ही बुरा और बहुत ही कठोर दंड दिया ॥ २०३ ॥ उसने नाक कान कटाकर काला मुंहकर गधेपर चढाकर शहरमें फिरवाई। इसप्रकार उसी समय उपार्जन किये हुए पापकर्मके उदयसे राजाके द्वारा दिये हुए महा घोर सब दुःखोंका अनुभव कर वह दुष्ट धनश्री अनेक दुःखोंसे भरी हुई दुर्गतिमें जा उत्पन्न हुई ॥ २०४–२०५ ॥ इसप्रकार धनश्रीने अपनी दुष्ट चेष्टासे और हिंसा नामके महा पापसे इस लोकमें भी घोर दुःख पाया और परलोकमें भी उसे अत्यंत निंद्य गतिमें जन्म लेना पड़ा ॥ २०६ ॥ नारद आदि और भी ऐसे बहुतसे मनुष्य हुए हैं जो हिंसामें प्रेम रखनेके कारण नरकमें गये हैं उन सबकी कथा कहना भी सामर्थ्यसे बाहर है ॥ २०७ ॥ देखो धनश्रीने निडर होकर जीवहिंसा की थी और दुराचरण किया था इसलिये उस पापके फलसे उसे अनेक दुःखोंसे भरी हुई और समस्त अनिष्ट संयोगोंसे परिपूर्ण ऐसी दुर्गतियोंमें जन्म लेना पड़ा था। इसलिये हे भव्य ! यदि तू दुःखोंसे डरता है तो तू भी सब तरहकी हिंसाका त्याग कर ॥ २०८ ॥

इसप्रकार आचार्य सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें आठ मूलगुण, सात व्यसन और अहिंसाव्रतको निरूपण करनेवाला तथा यमपाल चाडाल और धनश्रीकी कथाको कहनेवाला यह बारहवा परिच्छेद समाप्त हुआ।



जाते कोटवालैरघोदयात् । राजाग्रे सा समानीता धनश्री' बाधवै समम् ॥ २०२ ॥ वृत्तात सर्वमाकर्ण्य राज्ञा पुत्रीमुखात्स्वयम् । दत्तो दडो महाघोर कोपादस्याः महाशुभः ॥ २०३ ॥ सत्कर्णनासिकाछेदगर्दभारोहणादिकम् । तत्कालार्जितपापस्य प्रोदयेन कुदु खद ॥२०४॥ अनुभूय महाघोर तत्सर्व दुःखमजसा । दुर्गतिं दु.खसकीर्णा दुष्टध्यानेन सा गता ॥ २०५ ॥ इति घोरतर दुःखं इहामुत्रादि निदिता । हिंसादोषेण सप्राप्ता धनश्रीर्दुष्टचेष्टया ॥ २०६ ॥ अन्येपि वहव' श्वभ्र गता ये नारदादय' । हिंसानुरागतस्तेषां कथां को गदितु क्षमः ॥ २०७ ॥ अशुभसकलपूर्णा दुर्गतिं दु.खदीप्तां, दुरितघनप्रसगा जीवहिंसादियोगात् । अतिकुचरणदोषात् सा धनश्रीर्गता त्व, त्यज सकलबध भो दुःखभीतो यदि त्वम् ॥ २०८ ॥

इतिश्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे अष्टमूलगुणसप्तव्यसन प्रथमहिंसाविरातिव्रत समागत मातग-धनश्रीकथाप्ररूपको नाम द्वादशम' परिच्छेद ।

अथ तेरहवां परिच्छेद ।

जिनकी आत्मा अत्यन्त निर्मल हैं, जिन्होंने समस्त कर्मोंको नष्ट कर दिया है, और गणधरादि निर्मल पुरुष भी
जिन्हें वंदना करते हैं ऐसे श्री विमलनाथ भगवानको मैं अपने पापकर्मोंको नाश करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥१॥
ऊपरके सर्गमें अहिंसाव्रतका निरूपण किया । अब आगे समस्त जीवोंका हित करनेके लिये और श्रेष्ठ व्रतोंकी सिद्धिके
लिये उत्तम सत्य व्रतको कहता हूं ॥२॥ सज्जन पुरुषोंने अहिंसा व्रतकी रक्षा करनेके लिये ही सत्यव्रतका निरूपण किया
है। यह व्रत गृहस्थोंके लिये सारभूत व्रत है और भाषासमितिसे परिपूर्ण है ॥३॥ जो न तो स्थूल झूठ स्वयं बोलते हैं न
दूसरोंसे बुलवाते हैं और न किसीके द्वारा बोले हुए झूठकी अनुमोदना करते हैं उनके यह सत्यव्रत होता है ॥४॥ विद्वान्
गृहस्थोंको सबका हित करनेवाला, थोड़ा और मधुर वचन कहना चाहिये, किसीकी निंदा नहीं करनी चाहिये और सब
जीवोंको सुख देनेवाले वचन कहने चाहिये ॥५॥ हे भव्य! तू सदा ऐसे वचन कह जिनसे अपने आत्माका कल्याण हो,
जो धर्मके कारण हों, यश देनेवाले हों, और पापोंसे सर्वथा रहित हों ॥६॥ विद्वान् लोगोंको अन्य जीवोंका हित करनेवाले,
रागद्वेषसे रहित, सारभूत और धर्म वा संवेगको बढ़ानेवाले वचन ही सदा कहने चाहिये ॥७॥ विद्वान् लोग सदा आगमके
अनुसार, अनिंद्य, विकथादिकसे रहित, धर्मोपदेशसे भरे हुए ही वचन कहते हैं ॥८॥ जो दूसरोंके हितके लिये कुछ कठिन
वाक्य भी कहे जाते हैं अथवा दूसरोंकी रक्षा वा हितके लिये असत्य भी कहा जाता है वह सब भगवान जिनेंद्रदेवने सत्य

अथ त्रयोदशमः सर्गः ।

विमल विमल वन्दे विमलेश्वरवदितम् । नष्टकर्ममल देव पापदुर्मलहानये ॥ १ ॥ अहिंसाव्रतमाख्याय सत्यसज्ञ व्रतं परम् ।
सर्वलोकहितार्थं च वक्ष्ये तद्व्रतसिद्धये ॥ २ ॥ अहिंसाव्रतरक्षार्थं द्वितीय सद्व्रत जिनैः । कीर्तित गृहिणा सार भाषासमितिसयुतम् ॥३॥
ये वदन्ति न च स्थूलमलीक वादयन्ति न । परैर्न चानुमन्यन्ते तेषा सत्यव्रत भवेत् ॥ ४ ॥ हित ब्रूयान्मित ब्रूयाद् ब्रूयात्सन्मधुर वच. ।
बुधैर्निंदादिसत्यक्त सर्वसत्त्वसुखप्रदम् ॥ ५ ॥ हितं स्वस्य भवेद् यत्तद् वचन धर्मकारणम् । यशःप्रद च पापादित्यक्त वद त्व सर्वदा ॥६॥
परस्यापि हित सार रागद्वेषविवर्जितम् । वक्तव्य च वचो नित्यं धर्मं सवेगद बुधैः ॥ ७ ॥ आगमोक्तमनिंद्य च विकथादिपराङ्मुखम् ।
धर्मोपदेशनायुक्त वदन्ति सद्वचो बुधाः ॥ ८ ॥ हितमुद्दिश्य यत्किंचिदुक्त भो कठिन वचः । असत्य वा परस्यापि तत्सत्य गदित जिनैः

ही बतलाया है ॥ ९ ॥ जो दूसरोंको दुःख उत्पन्न करनेवाले हों, कानोंको दुःख देनेवाले हो, और जीवोंका वध वा बंधन करनेवाले हों ऐसे सत्य वचनोंको भी विद्वान् लोग असत्य ही कहते हैं ॥१०॥ सत्यरूपी सारभूत अमृत वचनोंसे जीवोंको यश प्राप्त होता है, प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और धर्मकी प्राप्ति होती है और असत्य वचनोंसे वध बंधन आदि अनेक प्रकारके दुःख प्राप्त होते है ॥ ११ ॥ इस संसारमें जब सब जीवोंको सुख देनेवाले, सबका हित करनेवाले, और पूज्य ऐसे सत्यरूपी अमृत वचन उपस्थित हैं फिर भला ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो निंद्य, कठोर और झूठ वचनोंको कहे ॥ १२ ॥ जो पुरुष सदा सत्य वचनोंकी सीमामें ही रहता है कभी असत्य नही बोलता, उसे अग्नि सर्प आदि कोई भी पीड़ा नही दे सकते ॥ १३ ॥ सत्य वचनोके ही कारण यह प्राणी इस संसारमें देव और मनुष्योके द्वारा पूज्य होता है तथा परलोकमें स्वर्ग मोक्षादिके सुख प्राप्त करता है ॥ १४ ॥ जो वाक्य कर्कश हों, कठोर हों, निंद्य हों, पापमय उपदेशसे परिपूर्ण हों, किसी मर्मको कहनेवाले हों, दूतपनेके कामको करनेवाले हों, धर्मसे रहित हो, दूसरोंको क्रोध उत्पन्न करनेवाले हों, कडवे हों, दूसरोंकी निंदा करनेवाले हो, अभिमान प्रगट करनेवाले हों, राग उत्पन्न करनेवाले हों, शोक करनेवाले हों, समस्त जीवोंको भय उत्पन्न करनेवाले हों, हंसी करनेवाले हों, कामोद्रेक उत्पन्न करनेवाले हो, मुनियोंमें दोष लगानेवाले हो, असत्य हो, दुख देनेवाले हों, विचार रहित हों, शास्त्रोंसे विरुद्ध हों, अपने गुणोंकी प्रशंसा करनेवाले हों, मूर्ख लोगोंको ठगनेवाले हों, धर्मविरुद्ध हों, देशविरुद्ध हों, कृष्णलेश्या आदिमें डुबानेवाले हों, विकथा आदिको सूचित करनेवाले हो, और नीच लोगोंके द्वारा कहनेयोग्य हों, हे मित्र ! ऐसे वचन कंठगत प्राण होनेपर भी नही कहने चाहिये । तू ऐसे वचनोका

॥ ९ ॥ परपीडाकरं यत्तद्वच सत्कर्णदुःखदम् । वधबंधादिकं सत्यमसत्यं गदितं जिनैः ॥ १० ॥ सारसत्यामृतादगी यशः पूजादिकं भजेत् । सद्धर्मादिमसत्येन बधबधादिक च भो ॥११॥ सति सत्यामृते पूज्ये हिते सर्वसुखाकरे । अलीकं कटुकं निंद्यं वचनं को वदेत् सुधी ॥१२॥ सत्यसीमादियुक्तस्य वाऽसत्यरहितस्य वै । अग्निसर्पादया नैव पीडा कुर्वन्ति केचन ॥ १३ ॥ सत्येन वचसा प्राणी पूजनीयो भवेद्ध्रुवम् । नरैर्देवै रिहामुत्र स्वयं मुक्त्यादिकं श्रयेत् ॥ १४ ॥ कर्कशं निष्ठुरं निंद्यं पापाढ्यं मर्मसूचकम् । दूतकर्मकरं त्यक्तधर्मं चापरकोपदम् ॥१५॥ कटुकं परनिंदादियुक्तं गर्वादिकारणम् । सरागं शोकसम्पन्नं सर्वजीवभयप्रदम् ॥ १६ ॥ हास्यादिप्रेरकं कामकारणं मुनिदूषितम् । असत्यं दुःखदं त्यक्तविचारं शास्त्रदूरगम् ॥ १७ ॥ आत्मगुणप्रशसादिकरं मूढप्रतारकम् । धर्मदेशविरुद्धं च कृष्णलेश्यादिसागरम् ॥ १८ ॥

सर्वथा त्याग कर ॥ १५–१९ ॥ असत्य वचन कह कह कर ही दुष्ट पुरुषोंने अनेक कुशास्त्र रचकर लोगोंको व्याकुल और धर्मसे परान्मुख कर दिया है ॥ २० ॥ झूठ बोल बोल कर ही अपने आत्माको तथा अन्य लोगोंको ठगनेवाले और धर्म मार्गसे ही द्रव्य कमानेवाले धूर्तोंने हठपूर्वक अनेक कुशास्त्रोंको रचा है ॥ २१ ॥ असत्य वचनोंके प्रभावसे ही जिनशासनके भीतर और जिनशासनके बाहर अनेक मत मतांतर उत्पन्न होगये हैं ॥२२॥ नीच मुखरूपी वामीमें जिह्वारूपी सर्पिणी रहती है वह असत्यरूपी हलाहल विषसे भरेहुए मुखसे अनेक लोगोंको खा डालती है ॥ २३ ॥ भिष्टा भक्षण कर लेना अच्छा, परंतु अपनी जिह्वासे हिंसा करनेवाले, पाप और दुःख उत्पन्न करनेवाले झूठ वचन कहना कभी अच्छा नहीं ॥ २४ ॥ इन तीनो लोकोंमें असत्य वचनोंके समान अन्य कोई पाप न आज तक हुआ है और न हो सकता है इसलिये हे मित्र ! विषैले सर्पके समान शीघ्र ही तू इसका त्याग कर ॥ २५ ॥ इस असत्य वचनके फलसे ही लोग गूंगे, वहिरे होते हैं, उनके मुंहमें अनेक रोग होजाते हैं, उनका स्वर बुरा होता है और वे मूर्ख होते हैं ॥२६॥ इसी प्रकार सत्य वचनके फलसे ज्ञान वढता है, विद्या वढती है, विवेक वढता है, अच्छा मीठा स्वर होता है, वचनकी चतुरता आती है, सभाको जीतनेवाला वादी होता हैं और अच्छा कवि होता है ॥ २७ । जो मनुष्य इस सत्यव्रतको अतीचार रहित पालन करता है वह स्वर्गादिकके तथा राज्यादिकके सुख भोगकर अंतमें मुक्तिलक्ष्मीका स्वामी होता है ॥ २८ ॥

विकथादिकरं सर्वनीचलोकोदितं वचः । त्यज त्वं सर्वथा मित्र प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ १९ ॥ असत्यवचनाल्लोको वराको व्याकुलीकृतः । रचयित्वा कुशास्त्रं भो खलैर्धर्मपरान्मुखैः ॥२०॥ मृषावादेन लोकोऽयं धूर्तैः स्वपरवंचकैः । धर्ममार्गात्सुद्रव्यार्थमुत्पथे पतितो हठात् ॥२१॥ जैनशासनमध्ये च बाह्ये श्रीजिनशासनात् । असत्यबलतो नूनं जाता सर्वे मतान्तराः ॥ २२ ॥ असद्वदनवल्मीके जिह्वाख्या सर्पिणी स्थिता । असत्यकुविषास्येन खादत्येव वहून् जनान् ॥ २३ ॥ अमेध्यभक्षणं श्रेष्ठं न च वक्तुं स्वजिह्वया । हिंसाकरं मृषावादं दुःखपापाकरं नृणाम् ॥२४॥ असत्यसदृशं पापं न भूतं न भविष्यति । नास्ति लोकत्रये तस्मात्त्यज त्वं हि विषादिवत् ॥ २५ ॥ नृणां मूकवधिरांहसुपरोगादिसंचयम् । दुःस्वरत्वं च मूर्खत्वं जायतेऽनृतभाषणात् ॥ २६ ॥ ज्ञानं विद्या विवेकं च सुस्वरत्वं वचःपटुम् । वादित्वं सुकवित्वं च सत्याज्जीवा भजन्त्यहो ॥२७॥ अतिचारविनिर्मुक्तं सत्याख्यं यो व्रतं चरेत् । नाकराज्यादिकं प्राप्य मुक्तिनाथो भवेत्स ना ॥ २८ ॥ भो भगवन्नतीचारान् दया कृत्वा प्ररूपय । व्रतशुद्ध्यर्थमत्रैव सत्यव्रतमलप्रदान् ॥ २९ ॥ कृत्वा स्वहृदयं वत्स सकलपादिविवर्जितम् । शृणु

प्रश्न–हे भगवन् ! इस व्रतको शुद्ध पालन करनेके लिये इस सत्य व्रतमें दोष उत्पन्न करनेवाले अतिचारोंको कृपाकर कहिये ॥ २९ ॥

उत्तर–हे वत्स ! तू हृदयके सब संकल्प–विकल्पोंको छोड़कर सुन ! तेरे लिये मैं उन अतिचारोंको कहता हूं ॥३०॥ मिथ्याउपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद ये सत्य व्रतमें दोष लगानेवाले पांच अतीचार गिने जाते हैं ॥ ३१–३२ ॥ जो अपने किसी कार्यकी सिद्धिके लिये अथवा द्रव्य कमानेके लिये झूठा उपदेश दिया जाता है सो मिथ्योपदेश नामका पहिला अतीचार गिना जाता है ॥३३॥ जो किसी द्रव्यके लोभसे अथवा अन्य किसी प्रयोजनसे स्त्री पुरुषोंके द्वारा अन्यथा अन्य किसीके द्वारा किये हुए छिपे कार्यको प्रगट करता है उसके वह रहोभ्याख्यान (एकांतमें किए हुए कार्यको प्रगट करना) नामका अतीचार कहलाता है ॥ ३४ ॥ जो किसी दूसरेको ठगनेके लिये झूठे लेख लिखता है उसके कूटलेखक्रिया नामका तीसरा अतीचार लगता है ॥३५॥ किसीके धरोहर रक्खे हुए धनमेंसे जो थोडा देता है उसमेंसे कुछ रख लेता है उसके न्यासापहार नामका चौथा अतीचार होता है ॥३६॥ जो किसी छल कपटसे अथवा किसीकी चेष्टा देखकर दूसरेके हृदयकी वातको जानकर उसे अन्य लोगोंके सामने प्रकाशित करता है वह साकारमंत्रभेद नामका पांचवां अतीचार कहलाता है ॥३७॥ जो पुरुष इन अतीचारोंको छोड़कर सत्य भाषण करता है वह स्वर्गादिकके सुख भोगकर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करता है ॥३८॥ संसारमें असत्य वचन अनेक कुगतियोंके कारण हैं, गूंगे, वहिरे आदि अनेक रोगोंके वीजभूत हैं, नरकमें प्रवेश करानेवाले हैं, स्वर्ग-मोक्षके अद्वितीय शत्रु हैं, अनेक कठिन दुःख देनेवाले हैं और पाप–संतापके

तेऽहं प्रवक्ष्यामि व्यतीचारान् व्रतस्य भो ॥३०॥ आद्यो मिथ्योपदेशश्च रहोभ्याख्यानसंज्ञक । कूटलेखक्रिया न्यासापहारश्च भवेत्ततः ॥३१॥ साकारमंत्रभेदश्च व्यतीचाराः भवन्त्यमी । पंचैवाप्यनृतत्यागव्रतस्य दोषदायकाः ॥३२॥ कार्यमुद्दिश्य यो सत्य उपदेशो हि दीयते । परस्य द्रव्यलाभार्थं सः स्यादादौ व्यतिक्रमः ॥ ३३ ॥ अनुष्टित च प्रच्छन्नं स्त्री भर्तृभ्या प्रकाश्यते । प्राप्य लोकजनैर्यत्तद् रहोभ्याख्यानमुच्यते ॥ ३४ ॥ परस्य वचनार्थं यः कूटलेखादिकं लिखेत् । कूटलेखक्रिया नाम्ना भवेत्तस्य व्यतिक्रमः ॥ ३५ ॥ न्यासात्स्वामिनो योऽपि धनं स्वल्प ददाति भो। अतिचारो भवेत्तस्य स्तोकमाहृत्य तत्स्वयम् ॥३६॥ गृहीत्वा परमर्थं यः प्रपंचेनापि चेष्टया । प्रकाशयति लोकाग्रे अतिचारं लभेत् सः ॥३७॥ एतद्दोषपरित्यक्तं सूनृतं यो वदेद्वचः । स एव संवर प्राप्य नाकं याति क्रमात् शिवम् ॥३८॥ सुवोधरगतिहेतु मूकरो-

वीज हैं इसलिये हे मित्र ! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये ऐसे असत्य वचनोंका सर्वथा त्यागकर ॥३९॥ इसी प्रकार सत्य वचन नरकरूपी घरको बन्द करनेके लिये किवाड़ हैं, स्वर्ग-मोक्षके मित्र हैं, श्री जिनेन्द्रदेव और गणधरदेव भी इनकी सेवा करते हैं, ये समस्त विद्याओंके देनेवाले हैं, अपने आत्माका परम कल्याण करनेवाले हैं, सर्वथा निर्दोष हैं और जीवोंकी हिंसासे सर्वथा रहित हैं इसलिये हे वत्स ! आगामी सुख प्राप्त करनेके लिये तू भी ऐसे सारभूत सत्य वचनोंके भाषण करनेका नियम ले ॥ ४० ॥ जो बुद्धिमान् स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सदा प्रतिष्ठित सत्य वचन कहते हैं वे इस लोकमें ही राजा और देव विद्याधरोंके द्वारा पूज्य गिने जाते हैं ॥ ४१ ॥

प्रश्न—हे प्रभो ! इस सत्य व्रतके माहात्म्यसे जिसने इस संसारमें प्रतिष्ठा प्राप्त की है उसकी कथा कृपाकर मुझे सुना दीजिये ॥ ४२ ॥

उत्तर—हे मित्र ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं मोक्ष प्राप्त करनेके लिये कल्याण करनेवाली धनदेवकी कथा तुझे सुनाता हूं ॥ ४३ ॥ अनेक मनुष्योंसे भरे हुए इस जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें जैनधर्मसे अत्यन्त शोभायमान एक पुष्कलावती देश है। उसकी पुंडरीकिणी नगरीमें एक धनदेव नामका वैश्य रहता था। वह धनदेव सदा सत्य भाषण ही करता था। उसी नगरीमें एक दुष्ट जिनदेव रहता था ॥ ४३—४४ ॥ किसी एक समय धनदेव और जिनदेव दोनों ही व्यापारके लिये देशांतर गये उन्होंने विना किसी अन्यकी साक्षीके परस्परमें यह तय कर लिया था कि हमारे व्यापारमें जो कुछ लाभ होगा उसे हम दोनों आधा आधा वांट लेंगे ॥ ४६ ॥ वहां जाकर उन्होंने पुण्यकर्मके उदयसे वहुतसा द्रव्य कमाया

त्यज सकलमसत्यं त्वं सदा मुक्तिहेतो ॥ ३९ ॥ नरकगृहकपाट नाकमोक्षैकमित्र, जिनगणधरसेव्य सर्वविद्याकर भो। स्वपरहितमदोष जीवहिंसादित्यक्त, त्वमपि वद सुसार सत्यवाक्य सुखाय ॥ ४० ॥ य सुधी स्वर्गमुक्त्यर्थं व्रत सत्यप्रतिष्ठितम्। धत्ते स पूज्यता याति चेहैव नृसुरासुरै ॥४१॥ सुसत्यव्रतमाहात्म्यात्प्राप्ता पूजेह जन्मनि। प्रभो तस्य कथा सारा स्वदयया समाविश ॥ ४२ ॥ निधाय स्ववशे चित्त श्रृणु मित्र ! शुभप्रदाम्। धनदेवभवा वक्ष्ये कथा मुक्त्यै तवाद्य ताम् ॥ ४३ ॥ जम्बूद्वीपे जनाकीर्णे विदेहे पूर्वनामनि। पुष्कलादिवती देशे जैनधर्माकरे वरे ॥ ४४ ॥ नगर्यां पुंडरीकिण्या धनदेवो वणिक् भवेत्। सत्यवाद्यपरस्तत्र जिनदेवोतिदुष्टधीः ॥४५॥ अर्द्धमर्द्ध स्वलाभस्य गृह्णीव्यावो धनम् इति। निःसाक्षिका च व्यवस्था

गादिवीज, नरकगृहप्रवेश स्वर्गमोक्षैकशत्रुम्। इहपरभवदुःख पापसन्तापवीज,

और फिर वे दोनों शीघ्र ही लौटकर कुशलपूर्वक घर आगये ॥ ४७ ॥ जिनदेव दुष्ट था इसलिये घर आनेपर उसने धनदेवको आधा द्रव्य नहीं दिया किन्तु उसे थोड़ासा द्रव्य देना चाहा। इसलिये उन दोनोंमें परस्पर झगडा होगया। सो ठीक ही है क्योंकि मूर्ख लोग धनके लिये क्या क्या पाप नहीं करते हैं ? अर्थात् सब कुछ करते है ॥४८-४९॥ कोई साक्षी तो था ही नहीं इसलिये झूठ बोलनेवाले पापी जिनदेवने सब लोगोंके सामने, कुटुंबियोंके सामने और राजादिके सामने यही कहा कि मैंने इस व्यापारके लाभमेंसे इसे कुछ भी द्रव्य देना नहीं कहा था इसलिये मैं इसे उचित द्रव्यके सिवाय और कुछ अधिक नही दे सकता ॥ ५०-५१ ॥ धनदेव अपने सत्यव्रतमें निश्चल था इसलिये उसने राजा, कुटुंबी और वैश्योंके सामने परस्परमे तय हुए आधे आधे द्रव्यकी ही बात कही ॥ ५२ ॥ तब राजाने वह सब धन दोनोंसे लेकर जलती हुई अग्निमें रख दिया और कहदिया कि जो सत्यवादी हो वही अग्निमें जाकर ले आवे। धनदेव सत्यवादी और शुद्ध था इसलिये वह झट अग्निमें जाकर द्रव्यको ले आया तथा झूठ बोलेनेक कारण जिनदत्त उस द्रव्यको न ला सका ॥५३॥ इसलिये वह सब धन राजाने धनदेवको ही सौंप दिया तथा राजाने व अन्य लोगोंने उनका यथेष्ट आदरसत्कार किया और संसारमें वह बहुत ही श्रेष्ठ और धन्य गिना गया ॥५४॥ यह बात देखकर अन्य लोगोने भी उसकी स्तुति की, पूजा की और उसे नमस्कार किया। इसप्रकार धनदेव सत्यके प्रभावसे संसारभरमें प्रसिद्ध हुआ ॥ ५५ ॥ देखो, वैश्यपुत्र धनदेव निर्मल सत्यवचनोंके ही प्रभावसे अनेक निर्मल गुणोंका निधि होगया था, धनाढ्य होगया था, राजाके द्वारा और अन्य संसारी लोगोंके द्वारा

तौ कृत्वा देशान्तर गतौ ॥ ४६ ॥ उपार्ज्य बहुशो द्रव्य पुण्यकर्मोदयादुभौ। व्याघुट्य कुशलेनैव स्वगृहं प्रागतौ चिरात् ॥४७॥ जिनदेवोऽतिलोभार्थं न दत्ते दुष्टमानस.। स्तोक स्व धनदेवाय चौचित्येन ददाति वै ॥ ४८ ॥ ततो झकटिको जातस्तयोस्तत्र परस्परम्। मूढा द्रव्यार्थमेवाहो पाप कुर्वन्ति किं न हि ॥ ४९ ॥ नि साक्षिकबलाद्ब्रूते जिनदेवोदितपापधी'। लोकस्वजनराजादीनामग्रेऽसत्यतत्पर ॥५०॥ मया नैवास्य लाभार्द्ध सद्रव्य भणित तदा। उक्त तदोचितं तस्मान्नाधिक प्रददाम्यहम् ॥५१॥ धनदेवो नृपादीनां स्वजनानां वणिक् वेशम्। वदत्येव स्फुट सत्य सत्यव्रतप्रतिष्ठितम् ॥५२॥ ततो राज्ञा तयोर्दत्तं द्रव्य वन्हि समुद्धरन्। धनदेवोते शुद्धो भृदग्निना नेतरोऽनृतात् ॥५३॥ अतो हि धनदेवस्य धन सर्वं समर्पितम्। राज्ञानुपूजितः साधु' कारितो भूतले शुभात् ॥५४॥ तथा सर्वजनैर्लोकै संस्तुतोऽभ्यर्चितो नुत' धनदेवोति विख्यातो जात सत्यप्रभावत ॥ ५५ ॥ अमलगुणनिधानो वैश्यपुत्रो धनाढ्यो, नृपतिजनगणैश्च लोकमध्ये स पूज्य। विमल

पूज्य होगया था और संसारमें उसकी निर्मल कीर्ति फैल गई, ऐसा सत्यवादी धनदेव सदा जयशील हो ॥ ५६ ॥ इसप्रकार सत्यवचनोंके गुणोंको सुनकर शिष्य फिर पूछनेलगा कि—

प्रश्न—हे भगवन्! सत्य वचनोके त्याग करनेमे किसको दुःख पहुंचा है उसकी कथा और सुना दीजिये ॥ ५७ ॥

उत्तर—इसके उत्तरमें आचार्य कहने लगे कि हे शिष्य! तू चित्त लगाकर सुन, अब मैं झूठ बोलनेवाले सत्यघोषकी भय उत्पन्न करनेवाली कथा कहता हूं ॥ ५८ ॥

इसी जंबूद्वीपके प्रसिद्ध भरतक्षेत्रमें एक सिंहपुर नगर है। उसमें राजा सिंहसेन राज्य करता था ॥ ५९ ॥ उसको सुख देनेवाली उसकी रानीका नाम रामदत्ता था। उसी राजाके एक श्रीभूति नामका अत्यंत कपटी पुरोहित था ॥ ६० ॥ वह अपने जनेऊमें एक कैंची बांधे फिरता था और लोगोंसे कहता फिरता था कि यदि कभी लोभसे मेरे मुंहसे कुछ झूंठ निकल जाता है तो मैं इस कैंचीसे उसी समय अपनी जीभ काट डालता हूं। इसप्रकार वह प्रतिदिन अपना सब व्यवहार कपटपूर्वक ही करता था ॥ ६१–६२ ॥ परंतु उसका यह कपट किसीको मालूम नहीं हुआ था इसलिये उसका दूसरा नाम सत्यघोष पडगया था। तब बहुतसे लोग उसका विश्वास करने लगगये थे और उसके पास आआकर अपना धन धरोहर रखने लगगये थे ॥ ६३ ॥ परंतु जो द्रव्य रख जाते थे उनको वह कुमार्गगामी पुरोहित सब नहीं देता था, थोडा ही देता था। तथापि संसारमें उसके सत्यकी प्रसिद्धि हो रही थी इसलिये उससे कोई कुछ कह नहीं सकता था ॥ ६४ ॥ जो पुरुष उसके इस कृत्यको जान लेता था वह उसके सत्यकी प्रसिद्धिको सुनकर यही सोच लेता था कि "क्या

वचनसत्यात् प्राप्तएवात्र ख्यातिं, स जयतु धनदेव सत्यवादी गरिष्ठः ॥ ५६ ॥ गुणं सत्यवचो जातं श्रुत्वा शिष्यः प्रपृच्छति। भगवन् सत्यवाक्त्यागात्प्राप्तं दुःखं च केन भो ॥५७॥ श्रृणु शिष्य प्रवक्ष्येऽहं कृत्वा सनिश्चल मनः। कथ्यते सत्यघोपस्य सत्यहीनस्य भीतिदम् ॥५८॥ जम्बूद्वीपे प्रसिद्धेस्मिन् क्षेत्रे सद्भारताभिधे। जातः सिंहपुरे राजा सिंहसेनो नृपाग्रणी ॥५९॥ सद्राज्ञी रामदत्ताख्या जाता तस्य सुखप्रदा। आसीत् क्षुद्रः परोधाश्च श्रीभूतिः कपटान्वितः ॥ ६० ॥ सबध्वा कर्तिकां तीक्ष्णां ब्रह्मसूत्रे परिभ्रमन्। वदत्येवानृतं किंचिद् ब्रवीमि यदि लोभतः ॥ ६१ ॥ तदा कर्तृकया जिव्हाछेदं स्वस्य करोम्यहम्। एवं स वर्तते लोके कपटेनैव प्रत्यहम् ॥ ६२ ॥ सत्यघोषाव्हयं तस्य जातं नाम द्वितीयकम्। विश्रुतौ बहवो लोकाः पार्श्वे तस्य धरन्ति स्वम् ॥ ६३ ॥ स्वल्पं द्रव्यं पुनस्तेषां स ददाति कुमार्गगः। ते पुत्कर्तुं समर्था

॥ १०४ ॥ वहांपर वह दिव्य अग्निसे मरकर यहा पाप-कर्मके उदयसे किसी वनमें कुर्कुट नामका सर्प हुआ ॥१०५॥ वहांपर
उसने किसी व्रती राजाको काटा था इसलिये मरकर नरकमें जा उत्पन्न हुआ। इसप्रकार केवल मिथ्या भाषण करनेसे अनेक
दुःखोको भोगता हुआ वहुत दिनतक संसारमें-परिभ्रमण करता रहा ॥१०५॥ देखो केवल मिथ्याभाषण करनेसे ही सत्य-
घोष पुरोहितने तीनो लोकोंमें निंद्य ऐसे घोर दु ख सहे, राजाके दिये हुए तीनों प्रकारके दंड सहे और फिर मरकर पापरूपी
जलसे भरेहुए तथा अनेक दुःखोसे परिपूर्ण संसारसागरमें गोते खाये ॥ १०७ ॥ इस महा निंद्य असत्य वचनके फलसे
जीवोंका घात करनेवाला मूर्ख राजा वसु आदि और भी अनेक जीव नरकमें गये है वे सव असत्य रूप महापापसे कलं-
कित थे इसलिये इस संसारमें उन सवकी कथा भी कोई नहीं कह सकता ॥ १०८–१०९ ॥ इस कथाको सुनकर विद्वान्
लोगोंको इस लोक और परलोक दोनो लोकोमे दुःख देनेवाले असत्य वचन प्राणोंका नाश होनेपर भी कभी नहीं कहने
चाहिये ॥ ११० ॥ हे वत्स ! यदि तुझे मोक्ष प्राप्त करना है तो तू सदा सत्य वचन ही वोल, क्योंकि संसारमे सत्य वचन
ही समस्त श्रुतज्ञानको प्रगट करनेवाले हैं, कीर्तिरूपी वेलको वढानेके लिये अच्छे पानीके समान है, पुण्यरूपी वनके लिये
वरसाती मेघ है, निर्मल सुखके समुद्र है, बुद्धि सिद्धिके देनेवाले है, शुभ गतिके कारण है और धर्मके स्वामी तीर्थंकर भी
इसकी सेवा करते हैं। इसलिये तू सदा सत्य वचन ही वोल ॥ १११ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें सत्यव्रतका निरूपण करनेवाला तथा
धनदेव और सत्यघोषकी कथाको कहनेवाला यह तेरहवा परिच्छेद समाप्त हुआ ।

हि समाह्वयः । जातो वने महापापोदयाद्राजादिभक्षणात् ॥ १०५ ॥ ततो मृत्वा गत श्वभ्र सद्व्रतीयादखादनात् । ततो च दीर्घससारी
जातो दु खाकुलोऽनृतात् ॥१०६॥ अनृतवचनयोगात्सत्यघोष पुरोधः, सकलभुवननिंद्य घोरदुःख प्रभुक्त्वा । नृपतिकृतकुदडान्मृत्युमा-
साद्य चाग्नौ, दुरितनलप्रपूर्णे दु खदे वै भवाब्धौ ॥१०७॥ वसुराजादयोऽन्ये ये श्वभ्र च वहवो गता. । असत्यवचनान्निंद्याज्जीवघातकरा
शठाः ॥१०८॥ गदितुं क कथा तेषा समर्थोऽत्र महीतले । भूरिपापकृतानां स प्रलीकादिकलंकिताम् ॥१०९॥ इमा कथा समाकर्ण्य बुधै
प्राणात्यये सदा । असत्य नैव वक्तव्य चेहामुत्राशुभप्रदम् ॥११०॥ सकलश्रुतकरं त्वं कीर्तिवल्लीसुनीर, शुभवनघनमेघ सेवित धर्मनाथै· ।
अमलसुखसमुद्रं बुद्धिदं सिद्धिद च । वद शुभगतिहेतु सत्यवाक्यं प्रमुक्त्यै ॥ १११ ॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्ति विरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे असत्यविरातिव्रत धनदेवसत्यघोष कथाप्ररूपकोनाम त्रयोदशम परिच्छेदः ।

अथ चौदहवां परिच्छेद ।

जो अनंत गुणोंके सागर हैं, अनंत गुणोंको प्राप्त हुए हैं और अनंत गुण देनेवाले हैं ऐसे श्री अनंतनाथ भगवानको मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ समस्त सुखोंके महासागर ऐसे सत्यव्रतका निरूपण हो चुका अब अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिये अचौर्यव्रतको कहते हैं ॥ २ ॥ श्री जिनेन्द्रदेवने उस अचौर्यव्रतको अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिये ही निरूपण किया है। यह व्रत सब दोषोंसे रहित है और यश देनेवाला है ॥ ३ ॥ जो धन धान्य आदि स्थूल पदार्थोंको मन वचन कायसे विना दिया हुआ ग्रहण नहीं करता है उसके यह अचौर्याणुव्रत कहलाता है ॥ ४ ॥ हे वत्स ! किसी वनमें, मार्गमें वा किसी घरमें पड़े हुए, भूले हुए, नष्ट हुए, स्थापन किये हुए, और धरोहर रक्खे हुए धनको दूरसे ही छोड ॥ ५ ॥ यदि तू उसके ग्रहण करनेका त्याग नहीं कर सकता, उसे नहीं छोड सकता तो उस धनको लेकर अपना पुण्य बढानेके लिये पूजा आदि कामोंके लिये श्री जिनालयमें दे देना चाहिये ॥६॥ इस संसारमें सर्पको पकड़ लेना अच्छा परंतु दूसरेका धन लेना अच्छा नहीं क्योंकि सर्पके पकड़नेमें एक जन्म ही नष्ट होगा किंतु दूसरेका धन लेनेमें असंख्य भवों तक दुःख प्राप्त होते रहते हैं ॥७॥ भीख मांगकर पेट भरलेना अच्छा परंतु दूसरेके द्रव्यको लेकर घी बूरेमें तर शालि चावलोंका खाना अच्छा नहीं ॥ ८ ॥ हलाहल विष खालेना अच्छा परंतु दूसरेका धन लेलेना अच्छा नहीं क्योंकि विष खानेसे एक ही जन्मका भय है किंतु दूसरेका धन लेनेमें उन्हें करोडों जन्मतक दुःख भोगना पडेगा ॥ ९ ॥ इस संसारमें जो दुष्ट दूसरेका थोडा

अथ चतुर्दशमः सर्गः ।

अनन्त श्रीजिन वन्दे अन्तातीतगुणप्रदम् । अनन्तगुणसम्प्राप्त्यै स्वानन्तगुणसागरम् ॥१॥ सत्य व्रत समाख्याय सर्वसौख्यमहार्णवम् । अदत्तविरति वक्ष्ये दयादि व्रतहेतवे ॥२॥ कृपासत्यादिरक्षार्थं अदत्तविरतिव्रतम् । प्रणीत जिननाथेन त्यक्तदोष यश प्रदम् ॥ ३ ॥ अदत्त यो न गृह्णाति स्थूल वस्तु धनादिकम् । मनोवाक्काययोगेन तत्तस्यास्तेयाणुव्रतम् ॥४॥ पतित विस्मृत नष्ट स्थापित निहित सदा । अरण्ये पथि वा गेहे परद्रव्यादिक त्यज ॥५॥ यदि त्यक्तु समर्थो न तदादाय धनादिकम् । पूजार्थं स्वपुण्याय ददस्व श्रीजिनालये ॥६॥ सर्पादान वर लोके भवैकप्राणनाशनम् । न चादान परस्व हि विसंख्यभवदु खदम् ॥ ७ ॥ वर भिक्षादनेनैव स्वस्योदरप्रपूरणम् । परद्रव्य समादाय न च शाल्योदनैर्नृणाम् ॥ ८ ॥ वर हालाहल भुक्त चैकजन्मभयप्रदम् । न परस्व व्यतीतान्त भवकोटि कुदु खदम् ॥ ९ ॥

धन भी लेता है वह वध बंधनके अनेक दुःखोको पाकर अंतमें नरकका ही स्वामी होता है ॥ १० ॥ चोरी करनेवालेका हृदय न तो किसी वनमें स्वस्थ रहता है न किसी घरमें स्वस्थ रहता है न संसारमे कही स्वस्थ रहता है और न भोजन करनेमें कही जी लगता है क्योंकि उसे अपने मरनेकी, पकडे जानेकी आशंका सदा बनी रहती है ॥११॥ यदि चोरी करनेवाला अपना कुटुंबी ही हो तो उससे डरकर माता भी उसे छोडदेती है, पुत्री भी छोड देती है, पिता भी छोड देता है, स्त्री भी छोड देती है और भाई बंधु आदि सब कुटुंबी उसे छोड़ देते हैं ॥ १२ ॥ जो अनेक प्रकारके छल कपटोसे दूसरेका थोडा भी धन लेता है उसके घरका सब धन नष्ट होजाता है इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ १३ ॥ दूसरोंके वस्त्र आदिकी लालसा रखनेवाले कपटी चोरको चोर समझकर सज्जन लोग भी तृणके समान उसे मारते हैं ॥ १४ ॥

महापुण्यको प्रगट करनेवाली और तीनो लोकोंमें रहनेवाली ऐसी समस्त लक्ष्मी नीतिमार्गसे ही पुण्यवानके घर आ जाती है ॥ १५ ॥ अन्यायरूप आचरण करनेसे घरमें रहनेवाली लक्ष्मी भी उस पुण्यहीन मनुष्यके घरसे निकलकर धर्मात्माके घर चली जाती है ॥१६॥ यदि चोरीके व्यापारसे ही लक्ष्मी घरमें रहने लगे तो दुष्ट भील आदि चोर लोगोंके घर ही बहुतसा धन क्यो नही दिखाई देता ॥१७॥ जो पुरुष केवल धनके लिये सदोष व्यापार करता है वह कोढी होता है और भवभवमें दरिद्री होता है ॥ १८ ॥ जो पुरुष जिस किसी भी उपायसे दूसरेके धनको हरण करते हैं उनके हाथ पैर आदि अङ्ग उपाङ्ग काटे जाते है और अंतमें उन्हें सातवें नरकके दुःख भोगने पड़ते हैं ॥ १९ ॥ संसारी जीवोंको धन नष्ट होनेपर

अतिस्तोकं परस्व यो लोके गृह्णाति दुष्टधी । वधबधादिकं प्राप्य श्वभ्रनाथो भवेत्स वै ॥१०॥ अरण्ये वा गृहे लोके स्वस्थ चित्त न जायते। चौरस्य भोजने स्वस्य वाशक्य मरणादिकम् ॥ ११ ॥ चौर्यासक्त स्वजनं च मत्वा माता भयात्त्यजेत् । पुत्री च जनको भार्या बांधवाश्च त्यजन्ति भो ॥ १२ ॥ य परश्रियमादत्ते प्रपञ्चरचनै परे । स्तोका बहुतरा तस्य गृहात्सा याति निश्चितम् ॥१३॥ चौरं विज्ञाय सन्तोऽपि घ्नन्ति तृणमिव निशम् । परवस्त्वादिकेऽत्यतलोलुप कपटान्वितम् ॥ १४ ॥ न्यायमार्गात्समायाति लक्ष्मीर्लोकत्रये स्थिता । पुण्याढ्यस्य गृह सर्वा महापुण्यविधायिनी ॥ १५ ॥ अन्यायाचरणात्सोपि स्थिता गेहात्प्रयाति वै । पुण्यहीनमनुष्यस्य धर्मवता गृहप्रति ॥ १६ ॥ स्थिति करोति सा गेहे चौरव्यापारतो यदि । भवन्ति किं धनाढ्या न दुष्टभिल्लादितस्कराः ॥१७॥ सदोषं व्यवसाय यो विधत्ते धनहेतवे। सकुष्ट त समायाति दारिद्र च भवे भवे ॥१८॥ येनकेनाप्युपायेन परद्रव्य हरन्ति ये। हस्तौ छेदादिक प्राप्य ते श्वभ्र यान्ति सप्तमम् ॥१९॥

अथवा मरनेपर जैसा दुःख होता है वैसा दुःख इस संसारमें और कहीं नहीं होता क्योंकि प्राण और धनके समान और कोई प्रिय है ही नहीं ॥२०॥ अरे ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो केवल मुट्ठी भर अन्नके लिये चोरी ठगी आदिसे होनेवाले और अनेक दुर्गतियोंके दुःख देनेवाले पापोंको करे ॥२१॥ जो कुटुम्बी लोगोंके उपभोगके लिये दूसरोंका धन हरण करते हैं वे भी कुटुम्बको छोडकर नरकरूपी महासागरमें गोते खाते हैं ॥२२॥ यह प्राणी जिस कुटुम्बके लिये धन लेता है वह कोढ आदि अनेक रोगोंको भोगता है, तथा विना कुटुम्बके केवल अकेला ही नरकके दुःख भोगता है ॥२३॥ यही समझ कर हे भव्य! तू विषैले सर्पके समान अथवा अभक्ष्य भक्षणके समान असारभूत तथा पाप क्लेश और अपयशको देनेवाले दूसरेके धन ग्रहण करनेका त्यागकर ॥ २४ ॥ जो प्राणी संतोषपूर्वक सब अतीचारोंको छोड़कर उस अचौर्यव्रतको पालन करता है वह स्वर्गादिक सुख पाकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन ! मुझपर कृपाकर आज इस अचौर्य व्रतके सब अतिचारोंको कह दीजिये ॥ २६ ॥

उत्तर—हे धीमन ! व्रतोंकी शुद्धिके लिये मैं व्रतोंको दूषित करनेवाले पांचो अतिचारोंको कहता हूं, तू चित्त लगा कर सुन ॥ २७ ॥ स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध राज्यातिक्रम, हिनाधिक मानोन्मान, और प्रतिरूपक व्यवहार ये पांच अचौर्य व्रतके अतिचार श्री जिनेन्द्रदेवने कहे हैं ॥ २८–२९ ॥ चोरी करनेके लिये दूसरोंको उपदेश देना या चोरीके उपाय बतलाना अचौर्य व्रतका स्तेनप्रयोग नामका पहिला अतिचार है ॥ ३० ॥ अपने विना किसी उपदेशके जो चोर चोरी

नष्टे धने भवेद दुःख यादृश मरणेंगिनाम् । तादृश न च लोकेस्मिन्नत्यत प्राणवल्लभे ॥२०॥ अजलिद्वयधान्यार्थं क सुधी पापमाचरेत् । चौर्यकूटप्रयोगादिजात दुर्गतिदुःखदम् ॥२१॥ कुटुम्बादिप्रभोगार्थं ये हरन्ति परश्रियम् । तेऽपि त्यक्त्वा कुटुम्ब तन्मज्जन्ति श्वभ्रसागरे ॥२२॥ यदर्थं धनमादत्ते कूटोपायात् शठो नर । तत्कुटुम्ब विना श्वभ्रे भुक्ते दुःख स केवलम् ॥२३॥ इति मत्वा परस्व भो त्यज सर्पविषादिवत् । अभक्ष्यमिव चासार पापक्लेशायशःप्रदम् ॥२४॥ त्यक्त्वा सर्वानतीचारानस्तेय यो व्रत चरेत् । सतोषात्सोपि सम्प्राप्य स्वर्गं याति क्रमाच्छिवम् ॥२५॥ सन्ति स्वामिन्नतीचारा ये चाचौर्यव्रतस्य भो । निरूपयतु तान् सर्वानद्येवानुग्रहाय मे ॥ २६ ॥ शृणु त्व व्रतशुद्ध्यर्थं वक्ष्येऽतीचारपञ्चकम् । एकचित्तेन भो धीमन् ! सर्वव्रतमलप्रदम् ॥ २७ ॥ स्तेनप्रयोगश्च तदाहृतादान हि सभवेत् । ततो विरुद्धराज्यादिक्रमोपि तृतीयो मत ॥ २८ ॥ पश्चाद्धीनाधिकमानोन्माननाम प्ररूपित । जिनेन्द्रैः प्रतिरूपेकव्यवहारोऽप्यतिक्रमः ॥ २९ ॥ अन्येषामुपदेश यो

करके लाया है उसके धनको घरमें रख लेना तदाहृतादान (चोरीका धन ग्रहण करना) नामका दूसरा अतिचार है ॥३१॥ जो राजनीतिको छोड़कर व्यापार करता है और अधिक धन ग्रहण करता है उसके विरुद्ध राज्यातिक्रम नामका तीसरा अतिचार लगता है ॥३२॥ जो तौलनेके वांट और नापनेके गज पायली आदिको लेनेके लिये अधिक रखता है और देनेके लिये कम रखता है उसके हीनाधिक मानोन्मान नामका चौथा अतिचार लगता है ॥ ३३ ॥ जो उत्तम पदार्थोंमें कम कीमतके पदार्थ मिलाकर चलाता है और सुवर्ण हींग आदिको कृत्रिम बनाता है उसके प्रतिरूपक व्यवहार नामका अतिचार लगता है ॥ ३४ ॥ जो प्राणी इन सब अतिचारोंको छोड़कर और केवल एक संतोष धारणकर इस अचौर्यव्रतको पालन करता है उसके समस्त सम्पदा स्वयमेव आजाती है ॥ ३५ ॥ इस संसारमें दूसरेका धन ग्रहण करनेसे अनेक प्रकारके दुःख सहने पड़ते हैं, धर्मका विध्वंस होजाता है, यह पापरूपी वनको सींचनेके लिये मेघके समान है, दुःख और संतापोंका घर है, नरकरूपी घरका कुमार्ग है और धर्मरूपी वृक्षको जलानेके लिये अग्नि है इसलिये हे भव्य ! ऐसे इस परधन-हरण करनेका तू सदा त्यागकर ॥ ३६ ॥ यह अचौर्य अणुव्रत सब दोषोंसे रहित है, संतोषकी जड़ है, यश और प्रसन्नताको बढ़ानेवाला है, स्वर्ग-मोक्षका कारण है, धर्म और व्रतोंका घर है और समस्त विद्वान् इसकी सेवा करते हैं इसलिये हे भव्य ! तू भी सदा इसका पालन कर ॥ ३७ ॥ जो प्राणी विना दिये हुए पदार्थोंको ग्रहण नहीं करता वह देवोंके द्वारा भी पूज्य होता है और जो विना दिये हुए दूसरेके धनको ले लेता है वह वध बंधन आदिके अनेक दुःखोंको भोगता है ॥३८॥

दत्ते चौर्यादिकर्मणि । अतीचारो भवेत्तस्य प्राद्यो व्रतविनाशकः ॥ ३० ॥ आनीतमुपदेशेन विना चौरेण यद्धनम् । तत्स्व गृह्णाति यो मूढो व्यतीपातो लभेत् सः ॥ ३१ ॥ राजनीतिं परित्यज्य व्यवसायं करोति यः । परेषां वचनाद्यर्थं लभते सोप्यतिक्रमम् ॥ ३२ ॥ तुलाप्रस्थादिमानेन हीनं दत्ते परस्य यः । गृह्णाति चाधिकं वस्तु व्रतदोषं भजेत्स ना ॥ ३३ ॥ श्रेष्ठवस्त्वादिके यस्तु हीनवस्त्वादिकं क्षिपेत् । करोति हेमहिंग्वादि कृत्रिमं तस्य स्यात्स वै ॥ ३४ ॥ सर्वातीचारसत्यक्तं धत्ते यस्तृतीयं व्रतम् । कृत्वा सन्तोषमेकं हि स्युस्तस्य सर्वसम्पदः ॥ ३५ ॥ विविधदुखकरं वै धर्मविध्वसहेतुं, दुरितकुवनमेघं दुःखसतापगेहम् । नरकगृहकुमार्गं धर्मवृक्षव्रजाग्निं, त्यज सकलमदत्तं दुर्धनं भो परेषाम् ॥ ३६ ॥ बुधैकसेव्यं हतसर्वदोषं सन्तोषमूलं सुखसप्रदं भो । स्वर्मुक्तिहेतोर्व्रतधर्मगेहं, व्रतं तृतीयं भज सर्वकालम् ॥३७॥ अदत्तं यो न गृह्णाति स स्यात्पूज्योऽमरैरिह । यः परस्वं समादत्ते वधबंधादिकं भजेत् ॥ ३८ ॥ योगिन् ! येन फलं प्राप्तं चादत्तविरति-

प्रश्न—हे प्रभो ! अचौर्य व्रतके पालन करनेमे किनको उत्तम फल मिला है तथा चोरी करनेसे किसको दुःख मिला है उन दोनोकी कथा कृपाकर मुझसे कहिये ॥ ३९ ॥

उत्तर—हे मित्र ! तू चित्त लगाकर सुन। मै धर्म बढ़ानेके लिये अथवा मोक्ष प्राप्त करनेके लिये दोनोकी कथा कहता हूं ॥४०॥ विना दिये हुए पदार्थोका त्यागकर देनेमे (अचौर्य व्रत पालन करनेमे) राजपुत्र वारिषेण इस जन्ममे देवोके द्वारा, प्रजाके द्वारा और राजा आदिके द्वारा पूज्य हुआ है ॥४१॥ इस धीरवीर वारिषेणकी कथा हमने पहिले सम्यग्दर्शनके स्थितिकरण अंगके वर्णन करनेमे कही है, चतुर पुरुषोको वहांसे जान लेना चाहिये ॥४२॥ अब आगे चोरी करनेवालेकी कथा कहता हूं । वत्स देशके कौशांबी नगरमें पुण्यकर्मके उदयसे सिंहरथ नामका राजा राज्य करता था । उसकी रानीका नाम विजया था ॥ ४३ ॥ उसी नगरमें एक दुष्ट चोर रहता था वह पापी अपने छल कपटसे दिनमें तपसीका भेष बनाये रखता था, पंचाग्नि तप तपता था और " मै दूसरेकी भूमिका भी स्पर्श नहीं करता " इस प्रकार प्रगट करता हुआ वह एक बडके पेडके नीचे छींका टांगकर रहता था । परन्तु वह दुष्ट रात्रिको प्रतिदिन चोरी करता था ॥४४–४५॥ प्रतिदिन चोरी होनेके कारण किसी एक दिन सब महाजनोने मिलकर महाराजसे प्रार्थना की कि महाराज, सब नगर लुटा जा रहा है । महाराजने क्रोधित होकर कोतवालको बुलाया और कहा कि तू सात दिनके भीतर यातो चोरको लाकर उपस्थित कर अथवा चोरी होनेके अपराधमें तू अपना मस्तक दे ॥ ४६–४७ ॥ कोतवालने बहुत ढूंढा परंतु चोरका कहीं पता न चला तब वह बड़ी चिंतामे पड़ा । वह इसी चिंतामें डूबाहुआ था कि इतनेमें ही सायंकालके समय किसी ब्राह्मणने आकर उससे

व्रतात् । तद्दिनेह महादुःख तयो कथा निरूपय ॥३९॥ एकचित्तेन भो मित्र ! श्रृणु तेऽहं कथाद्वयम् । वक्ष्ये धर्माय मुक्त्यै वा चौर्याचौर्यान्वितात्मनो ॥४०॥ अदत्तपरिहारेण वारिषेणो नृपात्मजः। इहैव पूजितो देवैर्जने राजादिभि पुन ॥४१॥ ज्ञेया तस्य कथा दक्षे सा स्थितीकरणे गुणे । निरूपिता मया पूर्वं धीरवीरस्य साप्रतम् ॥४२॥ वत्सदेशे च कौशाम्बीपुरे सिंहरथो नृप. । अभवत्पुण्ययोगेन राज्ञ्यस्य विजयाभिधा ॥ ४३ ॥ तत्रैव तस्करो दुष्टो धत्ते पचाग्निसाधनम् । तापसत्व समादाय कौटिल्येनातिपापधी ॥४४॥ शिक्यमारुह्य न्यग्रोधे परभूमिं स्पृशन्न च । चौर्यं विधाय रात्रौ च दिने तिष्ठति प्रत्यहम् ॥ ४५ ॥ एकदा नगर मुष्ण समाकर्ण्य महाजनात् । नृपेण भणितो रोषात्कोट्टपाल समागत ॥ ४६ ॥ त्व सप्तदिनमध्ये रे चौर शीघ्र च आनय । निज वा मस्तक देहि चौरव्यापारयोगत ॥ ४७ ॥

भोजनकी प्रार्थना की ॥ ४८ ॥ कोतवालने कहा कि हे ब्राह्मण ! यहां तो मेरे प्राणोंमें भी संदेह है तू मुझसे ही भोजन मांगरहा है ? ॥ ४९ ॥ कोतवालकी यह बात सुनकर वह ब्राह्मण कहने लगा कि तुझे आज अपने प्राणोका संदेह क्यों है, तू मुझसे सब कथा कह ॥ ५० ॥ इसके उत्तरमें कोतवालने सब हाल कह सुनाया तब ब्राह्मणने फिर पूछा कि क्या इस नगरमें कोई ऐसा मनुष्य नही है जो अत्यंत निस्पृह हो ? कोतवालने कहा कि हां है, एक तपसी है जिसके साथ अन्य बड़े २ तपस्वी हैं, क्या उसके चोर होनेकी सभावना हो सकती है ? ॥५१–५२॥ तब ब्राह्मणने कहा कि वह अत्यंत निस्पृह है इसलिये वही चोर है। हे मित्र ! तू संवेग उत्पन्न करनेवाली मेरी कथा सुन ॥५३॥ मेरी ही ब्राह्मणी बड़ी प्रसिद्ध महासती थी। वह अपने शरीरसे दूसरे पुरुषके शरीरका स्पर्श तक नही होने देती थी ॥ ५४ ॥ जब वह व्यभिचारिणी पापिनी अपने पुत्रको भी दूध पिलाती थी तो कपटपूर्वक अपने शरीरको ढककर पिलाती थी ॥५५॥ परंतु वही ब्राह्मणी विषयोमे लंपट होकर अपने ही घरपर किसी गवालियेके साथ बड़े आनंदसे कुकर्म करती थी ॥५६॥ हे मित्र ! उसीके कृत्यको देखकर मुझे वैराग्य उत्पन्न हुआ है । इसप्रकार उस ब्राह्मणने अपनी स्त्रीकी निंदा की तथा भोग शरीर और घर आदिकी निंदा की ॥ ५७ ॥ वह ब्राह्मण फिर कहने लगा कि मै मार्गके खर्चके लिये किसी बनी हुई लकडीमें थोडासा सोना रखकर तीर्थयात्राके लिये निकला ॥ ५८ ॥ चलते चलते मार्गमें एक ब्रह्मचारी मिला । परंतु मैं उसका विश्वास नही करता था । मै बडे

चौर सोऽलभमानो हि तलारश्चितयान्वित । ब्राह्मणेनापराह्णेऽपि केनचित्प्रार्थितोऽशनम् ॥४८॥ तेनोक्त श्रृणु भो विप्र ! सदेहो वर्तते मम । प्राणाना भोजन त्व च कथ प्रार्थयसि ध्रुवम् ॥४९॥ श्रुत्वा तद्वचन विप्रो बभाषे त प्रति स्वयम् । कुतस्ते प्राणसदेहो जातोऽद्यैव निरूपय ॥ ५० ॥ वृत्तान्त कथित तेन कोट्टपालेन तस्य तत् । विप्रेणापि पुन पृष्ट सोपि कि कोपि चास्ति ना ॥ ५१ ॥ अत्यंतनिस्पृहो लोके तेनोक्त चास्ति तापस । महातपस्विनस्तस्य नैतत्सभाव्यते स्फुटम् ॥५२॥ प्रोक्त द्विजेन सोपि स्याच्चौरोत्यतनिस्पृहात् । श्रृणु मित्र मदीया त्व कथा सवेगकारिणीम् ॥ ५३ ॥ ममैव ब्राह्मणी जाता ख्याता सातिमहासती । अन्येषा पुरुषाणा चास्पृशती कायमेव भो ॥ ५४ ॥ शरीर निजपुत्रस्य प्रच्छाद्य कपटेन सा। स्तन ददाति नि.शीला पापिष्ठात्यंतकौटिला ॥५५॥ रात्रौ स्वस्यैव गेहस्य गोपालेन सम सदा। कुकर्म विदधे पापलपटा विषयेषु सा ॥५६॥ तदकृत्य समालोक्य जात वैराग्यमेव मे । कृत्वा निन्दा स्वरामाया भोगदेहगृहादिषु ॥५७॥ शलाकां हेमजां क्षिप्य संवलार्थं विनिर्गतः । सद्वशयष्टिकामध्ये तीर्थयात्रादिहेतवे ॥ ५८ ॥ अग्रे प्रगच्छतश्चैको वटुको मिलितो मम । न विश्वासं

यत्नसे उस लकडीकी रक्षा करता था ॥ ५९ ॥ जिसके भीतर सोना रक्खा हुआ है ऐसी वह लकड़ी उस ब्रह्मचारीने ताड ली। किसी एक दिन हम दोनों रातको एक कुंभारके घर सोए ॥६०॥ सवेरे ही उठकर वहांसे चल पडे। दूर जाकर उसने देखा कि उसके मस्तकपर एक बहुत पुराना तृण लगा हुआ है। उसे देखकर उस दुष्टने मुझसे कहा कि "हा हा देखो, यह विना दिया हुआ तृण मेरे साथ चला आया है और टूट गया है" यह कहकर वह लौटा, उस कुंभारके घर गया, तृणको वहां रक्खा और फिर शामको आकर मुझसे मिला। फिर संन्यासी भिक्षाके लिये गया और कुत्ता आदिको मारनेके लिये वह लकड़ी मुझसे मागी ॥ ६१–६३ ॥ मैंने भी उसे अत्यन्त निर्लोभ जानकर उसपर विश्वास किया और वह अपनी लकड़ी रक्षा करनेके लिये उसको दे दी ॥६४॥ परन्तु वह दुष्ट लोभके वश होकर उस लकड़ीको लेकर न जाने कहां चलागया। अरे! इस संसारमें जो जवर्दस्ती दूसरेका धन ले लेते हैं वे अनेक दुर्गतियोंके दुःख भोगते हैं ॥ ६५ ॥ सब धन नष्ट होजानेके कारण मुझे बहुत पश्चात्ताप हुआ परन्तु अंतमें चुप होजाना पड़ा। फिर मैं वहांसे अकेला चल पड़ा। चलते चलते देखा कि किसी पर्वतपर जंगलमें एक गीध रहता था उसी वृक्षपर रातको बहुतसे पक्षी आकर ठहरते थे। जब अन्य पक्षियोंने उसे हटाना चाहा तो उस बूढे गीधने कहा कि "हे प्रभो! मैं अत्यन्त बूढा हूं कहीं दूसरी जगह जानेकी सामर्थ्य मुझमें नहीं है। कदाचित मैं तुम्हारे बच्चोंका भक्षण करलूं यह तुम्हें डर हो तो तुम सब लोग मेरी मुख (मेरी चोंच) बांध दो और फिर निश्चिंत होकर चले जाओ।" उसकी यह बात सबने मानली और सवेरे ही उसका मुंह बांधकर सब

दत्वे तस्य यष्टिरक्षां करोम्यहम् ॥ ५९ ॥ तेन सा कलिता यष्टि सगर्भिता प्रयत्नत । कुम्भकारगृहे रात्रौ सुप्तस्तेनैकदा सह ॥ ६० ॥ दूरं गत्वा तृणं लग्नं तेन दृष्टम् स्वमस्तके । अति जीर्णं ममाग्रेति कुटिलेन निरूपितम् ॥ ६१ ॥ हा! हान्यस्य मयादत्तं तृणमंद्यैव हिंसितम्। ममेत्युक्त्वा स व्याघुत्य कुम्भकारगृहं गत ॥६२॥ धृत्वा तृणं समागत्य मिलितो मे दिनात्यये। हुताशनस्य भिक्षार्थं गच्छन् सा तेन याचिता ॥ ६३ ॥ श्वानादिकरक्षार्थं सा मया तस्य अर्पिता। निर्लोभं त परिज्ञाय विश्वासान्वितचेतसा ॥ ६४ ॥ ततो यष्टि समादाय नष्टो लोभात्स दुष्टधी । ये गृह्णन्ति परस्व भो खलास्ते यान्ति दुर्गतिम् ॥ ६५ ॥ पश्चात्ताप विधायोच्चै स्थितस्त्यक्तधनादिक । गच्छता भो मयाटव्या दृष्टमेकं प्रकुर्कुटम् ॥ ६६ ॥ मयैकस्मिन्नगे तुंगे समूहो मिलितो निशि। पक्षिकाणां प्रवृद्धेन पक्षिणा भाषित तदा ॥ ६७ ॥ रे पुत्रा अतिवृद्धोऽहं गन्तुं शक्नोमि नैव हि। करोमि भवदीयानां पुत्राणां भक्षणं कचित् ॥ ६८ ॥ ततो मम मुखं वध्वा

पक्षी चले गये ॥ ६६–६९ ॥ उन पक्षियोंके चले जानेपर उस बूढ़े गीधने अपने पंजोसे चोंचके बंधनको उतारा और पक्षियोंके बच्चोंको खा डाला ॥ ७० ॥ जब उन पक्षियोके आनेका समय हुआ तब उस गीधने पंजोसे वह बंधन चोंचके ऊपर चढ़ा लिया और फिर खालीसा पेट दिखलाता हुआ कपटपूर्वक चुपचाप बैठगया ॥ ७१ ॥ यह कृत्य देखकर मैं आगे चला। मार्गमें मैने देखा कि एक अपसर नामका पापी चोर तपसीका रूप धारण कर खड़ा है। उसने अपने मस्तकके ऊपर दोनों हाथ ऊँचे कर रक्खे थे और उन दोनों हाथोमें एक पत्थरकी शिला ले रक्खी थी। इसप्रकार शिला लिये वह रातदिन फिरा करता था ॥ ७२–७३ ॥ वह प्रायः गढ़े आदि निर्जन स्थानमें जाकर खड़ा होता था जब कभी सुवर्णालंकारोसे सुशोभित कोई धनी आदमी आकर उसे नमस्कार करता तभी वह उसके ऊपर वह शिला पटक देता था और लोभके वश हो इसप्रकार उसे मारकर उसका सब धन हरण करलेता था ॥ ७४ ॥ इसप्रकार संसारभरको दुःख देनेवाले चार पापियोंको देखकर मैने यह श्लोक बनाया है ॥ ७५ ॥

बालमस्पर्शिका नारी, ब्राह्मणोऽतृणग्राहकः। वने गृद्धश्च पक्षी स्याद्, भ्रमेदपसरः पुरे ॥

इस संसारमें अपने बचेको भी स्पर्श न करनेवाली स्त्री, तृणको भी वापस लौटादेनेवाला ब्राह्मण, वनमें रहनेवाला बूढा गीध और अपसर नामका चोर भी फिरा करता है ॥ ७६ ॥ इसप्रकार उस ब्राह्मणने उस कोतवालसे चार कथाएं कही तथा उसको धैर्य बंधाकर सायंकालके समय वह स्वयं उस तपसीके पास गया ॥ ७७ ॥ वह ब्राह्मण छल कपटकर

यूय गच्छत निश्चितम्। प्रभाते ते पुनस्तस्य मुख बध्वा गता' स्वयम् ॥ ६९ ॥ गतेषु तेषु सर्वेषु चरणाभ्या स्वबधनम्। मुखादुत्तार्य वृद्धेन भक्षितास्तेपि बालका ॥ ७० ॥ तेषामागमने काले मुखे सयोज्य बन्धनम्। भूत्वा क्षीणोदर पश्चात् कौटिल्येन स्थितो हि स ॥ ७१ ॥ तत' पुरगतेनैव मया दृष्ट प्रकुर्कुटः। तपस्विरूपमादाय स्थितश्चौरोऽतिपापधी ॥ ७२ ॥ मस्तकस्योपरि दोर्भ्यामूर्ध्वं धृत्वा वृहच्छिलाम्। भ्रमत्यपसराख्यो हि अहोरात्रिं स तत्पुरे ॥ ७३ ॥ गर्तादिनिर्जनस्थाने जन हेमादिभूषितम्। नमन्तं शिलया हत्वा हेमं गृह्णाति लोभत' ॥ ७४ ॥ इत्येव हि समालोक्य कोट्टपाल विचार्यताम्। संसारे दु खद पाप श्लोकोऽय सकृतो मया ॥ ७५ ॥ बालमस्पर्शिका नारी ब्राह्मणोऽतृणग्राहकः। वने गृद्धश्च पक्षी स्याद् भ्रमेदपसरः पुरे ॥ ७६ ॥ इत्येव कथयित्वा स तत्कथानां चतुष्टयम्। धीरयित्वा च संध्याया गतस्तापससन्निधिम् ॥७७॥ स' तपस्विनैरस्तस्मात्स्थितो मायान्वितो द्विज। निर्घाटितोऽपि न याति भूत्वा रात्र्यधव

वहीं बैठ गया, हटानेसे भी नहीं हटा और कहने लगा कि मुझे रात्रिमें कुछ दिखाई नहीं देता है ॥७८॥ उन तपसियोंने उसके नेत्रोंके सामने बहुतसी उंगली दिखाकर पूछा, बहुतसे घास पात आदि रक्खे और सब तरहसे उसकी परीक्षा करनी चाही परंतु वह ब्राह्मण तो मौन धारणकर चुप हो रहा ॥ ७९ ॥ आधी रातके समय उस ब्राह्मणने देखा कि सब तपसी धन ला लाकर एक अंधे कूएमें रखरहे हैं। ब्राह्मणने छिपकर सब कृत्य देखलिया ॥ ८० ॥ सवेरे ही वह कोतवाल मारा जानेवाला था परंतु उस ब्राह्मणने आकर उसकी रक्षा की और उस तपसी चोरको पकड़वाया। वहांपर उसे वध बंधन आदिके अनेक दुःख भोगने पड़े और ऐसे ऐसे महा दुःख भोगने पड़े जो वचनसे भी नहीं कहे जासकते। उन सबको भोगकर और कोतवालके द्वारा मारा जाकर उस पापीने अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण किया ॥ ८१-८३ ॥ तपसीकी यह कथा सुनकर पापोंसे डरनेवाले महाजनोको दांतोंको साफ करनेके लिये विना दिया हुआ एक तृण भी नहीं लेना चाहिये ॥८४॥ इस चोरी करनेके कारण शिवभूति आदि और भी बहुतसे नीच पुरुष नष्ट हुए हैं। इस संसारमें उन सबकी कथाओंको भला कौन कह सकता है ॥ ८५ ॥ देखो, दूसरेका धन हरण करनेके कारण मूर्ख तपसीको वध बंधन आदिके अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़े और उन्हीं पापोंके कारण प्राणोंका सागकर सब तरहके पापोंसे परिपूर्ण घोर दुःखोंकी खानि तथा

स ॥ ७८ ॥ तैस्तस्य च नयनाग्रे तृणागुल्यादिकं धृतम्। परीक्षणाय पश्यतस स्थितो मौन विधाय वै ॥ ७९ ॥ अर्द्धरात्रौ पुनस्तेषां सर्वं दृष्ट धनादिकम्। गुहायामधकूपे च तेन प्रच्छन्नयोगत ॥ ८० ॥ प्रभाते मार्यमाणोपि तलारस्तेन रक्षित। रात्रिदृष्टं समावेद्य राज्ञस्तापसवृत्तकम् ॥ ८१ ॥ स तपस्वी तलारेण मारितोऽत्यतकोपत। अनेकवधवधादिच्छेदनैश्च कदर्थनै ॥ ८२ ॥ भुक्त्वा सोऽपि महादु ख तीव्र वाचामगोचरम्। अनुभूति गत. पापाद् दुर्गतिं वहुयोनिजाम् ॥ ८३ ॥ तापसस्य कथा श्रुत्वा पापभीतैर्महाजनै। अदत्त तृणमात्र च न ग्राह्य दन्तशुद्धये ॥८४॥ अन्ये ये वहवो नष्टा शिवभूत्यादयोऽधमा। चौर्याच्च क कथा तेषा गदितु स्यात्क्षमो भुवि ॥८५॥ अशुभसकलपूर्णा घोरदु खादिखानिं, परधनहरणाच्च दुर्गति तापसोऽगात्। विविधकुवधबन्ध प्राप्य त्यक्त्वा च प्राणान्, इह दुरितकुकीर्ति पापतोऽमुत्र मूढ. ॥ ८६ ॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्ति विरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे अदत्तादानविरतिव्रत वारिषेणतापसकथाप्ररूपकोनाम चतुर्दशम परिच्छेदः।

पाप और अपकीर्तिको बढ़ानेवाली ऐसी अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करना पड़ा। यही समझकर चोरी करनेका त्याग सदाके लिये कर देना चाहिये ॥ ८६ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तर श्रावकाचारमें अचौर्याणुव्रतका स्वरूप और वारिषेण तथा तपसीकी कथाको कहनेवाला यह चौदहवा परिच्छेद समाप्त हुआ ।



अथ पंद्रहवां परिच्छेद ।

जो धर्मके देनेवाले है, धर्मके स्वामी है, पूर्ण धर्ममय हैं और धर्मकी खानि हैं ऐसे श्री धर्मनाथ जिनेंद्रदेवको मैं केवल धर्मकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ अब मैं तीसरे अचौर्याणुव्रतका स्वरूप कहकर समस्त सुखोंको देनेवाले और परम उत्कृष्ट ऐसे चौथे ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप कहता हूं ॥ २ ॥ परस्त्रीके त्याग करनेरूप यह चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत श्री जिनेंद्रदेवने सबमें सार बतलाया है, यही व्रत समस्त जीवोंके लिये परम पवित्र और श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥ जो अपनी स्त्रीमें संतोष रखकर अन्य स्त्रियोंको माताके समान देखता है, उसके यह स्थूल शीलव्रत वा स्थूल ब्रह्मचर्य अथवा ब्रह्मचर्याणुव्रत होता है ॥ ४ ॥ इस चौथे ब्रह्मचर्य अणुव्रतको पालनकर जीवोंको विरक्त होना चाहिये और किंपाकफलके समान परस्त्रियोंका त्याग करदेना चाहिये ॥५॥ परस्त्रीके संसर्गसे मनुष्योंको कलंक लगता है और जीवनपर्यंत अपयशको देनेवाला व्रत भंग होता है ॥६॥ बुद्धिमान पुरुषोंको परस्त्रियोंके साथ एक क्षणभर भी संसर्ग नहीं करना चाहिये । क्योंकि

अथ पञ्चदशमः सर्गः ।

धर्मनाथजिन देव धर्मद धर्मनायकम् । सर्वधर्ममय धर्मकर सद्धर्महेतवे ॥ १ ॥ अणुव्रत प्रवक्ष्येऽह चतुर्थं ब्रह्मसंज्ञकम् । तृतीय व्रतमाख्याय सर्वसौख्याकर परम् ॥ २ ॥ प्रणीतं जिननाथेन सारं तुर्याणुसद्व्रतम् । पवित्रमगिना सर्वपरस्त्रीत्यागलक्षणम् ॥ ३ ॥ स्वरामयातिसन्तोष कृत्वा योऽत्र हि पश्यति । मातृवत्परगामां स स्थूलं शीलव्रत भजेत् ॥ ४ ॥ चतुर्थं व्रतमादाय कृत्वा वैराग्यमञ्जसा । किंपाकफलवन्नारी दूरूपामपरा त्यज ॥ ५ ॥ परभार्यादिससर्गात् कलक जायते नृणाम् । व्रतभगो भवेच्चैव यावज्जीवायशः प्रदम् ॥ ६ ॥ ससर्गं हि न कुर्वन्ति क्षणमेक सुधीधना । कलककारण निंद्य परेपा रामया सह ॥ ७ ॥ नवनीतसम ज्ञेय मन स्त्रियोऽनलोपमा । पुमा

परस्त्रियोंका संसर्ग कलंक उत्पन्न करनेवाला है और अत्यन्त निंद्य है ॥७॥ स्त्रियोंका मन मक्खनके समान है और पुरुषोंका मन अग्निके समान है फिर भला दोनोंका संसर्ग होनेपर वे दोनों कबतक स्थिर रहसकते हैं ॥८॥ केवल इस लोकमें प्राणोंको हरण करनेवाली क्रोधित हुई सर्पिणीका आलिंगन करलेना अच्छा परन्तु इस लोकमें प्राणोंको हरण करनेवाली और परलोकमें प्राणोंको नाश करनेवाली परस्त्रीका आलिंगन करना अच्छा नहीं ॥ ९ ॥ इस संसारमें परस्त्रीसेवनके समान अन्य कोई पाप न हुआ है न हो सकता है, संसारमें इसके समान और कोई महानिंद्य काम नहीं है और न इसके समान मनुष्योंके दुःख देनेवाला अन्य कोई काम है ॥ १० ॥ मूर्ख लोगोंको परस्त्रीके साथ भोगोंकी प्राप्ति हो या न हो किन्तु परस्त्रीकी इच्छा और चितासे ही उन्हें महापाप लगजाता है ॥ ११ ॥ जो मूर्ख किसी निर्जन स्थानमें परस्त्रीके समीप जाता है वह सुखी किसप्रकार हो सकता है क्योंकि वहां तो उसे सदा अपने मारे जानेकी ही आशंका लगी रहती है ॥ १२ ॥ मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि परस्त्री समागम करनेवालोंकी बुद्धि नष्ट होजाती है इसलिये उन मूर्खोंको परस्त्रीके समागमसे जो दुःख उत्पन्न होता है उसे ही वह सुख मान लेता है ॥ १३ ॥ विषयोंसे व्याकुल हुए जो मनुष्य परस्त्रीकी इच्छा करते हैं वे वध बंधनके अनेक क्लेश सहते हैं, उनका सब धन हरण कर लिया जाता है और मरकर परलोकमें दुःखरूपी अनेक मछलियोंसे भरे हुए असह्य, विषम और घोर ऐसे नरकरूपी महासागरमें डूबते हैं ॥ १४-१५ ॥ जो पुरुष परस्त्रियोंके साथ आलिंगनादिक करते हैं, परलोकमें नरकमें जाकर उनके शरीरसे, अग्निसे लाल की हुई लोहेकी पुतलियां चिपकाई जाती हैं ॥ १६ ॥ परस्त्रीरूपी तेलके सींचनेसे यह कामरूपी अग्नि कभी शांत नहीं होती और ब्रह्मचर्यरूपी जलके सींचनेसे यह

कथं भवेत्तद्धि स्थिरं तप्तं खु स्त्र्यग्निना ॥८॥ वरमालिंगिता क्रुद्धा सर्पिणी प्राणहारिणी । परस्त्री न च रूपाढ्येहामुत्र प्राणनाशिनी ॥९॥ परस्त्रिया समं पापं न भूतं न भविष्यति । नास्ति लोके महानिंद्यं पुंसां सततमश्वप्रदम् ॥१०॥ परस्त्रिया समं भोगो भवेन्मा वा शठात्मनाम् । तद्वाञ्छा चिंतया तेषां महापापं प्रजायते ॥ ११ ॥ परभार्यां परिप्राप्य निर्जनेऽत्र कचिच्छठ । कथं सलभते सौख्यं वधमाशस्य चात्मनः ॥ १२ ॥ मन्येहमेव मूढानां परस्त्रीसंगमं भवम् । यद्दुःखं तद्धि सौख्यं च भासते बुद्धिनाशतः ॥ १३ ॥ परनारीं समीहन्ते ये चेह विषयाकुलाः । वधवन्धादिकं क्लेशं सर्वस्वहरणं तथा ॥ १४ ॥ प्राप्यतेऽमुत्र लोकेऽहो मज्जन्ति श्वभ्रसागरे । दुस्सहे विषमे घोरे दुःखमीनसमाकुले ॥ १५ ॥ परस्त्रिया समं येऽत्र कुर्वन्त्यालिंगनादिकम् । तदामुत्रभवेत्तेषां तप्तलोहाग्निरामया ॥ १६ ॥ कामदाहो न

कामाग्नि अपने आप शांत होजाती है ॥१७॥ जो नीच पुरुष कामज्वरको परस्त्री रूपी औषधिसे दूर करना चाहते हैं वे अग्निको तेलसे बुझाना चाहते हैं ॥ १८ ॥ हालाहल विष खा लेना अच्छा, अग्निमें जल मरना अच्छा, समुद्रमें डूब जाना अच्छा तथा पर्वतसे गिरपड़ना अच्छा परंतु मनुष्योका शीलरहित जीवित रहना अच्छा नहीं ॥ १९ ॥ इसलिये हे भव्य! अपने हृदयमें वैराग्य धारण कर और हृदयको शीलव्रतसे सुशोभित कर सर्पिणीके समान परस्त्रीका सर्वथा साग कर ॥२०॥

इसी प्रकार मद्य, मांस आदिमें आसक्त होनेवाली, चांडालादिकके साथ लंपटता धारण करनेवाली तथा अपयश, पाप और दुःखादिको उत्पन्न करनेवाली वेश्याका भी तू सर्वथा साग कर ॥ २१ ॥ यह वेश्या समस्त व्यसनोंको उत्पन्न करनेवाली है, क्रूर है, कुटिल है, पापिनी है, धन और धर्मको चुरानेवाली है और इसका मुख स्वाभाविक कुटिल है (कहती कुछ है करती कुछ है) ऐसी वेश्याका तू दूरसे ही साग कर ॥ २२ ॥ यद्यपि यह वेश्या ऊपरसे गोरे चमडेसे मढी हुई है, बाहरसे वस्त्र आभरणोसे सुशोभित होरही है, इसका स्वर भी मधुर है, गीत नृत्य करनेवाली है, रूपवती है और अच्छीगी जान पड़ती है तथापि हे मित्र! यह नीच प्राणियोके ही मनमें क्षोभ उत्पन्न करती है, यही विचार कर हे मित्र! इन स्वेच्छाचारिणी वेश्याका तू त्यागकर ॥ २३–२४ ॥ जिस प्रकार कुत्ता खप्परको चाटता है उसी प्रकार जो नीच मद्यकी लारसे भरे हुए वेश्याके मुंहको चाटता है उसे स्वानपुत्र वा कुत्ता क्यों नहीं कहना चाहिये ॥ २५ ॥ जिस प्रकार घोडा गर्दभीका सेवनकर अपनी ज्ञातिको नष्ट करता है उसी प्रकार जो कुमार्गगामी पुरुष नीच जातिकी स्त्रियोका सेवन करते है वे खच्चरोंके समान अपनी जातिको नष्ट कर देते हैं क्योंकि खच्चरोंके फिर संतान नहीं होती।

शाम्येत परस्त्रीतैलसिंचित । स एवोपशम याति ब्रह्मचर्याम्बुसिंचित. ॥ १७ ॥ कामज्वरमपीहन्ते निराकर्तु हि येऽधमा । पररामौषधेन तैलेनाग्नि सिंचन्ते बुधा. ॥ १८ ॥ वर हालाहल भुक्तमग्नौ वा सागरेऽचले । झपापातो न पुसा च शीलादिच्युतजीवितम् ॥ १९ ॥ वैराग्याधिष्ठित कृत्वा हृदय शीलवासितम् । परदारा त्यज त्व भो सर्पिणीमिव सर्वथा ॥ २० ॥ मद्यमासादिससक्ता मातंगादिषु लम्पटाम् । अयशःपापदु खाकिरा वेश्या त्यजेद्ध्रुव ॥२१॥ सर्वव्यसनदा क्रूरा कुटिला कुटिलाननाम् । त्यज त्व गणिका पापा धनधर्मेषु तस्करीम् ॥२२॥ गौरचर्मावृता बाह्ये वस्त्राभरणमडिताम् । मधुरा मधुरालापा गीतनृत्यकरा वराम् ॥ २३ ॥ स्वरूपा हीनसत्त्वाना मन क्षोभकरा सुहृत् । स्वैरिणीं गणिका चान्या दृष्ट्वा मध्ये विचारय ॥२४॥ मद्यलालावुसञ्छिष्ट खर्पर मडला इव । वेश्यास्य ये हि लिह्यन्ति श्वानपुत्रा. कथ न

धर्मरूप आचरण करनेसे जातिहीन पुरुष भी स्वर्गमें जा उत्पन्न होता है किंतु पाप करनेसे वा धर्मका नाश करनेसे यह प्राणी दोनो लोकोंमें दुर्गतिको प्राप्त होता है ॥ २७ ॥ जो मनुष्य शीलरहित हैं वे जीवित रहते हुए भी मरे हुएके समान हैं क्योंकि जिसप्रकार किसी मरे हुए पुरुषमें कोई गुण नहीं ठहर सकते उसी प्रकार उस शीलरहित पुरुषमें भी कोई गुण नहीं ठहर सकते ॥ २८ ॥ जो मूर्ख अपनी स्त्रीको छोड़कर परस्त्रीका सेवन करते हैं वे अपने उत्तम भोजनोंको छोडकर चांडालके घर सरका उच्छिष्ट खाते हैं ॥ २९ ॥ जो नीच पुरुष वेश्याओंका वा परस्त्रियोंका समागम करते हैं वे चांडालके समान तीनों लोकोंमें अस्पृश्य (न छूने योग्य) गिने जाते हैं ॥ ३० ॥ यही समझकर हे मित्र ! पहिले अपनी स्त्रीमें ही पुण्य बढानेवाला संतोष धारण कर और फिर सदाके लिये परस्त्रीका त्याग कर ॥ ३१ ॥ जो मनुष्य मुक्तिरूपी स्त्रीके चित्तको प्रसन्न करनेवाला ब्रह्मचर्य पालन करते हैं वे स्वर्गका साम्राज्य पाकर अंतमें मुक्तिके स्वामी होते हैं ॥ ३२ ॥ जो उत्तम विद्वान् एकाग्रचित्तसे शीलका पालन करते हैं उनकी इन्द्र भी आकर स्वयं सेवा करता है ॥३३॥ जो एक दिन भी ब्रह्मचर्य पालन करता है वह नौ लाख जीवोंके अभयदान देनेका पुण्य प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥ शीलवान पुरुष इस लोक और परलोकमें मनुष्य, देव, विद्याधरोंके द्वारा पद पदपर पूज्य होता है और अंतमें स्वर्ग मोक्षका स्वामी होता है ॥ ३५ ॥ इस संसारमें जो स्त्रियां शीलरूपी आभरणको धारण करती हैं वे देवोंके द्वारा पूजा प्रतिष्ठा पाकर सोलहवें स्वर्गमें जाकर

ते ॥ २९ ॥ निषेवन्ते हि नारीं ये जातिहीना कुमार्गगा । सम्प्राप्य जातिनाशं ते गर्दभीमश्ववत्तथा ॥ २६ ॥ जातिहीनो दिवं याति धर्माचरणयोगत । पापान्ना दुर्गतिं याति कुलजो धर्मव्यत्ययात् ॥२७॥ जीवन्तोपि मृता ज्ञेया शीलहीना हि मानवा । न तिष्ठति गुणास्तेषु केचिद्वो मृतकं यथा ॥२८॥ स्वनारीं य परित्यज्य परनारीं निषेवते । भुंक्ते मातंगगेहे स त्यक्त्वा स्वान्नं वरं खल ॥२९॥ वेश्यादिपरनारीणां सगं कुर्वन्ति येऽधमा । मातंगवत् तेप्यस्पृश्या भवन्ति भुवनत्रये ॥३०॥ इति मत्वा हि भो मित्र ! पररामां सदा त्यज । पूर्वं कृत्वातिसन्तोपं पुण्यदं स्वस्य रामया ॥३१॥ ब्रह्मचर्यं चरेद्यस्तु मुक्तिस्त्रीचित्तरञ्जकम् । प्राप्य स्वर्गं च राज्यं स मुक्तिनाथो भवेद् ध्रुवम् ॥३२॥ एकचित्तेन ये शीलं पालयन्ति बुधोत्तमा । सेवां कुर्वन्ति देवेन्द्रास्तेषां भृत्या इव स्वयम् ॥३३॥ दिनैके ब्रह्मचर्यं यो विधत्ते भयदानत । वै नवलक्षजीवानां तस्य पुण्यं न वेद्म्यहम् ॥३४॥ शीलयुक्त इहामुत्र भवेत्पूज्य पदे पदे । नृदेवखेचरेन्द्रैश्च नाकमोक्षाधिप स ना ॥३५॥ कुर्वन्ति भुवने शीलाभरणं या स्त्रियोऽमरैः । प्राप्य पूजामिहामुत्र यान्ति षोडशमे दिवे ॥३६॥ मन्ये स एव पुण्यात्मा शीलरत्नं सुनिर्मलम् ।

देव होती हैं ॥ ३६ ॥ जिसका निर्मल शीलरूपी रत्न स्त्रियोके कटाक्षरूपी लुटेरोंके द्वारा नही हरा गया वही पुरुष संसारमे पुण्यवान है ऐसा मै मानता हूं ॥ ३७ ॥ जिनका शीलरूपी श्रेष्ठ भंडार मनरूपी राजाके द्वारा प्रेरणा किये गये काम और इंद्रियरूपी चोरोंके द्वारा नही लूटा गया वे ही पुरुष संसारमे धन्य है ॥३८॥ जिन्होने स्त्रियोके किये हुए अनेक उपद्रवोंके होनेपर तथा सैकडो कठिन परीषहोंके उपस्थित होनेपर अपना शीलरूपी माणिक–रत्न नही छोडा है उनके लिये मै वार-वार नमस्कार करता हूं ॥ ३९ ॥ वहुत कहनेसे क्या, थोडेमेमे इतना समझ लेना चाहिये कि यह शीलव्रत सब व्रतोका सार है और धर्मरूपी रत्नोंका भंडार है इसलिये हे मित्र! तू इसको सब तरहसे पालन कर ॥४०॥ जो बुद्धिमान अतिचार रहित इस शीलव्रतको पालन करता है वह इस संसारमें पूजा प्रतिष्ठा पाकर अंतमे स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ४१ ॥

प्रश्न–हे प्रभो! यद्यपि यह शीलव्रत स्वयं निर्मल है तथापि इसमें मल उत्पन्न करनेवाले अतिचारोको आप कृपाकर कहिये ॥ ४२ ॥

उत्तर–हे वत्स! सुन। इस व्रतमें मल उत्पन्न करनेवाले स्त्रियोके संसर्गसे और अत्यंत अशुभ कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए अतिचारोको मै कहता हूं ॥ ४३ ॥ अन्यविवाहकरण, परिग्रहीता इत्वरिकागमन, अपरिग्रहीता इत्वरिकागमन, अनंगक्रीडा, और काम तीव्राभिनिवेश ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार कहलाते हैं ॥ ४४–४५ ॥ जो अज्ञानी जीव दूसरोके पुत्र पुत्रियोंके विवाह करते है उनके ब्रह्मचर्यमें मल उत्पन्न करनेवाला अन्यविवाहकरण नामका पहिला अतिचार लगता है ॥ ४६ ॥ जो पुरुष रागपूर्वक किसीकी विवाहिता व्यभिचारिणीकी इच्छा करते हैं उनके शीलव्रतमे परिग्रहीता इत्वरिका-

---

स्त्रीकटाक्षादिलुटाकैर्न हृत यस्य भो हठात् ॥३७॥ ते धन्या शीलसद्रत्न येषा सार न लुठितम्। कामेन्द्रियादिचौरैश्च मनोराजादिप्रेरितैः ॥३८॥ परीषहभटैरुच्चै स्त्रीकृतोपद्रवैस्तथा। न त्यक्त शीलमाणिक्य यैश्च तेभ्यो नमोस्तु मे ॥३९॥ किमत्र वहुनोक्तेन त्व शील भज सर्वथा। सार सर्वव्रतादीना धर्मरत्नादिसद्गृहम् ॥ ४० ॥ शील यो मतिमान् धत्ते सदातिचारप्रच्युतम्। यश. पूजा स आसाद्य स्वर्गं वा याति निर्वृतिम् ॥ ४१ ॥ निर्मलस्यापि शीलस्य मलसंपादनक्षमात्। आदिश त्व हि भो नाथ व्यतिचारान् ममादरात् ॥४२॥ शृणु भो वत्स! ते वक्ष्ये अतीचारान् मलप्रदान्। नारीससर्गतो जातान् मोहाद्वाप्यशुभोदयात् ॥ ४३ ॥ अन्यविवाहकरण गृहीनेतरभेदत। इत्वरिकागमन च द्विधा स्यान्मलकारणम् ॥४४॥ चतुर्थोऽनगक्रीडा स्यादतीचारो विरूपक.। पचम कामतीव्राभिनिवेशश्च जिनैर्मत ॥ ४५ ॥ परेषा यो

गमन नामका दूसरा अतिचार होता है ॥ ४७ ॥ जो मूर्ख पतिरहित परस्त्रियोंकी अथवा अविवाहित वेश्या आदिकोंकी इच्छा
करते हैं उनके व्रतमें अपरिग्रहीता इत्वरिकागमन नामका तीसरा अतिचार लगता है ॥ ४८ ॥ जो पुरुष योनिको छोडकर
रागपूर्वक मुखादिकमें क्रीडा करते हैं अथवा शरीरपर यत्र तत्र क्रीडा करते हैं उनके अनंगक्रीडा नामका चौथा अतिचार
लगता है ॥ ४९ ॥ जो बुद्धिमान कामसेवनमें असंत तृष्णा रखता है और अग्निके समान जिसे संतोष होता ही नहीं
उसके काम तीव्राभिनिवेश नामका पांचवां अतिचार लगता है ॥५०॥ जो मूर्ख अपने शीलव्रतको छोडकर परस्त्रीका अथवा
किसी तिर्यंचिनीका सेवन करता है वह परलोकमें नपुंसक होकर नरकका स्वामी होता है ॥ ५१ ॥ जो मनुष्य इन पांचों
अतिचारोंका त्यागकर ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करता है वह स्वर्गका राज्य पाकर अंतमें मुक्त होता है ॥ ५२ ॥ हे भव्य !
परस्त्रीका सेवन नरकरूपी घरकी देहली है, धर्मरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुठारके (कुल्हाडीके) समान है, पापरूपी वनको
बढानेके लिये वर्षाके समान है, भाई बंधु आदिको नाश करनेवाला है, देवगति और स्वर्गरूपी घरको बंद करनेके लिये
अर्गल (बेडा) के समान है और सज्जन पुरुषोंके द्वारा सदा निंद्य है इसलिये हे भव्य ! स्थूल ब्रह्मचर्य धारणकर तू सब
प्रकारकी परस्त्रियोंका त्याग कर ॥ ५३ ॥ इसी प्रकार वेश्या भी मद्य मांसादिकमें सदा आसक्त रहती है, संसारमें जितने
दुष्ट हैं सब उसे सेवन करते हैं, पापरूपी वनको उत्पन्न करनेके लिये भूमिके समान है, धर्मरूपी रत्नोंकी चोर है, दुर्गति
और दुर्बुद्धियोंको उत्पन्न करनेवाली है, और मोक्षमार्गको रोकनेके लिये अर्गलके समान है । इसलिये हे विद्वन ! तू शील-

मनुष्याणा विवाहं पापकारणम् । करोति मूढधीस्तस्य भवेद्दोष मलप्रदम् ॥ ४६ ॥ इच्छन्ति ये खला नूनमित्वरिका समर्तृकाम् । अतीचारो
भवेत्तेषा रागाच्छीलव्रतस्य वे ॥४७॥ समीहन्ते शठा येऽपि परस्त्रीं भर्तृविच्युताम् । गणिका वातिलोभेन व्यतीपात भजन्ति ते ॥४८॥
मुक्त्वा योनिं हि ये क्रीडा प्रकुर्वन्ति मुखादिके । यत्र तत्र शरीरेण रागात्तेपामतिक्रम ॥४९॥ अतितृष्णा विधत्ते य. कामसेवादिके बुधा ।
अग्निवच्च न सन्तोपमतीचार श्रयेत्स ना ॥५०॥ परनारीं तिरश्चीं च सेवन्ते ये व्रतच्युता । षडत्व प्राप्यते दुष्टा श्वभ्रनाथा भवन्ति वे
॥५१॥ त्यक्तपञ्चव्यतीपात ब्रह्मचर्यमणुव्रतम् । धत्ते य प्राप्य नाक च राज्य गच्छति निर्वृतिम् ॥५२॥ नरकगृहप्रतोली धर्मवृक्षे कुठारीं ।
दुरितवनकुवृष्टिं बंधुविध्वसदा त्वम् । सुरगतिशिवगेहेष्वर्गला साधुनिंद्या । त्यज सकलपरस्त्रीं स्थूलब्रह्म विधाय ॥५३॥ अखिलकुजनसेव्या
मद्यमांसादिसक्ता । अशुभभुवनभूमिं तस्करीं धर्मरत्ने । कुगतिकुमतिदा त्व मुक्तिमार्गार्गला भो । त्यज भुवि बुध वेश्या शीलगेह प्रविश्य ॥५४॥

रूपी घरमें प्रवेशकर इस वेश्यासेवनका भी सदा त्याग कर ॥ ५४ ॥ यह शीलरत्न स्वर्गमोक्षको देनेवाला है, यश और पुण्यको बढानेवाला है, ससारमें इसकी कोई उपमा नही, यह अत्यंत निस्पृह है, सद्धर्मरूपी निर्मल रत्नोका पिटारा है, पापोका नाश करनेवाला है, उत्तम सुख देनेवाला है, अत्यंत पवित्र है, धीरवीर पुरुषोंके द्वारा ही यह सेवन किया जाता है, अत्यंत शुभ है, सार है और संसाररूपी महासागरसे पार करदेनेवाला है। इसलिये हे भव्य! तू ऐसे शीलव्रतका पालन कर ॥ ५५ ॥ ये जीव ब्रह्मचर्यव्रतके फलसे इसलोकमें भी देवोके द्वारा पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं और परलोकमें भी स्वर्ग मोक्षके स्वामी होते हैं ॥ ५६ ॥

प्रश्न–हे भगवन्! इस शीलव्रतके माहात्म्यसे इसी लोकमें किसको फल मिला है उसकी कथा कृपाकर मेरेलिये कह दीजिये ॥ ५७ ॥

उत्तर–हे चतुर! तू चित्त लगाकर सुन। मैं पुण्य फल देनेवाली शीलव्रतकी कथा कहता हूं ॥५८॥ इसी मनोहर ललाट देशके भृगुकच्छ नामके नगरमें पुण्यकर्मके उदयसे बुद्धिमान् राजा वसुपाल राज्य करता था ॥ ५९ ॥ उसी नगरमें एक जिनदत्त नामका सेठ रहता था। जिनदत्ता उसकी सेठानीका नाम था। उन दोनोंके रूप और शीलसे सुशोभित नीली नामकी पुत्री थी ॥ ६० ॥ उसी नगरमें एक समुद्रदत्त नामका दूसरा सेठ रहता था और उसको सुख देनेवाली उसकी सेठानीका नाम सागरदत्ता था ॥ ६१ ॥ उन दोनोके सागरदत्त नामका पुत्र था। वह सागरदत्त अत्यंत यौवनावस्थामें किसी एक दिन अपने किसी मित्रके साथ जिनालयमें गया था। वहांपर सेठ जिनदत्तकी पुत्री नीली वस्त्राभरणोसे सुशोभित

स्वर्मोक्षैककरं यशःशुभप्रदं त्यक्तोपमं निस्पृहं। सद्धर्मामलरत्नभाण्डमसमं पापस्य निर्नाशकम्। सत्सौख्याकरमेकमेव शुचिदं धीरैः सदा सेवितं। संसाराम्बुधितारकं भजतु भो त्वं सारशीलं शुभम् ॥ ५५ ॥ ब्रह्मचर्यफलाज्जीवः प्राप्य पूजामिहामरैः। कृतामसुत्रलोकेपि स्वर्गमुक्त्यादिकं व्रजेत् ॥५६॥ शीलमाहात्म्यतः केन फलं लब्धं निरूपय। भगवन्निह लोकेपि विधायानुग्रहं मम ॥५७॥ शृणु धीमन्नहं वक्ष्ये कथां शील-समुद्भवाम्। एकचित्तान्वितो भूत्वा नील्याः पुण्यफलप्रदाम् ॥५८॥ लाटदेशे मनोज्ञेऽस्मिन् वसुपालो नरेश्वरः। पत्तने भृगुकच्छाख्ये जातः पुण्योदयात्सुधीः ॥५९॥ जिनदत्तो भवेत् श्रेष्ठी जिनदत्ताभिधा प्रिया। पुत्री जाता तयोर्नीली रूपशीलसमन्विता ॥ ६० ॥ श्रेष्ठी समुद्रदत्ताख्यस्तिष्ठत्येव पुरेऽपरः। भार्या सागरदत्ताख्या जाता तस्य सुखप्रदा ॥ ६१ ॥ पुत्रः सागरदत्तो हि तयोर्जातोऽतियौवने। गतो जिना-

होकर भगवानकी पूजाकर भगवानके ही सामने कायोत्सर्ग धारणकर खड़ी थी ॥ ६२–६३ ॥ उसे देखकर सागरदत्तने अपने मित्रसे पूछा कि रूप और लावण्यसे सुशोभित क्या यह कोई देवता है ? ॥ ६४ ॥ सागरदत्तकी यह वात सुनकर उसके मित्रने कहा कि यह देवता नहीं है किंतु सेठ जिनदत्तकी पुत्री नीली है ॥६५॥ उसके रूपको देखकर वह सागरदत्त उसमें तीव्र आसक्त होगया, वह कामवाणसे वींधा गया और उसका हृदय रागसे भरगया ॥ ६६ ॥ वह रातदिन यही चिंतवन करने लगा कि यह नीली रूप लावण्यकी सीमा है और महा पुण्यवती है, मै इसके साथ किस प्रकार विवाह करूं ? इसी चितामें वह रातदिन कृश होने लगा ॥६६-६७॥ उसके पिता समुद्रदत्तने यह वात जानकर अपने पुत्र सागरदत्तसे कहा कि हे पुत्र ! जिनदत्त जैनको छोडकर और किसीको अपनी पुत्री नहीं देगा ॥ ६८ ॥ वह जिनदत्त सेठ हमलोगोंको चंडालके समान देखता है फिर भला विवाहके लिये वह हमें अपनी पुत्री देगा ? ॥ ६९ ॥ यही सोच विचारकर वे दोनो वाप बेटे कपट धारण कर किसी मुनिराजके पास गये और वहांपर जिनधर्म धारण कर दोनों ही धर्मको वढानेवाले श्रावक वन गये ॥७०॥ सागरदत्तने मिथ्यात्व छोड़ दिया है और जिनधर्म धारण कर लिया है यह सव जगह प्रसिद्ध होगया और फिर सेठ जिनदत्तने भी सागरदत्तके लिये अपनी पुत्री दे दी ॥७१॥ जव नीली सागरदत्तके घर चली गई तव उन्होने उसे अपने पिताके घर जानेसे रोक दिया और फिर वे दोनो कुमार्गगामी वाप बेटे बुद्धके भक्त बौद्ध होगये ॥ ७२ ॥ जव यह वात

लय सोऽपि मित्रेण सममेकदा ॥६२॥ कायोत्सर्गान्विता नीली वस्त्राभरणमडिता । महापूजा विधायोच्चैर्जिनस्याग्रे स्थिता स्वयम् ॥६३॥ आलोक्य स्वय तेन दृष्टो मित्रस्तदा स्फुटम् । एषा कि देवता काचित् रूपलावण्यसयुता ॥ ६४ ॥ तदाकर्ण्याशु मित्रेण प्रियदत्तेन भाषितम् । श्रेष्ठिनो जिनदत्तस्य नीली पुत्रीयमेव हि ॥ ६५ ॥ तद्रूपालोकनाज्जातो तीव्रासक्त स तत्क्षणे । ताडित कामवाणेन हृदये रागहेतुत ॥६६॥ रूपलावण्यसीमेय कथ लभ्या मयाऽधुना । परिणेतु महापुण्या चेत्यभूच्चितया कृशः ॥६७॥ ज्ञात्वा समुद्रदत्तेन तत्पुत्रो भणितस्तदा । मुक्त्वा जैन खु हे पुत्र ! पुत्रीं नैव ददाति भो ॥६८॥ श्रेष्ठचय जिनदत्ताख्यो मातगानिव पश्यति । अस्मात् कथ स्वपुत्री स परिणेतु ददाति वै ॥६९॥ पर्यालोच्य ततो जातौ श्रावकौ तौ मुनीश्वरात् । कौटिल्येन जिनेन्द्रस्य शासने धर्मदीपकौ ॥७०॥ परिणेतु प्रदत्ता सा पुत्रिका तस्य श्रेष्ठिना । त्यक्त्वा मिथ्यात्वसर्वत्वागृहीतजिनधर्मत. ॥ ७१ ॥ नीत्वा नीलीं स्वय गेहे निषिध्य गमन पुन. । पितृगृहे ततो जातौ बुद्धभक्तौ कुमार्गगौ ॥७२॥ ज्ञात्वा तद्वचन श्रेष्ठी जगादेय न मे सुता । जाता वा पतिता कूपे नीता वा च यमेन वै

जिनदत्तने मुनी तब वह बहुत पश्चात्ताप करने लगा और कहने लगा कि मेरे पुत्री हुई ही नही थी, अथवा होकर कूएमें पड़ गई अथवा मर गई ॥ ७३ ॥ पुत्रीको अन्धे कूएमें डाल देना अच्छा परन्तु मिथ्यात्वको सेवन करनेवाले मूर्खके लिये देना अच्छा नही ॥७४॥ इसका भी कारण यह है कि यदि वह कूएमें डाल दी जायगी तो केवल इसी एक भवम दुःख भोगेगी परन्तु मिथ्यादृष्टीके घर जानेपर वह मिथ्यात्वसे उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके पाप करेगी और फिर अनन्त भवोंतक दुःख पावेगी ॥ ७५ ॥ कन्याको कूएमें डाल देनेसे मनुष्योको बालहत्याका दोष लगता है और नीच मनुष्यको देनेमे अनेक प्रकारके पाप होते हैं ॥ ७६ ॥

इधर नीली अपने श्वसुरके घर अपने पतिके साथ अलग रहती हुई प्रतिदिन चित्त लगाकर जैनधर्मका पालन करने लगी ॥ ७७ ॥ समुद्रदत्तने यह सोचा कि धर्म श्रवण करनेसे और बौद्ध भिक्षुकोंको दान देनेसे समय पाकर यह बुद्धकी भक्ति करने लगेगी। यही विचार कर किसी एक दिन उसने नीलीसे कहा कि हे नीली! हमारे जो बौद्ध भिक्षु हैं वे बड़े ज्ञानी हैं, बड़े विद्वान् है, इसलिये तू उन्हें आमंत्रण कर किसी एक दिन भोजन दे। उनको भोजन देनेसे हमें बहुत सुख होगा ॥७८–७९॥ नीलीने यह बात स्वीकार करली, भिक्षुकोको आमंत्रण दिया गया, वे आये और नीलीने सबको भोजन दिया परंतु उनकी अनेक प्राणियोको नाश करनेवाली एक एक जूती बारीक कतर कतर कर घी बूरेमें पागकर खिला दी ॥ ८० ॥ जब वे भिक्षु भोजन करके जाने लगे और उन्हें एक एक जूती नही मिली तब उन्होंने क्रोधित होकर पूछा कि प्राणोंका हित करनेवाली हमारी एक एक जूती कहां है ॥ ८१ ॥ इसके उत्तरमें नीलीने कहा कि आप तो बड़े

॥७३॥ वर क्षिप्ताधकूपादौ पुत्री सन्मृत्युहेतवे । न ददातु कुमिथ्यात्वाधिष्ठिताय जडात्मने ॥७४॥ सा कूपे पतिता दुःख भुक्ते चैकभव पुन । अनन्तभवज पापान्मिथ्यादृष्टिगृहे गता ॥७५॥ बालहत्या भवेद्दोष कन्याकूपादिक्षेपणात् । नृणा भवेत्कुनीचाय दानात्पापमनेकश ॥७६॥ श्वसुरस्य गृहे नीली पृथग्भूत्वा प्रियान्विता । जैनं धर्मं करोत्येव एकचित्तेन प्रत्यहम् ॥ ७७ ॥ धर्मादिश्रवणाद्दानात्संसर्गाद्वा भविष्यति । कालेन बौद्धभक्तेयं श्रेष्ठी मत्वेति सजगौ ॥७८॥ हे नीलि! ज्ञानिना त्व हि वदकाना सुभोजनम् । आमत्र्य विदुषा देहि अस्मदर्थं सुखाकरम् ॥७९॥ तेन्याहूय पुनस्तेषा भोक्तु दत्तातिखण्डिता । एकैका प्राणहिता सुसंस्कार्यातिरसान्विता ॥८०॥ गच्छद्भिर्भोजन कृत्वा दृष्टा प्राणहिता वरा । क्व गता नैव पश्यामस्तेरागाक्तिविग्रहै ॥ ८१ ॥ तयोक्त तर्हि ता सन्ति यूय जानीत शीघ्रत । ज्ञानेन यदि

ज्ञानी और विद्वान् हैं आप ही बतलाइये कि आपकी जूती कहां है ? यदि आपमें इतना ज्ञान नहीं है तो फिर विद्वान् लोग आपको पूज्य कैसे मान सकते हैं। यह सुनकर भिक्षुकोंने कहा कि हमलोगोंमें ऐसा ज्ञान नहीं है। तब नीलीने कहा कि तो सब जूतियां आप लोगोंके पेटमें हैं। यदि आपको मेरे वचनोंका विश्वास न हो तो वमन कर डालिये। इसपर उन्होंने जबर्दस्ती वमन किया और उसमें चर्मके छोटे छोटे टुकडे दिखाई दिये ॥ ८२–८४ ॥ तदनंतर बडे निरादरके साथ और लज्जासे व्याकुल होकर वे सब भिक्षु चले गये। नीलीके इस कर्तव्यसे और भिक्षुकोंका मान खंडन होजानेके कारण श्वसुरके घरके सब लोग नीलीसे रुष्ट होगये ॥ ८५ ॥ क्रोधित होकर सागरदत्तकी बहिन आदिने पापकर्मके उदयसे नीलीके लिये पर मनुष्यके साथ गमन करनेका महादोष लगाया ॥ ८६ ॥ जब नीलीका यह महादोष संसारमें प्रसिद्ध होगया तब नीली नीचे लिखी प्रतिज्ञाकर भगवानके सामने खडी होगई कि "यदि मेरा यह झूठा लगा हुआ दोष नष्ट होजायगा तब मैं भोजन करूंगी अन्यथा जीवनपर्यंत जीवोंको सुख देनेवाला अनशन व्रत धारण करूंगी ॥ ८७–८८॥ इस प्रकारकी प्रतिज्ञा कर और निश्चल शरीरको धारण कर, धीरवीर महासती नीली हृदयमें भगवान जिनेन्द्रदेवको स्मरण करती हुई कायोत्सर्ग धारण कर भगवानके सामने खड़ी होगई ॥ ८९ ॥ उसके शीलके माहात्म्यसे नगरके देवताको भी क्षोभ उत्पन्न हुआ और उसने रात्रिमें उसके सामने आकर कहा कि—॥ ९० ॥ हे महासती ! तू व्यर्थ ही प्राणोंका त्याग मतकर, मैं आज रातको ही यहांके राजाको, मंत्रीको तथा मुख्य मुख्य सेठ लोगोंको एक स्वप्न देता हूं कि नगरके जो दरवाजे कीलित होगये हैं वे किसी

तन्नास्ति कथ पूज्या बुधोत्तमे ॥८२॥ तैरुक्त नास्ति चास्माकं ज्ञानमीदृग्विध पुन'। तयोक्त तर्हि ता' सन्ति प्रोदरे श्रीमता स्थिताः॥८३॥ नोचेद्वचनविश्वासः कुर्वीध्व वमन तदा। दृष्टानि चर्मखडानि तैः कृते वमने बलात् ॥८४॥ ततोऽतिनष्टसन्माना' गता लज्जाकुला हि ते। श्वसुरस्य जना' सर्वे रुष्टास्तन्मानखण्डनात् ॥८५॥ कोपात्सागरदत्तस्य भगिन्यादिभिरप्यघात्। नील्या' दत्तो महादोष परनृगमनादिक ॥८६॥ जातो दोष प्रसिद्धोऽस्मिन् लोकमध्ये यदा तदा। जिनाग्रे सत्प्रतिज्ञात्र गृहीताशु तया दृढा ॥८७॥ यदि नश्यति दोषोऽयमहं भक्ष्ये तदा स्फुटम्। नोचेदनशन चास्तु यावज्जीव सुखाकरम् ॥८८॥ इति संन्यासमादाय कायोत्सर्गेण सस्थिता। निश्चलांगा महाधीरा सा स्मरन्ती जिन हृदि ॥८९॥ पुरदेवतयागत्य रात्रौ सा भणिता सती। पुरः क्षुभितया शीघ्र शीलमाहात्म्ययोगतः ॥९०॥ हे महासति ! प्राणाना त्याग त्व मा कुरु वृथा। स्वप्न ददाम्यह राज्ञः प्रधानाना च श्रेष्ठिनाम् ॥९१॥ प्रतोल्यो न नगरे सर्वा उद्घटिष्यन्ति कीलिता'। स्पृष्टा महा-

महासतीके वांये पैरके स्पर्श होते ही खुल जायगे।" इसके वाद तू अपने वांये पैरसे उनका स्पर्श करना, तेरे पैरका स्पर्श होते ही वे सव किवाड खुल जांयगे और तेरी शुद्धता प्रगट हो जायगी ॥ ९१–९३ ॥ यह कहकर वह देवता चला गया, उसने जाकर राजा और मंत्रियोंको वैसा ही स्वप्न दिया और फिर नगरके दरवाजोंको कीलित कर स्वयं वहां बैठ गया, ॥ ९४ ॥ दरवाजोंके रक्षकोंने सवेरे ही आकर महाराजसे निवेदन किया। उधर उन्हें स्वप्न आया ही था इसलिये रक्षकोकी वात सुनते ही स्वप्नकी वात याद की और नगरकी सव स्त्रियोंको बुलाकर सवके वांये पैरका स्पर्श उन दरवाजोंमे कराया परन्तु वे दरवाजे किसीसे नहीं खुले ॥ ९५–९६ ॥ तव पवित्र प्रभाको धारण करनेवाली नीली वहांसे उठाकर लाई गई। उसका पैरका स्पर्श कराते ही दरवाजे झट खुलगये ॥ ९७ ॥ तव राजा प्रजा सवने नीलीको अत्यन्त शीलवती समझा और वस्त्राभरणोंसे उसकी पूजा की तथा अन्य लोगोंने भी उसकी स्तुति की ॥ ९८ ॥ इसप्रकार वह नीली संसारभरमें निर्दोष प्रसिद्ध हुई, सवके द्वारा पूज्य हुई और परलोकमें भी देवोंके द्वारा पूज्य हुई ॥ ९९ ॥ देखो, यम नियम इंद्रियदमन और शान्त परिणामोंसे परिपूर्ण तथा निर्मल गुणोंको उत्पन्न करनेके लिये पृथ्वीके समान और शीलरूपी रत्नोंकी खानि ऐसी सेठकी पुत्री नीली शील–रत्नके प्रभावसे समस्त दोषोंसे रहित हुई तथा इसी लोकमें देव राजा प्रजा आदि सव लोकोंके द्वारा पूज्य हुई ॥ १०० ॥ इस शीलरत्नके प्रभावसे ही सती सीताका अग्निकुण्ड रामचन्द्र आदि सव महापुरुषोंके सामने देवोके द्वारा सरोवर वनगया था ॥ १०१ ॥ जो महासती सीता देव और मनुष्योंके द्वारा पूज्य हुई थी

सतीवामपादेनैव न चान्यथा ॥ ९२ ॥ तासा सस्पर्शन कुर्या पादेनैवातिशीघ्रत । उद्घटिष्यन्ति चेत्पादस्पर्शाच्छुद्धा त्वमेव ताः ॥९३॥ इत्युक्त्वा सा ततो गत्वा दत्वा स्वप्न हि तादृशम् । राजादीना प्रतोलीश्च कीलितापि स्वय स्थिता ॥९४॥ प्रतोलीरक्षकाच्छ्रुत्वा प्रभाते ता. प्रकीलिता । राजादयोपि तत्स्मृत्वा स्वप्न तत्रागता स्वयम् ॥९५॥ आकार्य नगरस्त्रीणा वामपादेन ताडनम् । प्राकारित प्रतोलीनां राज्ञा नोद्घटिता हि ता ॥ ९६ ॥ पश्चान्नीली समुत्क्षिप्य तत्रानीता शुचिव्रतात् । तत्पादस्पर्शनात्ता हि सर्वा उद्घटितास्तदा ॥ ९७ ॥ ततो राजादिभिर्नीली ज्ञात्वा शील प्रशसिता । पूजिता वस्त्राभरणे स्तुता लोकैस्तथा परै ॥९८॥ त्यक्तदोषास्तदा जाता लोकमध्येऽतिसत्त्वत । इहामुत्र च विख्याता पूज्या नीली नरामरे ॥९९॥ सकलविगतदोषा शीलसारेण जाता । अमरनृपजनैश्च पूजितात्रैव लोके । यमदमशम पूर्णा श्रेष्ठिपुत्री हि नीली । विमलगुणधरित्री शीलरत्नादिखानि ॥ १०० ॥ सीताशीलप्रभावेन अग्निकुण्ड सरोवरम् । जातं देवै कृतं

था ॥१११॥ उसकी रानीका नाम कनकमाला था। दैवयोगसे वह शीलरहित थी। उसी राजाके यहां एक यमदंड नामका कोतवाल था, और उसकी माताका नाम वसुंधरी था ॥ ११२ ॥ वह वसुंधरी विधवा थी, अत्यंत जवान थी और व्यभिचारिणी थी। किसी एक दिन शामके समय यमदंडकी स्त्रीने अपने कुछ आभूषण अपनी सासु वसुंधरीके पास रखनेके लिये दिये थे। उन आभूषणोंको लेकर वह वसुंधरी रात्रिके समय जारके पास जारही थी। मार्गमें यमदंडने उसे रोक लिया, उसके साथ विषयसेवन किया और उसके पास जो आभूषण थे वे लेकर अपनी स्त्रीको देदिये ॥ ११३–११४ ॥ उन आभूषणोंको देखकर उसकी स्त्रीने कहा कि ये तो मेरे आभूषण हैं, मैंने ये शामको रखनेके लिये अपनी सासुको दिये थे ॥ ११५ ॥ अपनी स्त्रीकी यह वात सुनकर यमदंडने उसी समय सोच लिया कि रातको जिसे मैंने सेवन किया है वह मेरी माता ही होगी ॥ ११६ ॥ तदनंतर वह मूर्ख जानवूझकर भी प्रतिदिन रातको जार वनकर उसके घर जाने लगा और उस अपनी माताके साथ कुकुर्म करने लगा ॥ ११७ ॥ वह कुमार्गगामी महामूर्ख यमदंड अपने पापकर्मके उदयसे छिपकर प्रतिदिन अपनी माताके पास जाने लगा और उसके साथ असंत आसक्त होगया ॥ ११८ ॥

किसी एक दिन यमदण्डकी स्त्रीने क्रोधित होकर धोबिनसे कह दिया कि " मेरा पति अपनी माताके साथ सदा रहता है " ॥११९॥ धोबिनने यह वात मालिनसे कह दी। इसप्रकार वह यमदण्डका पाप समस्त संसारमें प्रसिद्ध होगया ॥ १२० ॥ किसी एक दिन सुन्दर फूल लेकर वह मालीन रानीके पास गई। रानीने कौतूहलपूर्वक उससे कोई अपूर्व

कनकादिरथो राजा जात. पुण्यफलोदयात् ॥१११॥ राज्ञी कनकमालाभूत्तस्य शीलादिवर्जिता। तलारो यमदण्डाख्यो हि माता तस्य वसुधरी ॥११२॥ एकदा पुश्चली रात्रौ रण्डातितरुणा शुभा। वध्वा धर्तुं प्रदत्तानि गृहीत्वाभरणानि वै ॥११३॥ गच्छन्ती जारपार्श्वे सा यमदण्डेन सेविता। दृष्ट्वा तद्भूषणं ज्ञात्वा स्वभार्यादत्तमेव च ॥११४॥ तद्दृष्ट्वा नु तया प्रोक्त मदीय भूषण स्फुटम्। एतद्दिनावसाने च मया श्वसु करे धृतम् ॥ ११५ ॥ तस्या वाच समाकर्ण्य चिन्तितं तेन तत्क्षणे। या मया सेविता नून सा मे माता भविष्यति ॥ ११६ ॥ ततोऽसौ जारसंकेतगृहं गत्वा सदा निशि। कुकर्म गूढवृत्त्या हि करोत्येव तया समम् ॥ ११७ ॥ मात्रासमं स मूढात्मा प्रत्यह दुरितोदयात्। अन्यासक्तो हि सजात' प्रच्छन्नेन कुमार्गतः ॥ ११८ ॥ एकदा रुष्टया प्रोक्त रजक्यास्तस्य भार्यया। निजमात्रासमं भर्ता तिष्ठत्येव सदा मम ॥११९॥ रजक्या कथितं मालाकारिण्याः प्रीतियोगतः। तद्वृत्तान्तमहो याति व्यक्त पाप स्वय भुवि ॥१२०॥ सत्पुष्पाणि समादाय

वात पूछी ॥ १२१ ॥ मालिनने कहा कि हे देवी ! पापी यमदण्ड कोतवाल प्रतिदिन अपनी माताके साथ विषयसेवन करता है ॥ १२२ ॥ रानीने यह वात राजासे कह दी कि हे देव ! आपका मूर्ख कोतवाल अपनी माताके साथ आसक्त होगया है ॥ १२३ ॥ राजाने रानीकी यह वात सुनकर गुप्तचरोंके द्वारा छिपकर सब वात देखी और फिर उसपर विश्वास किया ॥ १२४ ॥ तदनंतर राजाने उस पापी यमदंडको वध, बंधन, छेदन, आदि महा घोर दुःख देकर दंडित किया ॥ १२५ ॥ पाप और कुमार्गमें चलनेके महा दुःखोंको भोगकर वह यमदंड मरकर अत्यंत दुःख देनवाली घोर दुर्गतियोंमे परिभ्रमण करने लगा ॥ १२६ ॥ परस्त्रीहरण करनेके दोषसे ही रावणका राज्य नष्ट होगया था और वह मरकर तीसरे नरकमें पहुंचा था, उसकी कथा संसारमें प्रसिद्ध है ॥ १२७ ॥ अमृतादेवी नामकी महा पट्टरानी इस शीलव्रतके अभावसे ही अनेक प्रकारके कष्ट और दुःखोंको सहकर छठवें नरकमें पहुंची थी ॥१२८॥ वैराग्यको वढानेवाली उसकी कथा महाराज यशोधरके जीवनचरित्रसे (यशोधरचरित्र अथवा यशस्तिलकचपूसे) जान लेना चाहिये ॥ १२९ ॥ ग्यारह रुद्र दशपूर्वोंके जानकार थे और जिनमुद्राको धारण करनेवाले थे तथापि केवल शीलभंगके पापसे उन्हें नरकके दुःख भोगने पडे थे ॥ १३० ॥ वासुदेव आदि और भी अनेक पुरुष हुए हैं जिन्हें दुर्गतियोके घोर दुःख भोगने पडे हैं वे सब शीलव्रतके खंडन करनेसे ही भोगने पडे हैं ॥ १३१ ॥ देखो ! यमदंड कोतवाल विषयोंके वश होकर कुमार्गगामी हुआ

सा राज्ञीनिकटं गता । अपूर्वा च कथा काचित् तया पृष्टा कुतूहलात् ॥१२१॥ तयोक्तं देवि पापात्मा कामक्रीडा करोति वै । यमदंडतलारोऽय स्वावया सह प्रत्यहम् ॥१२२॥ राज्याशु भणितो राजा देव वे रक्षकस्तव । अवया सह लुब्धोऽय तिष्ठत्येव विमूढधीः ॥१२३॥ ततो राज्ञा तदाकर्ण्य प्रच्छन्नपुरुषै स्फुटम् । गूढवृत्त समालोक्य कृत तन्निश्चय स्वयम् ॥१२४॥ ततो राज्ञा महादु खैश्च्छेदवधवधादिजै । निगृहीतोऽतिसघोरैर्यमदडोऽति पापतः ॥१२५॥ अनुभूय महादु ख सोऽपि पापकुकर्मजम् । मृत्वा गतोऽतिसघोरा दुर्गतिं तीव्रक्लेशदाम् ॥१२६॥ परस्त्रीदोषत प्राप्तो रावण पद्मप्रमाक्षितिम् । राज्यनाशादिक प्राप्य तस्य ख्याता कथा भुवि ॥१२७॥ अमृताख्या महादेवी षष्ठ च नरक गता । या शीलेन विना भुक्त्वा दु.ख कुष्ठादिसंभवम् ॥ १२८ ॥ तस्या कथा जनैर्ज्ञेया वैराग्यादिकरा वरा । यशोधरमहीपालचरित्रे शीलहेतवे ॥१२९॥ एकादश गता रुद्रा दशपूर्वांगपारगा । जिनमुद्राधराः श्वभ्र शीलभगाघपाकत. ॥१३०॥ अन्ये ये बहवो जाता प्राघूर्णा दुर्गते' भुवि । वासुदेवा दय ख्यातास्ते शीलव्रतवर्जनात् ॥ १३१ ॥ अशुभसकलपूर्णा दुर्गति दु.खतप्ता । अतिकुपथगतत्वाद्दुष्ट-

था इसलिये उस पापके फलसे उसे राजाके द्वारा दिये हुए अत्यंत तीव्र दुःख भोगने पडे और फिर समस्त दुःखोमे परिपूर्ण दुर्गतियोके दुःख भोगने पडे । इसलिये ऐसे पापोसे बचना ही कल्याणकारक है ॥ १३२ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप, नीलीबाई और कोतवालकी कथाको कहनेवाला यह पद्रहवा परिच्छेद समाप्त हुआ ।

अथ सोलहवां परिच्छेद ।

जिन्होने कर्मरूप शत्रुओके समूहको शांत करदिया है, जो शांति देनेवाले है, और संसारभरमें शांतिके स्थापक हैं ऐसे श्री शांतिनाथ भगवानको मै अपने कर्म शांत करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ अब मै उत्कृष्ट सन्तोषको उत्पन्न करनेवाले और लोभको नाश करनेवाले परिग्रहपरिमाण नामके पांचवें अणुव्रतको कहता हूं ॥ २ ॥ गणधरादि देवोंने परिग्रहपरिमाणको सबसे श्रेष्ठ व्रत कहा है तथा श्रावकोंका लोभ दूर करनेके लिये ही शास्त्रोंमें इसका निरूपण है ॥ ३ ॥ जो बुद्धिमान् सन्तोप धारणकर परिग्रहोकी संख्या नियत करलेते हैं उनके यह पांचवां परिग्रहपरिमाण नामका व्रत होता है ॥ ४ ॥ खेत, घर, धन, धान्य, नौकर चाकर, घोड़ा बैल आदि पशु, आसन, शयन, वस्त्र और भांड ये गृहस्थोंके दश प्रकारके परिग्रह भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहे है । गृहस्थोंको पापरूप आरम्भोंको घटानेके लिये इन सब परिग्रहोकी संख्या

आरक्षकोऽत्र । विषयपरवशाद्वा सगत पापपाकात् । नृपकृतमपि तीव्र दु खभार च भुक्त्वा ॥ १३२ ॥

इति श्रीभट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे स्थूलब्रह्मचर्यव्रते नील्यारक्षककथाप्ररूपको नाम पचदशम परिच्छेद ।

अथ षोडशमः सर्गः ।

शान्तिनाथ नमस्यामि जगत्शान्तिविधायकम । शान्तकर्मारिसचक्रं शान्तिद कर्मशान्तये ॥१॥ पचमाणुव्रत वक्ष्ये सन्तोषादिकरं परम् । परिग्रहप्रमाणाख्य लोभाद्यादिप्रशान्तये ॥ २ ॥ परिग्रहप्रमाण सद्व्रत प्रोक्तं गणाधिपै । लोभादिकविनाशार्थं श्रावकाणा जिनागमे ॥३॥ कृत्वा सन्तोषसार ये सख्या कुर्वन्ति सद्बुधाः । परिग्रहस्य तेषां स्यात्सत्स्थूल पचम व्रतम् ॥४॥ क्षेत्रं गृहं धन धान्य द्विपद च चतुष्पदम् । आसन शयन वस्त्र भाडं स्याद्गृहमेधिनाम् ॥ ५ ॥ जिनेन्द्रैर्दशधा प्रोक्ता गृहस्थाना परिग्रहा । तेषां सख्या नरेः कार्या

नियत करलेनी चाहिये ॥ ५६ ॥ इनमें पहिला परिग्रह खेत है वह सबसे अधिक हिंसा करनेवाला है अतएव धर्म-पालन करनेके लिये तू उसका साग कर । यदि तू उसका त्यागकर नही सकता तो हल आदिकोंकी संख्या नियत कर ले ॥७॥ संसारमें जितनी भी घर आदिकी संपत्ति है वह सब ममत्व बढानेवाली है और त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसा करनेवाली है इसलिये सन्तोषधर्मको सिद्ध करनेके लिये तू घर आदिकोंकी भी संख्या नियत करले ॥ ८ ॥ हे वत्स ! पाप उत्पन्न करनेवाले लोभको छोड़कर और सन्तोपरूपी अमृतको पीकर सोना चांदी आदि धनकी भी थोड़ीसी संख्या नियत करले ॥ ९ ॥ चावल, गेहूं, चना आदि अनेक कीड़ोंके उत्पन्न होनेके कारण हैं अतएव अपने व्रत शुद्ध रखनेके लिये तू इनका भी थोडासा प्रमाण नियन करले ॥१०॥ श्रावकोंको अपने गुरुके पास जाकर दास दासी आदि सेवकोंका तथा स्त्रियोंका प्रमाण नियत करलेना चाहिते ॥११॥ घोड़ा, बैल, गाय आदि जितने पशु हैं सबके पालन करनेमें त्रस जीवोंकी हिसा होती है इसलिये इनका भी प्रमाणकर संख्या नियत कर लेनी चाहिये ॥ १२ ॥ इसीप्रकार गाड़ी, पालकी आदि सवारियोंकी संख्या भी नियत कर लेनी चाहिये और धर्म-पालन करनेके लिये पलङ्ग आदि सोने व आराम करनेके साधनोंकी भी संख्या नियत करलेनी चाहिये ॥ १३ ॥ इसी तरह वस्त्रोंकी संख्या तथा वर्तन आदि अन्य सामग्रियोकी संख्या भी नियत करलेनी चाहिये ॥१४॥ इस परिग्रहके परिमाण करनेसे गृहस्थोंका लोभ नष्ट होजाता है और तृष्णा संतोप रूपमें परिणत होजाती है ॥१५॥ सतोपसे धर्म होता है, धर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और स्वर्ग प्राप्त होनेसे सुख मिलता है इसलिये

पापारम्भादिहानये ॥६॥ अथ हिंसाकर क्षेत्र त्यज त्व धर्महेतवे । यदि त्यक्तु समर्थो न सख्या कुरु हलादिके ॥ ७ ॥ ममत्त्वजनके सारे स्थावरत्रसघातके । सन्तोपधर्मसिद्ध्यर्थं भज सख्या गृहादिके ॥ ८ ॥ द्रव्यरूप्यसुवर्णादौ स्तोका संख्या विधेहि भो । लोभ पापकर त्यक्त्वा पीत्वा सन्तोषजामृतम् ॥९॥ शाल्यादि सर्वधान्याना प्रमाण भज सर्वथा । कीटाद्युत्पत्तिहेतूना ह्रस्वव्रतविशुद्धये ॥१०॥ भृत्याना दासदासीनां भार्याणा च शुभाय वै । परिमाण प्रकर्तव्य श्रावकै गुरुसन्निधौ ॥ ११ ॥ अश्ववृषभगोसर्वचतुष्पदकदम्बके । त्रसादिहिंसके स्तोका कुरु सख्यां प्रपापदे ॥१२॥ याने सिहासने चैव शकटादौ तथा भज । प्रमाण मित्र ! धर्माय खट्वादिशयने वरे ॥१३॥ क्षौमादिके सुवस्त्रे च भज सख्या व्रताय भो । मञ्जिष्ठादौ सद्भाडे महार्घे भाजने तथा ॥ १४ ॥ परिग्रहप्रमाणेन लोभश्चैव विलीयते । नृणा सन्तोष सद्राज्य भवत्येव गृहेशिनाम् ॥१५॥ सन्तोषाज्जायते धर्मो धर्मात्स्वर्गस्तत सुखम् । तस्मात्सुखार्थिना लोके त्याज्यो लोभोऽतिदूरत. ॥१६॥ सन्तोष-

सुख चाहनेवाले लोगोंको यह लोभ दूरसे ही छोड देना चाहिये ॥१६॥ संतोषके समान सुख तीनों लोकमें न तो हुआ है न
होसकता है न इसके समान अन्य कुछ सार है और न कोई इसके समान उत्तम धर्म प्रगट करनेवाला है ॥१७॥ संतोषरूपी
आसनपर बैठा हुआ मनुष्य जो जो पदार्थ चाहता है वह चाहे तीनों लोकोंमें कही भी क्यों न हो उसे उसी समय मिल जाता है॥१८॥
जो उत्तम विद्वान् संतोषरूपी थोड़ेसे अमृतको भी पी लेता है वह जन्म मरण बुढ़ापा आदि विषको नष्टकर और महा
सुखोंको भोगकर अंतमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥ १९ ॥ जिसप्रकार मागनेवाले लोगोंको धनकी प्राप्ति नही होती उसीप्रकार
जो लोभसे द्रव्यकी इच्छा करते हैं उन्हें द्रव्यकी भी प्राप्ति नहीं होती ॥ २० ॥ जिसप्रकार निस्पृह जीवोंको विना इच्छाके
भी धनकी प्राप्ति होजाती है उसीप्रकार संतोप धारण करनेसे मनुष्योंको धनकी प्राप्ति अपने आप होजाती है ॥ २१ ॥
संतोप धारण करनेसे द्रव्य आता है और लोभ करनेसे घरमें रक्खा हुआ द्रव्य भी चला जाता है। यही विचार कर हे
भव्य पुरुषो ! जो धर्म और धन प्राप्त करानेवाला इष्ट हो वही करना चाहिये ॥ २२ ॥ अथवा पुण्यकर्मके उदयसे मनु-
ष्योंके लक्ष्मी स्वयं आजाती है और विना पुण्यके बहुत दिनसे इकट्ठी की हुई और घरमें रक्खी हुई लक्ष्मी भी नष्ट हो
जाती है ॥ २३ ॥ इसलिये धन चाहनेवाले लोगोंको अपनी शक्तिके अनुसार पुण्यकार्य करना चाहिये। क्योंकि लक्ष्मी
पुण्यसे ही आती है विना पुण्यके केवल इच्छा करनेसे कुछ नही होता ॥ २४ ॥ इस लोकमें चक्रवर्तीकी लक्ष्मी तथा तीर्थ-
करोंकी लक्ष्मी और परलोकमें इंद्रादिकको सुख देनेवाली लक्ष्मी धर्मात्मा मनुष्यके ही घर स्थिरताके साथ निवास करती
है ॥ २५ ॥ जो बुद्धिमान थोड़ेसे भी परिग्रहका परिमाण कर लेते हैं उनके घर उनकी परीक्षा करनेके लिये बहुतसा

सदृशं सौख्य न भूत भुवनत्रये। भविष्यति न सार च नास्ति धर्माकर परम् ॥१७॥ सन्तोषासनमासीनो यद्यद्वस्तु समीहति। तत्तदेव समायाति स्थित लोकत्रयेऽचिरात् ॥१८॥ सन्तोषाख्यसुधा पीत्वा जन्ममृत्युजराविषम्। हत्वा भुक्त्वा महासौख्य शिवं यान्ति बुधोत्तमा॰ ॥ १९ ॥ न लभन्ते यथा लोके याचाशीला धन नराः। तथा लोभात्समीहन्ते ये ते द्रव्य भजन्ति न ॥ २० ॥ यथा च निस्पृहा जीवा॰ प्राप्नुवन्ति धन हठात्। तथा सन्तोषद्रव्येण द्रव्यमायाति देहिनाम् ॥२१॥ सन्तोषाच्छ्री समायाति लोभाद्याति गृहात् पुन॰। विचार्येति कुरु त्व भो यदिष्टं धर्मद पुन ॥२२॥ अथवा सातिपुण्येन नृणामायाति भो स्वयम्। तद्विना सा गृहाच्छ्रीघ्र नश्यत्येव चिराजिता ॥२३॥ तस्माद्धनार्थिना लोके पुण्य कार्यं स्वशक्तित। येनायाति महालक्ष्मीस्तद्विना काक्षया हि किम् ॥ २४ ॥ धर्माद्गृहे स्थिति कुर्यु॰श्रियश्च-

हे इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि
धन जबरदस्ती आजाता है ॥ २६ ॥ परिग्रहोंका नियम किये विना यह प्राणी पशुके समान है इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि
दोनों ही परिग्रहका परिमाण किये विना अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण करते हैं ॥ २७ ॥ कदाचित् सूर्य अपना तेज छोड
दे और सुमेरु पर्वत अपनी स्थिरता छोड दे तो भी विना नियमके मनुष्योंको पुण्यकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥२८॥
जिसप्रकार पशु नग्न रहते हुए भी विना किसी प्रकारका नियम धारण किये पुण्य प्राप्त नहीं कर सकते उसीप्रकार धर्म-
रहित प्राणी भी विना नियमके पुण्य सम्पादन नहीं कर सकते ॥२९॥ यम नियम पालन करनेसे मनुष्योंको प्रचुर पुण्यकी
प्राप्ति होती है और सन्तोष धारण करनेसे संसारमें यश फैलता है तथा इन्द्रियां वशमें होजाती हैं, मन शांत होजाता है
॥३०॥ नियमरूपी अंकुशके ताड़न करनेसे विषयरूपी वनमें इच्छानुसार घूमता हुआ और धर्मरूपी श्रेष्ठ वृक्षोंको उखाडता
हुआ मनरूपी हाथी वशमें होजाता है ॥३१॥ हे भव्य ! सन्तोषरूपी तीक्ष्ण तलवारसे अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर लोभरूपी
दुराचारका नाशकर और नियमादिक वा परिग्रहका परिमाण धारण कर ॥ ३२ ॥ इसका भी कारण यह है कि लोभके
फंदेमें फँसा हुआ यह प्राणी धनके लिये गुरु और सज्जन लोगोंको भी मार देता है और अनेक प्रकारके पाप उपार्जन
करता है जिन पापोंके फलसे उसे नरकमें ही जाना पडता है ॥ ३३ ॥ लोभी मनुष्य न तो धर्मको समझता है, न पापको
जानता है, न सुखदुःखको जानता है, न हित अहितको जानता है, न गुरुको समझता है, न देवको समझता है, न कुगतिको
जानता है और न गुण अवगुणको जानता है ॥ ३४ ॥ यह जीव लोभके ही कारण अनेक देशोंमें तथा समुद्रोंमें परिभ्रमण

क्रादिगोचरा. । तीर्थादिका इहामुत्र शक्रादिसुखदा नृणाम् ॥ २९ ॥ परिग्रहप्रमाण ये स्वल्प कुर्वन्ति धीधना । आगच्छति हठात्तेषा
परीक्षार्थं महद्धनम् ॥२६॥ नियमेन विना प्राणी पशुरेव न सशय' । परिग्रहप्रमाणस्य स्वेच्छाचारणकारणात् ॥२७॥ कचित्सूर्यस्त्यजेद्धाम
स्थिरत्व च सुराचलः । विना न नियमात्पुसा पुण्य संजायते तराम् ॥२८॥ यथा हि पशवो नग्नाः पुण्य सन्नियमाद्विना । न लभंते तथा
ज्ञेया प्राणिनो धनवर्जिता ॥२९॥ नियमेन सदा नृणा पुण्य जायेत पुष्कलम् । सन्तोष च यशो लोके इन्द्रियादिजय शमम् ॥ ३० ॥
मनोगजो वश याति नियमाकुशताडनात् । भ्रमन् स विषयारण्ये मूलयन् धर्मसद्द्रुमान् ॥३१॥ हत्वा लोभ दुराचार स्वशक्तिमनिगुह्य भो ।
सन्तोषखड्गतीक्ष्णेन भज त्व नियमादिकम् ॥ ३२ ॥ यतो लोभाकुल प्राणी हन्ति सद्गुरुसज्जनान् । धनार्थं पापमाचष्टे येन श्वभ्रालय
व्रजेत् ॥३३॥ लोभाविष्टो न जानाति धर्मं पाप सुखासुखम् । हिताहित गुरु देव कुगति च गुणागुणम् ॥३४॥ लोभादगी भ्रमेद्देशानब्धि-

करता है और धनके लिये ही हजारो कपट बनाता है॥३५॥ जिसप्रकार अग्निको बहुतसे ईंधनसे भी सन्तोष नहीं होता और समुद्रको अनेक नदियोंके जलसे भी सन्तोष नहीं होता उसी प्रकार लोभी पुरुषको बहुतसा धन मिलजानेपर भी सन्तोष नहीं होता ॥३६॥ लोभी मनुष्योंकी आशा समस्त संसारमें फैल जाती है और रत्न आदि संसारभरका समस्त धन दे देनेपर भी वह शांत नहीं होती॥३७॥ यह धन दुःखसे तो आता है, आये हुए धनकी बड़े दुःखसे रक्षा होती है और इसके चले जानेपर भी मनुष्योंको दुःख ही होता है इसप्रकार सब जगह दुःख देनेवाले इस धनको धिक्कार हो॥३८॥ धन प्राप्त हो जानेसे मनुष्योंको उसकी रक्षा आदिकी चिंता उत्पन्न होजाती है इसके सिवाय वह परलोकमें भी नरक आदि दुर्गतियोंके महा दुःख देनेवाला है ॥ ३९ ॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि यह धन समस्त दुःखोंकी खानि है और विना दानके गृहस्थोंको अनेक प्रकारके शोक क्लेश और दुःखोंको देनेवाला है ॥ ४० ॥ यही समझकर हे मित्र ! सन्तोषरूपी सार पदार्थको धारणकर अपकीर्ति देनेवाले लोभको नाशकर और धनादिककी संख्या नियतकर ॥ ४१ ॥ हे मित्र ! देख, यह कुलोभ गणधर और मुनियोंके द्वारा निंद्य है, दानादिक शुभ कार्योंसे रहित है, पापरूपी वनको बढानेके लिये मेघ है, धर्मरूपी कल्पवृक्षको जलानेके लिये अग्नि है, नरकादिक दुर्गतियोंका मार्ग है और मुक्तिरूपी घरको बंद करनेके लिये किवाडके समान है इसलिये तू परिग्रहका परिमाण नियतकर इस कुलोभका त्यागकर ॥ ४२ ॥ जो पुरुष पांचो अतिचारोंको छोडकर परिग्रहपरिमाण व्रतको धारण करता है वह बुद्धिमान् सोलहवें स्वर्गके सुख भोगकर अंतमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ४३ ॥

सागरगोचरान् । धनार्थं प्रविधत्ते च कपटादिसहस्रकान् ॥३५॥ लोभाक्रष्टो व्रजेन्नैव सन्तोषं धनभूरिभिः । इन्धनैरनलो यद्वत्सागरो वा सरिज्जलैः ॥३६॥ लोभाविष्टमनुष्याणां आशा विश्वं विसर्पति । तस्या न शान्तये विश्वं दत्तं रत्नादिसंभृतम् ॥३७॥ अर्थं दुःखेन चायाति स्थिरं दुःखेन रक्ष्यते । गते दुःखं भवेन्नॄणां धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥३८॥ अर्थात्संजायते चिंता रक्षणादिकृतांगिनाम् । इहामुत्र सहेद्दुःखं सर्वं श्वभ्रादियोनिजम् ॥३९॥ किमत्र बहुनोक्तेन सर्वदुःखाकरं धनम् । दानं विना गृहस्थानां शोकक्लेशाशुभप्रदम् ॥४०॥ इति मत्वा हि भो मित्र ! हत्वा लोभं कुकीर्तिदम् । नीत्वा सन्तोषं न राज्यं भज सख्यां धनादिके ॥४१॥ गणधरमुनिनिंद्यं सर्वदानादिवर्ज्यं, दुरितकुवनमेघं धर्मकल्पद्रुमाग्निम् । नरककुगतिमार्गं मुक्तिगेहे कपाटं, सुभग त्यज कुलोभं संगसंख्यां विधाय ॥४२॥ पञ्चातिचारनिर्मुक्ता सत्परि-

प्रश्न–हे प्रभो ! कृपाकर इस व्रतको शुद्ध करनेके लिये इस व्रतके पांचो अतीचारोंको कहिये ॥ ४४ ॥

उत्तर–हे श्रावकोत्तम ! तू चित्त लगाकर सुन। इस व्रतमें मल उत्पन्न करनेवाले और त्याग करने योग्य अतिचारोंको कहता हूं ॥ ४५ ॥ अतिवाहन, अतिसंग्रह, विस्मय, लोभ, और अतिभारारोपण ये पांच परिग्रहपरिमाणके अतीचार हैं ॥ ४६ ॥ घोडे बैल आदिको उनकी शक्तिसे अधिक चलाना और मार मारकर चलाना अतिवाहन नामका पहिला अतिचार * ॥ ४७ ॥ लोभके वश होकर धन धान्यादिकका अतिशय संग्रह करना अतिसंग्रह नामका दूसरा अतिचार है ॥४८॥ जो खरीदनेयोग्य पदार्थ वेच दिया हो अथवा उस खरीदने योग्य पदार्थकी प्राप्ति ही न हुई हो उस समय लोभके वश होकर विषाद करना अतिविस्मय नामका तीसरा अतिचार है ॥ ४९ ॥ जो धन प्राप्त हो जानेपर भी उसको देने वा खर्च करनेमें अत्यंत तृष्णा करते हैं अथवा धनकी प्राप्तिके लिये अतिशय लोभ करते हैं उनके लोभ नामका चौथा अतिचार लगता है ॥ ५० ॥ जो निर्दय होकर न्यायमार्गको छोडकर (शक्तिसे अधिक) बोझा लाद देते हैं उनके अतिभारारोपण नामका अतिचार लगता है ॥ ५१ ॥ हे मित्र ! यह परिग्रहका परिमाण करना शुभगतिरूपी रत्नोंका पात्र है, नरकरूपी घरको बंद करनेके लिये किवाडोंके समान है, धर्मरूपी रत्नोंकी खानि है, अशुभरूपी वृक्षोंको उखाडनेके लिये वायुके समान है और लोभरूपी हाथीको मारनेके लिये सिंह है। इसलिये तू साररूप संतोषको धारणकर परिग्रहपरिमाण

ग्रहसंख्यया। प्राप्य षोडशमं नाकं क्रमाद्याति शिवं बुधा ॥४३॥ भट्टारक! व्यतीचारानादिश व्रतशुद्धये। पञ्चमाणुव्रतस्यैव कृपां कृत्वा शुभाय मे ॥४४॥ एकाग्रचेतसा सर्वान् शृणु श्रावक ! तेऽधुना। कथयामि व्यतीपातान् त्याज्यान् व्रतमलप्रदान् ॥४५॥ स्यादतिवाहनं चादौ ततोऽतिसंग्रहो भवेत्। अतिविस्मयोऽतिलोभश्चातिभाराधिरोपणम् ॥ ४६ ॥ कुर्वन्ति वृषभादीनामतिरेकेण वाहनम्। मार्गे प्रमाणतो लोभात् ये विक्षेपं भजन्ति ते ॥४७॥ अत्यन्तसंग्रहं योऽपि धान्यादीनां करोति वै। लोभावेशवशात्तस्य व्यतीपातो बुधैः स्मृतः ॥४८॥ क्रयाणकं च विक्रीय मूलतो गृहणे तथा। लोभाद् धृते विषादं यस्तस्य स्यादतिविस्मयः ॥ ४९ ॥ लब्धेऽप्यर्थे विशिष्टे च तृष्णां कुर्वन्ति ये पुनः। लोभार्थं लोभतस्तेषां व्यतिचारो मलप्रदः ॥५०॥ उल्लंघ्य न्यायमार्गं यो धत्ते भाराधिरोपणम्। दया विना भवेत्तस्य व्यतिपातोऽशुभप्रदः ॥५१॥ सुगतिगृहप्रवेशं धर्मरत्नादिभाडं। नरकगृहकपाटं धर्मरत्नाकरं वै। अशुभतरुसमीरं लोभमातंगसिंहं। कुरु धनपरिमाणं तोषसारं गृहीत्वा ॥५२॥ पञ्चमाणुव्रतं धत्ते यः पूजां प्राप्य देवजाम्। इहैवाशु क्रमाद्याति स्वर्गं मुक्तिं च शुद्धधी ॥५३॥ संप्राप्ता येन

व्रतको धारण कर ॥ ५२ ॥ जो बुद्धिमान् इस परिग्रहपरिमाण व्रतको धारण करता है वह देवोंके द्वारा आदर सत्कार पाकर अनुक्रमसे स्वर्गमोक्षके सुख प्राप्त करता है ॥ ५३ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! जिसने इस व्रतको पालनकर इस लोकमें भी देवोंके द्वारा आदर सत्कार प्राप्त किया उसकी कथा कृपाकर निरूपण करिये ॥ ५४ ॥

उत्तर–हे श्रावकोत्तम ! तू मनके अन्य सब संकल्प विकल्प छोडकर सुन ! मैं पुण्य बढानेवाली राजा जयकुमारकी कथा कहता हूं ॥ ५५ ॥ कुरुजांगलदेशके हस्तिनापुर नामके शुभ नगरमें पुण्य-कर्मके उदयसे कुरुवंशी राजा सोमप्रभ राज्य करता था ॥ ५६ ॥ उसके पुत्रका नाम जयकुमार था उसने परिग्रहपरिमाणका व्रत लिया था और स्त्रीपरिमाणमें उसके केवल सुलोचना ही थी, और सबका त्याग था ॥ ५७ ॥ किसी एक दिन जयकुमार और सुलोचना दोनो दम्पती अपने पहिले विद्याधर भवकी कथा कहकर अनेक प्रकारके दृश्य देखते हुए बैठे थे कि इतनेमें ही पहिले भवकी विद्याने आकर कहा कि हे राजन् ! मुझे आज्ञा दीजिये, मैं इस संसारमें आपके सब काम कर सकूंगी ॥ ५८–५९ ॥ उस विद्याके बलसे उन दोनोंने पहिले भवके हिरण्यवर्मा और प्रभावती नामके विद्याधर विद्याधरीका रूप धारण किया ॥ ६० ॥ उन दोनोंने पुण्य बढानेवाली सुमेरुपर्वत आदिकी यात्रा की और फिर चौवीस तीर्थकरोंकी वंदना करनेके लिये वे दोनो कैलास पर्वतपर आये ॥ ६१ ॥ वहांपर महाराज भरतने जो चौवीस तीर्थंकरोके जिन भवन बनवाये थे उनकी वंदना की और फिर वे दोनों अलग अलग स्थानपर जा विराजमान हुए ॥ ६२ ॥ इसी समय सुधर्मा सभामें सौधर्म इन्द्रने जयकुमारके संतोष-

---

सत्पूजा व्रतादिहाप्तैः कृता । विधायानुग्रह ! स्वामिन् कथां तस्य निरूपय ॥५४॥ शृणु श्रावक ! सत्त्वा मन संकल्पवर्जितम् । जयाख्यस्य नृपस्यैव कथा वक्ष्ये शुभप्रदाम् ॥ ५५ ॥ कुरुजांगलसद्देशे हस्तिनागपुरे शुभे । कुरुवंशे नृप पुण्यादभवत्सोमप्रभाह्वय ॥५६॥ तस्य पुत्रो जयोनाम कृतसंख्यां परिग्रह. । भार्या सुलोचनाया तु प्रवृत्तिस्तस्य नान्यथा ॥ ५७ ॥ एकदा दंपती पूर्वं विद्याधरभवस्य तौ । कथयित्वा कथा यावत्स्थितौ अवधीक्षणौ ॥५८॥ तावदागत्य विद्याभिर्भणितोऽसौ नराधिप । आदेशं देहि भो देव सर्वकार्यकर भुवि ॥५९॥ तद्बलाद्रुपमादाय तद्विद्याधरगोचरम् । हिरण्यवर्म तद्भार्या प्रभावत्यो परिस्फुटम् ॥ ६० ॥ सुमेर्वादौ विधायाशु यात्रा पुण्यकरा शुभाम् । कैलाशमागतौ तौ हि वंदितु जिनपुंगवान् ॥६१॥ भरतेशकृतान् तत्र चतुर्विंशतिसद्गृहान् । पूजयित्वा स्थितौ यावत्पृथग्भूतौ परस्परम् ॥६२॥

व्रतकी प्रशंसा की ॥६३॥ इसलिये उसकी परीक्षा करनेके लिये दिव्य गुणोंसे सुशोभित ऐसा रविप्रभ नामका देव अपने परिवारके साथ आया ॥६४॥ रविप्रभने हावभाव विलास और लावण्यरससे परिपुरित ऐसा विद्याधरीका उत्तमरूप धारण किया ॥६५॥ तथा चार विलासिनी उसने अपने साथ लीं। इसप्रकार स्त्रीका रूप धारणकर वह शीघ्र ही जयकुमारके पास आया और जयकुमारसे कहने लगा कि हे नरेश्वर! जिस विद्याधरोंके स्वामी राजा नमिने सुलोचनाके स्वयंवरमें तेरे साथ कातरोंको भय उत्पन्न करनेवाला भयंकर युद्ध किया था उसकी मैं समस्त गुणोंसे परिपूर्ण स्वरूपा नामकी महारानी हूं, मैं इस समय अनंत यौवन हूं, मेरे पास अनेक विद्याएं हैं और मैं महाराज नमिसे विरक्त होगई हूं। इसलिये हे पुरुषोत्तम! यदि आप महाराज नमिका राज्य चाहते हैं और अपनेको जीवित रखना चाहते हैं तो मुझे स्वीकार कीजिये ॥ ६६–६९ ॥ उस वनी हुई विद्याधरीकी यह वात सुनकर जयकुमारने कहा कि तूने यह वडी ही प्रतिकूल, निंद्य, पाप संतापको उत्पन्न करनेवाली, और बुरी वात कही ॥ ७० ॥ मेरे परस्त्रीगमन करनेका सदाके लिये त्याग है। सुलोचनाके विना अन्य स्त्रियां मेरे लिये माताके समान हैं ॥ ७१ ॥ इसलिये हे देवी! तू भी कुत्सित परिणामोंको छोड, धर्म और व्रतोंको धारण कर तथा विद्वानोंके द्वारा पूज्य होती हुई शीलवती हो ॥ ७२ ॥ इतना कहकर जयकुमार गुणोंकी खानि और ध्यानके मूल कारण ऐसे श्री तीर्थंकर भगवानको हृदयमें विराजमान कर कायोत्सर्ग धारणकर खडा होगया ॥ ७३ ॥ तव उस देवने कोई उपाय

तत्प्रस्तावे जयस्यैव प्रशंसा हि कृता वरा। सौधर्मस्वर्गनाथेन जाता सन्तोषसद्व्रतात् ॥६३॥ परीक्षितुं जयं तत्रागतो रविप्रभाह्वय:। परिवारेण संयुक्तो देवो दिव्यगुणान्वितः ॥६४॥ हावभावविलासाढ्यं लावण्यरसवर्द्धितम्। रूपं कृत्वा गुणोपेतं खेचरीगोचरं वरम् ॥६५॥ चतुर्विलासिनीमिश्रः सह प्रागत्य शीघ्रत:। स्त्रीरूपधारिणा तेन भणितोऽसौ नरेश्वर ॥६६॥ स्वयंवरे कृतो येन संग्रामोपि त्वया सह। रौद्र: सुलोचनाया हि भीरुभीतिप्रदो हठात् ॥६७॥ नमेर्विद्याधराधीशपतेस्तस्य गुणाकराम्। स्वरूपाख्या महाराज्ञीं तद्विरक्ता सुयौवनाम् ॥६८॥ महाविद्यान्विता शीघ्रं मामिच्छ पुरुषोत्तम। यदि वाञ्छसि तस्यैव राज्यं च स्वस्य जीवितम् ॥६९॥ तदाकर्ण्य जयेनोक्तं हे सुंदरि विरूपकम्। प्रोक्तं त्वयाति निंद्यं च पापसन्तापकारि यत् ॥७०॥ नित्यं स्यान्नियमो मेऽपि परस्त्रीगमनादिके। सुलोचनां विना सर्वा नार्यो मे जननीसमा: ॥ ७१ ॥ तस्माच्छीलवती त्वं च भवन्नित्यं बुधार्चिता। कुत्सितं परिणामं स्वं त्यक्त्वा धर्मव्रतान्विता ॥ ७२ ॥ इत्युक्त्वा संस्थितो यावत्कायोत्सर्गं विधाय च। चित्तं विधाय तीर्थेशपादमूले गुणाकरे ॥७३॥ तावत्तया कृतो घोर उपसर्गोऽतिदुस्सहः। हावभाव-

न देखकर हावभाव कटाक्षोंके द्वारा तथा दृढ आलिंगनोंके द्वारा अत्यंत असह्य और घोर उपसर्ग किया ||७५|| जयकुमार
मेरु पर्वतके समान अचल होकर खड़ा रहा. उसने घोर दुःख देनेवाली और त्याग करनेयोग्य ऐसी समस्त घोर परीषह
सहन की || ७५ || तव उस देवने अपनी माया संकोची और प्रगट होकर जयकुमारसे कहा कि मै तेरी परीक्षासे अत्यंत
संतुष्ट हुआ है || ७६ || हे देव ! आप महा पुरुषोंके द्वारा भी पूज्य हैं, धीरवीर हैं, विद्वानोंके द्वारा स्तुति करने योग्य हैं,
हमने आपकी कीर्ति स्वर्गमें भी देवोंकी सभोंमे सुनी है। हे देव ! सौधर्म इन्द्रने आपके सन्तोष व्रतकी बहुत अधिक प्रशंसा
की थी परन्तु वास्तवमें आपकी प्रशंसा उसमे भी अधिक है उसे सुनकर ही हम आपकी परीक्षा लेनेके लिये आए थे।
हे पुरुषोत्तम ! आपको देखकर अव हमारा निर्णय होगया ||७७-७८|| सप्रकार कहकर तथा वस्त्राभरणोंसे उसकी पूजाकर
नमस्कारकर और अनेक प्रकारसे प्रशंसाकर वह देव अपने स्थानको चला गया || ८० || तदनंतर जयकुमार भी अपने
घर आया और प्रतिदिन धर्मको हृदयमें विराजमानकर संसारके सुख भोगने लगा || ८१ || किसी समय उस पुण्यवानको
वैराग्य उत्पन्न हुआ, उसने तृणके समान राज्यका त्याग कर दिया, और मोहरूपी महा पापका नाश कर दीक्षा धारण कर
ली || ८२ || तदनंतर उन जयकुमारने वैराग्यभावनाओंके द्वारा सारभूत असह्य तपश्चरण किया और समस्त कर्मोको नाश
कर अजर अमर मोक्षपद प्राप्त किया || ८३ || और भी वहुतसे श्रावकोने इस संतोष व्रतको धारणकर अनुपम सुख प्राप्त
किया है, इस संसारमें उन सवकी कथाओंको कौन कह सकता है || ८४ || जो समस्त गुणोंके समुद्र थे, स्वर्गके देवोंने

कटाक्षैश्च दृढैरालिंगनादिभि ||७४|| सस्थितोऽकम्पमानोऽसौ महामेरुरिवानिशम् । जित्वा परीषहान् सर्वान् त्यज्यमान घोरदु खदान् ||७५||
ततोसावुपसहृत्य माया वक्ति जय प्रति । प्रकटीभूय सन्तुष्टस्तत्परीक्षणतोऽमर. || ७६ || त्व देव ! महता पूज्यो धीरोसि त्व बुधैऽस्तुत·
तवकीर्तिः श्रुतास्माभि. स्वर्गे देवसभादिपु ||७७|| सौधर्मपतिना नाके ते प्रशसा यथा कृता। साधिकातो भवेन्नून सन्तोषव्रतसंभवा ||७८||
ता समाकर्ण्य देवाह प्रागतस्ते परीक्षितुम् । अद्य मे निर्णयो जातो दृष्ट्वा त्वा पुरुषोत्तमम्||७९|| इत्युक्त्वा पूजयित्वा च वस्त्राभरणमण्डनैः ।
प्रणम्य सोऽमरो नाक प्रशस्य मुहुरप्यगात् ||८०|| ततो जयकुमारोपि गृहमागत्य प्रत्यहम् । धृत्वा स्वमानसे धर्मं भुक्ते ससारजं सुखम् ||८१||
कदाचिज्जातवैराग्यस्त्यक्त्वा राज्यं तृणादिवत् । हत्वा मोहं महापाप दीक्षा जग्राह पुण्यधी. ||८२|| कृत्वातिदुस्सह सार तपो वैराग्यभावत. ।
हत्वा कर्माणि सर्वाणि जयोऽगादव्यय पदम् ||८३|| अन्ये ये वहव· प्राप्ता. सुख सन्तोषसद्व्रतात् । श्रावका· कः कथा तेषा क्षमः कथयितु

भी जिनकी पूजा की थी, इंद्रने भी जिनकी प्रशंसा की थी, जो धीरवीर थे, विद्वानोंके द्वारा पूज्य थे, समस्त शंकाओंसे रहित थे, लोभके सर्वथा त्यागी थे, संसारभर जिनकी सेवा करता था और जो मुक्ति-लक्ष्मीके स्वामी हुए थे ऐसे मुनिराज जयकुमार सदा जयशील हो ॥ ८५ ॥ जो मूर्ख धर्मरूप और साररूप गुणोंकी खानि ऐसे सन्तोष व्रतको छोडकर लोभ करता है वह अनेक दुर्गतियोंके दुःख भोगता है ॥ ८६ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! इस परिग्रहपरिमाण नामके व्रतके विना जिसने दुःख पाया है उसकी कथा कृपाकर कहिये।

उत्तर—हे श्रावकोत्तम ! तू चित्त लगाकर सुन, मै परिग्रहपरिमाण व्रतको न पालनेवाले अत्यंत लोभी ऐसे श्मश्रु-नवनीतकी कथा कहता हूं ॥ ८८ ॥ इसी भरतक्षेत्रके अयोध्या नगरमें भवदत्त नामका एक सेठका लड़का था उसको सुख देनेवाली धनदत्ता नामकी उसकी स्त्री थी ॥ ८९ ॥ उन दोनोंके एक पुत्र हुआ था उसका नाम लुब्धदत्त था। वह अत्यंत लोभी था। किसी एक समय द्रव्य कमाने और व्यापार करनेके लिये वह दूर देशांतरमें गया ॥९०॥ वहांपर जाकर उसने द्रव्य भी कमाया परंतु पापकर्मके उदय होनेसे मार्गमें ही दुःख देनेवाले चोरोंने उसका सब धन लूट लिया ॥ ९१ ॥ इसप्रकार अत्यंत निर्धन होकर वह अपने घरको आ रहा था। मार्गमें किसी एक दिन उसने गवालियेके घरसे पीनेके लिये छाछ मांगी ॥ ९२ ॥ छाछके पीलेनेपर उसने देखा कि उस छाछमेंके मक्खनके कुछ कण मूछोंमें लगगये हैं। उन्हें देखकर उसने अपने हृदयमें विचार किया कि थोडे दिन इसी प्रकार छाछ पीपीकर मक्खनके कण

भुवि ॥ ८४ ॥ अखिलगुणसमुद्रः पूजितो नाकदेवैः । सुरपतिकृतशंसो धीरवीरो बुधार्च्यः । विगतसकलशंकस्त्यक्तलोभो मुनींद्रो । जयतु भुवनसेव्यो मुक्तिनाथो जयाख्यः ॥८५॥ व्रतसन्तोषजं त्यक्त्वा धर्मसारगुणाकरम् । लोभं करोति यो मूढः प्राघूर्णो दुर्गतेः स ना ॥८६॥ भो भट्टारक! येनैव प्राप्तं दुःखं व्रतं विना। परिग्रहप्रमाणाख्यं कथां तस्य निरूपय ॥८७॥ उपासक! शृणु त्वं हि कृत्वा चित्तं सुनिश्चलम् । प्रवक्ष्येऽहं कथां सारां ते श्मश्रुनवनीतजाम् ॥८८॥ अत्रैव भारते वर्षेऽयोध्यायां श्रेष्ठिनंदनः । भवदत्तोऽभवद्भार्या धनदत्ता सुखप्रदा ॥८९॥ तयोः पुत्रोऽभवल्लुब्धदत्तो लोभसमाकुलः । वाणिज्येन गतो दूरमेकदा द्रव्यहेतवे ॥९०॥ दुर्गमार्गे हठान्नीतं सर्वद्रव्यमुपार्जितम् । तस्करैः दुःखदैस्तस्य पूर्वपापविपाकतः ॥ ९१ ॥ एकदा निर्धनेनैवागच्छता गृहमात्मनः । कुमार्गे गोकुले तक्रं तेन पीतुं हि याचितम् ॥ ९२ ॥ तस्मिन्पीते समालोक्य कूर्चे लग्नं कथंचन । स्वल्पं सुनवनीतं च गृहीत्वा तेन चिंतितम् ॥९३॥ प्रभविष्यति मेऽनेन कालेनैव धनादिकम् ।

इकट्ठे करनेसे व्यापार करनेयोग्य धन होसकता है इसलिये कुछ दिन तक घासकी एक झोंपड़ी वनाकर यहां ही रहना चाहिये ॥ ९३–९४ ॥ इसप्रकार विचारकर वह वहीं एक झोंपड़ी वनाकर उसीमें रहने लगा। वह प्रतिदिन मूछोंमें लगे हुए मक्खनको इकट्ठा करता था इसलिये लोगोंने उसका नाम श्मश्रुनवनीत रखलिया था ॥९५॥ कुछ समय पाकर इकट्ठा होते होते वह घी लगभग एक सेरके होगया तव किसी एक दिन शीतकालके समय उस छोटी झोंपड़ीको वंदकर वह लघुदत्त दरवाजेकी ओर पैरकर सोगया। दरवाजेके पास ही घीका वर्तन रक्खा हुआ था और उसके पास ही शीतसे वचनेके लिये अग्नि जला रक्खी थी। इसप्रकार लेटे लेटे वह वड़े भारी आरम्भ और संग्रहका विचार करने लगा ॥९६-९७॥ वह सोचने लगा कि अव मै इस घीसे कपास आदिका व्यापार कर सकता हूं। इसप्रकार धीरे धीरे व्यापार करते करते वाहरसे माल लानेवाला और ले जानेवाला वड़ा व्यापारी हो जाऊंगा ॥९८॥ तदनन्तर मेरे हाथी, घोडे आदिकी विभूति होजायगी। वड़े वड़े सामन्त होजांयगे, राज्य मिल जायगा और फिर इसी व्यवसायसे राजाधिराज पद मिल जायगा ॥९९॥ तदनन्तर मैं चक्रवर्ती होजाऊंगा इसमें कोई संदेह नहीं। फिर मुझे समस्त इंद्रियोंके सुख देनेवाले भोगोपभोग प्राप्त होजांयगे ॥ १०० ॥ तव मैं सतखने महा मनोहर शुभ राजभवनमें सोऊंगा, अनेक शुभ लक्षणोंसे सुशोभित स्त्री–रत्न मेरे पैरोंके पास वैठेगी ॥ १०१ ॥ वह वड़ी रूपवती होगी और हृदयमें भोगोंकी लालसा करती हुई वह मेरे पैर दावनेके लिये अपने हाथोंसे मेरे पैर पकडेगी ॥ १०२ ॥ तव मैं वडे प्रेमके साथ उस सुंदर स्त्रीको यह कहकर स्वयं लात मारूंगा

तृणकुत्या स्थितेनैव सद्व्यवसायहेतवे ॥ ९४ ॥ इति सचिन्त्य तत्रैव स्थितोऽसौ तस्य प्राप्तये। तावल्लोकैः कृत नाम हि श्मश्रुनवनीतकम् ॥९५॥ अथैकदा घृते जाते कालात्प्रस्थप्रमाणके। सस्तरे शीतकाले स कुटीद्वारे ससकटे ॥९६॥ पादान्ते स तृणं धृत्वा वह्निं च घृतभाजनम्। मानसे चिंतयत्येव महारभादिसग्रहम् ॥९७॥ इदानीं सद्व्रतेनाह करोमि क्रयविक्रयम्। कार्पासादिभत्र पश्चात्सार्थवाहो भवामि वै ॥९८॥ अश्वहस्त्यादिसल्लक्ष्म्या सामन्तादिपद ततः। राज्याधिराजज प्राप्य पद च व्यवसायतः ॥९९॥ क्रमेण चक्रवर्ती च भविष्यामि न सशयः। अवाप्स्यामि तदा भोगान् सर्वेन्द्रियसुखप्रदान् ॥ १०० ॥ यदा सप्ततले रम्ये प्रासादे शयने शुभे। स्त्रीरत्नं प्रोपविष्ट मे पादान्ते शुभलक्षणम् ॥ १०१ ॥ महारूपान्वित सारं मुग्ध्वा पादो गृहीष्यति। पादमर्दनमाकर्तु भोगतत्परमानसम् ॥१०२॥ न जानासि त्वमेवाह भणित्वेति तदा स्वयम्। पादेन ताडयिष्यामि स्नेहेनाति वर हि तत् ॥१०३॥ एव चिंतयतो तेन मूढेन रभसा स्वयम्। पाद-

कि हे, यह क्या करती है, तू नहीं जानती कि मैं स्वयं तेरे रूपमें मिलगया हूं ? ॥ १०३ ॥ इसप्रकार चिंतवन करते हुए और अपने हृदयमें अपनेको चक्रवर्ती मानते हुए उस मूर्ख लघुदत्तने आलसके साथ पैर फैलाये ॥ १०४ ॥ दैवयोगसे वे पैर घीके वर्तनपर जा लगे जिससे वह सब घी फैलकर अग्निमें जा पड़ा और उस घीसे दरवाजेके पास ही अग्नि वड़ी तेजीके साथ जलने लगी ॥ १०५ ॥ वह अग्निकी भारी ज्वाला दरवाजेके पास ही जल रही थी इसलिये वह वाहर निकल भी न सका और उस अग्निमें ही जलकर मरगया ॥ १०६ ॥ व्रत रहित होने और अत्यंत तीव्र लोभी होनेके कारण रौद्रध्यानसे उसके प्राण छूटे और इसीलिये उसे अनेक दुःखोंसे भरपूर अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करना पड़ा ॥ १०७ ॥ इसके सिवाय सुभौम चक्रवर्तीको आदि लेकर और भी ऐसे वहुतसे लोग होगये हैं जिनका हृदय लोभसे सदा व्याकुल रहता था और जो अत्यंत लोभी थे, और इसीलिये वहुतसे आरंभ और परिग्रहके कारण उन्हें नरक और तिर्यंच गतियोंके दुःख भोगने पडे । उन सवकी कथाओंको कोई भी विद्वान नहीं कह सकता ॥१०८–१०९॥ हे मित्र ! देख ! यह कुलोभ समस्त पापोकी जड है, अनेक दुर्गतियोंके दुःख देनेवाला है और विद्वानोंके द्वारा निंद्य है। इसी कुलोभके कारण लघुदत्त वैश्यको दुर्गतिमें जाना पडा इसलिये सारभूत संतोपरूपी शस्त्रोंके द्वारा कुलोभको नष्टकर ॥११०॥ इस संसारमें जो श्रावक निःशंकित आदि सम्यग्दर्शनके अङ्गोंको पालन करते है, जैनधर्मको पालनकर प्रसन्न होते हैं, सन्तोष आदि सद्गुणोंको धारण करनेमें तत्पर रहते हैं, श्री जिनेन्द्रदेव और मुनियोंकी सदा भक्ति करते रहते हैं, धर्मध्यानमें सदा लीन रहते हैं, और जिनकी बुद्धि शुभ है ऐसे श्रावक पांचों अणुव्रतोंको पालनकर सुख देनेवाले अच्युत स्वर्गको पाते हैं और फिर

प्रसारितश्चक्रे विवर्त्याधितचेतसा ॥१०४॥ पतितं तेन पादेन तस्यैव घृतभाजनम् । द्वारे सधूक्षितोग्निश्च घृतेन ज्वलितस्तराम् ॥१०५॥ महाग्निज्वलिनादद्वारान्निस्सर्तुं सोऽक्षमो मृतः । दग्धदेहोऽतितीव्र प्र-भुक्त्वा दुःख कुर्वन्हि नम् ॥१०६॥ दुर्ध्यानेन गतो घोरां दुर्गतिं दुःख-पूरिताम् । व्रतादिरहितो मूढस्तीव्रलोभाकुलोत्पथात् ॥१०७॥ अन्ये ये वहवो लोके लोभाकुलितचेतसः । चक्रवर्तिसुभौमादिप्रमुखा धनलोलुपा ॥१०८॥ श्वभ्रतिर्यग्गतिं प्राप्ता वह्वारम्भपरिग्रहात् । प्राज्ञ पुमान कथा लोके कस्तेषां कथितुं क्षमः ॥१०९॥ अखिलदुरितमूला दुर्गतिं दुःखयोनि विवुधजननिंद्या लुब्धदत्तो वणिग्भो । गत इह धन लोभाच्चेति मत्वा मनुष्य ! त्वमपि हन कुलोभं सारसन्तोषशस्त्रैः ॥११०॥ निःशंकादिगुणान्विता हि मुदिता श्रीजैनसच्छासने, सन्तोषादिषु तत्परा जिनपतेः भक्ता मुनीनां तथा । धर्मध्यानपरायणा शुभधियः पञ्चैव

अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते है ॥ १११ ॥ ये पांचों अणुव्रत देवगतिके सुखके घर हैं, ज्ञानरूपी रत्नके पिटारे हैं, मोक्षकी जड हैं, अनेक गुणोंसे सुशोभित हैं, दुर्गतिरूपी घरको बंद करनेके लिये किवाड हैं, पापरूपी वृक्षोंको जलानेके लिये अग्नि है। हे मित्र ! ऐसे इन पांचों अणुव्रतोंको तू पालन कर ॥ ११२ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे परिग्रहपरिमाणका स्वरूप और जयकुमार तथा श्मश्रुनवनीतकी कथाको कहनेवाला यह सोलहवा परिच्छेद समाप्त हुआ।



अथ सत्रहवां परिच्छेद ।

जो कुन्थु आदि समस्त जीवोंकी दया पालन करनेमें चतुर हैं, जो तीर्थंकर और चक्रवर्ती है और जो देवाधिदेव है ऐसे श्री कुंथुनाथ भगवानको मै कुंथु आदि समस्त जीवोंकी दया पालन करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ इस-प्रकार अणुव्रतोंका स्वरूप कहकर अब आगे गृहस्थोंको सुख देनेवाले और गुणोकी खानि ऐसे तीनों प्रकारके गुणव्रतोंका वर्णन करते है ॥ २ ॥ गणधरदेवोंने दिग्विरतिव्रत, अनर्थदण्ड विरतिव्रत, और भोगोपभोग संख्यान ऐसे श्रावकोंके तीन गुणव्रत बतलाये है ॥ ३ ॥ ये गुणव्रत दया आदि व्रतोंके कारण है और गुणोंको बढानेवाले हैं। इसलिये धर्मकी सिद्धिके लिये इनको सारभूत गुणव्रत कहते है ॥ ४ ॥ जो बुद्धिमान् समस्त दिशाओंकी मर्यादा नियतकर उसके बाहर कभी नहीं

चाणुव्रतान्। धृत्वा यान्ति शिवालय सुखकर प्राग्गच्युत श्रावकाः ॥१११॥ सुरगतिसुखगेह दानरत्नादिभाड। धृतिकरमपि सार मुक्तिकन्द गुणाढ्यम् । कुगतिगृहकपाट पापवृक्षव्रजाग्नि। अणुव्रतमपि मित्र ! पञ्चक प्राचरत्वम् ॥११२ ॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्ति विरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे परिग्रहपरिमाणव्रत जयश्मश्रुनवनीतकथाप्ररूपको नाम षोडशम परिच्छेदः।

अथ सप्तदशमः सर्गः ।

कुंथु कुंथ्वादिजीवाना दयादक्ष जिनाधिपम् । वन्दे चक्रधरं देव कुंथ्वग्यादिदयाप्तये ॥ १ ॥ अणुव्रतानि व्याख्याय त्रिःप्रकार गुणव्रतम् । गुणाकर प्रवक्ष्यामि गृहस्थाना सुखप्रदम् ॥२॥ दिग्विरतिव्रत प्रोक्त चानर्थदडवर्जनम् । भोगोपभोगसंख्याख्यं श्रावकाणा गणाधिपे ॥३॥ गुणव्रतानि सारानि गुणानामऽपि बृहणात् । भवंति धर्मसिद्ध्यर्थं दयादिव्रतकारणात् ॥४॥ संख्या विधाय यो धीमान् दिक्प-

जाता है उसके दिग्विरति नामका पहिला गुणव्रत होता है ॥ ५ ॥ स्वामी वृषभदेवने समुद्र, नदी, पर्वत, द्वीप, देश, वन आदि इस दिग्व्रतकी मर्यादा वतलाई है ॥ ६ ॥ अथवा जीवोंकी हिंसा बचानेके लिये गृहस्थोंको योजनोंके द्वारा दशों दिशाओंकी मर्यादा नियतकर लेनी चाहिये ॥ ७ ॥ नियत की हुई मर्यादाके बाहर स्थूल अथवा सूक्ष्म सब तरहके हिंसा आदि पापोंका त्याग होजाता है तथा मर्यादाके बाहर पापोंके लिये मनुष्योंके संकल्प और भाव भी नहीं होते इसीलिये बुद्धिमान् मर्यादाके बाहर समस्त पापोंका त्याग होजानेसे उन अणुव्रतोंको मर्यादाके बाहर महाव्रत कह देते हैं ॥ ८–९ ॥ हिंसादिक पांचो पापोंका मन, वचन, कायसे और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करना महाव्रत कहलाता है ॥ १० ॥ यद्यपि इस प्रकारका त्याग दिग्व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंके नहीं होता तथापि एक देश हिंसादिकका त्याग करनेवाले और दिग्व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंके मर्यादाके बाहर उपचारसे महाव्रत माना जाता है ॥ ११ ॥ इस दिग्व्रतको धारण करनेसे संतोष होता है, मर्यादाके बाहर भ्रमणका त्याग होजाता है और हिंसादि पापोंका सर्वथा त्याग होजाता है इसलिये दिग्व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंको महा पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥ १२ ॥ इस दिग्व्रतको धारण करते समय बुद्धिमान गृहस्थोंको अपने स्वार्थको वशमें कर जीवनपर्यंततकके लिये नियम करना चाहिये ॥ १३ ॥ जो गृहस्थ अतिचार रहित इस दिग्व्रतको पालन करता है वह सुख देनेवाले महा पुण्यको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

प्रश्न—हे भगवन्! कृपाकर इस व्रतके अतिचारोंका निरूपण कीजिये।

मूहे वहिः कदा। न याति तस्य धर्माय भवेद्दिग्विरतिव्रतम् ॥५॥ सागराद्रिनदीद्वीपदेशोऽटव्यादयो मताः। मर्यादा जिननाथेन दिग्विरतिव्रतस्य वै ॥६॥ गृहस्थैरथवा कार्या योजनैर्गणनादिभिः। सख्या दशदिशा यावज्जीवहिंसादिहानये ॥७॥ मर्यादात्परतः पाप स्थूल सूक्ष्म न जायते। वधादि पचकोपेत सकल्पाभावतो नृणाम् ॥८॥ महाव्रतानि कथ्यन्तेऽणुव्रतान्यऽपि धीधनैः। कृतसख्यावहिर्भागे सर्वसावद्यवर्जनात् ॥९॥ हिंसादिपचपापाना यस्त्यागस्तन्महाव्रतम्। मनोवाक्काययोगैः स्यान्नृणा स्वान्यकृतादिकै. ॥१०॥ सद्भिश्चैवोपचारेण प्रणीत सन्महाव्रतम्। देशहिंसादित्यक्ताना दिग्विरतिकृतात्मनाम् ॥११॥ महापुण्य भजेदगी सद्दिग्विरतिसख्यया। सन्तोषाद्गमनाभावान्नित्य हिंसा विवर्जनाम् ॥१२॥ कर्तव्यो नियम. सारो दिग्विरतिव्रते बुधैः। यावज्जीव व्रतायोच्चै. कृत्वा स्वान्तं वशे स्वयम् ॥१३॥ अतीचारपरित्यक्त दिग्विरतिव्रत चरेत्। यो गृही तस्य जायेत सत्पुण्य च सुखाकरम् ॥ १४ ॥ भगवन्तो व्यतीपातान् सदिशध्व व्रतस्य मे।

उत्तर—हे मित्र ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं उन अतिचारोंको कहता हूं ॥ १५ ॥ ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और विस्मरण ये पांच इस दिग्व्रतके अतिचार हैं ॥ १६ ॥ जो प्रमादसे अज्ञानसे अथवा किसी कार्यके वश होकर ऊपरकी (ऊर्ध्व दिशाकी) नियत की हुई मर्यादाको उल्लंघन करते हैं उनके दोष उत्पन्न करनेवाला ऊर्ध्वव्यतिक्रम नामका पहिला अतिचार होता है ॥ १७ ॥ जो किसी कार्यके वशसे नियत की हुई अधोलोककी मर्यादाका उल्लंघन करते हैं उनके व्रतको नाश करनेवाला दूसरा अधोव्यतिक्रम नामका अतिचार लगता है ॥ १८ ॥ जो लोभके वश होकर आठों दिशाओंकी मर्यादाका त्याग कर देते हैं उनके व्रतको घात करनेवाला और असह्य ऐसा तिर्यग्व्यतिक्रम नामका अतिचार लगता है ॥ १९ ॥ जो पुरुष प्रमाद अज्ञान अथवा लोभसे सब दिशाओंके क्षेत्रकी मर्यादाको बढा लेते हैं उनके क्षेत्रवृद्धि नामका अतिचार होता है ॥ २० ॥ जो दिग्व्रतमें धारण की हुई मर्यादाको ही भूल जाते हैं उनके पाप संताप और दुःख देनेवाला विस्मरण नामका अतिचार होता है ॥ २१ ॥ हे भव्य ! तू दयाको पालन करनेके लिये और व्रतोंको शुद्ध करनेके लिये अतिचारोंको छोडकर पुण्य बढानेवाले दिग्व्रतको धारण कर ॥ २२ ॥ इस प्रकार पहिले गुण-व्रतका व्याख्यानकर अब तेरे लिये अनर्थदंडविरति नामके दूसरे गुणव्रतका व्याख्यान करता हूं ॥ २३ ॥ जो पुरुषोत्तम दिग्व्रतका पालन करता हुआ भी विना कारणके लगनेवाले पापोंका त्याग करता है उसके अनर्थदंडविरति नामका व्रत होता है ॥ २४ ॥ यद्यपि अनर्थदंडके बहुतसे भेद हैं तथापि व्यर्थ ही पापोंको उत्पन्न करनेवाले उसके पांचो भेदोंको मैं

एकचित्तेन भोमित्र ! शृणुतात् कथयाम्यहम् ॥ १५ ॥ ऊर्ध्वव्यतिक्रमश्चाधो व्यतिपातो भवेन्नृणाम् । तिर्यग्व्यतिक्रम क्षेत्रवृद्धिर्विस्मरण दिशाम् ॥१६॥ प्रमादाज्ञानतो येऽपि कार्य्यत्वाल्लघयन्ति ये । ऊर्ध्वसख्यामतीचार लभन्ते मलदायकम् ॥१७॥ क्वचित्कार्यवशाद् येऽपि अध.सख्या त्यजन्ति ते । प्राप्नुवन्ति व्यतीपातं व्रतस्य नाशक नरा ॥१८॥ तिर्यग्दिक्षु सुमर्यादा ये त्यजन्ति कुलोभत । अतिक्रमो भवेत्तेषा दुस्सहो व्रतघातक ॥१९॥ क्षेत्रवृद्धि प्रकुर्वन्ति दिक्समूहस्य ये बुधा । अतीचारो भवेत्तेषा प्रमादाज्ञातलोभत ॥ २० ॥ यो दिग्विरतिभूमीना धत्ते विस्मरण शठः । व्यतीपात श्रयेत्सोऽपि पापसन्तापदु.खदम् ॥२१॥ व्यतीपातविनिष्क्रान्त दिग्विरतिव्रत दृढम् । भजेच्च परलोकार्थं दयार्थं च शुभप्रदम् ॥२२॥ गुणव्रत द्वितीयं ते व्याख्यायेक गुणव्रतम् । वक्ष्ये धर्माय चानर्थदण्डविरतिलक्षणम् ॥२३॥ मध्ये दिग्विरतेर्नित्य य करोति नरोत्तम । कारणेन विना पापत्याग तस्याऽपि तद्भवेत् ॥२४॥ अनेकभेदयुक्तस्यानर्थदण्डस्य साम्प्रतम् ।

कहता हूं। भावार्थ–बहुतसे भेद इन्हीं पांचोंमें अंतर्भूत हैं ॥२५॥ पापोपदेश, हिंसादान, दुराचरणोंको करनेवाला अपध्यान, कानोंको दूपित करनेवाली दुःश्रुति और प्रमादके वश रहनेवालोंकी प्रमादचर्या ये पांच अनर्थदंडके औत्सर्गिक वा मुख्य भेद हैं ॥ २६–२७ ॥ हाथी घोडे आदि तिर्यंचोंके बांधने, उनके खरीदने वेचनेके लिये, जीवोंकी हिंसा करनेके लिये, खेती आरंभ आदिके वचन कहनेके लिये, विवाहके लिये, झूठ चोरी परीग्रहके लिये, कुगुरु कुदेव आदिकी पूजा करने, पाप वढाने मिथ्यात्व सेवन करनेके लिये, घरके निंद्य व्यापार करनेके लिये, श्रेष्ठ धर्मकी क्रियाओंको रोकनेके लिये, धन कमानेके लिये, दीक्षा लेनेसे रोकनेके लिये, जो अज्ञानी जीव दूसरे लोगोंको उपदेश दिया करने है उसको भगवान जिनेंद्रदेवने पापोपदेश नामका पहिला अनर्थदंड कहा है ॥ २८–३१ ॥ जो मूर्ख लोगोके द्वारा पापरूप उपदेश दिया जाता है उसको विद्वान लोग दुःख देनेवाला पापोपदेश अनर्थदंड कहते हैं ॥ ३२ ॥ विद्वान् लोगोंको धर्मोपदेश छोडकर अपने वा दूसरेके लिये दुःखका सागर ऐसा पापोपदेश कभी नहीं देना चाहिये ॥ ३३ ॥ इसका भी कारण यह है कि जो उन पापोंको करता है या उनका उपदेश देता है, या उनमें अपनी सम्मति देता है उन सव मूर्खोंके एकसा पाप लगता है ॥ ३४ ॥ इसलिये हे मित्र ! तू सदा धर्मोपदेशकर। कंठगत प्राण होनेपर भी पापोपदेश मतकर पापोपदेशका सर्वथा त्यागकर ॥३५॥

तलवार आदि सव प्रकारके शस्त्र, कुदाल, कुठार, लकड़ी, रस्सी, अग्नि, सांकल, जो जो बैल घोडा आदि

पञ्चभेदान् प्रवक्ष्यामि वृथा पापप्रदायकान् ॥२५॥ आद्य पापोपदेशश्च हिंसादान भवेत्तत । अपध्यान दुराचार दु श्रुति , श्रुतिदूषित.॥२६॥ जिनै. प्रमादचर्यापि प्रमादवशवर्तिनाम् । उत्सर्गात्पचभेद चानर्थदड व्रत मतम् ॥ २७ ॥ तिर्यग्हस्त्यश्वबधादौ क्रयविक्रयकारणे । सत्त्वहिंसादिके कृष्यारम्भादौ वचनादिके ॥२८॥ विवाहविषयेऽसत्यस्तेयादौ च परिग्रहे । कुदेवे कुगुरौ पापमिथ्यात्वादिप्रप्रेरणे ॥२९॥ गृहव्यापारसावद्ये सद्धर्मादिनिवारणे । द्रव्यार्जननिमित्ते च प्रवृज्यादिनिषेधने ॥३०॥ दीयते उपदेशो यो चान्येषा वा वुधैर्नरै । पापोपदेश उक्तोऽय जिननाथेन पापद ॥३१॥ शठै पापादियुक्तो य उपदेशोऽत्र दीयते । निरूपित' बुधै पापोपदेश सकलोपि स ॥३२॥ मुक्त्वा धर्मोपदेश च हित स्वस्य परस्य च । न दातव्यो वुधै पापोपदेशो दु खसागर ॥३३॥ यत. करोति यः पापमुपदेश ददाति य' । अनुमन्ये तयोर्मूढ. सर्वेषा तद्भवेद्ध्रुवम् ॥३४॥ तस्मात्त्व कुरु भोमित्र ! नित्य धर्मोपदेशनम् । त्यज पापोपदेश च प्राणै कठगतैरपि ॥३५॥ खड्गसर्वायुधान्येव खनित्रादिकमजसा । कुठारो यष्टिका रज्वाद्यग्निश्रृखलिकादिकम् ॥३६॥ शकटे वा वलीवर्दे घोटके वधकारणम् ।

पशुओके मारने वा बांधनेके कारण हो, जो जो हिंसाके उपकरण हो, चक्की, उखली, चूलि, बुहारी आदि पाप उत्पन्न
करनेवाले हो तथा विष आदि और भी जो जो जीवोके घातक हो उन सबका दूसरोंके लिये देना हिंसादान
कहलाता है। क्योकि ये सब कर्मोके बंधका कारण है ॥ ३६–३८ ॥ मूर्ख लोग जीवोंको दुःख देनेवाले, बाधा
पहुंचानेवाले जो जो पदार्थ दूसरोको देते हैं वह सब गौतमादि देवोने हिंसादान कहा है ॥ ३९ ॥ गृहस्थोंको महा
हिंसा करनेवाला लोह आदिका व्यापार भी नही करना चाहिये क्योंकि ऐसा व्यापार सब अशुभ है और पाप उत्पन्न
करनेवाला है ॥ ४० ॥ हिंसा और जीवोका विध्वंस करनेवाला लोहा आदि कही नहीं लेजाना चाहिये। क्योकि
उस लोहेसे पाप उत्पन्न करनेवाले शस्त्र आदि बन सकते हैं ॥ ४१ ॥ विवेकी पुरुषोको पाप उत्पन्न करनेवाला मधु वा
शहत नही लेना चाहिये क्योकि वह अनेक जीवोकी हिंसासे उत्पन्न होता है और अनेक जीवोंसे भरा रहता है ॥ ४२ ॥
अदरख आदि कंदमूल भी अनेक जीव उत्पन्न करनेवाले व महा पाप प्रकट करनेवाले हैं इसलिये उनका व्यवसायकर धन
कमाना भी उचित नही है ॥ ४३ ॥ तिल आदि ऐसे धान्य जोकि कीड़ोंके घर हैं नहीं भरने चाहिये और न ऐसे धान्योंका
तेल निकलवाना चाहिये क्योकि ऐसे धान्योंका तेल निकलवानेसे अनेक जीवोंका विनाश होता है ॥ ४४ ॥ अपनी कीर्ति
बढानेके लिये भी बावड़ी कूआ तलाव आदि भी नही बनवाना चाहिये। क्योंकि इन सबका बनवाना पाप उत्पन्न करने-
वाला और अनेक पचेंद्रिय जीवोका घात करनेवाला है ॥ ४५ ॥ गृहस्थोंको अपने घरके कामोके लिये भी वृक्षोंको नही
कटवाना चाहिये। क्योकि वृक्षोका कटवाना अनेक पापोंको उत्पन्न करनेवाला, दुःखोंका घर और अनेक जीवोका नाश कर-

---

हिंसोपकरणं कृत्स्नं सर्वे सूना हि पापदा ॥३७॥ यत्किंचिद्धिंसकं वस्तु परेषां दीयते शठेः। हिंसादानं जिनैरुक्तं तत्सर्वं वधकारणम् ॥३८॥
यज्जीवबाधकं मूढैरन्येषां वस्तु दीयते। हिंसादानं च तत्सर्वं प्रणीतं गौतमादिभिः ॥ ३९ ॥ गृहस्थैर्नैव कर्तव्यो व्यवसायोऽतिपापदः।
महाहिंसाकरो दक्षैर्लोहादिजनितोऽशुभः ॥४०॥ क्वचिल्लोहं न नेतव्यं वधविध्वंसकारणम्। आयुधादिकरं पापगेहं द्रव्याय सज्जनैः ॥४१॥
मधु पापाकरं नैव गृहीतव्यं विवेकिभिः। जीवहिंसादिसंजातं बहुसत्त्वसमाकुलम् ॥ ४२ ॥ शृंगवेरादिका कंदाः सत्त्वानन्तसमुद्भवाः।
महापापप्रदाः दक्षैः स्वीकर्तव्या धनाय न ॥ ४३ ॥ तिलान्नीत्वा न दातव्या कीटाढ्या धनहेतवे। तेषां तैलं न कार्यं च नरैर्जीवविनाशकम्
॥४४॥ वापीकूपतडागादि न कर्तव्यमघप्रदम्। पञ्चेन्द्रियादिजंतूनां घातकं कीर्तिसिद्धये ॥४५॥ छेदं कार्यं न वृक्षाणां गृहस्थैर्गृहहेतवे।

नेवाला है ॥ ४६ ॥ अपना घर बनवानेके लिये भी गृहस्थोंको ईंटे नहीं पकवाना वा बनवाना चाहिये। क्योंकि ईंटोंका बनवाना वा पकवाना त्रस स्थावर सब जीवोंकी हिंसा करनेवाला और पापोंका सागर है ॥ ४७ ॥ उत्तम पुरुषोंको बरसातके दिनोंमें द्रव्य कमानेके लिये गाडी लेकर नहीं जाना चाहिये क्योंकि बरसातमें गाड़ी ले जानेमें अनेक जीवोंकी हिंसा होती है ॥४८॥ बहुत दिनके रक्खे हुए मक्खनमें अनेक त्रस जीव भरे रहते हैं। इसलिये चतुर पुरुषोंको उसका घी नहीं बनवाना चाहिये। क्योंकि यह कार्य भी परलोकमें पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥ ४९ ॥ इसीप्रकार अनेक त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाले गुड, पुष्प, लाख, मृगचर्म, वस्त्र धोनेकी सामग्री, कीड़ोंसे भरे हुए पशु सेवक आदि तथा और भी जो जो पाप उत्पन्न करनेवाले, जीवोंकी हिंसा करनेवाले, निंद्य और सज्जन पुरुषोंके द्वारा वर्जित पदार्थ हैं वे सब पदार्थ द्रव्य कमानेके लिये विवेकी पुरुषोंको नहीं लेजाना चाहिये और अहिंसाव्रतको शुद्ध रखनेके लिये न ऐसे पदार्थ किसी दूसरेको देने चाहिये ॥५०–५२॥ जो पुरुष अत्यन्त लोभी हैं तथा हिंसा करनेवाले पदार्थोंका व्यापार करते हैं, पाप-कर्मके उदयसे उनके घर रहनेवाली लक्ष्मी भी अपनेआप चली जाती है और वे दरिद्रताके सन्मुख होजाते हैं ॥५३॥ जो न्यायमार्गमें रहकर काम करते हैं और जिन्होंने लोभको अपने हृदयसे निकालदिया है ऐसे मनुष्योंके उत्तम आचरण करनेसे और पुण्यकर्मके उदयसे लक्ष्मी अपने आप आजाती है ॥ ५४ ॥ यही समझकर दरिद्री गृहस्थोंको भी धन वा द्रव्य कमानेके लिये निंद्य पदार्थोंको स्वीकार नहीं करना चाहिये ॥ ५५ ॥ अपनी कीर्ति बढानेके लिये, लोभके लिये वा अपनी प्रतिष्ठा

असंख्येन प्रद दुःखधाम मत्स्यवत्राकरम् ॥४६॥ इष्टादिकं विधेयं न मनुष्यैर्धर्मासिद्धये। स्थावरत्रससर्वासु क्षयदं दुरितार्णवम् ॥ ४७ ॥ द्रव्याय शकटं नीत्वा न गन्तव्यं नरोत्तमैः। ग्रामादौ हि चतुर्मासे महीसत्त्वाकुले क्वचित् ॥ ४८ ॥ नवनीतादनल्पान्हि स्थितात्त्रसभृतात्। काराप्य न घृतं दक्षैः परगेहेऽशुभप्रदम् ॥४९॥ त्रसाढ्यं गुडपुष्पं च लाक्षाचर्मादिकं तथा। वस्त्रादिशोधनं वस्तु द्विपदं च चतुष्पदम् ॥ ५० ॥ कीटादिसभृतं पञ्च पापाढ्यं हि क्रयाणकम्। जीवहिंसाकरं लोके निंद्यं च साधुदूषितम् ॥५१॥ तत्सर्वं द्रव्यलोभाय न नेतव्यं विवेकिभिः। न दातव्यं परेषां चाहिंसादिव्रतशुद्धये ॥५२॥ लक्ष्मीर्गृहात्स्वयं याति कुक्रियाणकसंग्रहात्। लोभातुरस्य पापेन दारिद्र्यं सन्मुखायते ॥५३॥ उत्तमाचरणात्सच्छ्रीश्चायाति पुण्यतो नृणाम्। न्यायमार्गरतानां हि लोभादित्यक्तचेतसाम् ॥५४॥ इति मत्वा जनैर्निंद्यं ग्राह्यं नैव क्रयाणकम्। द्रव्यार्थं धनलाभाय दारिद्र्याद्यपि पीडितैः ॥५५॥ ख्यातिलोभातिमानेन हिंसाकारकवस्तु यत्। तत्सर्वं हि न दातव्यं बुधैः प्राणात्यये क्वचित्

प्रगट करनेके लिये कंठगत प्राण होनेपर भी हिंसा करनेवाले पदार्थोंको कभी नहीं देना चाहिये क्योंकि इनका देना हिंसादान है ॥ ५६ ॥

मूर्खलोग जो राग अथवा द्वेषसे दूसरोंके वध बंधनका, उच्चाटन, मारण वशीकरण आदिका, शोक क्लेश महा दुःख देने आदिका, दूसरेके भोगोपभोगके पदार्थोंके हरण करने वा परस्त्रीके हरण करनेका अथवा किसीके द्रव्य मारनेका चितवन करते हैं उसको अपध्यान कहते हैं ॥५७–५८॥ दूसरे मनुष्योंका जो कुछ पापरूप चितवन करना है अथवा दूसरोंको दुःख देनेके कारणोंका चितवन करना है, और दूसरोंके अहितका चितवन करना है वह सब नरकमें पटकनेवाला अपध्यान वा कुध्यान है ॥ ५९ ॥ जो दुष्ट व्यर्थ ही अपध्यान करता रहता है वह महा पाप इकट्ठेकर अंतमें नरकरूपी कूएमें पडता है ॥ ६० । इसलिये हे भव्य! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये स्वर्गरूपी घरके आंगनके समान धर्मध्यान धारणकर और दुःखसे उत्पन्न होनेवाले अपध्यानका त्याग कर ॥ ६१ ॥

जो द्रव्य कमानेकी, व्यापार, खेती आरंभ आदि करनेकी, घर बनाने आदि शिल्पशास्त्रकी, पशुओंके पालन करनेकी, युद्ध वर्णन करनेकी, मिथ्या एकांत मतके पुष्ट करनेकी, वशीकरण विद्वेषकरण आदिके कारणोंकी. कुधर्म, कुशास्त्र, कुदेव, कुगुरुकी, कुसंस्कारकी और राग प्रगट करनेकी कथाएं कही वा सुनी जाती हैं और जिन्हें मूर्खलोग ही कहते वा सुनते हैं उसे दुःश्रुति कहते हैं। यह दुःश्रुति अनेक पाप और दुःख देनेवाली और स्वर्ग मोक्षरूपी घरको बंद करनेके लिये अर्गलके समान है ॥६२–६५॥ जो अज्ञानीलोग राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा, स्त्रीकथा आदि विकथाओंको सुनते हैं वह

॥५६॥ वधबंधादिके द्वेषादुच्चाटनकदनके । शोकक्लेशमहादुःखे रागाद्रोगादिवस्तुपु ॥५७॥ परदारादिसंयोगे द्रव्यादिहरणे च यत् । चिन्तनं क्रियते मूढैरपध्यानं च तद्भवेत् ॥५८॥ यत्किंचिच्चिंतनं पुंसां पापाढ्यं दुःखकारणम् । अहितं स्वान्ययोस्तद्धि कुध्यानं स्याच्च श्वभ्रदम् ॥५९॥ अपध्यानं करोत्येव योऽति दुष्टो वृथा भवे । महाघसंग्रहं कृत्वा श्वभ्रकूपे पतिष्यति ॥ ६० ॥ तस्मादादाय सद्धर्मध्यानं स्वर्गगृहाङ्गणम् । दुर्ध्यानं दुःखसंजातं त्यज त्वं मुक्तिहेतवे ॥ ६१ ॥ द्रव्यार्जनस्य वाणिज्यकृष्यारम्भकरस्य च । गृहादिशिल्पशास्त्रस्य पश्वादिपोषणस्य च ॥६२॥ संग्रामवर्णनस्यापि मिथ्यैकान्तमतस्य च । वशीकरणविद्वेषहेतुभूतस्य प्रत्यहम् ॥६३॥ कुधर्मस्य कुशास्त्रस्य कुदेवस्यागुरोस्तथा । कुशृंगारस्य रागाढ्याकरस्य दुःश्रुते स्फुटम् ॥६४॥ या कथा श्रूयते मूढैरेनोदुर्गतिदुःखदा । दुःश्रुतिः सा जिनैः प्रोक्ता स्वर्गमुक्तिगृहार्गला

भी स्वाध्यायसे रहित दुःश्रुति ही है ॥६६॥ ऐसी दुःश्रुतिरूप कथाओंके सुननेसे मिथ्याज्ञान होता है, मिथ्याज्ञानसे रागद्वेष आदि विकार उत्पन्न होते हैं, विकारोंसे पाप होता है, पापोंसे नरकमें पडता है और नरकोंमें अनेक प्रकारके दुःख सहने पडते हैं ॥ ६७ ॥ जो अज्ञानी इन विकथाओंको कहता है और जो इनको सुनता है उन दोनोंको नरक और तिर्यग्गतिके दुःख देनेवाला समान पाप लगता है ॥ ६८ ॥ इसलिये हे भव्य ! इन कुशास्त्रोंको पाप उत्पन्न करनेवाले और धूर्तोंके वनाये हुए जानकर और जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंको सुनकर किंपाकफलके समान अवश्य ही इनका त्यागकर देना चाहिये ॥ ६९ ॥

विना किसी प्रयोजनके पृथ्वी खोदना, वहुतसा पानी फैलाना, अग्नि जलाना, वायु करना, अपने हाथसे किसी वनको काटना, व्यर्थ ही घूमना, आना जाना, वा विना किसी कार्यके दूसरोंको आनेजानेकी प्रेरणा करना, इत्यादि जो अज्ञानी गृहस्थ प्रमादसे करते हैं उसको गणधरादि देव प्रमादचर्या नामका अनर्थदंड कहते हैं ॥ ७०–७२ ॥ अज्ञानी लोग जो विना किसी प्रयोजनके पापरूप कुछ भी क्रियाएं करते हैं उन सव क्रियाओंको प्रमादचर्या अनर्थदंड कहते हैं ॥७३॥ प्रमादचर्या अनर्थदंडसे जीवोंका घात होता है, जीवोंका घात होनेसे पाप होता है, पापसे नरक मिलता है और नरकोंमें जो वचनोंसे भी नहीं कहा जासके ऐसा घोर दुःख मिलता है ॥७४॥ यह श्रेष्ठ धर्म ही सुखका घर है और धर्मकी खानि है, यही समझकर इस श्रेष्ठ धर्मको धारण करनेके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये और दुःख देनेवाले और व्रतोंको भंग

॥६५॥ या काश्चिद् विकथा राजाचौरभुक्तादिजा वुधैः । श्रूयते दुःश्रुतिः सोऽपि सर्वस्वाध्यायवर्जिता ॥६६॥ कुज्ञानाद् द्वेषरागादि सर्वं संजायते ततः । पापं पापाच्च श्वभ्रं हि ततो दुःखं परं नृणाम् ॥६७॥ करोति विकथा यस्तु यः शृणोति विमूढधीः । द्वयोः पाप समानं स्यात् श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् ॥ ६८ ॥ इति मत्वा कुशास्त्रं च पापदं धूर्तनिर्मितम् । श्रुत्वा जिनोदितं शास्त्रं किंपाकफलवत्त्यज ॥६९॥ भूखननं वहुनीरक्षेपणं चाग्निज्वालनम् । वातप्रकरणं हस्ताद्वनशाखा प्रछेदनम् ॥७०॥ वृथा पर्यटनं लोके गमनागमनं तथा । प्रेरणं वा परस्यापि सत्कार्येण विनापि यत् ॥ ७१ ॥ गृहस्थैः क्रियते मूढैः प्रमादादिसमन्वितैः । प्राहुः प्रमादचर्यां च तामेव श्रीगणाधिपाः ॥७२॥ विना कार्यं शठैर्लोकैः काचिदाचर्यते क्रिया । पापाढ्या च प्रमादाख्या चर्या सर्वापि सा भवेत् ॥७३॥ प्रमादाज्जायते घातो घातादेनस्ततोऽगिनाम् । नरकं च ततो दुःखं दीर्घं वाचामगोचरम् ॥ ७४ ॥ यत्नं विधाय सद्धर्मे सुखागारं वृषाकरम् । त्यज प्रमादचर्यां सद्व्रतादिभग-

करनेवाले प्रमादचर्याका सर्वथा त्याग करदेना चाहिये ॥ ७५ ॥ ये पांचों ही अनर्थदंड विना ही कारणके दुःख देते हैं और पापोका संग्रह करते हैं इसीलिये बुद्धिमान लोग इनको अनर्थदंड कहते है ॥ ७६ ॥ ये पांचो ही प्रकारके अनर्थदंड समस्त पापोंको उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये मन वचन शरीरका निग्रहकर अपने वशमें कर प्रयत्नपूर्वक इनका त्याग करना चाहिये ॥ ७७ ॥ जो बुद्धिमान् अपने चारित्रकी प्रसिद्धिके लिये अतिचारोंको छोडकर इस अनर्थदंडविरति नामके व्रतको धारण करता है वह स्वर्गरूपी घरमें अवश्य पहुंचता है ॥ ७८ ॥

प्रश्न—हे भगवन् ! कृपाकर मुझे इस व्रतके सब अतिचारोका निरूपण कीजिये।

उत्तर—हे महाभाग ! सुन, मैं उन सब अतिचारोंको कहता हूं ॥ ७९ ॥ कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, और अतिप्रसाधन ये पांच अनर्थदंड व्रतके अतिचार कहे जाते हैं ॥ ८० ॥ जो रागपूर्वक हँसीसे मिले हुए अत्यंत निंद्य और भंड वचन कहे जाते हैं उन दुर्वचनोंको कंदर्प कहते हैं ॥८१॥ जो हँसी और भंडरूप दुर्वचनोंके साथ शरीरकी निंद्य और दुष्ट चेष्टा की जाती है उसको कौत्कुच्य कहते हैं ॥ ८२ ॥ जो विना ही कारणके धृष्टता पूर्वक वहुत वोलता है उसके मौखर्य नामका अतिचार लगता है ॥ ८३ ॥ जो मनुष्य हिताहितको विना सोचे समझे किसी कार्यको कर वैठता है उसके पाप और दुःख देनेवाला असमीक्ष्याधिकरण नामका अतिचार लगता है ॥ ८४ ॥ जो अज्ञानी भोगोपभोगकी सामग्रीको आवश्यकतासे अधिक इकट्ठी कर लेता है उसके अतिप्रसाधन नामका अतिचार लगता है ॥ ८५ ॥ हे भव्य !

दुःखदाम् ॥७५॥ कारणेन विनाऽनर्थं दुःखद पापसग्रह । करोत्येव ततोऽनर्थदड स उच्यते बुधे ॥७६॥ सर्वपापकर पचभेद चानर्थसज्ञकम् । त्यज यत्न विधायोच्चैर्मनोवाक्कायनिग्रहम् ॥७७॥ त्यक्त्वा सर्वानतीचारान् यो वृत्तादिप्रसिद्धये । भजेदनर्थदंडाख्यविरतिं गच्छेत्स्वर्गगृहम् ॥७८॥ भगवन्तोऽऽदिश मे कृत्वा कृपा सर्वव्यतिक्रमान् । महायश ! शृणु त्व ते व्यतीपाताश्च ब्रूमहे ॥ ७९ ॥ कदर्पो वत् कौत्कुच्य ततो मौखर्यमिष्यते । चासमीक्ष्याधिकरण त्वतिप्रसाधन भवेत् ॥८०॥ भडिमादिकरो रागोद्रेकाद्वा समन्वित. । योऽतिनिंद्यो हि दुर्वाक्यः कदर्पो हि स उच्यते ॥८१॥ प्रहासभडिमोपेत वक्ति दुर्वचन हि य· । दुष्टकार्यक्रियायुक्त कौत्कुच्य तस्य जायते ॥८२॥ धार्ष्ट्यं वहुप्रलापित्व ब्रूते य कारण विना । वचन तस्य लोकेस्मिन् मौखर्यातिक्रमो भवेत् ॥ ८३ ॥ कार्यं हिताहित किंचिद्योऽविचार्य करोति ना । लभेत सोऽसमीक्ष्याधिकरण दुःखपापदम् ॥८४॥ भोगोपभोगसख्याया योऽधिक च करोत्यधी· । भोगादिक भवेत्तस्य व्यतीपातो व्रतस्य वै ॥८५॥

व्रतोंको पालन करनेके लिये और स्वर्ग-मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिये अनेक भेदोंसे भरे हुए और व्यर्थ ही पाप उत्पन्न करनेवाले इन अनर्थदंडोका तू त्यागकर ॥ ८६ ॥

अब आगे गुण बढानेके लिये भोगोपभोग संख्यान नामके तीसरे गुणव्रतको कहते हैं। यह गुणव्रत कामेंद्रियको दमन करनेके लिये है ॥ ८७ ॥ जो बुद्धिमान लोग भोग और उपभोगोंकी संख्या नियत कर लेते हैं उसीको भगवान जिनेन्द्रदेव भोगोपभोग परिमाण नामका श्रेष्ठ व्रत कहते हैं ॥ ८८ ॥ पीनेके पदार्थ, भोजनके पदार्थ, तांबूल, गंध, पुष्प आदि जो पदार्थ एकवार काममें आते हैं उनको श्रीगणधरदेव भोग कहते हैं ॥ ८९ ॥ वस्त्र, आभूषण, शय्या, सवारी, घर, स्त्री, हाथी, घोडे आदि जो बार २ सुख देते हैं उनको विद्वान् लोग उपभोग कहते हैं ॥ ९० ॥ हे भव्य! तू अदरक आदि कंदमूलका भक्षण करना सर्वथा छोड दे क्योंकि वह पाप देनेवाला अनंतानंत जीवोंका समुदाय है इसलिये वह अभक्ष्य ही है ॥ ९१ ॥ उन अदरक आदि कंदमूलोंके विदारण करनेसे जहां एक जीवका मरण होता है वहीपर अनन्तानन्त जीवोंका मरण अवश्य होजाता है ॥ ९२ ॥ कंदमूलोंमें पानी और बीजका संयोग होनेसे जहां एक प्राणीकी उत्पत्ति होती है वहीं अनन्तानन्त जीवोंकी उत्पत्ति होजाती है ॥९३॥ ककड़ी आदि जिन फलोंमें सिरा संधिका निश्चय न हो वा गन्ना आदिकी गांठ हो उसमें अनन्तानन्त प्राणियोंका निवास रहता है ॥ ९४ ॥ तोडनेसे जिसका समान भाग होजाय (जिस प्रकार चाकूसे काटते हैं वैसा एकसा टुकड़ा होजाय) अथवा छिन्नभिन्न होजानेपर भी जो उग आवे पैदा होजाय ऐसे फल वा

अनेकभेदसंकीर्णं वृथा पापप्रदं त्यज। व्रतायानर्थदंडं च स्वर्गमोक्षसुखाप्तये ॥८६॥ भोगोपभोगसंख्यानं तृतीयं सद्गुणव्रतम्। कामेन्द्रियदमनार्थं वक्ष्ये च गुणहेतवे ॥ ८७ ॥ भोगस्यैवोपभोगस्य संख्यामाक्रियते बुधैः। तदेवाहुर्जिना भोगोपभोगाख्यं व्रतं शुभम् ॥ ८८ ॥ पानाशनादि ताम्बूलगंधपुष्पादिगोचरः। वारैक सुखदो भोग उक्तः श्रीगणनायकैः ॥८९॥ वस्त्राभरणसद्यानगृहस्त्रीतुरगादिजम्। उपभोगो बुधैर्ज्ञेयो मुहुर्मुहुः सुखप्रदः ॥९०॥ शृंगवेरादिकंदादिभक्षणं त्यज सर्वथा। अनन्तानन्तजीवानामभक्ष्यमिव पापदम् ॥९१॥ यत्रैको म्रियते जीवस्तत्रैव मरणं भवेत्। प्राणिनामप्यनन्तानामार्द्रकादिविघातनात् ॥ ९२ ॥ यत्रैको जायते प्राणी तत्रोत्पत्तिर्भवेद्ध्रुवम्। अनन्तांगिनां लोके च नीरबीजादियोगतः ॥९३॥ यत्र न ज्ञायते दक्षैः सिरा संधिश्च निश्चलम्। पर्वापि स्यान्नगादीनां तत्रानन्तांगिसंस्थितिः ॥९४॥ समभंगो भवेद्यस्तु छिन्नभिन्नः प्ररोहति। वृक्षः स एव विज्ञेय आगमेऽनंतकायिकः ॥ ९५ ॥ सर्षपेण समं कन्दं ये खादन्ति शठा ध्रुवम्।

वृक्ष अनन्तकायिक कहलाते हैं ॥ ९५ ॥ जो मूर्ख सरसोंके समान भी कंदमूल खाते हैं वे अनन्त जीवोंका भक्षण करनेके कारण मरकर परलोकमें अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करते हैं ॥ ९६ ॥ जो रोगी सुख प्राप्त करनेके लिये कंदमूलका भक्षण करता है वह अनेक प्रकारके रोगोंसे पीड़ित होकर नरकरूपी कूएँमें पडता है ॥ ९७ ॥ तिलके समान जरासे कंदमूलमें भी अनन्त जीवोंका निवास रहता है इसलिये जो मिथ्यादृष्टी उस कंदमूलका भक्षण करते हैं वे उन सब जीवोंको खा जाते हैं ॥ ९८ ॥ कंदमूल अनन्त जीवोंका पिंड है यह समझकर भी जो उसे भक्षण करते हैं वे अत्यन्त नीच हैं उन्हें कौनसे पाप लगेंगे अथवा उनकी कौनसी गति होगी इस बातको हम जान भी नहीं सकते ॥ ९९ ॥ इसलिये मनुष्योंको विषके समान सब तरहके कंदमूलका त्याग कर देना चाहिये क्योंकि उसमें अनन्त जीवोंकी राशि सदा उत्पन्न होती रहती है ॥ १०० ॥ नीम आदिके फूल भी अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरे हुए होते हैं तथा उनमें त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं उनके खानेसे सब तरहके पाप होते हैं इसलिये हे मित्र ! इनका शीघ्र ही त्यागकर देना चाहिये ॥ १०१ ॥ बुद्धिमानोंको पुण्य संपादन करने व जिह्वा आदि इंद्रियोंको दमन करनेके लिये पाप उत्पन्न करनेवाले पत्तोंवाले शाक व कीडोंसे भरे हुए पुष्प आदि सबको जानकर त्याग कर देना चाहिये ॥ १०२ ॥ विद्वानोंको जीवोंकी रक्षा करनेके लिये पाप उत्पन्न करनेवाले बेलकी गिरी जामुन छोटे बेर आदि सबका त्याग कर देना चाहिये ॥ १०३ ॥ बेंगन, तरबूज, कुंहडा (पेठा वा काशीफल) वा और भी जो कुछ लोकमें वा शास्त्रोंमें सदोष हों दूषित हों उन सबका त्याग कर देना चाहिये ॥ १०४ ॥ पुण्यवान मनुष्योंको पापोंसे डरनेके लिये और धर्म पालन करनेके लिये जिनमें दोष अदोषका संदेह हो ऐसे अजान फलोंका भी त्याग कर

दुर्गतिं यान्ति तेऽमुत्रानन्तजीवप्रभक्षणात् ॥९६॥ रोगादिपीडितो यस्तु अत्ति कन्दं सुखाप्तये । स रोगभाजनं भूत्वा श्वभ्रकूपे पतिष्यति ॥९७॥ तिलमात्रसमे कन्दे चानन्तजीवसंस्थितिः । तस्य भक्षणतो भुक्त्वा सर्वे जीवाः कुदृष्टिभिः ॥९८॥ योऽनन्तजीवसंयुक्तं ज्ञात्वा कन्दं च खादति । निकृष्टस्तस्य किं पापं का गतिर्वा न वेद्म्यहम् ॥९९॥ अतस्त्याज्यं नैरेरतत्कन्दमूलकदम्बकम् । हालाहलमिवानन्तजीवराशिसमुद्भवम् ॥१००॥ निम्बादिकुसुमं सर्वं सूक्ष्मसत्त्वसमाकुलम् । त्रसाङ्गिसम्भृतं मित्र ! सर्वपापाकरं त्यज ॥ १०१ ॥ पत्रशाकं त्यजेद्धीमान् पुष्पं कीटसमन्वितम् । ज्ञात्वा पुण्याय जिह्वादिदमनायाशुभप्रदम् ॥१०२॥ कीटाढ्यं विल्वजम्ब्वादिबदरीनां फलं बुधः । त्यजेत्पापाकरं सर्वजीवरक्षादिहेतवे ॥१०३॥ वृन्ताकं हि कलिंगं वा कूष्माण्डादिफलं तथा । अन्यद्वा दूषितं लोके शास्त्रे वा वर्जयेत्सुधीः ॥१०४

देना चाहिये ॥ १०५ ॥ हे भव्य ! पापोंको दूर करनेके लिये मक्खनका भी त्याग कर देना चाहिये क्योंकि मक्खन भी अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरा हुआ है, महा निंद्य है अनेक दोषोंको उत्पन्न करनेवाला है और नरकके दुख देनेवाला है ॥१०६॥ विना कतरी हुई साबूत सुपारी छुहारे आदि फलोंमें भी जीव रहते हैं इसलिये अभक्ष्य पदार्थोंका त्याग करनेके लिये विवेकी पुरुषोंको ऐसे फलोंका भी सदाके लिये त्यागकर देना चाहिये ॥१०७॥ जो नीच कीडोंसे भरे हुए साबूत फलोंको खाता है वह अनेक कीडोंको खा जानेके कारण मांस भक्षीके समान समझा जाता है ॥ १०८ ॥ पापोंसे डरनेवाले बुद्धिमानोंको दो दिनसे ऊपरके दही और छाछका त्याग कर देना चाहिये क्योंकि दो दिनके बाद उसमे अनेक एकेंद्रिय दो इन्द्रिय जीव उत्पन्न होजाते हैं ॥ १०९ ॥ पापोंसे डरनेवाले मनुष्योंको सुख प्राप्त करनेके लिये दो दिनके ऊपरका सब प्रकारका भोजन छोड देना चाहिये क्योंकि उसमें दो दिनके बाद एकेंद्रिय, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय आदि जीव उत्पन्न होजाते है ॥ ११० ॥ अग्निपर पका हुआ जो अन्न दुर्गंधयुक्त होगया हो उसका स्वाद विगड गया हो तो अभक्ष्य और अशुभ समझकर उसे भी छोड़ देना चाहिये ॥ १११ ॥ जो जिह्वा इंद्रियसे ताडित होकर अचार खाते हैं वे उसमें पडनेवाले अनेक कीडोंका मांस खानेके कारण नीच लोगोंके समान समझे जाते हैं ॥ ११२ ॥ हे मित्र ! प्राणोका नाश होनेपर भी अचार नहीं खाना चाहिये और जिसपर सफेदी आजाती है ऐसी फूली हुई चीज भी अनेक कीडोंसे भरी हुई होती है इसलिये वह भी नहीं खानी चाहिये क्योंकि ऐसे पदार्थोंका खाना भी नरक और तिर्यंचगतिके दुःखोंका कारण है

अज्ञातादिफल दोषादोषसशयद त्यजेत् । धर्माय पापसत्रस्तो वर वा पुण्यधी पुमान् ॥१०५॥ सूक्ष्मजीवभृत श्वभ्रे नवनीत कुदुःखदम् । दोषाकर महानिंद्य जहि त्व पापहानये ॥१०६॥ पुगीफलादिसर्वं चाभग्न जीवसमन्वितम् । अभक्ष्यपरिहारार्थं त्याज्य नित्य विवेकिभि ॥१०७॥ अभग्न कीटसयुक्त फल भुक्ते हि योऽधम । आमिषाशीसमो ज्ञेय सोऽपि कीटादिभक्षणात् ॥१०८॥ दधितक्रादिक सर्वं त्यजेदूर्ध्वं दिनद्वयात् । सुधी पापादिभीतस्तु भृत द्व्येकेन्द्रियादिभिः ॥१०९॥ सर्वाशन न च ग्राह्य दिनद्वययुतै नरै. । एकाद्वित्रिसयुक्तमेनोभीतै सुखाप्तये ॥११०॥ स्वस्वादुपरिसत्यक्त दुर्गंधादिसमन्वितम् । अन्न तद्वन्हिसजात त्यजाखाद्यमिवाशुभम् ॥१११॥ अच्छानकं प्रखादन्ति जिह्वया दण्डिता हि ते । नीचजातिसमा ज्ञेयास्ते कीटामिषभक्षणात् ॥११२॥ अच्छानक नचादेय सुहृत प्राणात्ययेऽपि भो । पुष्पिकाकीटसछन्न श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् ॥११३॥ भक्षयन्ति शठा ये भो अन्नतक्रादिक स्थितम् । दिनद्वयेन कीटादिखादनान्नीचनृसमा ॥ ११४ ॥

॥ ११३ ॥ जो मूर्ख छाछमें अन्नको दो दो दिन रखकर (रावरी वा महेरी बनाकर) खाते हैं वे अनेक कीडोंको खा-जानेके कारण नीचोंके समान समझे जाते हैं ॥ ११४ ॥ जो जिह्वालंपटी मूर्ख अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करते हैं वे अपार पापभारके कारण परलोकमें नरकरूपी महासागरमें डूबते हैं ॥ ११५ ॥ मनुष्योंको विष मिला भोजन खालेना अच्छा, एक प्राणीको मार डालना अच्छा परंतु अनंत जन्मोंतक दुःख देनेवाले अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करना अच्छा नहीं ॥११६॥ यही समझकर श्रावकोंको धर्म और व्रतोंको शुद्ध रखनेके लिये अभक्ष्य फलोंका विष्टाके समान दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ॥ ११७ ॥ जो पदार्थ अपने लिये अनिष्ट हो अथवा ऊंटनीका दूध आदि अनुपसेव्य (जिसे सद्गृहस्थ सेवन न करते हो) हो ऐसे समस्त पदार्थोंका त्याग कर व्रत धारण करना चाहिये ॥ ११८ ॥ गणधर देवोंने गृहस्थोंको सुख पहुंचानेके लिये भोगोपभोगोंका त्याग करनेकेलिये यम और नियम बतलाये हैं। भोगोपभोगोंका जन्मपर्यंत त्याग करना यम है और कुछ दिनके लिये त्याग करना नियम है ॥ ११९ ॥ जो सदोष वा निर्दोष पदार्थ जन्म पर्यंतके लिये त्याग किया जाता है वह बुद्धिमानोको मोक्ष देनवाला यम कहलाता है ॥ १२० ॥ तथा धर्मपालन करनेके लिये जो भोगोपभोग पदार्थोंका महीना पंद्रहदिन दो महीना चार महीना वर्ष दिन आदिकी संख्या नियत कर त्याग किया जाता है वह स्वर्गकी संपदा देनवाला नियम कहलाता है ॥१२१॥ बुद्धिमान लोगोंको परलोकके सुख प्राप्त करनके लिये अपनी शक्तिको प्रगट कर भोगोपभोगके समस्त पदार्थोंमें यम नियम धारण करना चाहिये ॥ १२२ ॥ छहों रसोसे परिपूर्ण भोजन, पान, कुंकुम, पुष्प, तांबूल, गीत, नृत्य, ब्रह्मचर्य स्नान, आभूषण, वस्त्र, वाहन, शयन, आसन और सचित्त पदार्थोंकी संख्या

ये जिह्वालपटा मूढा अभक्ष्य भक्षयन्ति च । तेऽमुत्र पापभारेण मज्जन्ति नरकार्णवे ॥११५॥ वर विषाशन नृणा वरैकप्राणनाशनम् । न भक्षणं भवानन्तजन्मदु खविधायकम् ॥११६॥ मत्वा सदा फल त्याज्यमभक्ष्य श्रावकोत्तमै । धर्मव्रतादिशुद्ध्यर्थममेध्यमिव दूरतः ॥११७॥ अनिष्ट यद्भवेत्स्वस्यानुपसेव्य हि वस्तु यत् । उष्ट्रादुग्धादिक तच्च सर्वं त्यक्त्वा व्रतं कुरु ॥ ११८ ॥ यमश्च नियम प्रोक्तो योगादीनां गणाधिपै. । याव ज्जीवेतरेणैव गृहस्थस्य सुखाप्तये ॥११९॥ यावज्जीव त्यजेद्वस्तु किंचिद्वस्त्वादिकं बुध । सदोष निर्दोष वा भजेन्निर्वृतिदं यमम् ॥१२०॥ भोगादिक त्यजेद्वस्तु मासवर्षादिसंख्यया । धर्माय नियमं सोऽपि श्रयेन्नाकगृहागणम् ॥ १२१ ॥ यम वा नियम कुर्यात्सु-धीर्भोगादिवस्तुषु । स्वशक्ति प्रकटीकृत्य परलोकसुखाप्तये ॥१२२॥ भोजने षट्रसे पाने कुंकुमादिविलेपने । पुष्पताम्बूलगीतेषु नृत्यादौ

नियत कर प्रतिदिन उन सबका प्रमाण नियत कर लेना चाहिये ॥ १२३-१२४ ॥ मुहूर्त, दिन रात्रि, पक्ष महीना छह-महीना आदिका नियम लेकर भोगोपभोगोंकी मर्यादा नियत कर लेनी चाहिये ॥ १२५ ॥ भोगोपभोगोंकी संख्या नियत कर लेनेसे मन और इंद्रियां वशमें होजाती हैं और मनुष्योंको तृष्णा, क्रोध, लोभ आदि सब विकार वा अंतरंग शत्रु नष्ट हो जाते हैं ॥१२६॥ भोगोंमें संतोष धारण करनेसे मनुष्योंको संतोषजन्य सुख प्राप्त होता है, कीर्ति और प्रतिष्ठा बढती है तथा भोगोपभोगोंकी अनेक संपदाएं प्राप्त होती हैं ॥१२७॥ ज्ञानी पुरुषोंको भोगोपभोगोंका परिमाण नियत कर लेनेसे इस संसारमें आनन्द प्राप्त होता है, स्वर्गमोक्षका साधन महा धर्मध्यान प्रगट होता है तथा परलोकमें इन्द्र चक्रवर्ती आदिकी ऋद्धियां और विभूतियां प्राप्त होती हैं और तीनों लोकोंको क्षोभ उत्पन्न करनेवाला तीर्थंकर पद प्राप्त होता है ॥१२८-२९॥ इसलिये बुद्धिमानोंको विधिपूर्वक भोगोपभोग पदार्थोंकी संख्या नियतकर लेनी चाहिये। विना व्रतोंके एक घडी भी कभी व्यतीत नहीं करनी चाहिये ॥१३०॥ जो नष्ट बुद्धिवाले नीच पुरुष भोगोपभोगोंकी संख्या नियत नहीं करते वे सदा समस्त पदार्थोंका भक्षण करते रहनेके कारण सज्जन लोगोंमें पशु माने जाते हैं ॥१३१॥ विना यम नियमके मूर्ख लोग दरिद्री होते हैं और तृष्णासे अनेक पापोंको उत्पन्न कर दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करते हैं ॥१३२॥ जो धनी पुरुष इच्छापूर्वक भोगोपभोग संपदाओंको ग्रहण करते हैं वे विना नियमके दरिद्री होकर दुर्गतिमें परिभ्रमण करते हैं ॥ १३३ ॥ जो गृहस्थ सन्तोषरूपी अमृतको पीकर भोगोंकी तृष्णाका

ब्रह्मचर्यके ॥१२३॥ स्नानभूषणवस्त्रादौ वाहने स शयनासने । सचित्तवस्तुसंख्यादौ प्रमाणं भज प्रत्यहम् ॥ १२४ ॥ भोगोपभोगमर्यादां व्रताना नियमं कुरु । मुहूर्तदिनसद्रात्रिपक्षमासायनादिभिः ॥१२५॥ भोगादिसंख्यया यान्ति वशं चित्तेन्द्रियादयः । पुंसां नश्यति तृष्णा च क्रोधलोभादिविद्विषः ॥ १२६ ॥ भोगसन्तोषतो नृणां सुखं सन्तोषजं भवेत् । ख्यातिपूजादिलाभं च बहुभोगादिसम्पदः ॥ १२७ ॥ आनन्दश्च महाधर्म्यध्यानं स्वर्गमुक्तिसाधनम् । इहामुत्र महत् ऋद्धिरिन्द्रचक्र्यादिगोचरा ॥१२८॥ त्रैलोक्यक्षोभकं तीर्थकरत्वं चापि जायते। भोगादिसंख्यया लोके सदा सज्ज्ञानचेतसाम् ॥१२९॥ तस्माद्भोगादिसंख्यानं कर्तव्यं विधिवद्बुधैः । व्रतशून्या न कर्तव्या चैकापि घटिका क्वचित् ॥१३०॥ भोगसंख्या न कुर्वन्ति येऽधमा नष्टबुद्धयः । पशवस्ते मताः सद्भिः सर्वभक्षणतो भृशम् ॥१३१॥ नियमेन विना मूढा दारिद्र्यादिसमन्विताः । तृष्णया पापमादाय दुर्गतिं यान्ति निश्चितम् ॥१३२॥ इच्छया येऽति गृह्णन्ति धनाढ्या भोगसम्पदः । ते नियमाद्विना प्राप्य दारिद्र्यं यान्ति दुर्गतिम् ॥ १३३ ॥ त्यजन्ति भोगतृष्णां ये पीत्वा सन्तोषनामृतम् । गृहस्था मुनितुल्यास्ते कीर्तिताः

त्याग कर देते हैं वे जैन शास्त्रोंमें मुनियोंके समान माने जाते हैं ॥ १३४ ॥ समस्त भोगोपभोगोंका त्याग कर देनेसे गृहस्थ भी मुनिके समान माना जाता है और भोगोकी इच्छा करता हुआ मुनि भी गृहस्थके समान नीच श्रेणीमें गिना जाता है ॥ १३५ ॥ हे विद्वन् ! यही समझकर तुझे धर्म मोक्ष और सुखकी प्राप्तिके लिये थोडेसे भोगोमें सन्तोष देनेवाली भोगोपभोगोंकी संख्या नियत कर लेनी चाहिये ॥ १३६ ॥ जो बुद्धिमान अतीचारोंको छोडकर भोगोंकी संख्या नियत करते हैं वे सोलहवें स्वर्गके सुख भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ १३७ ॥

प्रश्न—हे प्रभो ! मुझपर दयाकर उन भोगोपभोगपरिमाणके अतीचारोंको कहिये ।

उत्तर—हे भव्य ! तू चित्त लगाकर सुन, मै उन अतीचारोंको कहता हूं ॥ १३८ ॥ विषयानुपेक्षा, अनुस्मृति, अतिलौल्य, अतितृष्णा और अनुभव ये पांच भोगोपभोग परिमाणके अतिचार गिने जाते हैं ॥१३९॥ जो उपेक्षा त्याग वा उदासीनताको छोडकर आदर पूर्वक सदा भोगोपभोगोको भोगता रहता है उसके विषयानुपेक्षा (विषयोंसे उदासीन न होना) नामका अतिचार लगता है ॥१४०॥ जो मूर्ख विषयोंको भोगकर पीछेसे उनके सुख और सुंदरताका स्मरण करता है उसके अनुस्मरण नामका अतिचार लगता है ॥ १४१ ॥ जो अत्यन्त कामातुर और लोलुपी होकर उन भोगोंका भोग करता है और अत्यन्त लोभके कारण फिर भी उनकी इच्छा करता हैं उसके अतिलौल्य नामका अतिचार होता है ॥१४२॥ अत्यन्त लोलुपताके कारण जो आगामी कालके लिये भी भोगोंकी इच्छा करता है उसके व्रतमें अतितृष्णा नामका अति-

श्रीजिनागमे ॥ १३४ ॥ गृहस्थो मुनिना याति सर्वभोगादिवर्जनात् । गृहस्थवन्नीचता नित्य मुनिस्तु भोगवाञ्छया ॥१३५॥ इति मत्वा त्वया धीमन् ! विधेया स्वल्पभोगदा । भोगोपभोगसत्सख्या धर्ममुक्तिसुखाप्तये ॥ १३६ ॥ अतीचारविनिर्मुक्ता भोगसख्या भजन्ति ये । गत्वा षोडशमे नाके क्रमायान्ति शिवालयम् ॥१३७॥ प्रभो ! मद्दया कृत्वा व्यतीपातान्निरूपय। शृणु भो ! एकचितेन वक्ष्येऽहं ते व्यतिक्रमान् ॥१३८॥ स्याद्विषयानुपेक्षा हि ततोनुस्मृतिरुच्यते । अतिलौल्य भवेच्चातितृष्णा चानुभवोंगिनाम् ॥१३९॥ य उपेक्षां परित्यज्य भुक्ते भोगाननारतम् । आदरात्तस्य जायेत चानुपेक्षाव्यतीक्रम ॥१४०॥ ये भुक्त्वा विषयान् पश्चाद्ध्येऽनुस्मरण शठ । अतीचारो भवेत्तस्य सुखसौंदर्यलक्षणम् ॥१४१॥ कामातुरोऽतिगृद्धो यो भुक्ते भोगान्पुनश्च तान् । इच्छेच्चपोऽतिलोभेन भजेद्व्रतव्यतिक्रमम् ॥१४२॥ भाविकालेपि भोगान् य. वांच्छत्यत्यन्तलोभत । अतितृष्णाव्यतीपातो व्रतस्य जायते पुन ॥१४३॥ भुक्ते भोगादिक योऽत्यासक्त्या काले यदा

चार लगता है ॥ १४३ ॥ जो अत्यन्त आसक्त होनेके कारण जब कभी असमयमें भी भोगोंका भोग करता है उसके भोगोपभोग परिमाण नामके गुणव्रतमें अनुभव नामका अतिचार लगता है ॥ १४५ ॥ जो गृहस्थ केवल काम पीडाको दूर करनेके लिये थोडेसे भोगोको सेवन करते है उनके ये अतीचार नहीं लगते ॥ १४५ ॥ जिस प्रकार चोर कोतवालकी मृत्यु चाहता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे विषयोंका सेवन करने है ॥ १४६ ॥ यह समस्त भोगोपभोगोंका परिमाण मोक्षके सुखका कारण है, पुण्यरूपी वनको वढानेके लिये प्रवल मेघ है, पापरूपी वृक्षको जलानेके लिये अग्नि है, अनंतसुखरूपी गुणका कारण है और स्वर्गकी सीढियोंके समान है इसलिये हे विद्वन्! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू भोग और उपभोगोका परिमाण सदाके लिये नियत कर ॥ १४७ ॥ हे भव्य जीव! यह भोगोपभोग परिमाण नामका व्रत समस्त गुणोंका समुद्र है, दोपरूपी वृक्षोंको जलानेके लिये अग्नि है, विद्वान् लोग भी इसकी सेवा करते हैं, स्वर्ग मोक्षका यह एक अद्वितीय कारण है, नरकरूपी घरको वंद करनेके लिये किवाड है, पाप तथा संतापोंको दूर करनेवाला है और गुणोसे परिपूर्ण है। इसलिये हे मित्र! तू मन वचन कायसे इस व्रतका पालन कर ॥१४८॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे तीनो गुणव्रतोंका निरूपण करनेवाला
यह सत्रहवा परिच्छेद समाप्त हुआ ।



तदा। गुणव्रतस्य तस्याप्यनुभवः स्यादतिक्रमः ॥४४॥ स्वल्प भोगादिक योऽपि सेवन्ते गृहमेधिनः । कामपीडा व्यथार्थं ते न लभन्ते व्यतिक्रमान् ॥ ४५ ॥ चौरो मृत्यु समीहेत कोट्टपालान् यथा तथा । सद्दष्टिर्विषयान् भुक्ते वृत्ताचरणयोगतः ॥ ४६ ॥ शिवसुखगृहमार्गं सर्वभोगस्य नित्य, शुभवनघनमेघ पापवृक्षव्रजाग्निम् । अतिसुखगुणहेतु स्वर्गसोपानभूत कुरु वुध परिमाण चोपभोगस्य मुक्त्यै ॥ १४७ ॥ सकलगुणसमुद्र दोषवृक्षानल वे, बुधजनपरिसेव्य नाकमोक्षैकमार्गम् । नरकगृहकपाट पापसन्तापदूर, भज मनुजगुणाढ्य सद्व्रत त्व त्रिधा भो ॥ १४८ ॥

इति श्रीभट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे गुणव्रतत्रयप्ररूपको नाम सप्तदशम परिच्छेद ।

अथ अठारहवां परिच्छेद ।

जो अनंतगुणोके सागर हैं जो गुणस्वरूप है जिनराज है और जिन्होने कर्मरूप शत्रुओकी सब संतान नाश कर दी है ऐसे श्री अरनाथ तीर्थकरको मै कर्मरूप शत्रुओको नाश करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ इसप्रकार गुणव्रतोंका निरूपणकर अब मै भव्य जीवोका उपकार करनेके लिये शिक्षाको संपादन करनेवाले शिक्षाव्रतोंको कहता हूं ॥२॥ देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और दानके साथ होनेवाला वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं ॥ ३ ॥ दशो दिशाओंकी मर्यादा नियतकर जो बुद्धिमान उसके बाहर नहीं जाते भीतर ही रहते है उनके श्रीजिनेन्द्रदेव देशावकाशिक व्रत कहते है ॥४॥ इस संसारमें जो दिनोंकी संख्या नियत कर उतने दिनोंके लिये दिग्व्रतका उपसंहार करना दिशाओंकी मर्यादा और घटा लेना देशावकाशिक व्रत कहलाता है ॥ ५ ॥ श्रीजिनेन्द्रदेव वन, घर, नदी, गांव, खेत, कोस, योजन आदिको देशावकाशिककी सीमा बतलाते है अर्थात् देशावकाशिक व्रतमें इनकी सीमा नियत करनी चाहिये अथवा कोस और योजनोके द्वारा सीमा नियत करनी चाहिये ॥ ६ ॥ श्रीजिनेन्द्रदेव इस देशावकाशिक व्रतकी दिन पक्ष महीना छह महीना एक वर्ष आदिको कालकी मर्यादा कहते है अर्थात कालकी अवधि नियत कर देशावकाशिक व्रत धारण करना चाहिये ॥ ७ ॥ जिसने अपने हृदयमें देशावकाशिक व्रत धारण कर लिया है उसके मर्यादाके बाहर मन वचन कायसे पांचो पापोंकी प्रवृत्ति नही होती इसलिये मर्यादाके बाहर समस्त जीवोंकी हिंसाका त्याग होजानेसे उसके अणुव्रत भी महाव्रतके

अथाष्टादशम सर्गः ।

अरतीर्थं गुण वन्दे अनन्तगुणसागरम् । नष्टकर्मारिसन्तान जिनेशमरिशान्तये ॥१॥ गुणव्रतानि व्याख्याय वक्ष्ये शिक्षाव्रतान्यहम् । उपकाराय भव्याना शिक्षासम्पादनानि च ॥२॥ देशावकाशिक पूर्वं तत. सामायिक भवेत् । सत्प्रोषधोपवासश्च वैयावृत्य सुदानजम् ॥३॥ मर्यादीकृत्य देशस्य मध्ये तिष्ठन्ति धीधना । बहिर्न च ततो गीत जिनैर्देशावकाशिकम् ॥४॥ देशावकाशिक लोके भवेदस्य हि तत्क्षणम् । दिनादिसख्यया सर्वं दिकुसहारोपशान्तये ॥५॥ वनदेशनदीग्रामक्षेत्रक्रोशादियोजनै. । देशावकाशिकस्यैव जिना सीमामुशन्ति वै ॥६॥ दिनादिपक्षमासैक ऋत्वयनाब्दगोचरा । कालावधिर्जिनैरुक्ता आद्यशिक्षाव्रतस्य भो ॥७॥ मर्यादा परतो न स्यात्पञ्चपापप्रवर्तनम् ।

लिये कल्पना किये जाते हैं। भावोंमें प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे उसके महाव्रत हो तो सकते नहीं पर मर्यादाके बाहर उसके कोई पाप भी नहीं होता इसलिये उसके अणुव्रत मर्यादाके बाहर महाव्रतके समान गिने जाते। ॥ ८-९ ॥ देशावकाशिक व्रतको धारण करनेवाले पुरुषके, सन्तोष धारण होता है, जीवोंकी दया करनेरूप महा पुण्यकी प्राप्ति होती है और तृष्णा लोभ आदि विकार सब उसके नष्ट होजाते हैं ॥ १० ॥ इसलिये हे मित्र ! धर्म धारण करनेके लिये और व्रतोंको पालन करनेके लिये चंचल परिणामोंको छोड़कर कालकी मर्यादा कर तथा घर आदिकी सीमा नियतकर तुझे यह देशावकाशिक व्रत अवश्य धारण करना चाहिये ॥ ११ ॥ जो मनुष्य समस्त अतिचारोंको छोडकर इस देशावकाशिक व्रतको धारण करते हैं उनके घरके आंगनमें स्वर्गकी लक्ष्मी अपनेआप आजाती है ॥ १२ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! कृपाकर देशावकाशिक व्रतके अतिचारोंको निरूपण कीजिये।

उत्तर—हे वत्स ! सुन, अब मैं इस व्रतके पांचों अतिचारोंको कहता हूं ॥ १३ ॥ प्रेषण, शब्द, आनयन, रूपाभिव्यक्ति, और पुद्गलक्षेपण, ये पांच अतिचार देशावकाशिकके कहलाते हैं ॥ १४ ॥ जो स्वयं मर्यादा किये हुए देशके भीतर रहकर भी मर्यादाके बाहर किसी दूसरेको भेजता है उसके प्रेषण नामका पहिला अतिचार लगता है ॥ १५ ॥ जो मनुष्य मर्यादाके भीतर रहता हुआ भी काम करनेवालोंको मर्यादाके बाहर देखकर उनको काम लगानेके लिये या भीतर बुलानेके लिये खकारकर या और किसी प्रकारके शब्दोंका इशारा करता है वह भी दोषी ही है अर्थात् उसके शब्द नामका दूसरा अतिचार लगता है ॥ १६ ॥ अपनी नियत की हुई मर्यादाके बाहर रक्खे हुए पदार्थोंको अपने किसी कामके लिये किसी

मनोवाक्काययोगेन व्रताधिष्ठितचेतसा ॥८॥ तस्मान्महाव्रतायेव कल्पन्तेऽणुव्रतान्यपि। प्रमाणतो बहिर्भागे नृणा घातादिवर्जनात् ॥ ९ ॥ सन्तोष स समाधत्ते पुण्यं जीवदयादिकम्। आशालोभादिनाश च धत्ते देशव्रती गृही ॥१०॥ चचलत्व परित्यज्य कुरु देशावकाशिकम्। कालादिसख्यया मित्र ! सद्धर्माय व्रताय च ॥११॥ त्यक्त्वा सर्वानतीचारान् ये देशविरतिं नराः। कुर्वन्ति च भवेत्तेपा स्वर्गलक्ष्मीर्गृहागणे ॥१२॥ स्वामिनो मे व्यतीपातान् सदिशश्च व्रतस्य वै। वक्ष्येऽह शृणु ते वत्स ! व्रतपचव्यतिक्रमान् ॥१३॥ प्रथम प्रेषण शब्दो भवेच्चानयन तत। रूपाभिव्यक्तिरप्येव पुद्गलक्षेप एव हि ॥ १४ ॥ यो मर्यादीकृते देशे स्वय स्थित्वा ततो बहिः। अन्यस्यप्रेषण दत्ते व्यतीचार लमेत् स ॥१५॥ सख्यादेशाद्बहिर्दृष्ट्वा यो ना कर्मकरान् प्रति। खात्करणादिक चक्रे कार्यार्थं सोऽपि दोषभाक् ॥१६॥ तद्देशाद्बहिरन्य-

मनुष्यके द्वारा मगाना आनयन नामका अतिचार है ॥ १७ ॥ अपनी नियत की हुई मर्यादाके भीतर रहकर भी काम करनेवालोको अपना रूप दिखाकर उनसे कोई काम लेना रूपाभिव्यक्ति नामका अतिचार है ॥१८॥ जो मर्यादाके भीतर रहकर भी मर्यादाके वाहर ईंट पत्थर ढेले आदि फेंककर उनके इशारेसे अपने सेवकोंसे वा अन्य किसीसे काम कराना पुद्गलक्षेपण नामका अतिचार है ॥ १९ ॥ जो नियत की हुई मर्यादाके वाहर न तो किसीको भेजता है न वाहरसे कुछ मंगाता है और न किसी प्रकारका इशारा करता है उसके व्रतमें कोई दोप नहीं लग सकता ॥ २० ॥ यही समझकर हे भव्य ! व्रतोंको पालन करनेके लिये तू धर्मको वढानेवाले और पापोंको नाश करनेवाले इस देशावकाशिक व्रतको बड़े प्रयत्नसे पालन कर ॥ २१ ॥

इसप्रकार शिक्षाव्रत कह चुके। अव आगे व्रतोंके लिये और श्रावकोंकी विशुद्धता वढानेके लिये पापोंको नाश करनेवाले सामायिकको कहते हैं ॥ २२ ॥ यह धर्मध्यान और शुक्लध्यानको प्रगट करनेवाला सामायिक श्री जिनेंद्रदेवने नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावके भेदसे छह प्रकारका वतलाया है ॥ २३ ॥ जो वुद्धिमान् शुभ और अशुभोंके भेदोंको सुनकर रागद्वेषका त्याग कर देता है उसके नाम सामायिक होता है ॥ २४ ॥ जो शुभ और अशुभरूप चेतन तथा जड़ पदार्थोंको देखकर रागद्वेषादिकका त्याग करता है उसका वह स्थापना सामायिक कहलाता है ॥ २५ ॥ जो सुवर्ण मिट्टी आदि पदार्थोंमें समान भाव रखता है उसके द्रव्य सामायिक होता है। यह द्रव्य सामायिक समतावालेके ही होता है अन्य

स्मान्नराद्वस्त्वादिक हि य । आनापयति कार्यार्थे दोषमानयन भवेत् ॥१७॥ स्थित्वा मर्यादेशे यो विधत्ते रूपसञ्ज्ञया । कार्यं कर्मकराणा च व्यतीपात भवेद्ध्रुवम् ॥१८॥ सेवकेभ्योऽपि यत्कार्यं लोष्टादिक्षेपसञ्ज्ञया । कारापयति तस्यैव भवेद्दोषो व्रतस्य वै ॥१९॥ मर्यादादेशतो बाह्ये कारापयति यो जन । प्रेषणादीन्न तस्य स्यादतीचारो मनागपि ॥ २० ॥ इति मत्वा कुरु त्व भो देशावकाशिक सदा । प्रयत्नेन व्रतायैव धर्मद पापनाशनम् ॥ २१ ॥ उक्त शिक्षाव्रत चाथे वक्ष्ये सामायिक तत । सागाराणा विशुद्ध्यर्थं व्रतायाशुभघातकम् ॥२२॥ नाम सस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालेपु श्रीजिनै । उक्त सामायिक भावे षड्विध धर्मशुक्लदम् ॥२३॥ शुभेतरविकल्प य श्रुत्वा नाम कदम्बकम् । रागादिक त्यजेद्धीमान् नाम सामायिकं श्रयेत् ॥ २४ ॥ दृष्ट्वा शुभाशुभ रूप चेतनेतरज हि य । त्यजेद्रागादिक सस्थापना सामायिकं भजेत् ॥२५॥ लोष्टहेमादिद्रव्येषु समचित्त करोति य । द्रव्यसामायिक तस्य भवेन्नान्यस्य सर्वथा ॥२६॥ शुभेतरप्रदेश य सुखदुःखादि-

किसीके नही ॥ २६ ॥ जो किसी शुभ देशमें सुख पाकर और अशुभ देशमें दुःख पाकर रागद्वेषका त्याग कर देता है वह क्षेत्र सामायिक कहलाता है ॥ २७ ॥ जो शीतकालमें तथा उष्णकालमें समता धारण करते हैं किसी कालको भी सुख वा दुःख देनेवाला नहीं मानते उनके काल सामायिक होता है इसमें कोई संदेह नहीं ॥ २८ ॥ जो मित्र शत्रु आदिमें रागद्वेष छोड़कर समताभाव धारण करते हैं उनके भाव सामायिक होता है ॥ २९ ॥ जो रागद्वेष आदि सव विकारोंको छोडकर अपने हृदयको समस्त पापोंसे रहित वना लेता है और धर्मध्यान धारण करता है उसके समस्त सुखोकी खानि, स्वर्ग-मोक्षको देनेवाला और कर्मरूपी वनको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान सारभूत सामायिक होता है ॥३०–३१॥ वह सामायिक किसी गुफामें, वनमें, पर्वतपर, सूने मकानमें, जिनालयमें वा अपने घरमें जहां कि न तो अधिक शीत हो न अधिक उष्णता हो, जहांपर चित्तमें समता वनी रहे, जहांपर कठोर शब्द न होते हो, स्त्रियां न हो, पशु न हो, लोग न हों, मित्र न हों, जो ध्यानके योग्य एकांत स्थान हो और जहांपर डांस मच्छर कीडे आदि न हो ऐसे स्थानपर एक धोतीके (एक वस्त्रके) विना अन्य सर्व वाह्य परिग्रहोंका त्यागकर प्रोपधोपवास अथवा एकाशन करके अवश्य सामायिक करना चाहिये ॥ ३२–३४ ॥ उस समय शरीरको निश्चल रखना चाहिये, भोंह चलाना मुंह मटकाना आदि सवका त्याग कर देना चाहिये, मुखपर समताभाव प्रगट होना चाहिये, हाथसे इशारा करना आदि सवका त्याग कर देना चाहिये ॥ ३५ ॥ बुद्धिमानोंको जिनालय अथवा घरमें उत्तरकी ओर मुंहकरके हाथ जोडकर और स्वस्थचित्त होकर खडे होना चाहिये ॥ ३६ ॥ संकल्प विकल्प आदिका त्यागकर मनको स्थिर रखना चाहिये, घरकी चिंता सब छोड देनी चाहिये, तथा

सकुलम् । प्राप्य रागादिक हन्यात् क्षेत्रसामायिक भजेत् ॥२७॥ शीतोष्णादिषु कालेषु समता ये वितन्वते । कालसामायिक तेषा भवत्येव न सशय. ॥२८॥ त्यक्त्वा रागादिक योऽरिमित्रादिषु करोति ना । समताधिष्ठित भाव भावसामायिक श्रयेत् ॥ २९ ॥ स्वचित्त यो विधत्ते हि सर्वसावद्यवर्जितम् । त्यक्त्वा रागादिसदोह धर्मध्यानसमन्वितम् ॥३०॥ तस्य सामायिक सार भवेत्सर्वसुखाकरम् । स्वर्गमुक्तिकर कर्मकक्षदावानलोपमम् ॥३१॥ गह्वरादिवनाद्रौ वा शून्यागारे जिनालये । स्वगृहे तीव्रशीतादिवर्जिते चित्तसाम्यदे ॥३२॥ त्यक्तकर्कशशब्दस्त्री-पशुलोकादिके सुहृत् । एकान्ते ध्यानयोगे च दशकीटाद्यगोचरे ॥ ३३ ॥ एकवस्त्र विना त्यक्त्वा सर्वबाह्यपरिग्रहान् । प्रोषध चैकभक्त वा कृत्वा सामायिकं कुरु ॥३४॥ कृत्वा सुनिश्चल देह भ्रूविकारादिवर्जितम् । मुखादिसाम्यतापन्न त्यक्तहस्तादिसज्ञकम् ॥३५॥ उत्तराभिमुख

ध्यान और अध्ययनमें तत्पर रहना चाहिये ॥ ३७ ॥ उस समय बुद्धिमानोंको अपने हृदयमें धर्म संवेग और वैराग्य धारण करना चाहिये, रागद्वेप छोड देना चाहिये और सामायिक पाठके अर्थका चिंतवन करना चाहिये ॥३८॥ वाग्जाल, कठोर शब्द, विकथा आदिका त्याग कर देना चाहिये। सामायिक पाठको मधुर स्वरसे पढना चाहिये, स्वर अक्षर पदार्थ आदिका शुद्ध उच्चारण करना चाहिये, न जोरसे न धीरे पढना चाहिये, पाठके अक्षर न कम हो न अधिक हो। अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिये शुभ और शुद्ध पाठ पढना चाहिये ॥ ३९–४० सबसे पहिले ईर्यापथ शुद्धि करनी चाहिये और फिर दो घडीका नियम लेकर चैत्य भक्तिका पाठ पढना चाहिये ॥ ४१ ॥ फिर वस्त्रसे वा अन्य किसी पीछी आदि साधनसे पृथ्वीको शुद्धकर पंचांग वा अष्टांग नमस्कार करना चाहिये ॥ ४२ ॥ फिर खडे होकर आत्माको शुद्ध करनेवाला कायोत्सर्ग करना चाहिये अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेके लिये नौवार नमस्कार मंत्र पढना चाहिये ॥ ४३ ॥ आदि और अंतमें बृहत् नमस्कार करना चाहिये अर्थात् एक एक प्रणाम करना चाहिये और तीन तीन आवर्त करना चाहिये ॥ ४४ ॥ तदनंतर बुद्धिमानोंको चौवीस तीर्थकरोंकी स्तुति करनी चाहिये तथा इसके आदि अंतमें भी एक एक नमस्कार और तीन तीन आवर्त करने चाहिये ॥ ४५ ॥ सामायिक करनेवालोंको एक एक व्युत्सर्गमें (कायोत्सर्गमें जोकि आदि अंतमें किया जाता है) चार चार नमस्कार और वारह वारह आवर्त करने पडते हैं ॥ ४६ ॥ फिर चैत्यस्तवन कर पांचो परमेष्ठियोंका स्तवन

चैत्यगेहादौ चान्हिसस्थित । सामायिक सुधी स्वस्थो विदध्यात्करकुड्मलम् ॥३६॥ मनःस्थिर विधायोच्चै. सकलपादिविवर्जितम् । गृहचिन्तादिसत्यक्त ध्यानाध्ययनतत्परम् ॥ ३७ ॥ धर्मसंवेगवैराग्याधिष्ठित रागदूरगम् । सामायिकादिसूत्रस्य चार्थं सचितयेद्बुध' ॥ ३८ ॥ त्यक्त्वा वाग्जालदु'शब्दविकथादिकदम्बकम् । तीव्रादिध्वनिनिर्मुक्त त्यक्तहीनाधिक शुभम् ॥३९॥ स्वराक्षरपदार्थादिशुद्ध सामयिकस्य भो । मधुरादिस्वरेणैव पठ सूत्रं स्वशुद्धये ॥४०॥ कृत्वेर्यापथसंशुद्धिं द्वयादिघटिकाकिताम् । मर्यादा च विधायादौ चैत्यभक्ति भजस्व भो ॥४१॥ नमस्कार कुरु त्वं भो प्रतिलिख्य धरा शुभाम् । वस्त्रेणान्येन वा धीर' पञ्चागादिसमन्वितम् ॥४२॥ ऊर्ध्वीभूय पुनश्चैत्र कायोत्सर्गं विशुद्धिदम् । नमस्कारनवोपेत कुरु त्व भव्य मुक्तये ॥४३॥ आदावन्ते वृहन्नाम नमस्कारस्य त्व भज । एकैकं सत्प्रणाम च त्रितयावर्तसयुतम् ॥४४॥ चतुर्विंशतिलोकेशस्तवनस्यापि भो बुधाः। आदावन्ते नमस्कारं भजावर्तत्रयान्वितम् ॥४५॥ एकस्मिन्नेव व्युत्सर्गे नमस्कारचतुष्टयम् भवेयुः द्वादशावर्ता सामायिकवशात्मजाः ॥४६॥ चैत्यादिस्तवनं कृत्वा नु पंचपरमेष्ठिनाम्। कायोत्सर्गादिकं सर्वं कुरु लोकोत्तमात्मनाम् ॥४७॥

करना चाहिये। और फिर कायोत्सर्गादि समस्त क्रियाएं कर लोकोत्तम पांचों परमेष्ठियोंका स्तवन करना चाहिये ॥४७॥ हे भव्य! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सामायिक करते समय चित्तको एकाग्रकर आदरपूर्वक व्युत्सर्ग आदि सब क्रियाएं करनी चाहिये ॥ ४८ ॥ वैराग्य परिणामोंको बढानेके लिये, आत्माका कल्याण करनेके लिये, और संवेग धारण करनेके लिये अनित्य अशरण आदि अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन करना चाहिये ॥ ४९ ॥ यह शरीर अपवित्र है, संसार अनेक महा दुःखोंसे परिपूर्ण है और भोग नरकोंके दुःख देनेवाले हैं इसलिये शरीर संसार और भोगोंमें सदा विरक्त रहना चाहिये ॥ ५० ॥ छह द्रव्य और सातों तत्त्व सम्यग्दर्शनकी खानि हैं इसलिये हे भव्य! छहों द्रव्योंमें, सातों तत्त्वोंमें और सारभूत रत्नत्रयमें सामायिक करते समय सदा अपनी भावनाएं रखनी चाहिये ॥५१॥ आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान विचय ये चारों ही धर्मध्यान स्वर्गरूपी घरके आंगन हैं इसलिये सामायिकमें इन चारों धर्मध्यानोंको अवश्य धारण करना चाहिये ॥५२॥ सामायिक करते समय बुद्धिमानोंको ऐसा ही चिंतवन करना चाहिये जिससे इंद्रियां सब वशमें होजांय और मन निश्चल होजाय ॥५३॥ सामायिक करनेवाले धीरवीर पुरुषोंको प्रतिज्ञापूर्वक कातरलोगोंको भय उत्पन्न करनेवालीं शीत, उष्ण, दंशमसक आदि बाइसो परीषह सहन करनी चाहिये ॥५४॥ समताभावोंको धारण करनेवाले बुद्धिमानोंको तिर्यंच, देव मनुष्य और अचेतनोंके किये हुए तथा घोर दुःख देनेवाले उपसर्गोंको भी सहन करना चाहिये ॥५५॥ अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग और रोगसे उत्पन्न होनेवाले आर्तध्यान तथा निदानका भी त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि यह चारों प्रकारका आर्तध्यान तिर्यंच योनिका कारण है ॥ ५६ ॥ सामायिक करनेवाले पुरुषको हिंसानंद, स्तेयानंद, अनृतानंद और विषय

एकचित्तेन मुक्त्यर्थं भव्य आदरसंयुत। सुव्युत्सर्गादिकं सर्वं कुर्यात्सामायिकस्य वै ॥४८॥ विचिंतय त्वमनुप्रेक्षा अनित्याशरणादिका। वैराग्यादिविवृद्ध्यर्थं शर्मसंवेगमाकृथा ॥४९॥ देहसंसारभोगेषु वैराग्यं भावय स्फुटम्। अशुच्यातिमहादुःखश्वभ्रमार्गप्रदेषु भो ॥५०॥ षड्द्रव्य सप्ततत्त्वेषु सम्यक्त्वाद्याकरेषु च। भावना कुरु भो भव्य साररत्नत्रयादिषु ॥ ५१ ॥ आज्ञापायविपाकाख्य संस्थानविचयात्मकम्। धर्मध्यानं चतुर्भेदं भज स्वर्गगृहांगणम् ॥५२॥ येनाक्षाणि विलीयन्ते मनो भवति निश्चलम्। तदेव चिंतयेद्धीमान् स्थित सामायिके समे ॥५३॥ अति शीतोष्णदंशादिद्वाविंशति परीषहा। प्रतिज्ञानात्परैः धीरैः सोढव्या भीरुभीतिदा ॥५४॥ उपसर्गा हि सोढव्यास्तिर्यग्देवनृणा बुधैः। अचेतनादि जाताश्च दुःखदा समसंयुतैः ॥ ५५ ॥ अनिष्टेष्टप्रसंयोगे वियोगादिरुगादिजम्। तिर्यग्योनिकरं चार्तं निदान

संरक्षणानंद (हिंसामें आनंद मानना, झूठ बोलनेमें आनन्द मानना, चोरीमें आनन्द मानना और परिग्रहोंकी रक्षा करनेमें आनन्द मानना) इन चारों प्रकारके रौद्रध्यानोंका त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि ये चारो प्रकारके रौद्रध्यान नरकमें पटकनेवाले हैं ॥५७॥ आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों प्रकारके ध्यान अपध्यान है, महा पाप उत्पन्न करनेवाले हैं और निंद्य हैं इसलिये सामायिक करनेवाले पुरुषोंको घोर उपसर्ग होनेपर भी इनसे बचते रहना चाहिये-इनका त्याग कर देना चाहिये ॥५८॥ व्रतोंको निर्दोष पालन करनेके लिये सामायिक करनेवालोंको तत्त्वोंके चिंतवनका अवलम्बन लेकर धर्मध्यान आदिके द्वारा सामायिकके समयकी वृद्धि करनी चाहिये अर्थात् धर्मध्यान धारणकर अधिक समय तक सामायिक करनेका अभ्यास करना चाहिये ॥ ५९ ॥ सामायिक करते समय बाह्य अन्तरङ्ग परिग्रह नहीं होते और न आरम्भ इद्रियोंके विषय ही होते हैं तथा न कषाय ही होते है, अतएव सामायिकमें हिंसा आदि समस्त पापोंका त्याग होजानेके कारण उस समय गृहस्थोंके तेरह प्रकारका चारित्र होजाता है ॥६०-६१॥ सामायिक करता हुआ गृहस्थ समस्त परिग्रहोका त्याग कर देनेके कारण वस्त्रसहित मुनिके समान साधु अवस्थाको प्राप्त होजाता है ॥६२॥ यह गृहस्थ सामायिकके बलसे पहिलेके इकट्ठे किये हुए पापकर्मोका नाश करता है और नये कर्मोंको ग्रहण नहीं करता है ॥ ६३ ॥ सामायिक करनेवाला बुद्धिमान चित्तमें समता धारण करनेके कारण स्वर्ग राज्यका कारण ऐसा महापुण्य उपार्जन करता है ॥ ६४ ॥ जो भव्य जीव शुभ व्रतोंको करता हुआ सामायिक करता है वह सोलहवे स्वर्गकी संपदा पाकर मोक्षमें जा विराजमान होता है ॥ ६५ ॥

भव्य त्व त्यज ॥ ५६ ॥ हिंसानदानृतस्तेयार्थसरक्षणसभवम् । रौद्राख्य श्वभ्रद ध्यानं त्यजेत् सामायिकस्थ ना । महापापकरं निंद्य दुर्ध्यानद्वयमंजसा । घोरोपसर्ग सजाते त्याज्य सामायिकान्वितै ॥ ५८ ॥ धर्मध्यानादिसयोगैस्तत्त्वचिन्तावलम्बनै. । सामायिकादिकालस्य कुरु वृद्धिं व्रताय भो ॥ ५९ ॥ सामायिके न सन्त्येव बाह्येतरपरिग्रहा । आरम्भार्थेन्द्रियार्थाः कषायाश्च तदा नृणाम् ॥६०॥ त्रयोदशविध वृत्त जायते गृहिणां ध्रुवम् । सामायिकेन हिंसादि सर्वसावद्य वर्जनात् ॥ ६१ ॥ गृही सामायिकस्थोऽहि यतिभाव प्रपद्यते । सगादि त्यजनान्नून वस्त्रयुक्तो मुनिर्यथा ॥६२॥ नाशं पूर्वार्जितानां स विधत्ते पापकर्मणाम् । नूतनानि न गृह्णाति सामायिकबलाद्गृही ॥६३॥ महापुण्य समाधत्ते नाकराज्यादि कारणम् । समचित्तवशाद्धीमान् सामायिकसमन्वित ॥६४॥ सामायिकं विधत्ते यो भव्य शुभव्रतादिभाक् । याति निर्वाणमेक स प्राप्य षोडशम दिवम् ॥६५॥ मुनि सामायिकेनैव भव्य शास्त्रव्रतान्वित । अत्यनसमभावेन याति ग्रैवे-

शास्त्रोंको जाननेवाले और व्रतोंको पालन करनेवाले भव्य मुनि सामायिकके कारण अत्यन्त समताभाव धारण करते हैं इसलिये वे अग्रिम (उत्तम) ग्रैवेयकमें ही जाकर जन्म लेते हैं ॥ ६६ ॥ सामायिकमें समस्त परिग्रहोंका साग होजाता है और समस्त अशुभ छूट जाते है इसलिये गृहस्थोंके लिये सामायिकके समान अन्य कोई भी धर्म किसीतरह नही होसकता ॥६७॥ यही समझकर बुद्धिमानोंको प्रतिदिन सवेरे ही उठकर धर्म धारण करनेके लिये सबसे पहिले पूर्णरीतिसे सामायिक करना चाहिये ॥ ६८ ॥ तदनंतर मनुष्योंको घरके काम करने चाहिये क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारो पदार्थोंमें सबसे पहिले धर्म पुरुषार्थ ही कहा है ॥ ६९ ॥ इसी प्रकार चतुर पुरुषोंको दोपहरके समय भी पहिले धर्म और संवेगका कारण ऐसा शुभ सामायिक करना चाहिये और फिर भोजन करना चाहिये ॥ ७० ॥ तथा बुद्धिमानोंको धर्मकी सिद्धिके लिये शामके समयमें भी पहिले सारभूत सामायिक करना चाहिये और फिर शयन करना (सोना) चाहिये ॥ ७१ ॥ इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन तीन तीन वार सामायिक करना चाहिये और प्राण नाश होनेपर भी तथा महा रोगादिक होनेपर भी इस सामायिकके नियमका भङ्ग नही करना चाहिये ॥ ७२ ॥ जो बुद्धिमान सवेरे दोपहर शाम तीनों समय धर्मध्यान करते हैं वा सामायिक वा जप आदि करते हैं वे हिंसा आदिसे उत्पन्न हुए समस्त पापोंको नष्टकर महापुण्य उपार्जन करते है ॥ ७३ ॥ सामायिकमें बहुतसे आरम्भ और बहुतसे परिग्रहका भार भरा नहीं रहता इसलिये सामायिक करनेवाले गृहस्थ हलके जहाजके समान शीघ्र ही संसाररूपी समुद्रके पार होजाते है ॥७४॥ जो सामायिकके सूत्रपाठोंका पाठ नही कर सकते उन्हें एकाग्रचित्त होकर एकसौ पचास वार पंच नमस्कारमंत्रका जाप करना चाहिये ॥ ७५ ॥ जो गृहस्था-

---

यकेऽग्रिमे ॥६६॥ सामायिकसमो धर्मो न स्याद्गृहिणा क्वचित्। सर्वं संगपरित्यागात्सकलाशुभवर्जनात् ॥६७॥ इति मत्वा बुधै पूर्वं प्रातरुत्थाय प्रत्यहम् । सामायिक सुसम्पूर्णं कर्तव्य धर्महेतवे ॥६८॥ पश्चाद्गृहादिकर्माणि कर्तव्यानि यतो जनै । धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्म प्रकीर्तित ॥६९॥ मध्याह्नेपि तथा दक्षै कृत्वा सामायिक शुभम् । कर्तव्य भोजन पश्चाद्धर्मसंवेगकारणम् ॥ ७० ॥ प्रविधायपराह्नेऽपि सार सामायिकादिकम् । कुर्वीध्व शयन पश्चाद्धो बुधा धर्मसिद्धये ॥७१॥ दिने दिने सदा तद्धि कार्यं वारत्रय नरै । प्राणान्तेऽपि न मोक्तव्य महारोगादिकेऽथवा ॥७२॥ कालत्रयेषु कुर्वन्ति धर्मध्यानादिक बुधा । हत्वा हिंसादिज पाप पुण्य समर्जयन्ति ते ॥७३॥ कुबह्वारम्भद्रव्यादिभृत' सामायिके न भो । याति ससारनीर च गृही सद्यानपात्रवत् ॥ ७४ ॥ सामायिकादि सत्सूत्र पाठीकर्तुं क्षमा न ये । शतप-

श्रमरूपी रथमे लगे रहनेपर भी सामायिक नही करते, सदा पापकार्योंकी चितामें ही लगे रहते हैं वे नीच बैल हैं, इसमें कोई संदेह नही ।.७६॥ जो अज्ञानी इस श्रेष्ठ पंच नमस्कार मंत्रका जाप नहीं करते उनका मुंह महापाप करनेवाले विलके समान समझना चाहिये ॥ ७७ ॥ जो मनुष्य सामायिक, महामंत्र, स्तवन आदिसे भरपूर धर्मध्यानको नहीं करते हैं वे पापके कारण नरकमें ही पड़ते हैं ॥ ७८ ॥ यही समझकर तू सुखमें, दुःखमें, भयमें, मार्गमें, रोगमें, सोनेमें, बैठनेमें सर्व स्थानोंमें पदपदपर इस मंत्रराज (पंच नमस्कार मंत्रका) का जप कर ॥ ७९ ॥ जिसप्रकार परमाणुसे कोई छोटा नही है और आकाशसे अन्य कोई बड़ा नही है उसी प्रकार पंचनमस्कारमंत्रसे बढकर और कोई मंत्र इस संसारमें नही है ॥ ८० ॥ इस मंत्रराजके प्रतापसे शाकिनी, भूत, पिशाच, रोग, चोर, राज्यबंधन आदि किसी प्रकारका भय मनुष्योको नही होता है ॥ ८१ ॥ जो जीव सातों व्यसनोंमें आसक्त थे और महा पापी थे वे भी मरनेके समय सब मंत्रोंके स्वामी इस पंच नमस्कार मंत्रका जपकर शुभ कर्मके उदयसे स्वर्गमें जा पहुंचे हैं ॥८२॥ इस मंत्रराजके प्रतापसे श्रेष्ठ लक्ष्मी भी विवेकी पुरुषोंके घरकी दासीके समान वश होजाती है और दरिद्रता सब नष्ट होजाती है ॥ ८३ ॥ मुझे तो ऐसा निश्चय है कि चिंतामणी रत्न, निधियां, कल्पवृक्ष और कामधेनु आदि सब इस पंच नमस्कार मंत्रके सदा कालसे चले आये सेवक ही हैं ॥ ८४ ॥ जो मनुष्य एकाग्रचित्तसे सारभूत पंच परमेष्ठियोंका ध्यान करते हैं वे इंद्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकरकी संपदाको अवश्य प्राप्त होते हैं ॥ ८५ ॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ है? थोडेसेमें इतना समझलेना चाहिये कि मंत्रके प्रभावसे तीनों लोकोंमें उत्पन्न

चाशन्नमस्कार ते जपन्त्वेकचित्तत ॥७५॥ सामायिक न कुर्वन्ति युक्ता गेहरथेऽधमा । पापचिन्तान्विता नित्य वृषभास्ते न सशय ॥७६॥ ये सत्पचनमस्कारान्न जपन्ति दुराशया । वदन विलवत्तेषा महापापकर भवेत् ॥ ७७ ॥ सामायिकमहामत्रस्तवनादिकगोचरम् । धर्मध्यान न कुर्वन्ति श्वभ्रे चाघात्पतन्त्यहो ॥७८॥ इति मत्वा जप त्व च मन्त्रराज्य पदे पदे । सुखे दुःखे भये मार्गे व्याधौ च शयनासने ॥७९॥ यथाप्यणो पर नाल्प न महद्गगनात्परम् । तथा पञ्चनमस्कारमंत्रान्मत्रो न विद्यते ॥ ८० ॥ शाकिनीगृहदुर्व्याधिचौरबंधनृपादिजम् । पुसा नश्याद् भय सर्वं मत्रराजप्रतापत ॥ ८१ ॥ सप्तव्यसनससक्ता महापापान्विता नरा । मरणे सर्वं मत्रेश प्राप्य स्वर्गं गता शुभात् ॥८२॥ सल्लक्ष्मीर्गृहदासीव वश याति विवेकिनाम् । मत्रराजप्रसादेन दारिद्र्य प्रपलायते ॥८३॥ चिन्तामणिनिधिकल्पद्रुमकामदुघादय । मत्रराजस्य सर्वोऽपि मन्ये भृत्याश्चिरन्तना ॥ ८४ ॥ इन्द्रतीर्थेशचक्र्यादिभुवा लक्ष्मी भजत्यहो । सार पच गुरूणा सद्ध्यानादेकाग्रतो

होनेवाले जितने सुख हैं उन सबको पाकर बुद्धिमान लोग मोक्षमें ही विराजमान होते हैं ॥ ८६ ॥ दिन रातमें जो पाप उत्पन्न होते हैं उन सबके क्षय होनेका कारण प्रतिक्रमण है इसलिये बुद्धिमानोंको शाम सवेरे दोनों समय प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिये ॥ ८७ ॥ उत्तम गृहस्थोंको धर्मध्यानकी सिद्धिके लिये अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन चारों प्रकारका स्वाध्याय करना चाहिये ॥ ८८ ॥ उत्कृष्ट श्रावकोंको रात्रिके समय धर्म पालन करनेके लिये और अहिंसा आदि व्रतोंकी रक्षा करनेके लिये प्रतिदिन दो योग धारण करने चाहिये अर्थात सुबह शाम दोनों समय ध्यान करना चाहिये ॥ ८९ ॥ जो उत्तम बुद्धिमान ऊपर लिखे आवश्यकोंको प्रतिदिन करते हैं वे मुनियोंके समान शुभ स्वर्गमें जाते हैं और फिर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते है ॥ ९० ॥ क्षुल्लक व्रतोंको (एक देश व्रतोंको) धारण करनेवाले अणुव्रतियोंको प्रतिदिन समस्त आवश्यक करने चाहिये तथा रोग क्लेश आदि आजानेपर भी कभी नहीं छोडने चाहिये ॥ ९१ ॥ जिसप्रकार दांत रहित हाथी और दाढ रहित बाघ अपने काम करनेमें समर्थ नहीं होता उसी प्रकार आवश्यकोंको न करनेवाला मनुष्य अपने कर्मोंको नाश नहीं कर सकता ॥ ९२ ॥ जिसप्रकार समयपर बोया हुआ बटका बीज बहुतसे फलोंको फलता है उसीप्रकार अपने अपने समयपर किये हुए आवश्यक भी बहुतसे फलोंको फलते हैं ॥९३॥ जिस प्रकार असमयमें बोये हुए बटके बीजपर उत्तम फल नहीं लगते उसी प्रकार आवश्यक भी यदि समयपर नहीं किये जांय तो उनसे कर्म नष्ट नहीं हो सकते ॥९४॥

नरा ॥ ८५ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन सुखं लोकत्रयोद्भवम् । प्राप्य मुक्तिं प्रयात्येव बुधा मंत्रप्रभावत ॥८६॥ अहोरात्र्यादिजातस्य पापस्य क्षयकारणम् । प्रतिक्रमद्वयं कार्यमुभयो कालयो बुधैः ॥ ८७ ॥ धर्मध्यानादिसिद्ध्यर्थं सत्स्वाध्यायचतुष्टयम् । यथाशक्ति हि कर्तव्यं नित्यमेव नरोत्तमैः ॥८८॥ योगद्वयमनुष्ठेयमुत्कृष्टश्रावकैः सदा । रात्रौ धर्माय चाहिंसाव्रतरक्षादिहेतवे ॥ ८९ ॥ इत्याद्यावश्यकं केऽपि प्रकुर्वन्ति बुधोत्तमाः । यान्ति स्वर्गं क्रमान्मोक्षं चानगारा इव शुभाः ॥ ९० ॥ सर्वमावश्यकं नित्यं क्षुल्लकव्रतधारिभिः । अनुष्ठेयं न मोक्तव्यं रोगक्लेशादिके क्वचित् ॥९१॥ दन्तहीनो गजो व्याघ्रो दंष्ट्राहीन क्षमो न च । तथा नावश्यकेनापि हीनः कर्मनिपातने ॥९२॥ वटबीजं यथाकाले चोप्तं भूरिफलप्रदम् । भवेदावश्यकं तद्वत्कृतं कालान्वितात्मनाम् ॥९३॥ बीजयुक्तं यथाकाले न स्यात्तत्फलदायकम् ।

१ चारों प्रकारके स्वाध्यायसे वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नायसे अभिप्राय जान पडता है क्योंकि धर्मोपदेश साधारण गृहस्थोंका मुख्य कार्य नहीं है ।

इसलिये हे मित्र ! सवेरे, दोपहर और शामको तीनो समय चार चार घड़ी पर्यंत प्रतिदिन सामायिक करना चाहिये ॥९५॥ चतुर पुरुषोको इन आवश्यक कार्योंमें अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और असह्य अनाचार कभी नहीं करना चाहिये ॥ ९६ ॥ अपने मनसे शुद्धताकी कमी करना अतिक्रम कहलाता है और विषयोंमें आसक्त होना गृहस्थोके लिये व्यतिक्रम कहलाता है ॥ ९७ ॥ प्रमादके कारण आवश्यकोंमें वा चारित्रमें आलस करना अतिचार है और अत्यन्त मूर्ख मनुष्य जो व्रतोका भंग कर देते हैं उसे अनाचार कहते हैं ॥ ९८ ॥ अपनी प्रतिज्ञामें तत्पर रहनेवाले बुद्धिमानोंको समस्त व्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिये आवश्यकोंमे तथा व्रतादिकोंमें अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार आदि दोषोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ ९९ ॥ जो समस्त अतिचारोंको छोडकर शुद्ध सामायिक करते हैं उनको समस्त पापोंसे रहित महाधर्मकी प्राप्ति होती है ॥ १०० ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! कृपाकर मेरे लिये उन अतिचारोंका निरूपण कीजिये ?

उत्तर—हे वत्स ! मै उन दुःख देनेवाले अतिचारोंको कहता हूं, तू चित्त लगाकर सुन ॥१०१॥ वचनदुःप्रणिधान, कायदुःप्रणिधान, मनोदुःप्रणिधान, अनादर और अस्मरण ये पांच सामायिकके अतिचार गिने जाते हैं ॥ १०२ ॥ जो सामायिक करता हुआ भी अपने मौनव्रतको छोडकर बुरे वचन (गाली, गलौच वा हिंसा आदि करनेवाले) कहता है उसके दुःख देनेवाला वचन दुःप्रणिधान नामका अतिचार लगता है ॥१०३॥ जो सामायिक करता हुआ भी अपने स्थान

तथानावश्यकं पुंसामलं कर्मनिपातने ॥ ९४ ॥ आदौ मध्येऽवसाने च सत्षष्टिका चतुष्टयम् । तद्दिनस्य समादाय मित्र ! सामायिकं भज ॥९५॥ अतिक्रमो न कर्तव्यो दक्षैरावश्यकादिषु । व्यतिक्रमोऽप्यतीचारोऽप्यनाचारश्च दुस्सह ॥९६॥ मनसा शुद्धिहीनेन भवेच्चातिक्रमोंगिनाम् । विषयादिप्रसक्तेन श्रयेज्जीवा व्यतिक्रमम् ॥९७॥ आवश्यके व्यतीचार स्यादालस प्रमादत । व्रतस्य भंगत पुंसामनाचारो जडात्मनाम् ॥९८॥ इमे दोषा बुधैस्त्याज्या आवश्यकव्रतादिषु । सर्वव्रतविशुध्यर्थं प्रतिज्ञाततत्परैः सदा ॥९९॥ सर्वातिचारनिर्मुक्तं शुद्धं सामायिकं हि ये । भजन्ति जायते तेषामेतस्त्यक्त महावृषम् ॥१००॥ भट्टारक ! व्यतीपातान् कथय त्वं समादरात् । शृणु भो ते व्यतीपातान् कथयामि विरूपकान् ॥१०१॥ त्रिधा दुःप्रणिधानानि वाक्कायमनसां बुधा । अनादरोऽस्मरणं च त्यनातीचारपंचकम् ॥१०२॥ सामायिकसमापन्नो वक्ति दुर्वचनादिकम् । त्यक्त्वा मौनं भजेन्मोऽपि व्यतीपात कुदुःखदम् ॥१०३॥ कायचेष्टां विधत्ते यस्त्यक्त्वा स्थानासनादिकम् ।

वा आसनको छोडकर हाथ वा अन्य किसीके इशारेसे शरीरकी चेष्टा करते हैं उनके व्रतमें कायदुःप्रणिधान नामका अतिचार लगता है ॥१०४॥ जो सामायिक करते हुए भी समताभावको छोडकर अपने मनमें वध बंध आदिसे उत्पन्न होनेवाला अशुभ संकल्प विकल्प करते हैं उनके मनोदुःप्रणिधान नामका अतिचार लगता है ॥ १०५ ॥ जो मूर्ख अत्यन्त प्रमादके कारण विना ही आदरके शुभ सामायिकको करता है उसके अनादर नामका अतिचार लगता है ॥१०६॥ जो सामायिकमें होनेवाले नित्य कर्मोंको चंचल हृदयसे करता है (चंचल हृदयके कारण कभी किसी क्रियाको व कभी किसी पाठको भूल जाता है) उसके अस्मरण नामका अतिचार लगता है ॥ १०७ ॥ जो अपने समयपर पांचों अतिचारोंको छोडकर और बत्तीस दोषोंको टालकर सामायिक करता है वह अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त करता है ॥ १०८ ॥

प्रश्न—हे प्रभो पुण्य उपार्जन करनेके लिये उन दोषोंको कृपाकर कहिये ?

उत्तर हे बुद्धिमान ! मन लगाकर सुन, अब मैं उन दोषोंको कहता हूं ॥ १०९ ॥ अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परिपीडित, दोलायित, अंकुशित, कच्छपरिंगित, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भय, विभ्यत, ऋद्धिगौरव, गौरव, स्तनित प्रतिनीक, प्रदुष्ट, तर्जित, शब्द, हेलित, त्रिवलित, कुंचित, दृष्ट, अदृष्ट, संघकरमोचन, आलब्ध, अनालब्ध, हीन, उत्तरचूलिका, मूक, दुर्दर, मललित इन बत्तीस दोषोंको छोडकर हे मित्र ! तू सामायिक कर ॥ ११०–११४ ॥

हस्तादिसंज्ञया तस्य भवेद्दोषो व्रतस्य वै ॥१०४॥ कुर्वन्ति चित्तसंकल्पमशुभं वधबंधजनम् । समभावं परित्यज्य व्यतिचारं व्रजन्ति ते ॥१०५॥ आदरेण विना योऽधीर्विधत्ते समयं शुभम् । प्रमादेन विशालेन श्रयेद्दोषं व्रतस्य सः ॥१०६॥ नित्यकर्माणि एकाग्रचेतसा यः करोति न । सामायिकादिजातानि तस्य दोषं लभेत सः ॥१०७॥ क्रियाकर्म विधत्ते यस्त्यक्त्वातीचारपंचकान् । कालद्वात्रिंशदोषांश्च लभते सोऽव्ययं पदम् ॥ गणिन् तान् मम दोषांश्च स्वपुण्याय प्ररूपय ॥१०८॥ वक्ष्येऽहं शृणु भो धीमन् कृत्वातिनिश्चलं मनः ॥१०९॥ अनादृतश्च स्तब्धः स्यात्प्रविष्टः स्यात्परिपीडितः । दोलायितोंकुशितोऽपि भवेत्कच्छपरिंगितः ॥११०॥ मत्स्योद्वर्तो मनोदुष्टो वेदिकाबद्ध एव हि । भयो विभ्यद्भवेदृद्धिगौरवो गौरवस्तथा ॥१११॥ स्तनितः प्रतिनीकश्च प्रदुष्टस्तर्जितस्तथा । शब्दश्च हेलितश्च त्रिवलितश्चैव कुंचितः ॥११२॥ दृष्टोऽदृष्टो भवेत्संघकरमोचन एव हि । आलब्धः स्यादनालब्धो हीन उत्तरचूलिकः ॥११३॥ मूकश्च दुर्दरो दोषो भवेत्सुललितः सुहृत् । द्वात्रिंशत्प्रमितान् दोषांस्त्यक्त्वा सामायिकं भज ॥११४॥ क्रियते यत्क्रियाकर्म प्रादरेण विना नरैः । अल्पभावयुतैस्तद्धि अनादृत इवोच्यते ॥११५॥ विद्यादिगर्वितो

जो मनुष्य सामायिककी क्रियाएं विना आदरके अपने थोडेमे भाव लगाकर करते हैं उनके अनादर (अनादृत) नामका दोष लगता है ॥११५॥ जो मूर्ख विद्या आदिके अहंकारसे हृदयमें उद्धतना धारणकर सामायिककी क्रियाओंको करता है उसके स्तब्ध नामका दोष अवश्य लगता है ॥ ११६ ॥ जो परमेष्ठियोंके अत्यन्त समीप बैठकर सामायिक करता है उसके प्रविष्ट नामका दोष लगता है ॥ ११७ ॥ जो अपने दोनों हाथोंसे जंघाओंका स्पर्श करता हुआ अथवा दबाता हुआ सामायिक करता है अथवा वंदना करता है उसके परिपीडित नामका दोष होता है ॥११८॥ जो अपने शरीरको झूलेके समान हिलाता हुआ सामायिक करता है अथवा जो अपने आत्माको चंचल रखता है, जिसके संदेह बना रहता है–सामायिक वंदना वा उसके फलमें जो संदेह रखता है उसके दोलायित नामका दोष लगता है ॥ ११९ ॥ जो अज्ञानी अंकुशके समान अपने अंगूठेको ललाट वा मस्तकपर रखकर सामायिक वा वंदना करता है उसके अंकुशित नामका दोष लगता है ॥ १२० ॥ जो कटिभागसे (कमरसे) कछुएके समान कुछ आगेको सरककर वंदना करता है उसके कच्छपरिंगित नामका दोष लगता है ॥ १२१ ॥ जो मच्छके समान एक ही बगलमें अथवा दोनों बगलोंमें वंदना करता है उसके मत्स्योद्वर्त नामका दोष लगता है ॥ १२२ ॥ जो दुष्ट आचार्य वा गुरुके ऊपर खेद प्रकाशित करता हुआ सामायिक वा वंदना करता है उसके मनोदुष्ट नामका दोष लगता है। १२३ ॥ जो दोनों हाथोंसे अपने शरीरको वा दोनों जंघाओंको बांधकर, दबाकर सामायिक वा वंदना करता है उसके वेदिकावद्ध नामका दोष लगता है ॥ १२४ ॥ जो मरण भय आदि सातों भयोंमें डरकर सामायिक

योऽधीरुद्धताशयसंयुत । क्रियाकर्म विधत्ते य स्तब्धदोषं श्रयेद्ध्रुवम् ॥११६॥ अत्यासन्नो हि यो भूत्वा सत्पंचपरमेष्ठिनाम्। कुर्यात्सामायिकं दोषं प्रविष्टाख्यं लभेत सः ॥११७॥ दोर्भ्यां जानुप्रदेशं य संस्पृश्य परिपीड्य च। करोति वंदना तस्य दोषः स्यात्परिपीडितः ॥११८॥ आत्मानं च चलं कृत्वा संशयित्वा तनोति वा। तद्दोलामिव यो सोऽधीर्भजेद्दोलायिताभिधम् ॥११९॥ करांगुष्ठं ललाटे यो विधायाधीर्यथांकुशम्। करोति वंदना सोऽपि श्रयेद्दोषमिहांकुशम् ॥१२०॥ कटिभागेन यः कृत्वा कच्छपस्येव चेष्टितम्। तद्विधत्ते स आप्नोति दोषं कच्छपरिंगितम् ॥१२१॥ मत्स्यस्येव कटीभारोद्वर्तनं यो विधाय वा। पार्श्वद्वयेन ता दध्यात् मत्स्यस्येव लभेत सः ॥१२२॥ सूर्यादीना हि यो दुष्टो भूत्वा ता मनसा भजेत्। क्लेशयुक्तेन वा तस्य मनोदुष्टोऽभिजायते ॥१२३॥ हस्ताभ्यां स्वशरीरं यो बध्वा वापि प्रपीड्य तम्। जानुद्वयं विधत्ते स वेदिकावद्धदोषभाक् ॥ १२४ ॥ करोति वंदना योऽपि मरणादिभयान्वितः। प्राप्य भयेन वा त्रस्तो भयदोषं लभेत हि

वा वंदना करता है उसके भय नामका दोष लगता है ॥ २५ ॥ जो परमार्थको न जानकर केवल गुरु आदिके डरसे ही सामायिक आदि क्रियाओंको करता है उसके विभ्यत् नामका दोष लगता है ॥ १२६ ॥ चारों प्रकारका महासंघ मेरी भक्ति करेगा, मेरा गौरव करेगा यही समझकर जो अज्ञानी सामायिक वा वंदना करता है उसके ऋद्धिगौरव नामका दोष लगता है ॥ १२७ ॥ जो अपने सुखके लिये आसन आदिके द्वारा अपने माहात्म्यको प्रगटकर सामायिक वा वंदना करता है उसके गौरव नामका दोष लगता है ॥ १२८ ॥ जो गुरुको प्रसन्न करनेके लिये सबसे छिपकर सामायिक वा वंदना करता है उसके स्तनित नामका दोष लगता है ॥१२९॥ जो देव, गुरु वा योगियोंके प्रतिकूल होकर उनकी आज्ञाको न मानकर सामायिक वा वंदना करता है उसके प्रतिनीक नामका दोष लगता है ॥ १३० ॥ जो दूसरोंके साथ द्वेष वैर वा कलह करके भी मन वचन कायसे न तो दूसरोंसे क्षमा कराता है न क्षमा करता है-विना क्षमा करे कराये योंही सामायिक वा वंदना करता है उसके प्रदुष्ट नामका दोष लगता है ॥ १३१ ॥ जो अन्य शैक्ष्य आदिकोंको उंगलीसे तर्जनाकर भय उत्पन्न कर अथवा आचार्य वा गणमे तर्जित होकर सामायिक वा वंदना करता है उसके तर्जित नामका दोष लगता है ॥१३२॥ जो सामायिक करता हुआ भी मौन छोडकर बातें करता है उसके पाप बढानेवाला शब्द नामका दोष लगता है ॥ १३३ ॥ जो आचार्य आदि अन्य मुनियोका तिरस्कार कर वचनसे उनका उपहासकर सामायिक वा वंदना करता है उसके हेलित नामका दोष लगता है ॥ १३४ ॥ जो कमर मोडकर, गर्दन टेढीकर वा छाती नवाकर अथवा भौंह चलाकर

॥१२५॥ गुर्वादिभ्यो विभीतो य क्रियाकर्म करोति वै । अज्ञातपरमार्थोऽपि विभ्यद्दोष लभेत स ॥१२६॥ चातुवर्ण्यमहासंघाद्भक्त्यादि-गौरवेच्छया । यो बुधो वंदना दध्याल्लभते ऋद्धिगौरवम् ॥१२७॥ प्रकटीकृत्य माहात्म्यमातमन आसनादिभि । सुखार्थं चाविषक्ते तद्भजेद्दोषं स गौरवम् ॥१२८॥ गुर्वादेस्य प्रसन्नाय वन्दना कुरुते बुध । परेषा चोरयस्तस्य स्तनितं दोषमाश्रयेत ॥१२९॥ भूत्वातिप्रतिकूलो यो देवगुर्वादियोगिनाम् । वंदनां कुरुते दोष प्रतिनीक लभेत ना ॥१३०॥ अन्यै कृत्वापि प्रद्वेष वैर वा कलहादिकम् । प्रदुष्ट यो भजेच्चके क्षन्तव्य सो विधाय तत् ॥१३१॥ परेषा यो भव कुर्वन्नाचार्यैर्वातितर्जित । नित्यकर्म विधत्ते स तर्जित दोषमाप्नुयात ॥१३२॥ यो मौन हि परित्यज्य वक्ति सामयिके स्थित । वचन जायते तस्य शब्ददोषोऽशुभप्रद ॥ १३३ ॥ कृत्वा परिभव योपि नाचार्यादिसुयोगिनाम् । वचनेन विधत्ते तद्दोष हेलितमाप्नुयात ॥ १३४ ॥ शरीरस्य त्रिभग यो भाले रेखा त्रय हि वा । कृत्वा करोति सत्कर्म श्रयेत्त्रिवलितं स

करता है उसके त्रिवलित नामका दोष लगता है ॥ १३५ ॥ अथवा ललाटपर तीन रेखा चढाकर सामायिक आदि सत्कर्म करता है उसके त्रिवलित नामका दोष लगता है ॥ १३५ ॥ जो दोनों हाथोंसे अपने मस्तकको स्पर्शकर सामायिक वा वंदना करना है, अथवा संकुचित होकर मस्तकको जंघाओंके समीप ले जाकर सामायिक वा वंदना करता है उसके कुंचित दोष लगता है ॥ १३६ ॥ जो आचार्य वा अन्य मुनियोंके देखनेपर तो सामायिक आदि क्रियाओंको अच्छी तरह करता है और उनके न देखनेपर अपनी इच्छानुसार सब दिशाओंकी ओर देखता हुआ सामायिक आदि क्रियाओंको करता है उसके दृष्ट नामका दोष होता है ॥ १३७ ॥ जो गुरुकी दृष्टिसे छिपकर सामायिक आदि करता है अथवा पीछी आदिसे विना शोधे, विना देखे चंचल मनसे क्रियाओंको करता है उसके अदृष्ट नामका दोष कहलाता है ॥ १३८ ॥ जो संघको प्रसन्न करनेके लिये अथवा संघसे भक्ति आदि करानेकी इच्छासे सामायिक वा वंदना करता है उसके संघकरमोचन नामका दोष लगता है ॥ १३९ ॥ जो उपकरण आदिको पाकर आवश्यक आदि क्रियाओंको करता है-विना उपकरण आदिके मिले जो नहीं करता उसके मद उत्पन्न करनेवाला आलब्ध नामका दोष लगता है ॥ १४० ॥ जो लोभके वशीभूत होकर उपकरण आदिकी इच्छासे सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओंको करता है उसके अनालब्ध नामका दोष लगता है ॥ १४१ ॥ जो काल, व्यंजन, ग्रंथ अर्थ (अथवा मात्रा आदि) आदिसे रहित सामायिक वा आवश्यकोंके पाठोंको पढता है उसके पाप उत्पन्न करनेवाला हीन नामका दोष लगता है ॥ १४२ ॥ जो सामायिक वा वंदनाको बडी शीघ्रतासे थोडे ही समयमें कर लेता है और आलोचना आदि उसकी चूलिकाको (अंतिम क्रियाको) बड़ी देरमें करता है इसप्रकार जो सामायिक करता है उसके उत्तरचूलिका नामका

ना ॥१३५॥ य. कुर्वन् स्वशिरस्पर्शं हस्ताभ्या विदधे हि तत् । भूत्वा सकुचितो वा हि स दोषं कुचितं भजेत् ॥१३६॥ आचार्यादिगणैर्दृष्टः सत्कर्म कुरुते हि य । अन्यथा स्वेच्छया दृष्टं श्रयेद्वा दिग्विलोकनात् ॥१३७॥ आचार्यादिषु प्रच्छन्न काय वाऽप्रतिलेख्य यः । अनेकाग्रो विधत्ते तत्सो दृष्ट दोषमाप्नुयात ॥१३८॥ सघस्य रजनार्थं यस्तस्माद्भक्त्यादिवांच्छया । वदनां विधदे तस्य स्यात्सघकरमोचनम् ॥१३९॥ आवश्यकं विधत्ते य' प्राप्योपकरणादिकम् । नान्यथा जायते तस्यालब्धदोषो मदप्रदः ॥१४०॥ विदध्याद्यः षट्कर्मोपकरणादिकवाच्छया । लोभाविष्टो भजेद्दोष सोऽत्रानालब्धसंज्ञकम् ॥१४१॥ कालव्यंजनग्रन्थार्थं हीनमावश्यकं हि यः । करोति जायते तस्य हीनदोषोऽशुभप्रदः ॥१४२॥ वदना स्तोककालेन निर्वर्त्य वेगतो ध्रुवम् । वंदना. चूलिकायाश्च किंचिदुद्धरितस्म य. ॥१४३॥ आलोचनादिकस्यातिकालेनापि

दोष लगता है ॥ १४३-१४४ ॥ जो गूंगेके समान मुखके भीतर ही भीतर सामायिक वा वंदना करता है अथवा उंगलीके इशारे वा हुंकार आदि करता हुआ सामायिक आदि क्रियाओंको करता है उसके मूक नामका दोष लगता है ॥ १४५ ॥ जो अपने जोर जोरके शब्दोंसे दूसरोंके अच्छे शब्दोंको भी दबाकर सामायिक आदि क्रियाओंको करता है उसके दुर्दर नामका दोष लगता है ॥ १४६ ॥ जो एक स्थानपर बैठकर ही सबकी वंदना करता है अथवा जो पंचमस्वर आदिसे गा-गाकर वंदना करता है उसके मुललित नामका दोष लगता है ॥ १४७ ॥ जो इन बत्तीस दोषोंसे रहित होकर सामायिक करता है उसके पापकर्मोंकी सबसे अधिक निर्जरा होती है ॥ १४८ ॥ जो इन दोषोंको छोडकर सामायिक करता है उसके स्वर्ग मोक्षको वश करनेवाला समस्त सुखोंकी खानि सारभूत और संसाररूपी महासागरसे पार करदेनेवाला शुभरूप महा पुण्य प्राप्त होता है ॥ १४९ ॥ जो इन दोषोंका विना त्याग किये ही सामायिक वा वंदना आदि क्रियाओंको करता है उसके कर्मोंका नाश कभी नहीं होसकता उसका सामायिक आदि करना केवल शरीरको दुःख पहुंचाना है ॥ १५० ॥

इसीप्रकार बुद्धिमानोंको शरीरसे ममत्वका त्याग करनेके लिये श्रेष्ठ धर्मको प्रगट करनेवाला कायोत्सर्ग भी बत्तीस दोषोंसे रहित होकर ही करना चाहिये अर्थात् कायोत्सर्गके भी बत्तीस दोषोंका त्याग कर देना चाहिये ॥१५१॥ जिसप्रकार पैरमें उत्पन्न हुई पीडासे दुःख आजाता है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करनेवाले मनुष्यके अवश्य ही कर्म नष्ट होजाते हैं ॥१५२॥

प्रश्न—हे प्रभो ! कृपाकर मेरे लिये कायोत्सर्गके दोषोंका निरूपण कीजिये ।

विवर्तनम् । कृत्वा सामायिकं दद्याच्छमेतोत्तरचूलिकम् ॥१४४॥ मूकवन्मुखमध्ये वा हुंकारांगुलिसंज्ञया । युक्तो य कुरुते तद्धि मूकदोषं लभेत स ॥१४५॥ स्वशब्देन परेषां य सच्छब्दमभिभूय वै । वृहद्गलेन तं दद्याद् दुर्दरं दोषमाप्नुयात् ॥१४६॥ स्थित्वैकस्मिन् प्रदेशे य सर्वेषां वंदना भजेत् । अयेत्सुललितं दोषं पंचमादिस्वरेण वा ॥१४७॥ एतैर्मुक्तं हि द्वात्रिंशद्दोषैः सामायिकं च य । करोति निर्जरा पापकर्मणां स भजेत्पराम् ॥१४८॥ त्यक्त्वाशुभं महापुण्यं स्वर्गमुक्तिवशीकरम् । सर्वसौख्याकरं सारं संसाराम्बुधितारकम् ॥१४९॥ अपरित्यज्य तान् दोषान् य कुर्याद्वंदनादिकम् । कर्मक्षयो भवेन्नैव तस्य क्लेशो हि केवलम् ॥१५०॥ कायोत्सर्गोऽपि कर्तव्यो द्वात्रिंशद्दोषवर्जितः । बुधैः कायममत्वादित्यजनार्थं सुधर्मदः ॥१५१॥ दुःखं यथा समायाति पादमज्ञातपीडया । तथा कर्माणि नश्यन्ति कायोत्सर्गस्थितस्य वै ॥१५२॥ कायोत्सर्गभवान् दोषान् मे गणेश प्ररूपय । भो श्रावक प्रवक्ष्येऽ नान् दोषान् शृणु ते स्फुटम् ॥१५३॥ घोटकश्च लतादोष

उत्तर–हे श्रावकोत्तम ! सुन, अव मैं कायोत्सर्गके दोषोंको कहता हूं ॥ १५३ ॥ घोटक, लता, स्तम्भ, कुड्य, माल शवर, लम्वोदर, तनुदृष्टि, वायस, खलित, युग, कपित्थ, शिरःप्रकंपन, मूकित, अंगुलि, भ्रूविकार, वारुणीपायी, दिशामालोकन, ग्रीवोन्नमन, प्रणमन, निष्ठीवन, स्वांगस्पर्श ये कायोत्सर्गके दोष कहलाते हैं अतः बुद्धिमानोंको इनका त्याग कर देना चाहिये ॥ १५४–१५७ ॥ जिस प्रकार अच्छा घोडा एक पैर ऊँचा करके खड़ा होता है उसी प्रकार जो कायोत्सर्ग करते समय एक पैरको ऊँचा कर केवल एक पैरसे पृथ्वीको स्पर्श करता हुआ खड़ा होता है उसके घोटक नामका दोष होता है ॥ १५८ ॥ जो संयमी लताके समान अङ्ग उपांगोको कंपाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उसके लता नामका दोष लगता है ॥१५९॥ जो संयमी किसी खम्भेका सहारा लेकर कायोत्सर्ग करता हे अथवा जो अपने हृदयको शून्य वनाकर (आत्माका चिंतवन किये विना) कायोत्सर्ग करता है उसके स्तम्भ नामका दोष लगता है ॥ १६० ॥ जो श्रावक किसी दीवालका

स्तंभ[१] कुड्योऽपि सभवेत् । मालदोषः शवरादिवधू[२] स्यान्निर्यल्पे ध्रुवम् ॥ १५४ ॥ लवोदरो वपुदृष्टिर्वायसस्खलिनो युग । कपित्थाख्यो भवेद्दोषः शिरःप्रकपितो भवेत् ॥१५५॥ मूकितोंगुलिदोषश्च भ्रूविकारो हि संभवेत् । तथा च वारुणीपायी दिशामालोकनाभिधा ॥१५६॥ ग्रीवोन्नमनमेव प्रणमन स्यान्निष्ठीवनः । स्वागमर्पो बुधैस्त्याज्या अमी दोषा मलप्रदाः ॥ १५७ ॥ उत्क्षिप्य चैकपाद यो चाविन्यस्येह तिष्ठति । कायोत्सर्गे भवेत्तस्य घोटकाख्यो मलोश्वत् ॥ १५८ ॥ अगानि चालयन् योऽपि व्युत्सर्गं कुरुते यमी । लतेव संश्रयेत्सोऽपि लतादोषं प्रचचलः ॥१५९॥ स्तभमाश्रित्य व्युत्सर्गं यो विधत्ते हि सयत । स्तभदोष भजेत्सोपि स्वशून्यहृदयोऽथवा ॥१६०॥ कायोत्सर्ग

---

१ इसमें स्तम्भ और कुड्य अलग अलग लिखे हैं परन्तु अनगारधर्मामृतमें दोनों एक स्तम्भमें ही शामिल कर लिये हैं।

२–वाकीके दोष इसप्रकार हैं । पटक–इसका स्वरूप ६२ वें श्लोकमें लिखा है । श्रखलित–जो अपने पैरोंको साकलसे वधे हुएके समान करके कायोत्सर्ग करे । उत्तीरत–मस्तकको ऊचाकर कायोत्सर्ग करना । स्तनोन्नति–जो दूध पिलाने वालीके समान छातीको ऊचा उठाकर कायोत्सर्ग करना । न्यून्त्व–मात्रा आदि छोडकर कायोत्सर्गका पाठ पढना । मायाप्रायास्यितिश्चिन–दूसरोंको ठगनेवाली और अत्यत आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अपने शरीरकी स्थिति वनाना । वयोपेक्षाविवर्जन–अपना वुढापा समझकर कायोत्सर्गका छोड देना । व्याक्षेपासक्तचित्तत्व–चित्तका इधर उधर, भटकाते हुए कायोत्सर्ग करना । कालापेक्षाव्यतिक्रम–समय देखकर कायोत्सर्गका कुछ अंश छोड देना । लोभाकुलत्व–लोभके कारण कुछ अश छोड देना । मूढत्व–कर्तव्य अकर्तव्यका विचार न करना । पापकर्मैकसर्गता–हिंसादिकके कामोंमें अत्यत उत्साह होना ।

अथवा अन्य किसी पदार्थका सहारा लेकर कायोत्सर्ग करता है उसके कुड्य नामका दोष लगता है ॥ १६१ ॥ जो किसी वेदी, पट्टा आदिपर खडा होकर कायोत्सर्ग करता है उसके पट्टक नामका दोष लगता है। जो मस्तकसे ऊँचे स्थानपर माला वा रस्सी बांधकर उसका सहारा लेकर कायोत्सर्गके लिये खडा होता है उसके माला नामका दोष लगता है ॥१६२॥ जो भीलिनियोंके समान जघनस्थलको (गुह्य प्रदेशको) दोनो जघाओसे दबाकर (अथवा हाथसे ढककर) कायोत्सर्गके लिये खडा होता है उसके शबर नामका दोष होता है ॥१६३॥ जो कायोत्सर्गमें खडा होकर भी मस्तकको ऊँचा करता है अथवा नीचा करता है उसके लम्बोदर नामका दोष होता है ॥१६४॥ जो कायोत्सर्गमें खडा होकर भी अत्यन्त राग उत्पन्न करनेवाले अपने शरीरको अपने दोनो नेत्रोंकी दृष्टिसे देखता रहता है उसके तनुदृष्टि नामका दोष लगता है ॥१६५॥ जो कायोत्सर्गमें खडा होकर भी कौएके समान अपनी दोनों अगल बगलोंकी ओर देखता है उसके नेत्रोंसे उत्पन्न होनेवाला वह वायस नामका दोष कहलाता है। १६६ ॥ जिस प्रकार लगामके दुःखसे दुःखी हुआ घोडा दांत कटकटाकर मस्तक हिलाता है उसी प्रकार जो कायोत्सर्गके समीप दांतोंको कटकटाता हुआ मस्तक हिलाता है उसके मल उत्पन्न करनेवाला खलीन नामका दोष लगता है ॥ १६७ ॥ जिस प्रकार जूआके दुःखसे दुःखी हुआ बैल गर्दन फैलाता है उसी प्रकार जो गर्दनको फैलाकर सामायिक करता है उसके कायोत्सर्गमें दोष उत्पन्न करनेवाला युग नामका दोष होता है ॥ १६८ ॥ जो कपित्थ वा कैथके समान अपनी मुट्ठियोको बांधकर कायोत्सर्गके लिये खडा होता है उसके कपित्थ नामका दोष लगता है

विधत्ते यः कुड्यमाश्रित्य श्रावकः। अन्यद्वाश्रित्य तस्यैव कुड्यदोषः प्रजायते ॥ १६१ ॥ पीठिकादिकमारुह्य यो व्युत्सर्गं करोति च। मस्तकादूर्ध्वमाश्रित्य मालादोषं भजेत्स ना ॥१६२॥ जघाभ्यां शबरवधूरिव निष्पीड्य तिष्ठति। यो जघनं व्युत्सर्गे शबरदोषं लभेत सः ॥१६३॥ व्युत्सर्गस्थित एवोन्नोन्नमनं कुर्याद् यो बुधः। वाह्यधो नमनं प्राय. स लंबोदरदोषभाक् ॥ १६४ ॥ नयनाभ्यां शरीरं यः स्वस्य दृष्ट्यातिरागदम्। कायोत्सर्गस्थितो दोषं तनुदृष्टिं लभेत सः ॥ १६५ ॥ कायोत्सर्गान्वितो योऽपि पार्श्वं पश्यति काकवत्। तस्य वायस-दोषोऽत्र जायते नेत्रसभवः ॥१६६॥ यो दन्तकटकं सीसं कृत्वा व्युत्सर्गमाश्रयेत्। अश्ववत्खलिनाख्यं स श्रयेद्दोषं मलप्रदम् ॥ १६७ ॥ ग्रीवां प्रसार्य यः कुर्यात् व्युत्सर्गं बलीवर्दवत्। युगदोषो भवेत्तस्य कायोत्सर्गस्य दोषदः ॥१६८॥ कृत्वा कपित्थवन्मुष्टिं यो व्युत्सर्गेण तिष्ठति। व्रजेत्कपित्थदोषं स कायोत्सर्गमलप्रदम् ॥१६९॥ व्युत्सर्गेण स्थितो योऽपि नासिकामुखसभवम्। विकारं कुरुते तस्य मूकदोषं

॥ १८० ॥ जो बुद्धिमान् मुनि चंचलताको छोडकर काष्ठके समान निश्चल होकर शरीरके समस्त विकारोंको छोडकर अंग उपांगोंके हलन चलनको छोडकर तथा समस्त दोषोंका सागकर एकाग्रचित्तसे कायोत्सर्ग करता है उसे स्वर्ग मोक्षके सुख अवश्य ही प्राप्त होते हैं ॥ १८१–१८२ ॥

जो शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाला ज्ञानी पुरुष दो घडी पर्यंत एकाग्रचित्तसे कायोत्सर्ग करता है वह उस कायोत्सर्गसे अनेक जन्मके पापोंको नष्टकर देता है ॥१८३॥ कायोत्सर्ग धारण करनेसे • बुद्धिमानोंका शरीरसे ममत्व छूट जाता है तथा शरीरसे ममत्वका छूट जाना ही महा धर्म और सुखकी खानि है ॥१८४॥ इस संसारमें मनुष्योंको कायोत्सर्गके समान तपश्चरण न तो आजतक हुआ है और न आगे कभी होसकता । यह कायोत्सर्ग स्वर्ग और मोक्षरूपी घरका द्वार है ॥ १८५ ॥ मनुष्योंके जो पैर कायोत्सर्ग धारण कर दृढताके साथ खडे हैं संसारमें उन्हींको पैर समझना चाहिये, वे ही पैर धन्य हैं, वे ही धीरवीर हैं, वे ही धर्म धारण करनेवाले हैं और वे ही पैर स्वर्ग मोक्ष देनेवाले हैं ॥१८६॥ जिन पैरोंसे कभी कायोत्सर्ग नही हुआ जो केवल आने जानेमें ही काम आते हैं और हिंसादिक पाप करते रहते हैं मनुष्योंके ऐसे पैरोंको सर्वथा व्यर्थ समझना चाहिये ॥ १८७ ॥ जो नीच समर्थ होकर भी कायोत्सर्ग नही करते हैं उनका जन्म कुमार्गगामी सेवकके समान व्यर्थ ही वीत जाता है ॥ १८८ ॥ जो कायोत्सर्ग धारण कर और घोर परीषहोंको जीतकर मोक्षके साम्राज्यमें जा विराजमान हुए हैं, संसारमें वे ही धन्य हैं और वे ही विद्वान् लोगोंके द्वारा माननीय वा पूज्य माने जाते हैं

तस्यैको दोषोऽपि न जायते ॥१८०॥ चचलत्व परित्यज्य काष्ठवन्निश्चलो याति । एकाग्रमनसा युक्तदेहादिविक्रिया सदा ॥१८१॥ सर्वांगस्पदनिर्मुक्त त्यक्तदोषान् सुधीर्भजेत्। यो व्युत्सर्गं भजेत्सोऽपि स्वर्गमुक्तिसुखादिकम् ॥१८२॥ एकचित्तेन व्युत्सर्ग यः कुर्याद् घटिकाद्वयम्। अनेकजन्मज पाप क्षिपेद् ज्ञानी स शुद्धधीः ॥१८३॥ ममत्व देहतो नश्येत् कायोत्सर्गेण धीमताम् । निर्ममत्वं भवेन्नूनं महाधर्मसुखाकरम् ॥१८४॥ न भूत भवते नृणा कायोत्सर्गसम तपः । नाकमोक्षगृहद्वार नास्ति चाग्रे भविष्यति ॥१८५॥ मन्ये तावेव पादौ यौ कायोत्सर्गान्वितौ दृढौ । पुसा धर्मप्रदौ धन्यौ धीरौ स्वर्मुक्तिदायकौ ॥१८६॥ कायोत्सर्गं विना पादौ हिंसादिपरिवर्तिनौ । ज्ञेयौ व्यर्थौ मनुष्याणां गमनादिकतत्परौ ॥१८७॥ येऽधमा. शक्तिमापन्ना. कार्योत्सर्गं न कुर्वते । तेषा जन्म वृथा याति भृत्या इव कुमार्गगा ॥१८८॥ कायोत्सर्गं समादाय जित्वा घोरपरीषहान् । ये गता मुक्तिसाम्राज्ये ते धन्या विदुषा मता. ॥१८९॥ इति मत्वा विधातव्य' कायोत्सर्गो बुधो-

॥ १८९ ॥ यही समझकर उत्तम बुद्धिमानोंको प्रतिदिन अपनी शक्तिको प्रगटकर मोक्षका श्रेष्ठ सुख देनेवाला यह कायो-
तसर्ग करना चाहिये ॥ १९० ॥ यह कायोत्सर्ग समस्त सुखोंका निधि है, स्वर्गकी सीढ़ी है, नरकरूपी घरको बंद करनेके
लिये किवाड है, दुःखरूपी दावानल अग्निके लिये मेघोंकी वर्षा है, निरुपम गुणोंकी खानि है और धर्मरूपी वृक्षका बीज
है, इसलिये हे भव्य ! तू मोक्ष-सुख प्राप्त करनेके लिये इस कायोत्सर्गको धारण कर ॥१९१॥ हे मित्र ! यह सामायिक शम
(परिणामोंका शांत होना) दम (इंद्रियोंको दमन करना) और यम (यम नियमरूपसे त्याग करना) से उत्पन्न होता है, मुक्ति
रूपी स्त्रीका स्वामी है, स्वर्गके सुखोंका घर है, तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं, यह समस्त ऋद्धियोंका बीजभूत
वा कारण है, अनन्तगुणोंसे भरपूर है और पापरूप अन्धकारको नाश करनेके लिये सूर्य है। हे मित्र ! ऐसे सामायिकको तू प्रतिदिन
धारण कर ॥ १९२ ॥ यह सामायिक पापरूपी वनको उखाडनेके लिये कुठार वा कुल्हाडी है, मनरूपी हाथीको वश कर-
नेके लिये सिंह है, विषयरूपी मछलियोंको पकड़नेके लिये जाल है, कर्मरूपी ईंधनको जलानेके लिये अग्नि है, दम शम
यमका घर है, धर्मध्यान और शुक्लध्यानका कारण है तथा समस्त विकारोंसे रहित है और सबमें सारभूत है। हे मित्र !
ऐसे सामायिकको तू अवश्य धारण कर ॥ १९३ ॥ जो रत्नत्रयसे सुशोभित मुनिराज श्रुतज्ञानरूपी महासागरके पारगामी
हुए हैं, अथवा उत्तम ग्रैवेयकमें जा विराजमान हुए हैं वे केवल इस सामायिककी आराधनासे ही हुए हैं। यह सामायिक
श्रेष्ठ धर्मको देनेवाला सुखकी खानि है, मोक्षसुखका सारभूत है, विद्वानोंके लिये सारभूत है, इसके समान संसारमें अन्य

त्तमैः। स्वशक्तिं प्रकटीकृत्य प्रत्यहं सत्सुखाकरम् ॥१९०॥ सकलसुखनिधानं स्वर्गसोपानभूतं, नरकगृहकपाटं दुःखदावाग्निमेघम्। अतुल-
गुणसुखं वा धर्मवृक्षस्य बीजं, भज शिवसुखहेतोस्त्वं हि व्युत्सर्गमेव ॥१९१॥ शमदमयमजातं मुक्तिकान्तासुनाथं, सुरगतिसुखगेहं तीर्थनाथैः
सुसेव्यम्। भज हि सकल रुद्धेर्बीजभूतं गुणाढ्यं, दुरिततिमिरसूर्यं मित्र सामायिकं वै ॥१९२॥ दुरितवनकुठारं चित्तमातंगसिंहं, विषय-
सफरजालं कर्मकक्षानलं भो। दमशमयमगेहं धर्मशुक्लादिहेतुं, भज विगतविकारं सारसामायिकं त्वम् ॥१९३॥ प्राप्ता ये मुनयः श्रुतार्णव-
वधरा ग्रैवेयकं चाग्रिमं, तेऽप्याराध्य सुधर्मदं सुखकरं सामायिकं केवलम्। प्राभव्याः शिवसौख्यसारमपि ये रत्नत्रयालंकृता, तस्मात्त्वं
बुधसारमेकमसमं सामायिकं भो भज ॥१९४॥

इति श्रीभट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे देशावकाशिकसामायिकप्ररूपको नामाष्टादशमः परिच्छेदः।

कोई पदार्थ नहीं है, यह अद्वितीय है इसलिये हे भव्य ऐसे सामायिकको तू अवश्य धारण कर ॥ १९४ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें देशावकाशिक और सामायिक व्रतका निरूपण करनेवाला यह अठारहवा सर्ग समाप्त हुआ।

अथ उन्नीसवां परिच्छेद।

जो कर्मरूपी शत्रुको चूर चूर करनेके लिये महामल्ल हैं और भव्य जीवोंको धर्मोपदेश देनेवाले हैं ऐसे श्रीमल्लिनाथ भगवानको मैं अपने कर्म नष्टकरनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ इसप्रकार सामायिकका निरूपण कर अब आगे अनेक गुणोंको उत्पन्न करनेवाले प्रोषधोपवास नामके तीसरे शिक्षाव्रतको कहते हैं ॥ २ ॥ श्रावकोंको अष्टमी और चतुर्दशीके दिन सब तरहके पापोंका त्यागकर सदा प्रोषधोपवास करना चाहिये ॥३॥ जिस दिन प्रोषधोपवास करना हो उसके एक दिन पहिले धारणा और उपवासके दूसरे दिन पारणा की जाती है। मनुष्योंको धारणाके दिन एकाशन करना चाहिये और पारणाके दिन भी एकाशन करना चाहिये। इसप्रकार एक एकाशन, दूसरे दिन उपवास व तीसरे दिन एकाशन करनेको प्रोषधोपवास कहते हैं ॥४॥ बुद्धिमानोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये उपवासके दिन अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य इन चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देना चाहिये ॥ ५ ॥ धीरवीर पुरुषोंको उपवासके दिन अद्भुत साहस प्रगट कर पानीकी एक बूंद भी ग्रहण नहीं करनी चाहिये ॥ ६ ॥ जो उपवास ग्रहण करके कषाय द्रव्योंमे मिले हुए जलको (किसी काढेको या शर-

---

अथ एकोनविंशः सर्गः।

मल्लिनाथ महामल्लं कामारातिनिपातने। वंदे कर्मविनाशाय भव्यजीवप्रबोधकम् ॥ १ ॥ सामायिकं समाख्याय ततो वक्ष्ये गुणप्रदम्। शिक्षाव्रतं तृतीयं हि प्रोषधादिभवं नृणाम् ॥ २ ॥ अष्टम्यां च चतुर्दश्यां कर्तव्यं श्रावकैः सदा। सत्प्रोषधोपवासोपि सर्वसावद्यवर्जितः ॥ ३ ॥ दिने धारणके चैकभुक्तं यै क्रियते नरैः। तथा पारणके प्रोषधोपवासः स उच्यते ॥ ४ ॥ सर्वाशनं च पानं च खाद्यं स्वाद्यं त्यजेद् बुधः। उपवासदिने मुक्त्यै कृत्स्नमाहारमंजसा ॥ ५ ॥ उपवासदिने धीरैः ग्राह्यं नीरं न खंडकम्। उपवासस्य सारस्य कृत्वा प्रोद्भुतसाहसम् ॥ ६ ॥ कषायद्रव्यसंमिश्रं जलं गृह्णाति ये नराः। उपवासं समादाय तेषां स हीयतेतराम् ॥ ७ ॥ तंदुलादिकसंमिश्रं ये

व्रत आदिको) पीते हैं उनके उपवासमें अवश्य कमी होती है ॥ ७ ॥ जो प्रोपधोपवास ग्रहण करके भात मिले हुए जलको (चावलोंके मांडको जिसमें कुछ चावलोंका तत्व मिला रहता है) पीते हैं उन मूर्खोंका प्रोषधोपवास अवश्य नष्ट होजाता है ॥८॥

भगवान जिनेन्द्रदेवने आहार पानी सबका त्याग करने व समस्त पाप और चिंताओंसे अलग रहनेको उत्कृष्ट उपवास कहा है ॥ ९ ॥ उपवासके दिन वीतराग भगवानके गुण प्राप्त करनेके लिये बुद्धिमानोंको एक वस्त्रको (धोतीको) छोड़कर अन्य सब वस्त्रोंका त्याग कर देना चाहिये तथा आभूपण, स्नान, गन्ध, पुष्प, कुंकुम, अञ्जन, तांबूल, अङ्ग उपांगोंके विकार और शय्या आदि सबका त्याग कर देना चाहिये ॥ १०–११ ॥ घरके व्यापारसे होनेवाली हिंसा, विकथा आदि असत्य, चोरी, अब्रह्म, द्रव्यपरिग्रह आदि सब पापोंका त्याग कर देना चाहिये। मनके सब अशुभ संकल्पोका, हिंसा आदि पापोंके करनेवाले वचनोंका, आने जाने आदि क्रियाओंका तथा और भी पाप उत्पन्न करनेवाले कामोंका सबका त्याग कर देना चाहिये ॥ १२–१३ ॥ धीरवीर बुद्धिमानोंको उपवासके दिन मन, वचन, काय तीनों योगोंसे समस्त अशुभोका त्याग कर मुनियोंके समान विराजमान रहना चाहिये ॥ १४ ॥ धीरवीर पुरुषोंको उपवास ग्रहण कर मुनियोके आश्रममें (मुनियोंके समुदायमें वा उनके रहने योग्य स्थानोंमें) जिनालयमें, किसी सूने मकानमें अथवा पर्वतकी गुफा आदिमें रहना चाहिये ॥ १५ ॥ बुद्धिमानोंको ऐसे स्थानोंमें रहकर चित्त लगाकर धर्म और संवेगको बढानेवाले तथा श्री तीर्थंकरके मुखसे उत्पन्न हुए श्रुतज्ञानरूपी शुभ अमृतका पान करना चाहिये अर्थात् शास्त्र श्रवण करना चाहिये ॥ १६ ॥ यदि प्रोषधोपवास करनेवाला ज्ञानवान और धर्मात्मा हो तो उसे स्वयं धर्मरूपी अमृतका पान

पिवन्ति जल शठा । आदाय प्रोषध तेषा सः स्याद्भग्नस्ततो ध्रुवम् ॥ ८ ॥ उपवासो जिनैरुक्त पानाहारादिवर्जित । उत्कृष्टः सर्वसावद्यचिंतादिकपरान्मुख ॥९॥ उपवासदिने सारे सर्ववस्तुकदवकम् । विनैक भूषण स्नान गध पुष्पाणि कुंकुमम् ॥१०॥ अञ्जनं मुखसंस्कारं चागोपागादिविक्रियाम् । शय्यादिकं त्यजेद्धीमान् वीतरागगुणाप्तये ॥११॥ गृहव्यापारजा हिसामसत्य विकथादिकम् । स्तेयमब्रह्मसेवां च द्रव्यादिकपरिग्रहम् ॥१२॥ अशुभं सकलसकल्पं वाचो हिंसादिकारणम् । गमनादिप्रयुक्त न कुर्वे वस्तु च पापदम् ॥१३॥ मनोवाक्काययोगेन त्यक्त्वा सर्वाशुभ बुधा । उपवासदिने धीराः तिष्ठन्ति मुनयो यथा ॥ १४ ॥ आदाय प्रोषधं धीरस्तिष्ठेत्साधुपमाश्रये । जिनागारेऽथवा शून्यगेहे गिरिगुहादिषु ॥ १५ ॥ श्रुत्वामृतं पिवेत्तत्र धर्मं सवेगकारणम् । एकचित्तेन तीर्थेशमुखोत्पन्नं शुभं सुधीः ॥ १६ ॥ ज्ञानवान्

करनां चाहिये और अपना वा दूसरोंका उपकार करनेके लिये अन्य भव्य जीवोंको उसका पान करना चाहिये । अर्थात
उसे स्वयं शास्त्र स्वाध्याय करना चाहिये और दूसरोंको सुनाना चाहिये ॥ १७ ॥ इसीप्रकार वारह अनुप्रेक्षाएं, छह द्रव्य,
सात तत्व, चारों प्रकारका धर्मध्यान और शास्त्रोंका मनन वा चिंतवन भी उन बुद्धिमानोंको करना चाहिये ॥ १८ ॥
इसीप्रकार बुद्धिमानोंको पाप और नरक देनेवाले संसार, शरीर और भोगोंसे वैराग्य भावनाओंका चितवन करना चाहिये,
क्योंकि यह वैराग्य ही स्वर्ग और मोक्षरूपी घरका आंगन है ॥ १९ ॥ धीरवीर बुद्धिमान मनुष्योंको केवलज्ञानरूपी सूर्यका
चिंतवन करना चाहिये, क्योंकि यह केवलज्ञानरूपी सूर्य लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाला है, अनंत गुणोंका समुद्र है,
मोक्षका कारण है और जिनेंद्रदेव भी इसका ध्यान करते हैं। इसीप्रकार अनंत महिमाओंसे सुशोभित परमात्माका
ध्यान भी उनको करना चाहिये ॥ २०–२१ ॥ इसीप्रकार उस दिन बुद्धिमानोंको चित्त लगाकर अरहत, सिद्ध, आचार्य,
उपाध्याय व साधु इन पांचों परमेष्ठियोंके वाचक पंच नमस्कार मंत्रका जप और ध्यान करना चाहिये ॥ २२ ॥ हे मित्र !
वहुत कहनेसे क्या लाभ है? थोडेसेमें इतना समझ ले, कि प्रोपधोपवासके दिन स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये समस्त पापोंका
त्याग कर मुनिके समान रह ॥ २३ ॥ इसप्रकार जो बुद्धिमान वैराग्य धारण कर तथा हिंसा आदि समस्त पापोंका त्याग
कर प्रोपधोपवास करते हैं वे असंख्यात पापोंको नष्ट करते हैं ॥ २४ ॥ जो उपवास धारण करके भी गृहस्थीके आरंभ
व्यापार आदिके समस्त पाप करते हैं उनका वह उपवास हाथीके स्नानके समान व्यर्थ है–उस उपवाससे केवल खेद ही
होता है, पाप नष्ट नहीं होते ॥ २५ ॥ इसालिये धीरवीर पुरुषोंको उपवासके शुभ दिनमें प्राण नष्ट होनेपर भी घर संबंधी

धर्मसंयुक्त स्वय धर्मामृत पिवेत् । अन्येपा पाययेद्वापि प्रोपकाराय स्वान्ययोः ॥१७॥ अनुप्रेक्षाश्च पट्द्रव्यसप्ततत्त्वादिकान् सुधीः । धर्म-
ध्यान चतुर्भेद स्वागम वा विचिंतयेत् ॥ १८ ॥ ससारदेहभोगेपु पापश्वभ्रप्रदेपु वै । वैराग्य भावयेद्धीमान् नाकमुक्तिगृहागणम् ॥ १९ ॥
अनन्तगुणसन्दोह केवलज्ञानभास्करम् । मुक्तिवीज जिनेन्द्रैर्ध्येय लोकालोकप्रकाशकम् ॥२०॥ असख्यमहिमायुक्त परमात्मानमजसा । भजेद्धी-
मान् पुमान् धीरो मन कृत्वा सुनिश्चलम् ॥ २१ ॥ एकचित्तेन वा धीमान् जपेत्पचपदानि वै । अर्हदादिगुरूणा हि नामोत्पन्नानि निश्चि-
तम् ॥२२॥ किमत्र वहुनोक्तेन त्यक्त्वा सावद्यमजसा । यतिवत्तिष्ठ भो मित्र प्रोपधे स्वर्गमुक्तये ॥२३॥ एव य. प्रोषध कुर्यात्सर्वहिंसादि-
वर्जितम् । क्षिपेद्वैराग्यमापन्न एन सख्याविवर्जितम् ॥२४॥ उपवास विधत्ते यः कुर्यात्पाप गृहादिजम् । गजस्नान इव खेदस्तस्य पापक्षयो

आरंभादिक पाप कभी नहीं करने चाहिये ॥ २६ ॥ जो पुरुप पर्वके दिनोंमें भावपूर्वक उपवास धारण करते हैं वे स्वर्गके राज्यका उपभोग करके अंतमें अवश्य मुक्ति-स्त्रीके स्वामी होते हैं ॥२७॥ जो चतुर्दशीके दिन नियमपूर्वक प्रोपधोपवास करता है वह चौदह गुणस्थानोको पारकर मोक्षमें जा विराजमान होता है ॥ २८ ॥ चतुर्दशीके समान धर्म करनेयोग्य महा पवित्र और उपवास प्रोपधोपवास आदि करने योग्य उत्तम पर्व तीनो कालोमें भी अन्य कोई नहीं हो सकता ॥ २९ ॥ जो चतुर्दशीके दिन चित्त लगाकर प्रोपधोपवास करता है वह सोलहवे स्वर्गके सुख भोगकर मुक्तिरूपी सर्वोत्तम स्त्रीके समीप जा पहुचता है ॥३०॥ जो प्रत्येक चतुर्दशीके दिन घर संबंधी समस्त पापोंको छोडकर उपवास करता है और इसप्रकार चौदह उपवास करता है वह महा पुण्य उपार्जन करता है ॥ ३१ ॥ बुद्धिमानोंको चतुर्दशीके दिन धारण किया हुआ उपवास प्राण नष्ट होनेपर भी नहीं छोडना चाहिये, क्योंकि चतुर्दशीके दिन धारण किया हुआ उपवास धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारो पुरुपार्थोंको देनेवाला है ॥ ३२ ॥ जो सम्यग्दृष्टी उत्तम पुरुप अष्टमीके दिन उपवास करते हैं वे आठों कर्मोंको नष्टकर मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥ ३३ ॥ अष्टमीका दिन सबमें सारभूत है। उस दिन जो उत्तम प्रोपधोपवास करता है वह इंद्रका साम्राज्य पाकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥ जो पुण्य प्राप्त करनेके लिये अष्टमीके दिन नियम पूर्वक उपवास करता है वह अपने आठो कर्मोंको नष्टकर सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन आदि सिद्धोंके सर्वोत्तम आठों गुणोंको धारण करता है ॥ ३५ ॥ जो गृहस्थ अष्टमीके दिन उपवास धारण कर धर्म पालन करते है वे इस दिनके समस्त पापोको नष्टकर

न च ॥ २५ ॥ तस्माद्धीरैर्न कर्तव्य उपवासदिके शुभे । गृहपापादिकारम्भ' प्राणान्तेऽपि कदाचन ॥२६॥ यः पर्वण्युपवास हि विधत्ते भावपूर्वकम् । नाकराज्यं च सप्राप्य मुक्तिनारीं वरिष्यति ॥ २७ ॥ प्रोषध नियमेनैव चतुर्दश्या करोति यः । चतुर्दशगुणस्थानान्यतीत्य मुक्तिमाप्नुयात् ॥२८॥ चतुर्दश्या सम पर्वं नास्ति कालत्रये वरम्। महायोग्य महापूतमुपवासादिगोचरम् ॥२९॥ प्रोषधं यच्चतुर्दश्यामेकचित्तेन सभजेत्। प्राप्य षोडशम नाक व्रजेन्मुक्तिवरागनाम् ॥३०॥ द्विसप्ताद्युपवासेन पाप हत्वा गृहादिजम्। चतुर्दशादिसजात महापुण्यं लभेत ना ॥३१॥ प्राणान्तेऽपि न मोक्तव्यश्चतुर्दश्या हि धीधनै' । उपवासोऽतिधर्मार्थ काममोक्षफलप्रद. ॥ ३२ ॥ अष्टम्यामुपवास हि ये कुर्वन्ति नरोत्तमा । हत्वा कर्माष्टक तेऽपि यान्ति मुक्ति सुदृष्टय ॥ ३३ ॥ अष्टमे दिवसे सारे यः कुर्यात्प्रोषध वरम् । इन्द्रराज्यपद प्राप्य क्रमाद्याति स निर्वृतिम् ॥ ३४ ॥ नियमेनोपवास य. करोति पुण्यहेतवे । स्वाष्टकर्माणि हत्वा स भजेत्सार गुणाष्टकम् ॥३५॥ सदष्टम्यु-

महा पुण्य उपार्जन करते हैं ॥ ३६ ॥ इसलिये गृहस्थी पुरुषोंको प्राण नष्ट होनेपर भी अष्टमीके दिनका प्रोषधोपवास कभी नहीं छोडना चाहिये क्योंकि अष्टमीके दिन किया हुआ उपवास धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पुरुषार्थोंको देनेवाला है ॥३७॥ इसलिये हे भव्य! तू विना किसी इच्छाके केवल धर्मपालन करनेके लिये प्रत्येक महीनेमें सारभूत चार (दो अष्टमीके दो चतुर्दशीके) उपवास कर ॥३८॥ जो मूर्ख पर्वके दिनोंमें उपवासको छोडकर कामसेवन करते हैं वे नरकरूपी महासागरमें अवश्य डूबते हैं ॥ ३९ ॥ जो सारभूत अष्टमीके दिन स्त्रीसेवन करते हैं वे उस पापकर्मके उदयसे मरकर विष्टाके कीडा होते हैं ॥ ४० ॥ जो चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमें व्रत नही करते वे भव भवमें दरिद्री और नपुंसक होते हैं ॥ ४१ ॥ यही समझकर बुद्धिमानोंको पर्व आदिके विशेष दिनोंमें उपवास नामका तपश्चरण अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह पर्वके दिनोंमें किया हुआ उपवास स्वर्ग मोक्षरूपी लक्ष्मीको वश करनेवाला है ॥ ४२ ॥ यह उपवासजन्य तपश्चरण मुक्तिरूपी नगरमें जानेके लिये भरपूर पाथेय (मार्गमें खाने योग्य पदार्थ) है तथा यही उपवासरूपी तपश्चरण मुक्तिरूपी स्त्रीको वश करनेके लिये परम मंत्र है ॥ ४३ ॥ यह उपवासरूपी तपश्चरण इच्छानुसार पदार्थोंको देनेके लिये कल्पवृक्ष है और यही तपश्चरण मनमें सोचे हुए पदार्थोंको देनेके लिये चिंतामणि रत्नके समान है ॥ ४४ ॥ विद्वानलोग इसी तपश्चरणको रत्न आदि समस्त पदार्थोंकी खानिभूत निधि कहते हैं ॥ ४५ ॥ तीनों लोकोंमें रहनेवाली लक्ष्मीको आकर्षण करने-अपनी ओर खींचनेके लिये यही उपवासरूपी तप परम मंत्र है तथा जन्ममरणरूपी ज्वरको दूर करनेके लिये यही उपवास परम

पवासस्य धर्मेण गृहनायकाः । अष्टादिदिनज पाप हत्वा पुण्य भजन्ति वै ॥ ३६ ॥ तस्मान्न प्रोषधस्त्याज्यः अष्टम्या च गृहान्वितैः । धर्मार्थकाममोक्षादिप्रद प्राणात्यये क्वचित् ॥३७॥ इति मत्वा सदा सारमुपवासचतुष्टयम् । मासमध्ये कुरु त्व हि धर्माय त्यजकामया ॥३८॥ कामसेवा प्रकुर्वन्ति शठा सर्वदिनेषु ये । उपवासादिकं त्यक्त्वा मज्जन्ति श्वभ्रसागरे ॥ ३९ ॥ अष्टम्यादिदिने सारे रमन्ते रामया सह । तस्या अमेध्यमध्ये ते कृमियोनि भजन्त्यघात् ॥४०॥ चतुर्दश्या दिने पर्वव्रतं कुर्वन्ति ये न वै । दरिद्रत्वं च क्लीवत्वं ते भजन्ति भवे भवे ॥४१॥ इति मत्वा बुधैः कार्यं तपोऽनशनगोचरम् । पर्वादिषु विशिष्टेषु स्वर्मुक्तिश्रीवशीकरम् ॥४२॥ तपो मुक्तिपुरीं गतु पाथेय स्याद्धि पुष्कलम् । मुक्तिरामावशीकर्तुं तपो मन्त्रोगिना भवेत् ॥४३॥ तपः समीहितस्यैव दातु कल्पद्रुमो भवेत् । तपश्चिंतामणिश्चयश्चिंतितार्थप्रदोगिनाम् ॥४४॥ तपः कामदुघाप्युक्ता कामिकार्थप्रदा बुधैः । तपोनिधिश्च रत्नादि सर्ववस्त्वाकरो भवेत् ॥४५॥ तप आकर्षणे मन्त्रः सर्व लोक

औषध है ॥ ४६ ॥ कर्मरूपी महा वनको जला देनेके लिये यही तपश्चरण अग्निके समान है और पापरूपी मलको धोनेके लिये गणधर देवोंने इसी उपवासरूपी तपश्चरणको जलके समान वतलाया है ॥ ४७ ॥ पापरूपी पर्वतको चूर चूर करनेके लिये भगवान जिनेंद्रदेवने इसी तपको वज्र वतलाया है और यही तपश्चरण अशुभरूपी महा शत्रुओंको नष्ट करनेके लिये तीक्ष्ण शस्त्रोके समान ॥ ४८ ॥ इंद्रियरूपी मदोन्मत्त हाथीको मारनेके लिये यह तपश्चरण सिंहके समान है और मनरूपी वंदरको रोकने वा वश करनेके लिये यही तपश्चरण जालके समान माना जाता ॥ ४९ ॥ तपश्चरणसे सुशोभित होने-वाला बुद्धिमान तीनो कालोमे उत्पन्न होनेवाले और तीनो लोकोंमें रहनेवाले जिन जिन पदार्थोंकी इच्छा करता है वे सव पदार्थ उसके समीप अपने आप आजाते है ॥ ५० ॥ जिसका हृदय मुक्तिरूपी स्त्रीमें आसक्त है ऐसा जो बुद्धिमान पुरुप एकाग्र चित्त होकर तपश्चरण करता उसके लिये इस संसारमें कोई पदार्थ दुर्लभ नही है ॥ ५१ ॥ जो बुद्धिमान पहिले मोक्ष जा चुके है, अव जा रहे है अथवा आगे जांयगे वे केवल तपश्चरण ही गये हैं, तपश्चरणसे ही जा रहे हैं और तपश्चरणसे ही जायगे। तपश्च के सिवाय अन्य किसी भी कारणसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती ॥५२॥ जो धीरवीर पुरुप अपनी शक्तिको प्रगट कर तपश्चरणरूपी धनका संग्रह करते हैं वे विद्वानोंके द्वारा इस संसारमें धन्य माने जाते हैं ॥५३॥ तीर्थंकर परमदेव होनहार मोक्षके स्वामी है और इंद्रादिक सव उनकी पूज करते हैं परंतु वे भी दो दिन चार दिन महीने दो महीने वा छह छह महीनेतक उपवा पी तपश्चरणको करते है ॥ ५४ ॥ इस संसारमें भगवान श्री ऋपभदेवने भी गणधरों साथ तपश्चरण किया था फिर भला अन्य लोगोकी तो वात ही क्या है, उन्हें तो अवश्य करना चाहिये ॥५५॥

स्थितश्रिया.। तप औषधमेव स्याज्जन्मज्वरविघातने ॥४६॥ तप कर्ममहारण्यदहने ज्वलनोपम । तप पापमलापाये जल प्रोक्त गणाधिपै ४७ तपो वज्र जिनैरुक्त दुरिताद्रिविखण्डने। तपोऽशुभमहाशत्रु हन्तु तीक्ष्णायुधोपमम् ॥४८॥ तप सिंहो भवेद्दक्ष' मत्तमातंगघातने । मन'मर्कटसंरोधे तप पाशोंगिना 'मतः ॥४९॥ तपसा कृतो धीमान् यद्यद्वस्तु समीहते । तत्तदेव समायाति त्रैलोक्ये त्रिजगत्यपि ॥५०॥ एकाचित्तेन यो धीमान् मुक्तिस्त्रीरजिताशय' । [redacted] ति तस्यैव किंचिल्लोके न दुर्लभम् ॥ ५१ ॥ ये वुधा. मुक्तिमापन्ना यान्ति यास्यन्ति निश्चितम् । केवल तपसा तेऽपि नान्येन केन हेतुना ॥५२॥ हीने सहनने धीरा ये कुर्वन्ति तपोधनम् । स्वशक्तिं प्रकटीकृत्य ते धन्या विदुपा मता' ॥५३॥ तीर्थनाथा ध्रुव मुक्तिनाथा इन्द्रादिपूजिता' । तपः कुर्वन्ति ते नित्य पण्मासावधिगोचरम् ॥५४॥ आदिश्रीजिनदेवोऽपि समं गण-

जिसप्रकार सुहागा आदिके संयोगसे अग्निके द्वारा तपाया हुआ सोना शुद्ध होजाता है उसीप्रकार सम्यग्दर्शन संयोगसे तपरूपी अग्निके द्वारा तप्त हुआ यह जीव कर्ममल कालिमासे रहित होकर शुद्ध होजाता है ॥ ५६ ॥ जिसप्रकार मैल लगा हुआ वस्त्र पानीसे धोनेपर शुद्ध होजाता है उसीप्रकार तपरूपी जलसे धुलजानेपर अत्यंत नीच पुरुष भी शुद्ध होजाता है ॥५७॥ स्थूल शरीरमें आसक्त होकर जो पुरुष तपश्चरण नहीं करते वे पुरुष भवभवमें रोग क्लेश आदिके वहुतसे दुःखोंको भोगते रहते हैं ॥ ५८ ॥ जो तपश्चरण नहीं करता वह इस लोकमें रोग दुःख और दरिद्रता आदिसे महा दुःखी होता है तथा परलोकमें अने पापोका उपार्जन कर नरक और तिर्यंच गतिके अनेक दुःखोंको भोगता है ॥ ५९ ॥ जिसने तपरूपी आभूषण छोडदिया है और जो पापरूपी मैलमें सदा आसक्त रहता है उसको मिलने वाले नरक आदिके दुःखोंको हम लोग कह भी नहीं सकते है ॥ ६० ॥ जो राग द्वेष रूपी रोगोके कारण तपश्चरण नहीं करता उसे पंद्रह पंद्रह दिन महीने महीने भरके लंघन करने पडते हैं अथवा और भी ऐसे ही अनेक दुःख भोगने पडते हैं ॥ ६१ ॥ तपश्चरणके विना यह मनुष्य पशु ही है इसमें कोई संदेह नहीं। उपवासरूपी तपश्चरणके विना लगातार सव दिन भक्षण करनेसे यह जीव अवश्य ही दुःखी होता है ॥ ६२ ॥ यही समझकर हे धीरवीर मित्र ! अपने कर्मोको नष्ट करनेके लिये अपनी शक्तिको प्रगट कर तू प्रतिदिन तपश्चरण कर ॥ ६३ ॥ जो पांचों अतीचारोको छोडकर प्रत्येक महीनेके चारों पर्वोमें नियमपूर्वक प्रोषधोपवास करता है वह तीनों लोकोंके समस्त सुखोंको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

धरादिभि । तप करोति लोकेस्मिंस्तर्ह्यन्यै क्रियते न किम् ॥ ५५ ॥ तप्त यथाग्निना हेम शुद्ध भवति योगत । जीवस्तपोग्निना तप्त शुद्धो दृष्ट्यादियोगतः ॥ ५६ ॥ यद्वन्मलभृत वस्त्र शुद्ध नीरेण स्याद्ध्रुवम् । तपोजलेन धौतो हि नीच शुद्धो भवेन्महान् ॥ ५७ ॥ ये तपो नैव कुर्वन्ति स्थूलदेहादिलम्पटा । रोगक्लेशादिज दुःख ते लभन्ते भवे भवे ॥५८॥ तपो हीनो भवेद्रोगी दु खदारिद्र्यपीडित । इहामुत्र महापापात् श्वभ्रतिर्यग्गतिं व्रजेत् ॥५९॥ तपोलकारत्यक्तो यो लिप्त पापमलादिभि । तस्य दु ख न सक्तोऽह वक्तु श्वभ्रादिगोचरम् ॥६०॥ तपो यो न विधत्ते ना कुर्याद्रागादिरोगत । लघनादिसमूह स पक्षमासादिगोचरम् ॥ ६१ ॥ तपो विना पुमान् ज्ञेय पशुरेव न सशय । इहामुत्र भवेद्दु खी सर्वाह्निपरिभक्षणात् ॥६२॥ इति मत्वा तपो मित्र ! स्वशक्त्या कुरु प्रत्यहम् । वीर त्व प्रकटीकृत्य स्वकर्मक्षयहेतवे ॥६३॥ नियमेनैव यो दध्याच्चतु पर्वसु प्रोषधम् । पञ्चातिचारनिष्क्रान्त श्रयेत्त्रैलोकज सुखम् ॥६४॥ भगवन् तान् व्यतीपातान् दिश त्व

प्रश्न–हे प्रभो ! कृपाकर उन अतिचारोंको मेरे लिये निरूपण कीजिये ?

उत्तर–हे वत्स ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं उन अतिचारोंका निरूपण करता हूं ॥ ६५ ॥ अदृष्टमृष्ट व्युत्सर्ग, अदृष्टमृष्ट आदान, अदृष्टमृष्ट संस्तरोपकरण, प्रोपधमें अनादर और अस्मरण ये पांच प्रोपधोपवासके अतिचार गिने जाते हैं। जो विना देखे विना शोधे अपने काममें आने योग्य जल आदिको पृथ्वीपर रख देता है उसके अदृष्टमृष्ट व्युत्सर्ग नामका दोष लगता है ॥ ६७ ॥ जो मनुष्य क्षुधासे पीडित होकर वा अन्य किसी कारणसे विना देखे विना शोधे वस्त्र वा पूजाके पदार्थोंको ग्रहण करता है उसके अदृष्टमृष्टदान नामका अतिचार लगता है ॥ ६८ ॥ जो मनुष्य प्रमादके कारण रात्रिमें पीछेसे विना शोधे वा नेत्रोंसे विना देखे बिछोना वा सांथरा (सोनेके लिये चटाई आदिका बिछाना) करता है उसके अदृष्टमृष्ट सस्तरोपकरण नामका अतिचार लगता है ॥ ६९ ॥ जो मनुष्य क्षुधासे पीडित होकर (भूखसे घबड़ाकर) आवश्यक आदि कार्योंमें अनादर करता है उसके अनादर नामका दोप लगता है ॥ ७० ॥ अपने हृदयको घरके काममें आसक्त रखनेवाला अथवा काम अर्थ इन दो ही पदार्थोंमें हृदयको आसक्त रखनेवाला जो पुरुप अपने चित्तको निश्चल नहीं करता है उसके अस्मरण नामका दोप लगता है। (जिसका चित्त निश्चल नहीं है उससे भूल होजाना स्वाभाविक ही है इसलिये चित्तका स्थिर न रहना ही अस्मरण कहलाता है।) ॥ ७१ ॥ जो बुद्धिमान् समस्त प्रमादोंको छोड़कर और अपने हृदयको निश्चलकर प्रोपधोपवास करता है उसके कोई अतिचार नहीं लग सकता ॥७२॥ यह प्रोपधोपवास पापरूपी वनको जलानेके लिये महा अग्नि है, धर्मरूपी वृक्षको बढ़ानेके लिये मेघकी धारा है, समस्त सुखोंका सागर है, दुःखरूपी

कृपया मम । प्रवक्ष्यामि शृणु त्वं ते स्थिरं कृत्वा मनो हि तान् ॥६५॥ अदृष्टामृष्टव्युत्सर्गादानसस्तरणादिषु । प्रोपधेऽनादरः प्रोक्तस्ततश्चास्मरणं भवेत् ॥६६॥ प्रमार्जनावलोकाभ्यां विना भूमौ हि यः क्षिपेत् । कार्यादिजं मलं दोषमुत्सर्गाख्यं लमेत ना ॥६७॥ विना यो दृष्टमृष्टाभ्यां वस्त्रं पूजादिवस्तु ना । क्षुत्पीडितोऽभिगृह्णाति चादानातिक्रमं श्रयेत् ॥६८॥ पिच्छिकानेत्र कर्माभ्यां विना रात्रौ प्रमादतः । विधत्ते सस्तरं योऽस्य संस्तरातिक्रमो भवेत् ॥६९॥ क्षुधादिपीडितो योऽपि पुमानावश्यकादिषु । अनादरं विधत्ते सः श्रयेद्दोषमनादरम् ॥ ७० ॥ गेहकार्यादिसंसक्तो यः करोति न निश्चलम् । चित्तं कामार्थसयुक्तं भजेदस्मरणं स ना ॥७१॥ कृत्वातिनिश्चलं चित्तं यो धत्ते प्रोपधं सुधीः । प्रमादानपि संत्यक्त्वा सोऽतीचारं लमेत न ॥७२॥ दुरितवनमहाग्निं धर्मवृक्षस्य मेघं, सकलसुखसमुद्रं दुःखदावाग्निवृष्टिम् । सुरशिवगतिमार्गं

दावानल अग्निको शांत करनेके लिये पानीकी वर्षा है, स्वर्ग मोक्षका कारण है और साधुलोग भी इसकी सेवा करते हैं इसलिये हे भव्य ! निर्मल गुणोंको प्राप्त करनेके लिये सारभूत पर्वके दिनोंमें तू इस प्रोषधोपवासको धारण कर ॥ ७३ ॥ यह प्रोषधोपवास निर्मल गुणोंका निधि है, अपने हृदयरूपी सर्पको वश करनेके लिये महा मंत्र है, विषयरूपी वनको जलानेके लिये दावानल अग्नि है, कर्मरूपी वनको काटनेके लिये कुठार है, तीनों लोक इसकी पूजा करता है और तीर्थंकर परमदेवने इसका निरूपण किया है । इसलिये हे विद्वन् ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू इस प्रोषधोपवासको सदा धारण कर ॥ ७४ ॥ यह प्रोषधोपवास किसीके वश न होनेवाली इंद्रियरूपी मदोन्मत्त हाथीको मारने या वश करनेके लिये सिंहके समान है, धर्मको प्रगट करनेवाला या देनेवाला है और समस्त पापोंको नाश करनेवाला है इसलिये जो बुद्धिमान प्रत्येक पर्वके दिनोंमें इस प्रोषधोपवासको धारण करता है उसके समीप स्वर्गकी लक्ष्मी अपने आप आजाती है, निर्मल मुक्ति भी उसे सदा देखती रहती है, श्रेष्ठ वाणी वा सरस्वती अपने आप आ खड़ी होती है उसकी कीर्ति चारों ओर फैल जाती है और अनुपम मोक्षरूपी राज्यकी लक्ष्मी उसे अवश्य प्राप्त होती है, अतएव गृहस्थोंको पर्वके दिनोंमें अवश्यप्रोषधोपवास करना चाहिये ॥ ७५ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें प्रोषधोपवासको निरूपण करनेवाला यह उन्नीसवां परिच्छेद समाप्त हुआ ।



साधुलोकैः सुसेव्यं, भज विमलगुणाढ्यं प्रोषधं पर्वसारे ॥७३॥ अमलगुणनिधानं स्वान्तसर्पस्य मन्त्रं, विषयवनदवाग्निं कर्मवृक्षे कुठारम् ।
सकलभुवनपूज्यं तीर्थनाथैः प्रणीतं, बुधजन परिमुक्त्यै चोपवासं सदा त्वम् ॥ ७४ ॥ स्वर्गश्रीरुपयाति तं च विमला मुक्तिश्च तालोक्यते,
सद्वाणी स्वयमेव कीर्तिरतुला राज्यादिलक्ष्मी ध्रुवम् । दुर्वृत्तेन्द्रियमत्तहस्तिदमने सिंहोपमं सर्वदं, पापारिक्षयदं शुभो हि कुरुते य
प्रोषधं पर्वसु ॥ ७५ ॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे प्रोषधोपवासप्ररूपको नाम एकोनविंशतितमः परिच्छेदः ।

अथ वीसवां परिच्छेद ।

जो महाव्रतोंको धारण करनेवाले है, धीरवीर हैं और अनेक व्रतोंको प्रदान करनेमें समर्थ हैं ऐसे श्री मुनिसुव्रत भगवानको मैं पुण्य उपार्जन करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ ऊपरके सर्गमें प्रोपधोपवास नामके शिक्षाव्रतका व्याख्यान कर चुके। अब आगे अपने और दूसरोंके हितके लिये चौथे दान वा वैयावृत्य नामके शिक्षाव्रतको कहते हैं ॥२॥ भगवान जिनेंद्रदेवने गृहस्थोंको पुण्य संपादन करनेके लिये आहारदान, औपधदान, शास्त्रदान और वसतिका दान ऐसे चार प्रकारका दान बतलाया है ॥ ३ ॥ गृहस्थोंको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये दान, पात्र और विधिको जानकर चारों प्रकारका महा दान देना चाहिये ॥ ४ ॥ इस संसारमें पात्र तीन प्रकारके हैं–उत्तम, मध्यम और जघन्य । मुनि उत्तम पात्र हैं, श्रावक मध्यम पात्र हैं और असंयत सम्यग्दृष्टी जघन्य पात्र हैं ॥ ५ ॥ जो मुनिराज बाह्य अभ्यंतर सब तरहके परिग्रहोंसे रहित हैं, जो श्रेष्ठ व्रत और गुप्तियोसे शोभायमान हैं, धीरवीर आदि अनेक प्रकारके तपश्चरण करनेवाले हैं, जो मुखके सब संस्कारोसे रहित हैं, धूल मिट्टी आदि मैलसे जिनका समस्त शरीर लिप्त होरहा है, जिन्होने अपने शरीरसे ममत्व छोड दिया है, जो संसारमें अत्यत दुर्लभ हैं, तपश्चरणसे जिनका सब शरीर कृश होरहा है, जो परीपह सहन करनेमें चतुर हैं, मूलगुण उत्तरगुणोंसे सुशोभित हैं, असंख्यात गुणोंके सागर हैं, लाभ अलाभमें जिनके परिणाम एकसे रहते हैं, जो धीरवीर हैं, जो निंदा स्तुति दोनोसे प्रतिकूल हैं, तृण सुवर्ण दोनोमें समान भाव रखते हैं, जो अनेक दुःखोके सागर ऐसे संसारको

अथ विंशतितमः सर्गः ।

महाव्रतधर धीर वन्देऽहं मुनिसुव्रतम् । अनेकव्रतसदान प्रणीत पुण्यहेतवे ॥ १ ॥ शिक्षाव्रत तृतीयं च व्याख्याय कथयाम्यहम् । चतुर्थं दानसजात स्वस्यान्यस्य हिताय वै ॥२॥ आहार चौषध शास्त्रदान वसतिका जिनैः । चतुर्धा गृहिणां दान प्रणीत पुण्यहेतवे ॥३॥ ज्ञात्वा दान तथा पात्र विधिं स्वर्मुक्तिप्राप्तये । चतुर्विधं महादान दधीध्व गृहनायकाः ॥ ४ ॥ उत्कृष्टमध्यनिकृष्टैर्भजन्ति पात्रतां भुवि । मुनिश्रावकसदृष्टिजिना दर्शनशालिनः ॥ ५ ॥ सर्वसंगपरित्यक्ताः सदा सद्वृत्तगुप्तिभिः । धीरवीरस्तपस्तप्ता सुखसस्कारवर्जिताः ॥ ६ ॥ मलेन लिप्तसर्वांगस्त्यक्तदेहाः सुदुर्लभाः । तपसा क्षायसर्वांगाः परीपहसहा वराः ॥७॥ मूलोत्तरगुणाढ्याश्च असख्यगुणसागराः । लाभालाभे समा धीरा निन्दास्तुतिपरान्मुखाः ॥८॥ तृणहेमादिसतुल्या ससार दुःखवारिधिम् । स्वयं तरन्ति भव्यानां क्षमास्तारयितु बुधाः ॥९॥ कृता- ॥२१५॥

स्वयं तरते है और दूसरोंको तारदेने-पार कर देनेमें समर्थ हैं, जो कृत कारित अनुमोदना आदिके द्वारा किये हुए दोषोंसे सर्वथा रहित हैं, जो आहार करनेके लिये अमीर गरीब सबके घर विना किसी इच्छाके प्रवेश करते है, जो इंद्रियोंको जीतनेमें शूरवीर हैं, सब जीवोंका हित करनेवाले हैं, रत्नत्रयसे सुशोभित हैं, ज्ञान ध्यानमें सदा तल्लीन रहते हैं, जिनके नेत्र सदा ईर्यापथमें लगे रहते है, जिनका हृदय शुभ है, जो राग द्वेष मोह मद उन्माद भय आदि विकारोंसे रहित है, जो दान देने योग्य है, महा पूज्य हैं और दाताओंको संसारसे पार कर देनेवाले है ऐसे मुनिराजोंको ही तू उत्तम पात्र समझ ॥ ६–१३ ॥ जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे सुशोभित हैं, श्रावकोंके धर्मको पालन करनेमें सदा तत्पर रहते है, धर्म और संवेग (संसारसे डर) से सुशोभित हैं, प्रोषधोपवास आदि आवश्यक क्रियाओंको करनेवाले है, देव गुरु शास्त्रके भक्त है, और दान पूजा आदि कर्तव्यकर्मोंको सदा पालन करतें हैं, ऐसे श्रावकोंको तू मध्यम पात्र समझ ॥ १४–१५ ॥ जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हैं, श्री जिनेंद्रदेवके शासनके भक्त हैं, जो पूजा प्रतिष्ठा आदि करनेमें तत्पर है, संवेग आदि गुणोंसे सुशोभित है, जिनको सातों तत्त्वोंका वा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानादिका पूर्ण श्रद्धान हे और जो आठ मूलगुणोंसे विभूषित हैं ऐसे असंयत सम्यग्दृष्टी जघन्य पात्र गिने जाते है ॥ १६–१७ ॥ गृहस्थोको अपने आप आये हुए पात्रोंके लिये शुद्ध, प्रासुक, चिकना वा मुलायम, कृतकारित, अनुमोदना आदि दोषोसे रहित, तपश्चरणको बढानेवाला, सचित्त रहित, सचित्तकी मिलावटसे रहित, सारभूत, सुख देनेवाला और जो कुटुम्बी आदिके लिये बनाया गया हो

दिभिर्महादोषैस्त्यक्ताहारावलोकिन । उच्चनीचगृहेष्वेव प्रविश्यन्तेऽतिनिस्पृहा ॥१०॥ इन्द्रियादिजये शूरा सर्वजीवहितप्रदा । रत्नत्रयसमायुक्ता ज्ञानध्यानपरायणा ॥११॥ सदेर्यापथसन्नेत्रा ये मुनीन्द्रा शुभाशया । रागद्वेषमदोन्मादभयमोहादिवर्जिता ॥१२॥ तानेवोत्तमसत्पात्रान् विद्धि त्व मुनिनायकान् । दानयोग्यान् महापूज्यान् दातृसतारकान् भुवि ॥ १३ ॥ सम्यक्त्वादिगुणोपेतान् श्रावकव्रततत्परान् । धर्मसवेगसयुक्तान् सत्प्रोषधविधायिन ॥१४॥ देवगुर्वादिसंभक्तान् दानपूजादिकारकान् । विद्धि त्व श्रावकानेव पात्रमध्यमसज्ञकान् ॥१५॥ सम्यग्दर्शनसशुद्धा भक्ता श्रीजिनशासने । पूजादितत्परा लोके सवेगादिविभूषिता ॥१६॥ तत्त्वज्ञानादिश्रद्धानयुक्ता येऽष्टगुणान्विताः । ऐते च पात्रता प्राप्ता जघन्याख्य सुदृष्टयः ॥१७॥ शुद्ध सत्प्रासुक स्निग्ध कृतादिदोषवर्जितम् । तपो वृद्धिकर सार त्यक्तमिश्रसचित्तकम् ॥१८॥ कुटुम्बकारणोत्पन्नमन्नदान सुखप्रदम् । स्वयमागतपात्राय दातव्य गृहनायकै ॥१९॥ श्रद्धा शक्तिश्च सद्भक्तिरलुब्धत्व दया क्षमा ।

ऐसा आहार दान देना चाहिये ॥१८–१९॥ मुनिराजोने श्रद्धा, भक्ति, शक्ति, अलुब्धतता, दया, क्षमा और विज्ञान ये सात दाताओंके श्रेष्ठ गुण बतलाये हैं ॥ २० ॥ मुनियोंका पडगाहन करना, उनको ऊँचा आसन देना, उनके चरणकमल धोना, पूजा करना, चित्त लगाकर प्रणाम करना, मनको शुद्ध रखना, वचनको शुद्ध रखना, शरीरको शुद्ध रखना और आहारकी शुद्धि रखना ये नौ गृहस्थोंको पुण्य बढानेवाले दानकी विधिके भेद कहलाते हैं इन्हींको नवधाभक्ति कहते हैं ॥ २१–२२ ॥ नवधा भक्ति करनेवाले और ऊपर लिखे हुए सातों गुणोंसे सुशोभित गृहस्थोको भक्तिपूर्वक उत्तम पात्रोंके लिये प्रासुक, हिंसादिक समस्त पापोसे रहित योग्य सुख देनेवाला, लोकनिंदासे रहित और समस्त रोगोंको दूर करनेवाला आहार दान देना चाहिये ॥ २३–२४ ॥ उत्तम गृहस्थोंको किसी मुनिराजको रोगी जानकर उस रोगको शांत करनेके लिये उन्हे औषधि दान देना चाहिये ॥ २५ ॥ इसीप्रकार बुद्धि और संवेगको धारण करनेवाले ज्ञानी मुनियोंके लिये विवेकी गृहस्थोंको ज्ञानदान देना चाहिये तथा समस्त तत्त्वोंके कथनसे भरे हुए, लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाले, भगवान् जिनेन्द्रदेवके मुखसे उत्पन्न हुए, गौतमादि गणधरोंके द्वारा गूंथे हुए गृहस्थ व मुनियोंके चारित्रको निरूपण करनेवाले, द्रव्योंके गुण पर्यायोंके द्वारा होनेवाले भेद अभेदोंको प्रगट करनेवाले तथा पूर्वापर विरुद्ध आदि दोषोंसे रहित ऐसे शास्त्र अपना उपकार करनेके लिये और पात्रोंका अज्ञान दूर करनेके लिये अवश्य देने चाहिये। यह ज्ञान दान वा शास्त्र दान गृहस्थ भी मुनियोंके लिये करते हैं व मुनि भी परस्पर एक दूसरेके लिये करते हैं ॥ २८–२९ ॥ इसीप्रकार उत्तम पात्रोंको धर्मध्यानादिकी सिद्धिके लिये गृहस्थोंको ऐसी वसतिकाका दान

विज्ञान सद्गुणा उक्ता दातृणा हि मुनीश्वरैः ॥ २० ॥ प्रतिग्रहो मुनीन्द्राणामुच्चस्थानं तथैव च। पादप्रक्षालनं पूजा प्रणामश्चैकचित्ततः ॥२१॥ कायवाङ्मनसा शुद्धिरेषणाशुद्धिरेव हि। विधेर्नव सुभेदा. स्युर्गृहिणा पुण्यहेतवे ॥ २२ ॥ सप्तगुणयुक्तेन दानमाहारसञ्ज्ञकम्। नवपुण्यान्वितेनैव देय पात्राय भक्तित. ॥२३॥ प्रासुक सर्वहिंसादित्यक्त योग्य सुखप्रदम्। लोकनिन्दाविनिष्क्रान्त सर्वामयविनाशकम् ॥२४॥ व्याधिग्रस्तमुनीन्द्राय चौषध श्रावकोत्तमे। ज्ञात्वा रोग प्रदातव्यं तद्व्याध्याद्युपशान्तये ॥२५॥ विश्वतत्त्वादिसपूर्ण लोकालोकप्रकाशकम्। जिनेश्वरमुखोत्पन्न गृथित गौतमादिभि ॥ २६ ॥ आचारसूचकं सार मुनीनां गृहिणामपि। द्रव्याणा गुणपर्यायभेदाभेदप्ररूपकम् ॥२७॥ पूर्वापरविरुद्धादिदोपदूरं विवेकिभि। ज्ञानिनो हि सुपात्राय बुद्धिसवेगशालिने ॥२८॥ ज्ञानदान प्रदातव्य पुस्तकं वा मुनीश्वरैः। गृहस्थैः

देना चाहिये जिसमें शीत वायु आदि न जा सके, जो सूने घरके रूपमें हो वा सूने मठके रूपमें हो, जिसमें सूक्ष्म जीवोंका निवारा न हो, जो कारित आदि दोषोंसे रहित हो, स्वभावसे बनी हो, अच्छी हो और निर्मल हो। ऐसी वसतिकाका दान मुनियोंके लिये अवश्य देना चाहिये ॥ ३०–३१ ॥ श्रेष्ठ गृहस्थोंको अथवा मुनियोंको अपने व्रत शुद्ध रखनेके लिये पुण्य बढानेवाला अभयदान नामका महादान देना चाहिये और वह ऐसे जीवोंको देना चाहिये जो मृत्युके भयसे भयभीत हों, जो सदा दुःखी रहते हों और दुःख शोक आदिके फंदेमें पडगये हों, ऐसे त्रस वा स्थावर जीवोंको भी वह अभयदान देना चाहिये ॥ ३२–३३ ॥

आहारदान देनेसे मुनियोंके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि गुणोंकी वृद्धि होती है और फिर उत्तम ध्यान होनेसे उनके आत्मानुभवका आनंद आया करता है ॥ ३४ ॥ आहारदानके संबंधसे मुनियोंका शरीर कायोत्सर्ग आदि गुणरूप तपश्चरणमें पर्वतके समान स्थिर होजाता है ॥ ३५ ॥ जिसप्रकार उत्तम औषधिसे रोग नष्ट होजाते हैं और प्राण बच रहते हैं उसीप्रकार आहारसे उत्तम पात्रोंकी क्षुधा आदिक व्याधियां दूर होजाती हैं और उनके प्राण बने रहते हैं ॥३६॥ जिसप्रकार आहार छोडदेनेपर हाथी कुछ नहीं कर सकता उसीप्रकार विना आहारके मुनि भी तपश्चरण, चारित्र, ध्यान आदि कुछ नहीं कर सकते ॥ ३७ ॥ जिसप्रकार भोजनसे पुष्ट हुआ हाथी सब कुछ कर सकता है उसीप्रकार समस्त मुनिराज आहारके बलकी सामर्थ्यसे ही महा घोर तपश्चरण करते हैं ॥ ३८ ॥ इसलिये जिसने भावपूर्वक उत्तम

स्वोपकाराय पात्राज्ञानादिहानये ॥ २९ ॥ शीतवातादिसत्यक्ता शून्यगृहमठादिका । सूक्ष्मजीवादिनिर्मुक्ता कारितादिविवर्जिता ॥ ३० ॥ स्वभावनिर्मिता सारा देया वसतिकाऽमला । गृहस्थैः सारपात्राय धर्मध्यानादि सिद्धये ॥३१॥ मृत्स्वादिभयभीतेभ्यस्त्रस्तेभ्योऽपि निरन्तरम् । दुःखशोकादिग्रस्तेभ्य. स्थावरेभ्यो सुपुण्यदम् ॥३२॥ अभयाख्य महादान सर्वजीवेभ्य एव हि। दातव्यं व्रतशुद्ध्यै सद्गृहस्थैर्मुनिनायकैः ॥३३॥ आहारदानत सम्यग्ज्ञानवृत्तादयो गुणाः । वृद्धिं यान्ति यतीशाना यथानदासुध्यानतः ॥३४॥ वपु स्थिर भवेन्नूनं व्युत्सर्गादितपोगुणे । आहारदानयोगेन मुनीना पर्वतादिवत् ॥३५॥ प्राणास्तिष्ठन्ति नश्येच्च क्षुधादिजनिता व्यथा । अशनात्सत्पात्रवृन्दाना यथा रोगो वरौषधात् ॥३६॥ आहारेण विना किंचित्तपोवृत्तादिकं मुनि । अनुष्ठातु न शक्नोति त्यक्तग्रासो यथा गजः ॥ ३७ ॥ आहारबलसामर्थ्यात्तप सर्वे यतीश्वरा. । आचरन्ति महाघोर ग्रासपुष्टा गजा इव ॥३८॥ तस्माद्दत्तो वराहारो येन पात्राय भावत । सर्वं यमादिक तेन दत्त ज्ञाना-

पात्रके लिये श्रेष्ठ आहार दिया उसने ज्ञानादिकके साथ साथ यम नियम आदि सब कुछ दिया ॥ ३९ ॥ यह संसार अनेक दुःखरूपी मगरमच्छोंसे भरा हुआ महा घोर सागर है इससे पार होनेके लिये गृहस्थोंको एक पात्र दान ही जहाज है ऐसा श्री जिनेंद्रदेवने कहा है ॥४०॥ विद्वान् लोग इस पात्र दानको महा हिंसा आदिसे उत्पन्न हुए पापकर्मरूपी ईंधनके समूहको जलानेके लिये अग्निके समान बतलाते है ॥ ४१ ॥ जिसप्रकार हाथकी अंजलिमें रक्खा हुआ जल क्षणभरमें नष्ट हो जाता है उसीप्रकार इस पात्रदानसे सब पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं और जिसप्रकार चन्द्रमाके निमित्तसे समुद्र बढता है उसीप्रकार इस पात्रदानसे महापुण्य वढता रहता है ॥ ४२ ॥ इस पात्रदानसे प्राणियोंको महासुखकी प्राप्ति होती है और जिसप्रकार सवेरेके समय चोर भाग जाते हैं उसीप्रकार इस पात्रदानसे सब दुःख भाग जाते हैं ॥ ४३ ॥ विवेकी श्रावकोंको उत्तम पात्रोंके लिये श्रेष्ठ दान देनेसे गुण सब बढते रहते हैं, दोष सब नष्ट होजाते हैं, कीर्ति अपने आप आकर आलिंगन करती है, अपकीर्ति स्वयं नष्ट होना चाहती है, लक्ष्मी अपनी स्त्रीके समान आदरपूर्वक अपने आप सामने आती है, जिसप्रकार औषधिसे व्याधि नष्ट होजाती है उसीप्रकार दरिद्रता सब नष्ट होजाती है, समस्त इंद्रियोंको सुख देनेवाले महा भोगोंकी प्राप्ति होती है, अनेक दुःख देनेवाले रोग सब नष्ट होजाते हैं, सदाचार आजाता है और दुराचार अपने आप नष्ट होजाता है ॥ ४४–४७ ॥ आहारदान देनेसे जिसप्रकार पूज्य पात्रोंका अत्यन्त उपकार होता है उसीप्रकार सातों गुणोंसे सुशोभित गृहस्थ मनुष्योंका उपकार भी दानसे ही होता है ॥ ४८ ॥ उत्तम पात्रोंको दान देनेमें

दिभि· समम् ॥३९॥ पात्रदान जिना· प्राहु पोत ससारसागरे । गृहस्थाना महाघोरे दु खमीनाकुले वरे ॥४०॥ महाहिंसादिजे पापकर्मेन्धनसमुत्करे । जगु सुपात्रदान हि वुधा सज्वलनोपमम् ॥४१॥ पाप विलायते दानाद् हस्ते न्यस्ताम्बुवत्क्षणम् । वर्द्धते च महापुण्यमिन्दुयोगेन वार्धिवत् ॥ ४२ ॥ जायते च महासौख्यं ध्यानजातमिवागिनाम् । दु खं पलायते दानात् प्रभाते तस्करादिवत् ॥४३॥ वृद्धिं यान्ति गुणा सर्वे दोषा यान्ति पुन क्षयम् । कीर्तिरालिंगन दत्ते कुकीर्तिर्नाशमिच्छति ॥४४॥ लक्ष्मीः सन्मुखमायाति स्वभार्येव कृतादरा। दारिद्र्य च विनश्येच्च यथा व्याधिरौषधात् ॥ ४५ ॥ संजायन्ते महाभोगा· सर्वेन्द्रिय सुखप्रदा । सर्वे रोगा विनश्यन्ति कृत्स्नदु खप्रदा भुवि ॥४६॥ उत्तमाचारमायाति दुराचार न तिष्ठति । महासत्पात्रदानेन श्रावकाणा विवेकिनाम् ॥४७॥ गृहस्थतापि दानेन भवेद्गुणवता नृणाम् । पूज्यपात्रोपकारश्च यथा सजायतेतराम् ॥४८॥ यादृशं पात्रदानेन महत्पुण्य भवेन्नृणाम् । तादृश च व्रतेनैव जीवघातादिदूषिते

मनुष्योंको जैसे महापुण्यकी प्राप्ति होती है वैसे पुण्यकी प्राप्ति अन्य व्रत आदि किसीसे नहीं होती, क्योंकि उनमें भी जीव घात होनेकी सम्भावना है ॥ ४९ ॥ संसारमें वे मनुष्य धन्य हैं जिनके घर इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि सबके द्वारा महा पूज्य मुनिराज आहारके लिये आते हैं ॥ ५० ॥ इस पात्रदानकी केवल अनुमोदना करनेसे अनेक तिर्यंच भी परम आनन्दको देनेवाले भोग भूमिके सुख भोगकर स्वर्गमें जा उत्पन्न हुए हैं ॥ ५१ ॥ जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित हैं वे भी केवल एकवार पात्रोंको दान देनेसे भोगभूमिके सुख भोगकर स्वर्गमें देव हुए हैं ॥५२॥ जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे विभूषित हैं वे बुद्धिमान महापात्रोंको दान देनेसे सुखकी खानि ऐसे अच्युत स्वर्गमें उत्तम देव होते हैं ॥५३॥ उत्तम पात्रोंको दान देनेसे चतुर पुरुषोंको इस संसारमें इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकर आदिके द्वारा सेवन करने योग्य उत्तम भोग प्राप्त होते हैं ॥५४॥ जिसप्रकार मकान बनानेवाला कारीगर ज्यो ज्यों मकान बनाता जाता है त्यों त्यों ऊंचा चढता है उसीप्रकार दान देनेवाला गृहस्थ जैसे जैसे उत्तम पात्रोंको दान देता है वह उस दानके प्रभावसे वैसा ही उत्तम वा उच्च होता जाता है ॥५५॥ इस संसारमें दान देनेसे ही मनुष्योंको कल्पवृक्ष, चिंतामणि और कामधेनु आदि इच्छानुसार भोग देते हैं ॥ ५६ ॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ है? थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि इस पात्रदानके ही प्रभावसे बुद्धिमान लोग मनुष्य और देवोंके सुख भोग-कर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ५७ ॥

इसी प्रकार औषधदानसे समस्त परिग्रहोंका त्याग करनेवाले मुनियोंके सब रोग नष्ट हो जाते हैं और उनका शरीर स्वस्थ होजाता है ॥ ५८ ॥ शरीर स्वस्थ होनेसे ही वे मुनिराज सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धारण करनेमें

॥४९॥ धन्यास्ते सद्गृहे येषां समायान्ति मुनीश्वरा.। आहारार्थं महापूज्या इन्द्रचक्रधरादिभि. ॥५०॥ पात्रदानानुमोदेन तिर्यंचोऽपि दिवं गता । भोगभूमौ सुखं भुक्त्वा परमाह्लादकारणम् ॥ ५१ ॥ वारैकदानयोगेन दृष्टिहीना नरा गता । देवालयं सुभुक्त्वापि भोगभूम्यादिजं सुखम् ॥ ५२ ॥ महापात्रस्य दानेन दर्शनादिविभूषिता । अच्युताख्यं बुधा नाकं प्रगच्छन्ति सुखाकरम् ॥ ५३ ॥ भजन्ति पात्रदानेन इन्द्रचक्रधरादिजान् । दक्षा भोगाश्च लोकेस्मिन् तीर्थराजनिषेवितान् ॥५४॥ यथा शिल्पी व्रजेदूर्ध्वं कृतगेहादिभि समम्। तथा दानोच्च-पात्रेण समं दानादियोगत ॥५५॥ पुंसां कल्पाह्निपचिंतामणिकामदुघादय । मनोभिलषितं भोगं प्रदद्युर्भुवि दानत. ॥ ५६ ॥ किमत्र बहु-नोक्तेन पात्रदानप्रभावत । भुक्त्वा नृदेवजं सौख्यं यान्ति मुक्तिं क्रमाद्बुधा ॥ ५७ ॥ औषधाख्येन दानेन नश्येद्रोगकदम्बकम्। मुनीनां

समर्थ होते हैं और फिर उस सम्यग्ज्ञान वा सम्यक्चारित्रके प्रभावसे वे स्वर्ग मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥ ५९ ॥ इसलिये औषधदानसे मनुष्योंको महापुण्यकी प्राप्ति होती है, उनका शरीर सदा नीरोग रहता है और लावण्यता आदिसे सुशोभित रहता है ॥ ६० ॥

ज्ञान दान देनेसे मुनियोंका वा पात्रोंका अज्ञान दूर होता है और मोक्षमार्गको दिखानेवाला महाज्ञान प्रगट होता है ॥ ६१ ॥ सम्यग्ज्ञानके कारण ही मुनि श्रेष्ठ ध्यान, चारित्र, यम, नियम आदि सबको पालनकर समस्त सुखोंकी निधि ऐसे मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥ ६२ ॥ मुनिराज ज्ञानरूपी जहाजपर बैठकर अत्यन्त कठिनतासे पार करने योग्य इस संसाररूपी महासागरसे स्वय पार होजाते हैं और अन्य कितने ही भव्य जीवोंको पार कर देते हैं ॥ ६३ ॥ जो मुनि ज्ञान रहित हैं वे करने योग्य, न करने योग्य, शुभ, अशुभ, हेय, उपादेय, विवेक, बंध, मोक्ष आदि कुछ नहीं जानते हैं ॥६४॥ इसलिये जो मनुष्य पात्रोंके लिये (मुनिराजोंके लिये) ज्ञानदानरूपी महादान देते हैं वे अनेक भव्योंका उपकार करते हैं, अतएव उनके उपार्जन किये हुए पुण्यको हम लोग जान भी नहीं सकते ॥ ६५ ॥ उत्तम विद्वान् इस ज्ञानदानके प्रतापसे इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें मनोहर, सुस्वर, मधुर और कानोंको सुख देनेवाली वाणी प्राप्त करते हैं। कविता करना, पांडित्य प्राप्त करना, वादी होना, प्रतापी होना समस्त शास्त्रोंका सबसे अधिक ज्ञान होना, छह प्रकारका अवधिज्ञान प्राप्त होना, दोनो प्रकारका मनःपर्यय प्राप्त होना, कला विज्ञान आदिमें कुशल होना, समस्त लौकिक व्यवहारका प्राप्त होना

त्यक्तसगाना स्वस्थं सजायते वपु' ॥५८॥ येन ज्ञानादिवृत्तादि सर्वमाचरितु क्षम । भवेन्मुनिस्ततो गच्छेत्स्वर्गमुक्तिगृहादिकम् ॥५९॥ तस्मादौषधदानेन महत्पुण्य भवेन्नृणाम् । त्यक्तरोग शरीर च लावण्यादिविभूषितम् ॥६०॥ ज्ञानदानेन पात्राणामज्ञान प्रपलायते । जायते च महज्ज्ञान लोकाग्रपथदीपकम् ॥६१॥ ज्ञानातसद्ध्यानवृत्तादि सर्वं यमकदवकम् । आचरित्वा व्रजेन्मुक्ति मुनि' सर्वसुखाकराम ॥ ६२ ॥ ज्ञानपोत समारूढः ससाराब्धिदुस्तरम् । स्वय तरति भव्याना ताराय च मुनीश्वरः ॥६३॥ ज्ञानहीनो न जानाति कृत्याकृत्य शुभाशुभम् । हेयाहेय विवेकं च बंधमोक्षादिकं मुनि' ॥६४॥ तस्माद् ज्ञान महादान यः पात्राय ददाति ना । वहु भव्योपकारत्वात्तस्य पुण्य न वेद्म्यहम् ॥६५॥ मनोज्ञां सुस्वरां वाणी मधुरां कर्णसौख्यदाम् । कवित्वं चैव पाडित्यं वादित्वं च प्रतापताम् ॥६६॥ समस्तशास्त्रविज्ञान मतिवाहुल्यमेव च । अवधि षड्विधं द्वेधा मनःपर्ययसंज्ञकम् ॥ ६७ ॥ कलाविज्ञानकौशल्यं लोकचेष्टादिकं तथा । लभन्ते ज्ञानदानेन चेहामुत्र

आदि सब ज्ञानदानके ही प्रतापसे प्राप्त होता है ॥ ६६–६८ ॥ इस सारभूत ज्ञानदानके प्रतापसे ज्ञानी पुरुष द्वादशांग, श्रुतज्ञानरूपी महासागरके पार होजाते हैं और फिर वे अनुक्रमसे इस संसारके भी पार होजाते हैं ॥६९॥ बुद्धिमान् लोग इस संसारमें ज्ञानदानके ही प्रसादसे तीनों लोकोंको क्षोभित करनेका कारण ऐसे केवलज्ञानरूपी साम्राज्यको प्राप्त होते हैं ॥ ७० ॥ बुद्धिमान लोग इस ज्ञानदानके ही प्रभावसे गौतमादि गणधरोंकी विभूति पाकर तथा समस्त कर्मोंको नाशकर मोक्षरूपी परमपदमें जा विराजमान होते हैं ॥ ७१ ॥ उत्तम मनुष्य इस ज्ञानदानके ही प्रसादसे सबसे अंतिम स्वर्गको पाकर तथा श्रेष्ठ राज्य भोगकर और केवलज्ञान पाकर मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥ ७२ ॥

जो मनुष्य सुख प्राप्त करनेके लिये श्रेष्ठ पात्रोंको (मुनियोंको) वसतिका दान देते हैं वे इस लोक वा परलोकमें ऊंचे भवनोंमें अथवा उत्तम विमानोंमें जा विराजमान होते हैं ॥ ७३ ॥ मुनिराज हीन संहनन होनेपर उत्तम वसतिकाको पाकर ही ध्यान, अध्ययन वा तपश्चरण कर सकते हैं। विना वसतिकाके वे ध्यानादिक नहीं कर सकते। हां जिनका शरीर वज्रके समान है, जो महा धीरवीर हैं, महा पराक्रमी हैं, जिनका हृदय शुभ है, जो परीषहोंको सहन करनेमें धीरवीर हैं, जो वज्रवृषभनाराच संहननको धारण करनेवाले हैं और जिन्होंने अपने शरीरसे ममत्वका त्याग कर दिया है, ऐसे मुनिराज पर्वतकी गुफाओंमें वा अन्यत्र भी ध्यान अध्ययन आदि समस्त कर्म कर सकते हैं ॥७४–७६॥ इसलिये जो मनुष्य उत्तम पात्रोंके लिये वसतिका दान देते हैं वे उत्तम भवन और सुंदर विमानोंको पाकर अंतमें मोक्षमहलमें जा विराजमान होते हैं ॥ ७७ ॥

बुधोत्तमा ॥६८॥ शास्त्रदानेन सारेण द्वादशांगमहोदधे. । व्रजन्ति ज्ञानिन. पार संसारस्य क्रमात् पुन ॥ ६९ ॥ केवलज्ञानसाम्राज्य त्रैलोक्यक्षोभकारणम् । ज्ञानदानप्रसादेन लभन्ते सुधियो भुवि ॥७०॥ ज्ञानदानप्रभावेन विभूतिं गौतमादिजाम् । प्राप्य हत्वा स्वकर्माणि बुधा यान्ति परं पदम् ॥७१॥ श्रुतज्ञानप्रदानेन लब्ध्वा नाकं महाग्रिमम् । सद्राज्यं केवलं चापि यान्ति मोक्ष नरोत्तमा ॥७२॥ यो ना वसतिका दत्ते सत्पात्राय सुखाप्तये । उच्चैर्गेहं विमानं स चेहामुत्र श्रयेत्स्फुटम् ॥ ७३ ॥ प्राप्य वसतिका सारा ध्यानं वाध्ययनं तपः । मुनि सहनने हीने कर्तुं शक्नोति नान्यथा ॥ ७४ ॥ वज्रकाया महाधैर्या महासत्त्वा शुभाशयाः । परीषहसहा धीरा ह्यादिसहननान्विताः ॥७५॥ ध्यानाध्ययनकर्मादि सर्वं गिरिगुहादिषु । भवन्ति मुनय कर्तुं समर्थास्त्यक्तदेहिन. ॥७६॥ तस्माद्वसतिकादानं य पात्राय ददाति

जो मनुष्य समस्त जीवोंके लिये उत्तम अभयदान देता है वह मनुष्य और देवोंके उत्तम सुख भोगकर अंतमें निर्भयस्थानमें-सब तरहके भयोसे रहित मोक्षस्थानमें-जा विराजमान होता है ॥ ७८ ॥ जिसप्रकार विना तपश्चरणके शरीर व्यर्थ है उसीप्रकार अभयदानके विना लोगोंके चारों दान सब व्यर्थ है ॥ ७९ ॥ जिस बुद्धिमानने समस्त जीवोंको सुख देनेवाला अभयदान दिया उसने पहिले कहे हुए चारों दान इकट्ठे दिये ऐसा समझना चाहिये ॥८०॥ जिसप्रकार ज्ञान दर्शन आदि आत्माके गुण आत्मासे भिन्न माने जाते हैं और उनका दान दिया जाता है उसीप्रकार अभयदानको समझना चाहिये अर्थात् अभय भी आत्माका ही गुण है और आत्माके साथ रहता है, परंतु भिन्न मानकर उसका दान दिया जाता है ॥ ८१ ॥ जिसप्रकार पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत मुख्य है और देवोंमें भगवान् जिनेंद्रदेव मुख्य हैं उसीप्रकार समस्त दानोंमें अभयदान ही मुख्य है और यही सबसे उत्तम है ॥८२॥ मुनि वा श्रावकोंको महा फल देनेवाले इस अभयदानके समान अन्य तीनो लोकोमें कोई नही होसकता ॥ ८३ ॥ यदि किसीको मरनेके बदलेमें रत्नोंसे भरी हुई समस्त पृथ्वी भी दे दी जाय तो भी कोई मरना स्वीकार नहीं करता ॥ ८४ ॥ अभयदानके प्रभावसे यह प्राणी वज्रवृषभनाराच संहननसे सुशोभित लावण्य आदि गुणोंसे विभूषित और समस्त रोगोंसे रहित ऐसे मनोहर शरीरको पाता है ॥८५॥ अभयदानके प्रतापसे मनुष्योंको मनोहर, शुभ, सारभूत धर्मोपदेश देनेमें चतुर और व्यक्त अक्षरोंसे सुशोभित ऐसी उत्तमवाणी प्राप्त होती है ॥८६॥ इस अभयदानके ही प्रतापसे मनुष्योंका हृदय सातों तत्त्वोंके चिंतवन करनेसे भरपूर, रागद्वेष रहित और अत्यंत धीरवीर

ना । सार गेह विमान च प्राप्य मुक्त्यालय व्रजेत् ॥ ७७ ॥ सर्वाङ्गिभ्योऽभय दान गरिष्टं यो ददाति सः । नृदेवज सुख भुक्त्वा निर्भय स्थानमाप्नुयात् ॥७८॥ अभयाख्येन दानेन विना दानचतुष्टयम् । व्यर्थं भवति लोकाना तपोहीन यथा वपु ॥७९॥ दत्त येनाभय दान सर्वजीवसुखप्रदम् । तेन दत्त च पूर्वोक्त सर्वं दानकदवकम् ॥८०॥ यथात्मनोऽपृथग्भूता भवन्ति दर्शनादयः । गुणा दानादयस्तद्वदभयेन सदैव च ॥८१॥ अद्रिमध्ये यथा मेरुर्देवमध्ये जिनो यथा । प्रधानोऽपि सुदानानां चाभयाख्य वर भवेत् ॥८२॥ अभयेन सम दान न स्याल्लोकत्रये क्वचित् । मुनीना श्रावकाणा वा महाफलप्रदेन वै ॥८३॥ प्रदत्ते मरणार्थे ना कोपि कृत्स्नां धरा यदि । रत्नपूर्णा तथाप्यंगी नैव मृत्यु समीहते ॥८४॥ त्यक्तरोगवपुः कान्त लावण्यादिविराजितम् । आदिसहननोपेत लभते प्राणिनो भयात् ॥८५॥ मनोहरा शुभा सारा दक्षा धर्मोपदेशने । व्यक्ताक्षरान्विता वाणी पुसा स्यादभयेन च ॥८६॥ तत्वचिंतादिसंयुक्त रागद्वेषपरान्मुखम् । अभयाख्येन दानेन

होजाता है ॥ ८७ ॥ जो मनुष्य समस्त जीवोंको अभय दान देता है उसके घर तीनों लोकोंकी लक्ष्मी घरकी दासीके समान अपनेआप वश हो जाती है ॥ ८८ ॥ गृहस्थोंको दयादानके फलसे स्वर्गकी लक्ष्मी घरकी स्त्रीके समान अपने आप आकर आलिंगन करती है ॥ ८९ ॥ जो स्थूल सूक्ष्म समस्त जीवोंको सदा अभयदान देता रहता है उसके रोग भय आदिक सब स्वप्नमें भी कभी नहीं होते हैं ॥ ९० ॥ दयादान करनेवाले मनुष्योंको छहो खण्ड पृथ्वी, नौनिधि, चौदहरत्न और अनेक सुन्दर रानियोंसे भरपूर चक्रवर्तीकी लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ९१ ॥ अभयदानके प्रतापसे यह मनुष्य–अनेक करोड देव जिसकी पूजा करते हैं, जो महा भोगोंको देनेवाला है और सबसे उत्तम है ऐसे–इन्द्रपदको प्राप्त होता है ॥ ९२ ॥ अभयदानके ही प्रतापसे मनुष्योंको अनन्त महिमासे सुशोभित और इन्द्र, नरेन्द्र आदिके द्वारा पूज्य ऐसे तीर्थंकरपदकी प्राप्ति होती है ॥ ९३ ॥ उस दयादानसे ही पापकर्मोंका संवर होता है और निर्जरा होती है तथा उस दयादानसे ही प्रतिदिन मनुष्योंको सुख देनेवाले महाधर्मकी प्राप्ति होती है ॥ ९४ ॥ संसारमें जो पदार्थ अमूल्य हैं, जो कठिनतासे प्राप्त हो सकते हैं अथवा जो तपश्चरण आदिसे भी सिद्ध नहीं हो सकते ऐसे तीनों लोकोंमें रहनेवाले समस्त पदार्थ मनुष्योंको केवल अभयदानसे प्राप्त होजाते हैं ॥९५॥ उस दयादानके प्रतापसे मनुष्योंको अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य और इंद्रादिके द्वारा पूज्य ऐसा परम मोक्ष प्राप्त होता है ॥९६॥ यही समझकर श्रावकोंको और मुनियोंको केवल धर्मपालन करनेके लिये समस्त जीवोंको सदा अभयदान देते रहना चाहिये ॥९७॥ जो मनुष्य सुपात्रोंके लिये ऊपर कहे हुए समस्त दान

मनो धीर भवेन्नृणाम ॥ ८७ ॥ यो ना दत्तेऽभय दान सर्वजीवेभ्य एव हि । तस्य श्रीर्गृहदासीव वश याति जगत्त्रयम् ॥ ८८ ॥ आलिंगन समादत्ते स्वर्गश्री स्वयमेव हि । गृहस्त्रीव गृहस्थाना दयादानविपाकत ॥८९॥ स्थूलसूक्ष्माङ्गिजन्तुभ्यो यो ददात्यभय सदा । स्वप्नेन तस्य जायन्ते सर्वे रोगभयादिका ॥९०॥ षट्खण्डवसुधारत्ननिधिदेव्यादिसंयुतम् । चक्रवर्तित्वमेव स्यात्कृपालानाम्दयानाविनाम् ॥९१॥ अनेककोटिदेवैश्च पूज्यमिन्द्रत्वमेव भो । अमेनभयदानेन महाभोगप्रदं वरम् ॥ ९२ ॥ अनन्तमहिमोपेत पूज्य शक्रनृपादिभि । भवेत्तीर्थंकरत्व हि नृणा प्राभयदानत ॥९३॥ दयादानेन पापस्य सवरो निर्जरा भवेत् । जायते प्रत्यह नृणा महाधर्म सुखाकर ॥९४॥ अनर्घं यद्दुराराध्यमसाध्य तपसादिभि । तत्सर्वमभयात्पुमां भवेल्लोकत्रये स्थितम् ॥ ९५ ॥ अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यसौख्यादिको नृणाम् । पूज्य शक्रादिभिर्मोक्षो दयादानेन जायते ॥९६॥ इति मत्वा हि दातव्य दान चाभयसज्ञकम् । धर्माय सर्वजीवेभ्य श्रावकै मुनिभि सदा ॥९७॥

सदा देता रहता है उन्हींका जन्म और उन्हींका गृहस्थाश्रम सफल समझना चाहिये ॥ ९८ ॥ जो मनुष्य धनी होकर भी कभी पात्रोंको दान नहीं देते उनका जन्म बकरीके गलेके स्तनोंके समान व्यर्थ समझना चाहिये ॥ ९९ ॥ जिस गृहस्थाश्रममें दान नहीं दिया जाता वह गृहस्थाश्रम पत्थरकी नावके समान समझना चाहिये। ऐसे गृहस्थाश्रममें रहकर मूर्खलोग अत्यंत अथाह संसाररूपी महासागरमें डूब जाते हैं ॥ १०० ॥ जिनका घर मुनियोंके चरणकमलोंके जलसे पवित्र नहीं हुआ है उनका घर श्मशानके समान है ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं ॥ १०१ ॥ यदि दान दिये विना ही गृहस्थ, गृहस्थ कहलाने लगे तो फिर घरके व्यापारमें लगे रहनेके कारण सब पक्षियोंको भी गृहस्थ कहना चाहिये ॥ १०२ ॥ संसारमें जो कंजूस मनुष्य पात्रोंको दान नहीं देता वह धनके मोहसे मरकर सर्प आदिकी कुगतिमें जन्म लेता है ॥ १०३ ॥ इस संसारमें दरिद्रता अच्छी परन्तु मनुष्योंको आगे नरकादिक कुगतियोंको देनेवाला तथा मोह उत्पन्न करनेवाला दान रहित धन अच्छा नहीं ॥ १०४ ॥ जो महालोभी मनुष्य समर्थ होकर भी मुनियोंको दान नहीं देता वह अपने परलोकके समस्त सुखोंको नष्ट कर देता है ॥ १०५ ॥ जो न तो पात्रोंको दान देता है और न तपश्चरण करता है, वह मनुष्य होकर भी सींग रहित पशुके समान समझा जाता है क्योंकि जिसप्रकार वह अपना ही पेट भरता है उसीप्रकार पशु भी अपना पेट भर लेते हैं ॥ १०६ ॥ इसलिये जो गृहस्थ मुनियोंका उपकार करते रहते हैं वे तीनों लोकोंमें प्रशंसनीय गिने जाते हैं

इत्यादिक महादानं ये ददति निरंतरम्। सुपात्रस्य भवेत्तेषां सफलं जन्म सद्गृहम् ॥९८॥ ये धनाढ्या न सत्पात्रदानं कुर्वन्ति नैव भो। व्यर्थं जन्म भवेत्तेषामजाकंठेस्तनादिवत् ॥ ९९ ॥ दृषन्नावसमो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रमः। तदारूढा निमज्जन्ति संसाराब्धौ सुदुस्तरे ॥१००॥ मुनिपादोदकेनैव यस्य गेहं पवित्रितम्। नैव श्मशानतुल्यं हि तस्यागारं बुधैः स्मृतम् ॥१०१॥ यदि विनान्नदानेन गृहस्था हि भवन्ति भो। तदा खगा गृहस्था स्युः गृहव्यापारयोगतः ॥१०२॥ दत्ते दानं न पात्राय यल्लोके कृपणो नरः। यः स मोहेन मृत्वा हि सर्पादिकुगतिं व्रजेत् ॥ १०३ ॥ वरं दारिद्र्यमेवार्थं न च मोहकरं धनम्। दानहीनं नृणामग्रे श्वभ्रादिगतिकारणम् ॥१०४॥ समर्थो यो महालोभी ददाति मुनये न वै। दानं परत्रजं शर्म सोऽपि छिनत्ति चात्मनः ॥१०५॥ दत्ते दानं न पात्राय तपो नैव करोति यः। स ज्ञेयो मनुजत्वेपि त्यक्तशृंगपशोरिव ॥१०६ ॥ स्वोदरं पूरयन्त्येव पशवोऽपि मुनीशिनाम्। कुर्वन्ति चोपकारं ये ते श्लाघ्याः भुवनत्रये ॥१०७॥ इति ज्ञात्वा कुपात्रं चापात्रं त्यक्त्वा विधेहि भो। त्रिभेदाय सुपात्राय मित्र! दानं सुखाकरम् ॥१०८॥ कुपात्रापात्रयो स्वामिन्!

॥ १०७ ॥ यही समझकर हे मित्र ! कुपात्र और अपात्रोंको छोडकर तीनों प्रकारके पात्रोंके लिये (उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रोंके लिये) सुख देनेवाला दान सदा देते रहना चाहिये ॥ १०८ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! कृपाकर कुपात्र और अपात्रोंका लक्षण निरूपण कीजिये ।

उत्तर—हे वत्स ! चित्त लगाकर सुन, मैं उन दोनोंके लक्षण कहता हूं ॥ १०९ ॥ जो मनुष्य सम्यग्दृष्टी नहीं हैं किंतु भोगोंकी इच्छासे मुनि वा श्रावकोंके समस्त व्रत पालन करते हैं तथा घोर तपश्चरण करते हैं, प्रतिदिन शास्त्र पढते हैं और अनेक प्रकारके कायक्लेश करते हैं उनको भगवान जिनेन्द्रदेव कुपात्र कहते हैं ॥ ११०–१११ ॥ जो इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्त हैं, सम्यग्दर्शन और व्रतोंसे रहित हैं, जो धर्म संवेग आदिसे रहित हैं, समस्त पापोंकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं, जो देव शास्त्र और गुरुओंकी निंदा करनेमें तत्पर हैं और सदा घरके ही कामोंमें लगे रहते हैं उनको भगवान जिनेन्द्रदेव अपात्र कहते हैं ॥११२–११३॥ जो श्रावक अथवा मुनि तप वा चारित्र आदिसे सुशोभित होकर भी मिथ्यात्वकी पुष्टि करता है वह भी कुपात्रके ही पदको प्राप्त होता है इसमें कोई संदेह नहीं ॥११४॥ जो मनुष्य पुण्य संपादन करनेके लिये कुपात्रोंको श्रेष्ठ अन्न दान देता है वह कुभोग भूमिमें तिर्यंच अथवा कुमनुष्य होता है ॥११५॥ कालोद समुद्रमें वा लवण समुद्रमें कुभोग भूमियां हैं उनमें लंबकर्ण, लोकमुख, विद्युन्मुख आदि कुमनुष्य होते हैं तथा भोगभूमियोंमें अत्यन्त सुखी और दीर्घ आयुको धारण करनेवाले तीर्यंच होते हैं वे सब कुपात्रदानके फलसे ही होते हैं ऐसा विद्वान् लोगोंको समझ लेना चाहिये ॥ ११६–११७ ॥ ढाई द्वीपसे बाहर तिर्यंच लोकके असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें जो पशु प्राणी उत्पन्न

लक्षण कथय स्फुटम् । प्रवक्ष्येऽहं शृणु त्वं भो तयोर्लक्षणमत्र ते ॥१०९॥ सम्यक्त्वेन विना यो ना व्रतानि सकलान्यपि । मुनीनां श्रावकाणां च धत्ते भोगादिवाञ्छया ॥११०॥ तपः करोति घोरं च शास्त्रं पठति प्रत्यहम् । कायक्लेशं विधत्ते हि स कुपात्रो मतो जिनैः ॥१११॥ इन्द्रियादिकसंसक्तः सम्यक्त्वव्रतवर्जितः । त्यक्तधर्मादिसंवेगः सर्वपापप्रवर्तकः ॥११२॥ देवशास्त्रगुरूणां यो निन्दाकरणतत्परः । गृहकर्मरतोऽपात्रः स प्रोक्तः श्रीजिनाधिपैः ॥ ११३ ॥ तपोवृत्तादिसंयुक्तो मुनिर्मिथ्यात्वपोषणे । श्रावको वा कुपात्रस्य पदं प्राप्नोति निश्चितम् ॥ ११४ ॥ यः कुपात्राय ना दत्ते सदन्नं पुण्यहेतवे । कुभोगभूषु तिर्यक्त्वं कुनृत्वं वा लभेत सः ॥ ११५ ॥ कालोदधौ नृणां यः स्यात्कुनृत्वं लवणार्णवे । लंबकर्णादिसंयुक्तं लोकविद्युन्मुखादिजम् ॥ ११६ ॥ भोगभूमिषु तिर्यक्त्वं सदीर्घायुः सुखान्वितम् । तत्सर्वं

होते हैं वे सब कुपात्र दानके फलसे ही होते है ॥ ११८ ॥ राजघरोंमें जो घोडे और हाथी बडे सुखी होते है वे कुपात्रदानके ही फलसे होते है यह निश्चित है ॥ ११९ ॥ नीच पात्रोंको दान देनेसे ही मूर्ख प्राणी म्लेच्छ, खेटक, भील आदि धनाढ्य कुलोंमें जन्म लेता है ॥ २० ॥ कुपात्रोको दान देनेसे प्राणियोंको जो लक्ष्मी प्राप्त होती है वह कुमार्गमें खर्च होती है, बडी पापिनी होती है और नरक तिर्यंच आदि दुर्गतियोको देनेवाली होती है ॥ १२१ ॥ मनुष्योके घर जो लक्ष्मी अन्यायसे आती है वह लक्ष्मी पाप उत्पन्न करनेवाली होती है और वह कुपात्रदानसे ही आती है ऐसा विद्वानोंको जान लेना चाहिये ॥ १२२ ॥ महा नीच कुलोमें उत्पन्न हुए मनुष्योको जो नरकादिके कारणरूप पापोंको उत्पन्न करनेवाला सुख प्राप्त होता है वह सब कुपात्रदानके फलसे ही होता हैं ॥ १२३ ॥ मनुष्योंको दुःख देनेवाली और अनेक प्रकारके अन्याय करनेवाली जो लक्ष्मी महापापके कामोसे आती है वह भी कुपात्र दानके फलसे ही आती है ऐसा विद्वान् लोगोने कहा है ॥ १२४ ॥ इस संसारमें दुष्ट लोग जो अन्यायसे अशुभ भोगोपभोगोको प्राप्त करते हैं वे भी कुपात्र दानसे ही होते हैं और आगेके लिये पाप उत्पन्न करनेवाले होते है ऐसा निश्चितरूपसे समझ लेना चाहिये ॥ १२५ ॥ ये प्राणी कुपात्र दानके फलसे नीच योनियोंमें थोडेसे भोगोपभोग प्राप्त करते है परंतु उन भोगोंसे अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करते है और फिर उन पापकर्मोके उदयसे नरकरूपी महासागरमें ही डूबते है ॥ १२६ ॥ इस कुपात्रदानके दोषसे तिर्यंचगतिके थोडेसे सुख भोगकर फिर संसाररूपी वनमे जा पडते हैं और वहांपर अनेक प्रकारके दुःख भोगते हैं ॥१२७॥ मनुष्योको

विबुधैर्ज्ञेयं कुपात्रदानज फलम् ॥ ११७ ॥ तिर्यग्द्वीपेष्वसख्येपु नरत्यक्तेपु जायते । पशुत्व प्राणिना नून कुपात्रादिप्रदानत. ॥ ११८ ॥ भोगान्वित गजत्व च घोटकत्व भजन्ति वै । जना' कुपात्रदानेन राजगेहेपु निश्चितम् ॥११९॥ म्लेच्छाखेटकभिल्लादिकुलेपु जन्मसंभवम् । लभन्ते नीचपात्रेण धनाढ्येषु शठा. भुवि ॥१२०॥ लक्ष्मी कुपात्रदानेन लभ्यते प्राणिभि स्फुटम् । कुमार्गजातिपापाढ्या' श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदा ॥१२१॥ अन्यायतोऽपि या लक्ष्मी समायाति गृहे नृणाम् । कुपात्रदानजा सापि बुधैर्ज्ञेयाघकारिणी ॥१२२॥ यत्सुख प्राप्यते लोकैर्महानीचकुलेपु भो । श्वभ्रादिकारण तच्च कुपात्रदानज भवेत् ॥१२३॥ महापापेन आयाति या नृणा दु.खदायिका । अन्यायकारिणी सापि बुधैरुक्ता कुपात्रजा ॥१२४॥ यो भोगो लभते लोके दुष्टैरन्यायतोऽशुभ । कुपात्रदानसभूतः सोऽपि ज्ञेयोऽशुभप्रद.॥१२५॥ कुपात्रदानतो

जो नीच कुलोंमें लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है वह सब पाप उत्पन्न करनेवाली लक्ष्मी कुपात्रदानसे ही होती है ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेवने वतलाया है ॥ १२८ ॥ जो मूर्ख इस कुपात्रदानसे स्वर्गोंके भोग चाहते हैं वे कुवुद्धि लोग गायके सींगोंसे दूध दुहना चाहते हैं ॥ १२९ ॥ यही समझकर हे भव्य ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू कुपात्रोंको छोडकर सुपात्रोंके लिये स्वर्ग मोक्ष देनेवाला दान दे ॥ १३० ॥

इसी प्रकार अपात्रदानके दोपोंको कौन वुद्धिमान् कह सकता है। यह अपात्रदान इसलोक और परलोकके लिये पत्थरकी नावके समान है ॥ १३१ ॥ जिसप्रकार पत्थरकी शिलापर वोनेसे वीज निष्फल होजाता है उसी प्रकार अपात्रके लिये जो कुछ दिया जाता है वह सब निष्फल होजाता है ॥ १३२ ॥ जिसप्रकार किसी वनमें चोर लोग धनको छीन लेते हैं उसी प्रकार जिसने अपात्रको दान दिया वास्तवमें उसने वह द्रव्य कुमार्गमें नष्ट कर दिया समझना चाहिये ॥ १३३ ॥ जिसप्रकार पालन किया हुआ शत्रु वा सर्प प्राणियोंको दुःख ही देता है उसीप्रकार अपात्रको दिया हुआ दान केवल पाप ही उत्पन्न करता है ॥ १३४ ॥ जिसप्रकार पत्थरकी नावपर वैठा हुआ मनुष्य समुद्रमें डूवता ही है उसी प्रकार अपात्रको पालन पोपण करनेवाला मनुष्य भी संसाररूपी सागरमें डूव ही जाता है ॥ १३५ ॥ जो मूर्ख धर्म पालन करनेके लिये अपात्रोंको दान देता है वह उस अपात्रदानसे उत्पन्न हुए पापसे नरकादिक दुर्गतियोंमें जा पहुंचता है ॥ १३६ ॥ जिसप्रकार अपात्र पापोंके संयोगसे संसारमें परिभ्रमण करता है उसीप्रकार दाता भी पाप कर्मोंके संयोगसे प्रतिदिन चारों गतियोंमें

पतन्ति संसारवने जीवा कुदुखिता ॥१२७॥ यकाचिज्जायते लक्ष्मी. पुसा नीचकुलेपु भो । सा सर्वापि जिनैरुक्ता पापयुक्ता कुपात्रजा ॥१२८॥ कुपात्रदानतो नाकभोग वाञ्छन्ति ये शठा.। गोशृङ्गतोपि ते क्षीर समीहन्ते कुदुर्धिय ॥१२९॥ इति मत्वा कुपात्र हि त्यक्त्वा दान ददस्व भो। स्वर्गमुक्तिकर सत्पात्राय त्व हि मुक्तये ॥१३०॥ अपात्रदानस्य दोप वक्तु शक्नोति को वुध'। दृपत्पोतसम दान ह्यमुत्रेहगतमञसा ॥१३१॥ शिलोपरि यथा उप्त वीज भवति निष्फलम्। तथापात्राय यद्दत्त तद्दान निष्फल भवेत् ॥१३२॥ येन दत्तमपात्राय दान तत्त्वेन नाशितम्। कुमार्गे हि यथारण्ये गृहीत तस्करैर्धनम् ॥ १३३ ॥ पोपितोपि यथा शत्रुर्हि तद्दु खमञसा। ददाति प्राणिना तद्वत् कुपात्रे दुरित परम् ॥१३४॥ अश्मपोताधिरूढो ना यथा मज्जति सागरे। अपात्रपोपकस्तद्वत् संसाराब्धौ प्रमज्जति ॥ १३५ ॥ अपात्राय प्रदत्ते यो दान धर्माय मूढधी । तद्दानजेन पापेन श्वभ्रादिकुगति व्रजेत् ॥ १३६ ॥ यथाऽपात्रो भ्रमत्येव ससारे पापयोगत । तद्दातापि तथा

ही परिभ्रमण करता रहता है ॥ १३७ ॥ मूर्ख लोग अपात्रदानसे जो पाप उत्पन्न करते हैं वैसे पाप कुशील सेवन आदि अन्य पापोंसे भी नही होते ॥ १३८ ॥ धनको नाश करनेके लिये अँधे कुएंमें डाल देना अच्छा, परन्तु अपात्रको देना अच्छा नही, क्योंकि अपात्रको देनेसे धन भी नष्ट होता है और नरकादिक दुर्गतियां भी प्राप्त होती हैं ॥ १३९ ॥ जिस प्रकार पाला हुआ वाघ छलमे अपने स्वामीको खा ही जाता है उसीप्रकार अपात्र भी अपने दाताओंको शीघ्र ही नरकमें पहुंचा देता है ॥ १४० ॥ जिसप्रकार बादलोंसे वर्षा हुआ पानी भूमिके सम्बन्धसे नीम और ईखरूप (नीममें पडकर कडवा और ईखमें पडकर मीठा) होजाता है उसीप्रकार सुपात्र और अपात्रको दियां हुआ दान भी पुण्य पापरूप होजाता है अर्थात् सुपात्रको दिया हुआ दान पुण्यरूप होजाता है और अपात्रोको दिया हुआ दान पापरूप होजाता है ॥ १४१ ॥ जिसप्रकार स्वाति नक्षत्रमें पडी हुई पानीकी बूंद (वर्षाकी बूंद) सीपमें जाकर मोती होजाती है और सर्पके मुंहमें जाकर विष होजाती है उसीप्रकार सुपात्रोंको दान देनेसे पुण्य होता है व अपात्रोंको देनेसे पाप होता है ॥ १४२ ॥ जिसप्रकार पाला हुआ सर्प विष ही देता है और पाली हुई गाय दूध ही देती है उसीप्रकार अपात्रोको दिया हुआ दान महा पाप उत्पन्न करता है और सुपात्रको दिया हुआ दान महा पुण्य उत्पन्न करता है ॥१४३॥ जिसप्रकार कल्पवृक्षोंसे भोगोपभोगोंकी ही प्राप्ति होती है और धतूरेसे विषकी ही प्राप्ति होती है उसी प्रकार सुपात्रोंको दान देनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और कुपात्रोंको देनेसे नरककी ही प्राप्ति होती है ॥१४४॥ जिसप्रकार गाय तृणोको खाती है और दूधरूपी अमृतको देती है-उसीप्रकार मुनिराज थोडासा आहार लेते है, परंतु उसीमे मनुष्योको स्वर्गरूपी वहुतसे अमृतकी प्राप्ति होजाती है ॥१४५॥ जिसप्रकार अच्छे

पापाच्चतुर्गतिपु प्रत्यहम् ॥१३७॥ अपात्रदानयोगेन यच्च पाप करोत्यधी. । मैथुनादिभव दाता श्रयेत्तस्यात्रमेव हि ॥१३८॥ अन्धकूपे वर क्षिप्त धन निर्नाशहेतवे । नैव दानमपात्राय यतो दुर्गतिदायकम् ॥१३९॥ पोषितो हि यथा व्याघ्र· छलादत्ति स्वस्वामिनम् । तथाऽपात्रोऽपि दातॄणां श्वभ्रं नयति शीघ्रत· ॥ १४० ॥ यथा मेघजल भूमियोगान्निवेक्षुनां व्रजेत् । सुपात्रापात्रयोर्दान तथा च पुण्यपापदम् ॥ १४१ ॥ स्वाति नक्षत्रज विंदु शुक्तिकाया च मौक्तिकम् । विष सर्पमुखे तद्वद्दानं पात्रादिके भवेत् ॥ १४२ ॥ यथाहि· पोषितो दत्ते विष क्षीरं च गौ च नु । तथाऽपात्रो महत्पापं पुण्यं सत्पात्र एव च ॥१४३॥ यथा कल्पद्रुमो दत्ते भोगं धत्तूरको विषम् । तथा स्वर्गं सुपात्रो वै कुपात्रः श्वभ्रमेव च ॥ १४४ ॥ तृणानत्ति यथा गौश्च दत्ते दुग्धामृतं नृणाम् । तथा च यमिन· स्तोकं भुक्तं स्वर्गामृतं धनम् ॥ १४५ ॥ वटवीजं

स्थानपर बोया हुआ वटका बीज बहुतसी छाया और फलोंसे फलता है उसीप्रकार सुपात्रोंको दिया हुआ दान भी भोग भूमि और स्वर्गादिके अनेक फलोंको फलता है ॥ १४६ ॥ दान चाहे सुपात्रको दिया जाय, चाहे कुपात्रको दिया जाय, चाहे अपात्रको दिया जाय परंतु उत्तम विद्वानोंको कुदान कभी नही देना चाहिये, क्योंकि कुदान देनेसे अपनेको भी पाप लगता है और दूसरेको भी (लेनेवालेको भी) पाप लगता है ॥ ४७ ॥

प्रश्न—हे भगवन्! जिनसे पाप उत्पन्न होता है ऐसे कुदान कितने हैं और कौन कौन हैं ?

उत्तर—हे वत्स मैं उन दुःख देनेवाले कुदानोंके दस भेद कहता हूं, तू सुन ॥ १४८ ॥ गौ, कन्या, सुवर्ण, हाथी, घोडा, घर, पृथ्वी, तिल, रथ और दासी आदिका दान करना कुदान कहलाते हैं। संसारमें इन कुदानोंको अज्ञानी ही किया करते हैं ॥१४९॥ जो असत अज्ञानी पुरुष पुण्य संपादन करनेके लिये गायका दान देता है वह बंधन घात आदिसे उत्पन्न हुए अनेक पापोंको उत्पन्न करता है ॥ इसीप्रकार जो पुरुष पुण्य बढानेके लिये पापोंका महासागररूप कन्यादान करता है वह घर, मैथुन, हिंसा आदिसे उत्पन्न हुए समस्त पापोको प्राप्त होता है ॥ १५१ ॥ जो मनुष्य शुभ कर्मोके लिये अनेक पापोंको उत्पन्न करनेवाले सुवर्णका दान देते हैं वे हिंसा, मोह आदिसे उत्पन्न हुए अत्यन्त भारी पापोंको उत्पन्न करते है ॥ १५२ ॥ जो अज्ञानी हाथी, घोडे, रथ, दासी, पृथ्वी, घर, तिल आदिकोका दान करता है वह अनेक जीवोंके घातका कारण होनेसे महा पापकर्मोंको उपार्जन करता है ॥१५३॥ मनुष्योंको पुण्य उपार्जन करनेके लिये धनका दान तो कभी देना ही नहीं चाहिये, क्योंकि धनका दान देना महा मोहको उत्पन्न करनेवाला है और ज्ञान चारित्र आदि गुणोंको

यथा स्तोक चोप्त भूरिगुण भवेत् । सुक्षेत्रे च महापात्रदान भोगधरादिषु ॥१४६॥ सुपात्राय कुपात्राय चापात्राय बुधोत्तमे । कुदान नैव दातव्य यत स्यात्स्वान्ययोरघम् ॥१४७॥ भगवन्! किं कुदान तद्यत सजायतेऽशुभम् । दशभेद प्रवक्ष्येऽङ्ग कुदान च कुदु खदम् ॥१४८॥ गोकन्याहेमहस्त्यश्वगेहक्ष्मातिलस्यन्दिन । दासी चेति कुदानानि प्रणीतानि शठैर्भुवि ॥१४९॥ गोदान योऽति मूढात्मा दत्ते पुण्यादिहेतवे । वधबन्धानि घातादिजात पाप लभेत स ॥१५०॥ कन्यादान प्रदत्ते य पुण्याय दुरितार्णवम् । गेहमैथुन हिंसादिजातं पाप च तस्य हि ॥१५१॥ सुवर्ण च प्रदत्ते ना शुभाय पापकारणम् । हिंसामोहादिज पाप तस्य जायेत दुस्तरम् ॥१५२॥ हस्त्यश्वरथदासीभूमिगेहतिलादिकम् । यो दत्ते मूढधीर्जीवघातात्पाप पर श्रयेत् ॥१५३॥ द्रव्यदान न दातव्य सुपुण्याय नरैः क्वचित् । महामोहकर ज्ञानवृत्तादिगुणघातकम् ॥१५४॥

घात करनेवाला है ॥१५४॥ जो मनुष्य हिंसा मोह आदिको वढानेवाले धनका दान करता है वह पाप और आरंभोंका मूल कारण ऐसे भारी पापोंको इकट्ठा करता है॥१५५॥ जिस दानसे महा पात्रता नष्ट होजाय, मोह, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिंता आदि उत्पन्न होजांय, ध्यान अध्ययन नष्ट होजांय, जीवोंका घात हो, वचन दुष्ट वा कठोर कहने पडें, मनुष्योंको राग वा द्वेप उत्पन्न होजाय, लोक निंदा हो वा और भी अनेक प्रकारके पाप हों, ब्रह्मचर्यका घात हो, मन मलिन होजाय, आर्तध्यान रौद्रध्यानकी प्रवृत्ति होजाय, धर्मध्यान और शुक्लध्यानमें विघ्न होजाय, मद उत्पन्न होजाय, इंद्रियां अपने व्यापारमें लग जांय, गुण नष्ट होजांय, व्रत छूट जांय और रत्नत्रयमें दोप लग जाय ऐसा दान उत्तम विद्वानोंको कंठगत प्राण होनेपर भी नही देना चाहिये ॥ १५६—१५९ ॥ हलाहल विप देना अच्छा परंतु कुपात्रोंको व्रत और ज्ञानको घात करनेवाला कुदान देना अच्छा नही, क्योंकि हलाहल विप देनेसे एक भवमें ही प्राण नष्ट होते हैं, परन्तु कुपात्रोंको कुदान देनेसे अनेक भवोंमें दुःख भोगना पडता है ॥ १६० ॥ जो अज्ञानी उत्तम मुनियोंके लिये पाप उत्पन्न करनेवाला कुदान देता है, वह सम्यक्चारित्रके घात करनेसे उत्पन्न हुए पापसे नरकमें ही पडता है ॥ १६१ ॥ संसारमें कृपण होना अच्छा परन्तु कुदानसे होनेवाले अनेक दुःखोंके कारण और पापोंके महासागर ऐसे दाताके दुर्गुण होना अच्छा नहीं ॥ १६२ ॥ जो धनी पुरुष मुनिराजोंके लिये सम्यक्चारित्रको नाश करनेवाला कुदान देता है वह महापापी होता है और उस पापसे भवभवमें दरिद्रता धारण करता है ॥ १६३ ॥ जो कुदानोंको देनेवाला है वह दाता कभी दाता नहीं कहा जासकता और जो सुदा-

द्रव्यदान प्रदत्ते यो हिंसामोहादिवर्द्धनम् । पापारभस्य मूल च श्रयेद्दुरितमुल्वणम् ॥ १५५ ॥ महापात्र प्रणस्येच्च मोह क्रोधोभयस्तथा । लोभ शोको महाचिंता ध्यानाध्ययनविच्युति ॥१५६॥ जीवघाते वचो दुष्ट द्वेपो रागोपि देहिनाम् । लोकनिन्दादिक पापमब्रह्म च मनोऽशुभम् ॥१५७॥ आर्तरौद्रद्वय ध्यान विघ्न च धर्मशुक्लयो । मदश्चेन्द्रिय व्यापारो गुणहानिर्व्रतच्युतिः ॥१५८॥ दोषो रत्नत्रयाणा च येन संजायतेतराम् । तद्दान नैव दातव्य प्राणान्तेपि बुधोत्तमै. ॥१५९॥ वर हालाहलं दत्त भवैक प्राणनाशनम् । न कुदान कुपात्रेभ्यो वृतज्ञानादिघातकम् ॥१६०॥ कुदान सन्मुनिभ्यो यो दत्ते मूढोऽशुभप्रदम् । वृत्तघातादिसंजातपापात्श्वभ्रे पतत्यधी. ॥१६१॥ कृपणत्व वर लोके नैव दातृगुणो नृणाम् । कुदानप्रभवो दु.खकारण पापसागरः ॥ १६२ ॥ यो धनाढ्यो मुनीशेभ्यो दत्ते चारित्रनाशकम् । कुदान स श्रयेत्पापं दारिद्र्य च भवेभवे ॥१६३॥ कुदानस्यैव यो दाता स दाता कथ्यते न च । सुदानस्य प्रदत्ता यो दाता स उच्यते जिनै ॥ १६४ ॥

नका देनेवाला है, भगवान जिनेन्द्रदेवने उसीको दाता वतलाया है ॥ १६४ ॥ इसलिये चतुर पुरुषोंको अपने कर्म नष्ट करनेके लिये कुदानोंको छोडकर महापुण्य उत्पन्न करनेवाला उत्तम दान देना चाहिये ॥ १६५ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! यदि गृहस्थ लोगोंको धन आदिका दान नहीं देना चाहिये तो फिर संसारमें प्राप्त हुए बहुतसे धनका क्या करना चाहिये ॥ १६६ ॥

उत्तर—हे वत्स ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये शुभ कर्मके उदयसे प्राप्त हुए धनसे जिनभवन बनवाना चाहिये, जिनबिंब बनवाना चाहिये और भगवान जिनेन्द्रदेवकी प्रतिष्ठाकर पूजा आदि सत्कर्म सदा करते रहना चाहिये ॥१६७॥ जो धनी जिनबिंबके साथ साथ जिन भवन बनवाता है वहांपर पूजा, स्वाध्याय आदि नित्य कर्म सदा होते रहते है इसलिये उसके पुण्यरूप फलोंको हम जान भी नहीं सकते ॥ १६८ ॥ जो धनी अनेक जीवोंका आधारभूत (जिसमें अनेक जीव आकर पुण्य उपार्जन करते हैं) जिन भवन बनवाता है उसके प्रतिदिन धर्मकी वृद्धि होनेसे महाधर्म वा महापुण्य प्राप्त होता है ॥ १६९ ॥ गृहस्थोंको जिन भवन बनवानेके समान अन्य कोई पुण्य नहीं है। यह प्रथम तो स्वर्गकी सीढ़ी है और फिर अनुक्रमसे मुक्तिरूपी स्त्रीको देनेवाला है ॥ १७० ॥ सारभूत मनोहर जिन भवनोंमें मुनिराज आकर निवास करते है, उन मुनिराजोंसे धर्मकी वृद्धि होती है और धर्मसे मनुष्योंको परम संपत्तिकी प्राप्ति होती है ॥ १७१ ॥ भव्य जीव श्री जिनभवनमें जाकर चंदन पुष्प आदि उत्तम उत्तम द्रव्योंसे भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं और इस-प्रकार जिनभवनसे महा पुण्य उपार्जन करते हैं ॥ १७२ ॥ गृहस्थलोग जिनभवनमें जाकर भगवानको प्रणाम करते है,

तस्मात्त्यक्त्वा कुदानं हि दानमुत्तममंजसा । महत्पुण्यप्रदं दक्षैर्दातव्यं कर्महानये ॥ १६५ ॥ यदि स्वामिन्न दातव्यमन्यद्दानं गृहाश्रितैः । धनाढ्यैश्च महद्द्रव्यं लोके. किं क्रियते वद ॥ १६६ ॥ कुरु वत्स जिनागारं बिम्बं च प्रपूज्य जिनम् । प्रतिष्ठादिकसत्कर्म मुक्त्यै द्रव्येण प्रत्यहम् ॥१६७॥ चैत्यगेहं विधत्ते यो जिनबिम्बसमन्वितम् । फलं तस्य न जानामि नित्यं धर्मप्रवर्द्धनात् ॥ १६८ ॥ अनेकजीवसाधारं जिनागारं करोति यः । धर्मप्रवर्द्धकं तस्य प्रत्यहं स्यान्महद्वृषम् ॥१६९॥ जिनगेहसमं पुण्यं न स्याच्च गृहिणां क्वचित् । स्वर्गसोपानमादौ च मुक्तिस्त्रीदायकं क्रमात् ॥१७०॥ जिनेन्द्रमंदिरे सारे स्थितिं कुर्वन्ति योगिनः । तेभ्यो सवर्द्धते धर्मो धर्मात्संपत्परं नृणाम् ॥ १७१ ॥ सारचंदनपुष्पादिद्रव्यै पूजां विधाय वै । समर्जयन्ति सत्पुण्यं भव्या श्रीजिनमंदिरे ॥ १७२ ॥ प्रणामं नृत्यसद्गीतसत्तूर्यादिकदंबकम् ।

नृत्य, स्तुति करते हैं, उत्तम बाजे बजाते हैं और इसप्रकारके अनेक कामोंसे महापुण्य उपार्जन करते हैं ॥ १७३ ॥ विद्वान् लोग धर्मके आधारभूत जिनभवनमें चंदोवा, घंटा, चमर, ध्वजा, दीपक, झल्लरी, ताल, कंसाल, भृंगार, कलश आदि उत्तम उत्तम धर्मोपकरण देकर महापुण्य सम्पादन करते हैं ॥ १७४–१७५ ॥ जो गृहस्थ धर्मके कारणभूत श्री जिनभवनको बनवाता है वह समस्त संघके धर्मकी वृद्धिका कारण होता है इसलिये वह संघाधिपति (संघका स्वामी) कहलाता है ॥१७६॥ जिसप्रकार जिनभवनको बनाता हुआ कारीगर धीरे धीरे ऊपरको चढता जाता है उसीप्रकार उस जिनभवनको बनवानेवाला बुद्धिमान् गृहस्थ भी धर्मके निमित्तसे मोक्षमें जा विराजमान होता है ॥१७७॥ जिनभवन बनवानेवालेको उस भवनमें अनेक भव्योंके द्वारा होनेवाली पूजा आदिके संबंधसे जो एक दिनमें पुण्य होता है उसको भी कोई विद्वान् कह नहीं सकता ॥ १७८ ॥ जो पुरुष चैत्यालय वा जिनभवन बनवाता है वह अनेक भव्य जीवोंको पुण्य उपार्जन करनेरूप उपकारको करता है इसलिये वह सब लोगोंके द्वारा पूज्य होता है और समस्त लोकमें वंदनीय गिना जाता है ॥ १७९ ॥ जो पुरुष भक्तिमें तत्पर होकर जिनभवन बनवाता है वह सोलहवें स्वर्गके सुख भोगकर मोक्षका राज्य प्राप्त करता है ॥१८०॥ जो भव्य पुण्य उत्पन्न करनेवाले जिनभवनको बनवाता है उसीकी लक्ष्मी सफल और स्वर्ग मोक्ष देनेवाली होती है ॥१८१॥ श्री जिनेंद्रदेवका भक्त जो भव्य पुरुष जिनबिंबोंका निर्माण कराता है वह नित्यपूजा आदिके संबंधसे अपरिमित पुण्यको प्राप्त करता है, उसके पुण्यको कोई जान भी नही सकता ॥ १८२ ॥ जो पुरुष महा पुण्यको देनेवाली भगवानकी पूजा

कृत्वा पुण्यार्जनं तत्र प्रकुर्वन्ति गृहेशिनः ॥१७३॥ चन्द्रोपकमहाघटाचामरध्वजदीपकान् । झल्लरीतालकंसालभृंगारकलशादिकान् ॥१७४॥ दत्वा चान्यानि साराणि धर्मोपकरणानि वै । अर्जयन्ति बुधा धर्मं धर्माधारे जिनालये ॥१७५॥ स संघाधिपतिर्ज्ञेयो यो कुर्याच्छ्रीजिनालयम् । धर्महेतु हि सर्वस्य संघस्य धर्मवर्द्धनम् ॥१७६॥ यथा शिल्पी जिनागारं कुर्वन्नूर्ध्वं शनैः व्रजेत् । तथा तत्कारको धीमान् स मोक्षं धर्मयोगतः ॥ १७७ ॥ दिनैकजातपुण्यस्य चैत्यगेहकरस्य ते । अनेकभव्यसंयोगाद्वक्तु कः स्यात्क्षमो बुधः ॥१७८॥ चैत्यालयं विधत्ते यः स पूज्यश्चाखिलैर्जनैः । वंदनीयो जगल्लोके भव्यपुण्योपकारतः ॥१७९॥ आलयं जिनदेवस्य यः कुर्याद्भक्तितत्परः । प्राप्य षोडशमं नाकं राज्यं च मुक्तिमाप्नुयात् ॥१८०॥ कारापयति यो भव्यो जिनेन्द्रभवनं शुभम् । तस्यैव जायते लक्ष्मी सफला स्वर्गमुक्तिदा ॥ १८१ ॥ करोति जिनबिम्बानि यो भव्योऽत्यन्तभक्तिमान् । नित्यपूजादिसंयोगात्तस्य पुण्यं न वेद्म्यहम् ॥१८२॥ सज्जिनार्चां विधत्ते यो महत्पु-

प्रतिदिन करते हैं उनके लिये इंद्रपद अथवा चक्रवर्तीका पद कुछ कठिन नहीं है ॥ १८३ ॥ विद्वान्लोग जबतक उस प्रतिमाकी पूजा करते रहते हैं तबतक उसके निर्माण करनेवाले कर्ताको पुण्यकी प्राप्ति होती रहती है ॥ १८४ ॥ जिसके घरमें पुण्य उपार्जन करनेवाली भगवान जिनेंद्रदेवकी प्रतिमा नहीं है उसका घर पक्षियोंके घोंसलेके समान है और वह असत पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥ १८५ ॥ वे लोग तीनों लोकोंमें धन्य हैं जो केवल धर्म पालन करनेके लिये भगवानकी पूजा करते हैं, उनकी स्तुति करते हैं और जिनभवन अथवा जिनबिंबोंका निर्माण कराते हैं ॥ १८६ ॥ जो भव्य पुरुष चौवीस तीर्थंकरोंकी उत्तम प्रतिमाओंका निर्माण कराता है वह स्वर्गके राज्यको व मनुष्यलोकके राज्यको पाकर अंतमें मोक्षका साम्राज्य प्राप्त कर लेता है ॥ १८७ ॥ जो भव्य पुरुप सुवर्णकी, चांदीकी, रत्नोंकी अथवा पाषाण आदिकी उत्तम जिनप्रतिमा बनवाता है उसके धर्म और सुख देनेवाली लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ १८८ ॥ गृहस्थोंको बिंबप्रतिष्ठाके समान और कोई धर्म नहीं है, क्योंकि बिंबप्रतिष्ठामें अनेक भव्य जीवोंका उपकार होता है और धर्मरूपी महासागरकी वृद्धि होती है ॥ १८९ ॥ जो भव्य जीव बिंबप्रतिष्ठा कराता है वह श्रेष्ठ धर्मकी वृद्धिका कारण होता है इसलिये वह इंद्र और चक्रवर्तीके सुख भोगकर अंतमें मोक्षरूप महा ऋद्धिको प्राप्त करता है ॥ १९० ॥ जो बुद्धिमान श्री जिनेंद्रदेवकी उत्तम प्रतिष्ठा करते हैं वे तीर्थंकरका परम पद पाकर मुक्तिरूपी ललनाका सेवन करते हैं ॥ १९१ ॥ प्रतिष्ठामें जितनी प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा होती है और उनकी जबतक नित्य पूजा आदि होती रहती है[1] तबतक उसके कर्ताओंको धर्मकी प्राप्ति होती रहती है

ण्यप्रदा सदा। शक्रत्व चक्रवर्तित्व न स्यात्कस्यैव दुर्लभम् ॥१८३॥ पूजयन्ति बुधा यावत्काल सत्प्रतिमा वराम्। तावत्काल च तत्कर्ता श्रयेत्पुण्यात्तमेव हि ॥१८४॥ यस्य गेहे जिनेंद्रस्य बिम्ब न स्याच्छुभप्रदम्। पक्षिगृहसम तस्य गेह स्याददतिपापदम् ॥१८५॥ धन्यास्ते ये नरा बिम्ब पूजयन्ति स्तुवन्ति च। कारापयन्ति धर्माय जिनस्य भुवनत्रये॥१८६॥ चतुर्विंशतिका सारा प्रतिमा य करोति ना। नाकराज्य नृराज्य च प्राप्य मोक्ष व्रजेत् स ॥१८७॥ हेमरूपादिना सारा रत्नाश्मादिमयामपि। विधत्ते यो जिनेन्द्रस्य तस्य श्रीधर्मसौख्यदा ॥१८८॥ न प्रतिष्ठासमो धर्मो विधत्ते गृहिणा क्वचित्। बहुभव्योपकारत्वाद् धर्मसागरवर्द्धनात् ॥१८९॥ य प्रतिष्ठा विधत्ते ना शक्रत्वं चक्रवर्तिताम्। प्राप्य नृर्द्धि प्रयात्येव स धर्मोदयकारणात् ॥१९०॥ ये कुर्वन्ति बुधा' सारा प्रतिष्ठा श्रीजिनेशिनाम्। तीर्थराज्यपद लब्ध्वा मुक्तिकान्तां भजन्ति

[1] यह ऐसा कथन उपचारसे है वास्तवमें इतना पुण्य उसी समय होजाता है।

॥१९२॥ जो भव्य जीव प्रतिष्ठा कराते हैं वे देव विद्याधर सबके द्वारा पूज्य होते हैं, स्तुति और वंदना करने योग्य होते हैं और इसलोक तथा परलोक दोनों लोकोंमें महासागरके समान महा सुखको प्राप्त होते हैं ॥ १९३ ॥ बहुत कहनेसे क्या जो मनुष्य प्रतिष्ठा कराता है, संसारमें उसीका जन्म सफल है क्योंकि वह प्रतिष्ठा धर्म, अर्थ और सुख देनेवाली है ॥१९४॥ गृहस्थोको भक्तिपूर्वक अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन जल चंदनादिकसे भुक्ति मुक्ति देनेवाली भगवान जिनेंद्रदेवकी उत्तम पूजा करनी चाहिये ॥ १९५ ॥ जो स्वभावसे ही स्वच्छ जलसे भगवान जिनेंद्रदेवकी प्रतिमाका अभिषेक करते हैं उस धर्मके प्रभावसे उनका समस्त पापरूपी कर्म नष्ट होजाता है ॥ १९६ ॥ जो प्रतिदिन कपूर और कुंकुमसे मिले हुए चंदनसे भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं वे उसके प्रभावसे स्वर्गमें अत्यंत सुगंधित शरीर पाते हैं ॥ १९७ ॥ जो भव्य जीव अखंड और उज्वल अक्षतोंसे भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं वे अक्षयपद वा मोक्षके परम सुखको प्राप्त होते हैं ॥ १९८ ॥ जो भव्य जीव जाति, चंपा, कमल, केतकी आदिके सुंदर पुष्पोंसे भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं वे स्वर्गमें भी पूज्य गिने जाते हैं ॥१०९। जो भव्य दूध, लड्डू, पकवान, शाली चावल, बड़े आदि नैवेद्यसे भगवानकी पूजा करते हैं वे तीनो लोकोंमें उत्पन्न हुए समस्त भोगोंको प्राप्त होते हैं ॥ २०० ॥ जो सम्यग्दृष्टी पुरुष कपूर और घीके बने हुए दीपकसे भगवानकी पूजा करते हैं वे केवलज्ञानको अवश्य प्राप्त करते हैं ॥ २०१ ॥ जो भव्य भगवानके सामने चंदन,

---

ते ॥१९१॥ यावन्ति जिनबिम्बानि पूजा नित्य श्रयन्ति वे । प्रतिष्ठाया च तत्कर्ता तद्धर्मं सभजेत् सदा ॥१९२॥ प्रतिष्ठा ये प्रकुर्वन्ति ते पूज्या नृसुरासुरे । स्तुत्या वद्या इहामुत्र भजन्ति सुखसागरम् ॥ १९३ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन य. प्रतिष्ठा करोति ना । तस्यैव सफलं जन्म सा धर्मार्थसुखप्रदा ॥१९४॥ कर्तव्या जिनसत्पूजा गृहस्थैर्भुक्तिमुक्तिदा । भक्त्या शक्त्यानुसारेण प्रत्यह स जलादिभि. ॥ १९५ ॥ जिनाग स्वच्छनीरेण क्षालयन्ति स्वभावत. । येऽतिपापमल तेषा क्षयं गच्छति धर्मत ॥१९६॥ अर्चयन्ति जिनेन्द्रं ये नित्यं कर्पूरकुंकुमे । मिश्रै सचन्दने. स्वर्गे सुगध्यगं भजन्ति ते ॥१९७॥ शाल्यक्षतैरखंडैश्च सदुज्वलैर्जिनेश्वरान् । समर्चयन्ति ये भव्या. ते भजन्ति शिव सुखम् ॥१९८॥ जातिचंपकसत्पद्मकेतक्यादिप्रसूनकैः । पूजयन्ति जिनान् भव्या नाके ते यान्ति पूज्यताम् ॥१९९॥ क्षीरमोदकपक्कान्न-शाल्यन्नवटकादिभि. । जिनपूजां विधत्ते यो भजेद्भोगं त्रिलोकजम् ॥२००॥ अभ्यर्चयन्ति ये दीपे. सत्कर्पूरघृतादिजे । अर्हन्तं केवलज्ञानं ते भजन्ते सुदृष्टय ॥२०१॥ चन्दनागुरुकर्पूरसदद्रव्यादि दहन्ति ये । जिनाग्रे कर्मकाष्ठाना भस्मीभावं श्रयन्ति ते ॥२०२॥ सदाम्रकद-

अगुरु, कपूर आदि श्रेष्ठ द्रव्योंको दहन करते हैं, इनकी धूप वनाकर खेवते हैं वे कर्मरूपी ईंधनको भस्म कर डालते हैं ॥२०२॥ जो गृहस्थ आम, केला, नारियल, सुपारी आदि फलोंको भगवानके सामने समर्पण करते हैं वे इच्छानुसार फलको प्राप्त होते हैं ॥ २०३ ॥ जो गृहस्थ भगवान जिनेंद्रदेवपर पुष्पांजलि क्षेपण करते हैं वे पुष्पवृष्टिसे भरे हुए उत्तम स्वर्गमें जा विराजमान होते हैं ॥ २०४ ॥ इसप्रकार आठ भेदोंसे उत्पन्न हुई महा पूजाके महोत्सवोंसे जो भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं उनके सब तरहकी संपत्ति प्राप्त होती है ॥ २०५ ॥ जो विद्वान भगवान जिनेंद्रदेवके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं वे प्राप्त हुए उस पुण्य कर्मके उदयसे इंद्रकी विभूति पाकर अनेक देवोंके द्वारा पूज्य होते हैं ॥२०६॥ भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करनेसे भव्य जीवोंको छहो खंड पृथ्वीसे सुशोभित तथा रत्न और निधियोंसे विभूपित चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त होती है ॥२०७॥ भव्य जीवोंको इस भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजाके प्रभावसे अनंत महिमासे सुशोभित और तीनों लोकोके स्वामियोंके द्वारा पूज्य ऐसे तीर्थंकर पदकी प्राप्ति होती है ॥ २०८ ॥ भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा किये विना मनुष्योंको भोग और सुखकी प्राप्ति कभी नहीं होती है इसीलिये विद्वानलोग भगवानकी पूजा सदा किया करते हैं ॥ २०९ ॥ जो उत्तम पुरुष सवेरे, दोपहर और शाम तीनों समय भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते हैं वे तीनों लोकोमें उत्पन्न होनेवाले समस्त भोगोंको भोगकर मोक्षपदमें जा विराजमान होते है ॥ २१० ॥ जो भव्य पुरुप भगवान जिनेंद्रदेवकी एकवार भी उत्तम पूजा कर लेता है वह समस्त सुखोंको पाकर मुक्तिस्त्रीको वश कर लेता है ॥ २११ ॥ यह भगवान जिनेन्द्रदेवकी

लीनालिकेरपूगीफलादिकान् । ढौकयन्ति जिनाग्रे ये लभन्ते फलमीप्सितम् ॥ २०३ ॥ पुष्पाजलिं जिनेन्द्राणा ये क्षिपन्ति गृहाधिपा । पुष्पवृष्टिसमाकीर्णं भजन्ति नाकमुत्तमम् ॥२०४॥ इत्यष्टभेदसजातैर्महापूजामहोत्सवे । अर्चयन्ति जिनेन्द्राश्च तेपा स्यु. सर्वसपद ॥२०५॥ पादपद्मौ जिनेन्द्राणा ये बुधा पूजयन्ति वै । इन्द्रभूतिं शुभात्प्राप्य देवैस्ते यान्ति पूज्यताम् ॥ २०६ ॥ जिनेन्द्रपूजया भव्या लभन्ते चक्रवर्तितान् । षट्खंडवसुधायुक्ता रत्ननिध्यादिसयुताम् ॥२०७॥ जिनपूजाप्रभावेन सत्तीर्थेशपद नृणाम् । जायते महिमोपेत त्रैलोक्यपतिपूजितम ॥२०८॥ पूजा विना जिनेन्द्राणा भोगसौख्यादिक सदा । जायते न मनुष्याणा तस्मात्सा क्रियते बुधै' ॥२०९॥ त्रिकालं जिननाथान् ये पूजयन्ति नरोत्तमा । लोकत्रयभव शर्म भुक्त्वा यान्ति पर पदम् ॥२१०॥ जिनाधीशस्य सत्पूजां वारैक यः करोति सः । सुख सार च सलब्ध्वा मुक्तिस्त्रीं च वश नयेत् ॥२११॥ पूजा कल्पद्रुम' पूजा कामधेनुश्च स्यान्नृणाम् । निधिश्चिन्तामणि' पूजा समी-

पूजा मनुष्योंको इच्छानुसार फल देनेवाले कल्पवृक्षके समान है, कामधेनुके समान है, निधिके समान है अथवा चिंतामणी रत्नके समान है ॥ २१२ ॥ जो मूर्ख मनुष्य अष्टद्रव्यसे भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा नही करते उनके हाथ व्यर्थ हैं, उनका जन्म व्यर्थ है और इस लोकमें उनका गृहस्थाश्रम व्यर्थ है ॥ २१३ ॥ यही समझकर विद्वानोंको अपने द्रव्यके अनुसार इसलोक परलोक दोनोंलोकोंमें हित करनेवाली भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा नित्य और अवश्य करनी चाहिये ॥ २१४ ॥ भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे जीवोंके असह्य ज्वर, वात, कोढ आदि घोर दुःख देनेवाले रोग सब नष्ट होजाते हैं ॥ २१५ ॥ भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे मनुष्योंके शाकिनी, डाकिनी, भूत, पिशाच, दुष्ट, शत्रु, चोर, कोतवाल, राजा आदिसे उत्पन्न हुए समस्त उपद्रव नष्ट होजाते हैं ॥ २१६ ॥ भगवान तीर्थंकर परमदेवकी पूजा करनेसे वध बंधनसे होनेवाले दुःख तथा सांकल, सर्प विप आदिसे उत्पन्न होनेवाले संसारी मनुष्योंके दुःख सब नष्ट होजाते हैं ॥ २१७ ॥ भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवाले चतुर पुरुषको स्वयंवरमें आई हुई कन्याके समान तीनो लोकोंमें रहनेवाली लक्ष्मी अपने आप आकर स्वीकार कर लेती है ॥ २१८ ॥ जो भावपूर्वक भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करके द्रव्य कमानेके लिये दूसरे गांवोंको जाते हैं उनको बहुतसी लक्ष्मी देनेवाला भारी लाभ होता है ॥२१९॥ भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे गृहस्थोंके विवाह आदि समस्त मगलकार्य निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त होजाते है ॥२२०॥ इसलिये गृहस्थ लोगोंको निर्विघ्नपूर्वक कार्यकी समाप्तिके लिये अथवा पुण्योपार्जन करनेके लिये भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनी चाहिये ॥ २२१ ॥गृहस्थोंको

हितफलप्रदा ॥२१२॥ पूजयन्ति जिनेन्द्रान्न पूजया ये शठाः नराः । हस्तौ व्यर्थौ वृथा जन्म तेषां चात्र गृहाश्रम ॥२१३॥ इति मत्वा बुधैर्नित्य कर्तव्या श्रीजिनेशिनाम् । पूजा द्रव्यानुसारेण चेहामुत्र हितप्रदा ॥२१४॥ जिनानां पूजया रोगा नश्यन्त्येव कुदु खदा । दु सहा ज्वरसपत्तिवातकुष्टादयोंगिनाम् ॥२१५॥ शाकिनी गृहदुष्टारिचौरक्षोभनृपादिजाः । उपद्रवाः क्षय यान्ति पुसा श्रीजिनपूजनात् ॥२१६॥ वधवधाद्भवं दु ख शृखलाहिविषादिजम् । नश्यत्येव नृणां लोके श्रीतीर्थेश्वरपूजया ॥ २१७ ॥ जिनपूजायुतं दक्ष लक्ष्मीः सवरते स्वयम् । भुवनत्रये च सजाता स्वय वरवधूरिव ॥ २१८ ॥ ये जिनार्चा विधायोच्चैर्ग्राम गच्छन्ति भावतः । द्रव्यार्थं जायते लाभस्तेषा बहु रैदायकः ॥२१९॥ निर्विघ्नेन भवन्त्येव मगलानि गृहेशिनाम् । विवाहादिस्वभावानि सर्वाणि जिनपूजया ॥ २२० ॥ तस्मात्पूर्वं गृहस्थैश्च कार्या पूजा जिनेशिनाम् । मंगलादिककार्यादौ निर्विघ्नार्थं शुभाय च ॥२२१॥ इहामुत्र हितार्थाय कर्तव्या गृहनायकैः । सदा पूजा जिनेन्द्राणां

इसलोक तथा परलोक दोनों लोकोंका हित करनेके लिये समस्त कल्याणोंको करनेवाली भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा सदा करते रहना चाहिये ॥ २२२ ॥ जो सम्यग्दृष्टी पुरुष भगवान जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करते हैं वे मेरु पर्वतपर जन्माभिषेक पाकर मोक्षमें जा विराजमान होते हैं—अर्थात् वे तीर्थंकर होते हैं, इसलिये मेरुपर्वतपर उनका जन्माभिषेक किया जाता है और अंतमें वे मोक्ष जाते हैं ॥ २२३ ॥ जो मनुष्य पुण्य उपार्जन करनेके लिये श्री जिनेन्द्रदेवको (उनके भवनमें) घंटा समर्पण करते हैं वे परलोकमें अनेक घंटाओंसे सुशोभित विमानपर चढकर गमन करते हैं ॥ २२४ ॥ जो मनुष्य मनोहर जिनभवनमें चंदोवा देते हैं वे अपने पुण्य कर्मके उदयसे एक छत्र महाराज्यका उपभोग करते हैं ॥ २२५ ॥ जो मनुष्य श्री जिनभवनकी शोभा बढानेके लिये उसमें चमर समर्पण करता है वह अनेक दुलते हुए चमरोंसे शोभायमान स्वर्गके साम्राज्यका उपभोग करता है ॥२२६॥ जो मनुष्य श्री जिनालयमें धर्मोपकरण देते हैं वे भवभवमें भोगोपभोगके उपकरण (साधन) प्राप्त करते हैं ॥ २२७ ॥ मनुष्योंको सिद्धांत ग्रंथोंका उद्धार करनेके लिये अवश्य द्रव्य प्रदान करना चाहिये। क्योंकि सिद्धांतोंका उद्धार करनेसे ही मनुष्योंका ज्ञान वा सुख आदि सब सफल गिना जाता है ॥ २२८ ॥ धनाढ्य पुरुषोंको पुण्य उपार्जन करनेके लिये चारों प्रकारके संघको यथायोग्य रीतिसे चारों प्रकारका दान देना चाहिये ॥२२९॥ गृहस्थोंको अपना पुण्य बढानेके लिये,जिनालयके लिये, जिन प्रतिमाओंके लिये, जिनपूजाका उद्धार करनेके लिये और सिद्धांत ग्रंथोंका उद्धार करनेके लिये अपना धन देना चाहिये ॥ २३० ॥ जो गृहस्थ धर्मकी वृद्धिके लिये ऊपर कहे हुए पुण्यक्षेत्रोंमें दान देता है वह उस पुण्य कर्मके उदयसे परलोकमें अनंत धनको प्राप्त होता है ॥ २३१ ॥ गृहस्थोंको अपना

सर्वाभ्युदयसाधिनी ॥ २२२ ॥ सद्दृष्टय प्रकुर्वन्ति चाभिषेकं जिनस्य ये । जन्मस्नानं च ते प्राप्य मेरौ यांति शिवालयम् ॥ २२३ ॥ घंटा श्रीजिनदेवस्य दद्युः सत्पुण्यहेतवे । घंटादि सहितं यानमारूढा हि व्रजन्ति ते ॥२२४॥ दत्ते चन्द्रोपकं यो ना जिनागारे मनोहरे । एकछत्रं महद्राज्यं श्रयेत्सोऽपि शुभोदयात् ॥२२५॥ शोभार्थं श्रीजिनागारे दद्युः सचामराणि ये । चामरैर्वीज्यमाणं ते नाकराज्यं व्रजन्ति वै ॥ २२६ ॥ धर्मोपकरणान्येव ये ददति जिनालये । भोगोपकरणान्येव ते लभन्ते भवे भवे ॥ २२७ ॥ सिद्धांतादिसमुद्धारे दातव्यं द्रव्यमञ्जसा । सफलं येन तत्पुंसां भवेज्ज्ञानसुखादिकम् ॥ २२८ ॥ चतुर्विधाय संघाय दानं देयं चतुर्विधम् । द्रव्याढ्येन गृहस्थेन यथायोग्य शुभाय वै ॥ २२९ ॥ जिनालये च तद्बिम्बे पूजोद्धारादिहेतवे । सिद्धान्तलेखने चाऽपि धनं देयं शुभाप्तये ॥ २३० ॥

दयाधर्म बढानेके लिये दयापूर्वक जो हिंसक वा रुद्रपरिणामी नही है ऐसे दीन और अनाथ लोगोको अन्नदान अवश्य देना चाहिये ॥ २३२ ॥ जो पुरुष करुणादान नहीं करते उनका मन कठोर होजाता है और मन कठोर हो जानेसे पाप लगता है इसलिये गृहस्थोंको सदा करुणादान देते रहना चाहिये ॥ २३३ ॥ उत्तम पुरुषोंको बावडी, कूआ और तलाव आदि नहीं करना चाहिये क्योंकि इनके बनवानेमें महा हिंसा होती है और इनसे संसारमें सदा पाप उत्पन्न होते रहते हैं ॥२३४॥ कूआ खोदनेवाला कारीगर जिसप्रकार नीचे ही नीचेको चलता जाता है उसी प्रकार उसका खुदानेवाला अज्ञानी पुरुष भी सातवें नरक तक नीचे ही नीचे चला जाता है ॥ २३५ ॥ जिसप्रकार चैत्यालयके बनवानेमें उसके बनवाने वालेको सदा पुण्यकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार कूआमें भी सदा जीवोंकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है इसलिये उनके बनवानेवालोको भी सदा ही पापकी प्राप्ति होती रहती है ॥ २३६ ॥ तलावोंमें बडे बडे मगरमच्छ छोटी छोटी अनेक मछलियोंको खा जाते है, बगला, बाज, चकवा चकवी आदि अनेक पक्षियोका समुदाय मछलियोंकी हिंसा करते रहते हैं, और अनेक शिकारी आ आकर मछलियोंके लिये जाल फैलाते है। इन सब कामोसे महा हिंसा होती है ॥२३७–२३८॥ यही समझकर अहिंसाव्रतकी रक्षा करनेके लिये पापोंसे डरनेवाले श्रावकोको पाप उत्पन्न करनेवाले बावड़ी कूआ तलाव आदि कभी नही बनवाना चाहिये ॥ २३९ ॥

हे भव्य! मुनियोके लिये आहारदान देना समस्त सुखोंका निधि है, समस्त भोग उपभोगकी खानि है, स्वर्गादिक निर्मल गतियोंको देनेवाला है, स्वर्गकी सीढी है.नरकरूपी घरको बंद करनेके लिये किवाड है, अपने और दूसरोंके लिये

इत्युक्तेतिसुक्षेत्रे यो दान दद्यादवृषाप्तये । परलोके श्रयेत्सोपि सख्यातीत धन शुभात् ॥ २३१ ॥ दीनानाथमनुष्येऽभ्यो प्रारौद्रेभ्यो गृहान्विते । अन्नदान च दातव्य कृपयाति दयाप्तये ॥ २३२ ॥ कृपादान न कुर्वन्ति ये तेषा कठिन मन । स्यादतो जायते पापं तस्माद्देय हि तत्सदा ॥ २३३ ॥ वापीकूपतडागादि सर्वं कार्यं न सन्नरे । महाहिंसाकर लोके नित्य दुरितदायकम् ॥ २३४ ॥ कूपादिखननात्शिल्पी यथाऽधो याति निश्चितम् । तद्वत्तत्कारको मूढो यावत्श्वभ्र च सप्तकम् ॥२३५॥ यथा चैत्यालये पुण्य नित्यं तत्कारिणां भवेत् । तथा कूपादिके पाप जीवोत्पत्तिविनाशतः ॥२३६॥ तडागेति महामत्स्य प्राप्ति मीनलघून् बहून्। वकसारससवश्च चक्रवाककद वकम् ॥२३७॥ आखेटिनः समागत्य तत्र जाल क्षिपन्ति भो । मत्स्यार्थं ततस्तेभ्यो महाहिंसा प्रवर्तते ॥२३८॥ इति मत्वा न कर्तव्य सर्वं ॥२३९॥

सुखका कारण है और सबसे सुंदर वा उत्तम है इसलिये हे भव्य ! तू मुनिराजोंके लिये सदा आहारदान दे ॥ २४० ॥ इसीप्रकार मुनियोंके लिये औषधदान देना मुनियोंके लिये सुखका कारण है, रोगरूपी हाथीको मारनेके लिये सिंहके समान है, निर्मल गुणोंका समुद्र है और अनंत सुखका घर है, इसलिये हे भव्य तू धर्मकी सिद्धिके लिये रोगी मुनियोंको सार-भूत और प्रासुक औषधि दे, अर्थात् औषधदान कर ॥२४१॥ आहारदान और औषधिदानके समान ज्ञानदान भी मोक्ष-महलमें पहुंचानेका कारण है, समस्त जीवोंका उपकार करनेवाला है, तीनो लोकोंके स्वामी तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं, यह समस्त तत्त्वोंको प्रगट करने–दिखलाने लिये दीपक है, पापरूपी अंधेरेको दूर करनेके लिये सूर्य है और धर्म-रूपी वृक्षकी जड़ है, इसलिये हे विद्वन् ! श्रुतज्ञानको प्राप्त करनेके लिये तू मुनियोंके लिये ज्ञानदान दे ॥ २४२ ॥ भगवान जिनेंद्रदेवका जिनभवन धर्मकी खानि है, धर्मकी वृद्धि करनेवाला है, स्वर्ग मोक्षका कारण है, मुनिराज भी इसकी सेवा करते हैं (वंदना करते हैं) और यह जिनालय एक निधानके समान है। ऐसे जिनालयको जो विद्वान्‌लोग बनवाते हैं वे संसारमें वंदना करने योग्य हैं। उन्होंने अपनी बुद्धिको परलोककी सिद्धिमें ही लगा रक्खा है। ऐसे लोग उस इकट्ठे किये हुए धर्मके प्रभावसे सुख देनेवाले अच्युत स्वर्गके राज्यको पाकर मोक्षमें जा विराजमान होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है ॥२४३॥ भगवान जिनेन्द्रदेवका प्रतिबिंब भी संसारभरमें पूज्य है, सदा पूजनीय है और श्रेष्ठ पुण्यका घर है, इसलिये जो भव्य पुरुष ऐसे महा सुंदर जिनबिंबका निर्माण कराते हैं, जिनप्रतिमा बनवाते है वे अनेक सुखोंको भोगकर अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ २४४ ॥ भगवान जिनेन्द्रदेवकी प्रतिष्ठा कराना सबमें सारभूत है, निर्मल गुणोंकी खानि है, श्रेष्ठ धर्मकी एक मात्र पृथ्वी

कूपादिकं क्वचित्। अहिंसाव्रतरक्षार्थं पापभीतैरघप्रदम् ॥ २३९ ॥ सकलसुखनिधानं सर्वभोगैकखानिं, विमलगतिकरं वै स्वर्गसोपानभूतम्। मुनिजनसुखहेतुं रोगमातंगसिंहं, विमलगुणसमुद्रं नरकगृहकपाटं स्वान्ययोः सौख्यहेतुं। सुभग ! सुमुनये त्वं पात्रदानं ददस्व ॥ २४० ॥ मुनिजनसुखहेतुं रोगमातंगसिंहं, विमलगुणसमुद्रं प्रचुरसुखसुगेहं स्वौषधं वै ददस्व ॥२४१॥ शिवगतिगृहमार्गं सर्वलोकोपकारं, त्रिभुवनपतिसेव्यं विश्वतत्त्वप्रदीपं। दुरिततिमिरसूर्यं धर्मवृक्षस्य कन्दं, बुध ! कुरु श्रुतप्राप्त्यै ज्ञानदानं मुनिभ्यः ॥२४२॥ ये कुर्वन्ति जिनालयं बुधजना धर्माकरं धर्मदं, स्वर्मोक्षैकनिबंधनं यतिजनैः सेव्यं निधानोपमम्। ते बद्धा परलोकसाधनधियः प्राप्याच्युतं शर्मदं, राज्यं चानुव्रजन्ति मोक्षमतुलं धर्मोदयान्निश्चितम् ॥२४३॥ कुर्वन्ति बिम्बं भुवनैकपूज्यं, जिनेश्वराणां सुसमर्चनीयम्। सत्पुण्यगेहं च महा-

है अर्थात् श्रेष्ठ धर्मकी उत्पत्ति प्रतिष्ठासे ही होती है, यह असंख्यात लोगोंको पुण्य कर्मोंका उपार्जन करानेवाली है और अनंत सुख देनेवाली है इसलिये जो विद्वान् जिनप्रतिमाकी प्रतिष्ठा कराते हैं वे संसारमें धन्य हैं और वे ही सुंदर हैं। ऐसे लोग श्रेष्ठ मोक्ष मार्गरूप धर्मकी वृद्धि करनेके कारण तीनों लोकोंमें उत्पन्न होनेवाली और अपरिमित सुख देनेवाली लक्ष्मीका उपभोगकर अंतमें अनंत सुखकी निधि ऐसे मोक्षस्थानमें जा विराजमान होते हैं ॥ २४५ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें चारोप्रकारके दानके स्वरूपको वर्णन करनेवाला यह बीसवा परिच्छेद समाप्त हुआ।



अथ इक्कीसवां परिच्छेद।

जिन्हें समस्त शत्रुमंडल भी नमस्कार करता है और जो धर्मरूपी अमृतको वरसानेके लिये महामेघके समान हैं ऐसे श्री नमिनाथ जिनेन्द्रदेवको मैं सुखकी प्राप्तिके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ जो बुद्धिमान् पांचों अतिचारोंका त्यागकर मुनिराजके लिये आहारदान देता है वह तीनों लोकोंके भोगोंका अनुभव कर अन्तमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥ २ ॥

प्रश्न—हे भगवन् ! कृपाकर मेरे लिये उन अतिचारोंका निरूपण कीजिये।

उत्तर—हे मित्र ! सुन, मैं दानमें मल उत्पन्न करनेवाले उन अतिचारोंको कहता हूं ॥ ३ ॥ सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, अनादर, मत्सर और कालातिक्रम ये पांच दानमें दोष उत्पन्न करनेवाले अतिचार हैं ॥ ४ ॥ जो कमलपत्र

स्वरूप, भुक्त्वा सुखं तेऽपि व्रजन्ति मोक्षम् ॥२४४॥ ये कुर्वन्ति जिनेशिना सुविमला सारा प्रतिष्ठा बुधाः। सद्धर्मैकधरामसंख्यजनसत्पुण्यप्रदां सौख्यदाम्। ते धन्याः सुभगा श्रियं सुखकरा लब्ध्वा त्रिलोकोद्भवा, पश्चाद्यान्ति शिवालयं सुखनिधिं सद्धर्मसंवर्द्धनात् ॥२४५॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे चतुर्विधदानप्ररूपको नाम विंशतितमः परिच्छेदः।

अथैकविंशतितमः सर्गः।

नमिनाथं जिनाधीशं नमिताशेषविद्विषम्। धर्मामृतमहामेघं नमस्यामि सुखाप्तये ॥१॥ पंचातिचारसंत्यक्तं मुनिभ्यो यो ददाति सः। अन्नदानं शिवं याति प्राप्य भोगं त्रिलोकजम् ॥२॥ भगवन् ! मे व्यतीपातान् दयां कृत्वा निरूपय। वक्ष्येऽहं शृणु ते मित्र ! दोषान्

आदि सचित्त पदार्थोंपर मुनिराजके लिये देनेयोग्य प्रासुक आहार रखता है उसके सचित्तनिक्षेप नामका अतिचार लगता है ॥ ५ ॥ जो पुरुष मुनिराजके लिये देनेयोग्य दानको कमलपत्र आदि सचित्त पदार्थसे ढकता है उसके सचित्तापिधान नामका अतिचार लगता है ॥ ६ ॥ जो उत्तम पात्रोंके लिये विना आदर सत्कारके दान देता है उसके पाप उत्पन्न करनेवाला अनादर नामका अतिचार लगता है ॥ ७ ॥ जो पुरुष अन्य दाताओंके दानसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंको सहन नहीं कर सकता है उसके मत्सर नामका अतिचार लगता है ॥ ८ ॥ जो घरमें पात्रको स्थापन करके प्रमादके कारण योग्य कालको उल्लंघन कर दान देता है उसके कालातिक्रम नामका अतिचार लगता है ॥ ९ ॥ जो पुरुष सदा दोषोंको छोडकर महापात्रोंके लिये उत्तम दान देता है उसके सब मनोरथ फलीभूत होते हैं ॥१०॥ जो विद्वान् सुपात्रोंके लिये चारों प्रकारका महादान देता है वह इसलोक और परलोक दोनों लोकोंके सुख भोगकर अंतमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन ! चारो प्रकारके दान देनेसे जिन्होने बहुत अच्छा सुख प्राप्त किया है उनकी कथा कृपाकर कहिये ॥ १२ ॥

उत्तर—हे महाभाग ! सुन मैं श्री शांतिनाथस्वामीकी महा पुण्य उत्पन्न करनेवाली कथा कहता हूं ॥१३॥ आहारदान देनेमें राजा श्रीषेण तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हुए हैं इसलिये मैं उनकी पुण्य उत्पन्न करनेवाली कथा संक्षेपसे कहता हूं ॥१४॥

दानमलप्रदान् ॥३॥ स्याता सचित्तनिक्षेपपिधाने स्यादनादर । मत्सरत्व च कालातिक्रमो दानस्य दोषत. ॥ ४ ॥ विचित्रपद्मपत्रादावन्न सस्थापयेन्नरः । प्रासुकस्यैव वा मध्ये पुण्यार्थं सोपि त श्रयेत् ॥ ५ ॥ पत्रादिनापि य· कुर्यादन्न यतेश्च हेतवे । आच्छादन श्रयेत्सोपि दोष लोके पिधानकम् ॥ ६ ॥ आदरेण विना दान सत्पात्राय ददाति यो । दानस्यानादरो दोषो जायते तस्य पापतः ॥ ७ ॥ अन्येषां योऽपि दातॄणा गुणदानसमुद्भवम् । सहते नैव तद्दोष भजते दानमदान्वित. ॥ ८ ॥ स्थापयित्वा गृहे पात्रं दत्ते दान प्रमादतः । योग्यकाल परित्यज्य स कालातिक्रमो भजेत ॥९॥ दूरीकृत्य जनो दोषान्सर्वान् दान ददाति य । महापात्राय प्राप्नोति मनोऽभीष्ट फल स वै ॥१०॥ चतुर्विध महादान दत्ते पात्राय यो वुध । इहाऽमुत्र सुख भुक्त्वा क्रमायाति शिवालयम् ॥११॥ चतुर्विधमहादानात्प्राप्त यैश्च सुख शुभम् । दक्षैस्तेषा कथा स्वामिन् ! कथयस्व ममादरात् ॥ १२ ॥ श्रृणु त्व भो महाभाग ! कथयामि कथां तव । महापुण्यकराद्दानाज्जाता शान्तिभवादिजाम् ॥ १३ ॥ श्रीषेणो यो नृपो ख्यातो दाने लोकत्रये भवेत् । कथा तस्य प्रवक्ष्यामि सक्षेपेण शुभप्रदाम् ॥ १४ ॥ मलयाख्ये

मलय नामके शुभदेशमें रत्नसंचयपुर नामके नगरमें अनेक गुणोका घर धीरवीर दाता ऐसा श्रीषेण नामका राजा राज्य करता था ॥ १५ ॥ उस राजा श्रीषेणके पुण्यके प्रभावसे सिंहनंदिता और अनिंदिता नामकी दो रानी थीं जो कि हाव भाव आदि समस्त गुणोसे सुशोभित थीं ॥ १६ ॥ उनके इंद्र और उपेंद्र नामके दो पुत्र थे जो अत्यंत चतुर थे, शास्त्रोंके जानकार थे और दान पुण्य करनेमें निपुण थे ॥ १७ ॥ उसी नगरमें एक सात्यकी नामका ब्राह्मण रहता था उसकी ब्राह्मणीका नाम जंबू था, उनके रूप और गुणोंसे सुशोभित सत्यभामा नामकी पुत्री थी ॥ १८ ॥ इधर पाटलिपुत्र नामके नगरमें रुद्रभट्ट नामका ब्राह्मण रहता था। वह विद्वान था और ब्राह्मणोंके पुत्रोंको पढाया करता था ॥ १९ ॥ उसके घरमें कपिल नामका उसकी दासीका पुत्र रहता था। वह उन पाठोंको सुनते सुनते सब शास्त्रोंका पारगामी होगया था ॥ २० ॥ उस दासीपुत्रको शास्त्रोंका पारगामी होता देखकर रुद्रभट्टने अपने घरसे निकाल दिया। तब उसने यज्ञोपवीत और उत्तरीय (जनेऊ, दुपट्टा आदि) आदि वस्त्र पहिनकर ब्राह्मणका भेष धारण किया तथा मिथ्याज्ञानमें तत्पर रहनेवाला वह कपिल इसप्रकार कपट धारण कर रत्नसंचयपुरमें पहुंचा ॥ २१-२२ ॥ वहांपर उसे सात्यकी ब्राह्मणने देखा उसे रूपवान् तथा वेदका पारगामी जानकर अपने घर ले आया और सत्यभामा नामकी शुभ और सती कन्या उसे व्याह दी ॥२३॥ रात्रिके समय सत्यभामाने उसका अच्छा व्यवहार न देखकर हृदयमें खेद माना और एक प्रकारसे निश्चयसा कर लिया कि यह उत्तम कुलीन नहीं है ॥ २४ ॥ किसी एक समय रुद्रभट्ट ब्राह्मण तीर्थयात्राके लिये परिभ्रमण करता हुआ उसी

शुभे देशे रत्नसचयसत्पुरे। नृपः श्रीषेणनामाभूद्धीरो दाता गुणैकभूः ॥ १५ ॥ तस्य राज्ये शुभे सिंहनिन्दितानिन्दिते वरे। स्याता पुण्यप्रभावेन हावभावविभूषिते ॥ १६ ॥ तयोः पुत्रौ समुत्पन्नाविन्द्रोपेन्द्रौ सुलक्षणौ। दक्षौ शास्त्रविचारज्ञौ दानपुण्यादिसंयुतौ ॥१७॥ सात्यकाख्यो भवेत्तत्र विप्रो जबूश्च ब्राह्मणी। सत्यभामा तयोः पुत्री जाता रूपगुणान्विता ॥ १८ ॥ पुरे पाटलिपुत्राख्ये रुद्रभट्टो द्विजो वसन्। पापदान् द्विजपुत्राणा वेदान् पाठयति क्रमात् ॥ १९ ॥ तदीय चेटिकापुत्रः कपिलाख्यो मतेर्बलात्। शृण्वानः कर्णसंघातान् जातस्तत्पारगोऽचिरात् ॥ २० ॥ रुद्रभट्टेन स तस्मात्पुरान्निर्घाटितो हठात्। सोत्तरीय च यज्ञोपवीत व स्त्रादिक दधौ ॥ २१ ॥ विप्रवेष समादाय स रत्नसचयाभिधे। पुरे कपटसंयुक्तो गतः कुज्ञानतत्परः ॥ २२ ॥ दृष्ट्वाशु सात्यकिस्तं च सुरूप वेदपारगम्। नीत्वा गृहमदात्तस्मै सत्यभामा सतीं शुभाम् ॥२३॥ रतिकाले समालोक्य विट्चेष्टा कुकाकजाम्। विषाद विदधे सा न कुलजोऽयं भविष्यति ॥२४॥

रत्नसंचयपुरमें आ पहुंचा जहां कि कपिल ब्राह्मण रहता था ॥ २५ ॥ कपिलने देखते ही उसे नमस्कार किया और अपने घर लेजाकर भोजन कराकर तथा वस्त्र आभूषण देकर उसका खूब ही आदर सत्कार किया ॥ २६ ॥ उस मूर्ख कपिलने अपनी स्त्री और समस्त लोगोंके सामने उसीसमय स्पष्ट शब्दोंमें कह सुनाया कि ये मेरे पिता हैं ॥२७॥ किसी एक दिन सत्यभामाने रुद्रभट्टको बहुत ही उत्तम भोजन खिलाया और उसे बहुतसा सुवर्ण देकर तथा उसके पैरों पड़कर कपिलका कुल पूछा ॥२८॥ तब रुद्रभट्टने सच बात कह दी और कह दिया कि हे पुत्री ! यह कपिल नामका तेरा पति मेरी दासीका पुत्र नीच ब्राह्मण है ॥२९॥ इस बातको सुनकर वह अपने मनमें बड़ी विरक्त हुई और विचार करने लगी कि विष मिला भोजन खा लेना अच्छा, परंतु हीनकुल मनुष्यके साथ रहना अच्छा नहीं ॥ ३० ॥

तदनन्तर उसने उस दुष्टका त्याग कर दिया और अपने शीलभंग होनेके भयसे वह महाराज श्रीषेणकी रानी सिंहनंदिता तथा अनिंदिताके शरणमें जा पहुंची ॥ ३१ ॥ सिंहनंदिताने उसे अपनी धर्मपुत्री मानकर रक्खा। इसप्रकार दान पूजा आदि कार्योंको करती हुई वह सत्यभामा वहां रहने लगी ॥ ३२ ॥ किसी एक दिन ध्यान और अध्ययनमें तत्पर रहनेवाले दो चारण मुनिराज आहारके लिये महाराज श्रीषेणके घर पधारे ॥ ३३ ॥ उन्हें देखते ही महाराजने उन्हें स्थापन किया और उनके चरणकमलोंको नमस्कार किया। उन दोनों मुनिराजोंमें अर्ककीर्ति बड़े थे और अमितगति छोटे थे ॥ ३४ ॥ तदनन्तर भक्ति करनेमें तत्पर रहनेवाले महाराज श्रीषेणने उन दोनों मुनिरा-

एकदा रुद्रभट्टश्च तीर्थयात्रा परिभ्रमन् । समायातः पुरे तत्र यत्र स्यात्कपिलो द्विजः ॥ २५ ॥ कपिलेन नमस्कारं कृत्वा नीतः स्वमन्दिरे । भोजनं कारयित्वा स दत्तं वस्त्रादि भूषणम् ॥ २६ ॥ भार्यायाश्च लोकादीनामग्रेऽपि कथितं स्फुटम् । मदीयोऽयं पिता व्यातस्तेन मूढेन तत्क्षणम् ॥ २७ ॥ विशिष्टं भोजनं दत्वा बहु स्वर्णं च तस्य वै । लगित्वा पादयो पृष्टं कपिलस्य कुलं तथा ॥ २८ ॥ ततस्तेन स्वगं सत्यमुक्तं पुत्रि ! तव प्रियः । मदीयश्चेटिकासूनुः कपिलोयं द्विजोत्तमः ॥ २९ ॥ तदाकर्ण्य विरक्ता सा चिंतयामास मानसे । वरं भुक्तं विषान्नं च न रं हीनकुलजनम् ॥३०॥ ततस्त्यक्त्वापि तं दुष्टं शीलभंगभयाद् द्रुतम् । सिंहादिनिंदितादेव्याः प्रविष्टा शरणं च सा ॥३१॥ तया सा प्रतिपन्ना सा धर्मपुत्री शुभोदयात् । सत्यभामा स्थिता तत्र दानपूजादि संयुता ॥३२॥ एकदा तद्गृहे धीरावागतौ चारणौ मुनी। आहारार्थं जगत्पूज्यौ ध्यानाध्ययनतत्परौ ॥३३॥ दृष्ट्वा तौ स्थापितौ राज्ञा प्रणम्य चरणद्वयम् । अर्ककीर्तिर्मुनिर्ज्येष्ठश्चामितादिगतिः लघु

जोंको विधि-पूर्वक उत्तम आहार दिया ॥ ३५ ॥ जिसप्रकार महाराज श्रीषेणने वह आहारदान देकर महापुण्य उपार्जन किया उसीप्रकार उस दानकी अनुमोदना करनेके कारण दोनों रानियोंने और सत्यभामाने भी पुण्य उपार्जन किया ॥३६॥ उस दानके फलसे राजा श्रीषेण अपनी दोनों रानियोंके साथ उत्तम भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ। तथा ब्राह्मणी सत्यभामा भी आहारदानकी अनुमोदना करनेसे और उसके पुण्यके फलसे उसी उत्तम भोगभूमिमें आर्या हुई ॥३७–३८॥ वहांपर वस्त्रांग गृहांग, माल्यांग, भूषणांग आदि सब तरहके कल्पवृक्ष थे, उनके कारण अपनी इच्छानुसार, उपमा रहित, स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले, समस्त इंद्रियोंको प्रसन्न करनेवाले और समान प्रेम उत्पन्न करनेवाले भोग अपने पुण्य कर्मके उदयसे भोगने लगे इसप्रकार दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए दश प्रकारके भोग विना किसी रोग क्लेश आदि बाधाओंके उन्होने तीन पल्य तक भोगे थे ॥ ३९–४१ ॥ इसप्रकार सुखपूर्वक अपनी आयु पूरीकर राजा श्रीषेणके जीवने अनेक महा ऋद्धियोंसे सुशोभित देवोंकी विभूति पाई और इसप्रकार देव और मनुष्योंके उत्तम उत्तम सुख भोगकर अपने उस भवसे बारहवें शुभ भवमें शांतिनाथ तीर्थंकर हुए। उस पात्रदानके पुण्यसे उन्हें तीर्थंकर चक्रवर्ती और कामदेवका पद प्राप्त था ॥ ४२–४३ ॥ इस दानके ही प्रभावसे वैश्यकुलको सुशोभित करनेवाला सुकेतु देवोंसे भी अजेय हुआ था अर्थात् उसे देव भी नहीं जीत सकते थे तथा उसनें अनेक ऋद्धियोंसे सुशोभित होनेवाले तथा तीनो लोकोंमें प्रसिद्ध ऐसे देवोंके सुख भोगे। तदनन्तर उसने मुक्तिरूपी वधू अपने वशमें की, उसकी कथा चतुर पुरुषोंको पुण्यास्रव पुराणसे जान लेनी चाहिये ॥४४-४५॥

॥३४॥ ततो दत्तो वराहारो मुनिभ्यां विधिवत्स्वयम्। श्रीषेणनरेशेण भक्तितत्परचेतसा ॥३५॥ दानकाले महापुण्य श्रीषेणेन यथार्जितम्। तथा दानानुमोदेन राज्ञीभ्या सत्यभामया ॥ ३६ ॥ तत्फलेन मृतो राजा राज्ञीभ्या सह निश्चितम्। उत्कृष्टभोगभोमौ च सादृशा शुभयोगतः ॥ ३७ ॥ ब्राह्मणी सत्यभामापि तत्र जाता मनोहरा। आर्यादानानुमोदादिजातपुण्यविपाकत ॥ ३८ ॥ सद्वस्त्रगृहसन्मालाभूषणादि समन्वितम्। मनोभिलषितं नित्यं निरौपम्य शुभावहम् ॥ ३९ ॥ सर्वेन्द्रियसमाह्लादकारणं समप्रीतिजम्। पल्यत्रयप्रमाणायुरोग क्लेशादिविच्युतम् ॥ ४० ॥ इष्टं संदशभेदं सत्कल्पद्रुमद्विपचजम्। भुंक्ते तत्र सुखं चायः स्वपुण्यफलपाकत. ॥ ४१ ॥ कालातरेपि परिप्राप्य देवभूति महर्द्धिकम्। भुक्त्वा नृदेवज शर्म स द्वादश भवे शुभे॥ ४२ ॥ क्रमाच्छ्रीशान्तिनाथोऽयं जातस्तीर्थकराह्वय। पात्रदानसुपुण्येन कामदेवश्च चक्रभृत् ॥ ४३ ॥ दानेनैव सुकेत्वाख्यो देवानां दुर्जयोप्यभूत्। अनेकऋद्धिसंयुक्तो विख्यातो यो जगत्रये ॥४४॥

इसीप्रकार अत्यन्त गुणवान वैश्यपुत्र धन्यकुमारको दानसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यके फलसे अनेक प्रकारकी ऋद्धियां प्राप्त हुईं थीं, निधियां प्राप्त हुई थी और अनेक प्रकारके भोगोपभोग प्राप्त हुए थे, उस धीरवीरकी कथा भी शास्त्रोंसे जान लेनी चाहिये ॥ ४६-४७ ॥ राजा श्रेयांसने भी श्री वृषभदेव तीर्थंकरको दान दिया था इसलिये वे तीनो लोकोंमें प्रसिद्ध हुए थे। देवोंने उनके घर रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य किये थे और अन्तमें उन्हें मोक्ष पद प्राप्त हुआ था, उनकी कथा आदिपुराणसे जान लेनी चाहिये ॥४८-४९॥ राजा वज्रजंघने भी चारण मुनियोंको आहार दान दिया था इसलिये वे अनुक्रमसे श्री वृषभदेव तीर्थंकर हुए थे। उनकी कथा धर्म और संवेगको प्रगट करनेवाले आदिनाथपुराणमें प्रसिद्ध है, वहांसे जान लेनी चाहिये ॥५०-५१॥ इस दानके प्रभावसे अन्य भी कितने ही मनुष्योंने तथा कितने ही पशुओंने सुख पाया है उन सबकी कथा कौन कह सकता है ॥५२॥ देखो इस दानके ही प्रभावसे भगवान शांतिनाथ तीनो लोकोंके स्वामी व तीनो लोकोंमें पूज्य हुए थे, धर्म तीर्थके कर्ता हुए थे, समस्त गुणोंके समुद्र और मोक्षके अनुपम सुख प्राप्त करनेवाले हुए थे यह पात्र दान अनेक सुखोंका कारण है इसलिये हे मित्र ! तू सदा पात्रदान कर ॥ ५३ ॥

इसप्रकार आहारदानमें प्रसिद्ध होनेवाले श्रीषेणकी कथा कहकर अब औषधि दानमें प्रसिद्ध होनेवाली वृषभसेनाकी कथा कहते हैं ॥ ५४ ॥ जनपद नामके देशके कावेरी नगरमें पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मके उदयसे राजा उग्रसेन राज्य

मुक्तिरामा करे प्राप्तः सद्वैश्यकुलमडनः । तस्य ज्ञेया कथा दक्षैः शास्त्रे पुण्यास्रवाभिधे ॥४५॥ यो धन्यादिकुमारोऽत्र वैश्यपुत्रो गुणैकभूः । विविधर्द्धिसमायुक्तो संजातो निधिसयुतः ॥ ४६ ॥ भोगोपभोगसपन्नो दानपुण्यफलोदयात् । तस्य धीरस्य सज्ञेया कथा शास्त्रे प्ररूपिता ॥ ४७ ॥ श्रेयो नाम नृपो जातो विख्यातो भुवनत्रये । वृषभाय जिनेन्द्राय स्वद्वैक्रोपोपिताय यः ॥ ४८ ॥ दत्वा दान च सप्राप्य रत्नवृष्ट्यादिक सुरैः । मुक्तिभर्तुः कथा तस्य ज्ञेया शास्त्रे वृपेशिनः ॥ ४९ ॥ वज्रजघो नृपो दत्वा चारणाभ्या सुभावतः । अन्नदान क्रमादासीदादिनाथोऽपि यो जिनः ॥ ५० ॥ कथा तस्य बुधैर्ज्ञेया विख्याता भुवि कीर्तिता । आदिनाथपुराणेपि धर्मसवेगकारणे ॥५१॥ अन्ये ये बहवः प्राप्ता पशवश्च नराः सुखम् । दानतोऽमुत्र कस्तेषां कथा सगदितु क्षमः ॥५२॥ त्रिभुवनपतिपूज्यो धर्मतीर्थस्य कर्ता, सकलगुणगरिष्ठः शान्तिनाथो जिनेशः । शिवगतिसुखहेतुर्येन दानेन जातः, कुरु बुध ! सुखबीजं पात्रदान सदा त्वम् ॥ ५३ ॥ अन्नदानभवा सारा कथा व्याख्याय ते पुनः । वक्ष्ये वृषभसेनायाः कथामौषधदानजाम् ॥५४॥ देशे जनपदाख्ये च कावेरीपत्तने शुभे । उग्रसेननृपो जातः

करता था ॥ ५५ ॥ उसी नगरमें एक धनपति नामका सेठ रहता था और उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था। उन दोनोके अनेक गुणोसे सुशोभित वृषभसेना नामकी पुत्री हुई थी ॥ ५६ ॥ उसकी एक धाय थी जो बड़ी बुद्धिमती थी और रूपवती उसका नाम था। वह वृषभसेनाको स्नान कराया करती थी और वस्त्र पहिनाया करती थी ॥ ५७ ॥ किसी एक दिन जिस गढेमें वृषभसेनाके स्नानका जल भर रहा था उसमें एक रोगी कुत्ता गिर गया। वह उस गढेमें कुछ लोटा पीटा और फिर नीरोग होकर उसमेंसे निकल आया ॥ ५८ ॥ उसे नीरोग होकर निकलते देखकर धायने यह विचार किया कि अवश्य ही इस वृषभसेनाके स्नानका जल रोगोंको दूर करनेका कारण है ॥ ५९ ॥ तव उसने परीक्षा करनेके लिये अपनी माताकी आंखोंपर वह जल लगाया। माताकी आंखें बारह वर्षसे बिगड रही थीं वे उस जलके लगाते ही अच्छी होगईं ॥ ६० ॥ तव तो वह सुलक्षणा धाय समस्त रोगोंके दूर करनेमें प्रसिद्ध होगई और सव लोग उसे मानने लगे ॥ ६१ ॥ किसी एक समय राजा उग्रसेनने अपने पिंगल नामके मंत्रीको वडी सेनाके साथ अपने शत्रु राजा मधुपिंगलके साथ युद्ध करनेके लिये उसीके देशमें भेजा, परन्तु मधुपिंगलने वहांके जलोंमें विष डलवा रक्खा था इसलिये सेनाके सव लोग एक प्रकारके ज्वरसे रोगी होगये ॥ ६२–६३ ॥ वे लोग वहांपर ठहर नहीं सके इसलिये लौटकर चले आए और रूपवती धायके द्वारा उसी वृषभसेनाके स्नानके जलसे अच्छे होगये ॥ ६४ ॥ तव क्रोधित होकर राजा उग्रसेन स्वयं युद्ध करनेके लिये गया और उसीप्रकार रोगी होकर तथा युद्ध करनेमें असमर्थ होकर लौट आया ॥ ६५ ॥ राजाने उस जलकी बात

पूर्वोपार्जितपुण्यत ॥ ५५ ॥ श्रेष्ठी धनपतिस्तत्र धनश्रीर्वल्लभा शुभा। तयोर्वृषभसेनाख्या पुत्री जाता गुणान्विता ॥ ५६ ॥ तस्या रूपवती नाम धात्री शुद्धिसमन्विता। स्नानाजनान्नसद्वस्त्रै पोषिका स्याच्छुभोदयात् ॥५७॥ एकदा स्नानगर्तायां पुण्याद्रोगाढ्य कुर्कुर.। पतित्वा च लुठित्वापि त्यक्तरोगो बभूव वै ॥५८॥ त्यक्तरोग हि त दृष्ट्वा श्वान सचिंतित तया। पुत्रीस्नानजल चात्र भवेदारोग्यकारणम् ॥५९॥ तया तेन परीक्षार्थं धौते मानुष्यलोचने। द्वादशाब्दमहाव्याधिग्रस्ते जाते शुभे स्वयम् ॥६०॥ ततो जाता प्रसिद्धा सा धात्रीलोके सुलक्षणा। सर्वामयविनाशेषु मान्या सर्वजनैस्तथा ॥ ६१ ॥ एकदाप्युग्रसेनेन मत्री पिंगलसज्ञकः। वहुसैन्यसमायुक्तः प्रेषित. शत्रुशान्तये ॥६२॥ मेघपिंगलराज्यस्य देशे यावत्स्थितस्य सः। तावज्ज्वरेण सग्रस्तो विषोदकप्रसेवनात् ॥ ६३ ॥ तत्र स्थातुमशक्तोपि ततो व्याघुट्य चागत। रूपवत्याशु नीरोगी कृतस्तेन जलेन सः ॥६४॥ उग्रसेनो महाकोपादागतस्तत्र तथा ज्वरी। भूत्वा पुन समाया तोऽसमर्थ. सगरा-

मंत्रीके मुखसे स्वयं सुनी और फिर रूपवती धायसे वह रोगोंको दूर करनेवाला जल मंगवाया ॥ ६६ ॥ तब वृषभसेनाकी
माता धनश्रीने सेठसे कहा कि पुत्रीके स्नानका जल राजाके मस्तकपर किसप्रकार डालना चाहिये जरा इसका भी तो विचार
कीजिये ॥ ६७ ॥ तब सेठने उत्तर दिया कि यदि महाराज जलकी बात पूछेंगे तो सच बात ज्योंकी सों कह दी जायगी
फिर इसमें कोई दोष नहीं है ॥ ६८ ॥ तदनन्तर वह राजा उस वृषभसेनाके स्नानके जलसे नीरोग होगया । तब राजाने
रूपवतीसे उस जलके माहात्म्यकी बात पूछी ॥ ६९ ॥ रूपवतीने सब बात ज्योंकी सों कह सुनाई । तब राजाने सेठको
बुलाया, उस कन्याकी बड़ी प्रशंसा की और फिर अपने साथ विवाह करनेके लिये मांगी ॥ ७० ॥ इसके उत्तरमें सेठने
कहा कि हे महाराज ! यदि आप अष्टाह्निकाके दिनोंमें जिनालयमें जाकर भगवान अर्हंतदेवकी पूजा कर, पिंजडों रहनेवाले
सब पक्षियोंको छोडदें और अपने कारागारसे (जेलसे) सब मनुष्योंको छोडदें तो मैं आपके लिये उस कन्याको देसकता
हूं ॥ ७१–७२ ॥ महाराज उग्रसेनने यह सब स्वीकार कर उसके साथ विवाह कर लिया और उसे पट्टरानी बनाया ।
प्रेमके कारण वह वृषभसेना राजाकी बहुत ही प्यारी होगई थी ॥ ७३ ॥ विवाहके समय राजा उग्रसेनने जब सबको छोडा
था तब भी बनारसके राजा पृथ्वीचन्द्रको नहीं छोडा था ॥ ७४ ॥ पृथ्वीचन्द्रकी रानीका नाम नारायणदत्ता था, उसने
अपने पतिको छुडानेके लिये मंत्रियोंसे सलाह लेकर रानी वृषभसेनाके नामसे बनारसमें बहुतसे उत्तम उत्तम सत्कार घर

दिके ॥६५॥ जलवार्ता समाकर्ण्य राज्ञा मन्त्रिमुखात्स्वयम् । तज्जल याचित धात्र्याः पार्श्वे व्याधिविनाशनम् ॥६६॥ ततो धनश्रिया प्रोक्त
पुत्रीस्नानजल कथम् । क्षिप्यते मस्तके राज्ञः श्रेष्ठस्त्व हि विचारय ॥६७॥ स आह जलवार्ता स नृपो यदि च पृच्छति । कथनीय तदा
सत्य दोषो नास्ति कदाचन ॥६८॥ ततस्तया जलेनैव नीरोगी स कृतो नृप. । राज्ञा नीरस्य माहात्म्य पृष्टा रूपवती तदा ॥६९॥ निरू-
पित तया सत्य राज्ञा श्रेष्ठी समाह्वितः । विधाय गौरव कन्या परिणेतु स याचितः ॥ ७० ॥ ततः सच्छ्रेष्ठिना प्रोक्त यदि राजन् ! करोपि
वे । अष्टाह्निकीं महापूजा बिम्बाना श्रीजिनालये ॥७१॥ पजरस्थान् खगान् सर्वान् मनुष्यांश्चैव मुंचसि । कारागारात्तदा तेऽह ता ददामि
न चान्यथा ॥७२॥ उग्रसेनेन तत्सर्व कृत्वा परिणीतां हि सा । पट्टराज्ञी कृता स्नेहाज्जाता तस्यातिवल्लभा ॥७३॥ एकस्मिन् योऽपि
प्रस्तावे वाणारस्या नृपो धृतः । आस्तेत्र पृथिवी चन्द्रस्तद्विवाहे न मोचितः ॥७४॥ या नारायणदत्ताख्या तस्य राज्ञी तया सह । मन्त्रीभि-
र्मंत्रितो मन्त्रो मोचनार्थं महीपते ॥७५॥ वाणारस्या तया नित्यं सत्काराः कारिता शुभाः । राज्ञी वृषभसेनाया नाम्ना भर्तृविमुक्तये ॥७६॥

वनवाये ॥ ७०—७६ ॥ जो ब्राह्मणादिक उन सत्कारघरोंमें उत्तम भोजनकर कावेरी नगरमें पहुंचे थे उनसे उन सब सत्कार घरोंका हाल रूपवती धायने सुना ॥ ७७ ॥ तब उसने वृषभसेनासे कहा कि तूने बनारसमें अपने नामसे बहुतसे सत्कारघर बनवाये हैं सो क्या तूने विना मुझसे पूछे ही बनवा डाले ? ॥ ७८ ॥ इसके उत्तरमें पट्टरानी वृषभसेनाने कहा कि बनारसमें मैने कुछ नही बनवाया है, किसी कारणसे मेरे नामसे किसी औरने बनवाये होंगे ॥ ७९ ॥ तब इसकी खोज करनेके लिये रूपवतीने बनारसके लिये बहुतसे गुप्तचर (छिपकर जांच करनेवाले) भेजे और यथार्थ बात जानकर रानीसे सब हाल कह सुनाया ॥ ८० ॥ तब महारानी वृषभसेनाने महाराजसे प्रार्थनाकर उसी समय राजा पृथ्वीचन्द्रको छुडवा दिया ॥ ८१ ॥ वहांसे छूटकर पृथ्वीचन्द्रने एक चित्र बनवाया जिसमें राजा उग्रसेन और रानी वृषभसेनाका चित्र बनवाया और उनके नीचे प्रणाम करते हुए अपना चित्र बनवाया ॥ ८३ ॥ वह चित्र लेजाकर राजा उग्रसेनकी भेट किया और फिर राजा उग्रसेनको नमस्कार कर रानी वृषभसेनाकी बहुत प्रशंसा की ॥ ८४ ॥ राजा उग्रसेनने कहा कि तुम पिंगलको (मेघपिंगलको) पकडकर लाना यह कहकर राजा रानी दोनोंने पृथ्वीचन्द्रको बनारसके लिये बहुत शीघ्र विदा कर दिया ॥ ८५ ॥ पृथ्वीचन्द्रके छूट जानेपर राजा मेघपिंगलने विचारा कि मेरे मर्मको जाननेवाला पृथ्वीचन्द्र आगया है यह सोच समझकर वह स्वयं राजा उग्रसेनके समीप आया और नमस्कारकर उसका सेवक बन गया। राजा उग्रसेनने भी उसका आदर सत्कार किया और हित करनेवाले सामंत पदपर नियुक्त किया ॥ ८६—८७ ॥ राजा उग्रसेनने आज्ञा

ये तेषु भोजनं कृत्वा कावेरीपत्तनं गताः । श्रुतं तेभ्यो द्विजादिभ्यो धात्र्या वृत्तान्तमेव तत् ॥ ७७ ॥ तदोक्तं रूपवत्या मां वाणारस्यां खु हे सखे । अपृच्छन्ती हि सत्काराह्वय कारयसि स्वयम् ॥ ७८ ॥ प्ररूपितं महिष्याऽहं कारयामि स्फुटं न तान् । मन्नाम्ना कारितास्तेऽपि केनापि कारणादिना ॥७९॥ तेषां शुद्धिं कुरु त्वं हि धात्र्या चरनरादिभिः। परिज्ञाय यथार्थं तदग्रे राज्ञ्या निरूपितम् ॥८०॥ ततो विज्ञाय राजानं पृथ्वीचन्द्राभिधो नृपः । मोचितस्तत्क्षणादेव राज्ञ्या वृषभसेनया॥८१॥ तेन सफलके रूपे नृपराज्ञोश्च कारिते । अधः प्रणामसंयुक्तं निजरूपं सुकारितम् ॥ ८२ ॥ नीत्वा चित्रान्वितः सोऽपि फलकस्तेन दर्शितः । तयोः कृत्वा नमस्कारं सद्राज्ञी शंसिता मुहुः ॥ ८३ ॥ गन्तव्यं हि त्वया मेघपिंगलस्योपरि ध्रुवम्। इत्युक्त्वा प्रेषितस्ताभ्यां तूर्णं वाणारसीं प्रति ॥८४॥ तदाकर्ण्य समालोच्य मर्मभेदी ममाप्ययम्। ज्ञात्वेति पृथिवीचन्द्रः आगतो मेघपिंगलः ॥८५॥ नमस्कारं विधायोच्चैरुग्रसेन नृपस्य सः । अति सन्मानितो जातः सामंतो हितकारकः

दी कि मेरे यहां जो भेट आवेगी तथा जो वस्त्र आभूषण आवेंगे उनमेंसे आधे राजा मेघपिंगलको दिये जांय और आधे रानी वृषभसेनाको दिये जांय। ऐसी व्यवस्था महाराज उग्रसेनने स्वयं करदी ॥ ८७-८८ ॥ किसी एक समय राजाकी भेटमें दो रत्नकंवल आए। राजाने दोनोंपर अलग अलग नाम लिखकर दोनोंको दे दिये अर्थात् वृषभसेनाका नाम लिखकर वृषभसेनाको दे दिया और मेघपिंगलका नाम लिखकर मेघपिंगलको दे दिया ॥ ८९ ॥ किसी एक समय किसी कामके लिये राजा मेघपिंगलकी रानी रूपवतीके (वृषभसेनाकी धायके) घर आई। दैवयोगसे वा पापकर्मके उदयसे वहांपर दोनोंके कंवल परस्पर बदल गये अर्थात् मेघपिंगलका कंवल वहां रह गया और वृषभसेनाका कंवल मेघपिंगलकी रानी ओढ़ गई। सो ठीक ही है, पापकर्मके उदयसे मनुष्योंके क्या क्या विपरीत कार्य नहीं होजाता है ॥ ९०-९१ ॥ किसी समय उस बदले हुए वृषभसेनाके कंवलको ओढकर राजा मेघपिंगल बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा उग्रसेनकी राज सभामें आया ॥ ९२ ॥ राजा उग्रसेन उस कंवलपर वृषभसेनाका नाम देखकर बहुत ही क्रोधित हुआ और क्रोधसे उसके नेत्र लाल होगये। अपने आनेसे ही राजाको इसप्रकार क्रोधित देखकर राजा मेघपिंगल वहांसे भाग गया ॥ ९३ ॥ मेघपिंगलको भागता हुआ देखकर राजा उग्रसेनका संदेह और भी बढ गया। उसने वृषभसेनाके समीप आकर उसका कंवल देखा और उसपर मेघपिंगलका नाम देखकर रानी वृषभसेनाको मारनेके लिये अथाह जलसे भरे हुए किसी सागरमें डलवा दिया ॥ ९४ ॥ उस समय रानी वृषभसेनाने प्रतिज्ञा की कि यदि मै इस उपसर्गसे बचूंगी तो पाप रहित तीव्र तपश्चरण करूंगी ॥९५॥ तदनन्तर वृषभसेनाके व्रतके प्रभावसे, उसके शीलके माहात्म्यसे तथा पुण्यकर्मके उदयसे जलदेवताने आकर

॥८६॥ राजोक्त हि ममास्थानस्थितस्य प्राभृत वरम्। यदागच्छति तत्सार वस्तु वस्त्रादिक स्फुटम् ॥ ८७ ॥ मेघपिंगलराजस्य तस्यार्द्ध खु ददाम्यहम्। सार्द्धं वृषभसेनाया व्यवस्थेति कृता स्वयम् ॥८८॥ एकदा प्रागत रत्नकवलद्वयमेव हि। राजा नामांकित कृत्वा तयोर्दत्त पृथक् पृथक् ॥८९॥ प्रावृत्य कवल राज्ञी मेघपिंगलसत्पते। गता प्रयोजनेनैव रूपवत्या गृहे स्वयम् ॥९०॥ जात पापोदयेनैव तत्र कंवलपल्हिह. (?)। अघोदयेन जन्तूना किं किं न स्याद्विरूपकम् ॥९१॥ ततो वृषभसेनाया. कवल मेघपिंगलः। प्रावृत्य खु समायातः उग्रसेनसभा स्वयम् ॥ ९२ ॥ राजाऽभूच्च तमालोक्य रक्ताक्षोऽतिप्रकोपत। तथाविध नृप दृष्ट्वा नष्टोतो मेघपिंगल. ॥ ९३ ॥ उग्रसेनेन रुष्टेन निक्षिप्ताऽिधजले वने। राज्ञी वृषभसेनापि मारणार्थं च पापत ॥९४॥ तदा तया गृहीनेति प्रतिज्ञा चोपसर्गत.। उद्धरिष्यामि चेद् वृत्त

सिंहासन रच दिया तथा और भी प्रातिहार्योंकी रचना कर दी ॥ ९६ ॥ देखो व्रतोंके माहात्म्यसे संसारमें जो कुछ हो सकता है वह सब मनुष्योंको होजाता है। इन व्रतोंके माहात्म्यसे स्वर्गका इंद्र भी दास बन जाता है ॥ ९७ ॥ वृषभसेनाकी यह महिमा सुनकर राजा उग्रसेन पश्चात्ताप करने लगा उसको लेनेके लिये वह स्वयं गया और वचनोंके द्वारा उससे अनेक प्रकारकी क्षमा मांगी ॥ ९८ ॥ वह रानी वृषभसेना आही रही थी कि उसे मार्गके एक वनमें भव्य जीवोंको धर्मोपदेश करनेवाले अवधिज्ञानी श्री गुणधरमुनिके दर्शन हुए ॥ ९९ ॥ रानी वृषभसेनाने उनके चरणकमलोंको नमस्कार किया और समीप बैठकर अपने पहिले जन्मके भव पूछे ॥ १०० ॥ मुनिराज कहने लगे–हे पुत्री ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं तेरे पुण्य–पापको सूचित करनेवाले पहिले भव कहता हूं ॥ १०१ ॥ इसी पुण्यवती नगरीमें तू पहिले एक ब्राह्मणकी पुत्री थी। नागश्री तेरा नाम था। तू राजाके जिनभवनमें झाड़ू बुहारी देनेका काम किया करती थी ॥ १०२ ॥ किसी एक दिन महाराजके उसी जिनभवनमें भीतर मुनिदत्त नामके धीरवीर मुनिराज आकर वायुसे रहित एक गढेमें विराजमान हो गये ॥ १०३ ॥ वे ज्ञानी मुनिराज मौन और कायोत्सर्ग धारण कर पर्यंकासनसे विराजमान होगये ॥ १०४ ॥ झाड़ू देते देते जब वह नागश्री मुनिराजके समीप आगई तब वह मुनिराजसे कहने लगी कि "हे मुनिराज ! उठो उठो, मैं यहां झाड़ू दूंगी, महाराज आते ही होंगे, आप अब दूसरी जगह चले जाइये।" परन्तु मुनिराज न तो कुछ बोले और न हटे, क्योंकि वे तो ध्यानमें लीन थे, वे मौन धारण कर काठके समान अचल विराजमान थे ॥ १०५–१०६ ॥ तब नागश्रीने क्रोधित

करिष्यामि तपोनघम् ॥९५॥ ततो व्रतप्रभावेन जलदेवतया कृतम्। सिंहासनादिसत्प्रातिहार्यं तस्या शुभोदयात् ॥ ९६ ॥ यत्प्रासाध्य च यद्दूरं तत्सर्वं जायते नृणाम्। अहो सद्व्रतमाहात्म्यादिन्द्रोऽपि किंकरायते ॥९७॥ तच्छ्रुत्वा नृपतिः पश्चात्तापं कृत्वा स्वय गतः। तामानेतु क्षमा सापि कारिता वचनादिभिः ॥९८॥ आगच्छन्त्या तया दृष्टो मार्गे गुणधराधिप.। वनमध्येऽवधिज्ञानी मुनिर्भव्यप्रबोधक ॥ ९९ ॥ प्रणम्य चरणौ तस्य पार्श्वे दृष्ट स्व चेष्टितम्। प्राग्भवार्जितपुण्येन भव वृषभसेनया ॥१००॥ मुनिराह वश कृत्वा शृणु देवि मनो निजम्। वक्ष्ये पूर्वभव तेऽहं शुभाशुभसमन्वितम् ॥१०१॥ अत्रैव नगरे पुत्री नागश्रीः स्याद् द्विजस्य वै। सन्मार्जनं करोषि त्वं राज्ञो देवकुले सदा ॥१०२॥ तत्र देवकुले चैकदापराह्णे समागतः। मुनिदत्ताभिधो धीर. प्राकाराभ्यन्तरे मुनिः॥१०३॥ स्थितो निर्वातगर्तायां कायोत्सर्गं विधाय च। मौनं ध्यानसमारूढो ज्ञानी पर्यंकसंयुतः ॥१०४॥ प्रजल्पित त्वया लोकमुत्तिष्ठोत्तिष्ठ भो मुने। सन्मार्जनं करोम्यत्र प्रागत

होकर सब जगहसे झाड़ बुहार कर सब कूडेका ढेर मुनिराजके चारों ओर लगा दिया और उस कूडेसे उस गढेको ढक दिया ॥ १०७ ॥ मुनिराज शरीरसे ममत्व छोडकर मेरुपर्वतके समान निश्चल होकर अपने कर्मोंको नाश करनेके लिये घोर उपसर्ग सहन करने लगे ॥१०८॥ प्रातःकाल ही वहांपर राजा आया। मुनिराजके श्वास लेनेसे वह कूडा कचरा कुछ हिल रहा था, उसे देखकर राजाको कुछ संदेह हुआ और उसने उसी समय कूडा हटाकर मुनिराजको निकाला। उन धीरवीर मुनिराजको देखकर राजाको बहुत ही आश्चर्य हुआ और उसने विचार किया कि ये मुनि बडे ही धीरवीर हैं, इनकी धीर वीरता आश्चर्यके योग्य है ॥१०९-११०॥ नागश्रीने यह देखकर अपनी बडी निंदा की और अपनेको वारवार धिक्कारा। उसका धर्ममें प्रेम बढ गया और मुनिराजके चरणकमलोंमें नमस्कार कर उनसे क्षमा प्रार्थना की ॥ १११ ॥ तदनन्तर मुनिराजका रोग दूर करनेके लिये नागश्रीने उन्हें औषधि दी और भक्तिपूर्वक उन मुनिराजकी बहुत ही वैयावृत्य की ॥ ११२ ॥ वहांसे मरकर तू इस वैश्य कुलमें अत्यन्त रूपवान और पाप-पुण्यके फलको प्रगट करनेवाली वृषभसेना हुई है ॥ ११३ ॥ पहिले जन्ममें तूने मुनिराजको औषधदान दिया था उसके फलसे ही तेरे स्नानके जलमें समस्त रोगोंके दूर करनेकी शक्ति होगई है। तथा मुनिराजकी अवज्ञा की थी इसलिए तू सागरमें फेंक दी गई थी ॥११४॥ देखो इंद्रियोंको तृप्त करनेकी लालसा करता हुआ यह प्राणी इस संसाररूपी समुद्रमें वारवार डूबता और उछलता हुआ अपने किये हुए पुण्य और पापोंका फल सदा भोगता रहता है ॥११५॥ मुनिराजके वचन सुनकर उस वृषभसेनाको कर्मोंको नाश करनेवाला

कटकान्नृप. ॥१०५॥ आगमिष्यति तत्रैव गच्छान्यत्र त्वमेव हि। मुनिर्ध्यानसमालम्ब्य स्थितो मौनेन काष्ठवत् ॥१०६॥ रुष्टया च त्वया तस्योपरि सन्मार्जन कृतम्। पूरयित्वा हि तद्गर्तं कतवाहेण तत्क्षणम् ॥१०७॥ त्यक्तदेहो मुनिस्तत्र स्थितो मेरुरिवाचल.। जित्वा घोरोपसर्गं .स स्वकर्मक्षयहेतवे ॥१०८॥ प्रभाते चागतेनैव तत्र क्रीडादिहेतवे। उच्छ्वसितं प्रदेशं त दृष्ट्वा निच्छ्वसित पुनः॥१०९॥ अभूत्स्वन्यप्रदेशं त मुनि निस्सारितो द्रुतम्। राज्ञा कृत्वा महाश्चर्यमहो धीरगुणो मुनि.॥११०॥ तत कृत्वात्मनो निंदा सद्धर्मस्य रुचिर्मुहुः। गर्हा च मुनि सत्पादौ प्रणम्य च क्षमा त्वया ॥१११॥ पश्चाद्रोगविनाशार्थं दत्त चैवोषध त्वया। वैयावृत्तिं विधायोच्चै मुनये भक्तिपूर्वकम् ॥ ११२ ॥ ततो मृत्वा निदानेन कुले वैश्यसमुद्भवे। इहोत्पन्ना सुरूपा हि त्व पुण्याघफलान्विता ॥११३॥ सर्वौषधर्द्धिरेवात्र जाता चौषधदानत। कलङ्कितापि ते निंद्या कतवाहप्रपूरणात् ॥ ११४ ॥ पुण्यपापफलान्येव भुंक्ते जीवो भवार्णवे। मज्जनोन्मज्जन कुर्वन्नित्य चेन्द्रियलालसः

॥ ११६ ॥ तदनन्तर वृषभसेनाने अपने आत्माको अनन्त दुःख देनेवाले संसार शरीर और भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥ ११६ ॥ तदनन्तर वृषभसेनाने अपने आत्माको संसारके बंधनसे छुडाया, वह मुनिराजके चरणकमलोंको नमस्कार कर उन्हीके समीप अर्जिका होगई और निर्दोष घोर तपश्चरण करने लगी ॥११७॥ इसप्रकार निर्मल औषधिदानके फलसे ही नागश्री अनेक प्रकारके भोगोंको सेवन करनेवाली और अनेक गुणोंसे सुशोभित सेठकी पुत्री और राजाकी पट्टरानी वृषभसेना हुई थी जिसे सर्वोपधि ऋद्धि प्राप्त हुई थी तथा निर्दोष तपश्चरण कर उसने स्वर्गलोककी संपदा प्राप्त की थी इसलिये प्रत्येक गृहस्थको सदा दान देने रहना चाहिये ॥११८॥

इसप्रकार औषध दानमें प्रसिद्ध होनेवाली श्री वृषभसेनाकी कथा कहकर अब शास्त्रदानमें प्रसिद्ध होनेवाले कौंडेश मुनिकी कथा कहता हूं ॥११९॥ इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें धर्म और सुखसे भरपूर एक कुरुमरी नामका गांव था ॥१२०॥ वहांपर एक गोविंद नामका गवालिया रहता था जो कि शुभ परिणामी था। उसने किसी एक दिन एक वृक्षके कोटरमें एक शास्त्रजी देखे ॥१२१॥ उन्हें वह घर ले आया और प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा। कितने दिनके बाद वे शास्त्रजी उसने वडी भक्तिके साथ मुनिराज श्री पद्मनंदिके लिये दे दिये ॥ १२२ ॥ मुनिराज पद्मनंदि आदि कितने ही मुनियोने वे शास्त्रजी पढ़कर अनेक लोगोंको धर्मोपदेश दिया, लोगोंसे उनकी महापूजा कराई और फिर उन्हें किसी कोटरमें रखकर देशांतरको चले गये। गोपाल उन शास्त्रजीको कोटरमें देखकर फिर प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा ॥ १२३-१२४ ॥ अंतमें वह निदान करके मरा और किसी गांवमें उस गांवके स्वामीके यहां कौंडेश नामका पुत्र हुआ ॥ १२८ ॥ किसी

॥११५॥ श्रुत्वा तद्वचन रागाद्वैराग्य कर्मघातकम् । संसारदेहभोगेषु दुःखशोकविधायिषु ॥११६॥ मोचयित्वा तदात्मान तत्समीपेऽपि सार्यिका। जाता प्रणम्य तत्पादौ ततो कुर्यात्तपोनघम् ॥११७॥ इति विमलसुदानादौषधाद्भोगयुक्ता, अजनि वृषभसेना श्रेष्ठिपुत्री गुणाढ्या। सुवरनृपतिभार्या ऋद्धियुक्ता तपो नु, विमलमपि सुकृत्वा देवलोक गता सा ॥ ११८ ॥ कथामौषधदानस्य व्याख्याय कथयाम्यहम् । कथां श्री श्रुतदानस्य कौंडेशमुनिसंभवाम् ॥११९॥ जम्बूद्वीपे प्रसिद्धेऽस्मिन् क्षेत्रे भरतनामनि । सद्ग्रामं कुरुमर्याख्यं भवेद्धर्मसुखप्रदम् ॥१२०॥ गोविन्दो नाम गोपालो भवेत्तत्र शुभाशयः । दृष्टं तेनैकदा सारं पुस्तक वृक्षकोटरे ॥ १२१ ॥ तदादाय प्रपूज्याशु पश्चाद्दत्त शुभप्रदम् । पद्मनन्दिमुनीन्द्राय भक्तिनिर्भरचेतसा ॥१२२॥ तत्पुस्तकमटव्यां च केचिद्भट्टारकाः जनैः । कारयित्वा महापूजां कृत्वा व्याख्याय प्रत्यहम् ॥१२३॥ धृत्वा तु कोटरे तत्र गतो देशान्तरं ततः । गोपालेनापि तद्दृष्ट्वा कृत्वा पूजा निरन्तरम् ॥ १२४ ॥ गोविंदोपि निदानेन मृत्वा

एक दिन उसे उन्हीं मुनिराज श्री पद्मनंदिके दर्शन हुए और पहिले जन्ममें दिये हुए ज्ञानदानके प्रतापसे मुनिराजको देखते ही उसे जातिसमरण हो आया ॥ १२६ ॥ उसी समय उसे संसार शरीर और भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने स्वर्ग मोक्षके सुख देनेवाली जिन दीक्षा धारण करली ॥ १२७ ॥ थोडे ही दिनमें ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे बुद्धिमान् और अनेक भव्य जीवोंको धर्मोपदेश देनेवाला वह कौंडेश समस्त श्रुतज्ञानरूपी महासागरका पारगामी हो गया ॥ १२८ ॥ देखो ज्ञानदानके प्रभावसे श्री कौंडेश मुनिराज समस्त श्रुतज्ञानरूपी महासागरके पारगामी होगये थे, समस्त तत्त्वोंके ज्ञाता होगये थे, पूर्ण चारित्रको धारण करनेवाले होगये थे, वे अनेक गुणोंसे विभूषित होगये थे और समस्त संसारमें पूज्य होगये थे ऐसे श्री कौंडेश मुनिराज सदा जयशील हों ॥ १२९ ॥ इसप्रकार ज्ञानदानमें प्रसिद्ध होनेवाले कौंडेशकी कथा कह चुके।

अब वसतिका दानमें प्रसिद्ध होनेवाले शूकरकी कथा कहते हैं ॥ १३० ॥ इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें मालवा देशके घटगांवमें एक देवल नामका भद्र कुम्हार रहता था तथा उसी गांवमें धर्मल नामका महादुष्ट और कुमार्गगामी एक नाई रहता था ॥१३१–१३२॥ उन दोनोंने मिलकर धर्म और कीर्तिकी वृद्धिके लिये तथा पथिकोंके ठहरनेके लिये एक धर्मशाला बनवाई थी ॥ १३३ ॥ किसी एक दिन देवलने वह धर्मशाला किसी मुनिराजके लिये दे दी। वे मुनिराज उसमें आकर धर्मध्यान धारण कर बैठ गये। तदनन्तर धर्मलने एक सन्यासीको लाकर वहां विठा दिया। वहांपर मुनिराजको देख-

---

ग्रामेऽपि ग्रामकूटस्य कौंडेशाख्यः सुतोप्यभूत्॥१२५॥ एकदा त समालोक्य पद्मनंदिमुनीश्वरम्। जातो जातिस्मर सोऽपि तत्र शुभे दिने। ग्रामेऽपि ग्रामकूटस्य कौंडेशाख्यः सुतोप्यभूत्॥१२५॥ तत्क्षण जातसवेगो देहभोगभवादिषु। आददे जिनमुद्रा स स्वर्गमुक्तिसुखप्रदाम् ॥ १२७ ॥ तत पार गतो ज्ञानदानप्रभावत ॥१२६॥ तत्क्षण जातसवेगो देहभोगभवादिषु। आददे जिनमुद्रा स स्वर्गमुक्तिसुखप्रदाम् ॥ धीमान् समस्तश्रुतवारिधे। ज्ञानावृत्युदयाभावाद भव्यश्रेणिप्रबोधकः ॥१२८॥ सकलश्रुतसमुद्रे पारमेवाप्त एव, विदितनिखिलतत्वो ज्ञानदानप्रभावात्। वृतचरणसमग्रोऽपीह कौंडेश नामा, जयतु भुवनपूज्य सन्मुनीन्द्रो गुणाढ्यः ॥ १२९ ॥ प्रव्याख्याय श्रुतज्ञानफ॰ वक्ष्ये तत कथाम्। वरा वसतिकाजाता शूकरस्योपमान्विताम् ॥ १३० ॥ जबूपलक्षिते द्वीपे सत्क्षेत्रे भरताभिधे। मालवाख्ये शुभे देशे ग्रामोऽस्ति घटसज्ञकः ॥१३१॥ देविलाख्यो भवेत्तत्र कुम्भकारोऽतिभद्रकः। धर्मिलाख्यो महादुष्टो नापितश्च कुमार्गग ॥ १३२ ॥ ताभ्या प्रकारित देवकुल स्थित्यर्थमेव हि। पथिकादिजनाना च धर्मकीर्त्यादिहेतवे ॥१३३॥ एकदा वसतिर्दत्ता मुनये देवलेन वै। प्रथम तत्र

कर धर्मल और सन्यासी दोनोने मिलकर मुनिराजको वाहर कर दिया ॥ १३४–१३५ ॥ शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले वे मुनिराज शीत और डास मच्छरोंकी महावाधाको सहन करते हुए किसी वृक्षके नीचे ध्यान लगाकर विराजमान होगये ॥ १३६ ॥ सवेरा होते ही देवल और धर्मल दोनों ही क्रोधपूर्वक लडने लगे और दोनों ही एक दूसरेकी चोटसे मर गये ॥ १३७ ॥ वे दोनो एक दूसरेपर द्वेष करते हुए आर्तध्यानसे मरे थे इसलिये वे दोनों वडे क्रोधी और क्रूर मूकर और वाघ हुए (देवलका जीव मूकर हुआ था और धर्मलका जीव वाघ हुआ था) ॥ १३८ ॥ जिस गुफामें मूकर रहता था उसमें किसी एक दिन समाधिगुप्त और त्रिगुप्त नामके मुनिराज आ विराजमान हुए ॥१३९॥ उन्हें देखते ही उस मूकरको पुण्यकर्मके उदयसे जाति स्मरण होगया। उसने उन मुनिराजके चरणकमलोंको नमस्कार किया और शांत होकर वैठ गया ॥ १४० ॥ मुनिराजने स्वयं कृपाकर उसके सामने स्वर्ग मोक्ष देनेवाला, सारभूत और श्रावकोंके व्रतोंको मूचित करनेवाले धर्मका स्वरूप कहा ॥ १४१ ॥ सुख देनेवाले धर्मका स्वरूप सुनकर उसने अत्यन्त कठिनतासे त्याग करने योग्य पापोंका भी त्याग कर दिया और श्रावकके व्रतोको धारण कर मुनिराजके समीप ही वैठ गया ॥ १४२ ॥ ठीक इसी समय वह दुष्ट वाघ मनुष्यकी गन्ध मूंघकर उन मुनिराजको भक्षण करनेके लिये शीघ्र ही वहां आ पहुंचा ॥ १४३ ॥ मूकर उस वाघको देखकर शीघ्र ही उसके सामने गया और उन मुनिराजकी रक्षा करनेके लिये उस गुफाके दरवाजेपर जा वैठा

धर्मादिध्यानेनैव स्थितो मुनि ॥१३४॥ परिव्राजक आनीय धर्मिलेन ततो धृतः। तत्र देवकुलाच्छीघ्र ताभ्या निस्सारितो यति ॥१३५॥ स मुनि. वृक्षमूलेऽपि स्थितो ध्यानेन शुद्धधी'। सहमानो महावाधा दशशीतादिसभवाम् ॥१३६॥ प्रभातेऽतिमहाकोपात्कृत्वा युद्ध परस्परम्। तन्निमित्तेन घातेन मृतौ देवलधर्मलौ ॥ १३७ ॥ विद्वेषेण क्रमेणैव चार्तध्यानप्रयोगत'। प्रजातौ शूकरव्याघ्रौ क्रूरौ तौ कोपसंयुतौ ॥ १३८ ॥ तिष्ठति शूकरो यत्र गुहाया तत्र चैकदा। स्थितौ समाधिगुप्ताख्यौ शुद्धशीलौ मुनीश्वरौ ॥ १३९ ॥ दृष्ट्वा तौ सोऽपि पुण्येन भूत्वा जातिस्मर स्वयम्। प्रणम्य मुनिसत्पादौ स्थित शाम्यान्वितोऽशठः ॥ १४० ॥ तस्याग्रे कथितो धर्म. मुनिना कृपया स्वयम्। स्वर्गमुक्तिकर सार श्रावकव्रतसूचक ॥१४१॥ श्रुत्वा धर्मं सुखागार त्यक्त्वा पाप सुदुस्त्यजम्। स्थितो मुनिसमीपे स आदाय श्रावकव्रतम् ॥१४२॥ तत्प्रस्तावे मनुष्यस्य गधमाघ्राय दुष्टधीः। व्याघ्रस्तत्रागत शीघ्र भक्षणार्थं च सन्मुनेः ॥१४३॥ शूकरस्त समालोक्य गत्वा तूर्णं स सन्मुखम्। गुहाद्वारेस्थितस्तत्र मुनेरक्षादिहेतवे ॥ १४४ ॥ तौ तत्रापि महायुद्धं कृत्वा कोपात्परस्परम्। मृतौ घातप्रहारेण

॥१४४॥ वाघ आया ही था कि दोनोंका युद्ध होने लगा और दोनों वडे क्रोधसे युद्ध करने लगे। दोनों एक दूसरेपर चोट करने लगे और उस चोटसे दोनों मर गये ॥ १४५ ॥ देवलका जीव जो सूकर था वह मुनिराजकी रक्षाके लिये लडा तथा मरा था इसलिये वह सौधर्म स्वर्गमें जाकर वडी ऋद्धिका धारक देव हुआ ॥ १४६ ॥ वाघ मुनिराजको भक्षण करनेके अभिप्रायसे लडा और मरा था इसलिये वह पापकर्मके उदयसे असन्त दुःख देनेवाले महा घोर और तीव्र नरकमें जाकर पडा था ॥ १४७ ॥ इसप्रकार मुनिकी रक्षा करनेके अभिप्रायसे केवल वसतिका दान देनेरूप व्रतको पालन करनेके कारण सूकर मुनिराजके चरणकमलोंको हृदयमें रखकर मरा था इसलिये वह उस निर्मल पुण्यके प्रभावसे सारभूत सौधर्म स्वर्गमें निर्मल गुणोंका समुद्र ऐसा उत्तम देव हुआ था ॥ १४८ ॥

प्रश्न—हे प्रभो ! भगवन् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे जिसको उत्तम फल मिला है उसकी कथा कृपाकर मेरे लिये कहिये ॥ १४९ ॥

उत्तर—हे श्रावकोत्तम तू एक चित्त होकर सुन। भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेमें तल्लीन हुए एक मेडकके पुण्यसे होनेवाले फलको मै कहता हूं ॥ १५० ॥ इसी प्रसिद्ध जम्बूद्वीपके मगध नामके शुभ देशमें एक मनोहर राजगृह नगर शोभायमान है जिसके सब घर प्रायः धर्म अर्थ आदि पुरुषार्थोंसे भरपूर हैं ॥ १५१ ॥ उस नगरमें राजा श्रेणिक राज्य करता था वह राजा भव्य जीवोंका शिरोमणि था, वुद्धिमान् था, धीरवीर था, धर्मकी प्रभावना करनेवाला था और क्षायिक सम्यग्दर्शनसे सुशोभित था ॥१५२॥ किसी एक दिन उसने वनपालसे (मालीसे) विपुलाचल पर्वतपर श्रीमहावीर-

वेदनान्वितविग्रहौ ॥१४५॥ शूकरो मुनिरक्षाभिप्रायेणैव महर्द्धिकः । सौधर्मे हि सुरो जातो यः पूर्वं देवलाभिधः ॥१४६॥ मुनेः भक्षण-ध्यानेन गतो व्याघ्रोऽपि पापतः । तीव्र घोरतर श्वभ्र महादुःखाकर भुवि ॥ १४७ ॥ इति व्रतगुणयुक्तः सारसौधर्मकल्पे, धृतमुनिवरपादौ मानसे स्वस्य जातः । सुकृतविमलयोगाच्छूकरो निर्जरोऽत्र, विपुलसुखसमुद्रः सन्मुने रक्षणाच्च ॥१४८॥ परिप्राप्त फल येन स्वामिन् ! श्री-जिनपूजया । कथा तस्य ममाग्रे त्व कृपा कृत्वा निरूपय ॥१४९॥ एकचित्तान्वितो भूत्वा शृणु श्रावक ते कथाम् । वक्ष्ये पूजासमासक्तभेक-पुण्यफलोद्भवाम् ॥ १५० ॥ जम्बूद्वीपेऽतिविख्याते सद्देशे मगधाभिधे । रम्य राजगृह भाति पुर धर्मादिसद्गृहम् ॥ १५१ ॥ तत्र स्यात् श्रेणिको भूपो भव्यलोकशिरोमणिः । क्षायिकालकृतो धीमान् धीरो धर्मप्रभावकः ॥१५२॥ स चैकदा समाकर्ण्य वनपालमुखात्स्वयम् । ततो

स्वामीके आनेके समाचार सुने इसलिये वह स्वयं अपनी वडी सेनाको साथ लेकर उनकी वंदना करनेके लिये निकला। वहांपर जाकर उसने जगतगुरु भगवान जिनेन्द्रदेव महावीरस्वामीकी तीन प्रदक्षिणाएं दी और हाथ मस्तकपर रखकर उनको नमस्कार किया ॥ १९३—१९४ ॥ तदनन्तर उस बुद्धिमानने वडी भक्तिसे आठो द्रव्य लेकर भगवानकी पूजा की और फिर वह राजा श्रेणिक भगवान महावीरस्वामीकी स्तुति करने लगा ॥ १९५ ॥ हे देव ! आप जगतके स्वामी हैं बिना ही कारणके समस्त जीवोंकी रक्षा करनेवाले हैं और सर्वज्ञ हैं तथा मैं नितांत बुद्धि रहित हूं फिर भला मैं आपकी स्तुति किसप्रकार कर सकता हूं ॥ १९६ ॥ तथापि मै अत्यन्त मंदबुद्धि होकर भी केवल भक्तिके भारसे प्रेरित होकर आपकी स्तुति करता हूं ॥ १९७ ॥ हे देव ! आप सबकी रक्षा करनेवाले हैं और किसीकी भी रक्षा करनेवाले नहीं हैं, तथापि महा रक्षक हैं। आप सबके स्वामी हैं, किसीके भी स्वामी नहीं हैं तथापि तीनों लोकोंके स्वामी हैं। आप वीर हैं, वीर नही हैं और महावीर हैं इसलिये हे देव ! आपको नमस्कार हो ॥१९८॥ आप सिद्ध हैं, महा सिद्ध हैं और प्रसिद्ध हैं, आप बुद्ध (सर्वज्ञ) हैं, महा बुद्ध हैं और अतिशय बुद्धिको देनेवाले हैं। आप धीर हैं, महा धीर हैं और धीरतों रहित हैं इसलिये हे नाथ ! आपके लिये नमस्कार हो ॥ १९९ ॥ आप अहिंसाधर्मकी प्रवृत्तिकरनेवाले हैं, तथापि कर्मोंको वा राग-द्वेषादिको नष्ट करनेके कारण हिंसक कहलाते हैं। अनंत विभूति होनेके कारण आप सधन हैं, सुधन हैं और धनी हैं। आप अत्यंत रूपवान हैं। शुद्ध आत्मस्वरूप होनेके कारण अरूपी हैं तथापि परम मनोहर हैं इसलिये हे देव ! आपके लिये

नन्तु महावीरं महासैन्यसमन्वितः ॥१९३॥ विपुलाद्रिस्थित वीर त्रिःपरीत्य जगद्गुरुम् । स्वहस्तौ मस्तके धृत्वा सोऽनमच्छ्रीजिनाधिपम् ॥१९४॥ अष्टभेदान्विता पूजा कृत्वा भक्तिभरात्पुनः । स्तवन कर्तुमारब्धं श्रेणिकेनातिधीमता ॥१९५॥ त्वं देव जगता नाथस्त्व त्राता कारणं विना । कथ स्तुवे हि सर्वज्ञं त्वामह बुद्धिवर्जितः ॥१९६॥ तथापि प्रेरितो देव भक्तिभारेण त्वा प्रति । करोमि स्तवन किंचिदह मंदधियान्वितः ॥१९७॥ त्राता त्राता महात्राता भर्ताभर्ता जगत्प्रभो! । वीरोवीरो महावीरस्त्व देवाऽसि नमोऽस्तु ते ॥१९८॥ सिद्धोऽसिद्धः प्रसिद्धस्त्वं बुद्धो बुद्धोऽतिबुद्धिदः। धीरो धीरोऽतिधीरश्च त्व देवासि नमोस्तु ते ॥१९९॥ हिंसको हिंसकोऽहिंस्यः सधनः सुधनोधनी। रूपोऽरूपो

१ आपके प्रतापसे स्वय रक्षा होजाती है परंतु आप किसीकी रक्षा करते नहीं। २ आप किसीको सेवक नहीं मानते। ३ क्योंकि आपमें क्रोधका अभाव है। ४ क्योंकि आपने वडी शीघ्रताके साथ कर्मोको नष्ट किया है।

नमस्कार हो ॥१६०॥ हे देव ! आप देव हैं, देवाधिदेव हैं और महादेव हैं, आप गुणोंके निधान हैं, निधियोंके स्वामी हैं, आप नाथ हैं, आपका कोई स्वामी नहीं है इसलिये आप अनाथ हैं, तथापि आप जगन्नाथ कहलाते हैं इसलिये हे देव ! आपको नमस्कार हो ॥ १६१ ॥ हे नाथ ! आप ध्यान करनेवाले ध्याता हैं, महाध्याता हैं तथापि सब आपका ध्यान करते हैं। आप किसीका ध्यान नहीं करते इसलिये आप ध्याता नहीं हैं। आप दयालु हैं, महादयालु हैं और निर्दयतासे कर्मोंको नाश करनेके कारण दया रहित हैं। आप सब तरह योग्य हैं, महायोग्य हैं परंतु सांसारिक कार्योंके लिये अयोग्य हैं इसलिये हे देव ! मैं आपको नमस्कार करता हूं ॥१६२॥ आप प्रतिदिन तीनों समय उपदेश देनेके कारण वक्ता हैं, सुवक्ता हैं तथापि आपकी भाषा दिव्यध्वनि निरक्षरी होनेके कारण आप अवक्ता ही हैं। आप इच्छा रहित हैं तथापि समस्त जीवोंका कल्याण करनेकी भावना होनेके कारण इच्छावाले गिने जाते हैं। आप ब्रह्मा हैं, महाब्रह्मा हैं तथापि सृष्टिके कर्ता न होनेके कारण आप ब्रह्मा नहीं हैं। हे नाथ ! ऐसे आपको वारवार नमस्कार हो॥ १६३॥ हे देव ! आप सशरीर हैं, परमोत्कृष्ट शरीरको धारण करनेवाले हैं तथापि शरीर रहित हैं। आप निश्चल हैं, स्थिर हैं तथापि सब जगह विहार करनेके कारण अस्थिर हैं। आप एक रत्न हैं, महारत्न हैं और परिपूर्ण रत्नत्रयसे सुशोभित हैं इसलिये हे देव ! आपके लिये बार बार नमस्कार हो ॥ १६४ ॥ हे प्रभो ! इंद्र भी आपके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं, आप मुक्तिके स्वामी हैं, सदा उसी अवस्थामें रहनेवाले अव्यय हैं, धर्मरूपी अमृतके समुद्र हैं, सुखके निधि हैं, केवलज्ञानको प्रकाशित करनेवाले हैं, तीनों लोकोंको इस असार संसारसे पार कर देनेके लिये अद्वितीय विद्वान् हैं और मोहके महा अभिमानको चूर चूर करनेवाले हैं। हे जिनराज ! हे गुरुदेव ! हे प्रभो ! मैं आपकी शरण आया हूं, आप कृपाकर मेरी रक्षा कीजिये ॥ १६५ ॥ इसप्रकार देवोंने राग परम

समारूपस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१६०॥ देवदेवो महादेवो निधानो निधिनायकः। नाथो नाथो जगन्नाथस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१६१॥ ध्याता ध्याता महाध्याता सदयो सदयोदयः। योग्यो योग्यो महायोग्यस्त्वं देवासि नमोस्तु ते ॥ १६२ ॥ वक्तावक्ता सुवक्ता च सस्पृहो-सस्पृहो स्पृहः। ब्रह्माब्रह्मा महाब्रह्मा त्वं देवासि नमोस्तु ते ॥१६३॥ देहोऽदेहो महादेहो निश्चलोनिश्चलोऽचलः। रत्नोरत्न सुरत्नाढ्यस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१६४॥ त्व देवस्त्रिदशेश्वरार्चितपदस्त्वं मुक्तिनाथोऽव्ययः, त्वं धर्मामृतसागरः सुखनिधिस्त्वं केवलोद्योतकः। त्वं लोकत्रयतारणैकचतुरस्त्वं मोहदर्पापहः, प्राप्तोऽहं शरणं जिनेश्वर प्रभो ! ते पाहि मां भो गुरो ! ॥१६५॥ इति स्तुत्वा महावीरं प्रणम्य

पूज्य भगवान महावीरस्वामीकी स्तुति कर और उनको प्रणाम कर राजा श्रेणिक प्रसन्नचित्त होकर मनुष्योंके कोठेमें जा बैठा ॥ १६६ ॥ वहांपर बैठकर उसने छहों द्रव्य, सातों तत्त्वोंका स्वरूप सुना और मुनि तथा गृहस्थोंके सुख देनेवाला धर्मका स्वरूप सुना ॥ १६७ ॥ उसी समय वहांपर एक बड़ी ऋद्धिको धारण करनेवाला देव बडी विभूतिके साथ भगवानकी पूजा करनेके लिये आया जिसके मुकुटमें मेंढ़कका चिन्ह था ॥१६८॥ महाराज श्रेणिकने उसे देखकर ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले गौतमस्वामीको नमस्कार किया और उस देवके मुकुटमें लगे हुए मेंढ़कके चिन्हका कारण पूछा ॥१६९॥ इसके उत्तरमें श्री गौतमस्वामी कहने लगे कि यह अभी जाकर स्वर्गमें देव हुआ है और तुरन्त ही भगवानकी पूजा करनेके लिये आया है ॥ १७० ॥ यह सुनकर महाराज श्रेणिकने फिर पूछा कि हे स्वामिन्! पहिले भवमें इसने कौनसा दान दिया था, कौनसी पूजा की थी अथवा कौनसा तप किया था जिसके पुण्यसे यह ऐसा देव हुआ है, हे स्वामिन्! आप कृपाकर सब मुझसे कहिये ॥ १७१ ॥ यह सुनकर श्री गौतम गणधर कहने लगे कि हे श्रेणिक! तू मन लगाकर सुन, मैं पुण्य बढानेवाली इसकी कथा कहता हूं ॥ १७२ ॥

इसी तेरे नगरमें एक नागदत्त नामका सेठ रहता था। वह सेठ अत्यन्त मायाचारी था, उसकी स्त्रीका नाम भवदत्ता था ॥१७३॥ किसी एक दिन वह सेठ आर्तध्यानसे मरा और उस आर्तध्यानके पापके फलसे अपने ही घरके आंगनकी बावडीमें मेंढक हुआ ॥१७४॥ जब पानी भरनेके लिये उसकी स्त्री उस बावडीमें आई तब उसे देखकर उसे जातिस्मरण होगया

च सुरार्चितम्। श्रितः श्रेणिकभूपालो मर्त्यकोष्ठ प्रहृष्टधी ॥ १६६ ॥ तत्र सुश्राव षड्द्रव्यसप्ततत्त्वान् नरेश्वरः। यतीना च गृहस्थानां धर्म सर्वसुखाकरम् ॥ १६७ ॥ तत्रागतो महाभूत्या युक्तो देवो महर्द्धिकः। मुकुटे भेकचिन्हं च कृत्वा पूजयितु जिनम् ॥ १६८ ॥ श्रेणिकेन तमालोक्य भेकचिन्हस्य कारणम्। प्रणम्य गौतमस्वामी पृष्टो ज्ञानविलोचन· ॥१६९॥ उक्त श्रीगौतमेनैव सजातोऽय सुरो दिवि। इदानी चैव पूजार्थमागतोऽत्र जिनेशिनः ॥१७०॥ अनेन किं कृत स्वामिन्! दान पूजा तपोऽथवा। जातोऽयं येन पुण्येन तत्सर्वं मे निरूपय ॥१७१॥ तच्छ्रुत्वा गौतमः प्राह शृणु श्रेणिक! सच्छुभाम्। कथयामि कथामस्य स्थिर कृत्वा निजं मन ॥ १७२ ॥ तत्रैव नगरे श्रेष्ठी नागदत्ताह्वयो भवेत्। भार्यास्य भवदत्ताभूत्रित्य मायान्वितात्मनः ॥१७३॥ अथैकदार्तध्यानेन मृत्वा श्रेष्ठी गृहागणे। पापी फलेन वाप्यां

और पहिले भवके मोहके कारण वह उस भवदत्ताके शरीरपर उछलकर चढने लगा, परन्तु भवदत्ताने वह नीच मेंढक बहुत दूर फेंक दिया, परन्तु पूर्वकर्मोंके उदयसे वह मेंढक चिल्लाता हुआ टर्रटर्र करता हुआ फिर शीघ्रतासे आकर उसके ऊपर चढने लगा ॥१७५–१७६॥ तब उस बुद्धिमती भवदत्ताने अपने मनमें समझ लिया कि यह मेरा कोई अभीष्ट (संबंधी—या मुझसे प्रेम रखनेवाला) होगा ॥ १७७ ॥ तदनंतर किसी एक दिन उस सेठानीने अवधिज्ञानसे सुशोभित श्री सुव्रत नामके मुनि-राजसे उस मेंढककी कथा पूछी ॥ १७८ ॥ तब मुनिराजने कहा कि हे पुत्री ! यह तेरे पतिका जीव पापकर्मके उदयसे अत्यंत दुःखी मेंढक हुआ है ॥ १७९ ॥ भवदत्ताने उस मेंढकको अपने पतिका जीव जानकर मोहके कारण तथा उसपर भक्ति करनेके लिये उसे अपने घर लाकर बडे आदरसे रक्खा ॥ १८० ॥ हे राजन् ! श्री महावीरस्वामीके यहां पधारने पर तू आनंदभेरी दिलाकर भक्तिपूर्वक भगवानकी वंदना करनेके लिये आया ॥१८१॥ तब वह भवदत्ता सेठानी भी बडी भक्तिसे अपने भाई कुटुम्बियोके साथ वैभार पर्वतपर भगवान वर्द्धमानस्वामीकी पूजा करनेके लिये आई ॥ १८२ ॥ यह देखकर वह मेंढक भी भक्तिमें तल्लीन होकर अपनी बावडीमेंसे एक कमलका दल लेकर भगवानकी पूजा करनेके लिये निकला ॥ १८३ ॥ वह मार्गमें आरहा था और उधर हाथी आरहा था इसलिये वह मेंढक मार्गमें ही हाथीके पैरसे दबकर चूरचूर होगया, परन्तु उसके हृदयमें भगवानकी पूजा करनेके भाव बने ही रहे ॥ १८४ ॥ भगवानकी पूजा करनेके परि-णाम बने रहनेके कारण उसके पुण्य प्रभावके कारण यह सुखके सागर ऐसे सौधर्म स्वर्गमें बडी ऋद्धिको धारण

तया निर्घाटितो दूराद्रटत्येव वराककः । पुनर्वेगेन चागत्य चढत्येव विधेर्वशात् ॥ १७६ ॥ ततस्तया मदीयोऽयं कोप्यभीष्टो भविष्यति । इति संचिंतित स्वस्य मानसे धीसमन्विते ॥१७७॥ श्रेष्ठिन्या चैकदा पृष्ट सुव्रताख्यतपोधन । अवधिज्ञानसम्पन्नस्तद्भेकस्य कथा शुभाम् ॥१७८॥ अनूक्त मुनिना तस्या अग्रे श्रेष्ठी तव प्रिय' । पापार्जितेन सजातो भेकोऽय दु खपीडित ॥१७९॥ ज्ञात्वा भर्ता स्वकीयोऽति गौरवेण धृतस्तया । भेको मोहेन वानीय स्वगेहे भक्ति हेतवे ॥ १८० ॥ दापयित्वा त्वमानदभेरीमत्रागतोसि भो । राजन् ! श्रीवर्द्धमानस्य वन्दनार्थं स्वभक्तित ॥१८१॥ तदागत्य महाभव्या' श्रेष्ठिनीसह बाधवै । आगता जिनपूजार्थं सारे वैभारपर्वते ॥ १८२ ॥ भेकोपि निज वाप्या हि नीत्वा सत्कमल पथि । निर्गतस्तीर्थनाथस्य पूजार्थं भक्तितत्पर. ॥१८३॥ मार्गे सम्मार्जिते गच्छन् यावत्पादेन हस्तिना । चूर्ण-यित्वा जिनाधीशपूजाभावान्वितशय. ॥१८४॥ सोनुपुजादिसद्भावजातपुण्यप्रभावत । देवो महर्द्धिको जात सौधर्मे सौख्यसागरे ॥१८५॥

करनेवाला देव हुआ है ॥१८५॥ उत्पन्न होनेके समयसे अंतर्मुहूर्तमें ही यह युवा होगया था और धीरवीर दिव्य वस्त्रोंको धारण करनेवाला तथा अनेक आभूषणोंसे सुशोभित होगया था ॥ १८६ ॥ यह देव अपने अवधिज्ञानसे पहिले भवकी सब बात जानकर अपनी वडी भारी विभूतिके साथ भगवान महावीरस्वामीकी पूजा करनेके लिये आया है ॥ १८७ ॥ हे श्रेणिक ! केवल भगवानकी पूजाके परिणाम होनेके कारण इस देवको स्वर्गमें वहुतसी विभूतियां और वहुतसे भोग प्राप्त हुए हैं ॥ १८८ ॥ देखो, भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजाका फल मनुष्योंको महा लक्ष्मी और सुखका कारण है तथा इसलोक परलोक दोनों लोकोंके सब अनिष्ट दूर करनेवाला है ॥ १८९ ॥ यही विचारकर राजा श्रेणिकके अत्यंत सुख देनेवाले भगवान जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोकी प्रतिदिन पूजा करनेके भाव उत्पन्न होगये ॥ १९० ॥ मेंढककी इस कथाको सुनकर कितने ही भव्य जीव पापोंसे डरकर और संवेग वैराग्यमें तल्लीन होकर प्रतिदिन भगवानकी पूजा करनेके भाव करने लगे ॥ १९१ ॥ तदनंतर राजा श्रेणिक परम आनंदित होकर और जगतगुरु भगवान महावीरस्वामीको तथा गौतम गणधरको नमस्कार कर अपने घर जा पहुंचा ॥ १९२ ॥ देखो, शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाला मेंढक केवल भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेके भाव उत्पन्न करनेके कारण प्राप्त हुए निर्मल पुण्यके प्रतापसे समस्त सुखोंके घर ऐसे स्वर्गमें वडी ऋद्धिको धारण करनेवाला देव हुआ था ॥ १९३ ॥ जो मनुष्य भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करता है वह तीनों लोकोंमें उत्पन्न होनेवाली समस्त ऋद्धियोंको पाकर तथा अंतमें समस्त कर्मोंको नष्ट कर देनेके कारण सुखकी खानि ऐसे मोक्षमें अवश्य ही जा विराजमान होता है ॥ १९४ ॥ यह भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा नरकरूपी घरको बंद करनेके लिये अर्गल है,

---

अन्तमुहूर्तमध्येऽभूद्यौवनान्वितविग्रहः । दिव्याम्बरधरो धीरआमरणादिविभूषितः ॥ १८६ ॥ पूर्वं भव परिज्ञायावधिज्ञानेन सोऽमरः । आगतो जिनपूजार्थं महापूजोपलक्षित' ॥१८७॥ शुभाः श्रेणिक ! स्वर्गेस्य देवस्यातिविभूतयः । जाता वहुतरा भोग्याः पूजाभावेन केवलम् ॥१८८॥ अहो पूजाफल नृणा महाश्रीसुखसाधनम् । इहामुत्र भवेन्नून सर्वानिष्टविनाशनम् ॥१८९॥ इति संचित्य संजात' पूजाभावान्वितो नृप' । पादपद्मे जिनेन्द्रस्य प्रत्यह स सुखाकरे ॥१९०॥ तद्भेकस्य कथां श्रुत्वा भव्याः पूजान्विताशयः। सन्त्रस्ता' पापतो जाताः सवेगादिरताश्च ते ॥१९१॥ ततो नत्वा गणधीशं गौतम च जगद्गुरुम् । जगाम स्वगृह राजा परमानन्दनिर्भरः ॥१९२॥ इति जिनेश्वरयज्ञ सुभावतः, सकलसौख्यगृहे त्रिदशालये। भो ! महर्द्धिकसुरोऽजनि शुद्धधीः, विमलपुण्यवशादपि भेककः ॥१९३॥ वितनुते वरनरो जिनपूजां,

गुणोंकी खानि है, स्वर्गमें चढनेके लिये सीढ़ी है, अपरिमित सुखकी खानि है, अत्यंत निर्मल है, दुःखरूपी महासागरसे पार कर देनेवाली है, अशुभ वा पापरूपी ईंधनको जलानेके लिये अग्निके समान है, धर्मको देनेवाली है और श्री तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करनेवाली है इसलिये हे बुद्धिमानों ! इस संसारमें भगवान तीर्थंकर परमदेवकी पूजा प्रतिदिन करो ॥१९५॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें चारों दानोंमें प्रसिद्ध होनेवाले श्रीषेण, वृषभसेना, कौंडेश और शूकरीकी कथाको तथा भगवानकी पूजामें प्रसिद्ध होनेवाले मेंढककी कथाको कहनेवाला यह इक्कीसवां सर्ग समाप्त हुआ ।



अथ बाइसवाँ परिच्छेद ।

जो नेमिनाथ भगवान जगतपूज्य हैं, इच्छानुसार फल देनेवाले हैं, कामदेवको नष्ट करनेवाले हैं, समस्त इंद्रियरूपी हाथियोंकी सेनाको वश करनेके लिये सिंह हैं और महा बलवान हैं ऐसे श्री नेमिनाथस्वामीको मैं नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ मोक्ष प्राप्त करनेके लिये बारह व्रतोंका निरूपण कर अब मोक्ष प्राप्त होने पर्यंत सुख देनेवाली सल्लेखनाको कहते हैं ॥ २ ॥ अत्यन्त बुढापा आ जानेपर दृष्टि, इंद्रिय आदि सब शिथिल हो जानेपर, शरीरकी शक्ति छूट जानेपर, व्रतोंके भंग होनेके कारण उपस्थित हो जानेपर, धर्मके नाश हो जानेपर, जिसका कोई उपाय नहीं होसकता ऐसे महारोगके हो जानेपर, तिर्यंच वा मनुष्योंसे होनेवाले महाघोर उपसर्गके होनेपर और महादुर्भिक्षके पडनेपर उत्तम पुरुषोंको धर्मपालन करने और

प्राप्य ऋद्धिमपि त्रिलोकसस्थिताम् । शिवपद स प्रयाति सुखाकर, निजसमर्जितकर्मक्षयाद्ध्रुवम् ॥ १९४ ॥ पूजा श्वभ्रगृहार्गला गुणकरा सोपानमाला घना, स्वर्गस्यैव सुखादिखानिममला दु खार्णवोत्तारिकाम् । तीर्थेशस्य कुपापकक्षदहने ज्वालोपमा धर्मदा, सत्तीर्थंकरकर्मदा बुधजना नित्य कुरुध्व भुवि ॥१९५॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे श्रीषेणवृषभसेनाकौंडेशशूकरभेकरकथाप्ररूपको नामैकविंशतितम परिच्छेदः ।

अथ द्वाविंशतितमः सर्गः ।

नेमिनाथ जगतपूज्य कामद कामघातकम् । सर्वेन्द्रियगजानीकसिंहं वन्दे महाबलम् ॥१॥ व्रतान्यपि समाख्याय द्वादशैव विमुक्तये । तत सल्लेखना वक्ष्ये मुक्तिपर्यन्तसौख्यदाम् ॥२॥ वृद्धत्वेऽपि जराग्रस्ते मदृष्ट्यादिकेन्द्रिये । शक्तित्यक्तशरीरे च व्रतभङ्गादिकारणे ॥३॥

समाधि धारण करनेके लिये स्वर्गमोक्षके सुख देनेवाली सल्लेखना अवश्य धारण करनी चाहिये ॥ ३–५ ॥ जो मुनि जीवनपर्यंत घोर तपश्चरण करते हैं वे जब प्राण छूटनेके समय सल्लेखना धारण करते हैं तभी उनका वह तप सफल होता है ॥ ६ ॥ जो गृहस्थ समस्त व्रतोंको पालन कर अन्तमें समाधिमरण धारण करता है उसीके सब प्रकारके सुख देनेवाले व्रत सफल कहे जाते है ॥ ७ ॥ कदाचित सर्प आदिके काट लेनेसे अथवा किसी भारी उपसर्गके आ जानेपर असमयमें ही मृत्यु आजाय और वह संदेहरूपमें हो अर्थात् जिसमें जीने मरने दोनोंका संदेह हो तो उस समय इसप्रकार समाधिमरण धारण करना चाहिये कि यदि इस घोर परीषहसे इसी समय मेरी मृत्यु होगई तो मेरे चारो प्रकारके आहारके सागका नियम है। यदि मैं किसीप्रकार जीवित होगया तो फिर भोजन करूंगा ॥ ८–१० ॥ अथवा अपने आए हुए मरणका निश्चयकर हे भव्य ! तू विधिपूर्वक इस समाधिमरणको धारण कर ॥ ११ ॥ हे मित्र ! तू स्त्री मित्र आदिकोंमें होनेवाले प्रेम, स्नेह, मोहको सर्वथा छोड दे तथा आत्माको शुद्ध करनेके लिये धन धान्य और शरीरादिकमें होनेवाले ममत्वका सर्वथा साग करदे ॥ १२ ॥ हे भव्य ! विधिपूर्वक समाधिमरण धारण करनेके लिये रोग आदिके होजाने पर अथवा दूसरी जगह भी वैर, द्वेष और कलुषता आदि समस्त शत्रुओंके समुदायका त्याग कर देना चाहिये ॥ १३ ॥ समाधिमरण धारण करनेमें तत्पर होनेवाले और शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले धीरवीर आराधकको कोमल वचनोंके

धर्मनाशे महारोगे प्रतीकारादिवर्जिते । महाघोरोपसर्गे च तिर्यङ्मर्त्यादिसंभवे ॥ ४ ॥ दुर्भिक्षे च सुधर्माय प्रानुष्ठेया नरोत्तमे । सल्लेखना समाध्यर्थं नाकमोक्षसुखप्रदम् ॥ ५ ॥ कृत्वा तपोऽनघ यावज्जीव सल्लेखनां पुनः । प्रणान्ते यो मुनि. कुर्यात्तस्य स्यात्सफल तप. ॥ ६ ॥ धृत्वा वृत्तानि योऽगारी सन्यास कुरुते पुनः । मरण सफल तस्य व्रत सर्वसुखाकरम् ॥७॥ अकाले यदि चायाति मृत्यु' सर्पादिदंशत. । ससशयो मनुष्याणा प्रोपसर्गादियोगत ॥८॥ ईदृश हि तदा कार्यं सन्न्यास सत्त्वरेण वै । मृत्युः स्याद्यदिमेऽत्रैव घोरात्यत परीषहात् ॥९॥ चतुर्विधे महाहारे ममास्तु नियम ध्रुवम् । जीविष्यामि कथंचिच्चेत्ततो भोक्ष्येऽशनादिकम् ॥ १० ॥ अथवा स्वस्य निश्चित्य मरण प्रागतं ध्रुवम् । सल्लेखनां कुरु त्व भो ! रमा सद्विधिनान्विताम् ॥ ११ ॥ नारीमित्रादिके स्नेह राग मोह च सर्वथा। धनधान्यादिके देहे ममत्व त्यज शुद्धये ॥ १२ ॥ वैर द्वेष च कालुष्य सर्वं शत्रुकदम्बके । रोगादिकेऽथवान्यत्र जहि सन्यासिसिद्धये ॥१३॥ क्षात्वापि स्वजन सर्वं भार्यापुत्रादिक स्वयम् । भृत्यादिक महाशत्रु पूर्ववैरानुबन्धिनम् ॥१४॥ कोमलैर्वचनालापैर्मनोवाक्कायकर्मभिः । स्फुट च क्षमयेद्धीर सन्या

द्वारा मन वचन कायसे अपने सब कुटुंबियोंसे, स्त्रीसे, पुत्रादिकोंसे, सेवकोंसे तथा पहिलेसे वैरभाव रखनेवाले महा शत्रुओंसे क्षमा करानी चाहिये और सबको स्वयं क्षमा कर देना चाहिये ॥ १४–१५ ॥ इसी प्रकार हे भव्य ! समाधिमरण धारण करते समय जो पाप कृत कारित अनुमोदनासे किये हैं, जो पाप जीवनपर्यंत होनेवाले घरके व्यापारसे हुए हैं, जो पाप मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, प्रमाद और योगोंसे हुए हैं, जो बुरी संगतिसे, विषयोंसे वा अन्य कारणोंसे हुए हैं उन सब पापोंको नाश करनेके लिये आचार्यके समीप दश दोषोंसे रहित होकर स्वयं आलोचना कर ॥ १६–१८ ॥ आकंपित अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवित ये दश दोष उत्पन्न करनेवाले आलोचनाके दोष गिने जाते हैं ॥ १९–२० ॥ जो इन सब दोषोंका त्यागकर आचार्यके निकट बालकके समान (बिना किसी छल कपटके) आलोचना करता है उसकी आलोचनामें कोई दोष नहीं लग सकता ॥ २१ ॥ यही समझकर हे भव्य ! पापोंको

सोद्यतशुद्धधीः ॥१५॥ कृतस्य कारितस्यापि पापस्यानुमतस्य च । यावज्जीवाश्रितस्यैव गृहव्यापारजस्य च ॥१६॥ मिथ्यात्वाविरतेर्योगात्कषायातिप्रमादतः । कुसंगविषयाच्चापि जातस्याप्यन्यहेतुतः ॥ १७ ॥ सर्वाघौघविनाशार्थं सत्सूरिनिकटे स्वयम् । आलोचनं कुरु त्वं हि दशदोषविवर्जितम् ॥१८॥ आकंपिताख्यदोषोनुमानितो दृष्ट एव च । बादरः सूक्ष्म एव छन्नं स्याच्छब्दाकुलो ध्रुवम् ॥१९॥ दोषो बहुजनो नामा व्यक्तो आलोचनस्य वै । तत्सेवा स्युर्दशैवास्य दोषादोष विधायकः ॥ २० ॥ सर्वान् दोषान् परित्यज्य बालवत्सूरि सन्निधौ ।

१ यदि कुछ उपकरण देकर दोष कहूंगा तो कम प्रायश्चित मिलेगा ऐसा विचारना आकंपित दोष है। मैं रोगी हूं, दुर्बल हूं, मुझे थोडा प्रायश्चित्त दिया जायगा तो मैं सब दोष कह दूंगा ऐसा कहना अनुमानित दोष है। केवल देखे हुए दोषोंको कहना दृष्ट दोष है। केवल बड़े दोष कहना छोटे छिपा लेना बादर दोष है, केवल छोटे दोष कहना बड़े छिपा लेना सूक्ष्म दोष है, ऐसा अतिचार लगनेपर क्या प्रायश्चित्त होगा इस उपायसे पूछना छन्न दोष है। वार्षिक, मासिक वा पाक्षिक आलोचनाके होते हुए तथा उनके ऊँचे शब्द होनेपर पहिलेके दोष कहना (जो सुनाई न पडे) शब्दाकुलित दोष है। गुरुने जो प्रायश्चित्त दिया है वह ठीक है वा नहीं, शास्त्रानुकूल है या नहीं इसप्रकार थोडा प्रायश्चित लेनेके अभिप्रायसे अनेक लोगोंसे पूछना बहुजन दोष है। अपना कुछ भी प्रयोजन विचार कर अपने समानवाले किसी मुनिसे अपना दोष कहना अव्यक्त दोष है। किसीके द्वारा किसी अपराधके कहने और प्रायश्चित्त बतलानेपर ठीक ऐसा ही मेरा अपराध है मुझे भी यही प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये इस प्रकारके दोषको तत्सेवित दोष कहते हैं।

नाश करनेके लिये और आत्माको शुद्ध करनेके लिये तू मनको शुद्धकर गुरुके समीप आलोचना कर ॥ २२ ॥ तदनंतर मोक्ष प्राप्त करनेके लिये समस्त परिग्रहोंका त्याग कर समस्त महाव्रत धारण करने चाहिये ॥ २३ ॥ हे धीरवीर तू मनसे समस्त संकल्प विकल्पोंको छोडकर शरीरादिकमें तथा भाई, बंधु आदि कुटुम्बी लोगोंमें निर्ममता (ममताके त्याग करनेका) चितवन कर ! अर्थात् ममताका त्याग कर ॥ २४ ॥ तदनन्तर तू शोक, भय, स्नेह, कलुपता, अरति, रति, मोह, विषाद और रागद्वेप आदिको स्वयं छोड ॥ २५ ॥ ये संसार, देह, भोग, नरक और तिर्यंच गतिके दुःख देनेवाले हैं और सब प्रकारके दुःखोंके घर हैं इसलिये हे भव्य ! तू इनमें वैराग्य धारण कर ॥ २६ ॥ हे मित्र ! तू अपने आत्माकी सिद्धिके लिये अपना उत्साह प्रगट कर और अपनी शक्तिको प्रगट कर सुख देनेवाले बारह प्रकारके घोर तपश्चरणको धारण कर ॥ २७ ॥ इसी प्रकार सिद्धांत ग्रन्थोका अमृत पान कर तथा महा आराधना ग्रन्थोको पढकर और तत्त्व व वैराग्यको निरूपण करनेवाले ग्रन्थोंको पढकर तू अपना मन अत्यन्त शांत कर ॥ २८ ॥ बुद्धिमानोंको अवमोदर्य तपश्चरणके द्वारा अपना आहार प्रतिदिन थोडा थोडा घटाना चाहिये और इसप्रकार अनुक्रमसे थोडा थोडा घटाते घटाते समस्त आहारका त्याग कर देना चाहिये ॥ २९ ॥ आराधकको इसप्रकार समस्त आहारका त्याग कर दूधका सेवन करना चाहिये और फिर समाधि धारण करनेके लिये दूधका भी त्याग कर तक्र वा छाछका सेवन करना चाहिये ॥ ३० ॥ फिर ध्यानकी सिद्धिके लिये अनुक्रमसे छाछका भी त्याग कर गर्म जल लेना चाहिये और फिर गर्मजलका भी त्यागकर केवल शुभ उपवास करना

कुर्यादालोचना यो ना तस्य दोषा. भवन्ति न ॥२१॥ इति मत्वा मन शुद्धिं कृत्वा सालोचनां गुरोः । पार्श्वे कुरु स्वपापस्य क्षयार्थं शुद्धिहेतवे ॥२२॥ ततो गृहाण सम्पूर्णं महाव्रतकदम्बकम् । सर्वसगपरित्याग कृत्यमुक्त्यर्थयत्नसा ॥२३॥ निर्ममत्व शरीरादौ वंधुवर्गादिके परे । भावय त्व महाधीर ! निर्विकल्पेन चेतसा ॥२४॥ तत. शोकं भय स्नेहं कालुष्यमरति तथा । रति मोह विषादं च रागद्वेप त्यज स्वयम् ॥२५॥ संसारदेहभोगेषु श्वभ्रतिर्यक्प्रदेपु च । सर्वदुःखनिदानेपु वैराग्य चितयस्व भो ॥२६॥ उदीर्य त्वमुत्साहं च स्ववीर्यं च तपोऽनघम् । द्विषड्भेदं स्वसिद्ध्यर्थं तपोग्र कुरु शर्मदम् ॥२७॥ प्रशान्त स्वमन.कार्यं सिद्धातामृतपानकै । वृहदाराधनाग्रन्थैस्तत्त्ववैराग्यतन्त्रकैः ॥२८॥ आहारं प्रावमोदर्यं तपसा सत्यजेद्बुधः । क्रमाद्दिनं प्रति स्तोक स्तोकेन सर्वमेव हि ॥२९॥ सर्वाहार ततस्त्यक्त्वा ग्राह्यं दुग्धादिपानकम् । ततो दुग्ध परित्यज्य ग्राह्य तक्र समाधये ॥३०॥ त्यक्त्वा तक्रं क्रमान्नीरमादेय ध्यानसिद्धये । परिहार्य जल कार्याः केवला प्रोपधाःशुभाः ॥३१॥

चाहिये ॥ ३१ ॥ समस्त सिद्धांतशास्त्रोके पारगामी निर्यापक (समाधिमरण करानेवाले) महाचार्यको निवेदन कर उनकी आज्ञानुसार जन्मपर्यततकके लिये उपवास धारण करना चाहिये और उसका निर्वाह वडे प्रयत्नसे करना चाहिये ॥ ३२ ॥ समाधिमरण धारण करनेवाले आराधकको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अंतसमयमें एकचित्त होकर पांचो परमेष्ठियोके नामको प्रगट करनेवाले मंत्रोका जप करना चाहिये ॥ ३३ ॥ यदि उसका शरीर क्षीण होगया हो और वह पांचो परमेष्ठियोके वाचक मत्रोंका जप करनेमें असमर्थ हो तो उसे श्री तीर्थंकरके वाचक " णमो अरहताणं " इस एक पदका ही जप करना चाहिये ॥ ३४ ॥ यदि वह अत्यंत क्षीण होगया हो और उस मंत्रको वचनसे न जप सकता हो तो उसे अपने स्वभावसे ही जीवन पर्यंत अपने मनमें ही उन मंत्रोका जप करना चाहिये ॥३५॥ यदि सन्यास धारण करनेवालेका कंठ सर्वथा क्षीण होगया हो और वह अपने मनमें भी उन मंत्रोका जप न कर सकता हो तो फिर उसकी उत्तरसाधना करनेवाले वैयावृत्य करनेवाले अन्य लोगोंको प्रतिदिन उसके कानमें मंत्रराजका (पंचनमस्कारमंत्रका) जप करना चाहिये अर्थात् उसके कानमें सुनाना चाहिये ॥ ३६ ॥ इसप्रकार विवेकी आराधकको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये समाधिमरण धारण कर और अन्तमें जिन मुद्रा धारण कर वडे प्रयत्नके साथ प्राणोंका त्याग करना चाहिये ॥ ३७ ॥ यदि समाधिमरण धारण करनेवाला उत्तम विद्वान् चरमशरीरी हुआ तो वह आठो कर्मोंको नाश कर अनन्त सुख देनेवाले मोक्षमें अवश्य ही जा विराजमान होगा ॥ ३८ ॥ यदि समाधिमरण धारण करनेवाला चरमशरीरी नहीं है तो वह उस शरीरको तथा पापकर्मोको नष्ट कर और महा पुण्य उपार्जन कर सर्वार्थसिद्धिमें जा विराजमान होता है ॥ ३९ ॥ इस समाधिमरणको धारण करनेसे किनने ही

निर्यापक महाचार्यं सर्वसिद्धातपारगम् । विधाय प्रोषधा कार्या यावज्जीव प्रयत्नत. ॥३२॥ अन्तकाले जपेन्मन्त्र गुरुपचकनामजम् । एक चित्तेन मुक्त्यर्थं सन्यासस्थितमानवः ॥ ३३ ॥ यदि सर्व महामत्र जपितु न क्षमो भवन् । क्षीणदेहे जपेदेक पद तीर्थेशगोचरम् ॥ ३४ ॥ वचसा जपितु मत्र न समर्थो भवेद्यदि । जपेत्स्वमनसा धीमान् यावज्जीव स्वभावतः ॥३५॥ सन्यासयुक्तसत्पुसो हीनकंठस्य प्रत्यहम् । कर्णे जपन्तु मत्रेश अन्ये प्रोत्तरसाधका ॥३६॥ इति सर्वप्रयत्नेन त्याज्या. प्राणा विवेकेभिः । जिनमुद्रा समादाय सन्यास च विमुक्तये ॥३७॥ यदि स्याच्चरम देह सन्यासे स वुधोत्तमः । हत्वा कर्माष्टकं गच्छेन्मोक्ष सौख्याकर ध्रुवम् ॥३८॥ अथवा चरमं देहं दुष्कर्माणि विमुच्य ना । सर्वार्थसिद्धिमेवासौ यान्ति पुण्यमुपार्ज्य वै ॥३९॥ केचित्सन्यासयोगेन यान्ति ग्रैवेयक बुधाः । केचित्षोडशम नाक धर्मसौख्याकर परम् ।

विद्वान् ग्रैवेयकोंमें जन्म लेते हैं, और कितने ही विद्वान् धर्म और सुखकी खानि ऐसे परमोत्तम सोलहवें स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं ॥ ४० ॥ विधिपूर्वक समाधिमरण धारण करनेसे कितने ही लोग सुखके घर और अनेक प्रकारके भोगोपभोगोंकी सामग्रियोंसे भरे हुए ऐसे सौधर्म स्वर्गसे लेकर अच्युतस्वर्ग तक किसी भी स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं ॥ ४१ ॥ कितने ही उत्तम पुरुष इस समाधिमरणसे प्राणोंको छोडकर और इंद्रका उत्तम पद पाकर पीछे मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥४२॥ कितने ही सम्यग्दृष्टी पुरुष इस समाधिमरणके प्रभावसे स्वर्गके महा सुखोंका उपभोग कर अंतमें तीर्थंकरके परम पदको प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥ धर्मात्मा पुरुष इस समाधिमरणके प्रभावसे ही स्वर्गके सुख भोगकर चक्रवर्तीकी विभूतिको पाते हैं ॥४४॥ जो विद्वान् इस समाधिमरणको जघन्य रीतिसे धारण करते हैं वे देव और मनुष्योंके सुख भोगकर सात आठ भवमें मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४५ ॥ वहुत कहनेसे क्या ? थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि मनुष्योंको इस समाधिमरणके समान कल्याण करनेवाला धर्म तीनों कालमें नही होसकता ॥ ४६ ॥ इसप्रकार जो श्रावक मरनेके समय अतिचार रहित समाधिमरण धारण करता है संसारमें उसीके व्रत सफल होते हैं ॥ ४७ ॥

प्रश्न—हे भगवन् ! धर्म पालन करनेके लिये और समाधिमरणको शुद्धतापूर्वक धारण करनेके लिये कृपाकर उन समाधिमरणके अतिचारोंका निरूपण कीजिये ॥ ४८ ॥

उत्तर—हे विद्वन् ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं समाधिमरणको विशुद्ध रखनेके लिये उस समाधिमरणरूपी धर्ममें दोष लगानेवाले समाधिमरणके अतिचारोंको कहता हूं ॥४९॥ जीविताशंसा, मरणेच्छा, भय, मित्रस्मृति और निदान ये पांच

॥ ४० ॥ सन्यासविधिना केचित् सौधर्मादिसुखालयम् । यावदच्युतकल्प च वहुभोगसमन्वितम् ॥ ४१ ॥ सन्यासमरणात्केचित् त्यक्त्वा प्राणान् नरोत्तमा । प्राप्य शक्रपदं नून पश्चाद्यान्ति शिवालयम् ॥ ४२ ॥ सल्लेखनाविधानेन केचिद्भुक्त्वा महासुखम् । स्वर्गे भुजन्ति तीर्थेशसंपद दर्शनान्विता ॥४३॥ मरणाराधनेनैव देवलोकभव सुखम् । भुक्त्वा व्रजन्ति चक्रेशभूतिं धर्मान्विता नरा ॥४४॥ जघन्याराधनेनैव सुख भुक्त्वा नृदेवजम् । सप्ताष्टभवपर्यन्तं यान्ति मुक्तिं क्रमाद्बुधा ॥४५॥ किमत्र वहुनोक्तेन सन्यासेन समो वृषः । न स्यात्कालत्रये नून नराणा शर्मसाधन ॥४६॥ एवं करोति सन्यास प्राणान्ते योऽपि श्रावक । अतिचारविनिर्मुक्तं सफल तस्य सद्व्रतम् ॥४७॥ सन्यासस्य व्यतीपातान् दिशध्व कृपया मम । भगवंश्च सुधर्माय सन्यासादि प्रसिद्धये ॥४८॥ एकचित्तेन भो धीमन् ! शृणु वक्ष्ये व्यति-

समाधिमरणके अतिचार गिनेजाते हैं ॥५०॥ जो समाधिमरण धारण करके भी अपने जीवित रहनेकी इच्छा रखता है उसके सल्लेखना व्रतमें जीविताशंसा नामका पहिला अतिचार लगता है ॥ ५१ ॥ जो उपवास धारण करके रोग क्लेश वा परीषहोंके कारण शीघ्र ही अपने मरनेकी इच्छा करता है उसके मरणाशंसा नामका अतिचार लगता है ॥ ५२ ॥ जो इस लोक तथा परलोक संबंधी तीव्र भय करता है उसके सन्यासमें मल उत्पन्न करनेवाला भय नामका अतिचार लगता है ॥ ५३ ॥ जो मोहके कारण अपने मित्रोंका तथा बालकपनके खेल कूदोंका स्मरण करता है उसके मित्रानुराग नामका अशुभ अतिचार लगता है ॥ ५४ ॥ जो पुरुष भोगोपभोगोके कारणोंकी इच्छा करता है, आगेके लिये स्वर्गादिक राज्य चाहता है और इसप्रकार निदान करता है उसके अत्यन्त पाप उत्पन्न करनेवाला निदान नामका अतिचार लगता है ॥ ५५ ॥ जो बुद्धिमान् गृहस्थ पांचों अतिचारोंको छोडकर समाधिमरण धारण करता है उसको मुनिके समान फल मिलता है ॥ ५६ ॥ यह समाधिमरण समस्त गुणोंका निधान है, स्वर्ग मोक्षका एक अद्वितीय कारण है, जिनराज और गणधरदेव भी इसकी प्रशंसा करते हैं, यह पापरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुठार है, समस्त इंद्रियोंको वश करनेके लिये जाल है, व्रतोंसे परिपूर्ण है और पुण्यसे भरपूर है, इसलिये हे भव्य ! तू भी मरनेके समय होनेवाला समाधिमरण अवश्य धारण कर ॥ ५७ ॥ यहां तक व्रत प्रतिमाका निरूपण किया ।

जो बुद्धिमान् प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल तीनों समय नियमपूर्वक सदा सामायिक करता है उसके तीसरी

क्रमान् । सन्यासस्य विमुक्त्यर्थं सन्यासव्रतदोपदान् ॥४९॥ भवेच्च जीविताशसा मरणेच्छा ततो भयः । मित्रस्मृति निदान च स्यु.सन्यासे व्यतिक्रमा ॥५०॥ यः सन्यास समादाय वाञ्छेत्स्वस्यैव जीवितम् । सल्लेखनाव्रतस्यैव तस्य दोषो भवेद्ध्रुवम् ॥ ५१ ॥ गृहीत्वाऽनशन यस्तु रोगक्लेशपरीषहात् । इच्छेत्स्वमरण सोऽपि व्यतीचार भजेन्नरः ॥ ५२ ॥ करोति यो भय तीव्रमिहामुत्र भवादिजम् । श्रयेत्सोऽपि व्यतीपातं सन्यासस्य मलप्रदम् ॥ ५३ ॥ मित्रानुस्मरण योऽपि वाल्यावस्थादिक्रीडितम् । करोति मोहतस्तस्य जायतेऽतिक्रमोऽशुभः ॥५४॥ कुर्याद्योऽपि निदान ना स्वर्गराज्यादिगोचरे । भोगहेतु भजेत्सोऽपि मल घोराशुभप्रदम् ॥५५॥ यो गृहस्थोतिधीयुक्तस्त्यक्त्वातीचारपञ्चकम् । सन्यास कुरुते तस्य फल मुनिसम भवेत् ॥ ५६ ॥ सकलगुणनिधान स्वर्गमोक्षैकहेतु, जिनगणधरसेव्य पापवृक्षे कुठारम् । सकलकरणपाश सद्व्रताना शुभाढ्य, वुध कुरु मरणे त्व सारसन्यासमेव ॥५७॥ करोति नियमेनैव नित्य सामायिक सुधीः । कालत्रये लभेत् सोपि तृतीया

सामायिक प्रतिमा कही जाती है॥५८॥ सामायिकका लक्षण उसकी विधि आदि सब हमने पहिले सामायिक नामके शिक्षाव्रतमें निरूपण किया है अतएव दूसरा कथन होजानेके कारण यहां नहीं कहा ॥ ५९ ॥ तीसरी प्रतिमा धारण करनेवाले बुद्धिमानोंको आवर्त नमस्कार आदि सहित सामायिकका स्वरूप वहांसे जान लेना चाहिये ॥ ६० ॥

जो गृहस्थ अष्टमी और चतुर्दशी दिन प्रत्येक महीनेके चारो पर्वोंमें प्रोपधोपवास करता है और प्राण नष्ट होनेपर भी उसको नहीं छोडता उसके चौथी प्रोपधोपवास प्रतिमा समझना चाहिये ॥ ६१ ॥ इस प्रोपधोपवासका स्वरूप पहिले प्रोपधोपवास नामके शिक्षाव्रतमें कह चुके हैं अब पुनरुक्त दोपके कारण और विस्तार होनेके डरसे यहां नहीं कहते हैं ॥६२॥ चौथी प्रतिमा धारण करनेवाले गृहस्थोंको जिसमें समस्त पापोंका त्याग किया जाता है ऐसे इस प्रोपधोपवासकी विधि लक्षण कर्तव्य आदि सब वहींसे जान लेना चाहिये ॥ ६३ ॥

सचित्तविरत नामकी पांचवी प्रतिमा धारण करनेवाले बुद्धिमान् गृहस्थोंको आम, नारंगी, खजूर, केला आदि सब प्रकारके फल, नींव आदिक फूल, गेहूं, तिल, चावल, मूग, चना, इलाइची, जीरा आदि जिनमें अलग जीव रहनेकी संभावना है, अदरक आदि कंद वृक्षोंकी जड मूली, गीली छाल, पत्तियां, शाखा, कोंपल और अनंत जीवोंसे भरे हुए नागवेलके पान आदि सब प्रकारके सचित्त पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये ॥६४–६७॥ सचित्तविरत नामकी पांचवी प्रतिमा धारण करनेवाले धीरवीर पुरुपोंको अपनी पांचवीं प्रतिमाका पालन करनेके लिये जो पदार्थ अग्निपर पकाये हुए नहीं हैं, अथवा

प्रतिमां वराम् ॥५८॥ प्रोक्त सामायिकस्येव पूर्वं सल्लक्षण मया । शिक्षाव्रते पुनर्नोक्तं द्विवारोक्तिभयात्स्फुटम् ॥५९॥ ज्ञातव्य तत्त्वतस्तत्र शुद्ध सामायिकं बुधै । तृतीयप्रतिमायुक्तैरावर्तनुतिसयुतम् ॥ ६० ॥ अष्टम्या च चतुर्दश्यां प्रोषध यो भजेत्सुधीः । प्राणान्तेऽपि त्यजेन्नैव चतुर्थीप्रतिमां श्रयेत ॥ ६१ ॥ सत्प्रोपधोपवास्य प्रोक्त पूर्वं सुलक्षणम् । पुनरुक्तिभयान्नैव प्रोक्त तद्विस्तरं मया ॥ ६२ ॥ ज्ञेयं तत्रोपवासस्य विधिकर्तव्यमंजसा । सर्वसावद्यत्यक्तस्य चतुर्थप्रतिमान्वितैः ॥६३॥ आम्रनारगखर्जूरकदल्यादिभव फलम् । सर्वक्षीरादिजं पुष्प निंवादिप्रभव तथा ॥ ६४ ॥ गोधूमतिलसच्छालिमुद्गसच्चणकादिकं । एलाजीरादिज बीज पृथक् जीवसमन्वितम् ॥ ६५ ॥ शृंगवेरादिजं कदमूलं वृक्षादिसभवम् । आर्द्रां तरुत्वक्शाखां कोपलादिकमेव च ॥ ६६ ॥ नागवल्यादिजं पत्र सर्वजीवसमाकुलम् । सचितं वर्जयेद्धीमान् सचित्तविरतो गृही ॥ ६७ ॥ अनग्निपक्कमन्यद्वा चेतनादिगुणान्वितम् । साचित्तविरतैर्धीरैर्नादेयं पतिमाप्तये ॥ ६८ ॥

जिनमें किसी प्रकारका भी चेतना गुण है ऐसे सचित्त पदार्थोंका अवश्य त्यागकर देना चाहिये ॥६८॥ पांचवी प्रतिमा धारण करनेवाले गृहस्थोंको जिसका निजका वर्ण वा रंग वदला नहीं है, न जिसका स्पर्श वदला है, ऐसे अप्रासुक और विना गर्म किये हुए जलका त्याग कर देना चाहिये ॥ ६९ ॥ पांचवी प्रतिमा धारण करनेवाले गृहस्थोंको लौंग, काली मिरच आदि द्रव्योंके सम्बन्धसे जिसके निजका वर्ण बदल गया है अथवा जो अग्निमें गर्म कर लिया गया है ऐसा जल आंखोंसे परीक्षा कर ग्रहण करना चाहिये ॥७०॥ जो गृहस्थ विना पके हुए अथवा आधे पके हुए सचित्त कंद, बीज, फल आदिको ग्रहण नहीं करता है उसके सचित्त विरत नामकी पांचवीं प्रतिमा होती है ॥ ७१ ॥ जो बुद्धिमान् सब तरहके प्राणियोंके भरे हुए सचित्त पदार्थोंको नहीं खाता वह दयाकी मूर्ति समझा जाता है और संसारमें उसीका जन्म सफल गिना जाता है ॥ ७२ ॥ जो दुष्ट अपनी जिह्वाकी लंपटताके कारण जीव सहित सचित्त पदार्थोंको जानकर भी खाता है वह क्या अप-नेको अमर समझता है ॥ ७३ ॥ जो समस्त सचित्त पदार्थोंको खाता है उसका मन निर्दय होजाता है और मनके निर्दय होनेसे नरकको लेजानेवाला पाप उत्पन्न होता है ॥ ७४ ॥ यही समझकर पापोंसे डरनेवाले चतुर पुरुषोंको प्राण नाश होनेपर भी महापाप उत्पन्न करनेवाले और अनेक जीवोंका घात करनेवाले सचित्त पदार्थ कभी ग्रहण नहीं करने चाहिये ॥ ७५ ॥ हे भव्य ! इन सचित्त पदार्थोंका ग्रहण करना समस्त पापोंकी खानि है, नरकमें पहुंचानेके लिये चतुर है, दुष्ट पुरुष ही इसका ग्रहण करते हैं, इसमें अनेक जीव रहते हैं, यह विषयसुखोंको उत्पन्न करनेवाला है और धीरवीर धर्मका शत्रु है इसलिये हे भव्य ! स्वर्ग मोक्षादिकको सिद्ध करनेके लिये तू विषके समान इन सचित्त पदार्थोंका त्यागकर ॥ ७६ ॥

अत्यक्तात्मीयसद्वर्णरसस्पर्शादिकमञ्जसा । अप्रासुकमथातप्तं नीरं त्याज्यं व्रतान्वितै. ॥६९॥ वारि प्रात्मीयवर्णादित्यक्तं द्रव्यादियोगतः । तप्तं वाचाग्निनादेयं नयनाभ्यां परीक्ष्य भो ॥७०॥ अपक्वमर्द्धपक्वं वा कंदबीजफलादिकम् । सचित्तं नात्ति यस्तस्य पंचमी प्रतिमा भवेत् ॥७१॥ सचित्तं नात्ति यो धीमान् सर्वप्राणिसमायुतम् । दयामूर्तेर्भवेत्तस्य सफलं जीवितं भुवि ॥७२॥ सचित्तं जीवसंयुक्तं ज्ञात्वा योऽश्नाति दुष्टधी । स्वजिह्वालंपटात्किं स स्वं वेत्ति मरणच्युतम् ॥७३॥ अश्नात्येव सचित्तं यस्तस्यस्यान्निर्दयं मनः । मनो निर्दयतः पापं जायते श्वभ्रसाधकम् ॥ ७४ ॥ इति मत्वा न तद्द्रव्यं ग्राह्यं प्राणात्यये क्वचित् । पापभीतैर्महापापदायकं जन्तुघातकम् ॥७५॥ अशुभसकलखानिं श्वभ्रसदानदक्षं, कुजनगणगृहीतं सत्त्वयुक्तं सचित्तम् । विषयसुखकरं भो धीर ! धर्मस्य शत्रुं, त्यज विषमिव सर्वं स्वर्गमोक्षादिसिद्ध्यै ॥७६॥ अन्नपानं च

जो बुद्धिमान् रात्रिमें अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि चारों प्रकारके आहार पानीका त्याग कर देता है उसके रात्रिभोजन त्याग नामकी छठी प्रतिमा होती है ॥ ७७ ॥ रात्रिमें मनुष्योंकी थालियोंमें डांस, मच्छर, पतंग आदि छोटे छोटे अनेक जीव आ पडते हैं ॥ ७८ ॥ रात्रिमें यदि दीपक न जलाया जाय तो स्थूल जीव भी दिखाई नहीं पड सकते। यदि दीपक जला लिया जाय तो उसके प्रकाशसे थाली आदिमें और अनेक जीव आजाते हैं ॥ ७९ ॥ भोजन पकते समय भी उस अन्नकी वायु चारों ओर फैलती है इसलिये उस वायुके कारण उन पात्रोंमें अनन्त जीव आ आकर पडते हैं ॥ ८० ॥ पापोंसे डरनेवाले मनुष्योंको ऊपर लिखे हुए अनेक दोषोंसे भरे हुए रात्रि भोजनको विष मिले हुए अन्नके समान सदाके लिये अवश्य त्याग कर देना चाहिये ॥८१॥ चतुर पुरुषोंको लड्डू, पेडा, बरफी आदि खानेकी चीजें वा नारियलका दूध, फल आदि कोई भी पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ ८२ ॥ जो पुरुष रात्रिमें पेडा, बरफी आदि स्वाद्य पदार्थोंको खाते हैं—अन्नके पदार्थ नहीं खाते वे भी पापी हैं, क्योंकि अन्न व स्वाद्य पदार्थोंमें कोई भेद नहीं है ॥ ८३ ॥

चतुरपुरुषोंको रात्रिमें सुपारी, जावित्री आदि भी नहीं खानी चाहिये क्योंकि इनमें भी अनेक कीडोंकी संभावना रहती है। इसलिये इनका खाना भी महा पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥ ८४ ॥ धीरवीर पुरुषोंको अपना दयाधर्म पालन करनेके लिये प्यास लगनेपर भी अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरे हुए जलको भी रात्रिमें कभी नहीं पीना चाहिये ॥ ८५ ॥ जो विद्वान् रात्रिमें चारों प्रकारका आहार त्याग कर देते हैं उन्हें प्रत्येक महीनेमें पंद्रह दिन उपवास करनेका फल प्राप्त

खाद्य च स्वाद्यं यो नात्ति शुद्धधीः। भजेत् रात्रौ सदा सोऽपि षष्ठी सुप्रतिमा वराम् ॥ ७७ ॥ दंशकीटपतंगादिसूक्ष्मजीवा अनेकधाः। स्थालमध्ये पतन्त्येव रात्रिभोजनसंगिनाम् ॥७८॥ दीपकेन विना स्थूला दृश्यन्ते नांगिनः क्वचित्। तदुद्योतवशादन्ये प्रागच्छन्तीव भाजने ॥७९॥ पाकभाजनमध्येषु पतन्त्येवांगिनो ध्रुवम्। अन्नादिपचनाद्रात्रौ म्रियन्तेऽनन्तराशयः ॥ ८० ॥ इत्येवं दोषयुक्तं त्याज्यं सभोजनं निशि। विषान्नमिव निःशेषं पापभीतैर्नरैः सदा ॥८१॥ दक्षैर्निशि नचादेयं स्वाद्यं सन्मोदकादिकम्। अन्यद्वा चाम्रपत्रालिकेरक्षीरफलादिकम् ॥८२॥ भक्षितं येन रात्रौ च खाद्यं तेनान्नमंजसा। यतोन्नखाद्ययोर्भेदो न स्याद्वान्नादियोगतः ॥८३॥ भक्षणीयं भवेन्नैव पत्रपूगीफलादिकम्। कीटाढ्यं सर्वथा दक्षैर्भूरिपापप्रदं निशि ॥८४॥ न ग्राह्यं प्रोदकं धीरैर्विभावर्यां कदाचन। तृट्शान्तये स्वधर्माय सूक्ष्मजन्तुसमाकुलम् ॥८५॥ चतुर्विधं सदाहारं ये त्यजन्ति बुधा निशि। तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासस्य जायते ॥८६॥ इति मत्वा सदा त्याज्यं

होता है ॥ ८६ ॥ यही समझकर मनुष्योंको धर्मकी सिद्धिके लिये, तपके लिये वा मोक्ष प्राप्त करनेके लिये, रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग सदाके लिये कर देना चाहिये ॥ ८७ ॥ जो मनुष्य व्रत पालन करनेके लिये रात्रिमें अन्नपान आदि सब प्रकारके आहारका त्याग कर देता है उसके आत्माको शुद्ध करनेवाला अपार पुण्य होता है ॥ ८८ ॥ रात्रिमें आहारका त्याग कर देनेसे इंद्रियां सब वशीभूत होजाती हैं और इंद्रियोंके वशीभूत होनेसे जीवोंके वात पित आदिसे उत्पन्न हुए सब रोग नष्ट होजाते हैं ॥ ८९ ॥ जो गृहस्थ रात्रिमें स्वयं पानी तकका भी त्याग कर देते हैं उनके लिये तीनो लोकोंमें रहनेवाली लक्ष्मी अपने आप आजाती है ॥ ९० ॥ रात्रिभोजनका त्याग करनेसे प्राणियोंके रोग सब नष्ट होजाते हैं, उनके शरीरमें लावण्यता आजाती है, अनेक गुण आजाते हैं और वे सब तरहसे सुंदर होजाते हैं ॥ ९१ ॥ रात्रिभोजनका त्याग करनेसे जीवोंको अनेक भोगोपभोगोंसे भरे हुए और अपरिमित सुखसे भरे हुए राज्यकी प्राप्ति होती है इसमें कोई संदेह नहीं ॥ ९२ ॥ रात्रिमें आहार पानीका त्याग कर देनेसे जीवोंको स्वर्गके देवोंकी विभूतियोंसे सुशोभित निरुपम सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ९३ ॥ जो अज्ञानी सदा रात्रिमें भोजन करते रहते हैं उनके इस लोकमें भी कोढ वा वायु आदिके अनेक प्रकारके महा रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ९४ ॥ रात्रिमें भोजन करनेवाले मनुष्योंकी लक्ष्मी सब भग जाती है और महा दुःख देनेवाली घोर दरिद्रता उनके सामने आ उपस्थित होती है ॥९५॥ जो मनुष्य जिह्वाके स्वादमें लंपटी होकर रात्रिमें भोजन करते हैं उनके महा पाप उत्पन्न होता है और वे अगले जन्ममें नरकमें ही जाकर पडते हैं ॥९६॥

जेने रात्रौ चतुर्विधम् । आहारं धर्मसिद्धयर्थं तपोर्थं वा विमुक्तये ॥८७॥ पानादिसर्वमाहारं ये त्यजन्ति जना निशि । व्रताय जायते पुण्यं तेषां सारं सुखाकरम् ॥ ८८ ॥ वातपित्तादिजं रोगं सर्वं नश्यति देहिनाम् । रजन्याहारसंत्यागादिन्द्रियग्रामोपकारणात् ॥ ८९ ॥ नीरादिकं गृहस्था ये वर्जयन्ति निशि स्वयम् । तांश्च लक्ष्मीः समायाति लोकत्रितयसंस्थिता ॥९०॥ रोगमुक्तं लभेत्प्राणी वपुर्लावण्यसंयुतम् । गुणाढ्यं कमनीयं च रात्रिभोजनवर्जनात् ॥९१॥ भूरिभोगोपभोगाढ्यं राज्यं सौख्याकरं भुवि । निशाहारपरित्यागाद्भजेत् जीवो न संशयः ॥९२॥ अनौपम्यं सुखं नृणां जायते स्वर्गगोचरम् । देवविभवसंपन्नं भुक्तादित्यजनान्निशि ॥ ९३ ॥ निशीथिन्यां सदाहारं ये खादन्ति खला इह । महारोगा हि स्युस्तेषां कुष्टवातादिजाः सदा ॥९४॥ लक्ष्मीः पलायते पुंसां रात्रिभोजनकारिणाम् । भूरिदुःखप्रदं घोरं दारिद्र्यं सन्मुखायते ॥ ९५ ॥ अश्नन्त्येव शठा रात्रौ ये भक्तं स्वादलंपटाः । भूरिपापभरादश्वभ्रकूपे पतन्ति ते ॥ ९६ ॥ शृगालश्वानमार्जारनृपभादिगतिं

रात्रिभोजनमें लालसा रखनेवाले मनुष्य मरकर परलोकमे गीदड़, कुत्ता, बिल्ली, बैल आदि नीच गतियोंमें जाकर उत्पन्न होते है ॥ ९७ ॥ रात्रिभोजनके पापसे यह मनुष्य परलोकमें भील, चांडाल, बहेलिया आदिके नीच कुलोंमें महा दरिद्री उत्पन्न होता है ॥ ९८ ॥ रात्रिमें भोजन करनेके पापसे अनेक दोषोंसे परिपूर्ण, पाप उत्पन्न करनेवाली, मलिन, रागद्वेषसे अंधी, शीलरहित, कुरूपिणी और दुःख देनेवाली स्त्री मिलती है ॥ ९९ ॥ रात्रिभक्षण करनेसे इस मनुष्यको पुत्र अनेक बुरे व्यसनोंसे रंगे हुए मिलते है, पुत्रियां शीलरहित मिलती हैं और भाई बंधु आदि शत्रुओके समान दुःखदाई मिलते हैं ॥ १०० ॥ यह जीव रात्रिभोजनके पापसे भवभवमें अन्धा, बौना, कुब्जा, दरिद्री, कुरूप, बदसूरत, लंगडा, कुशीली अनेक बुरे व्यसनोंका सेवन करनेवाला, दुःखी, डरपोक, अपनी ही अपकीर्ति फैलानेवाला, थोडी आयुवाला, पापी, कुजन्मा, अङ्ग भङ्ग शरीरवाला, दुर्गतियोमें जानेवाला, कुमार्गगामी और अत्यन्त निंद्य होता है ॥ १०१–१०३ ॥ बहुत कहनेसे क्या ! थोडेसेमे इतना समझ लेना चाहिये कि संसारमें जो कुछ दुःख हैं वे सब मनुष्योंको रात्रिभोजनके पापसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ १०४ ॥ जो मूर्ख रात्रिमें भी आहार पानी नहीं छोडते वे आठों पहर भक्षण करनेके कारण पशु ही समझे जाते है ॥ १०५ ॥ रात्रिभोजनमें सदा तत्पर रहनेवाले मनुष्य कीडे, मकोडे, पतंगे आदि अनेक सूक्ष्म जीवोंको भक्षण कर जाते हैं इसलिये वे मांस भक्षियोंके ही समान गिने जाते हैं ॥ १०६ ॥ जो अज्ञानी मनुष्य पान सुपारी आदि भी रात्रिमें खाते हैं वे भी उसके साथ अनेक कीडे मकोडेका भक्षण कर जाते है इसलिये मांस त्यागका नियम उनके भी नहीं निभ सकता

खलाः ।ं व्रजन्ति परलोकेऽपि रात्रिभोजनलालसा ॥९७॥ भिल्लमातंगव्याधादिकुलं दारिद्र्यसंकुलम् । रात्रिभोजनसंजातपापादग्रे श्रयेन्नरः ॥ ९८ ॥ दोषाढ्या पापदा घोरा रागांधा शीलवर्जिता । कुरूपा जायते नारी भोजनान्निशि दुःखदा ॥ ९९ ॥ पुत्रान् दुर्व्यसनोपेतान् सुताः शीलादिवर्जिताः । बांधवान् शत्रुतुल्यांश्च लभेन्ना रात्रिभक्षकः ॥१००॥ अंधत्व वामनत्व च कुब्जत्वं च दरिद्रताम् । दुर्भगत्वं कुरूपित्व पंगुत्वं शीलहीनताम् ॥१०१॥ व्यसनत्वं च दुःखित्व भीरुत्व च कुकीर्तिताम् । अल्पायुश्च कुजन्मत्वं पापित्व विकलांगताम् ॥१०२॥ दुर्गतित्व कुमार्गत्वं परलोकेऽतिनिन्दिताम् । रात्रिभोजनपापेन लभेत्प्राणी भवे भवे ॥ १०३ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन संसारे दुःखमेव यत् । तत्सर्वं जायते पुंसां रात्रिभोजनपापतः ॥१०४॥ रात्रावपि न ये मूढा आहार त्यजन्ति भो । पशवस्ते नरा नैव चाष्टप्रहरभक्षणात् ॥१०५॥ आमिषाशीसमो ज्ञेयो रात्रिभोजनतत्परः । सूक्ष्मकीटपतंगादिजीवराशिप्रभक्षणात् ॥ १०६ ॥ ये रात्रौ च प्रखादन्ति शठाः पत्रादिकं सदा ।

॥ १०७ ॥ जो मनुष्य आंखसे दिखाई देनेवाले अनेक कीडोंसे भरे हुए जलको रात्रिमें पीते हैं वे अन्य पापोंके समान अहिंसाव्रतको किसप्रकार पालन कर सकते हैं अर्थात् जैसे अन्य पापोंमें अहिंसाव्रत नहीं पल सकता उसीप्रकार रात्रि-भोजनमें भी अहिंसाव्रत नहीं पल सकता ॥ १०८ ॥ चतुर पुरुषोंको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अनेक जीवोंकी हिंसा करनेवाला, महा पाप उत्पन्न करनेवाला और महा पापरूप ऐसे चारों प्रकारके आहारका रात्रिभोजन अवश्य छोडदेना चाहिये ॥ १०९ ॥ संसारमें एकवार प्राणोंको नाश करनेवाला हलाहल विष खालेना अच्छा, परंतु अनेक भवोंतक दुःख देनेवाला रात्रिभोजन करना अच्छा नहीं ॥ ११० ॥ यही समझकर विद्वानोंको प्राणोंके वियोग होनेका समय आनेपर भी अभक्ष्यके समान रात्रिमें सब प्रकारके आहारका त्याग सदाके लिये कर देना चाहिये ॥१११॥ पापोंसे डरनेवाले गृहस्थोंको मन वचन कायसे रात्रिमें किसी भूखेको भी पाप उत्पन्न करनेवाला भोजन नहीं देना चाहिये ॥ ११२ ॥ जो मनुष्य मन वचन कायसे व कृत कारित अनुमोदनासे रात्रिभोजन नहीं करता उसके यह रात्रिभोजन त्याग नामका व्रत निर्मल रीतिसे पालन होता है ॥ ११३ ॥ हे मित्र ! यह रात्रिभोजन त्याग नामका व्रत नरकरूपी घरको बंद करनेके लिये किवाड है, स्वर्गरूपी घरके लिये मुख्य मार्ग है, समस्त सज्जन इसका पालन करते हैं, समस्त श्रेष्ठ व्रतोंकी जड है, पाप रहित है, आत्माको सुख देनेवाला है और धर्मरत्नकी खानि है। हे मित्र ! ऐसे इस रात्रिभोजनका त्याग नामके व्रतको तू सदा

कीटादिभक्षणे तेषामामिषे नियमः कथम् ॥१०७॥ ये पिबन्ति जना नीरं कीटाढ्यं दृष्ट्यगोचरम्। अघा इव कथं तेषामहिंसाख्यं व्रतं निशि ॥१०८॥ महापापप्रदं त्याज्यं सदाहारं चतुर्विधम्। जीवहिंसाकरं दक्षैः स्वर्गमुक्तिप्रसिद्धये ॥१०९॥ वरं हालाहलं लोके भक्षितं प्राणनाशकम्। वारैकं हि न चाहारं रुख्यातीत भवे नृणाम् ॥११०॥ इति ज्ञात्वा बुधैः सर्वमाहारं निशि सर्वथा। प्राप्ते प्राणवियोगेपि न भोक्तव्यमखाद्यवत् ॥१११॥ क्षुधातुराय कस्मैचिन्न दातव्यं गृहान्वितैः। भोजनं निशि पापाय भक्तैः पापकरं त्रिधा ॥११२॥ कायवाङ्मनसा योऽपि नात्ति चाहारमञ्जसा। सत्कृतादिकसंकल्पैः तस्य स्यान्निर्मलं व्रतम् ॥११३॥ नरकगृहकपाटं स्वर्गगेहाग्रमार्गं, सकलसुजनसेव्यं सद्व्रतस्यापि मूलम्। स्वसुखकरमपापं धर्मरत्नस्य खानिं, व्रतमपि भज मित्र ! रात्र्यभुक्ताख्यनाम ॥ ११४ ॥ आद्या षट्प्रतिमा योऽपि धत्ते सच्छ्रावको भुवि। स जघन्यो जिनैरुक्तः पूज्यो नाकेश्वरैरपि ॥ ११५ ॥

इति श्रीभट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे सल्लेखनासामायिकादिप्रतिमाचतुष्टयप्ररूपको नाम द्वाविंशतितमः परिच्छेदः।

पालन कर ॥ ११४ ॥ जो इन पहिली छह प्रतिमाओंका पालन करता है वह जघन्य श्रावक कहलाता है और इंद्रके द्वारा भी पूज्य होता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ११५ ॥

इसप्रकार आचार्य श्री सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें सल्लेखना, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग और रात्रिभोजन त्याग प्रतिमाओंको निरूपण करनेवाला यह वाइसवां परिच्छेद समाप्त हुआ।



अथ तेईसवाँ परिच्छेद।

जो पार्श्वनाथ भगवान देवोंके द्वारा पूज्य है, शिष्योंको अपने समीप ही स्थान देनेवाले है, और जिनके समीपका निवास अनन्त सुख देनेवाला है ऐसे श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर परम देवको मैं उनके समीप पहुचनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ अब मैं मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तीनों लोकोंमें पूज्य और कातर जीवोंके लिये अत्यन्त कठिन ऐसी ब्रह्मचर्य प्रतिमाको कहता हूं ॥ २ ॥ जो मनुष्य मनके सब राग भावोंको छोडकर छोटी कन्याओंको अपनी पुत्रीके समान देखता है, रूप लावण्यसे सुशोभित यौवनवती स्त्रियोंको अपनी वहिनके समान देखता है और असन्त गुणवती वृद्ध स्त्रियोंको अपनी माताके समान देखता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है ॥ ३–४ ॥ देखो, स्त्रियोंका मुंह कफसे भरा हुआ है, चमडेसे मढा हुआ हड्डियोंका समूह है ,सब बुरी चीजोंका आधार है, दुर्गंधमय है और कुटिल है ॥५॥ स्त्रियोंके स्तन मांसके पिंड है, नेत्रोंको लोभ उत्पन्न करनेवाले हैं और नरककी सीडी है, पेट विष्ठा व अनेक प्रकारके कीडोंसे भरा हुआ है, ॥ ६ ॥

अथ त्रयोविंशतितमः सर्गः।

पार्श्वनाथ जिनं वन्दे सुपार्श्वं पार्श्वदायकम्। विनेयाना सुरैरर्च्यं प्रभुं तत्पार्श्वहेतवे ॥१॥ भुवनत्रयसंपूज्यां वक्ष्ये स्वर्मुक्तिहेतवे। प्रतिमा ब्रह्मचर्याख्या दुष्करां कातरागिनाम् ॥२॥ वालां सत्कन्यकां सारां रूपलावण्यभूषिताम्। नारीं सद्यौवनोन्मत्तां वृद्धां सर्वगुणाकराम् ॥३॥ स्वपुत्री भगिनीमातृसमां पश्यति यः सदा। त्यक्त्वा च मनसा रागं ब्रह्मचारी भवेत्स ना ॥४॥ मुखं श्लेष्मादिसंसक्तं चर्मवद्धास्थिसचयम्। सर्वामनोग्यताधारं दुर्गन्धं कुटिलान्वितम् ॥ ५ ॥ मांसपिंडौ स्तनौ श्रेणिभूतौ नेत्रादिलोभदौ। प्रोदरं सप्तसंधातुविष्ठाकृम्यादिसंकुलम् ॥ ६ ॥ स्रवन्मूत्रादिकं निंद्यं बीभत्सं जघनं सदा। पूतिगंधाकरं घोरं श्वभ्रकूपमिवाशुभम् ॥७॥ इत्येव च वरस्त्रीणां रूपं चित्ते स

स्त्रियोंका जघनस्थल अत्यन्त घृणाजनक है, निंद्य है, मूत्रादिक मल सदा उससे बहता रहता है, अत्यन्त दुर्गंध सहित है और घोर नरक कूपके समान अशुभ है ॥ ७ ॥ पवित्र ब्रह्मचर्यमें तत्पर रहनेवाले मनुष्योंको अपने हृदयमें स्त्रियोंका स्वरूप इसप्रकार चिंतवन करना चाहिये। यह स्त्रियोंका रूप केवल बाहरसे ही सुन्दर दिखता है ॥ ८ ॥

स्त्रियोंका स्वरूप इसीप्रकारका है, वह केवल ऊपरसे चमडेसे ढका हुआ है, जो पुरुष ऐसी स्त्रियोंका त्याग करता है उसके निर्मल ब्रह्मचर्य होता है ॥ ९ ॥ जो पुरुष ब्रह्मचर्यका पालन नहीं करते उनके अत्यंत दुःख देनेवाले कास, श्वास, कंप, वायु आदि अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होजाते हैं ॥१०॥ स्त्रीसेवनसे कभी तृप्ति नहीं होती, प्राप्त होनेपर यह अत्यंत नीरस होता है, अत्यंत अपवित्र है, अपवित्रता करनेवाला है, निंद्य है, निंद्य क्रियासे उत्पन्न होता है, अशुद्ध स्थानोंसे उत्पन्न होता है, भयानक है, तीव्र दुःख उत्पन्न करनेवाला है, महा मुनिराज दूरसे ही इसका त्याग कर देते है, यह सर्पके घरके समान है, रात्रिमें नीच लोगोंके द्वारा सेवन किया जाता है, गधा आदि नीच पशु सदा इसका सेवन करते हैं अथवा दुष्ट मूर्ख इसे अमृत समझकर इसका आदर करते हैं, यह स्त्रियोंके शरीरके संघट्टनसे उत्पन्न होता है, नरक तिर्यंच आदि कुगतियोंको देनेवाला है, दाह कंपा आदि अनेक रोगोंको उत्पन्न करनेवाला है, पापकी जड है, अत्यंत घृणित है, और अनेक दोषोंसे भरपूर है ! ब्रह्मचारियोंको अपने निर्दोष ब्रह्मचर्यको पालन करनेके लिये इस स्त्रीसेवनका सदा इसीप्रकार चिंतवन करते रहना चाहिये ॥ ११–१५॥ स्त्रियोंका शरीर स्वभावसे ही निंद्य है, अनेक जंतुओंसे भरा हुआ है और अनेक जीवोंके उत्पन्न होनेका स्थान है ऐसे अपवित्र और अशुद्ध स्त्रियोंके शरीरमें भला कौन ज्ञानी प्रेम करेगा ॥ १६ ॥

चिंतयेत् । बाह्ये सत्सुन्दरं मध्ये पवित्रं ब्रह्मतत्परः ॥८॥ ईदृग्विधं सुनारीणां रूपं चर्मावृतं सदा । पश्येद् यो ना भजेत्सोऽपि ब्रह्मचर्यं सुनिर्मलम् ॥९॥ कासश्वासादिसद्रोगाः कंपवातादिसंभवाः । अब्रह्मचारिणां पुंसां जायन्ते दुःखदायकाः ॥ १० ॥ अतृप्तजनकं सेवा प्रान्ते चात्यन्तनीरसम् । अपवित्रकरं निंद्यं निंद्यकर्मसमुद्भवम् ॥ ११ ॥ अशुचिस्थानजं घोरं तीव्रदुःखाकरं भुवि । महामुनिजनैस्त्याज्यं सर्पागारमिवानिशम् ॥१२॥ सेव्यं नीचजनैर्नित्यं पशुभिर्गर्दभादिभिः । आदरेण शठैर्दुष्टैः मन्यमानैर्निवामृतम् ॥१३॥ नार्यंगसपदोद्भूतं श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् । दाहकं पापदं दुष्टं पापमूलं घृणास्पदम् ॥१४॥ बहुदोषसमायुक्तं मैथुनं चिंतयेत्सदा । ब्रह्मचारी विनिर्मुक्तो दोषैर्ब्रह्मवृपाप्तये ॥१५॥ स्त्रीणां स्वभावतः काये निंद्ये जन्तुसमाकुले । जीवोत्पत्तिप्रदेशे च को ज्ञानी रमतेऽशुचौ ॥१६॥ योनिस्तनप्रदेशेषु हृदि कक्षान्त-

स्त्रियोंकी योनिमें, स्तनोंमें, कांखोंमें अत्यन्त सूक्ष्म मनुष्य सदा उत्पन्न होते रहते हैं ॥ १७ ॥ उन जीवोंकी संख्या नौ लाख है और वे सब स्त्रीसेवन करनेसे मर जाते हैं ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने अपने केवलज्ञान रूपी नेत्रोंसे देखकर बतलाया है ॥ १८ ॥ जिसप्रकार कपास वा रुईसे भरी हुई नाली अग्निके संयोगसे जल जाती है उसीप्रकार स्त्री सेवन करनेसे योनिके सब जीव मर जाते हैं ॥ १९ ॥ स्त्री सेवन करनेसे अनेक जीवोंका घात होता है और नरकमें पहुंचानेवाला महा राग उत्पन्न होता है इसलिये मनुष्योंको स्त्री सेवन करनेसे महापाप उत्पन्न होता है ॥ २० ॥ मनुष्योंको हलाहल विष खा लेना अच्छा, परन्तु स्त्री सेवन करना अच्छा नहीं, क्योंकि हलाहल विष खानेसे एक भवमें ही मृत्यु होगी परन्तु स्त्रीसेवन करनेसे असंख्यात भवोंमें महा दुःख प्राप्त होगा ॥ २१ ॥ फणा निकाले हुए क्रोधित हुई सर्पिणीका आलिंगन कर लेना अच्छा परन्तु महा दुःख देनेवाली और नरकरूपी घरकी देहलीके समान स्त्रीका आलिंगन करना अच्छा नहीं ॥ २२ ॥ जिसप्रकार सर्पिणीकी दुःख देनेवाली संगति अच्छी नहीं उसीप्रकार ब्रह्मचारियोंको कुछ नहीं तो कलंक लगनेकी शंकासे ही स्त्रियोंकी संगतिका त्याग कर देना चाहिये ॥ २३ ॥ सांप, वाघ, शत्रु व चोर आदिकोंके साथ रहना तो अच्छा परन्तु स्त्रियोंके समीप क्षणभर भी रहना अच्छा नहीं क्योंकि स्त्रियोंके साथ रहनेमें क्षणभरमें ही कलंक लगनेकी शंका रहती है ॥ २४ ॥ जिस मकानमें स्त्रियोंके चित्र भी हों उस मकानमें भी व्रतियोंको रहना ठीक नहीं है फिर भला जिनमें स्त्रियें स्वयं रहती हों उनमें तो रहना बहुत ही बुरा है ॥ २५ ॥ व्रतियोंको स्त्रियोंके साथ रहनेमें पहिले अमिट कलंक लगता है, फिर व्रतभंग होता है और फिर नरकगतिमें महा दुःख भोगने पडते हैं ॥ २६ ॥ ब्रह्मचर्यको पालन करते हुए उस व्रतके

रेष्वपि । अतिसूक्ष्माः मनुष्याश्च जायन्ते योषिता सदा ॥१७॥ नवलक्षागिनोऽत्रैव म्रियन्ते मैथुनेन भो । इत्येव जिननाथेन प्रोक्त केवललोचनात् ॥१८॥ कर्पासेनभृता यद्वन्नालिकानलयोगतः । ज्वलत्येव तथा जीवा म्रियन्ते लिंगघट्टनात ॥ १९ ॥ मैथुनेन महापाप जायते प्राणिनां ध्रुवम् । जीवघातान्महारागसंभवात् श्वभ्रसाधकम् ॥२०॥ वरं हालाहलं भुक्तमंगिनां न च मैथुनम् । भवैकमृत्युदं संख्यात्यतीतभवदुःखदम् ॥२१॥ वरमालिंगिता क्रुद्धा सर्पिणी फणसंयुता । न च स्त्री श्वभ्रगेहस्य प्रतोली भूरिदुःखदा ॥ २२ ॥ ब्रह्मचारी पुमान् नित्य त्यजेत्सग सुयोषिताम् । कलकशंकयात्यतमहिसंगमिवाशुभम् ॥ २३ ॥ एकत्र वसति श्लाव्या सर्पव्याघ्रारितस्करैः । न च नारीसमीपेऽपि क्षणमेकं कलकवत् ॥२४॥ चित्रादिनिर्मिता नारी यत्र स्यान्मन्दिरेऽशुभा । तत्र स्थानं न योग्यं च व्रतीनां किं तदाश्रिते ॥२५॥ कलंकं

साथ श्रेष्ठ मरण कर जाना अच्छा परंतु ब्रह्मचर्यव्रतके विना असंख्यात वर्ष भी जीवित रहना अच्छा नहीं ॥ २७॥ जो कोई मनुष्य अनेक शास्त्रोंका जानकार हो, गुणवान हो और तपश्चरणसे सुशोभित हो परंतु ब्रह्मचर्य पालन न करता हो तो फिर संसारमें उसका कहीं कोई आदर सत्कार नहीं करता ॥ २८ ॥ जिसप्रकार विना दांतोंके हाथी शोभायमान नहीं होता, विना हाथोंके शूरवीर शोभा नहीं देता और विना दानके गृहस्थ शोभा नहीं देता उसीप्रकार ब्रह्मचर्यके विना व्रती मनुष्य भी शोभा नही देता ॥ २९ ॥ जिसप्रकार बुझाया हुआ अग्नि अपमानको प्राप्त होता है, निंद्य समझा जाता है उसी-प्रकार ससारमें ब्रह्मचर्यरूपी तेजसे रहित होनेपर व्रती मनुष्य भी सर्वथा निंद्य समझा जाता है ॥ ३० ॥ जो ब्रह्मचर्यसे रहित है वह घरका स्वामी होकर भी अपने ही कुटुंबीलोगोंसे अपमानित होता है फिर भला वह अन्य लोगोंसे अपमानित क्यों न होगा ॥ ३१ ॥ कहीं कहीं पर योगीलोग सर्प, शत्रु और वाघ आदिके साथ रहना अच्छा समझते हैं परंतु पापोंसे डरकर ब्रह्मचर्य व्रतको भंग करनेवालोंके साथ स्वप्नमें भी रहना स्वीकार नहीं करते ॥ ३२ ॥ ब्रह्मचर्यको भंग करनेवाले मनुष्योंको इसलोकमें भी राजाकी ओरसे भी वध बंधन आदिके अनेक दुःख भोगने पडते हैं इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ३३ ॥ ब्रह्मचर्यको न पालने वाले महा मूर्ख मनुष्य महा पापके भारसे परलोकमें भी घोर महा दुःखोंसे भरे हुए दुर्गतियोंके दुःख भोगते हैं ॥३४॥ ब्रह्मचर्यव्रतके साथ साथ एक दिन भी जीवित रहना अच्छा परंतु विना ब्रह्मचर्यके करोडों पूर्वोंतक भी जीवित रहना अच्छा नही ॥ ३५ ॥ जिस व्रतीने समस्त सुख देनेवाला ब्रह्मचर्यव्रत छोड दिया उसने समस्त

लभते पूर्व दुस्त्यज योपिताश्रयात् । व्रतिभिर्व्रतभग च पश्चात् श्वभ्रगतिप्रदम् ॥२६॥ वर सन्मरणं लोके ब्रह्मचर्यसमायुतम् । तद्विना न च जीवाना जीवितव्यमसख्यत' ॥२७॥ शास्त्रवान् तपयुक्तोपि तपसालकृतो व्रती। ब्रह्मचर्यच्युतो लोके सर्वत्रे वावमन्यते ॥२८॥ दन्तभग्नो यथा नागो हस्तहीनो भटो नरः । दानहीनो गृही नामाद्ब्रह्मचर्यच्युतो व्रती ॥२९॥ विध्यापितोऽनलो यद्वल्लभत्येवापमानताम् । सद्ब्रह्मतेजसा हीनो व्रती लोके च सर्वथा ॥३०॥ विकलो ब्रह्मचर्येण यो यतिः स्वजनादिभिः । असत्कार लभेदत्र किन्न सोऽन्यजनैरपि ॥ ३१ ॥ क्वचित्सर्पारिव्याघ्राणा सगमिच्छन्ति योगिन' । न च स्वप्नेऽघभीत्येव ब्रह्मव्रतच्युतात्मनाम् ॥३२॥ राजादिकजनात्सर्व वधवधसमुच्चयम् । अब्रह्मचारिणो जीवा लभन्तेऽत्र न सशयः ॥३३॥ अमुत्र दुर्गतिं यान्ति ब्रह्मव्रतच्युता' शठाः । महापापभरेणेव घोरदु खाकुलां ध्रुवम् ॥३४॥ जीवितव्य वर चैकदिन ब्रह्मव्रतान्वितम् । तद्विना न च पूर्वाणा कोटीकोटी विशेषतः ॥३५॥ ब्रह्मचर्यं परित्यक्त व्रतिना येन

व्रतोंको छोड दिया ही समझना चाहिये क्योंकि विना ब्रह्मचर्यके कोई व्रत हो ही नहीं सकता ॥ ३६ ॥ ब्रह्मचर्यका भंग करनेसे हिंसा होती है, झूठ वोलना पडता है और स्त्री आदि पर पदार्थोंकी इच्छा करनी पडती है। इसप्रकार उसे सव प्रकारके पाप करने पडते है ॥ ३७ ॥ जिसप्रकार दिनके विना सूर्य दिखाई नही देता उसीप्रकार चतुर पुरुषोंको विना ब्रह्मचर्यके कोई भी व्रत दृष्टिगोचर नही होता ॥ ३८ ॥ अन्य सव व्रतोंके विना इस संसारमें एक ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करना सवसे उत्तम है क्योंकि विना ब्रह्मचर्यके मनुष्योंको कोई व्रत हो ही नहीं सकता है ॥ ३९ ॥ यही समझकर धीर-वीर पुरुषोंको वडी दृढताके साथ शीलव्रत पालन करना चाहिये और दुर्लभ निधिके समान उसे प्राण नाश होनेपर भी नहीं छोडना चाहिये ॥ ४० ॥ इस ब्रह्मचर्य व्रतको धीरवीर ज्ञानी व्रतोंके पालन करनेमें सदा तत्पर रहनेवाले मनुष्य ही पालन कर सकते हैं अन्य कातर मनुष्योंसे यह कभी पालन नहीं हो सकता ॥ ४१ ॥ जो शूरवीर मनुष्य वाणोंकी वर्षासे भरे हुए युद्धमें अचल खडे रहते हैं वे ही शूरवीर स्त्रियोंके कटाक्षोंके युद्धमें कभी नहीं ठहर सकते ॥ ४२ ॥ हाथी वाघ और शत्रुओंको गिरादेने वाले वहुतसे शूरवीर देखे जाते हैं परंतु कामदेवरूपी मल्लको गिरादेने वाला कोई भी दिखाई नही देता। काम मल्लको मारनेवाले केवल उत्तम मुनि ही हैं ॥४३॥ इस संसारमें ब्रह्मचर्य पालन करनेवालोंको ही ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली सव पदार्थोंको सिद्ध करनेवाली महाविद्याएं सिद्ध होती हैं इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ४४ ॥ संसारमें वे ही मनुष्य धन्य हैं और वे ही मनुष्य तीनों लोकोंमें पूज्य हैं जो वड़ी दृढताके साथ अखंड शीलव्रतका पालन करते हैं और जो स्त्रियोंके द्वारा वा अन्य लोगोके द्वारा घोर उपसर्ग और परीषहोंके आजानेपर भी स्वप्नमें भी उसे नहीं छोडते

सौख्यदम् । सर्वं व्रतादिकं तेन तद्विना च यतो न तत् ॥ ३६ ॥ अब्रह्माज्जायते हिंसा वचोऽसत्यं नृणा ध्रुवम् । आकांक्षा च परस्यैव लक्ष्मीरामादिगोचरा ॥ ३७ ॥ दिवसेन विना सूर्यो तथा नैवोपलभ्यते । यथा सर्वव्रत दक्षैर्ब्रह्मचर्यं विना न च ॥ ३८ ॥ सर्वव्रतच्युतं ह्येकं श्लाघ्यं ब्रह्मव्रतं भुवि । तद्विना न च सत्पुसां सर्वं व्रतसमुच्चयम् ॥३९॥ इति मत्वा जनैर्धीरैः ग्राह्यं शीलव्रतं दृढम् । प्राणान्तेपि न मोक्तव्यं निधानमिव दुर्लभम् ॥४०॥ धीरैर्वीरैर्नरैर्दक्षैर्ज्ञानिभिर्व्रततत्परैः । ब्रह्मचर्यं व्रतं धर्तुं शक्यते न च कातरैः ॥४१॥ वाणवृष्टि-समाकीर्णे रणे तिष्ठन्ति ये भटाः । योषित्कटाक्षसग्रामे न च स्थातु क्षमा हि ते ॥ ४२ ॥ दृश्यन्ते वहवः सूराः हस्तिव्याघ्रादिपातने । काममल्लनिपाते ते न च सन्मुनयः परम् ॥४३॥ ब्रह्मव्रतात्मना पुसां सिद्ध्यंति च न संशयः। महाविद्याःसमस्तार्थसाधका ज्ञानसंभवाः ॥४४॥

मस्तक झुकाकर
॥ ४५ ॥ ब्रह्मचर्य पालन करनेवालोंके चरणकमलोंको इंद्र आदि समस्त देव भी भक्तिके बोझसे नम्र होकर
नमस्कार करते है ॥ ४६ ॥ इस शीलव्रतके प्रभावसे भक्तिसे नम्रीभूत हुए देवोंके भी आसन कंपायमान होजाते हैं अथवा
इस शीलव्रतके प्रभावसे इस संसारमें क्या क्या महिमा प्राप्त नहीं होती है अर्थात् सब प्रकारकी महिमा प्राप्त होजाती है
॥ ४७ ॥ ब्रह्मचर्यव्रतको पालन करनेवाले मनुष्योंके चरणकमलोंको चक्रवर्ती आदि महापुरुष] भी भक्तिके बोझसे दवकर
नमस्कार करते हैं फिर भला अन्य राजाओंकी तो वात ही क्या है ॥ ४८ ॥ इस ब्रह्मचर्यव्रतके फलसे ही मनुष्योंको महा
विभूतियोंसे सुशोभित स्वर्ग भी अपने घरका आंगन वन जाता है ॥ ४९ ॥ शीलव्रतको धारण करनेवाले धीर पुरुषोंको
इंद्रकी भी विभूति प्राप्त होती है जो महा माहिमासे सुशोभित होती है और जिसे सब देव नमस्कार करते हैं ॥ ५० ॥ इस
ब्रह्मचर्यके फलसे मनुष्योंको नौ निधि, चौदह रत्न और छहो खण्ड पृथ्वीकी विभूतिसे सुशोभित चक्रवर्तीकी विभूति और
उपभोग प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥ इस ब्रह्मचर्यरूपी रत्नसे सुशोभित होनेवाले मनुष्य तीर्थंकर पदको प्राप्त होते हैं, जो तीनों
लोकोंमें चमत्कार करनेवाला है और समस्त देवों वा इंद्रोंके द्वारा वंदनीय है ॥ ५२ ॥ इस ब्रह्मचर्यरूपी सिंहासनपर विरा-
जमान हुआ मनुष्य इस संसारमें जो जो चाहता है वह चाहे तीनों लोकोंमें कहीं भी क्यों न हो उसके पुण्यके प्रभावसे
उसे अवश्य प्राप्त होजाता है ॥ ५३ ॥ वहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि संसारमें जो कुछ
उत्तम सुख है वह सब ब्रह्मचर्यके फलसे ही मनुष्योंको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥ यह सुखकी खानि शीलव्रत स्वर्ग लोकमें

धन्यास्ते भुवने पूज्या यैरखण्ड व्रत धृतम् । शीलं स्वप्नेपि न त्यक्तं योषिदादिपरीषहैः ॥४५॥ इन्द्राद्याः हि सुराः सर्वे शिरसा प्रणमन्ति
भो । भक्तिभारेण सनम्रा· पादौ शीलयुतात्मनाम् ॥४६॥ शीलव्रतप्रभावेन कपयत्यासनानि भो । सुराणां भक्तिनम्राणा किं किं वा नोप-
जायते ॥४७॥ ब्रह्मसचेतसा पादौ चक्रवर्त्यादयो गुणात् । नमन्ति भक्तिभारेण का कथान्यनृपेषु च ॥४८॥ ब्रह्मव्रतफलेनैव स्वर्गं स्यात्स्व-
गृहाङ्गणम् । महाविभवसम्पन्न सर्वभोगान्वित नृणाम् ॥४९॥ शीलव्रतधरा धीरा इन्द्रभूतिं भजंति वै । अत्यतमहिमोपेता सर्वामरनमस्कृ-
ताम् ॥ ५० ॥ भजन्ति चक्रवर्तित्व रत्ननिध्यादिसकुलम् । षट्खण्डविभवोपेतं ब्रह्मचर्यफलान्नराः ॥ ५१ ॥ प्राप्नुवन्ति जिनेशत्वं
ब्रह्मरत्नविभूषितम् । चमत्कारकर लोके वद्य सर्वामरेश्वरैः ॥५२॥ ब्रह्मसिंहासनासीनो यद्यदङ्गी समीहते । तत्तदेव समायाति पुण्याल्लोक-
त्रयेषु च ॥ ५३ ॥ किमत्र वहुनोक्तेन ससारे यत्सुख वरम् । ब्रह्मचर्यफलात्तच्च सर्वं सप्राप्यते जनैः ॥५४॥ दुर्लभ स्वर्गलोकेऽत्र महाशील

भी दुर्लभ है परन्तु इस लोकमें मनुष्योंको सुगमतासे प्राप्त हो जाता है इसलिये चतुर पुरुषोंको क्या वह स्वीकार नहीं करना चाहिये ? अवश्य करना चाहिये ॥ ५५ ॥ शीलव्रतरूपी आभूषणोंसे सुशोभित होनेवाले मुनियोंको मुक्ति स्त्री भी आकर रागपूर्वक स्वयं स्वीकार करती है फिर भला स्वर्गकी देवांगनाओंकी तो बात ही क्या है ॥ ५६ ॥ उत्तम पुरुष इस शील-व्रतरूपी बहुमूल्य महारत्नको पाकर उसकी रक्षा करनेके लिये महाप्रयत्न करते हैं ॥५७॥ इस ब्रह्मचर्य व्रतकी रक्षा करनेमें तत्पर रहनेवाले मनुष्य हावभाव विलासोंसे सुशोभित और वस्त्र व आभूषणोंसे विभूषित ऐसे स्त्रीके रूपको कभी नहीं देखते हैं ॥ ५८ ॥ इसमें संदेह नहीं कि स्त्रियोंका रूप देखनेसे चित्त मोहित होजाता है यही समझकर उत्तम पुरुष अपने चित्तको शुद्ध रखनेके लिये स्त्रियोंके रूपको कभी नहीं देखते हैं ॥ ५९ ॥ ब्रह्मचारी पुरुष अपना ब्रह्मचर्य पालन करनेके लिये लड्डू आदि अत्यन्त उत्तम पदार्थ, दूध, अधिक घी और पौष्टिक पदार्थ आदिकोंको कभी सेवन नहीं करते हैं ॥६०॥ पौष्टिक आहार करनेसे स्वप्नमें मनुष्योंका वीर्य च्युत होजाता है तथा स्त्रियोंका समागम मिलनेपर उसके व्रत (ब्रह्मचर्य) का भंग होजाता है। यही समझकर सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंको अपने ब्रह्मचर्य व्रतकी पूर्ण रक्षा करनेके लिये विष मिले हुए अन्नके समान सब प्रकारके पौष्टिक आहारोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ ६१–६२ ॥ ब्रह्मचारी पुरुषोंको अपना मुंह धोकर सदा स्नानकर, अँजन लगाकर, आभूषण पहिनकर, सुगन्धित द्रव्य लगाकर, माला, कोमल शय्या, कोमल आसन, धुले हुए वस्त्र, तथा और भी राग उत्पन्न करनेवाले भोगोपभोगोंसे अपने शरीरका संस्कार नहीं करना चाहिये ॥ ६३–६४ ॥ अपने

सुखाकरम् । नराणा सुलभ चात्र तत्कि दक्षैर्न गृह्यते ॥५५॥ मुक्तिनारी वृणोत्येव शीलाभरणमडितम् । मुनिं रागेण चागत्य का कथा स्वर्गयोषिताम् ॥५६॥ महारत्नमिवानर्घ्यं प्राप्य शील नरोत्तमाः । महायत्न प्रकुर्वन्ति तद्रक्षादिकहेतवे ॥५७॥ हावभावविलासाढ्यं वस्त्राभरणमडितम् । नारीरूपं न पश्यन्ति ब्रह्मरक्षादितत्पराः ॥ ५८ ॥ स्त्रीरूपदर्शनाच्चित्त मोमुह्यति न सशयः । इति मत्वा न पश्यन्ति तन्नरा चित्तशुद्धये ॥५९॥ मोदकादिवराहारं दुग्धात्यंतघृतादिजम् । न चात्ति सवलाहारं ब्रह्मचारी तदाप्तये ॥६०॥ सवलान्नेन स्यात्पुसां स्वप्ने शुक्रच्युतिः ध्रुवम् । नार्यादिसंगमं प्राप्य भवेद्भंगं व्रतस्य भो ॥ ६१ ॥ इति मत्वा त्यजेत्सर्वमाहार सवलं सदा । विषान्नमिव सुज्ञानी तद्व्रताक्षयहेतवे ॥ ६२ ॥ मुखप्रक्षालनैर्नित्यं स्नानाजनविभूषणैः । गधमाल्यादिकैर्भोगैः कोमलैः शयनासनैः ॥ ६३ ॥ धौतवस्त्रैस्तथान्यैश्च रागोत्पादककारणैः । स्वशरीरस्य संस्कारं ब्रह्मचारी चरेन्न च ॥ ६४ ॥ वपुः संस्कारयोगेन कामाग्निः प्रकटो भवेत् ।

शरीरका संस्कार करनेसे कामाग्नि प्रगट होजाती है यही समझकर उत्तम ब्रह्मचारियोंको अपने शरीरका संस्कार—अपने शरीरको विभूषित कभी नहीं करना चाहिये ॥ ६५ ॥ ब्रह्मचारियोंको हावभाव विलासोंसे भरी हुई, शृंगारको बढानेवाली और स्त्रियोंमें राग उत्पन्न करनेवालीं कथाएँ न कभी करनी चाहिये और न कभी सुननी चाहिये ॥ ६६ ॥ शृंगारकी कथाएं कहने सुननेसे ब्रह्मचारियोंको राग उत्पन्न होता है और राग उत्पन्न होनेसे उनका व्रत नष्ट होता है इसलिये ब्रह्मचारी लोग ऐसी कथाएँ कभी नहीं सुनते हैं ॥ ६७ ॥ इसीप्रकार जितेंद्रिय पुरुष पहिले भोगे हुए भोगोंका स्मरण भी कभी नहीं करते है क्योंकि उनका स्मरण करनेसे मनकी स्थिरता नष्ट होजाती है और मनकी स्थिरता नष्ट होनेके साथ साथ योगियोंके द्वारा निंदा करने योग्य ऐसा अनन्त राग उत्पन्न होता है ॥६८॥ पहिले भोगे हुए भोगोंको स्मरण करनेसे कामाग्नि प्रज्वलित हो उठती है इसलिये व्रती लोग पहिले भोगे हुए भोगोंको कभी स्मरण नहीं करते हैं ॥६९॥ व्रती लोग अपना चित्त शुद्ध करनेके लिये स्त्रियोंके साथ न तो कभी हँसी करते हैं न उनके साथ बात करते हैं न कथा वार्ता करते हैं न गोष्ठी (एक साथ बैठना, उठना, चलना आदि) करते हैं और न उनके साथ प्रेम करते हैं ॥ ७० ॥

ब्रह्मचारी व्रती केवल पापोंकी शंकासे ही जिस घरमें स्त्रियां रहती हैं, उसमें न तो सोते हैं, न बैठते हैं और न क्षणभर वहां रहते हैं ॥ ७१ ॥ कोई २ बुद्धिमान सांप आदि भयानक जन्तुओंसे भरे हुए घरमें ठहर सकते हैं परन्तु महा निंद्य और कलंक उत्पन्न करनेवाले स्त्रियोंके घरमें कभी नहीं ठहरते ॥ ७२ ॥ पहिले समयमें जो मुनि स्त्रियोंकी संगति पाकर नष्ट होगये हैं उनकी कथा चतुर पुरुष शास्त्रोंमें सुनते ही हैं ॥ ७३ ॥ जिसप्रकार अग्निके सम्बन्धसे वर्तनमें रक्खा

मत्वेति सद्व्रतेनैव कुर्यात्स्वागरय मंडनम् ॥ ६५ ॥ हावभावविलासाढ्य कथा शृंगाररसयुतम् । स्त्रीणां रागकरां नैव कुर्याच्छ्रूयान्न सद्यतिः ॥६६॥ शृंगारकथया रागो जायते ब्रह्मचारिणाम् । ततो नश्येद्व्रतं तस्मात्तन्न शृण्वन्ति योगिनः ॥६७॥ पूर्वानुभूतसभोगान् न स्मरन्ति जितेन्द्रिय । मनोभगमिवात्यतरागदं योगिनिन्दितम ॥६८॥ कामवन्हिर्ज्वलत्येव कामभोगानुचिन्तनात् । ज्ञात्वेति व्रतिनो भोग चिन्तयन्ति न पूर्वजम् ॥६९॥ नार्या समं न कुर्वंति हास्यवार्तादिजल्पनम् । गोष्ठीं वा स्वकचित्प्रीतिं व्रतिनश्चित्तशुद्धये ॥७०॥ स्त्रीसंयुक्तालये नैव कुर्यात्सच्छयनाशनम । स्थितिं वा क्षणमेकं हि व्रती पापादिशंकया ॥७१॥ सर्पादिसयुते गेहे केचित्तिष्ठति धीघनाः । न पुनर्योषितागारे महानिन्द्ये कलकदे ॥७२॥ नष्टा ये मुनय पूर्वं संगमासाद्य योषिताम् । केवलं श्रूयते दक्षैः कथा तेषा श्रुतार्णवे ॥ ७३ ॥

हुआ जल भी गर्म होजाता है उसीप्रकार स्त्रियोके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाली अग्निसे मनुष्योंका हृदय भी तप जाता है ॥ ७४ ॥ पहिले तो स्त्रियोंमें थोडेसे चित्तसे (ऊपरी मनसे) दृष्टिपात होता है अर्थात् मन स्त्रियोके देखनेमें लगता है, फिर उनके समागमके लिये मनमें संकल्प होता है। तदनन्तर हृदयमें समस्त शरीरको संतप्त करनेवाली कामकी जलन उत्पन्न होती है, उस जलनसे पीडित होकर यह जीव लज्जा और अभिमान सबको छोड देता है। फिर कामाग्निसे संतप्त होकर और किसी सुंदरीको एकांतमें पाकर सब व्रतोंको छोडकर पापकर्ममे डूब जाता है ॥ ७५-७७ ॥ तदनन्तर कामसेवन करनेसे उसका तप, ज्ञान, व्रत, कीर्ति, बडप्पन, अभिमान आदि सब जलकर भस्म होजाता है ॥ ७८ ॥ इसप्रकार व्रतोंको भंग करनेवाले स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए दोषोंको समझकर बुद्धिमानोंको जिसके देखने मात्रसे विष चढ़कर मनुष्य मर जाता है ऐसी दृष्टिविष सर्पिणीके समान स्त्रियोंके समागमका त्याग कर देना चाहिये ॥ ७९ ॥ जिसप्रकार हाथ पैर रहित और नाक कान रहित कुरूपा स्त्रीको छोड देते हैं उसीप्रकार व्रतियोको दूरसे ही स्त्रियोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ ८० ॥ संसारमें अग्निकी ज्वालाके समान स्त्रियां समझी जाती है और मनुष्योका मन मक्खनके समान समझा जाता है फिर भला वे दोनों एक स्थानमें मिल जानेपर विना अनर्थ किये किस प्रकार रह सकते हैं ॥ ८१ ॥ जो पुरुष इस लोक परलोक दोनों लोकोंमें दुःख देनेवाले स्त्रियोंके स्मरणको स्वप्नमें भी नही करते है संसारमें उन्हींका मन शुद्ध होसकता है और तप, ज्ञान, यम, नियम आदि सब कुछ उन्हींका फल सकता है ॥ ८२ ॥ जो पुरुष स्त्रियोके समागमको छोडकर मन, वचन, काय तीनों

तपत्येव यथा नीरमग्निना भाजनाश्रितम् । पुसां चित्त तथा रागाश्रयसजातवन्हिना ॥७४॥ दृष्टिपातो भवेत्पूर्वं स्त्रीमुखे स्वल्पचेतसा । पश्चाद्भवन्ति संकल्पाः तस्याः संगमहेतवे ॥ ७५ ॥ ततो विजृम्भते कामदाहः सर्वांगतापनः । तेन सपीडितो जीवस्त्यजेल्लज्जाभिमानताम् ॥७६॥ ततः कामाग्निना तप्त एकान्ते प्राप्य सुन्दरीम् । निमज्जति व्रत त्यक्त्वा सर्वं तत्कायकर्दमे ॥७७॥ ततो भस्मीभवत्येव तपोज्ञानव्रतादिकम् । कीर्तिपूजाभिमानं च तस्य कामादिसेवया ॥७८॥ एव दोष परिज्ञाय स्त्रीजातं व्रतभंगदम् । रामासंगं त्यजेद्धीमान् यथा दृष्टिविषामहीम् ॥७९॥ हस्तपादविहीनां च नासिकाकर्णवर्जिताम् । कुरूपा दूरतो नारीं वर्जयेन्मुनिनायकः ॥ ८० ॥ अग्निज्वालोपमा नारी नवनीतसमं मनः । तिष्ठतः कथमेकत्र तावनर्थ्यं विना नृणाम् ॥ ८१ ॥ मनःशुद्धिः भवेत्तेषां तपोज्ञानयमादिकम् । स्वप्नेष्वपि न कर्तव्य चेहामुत्रादि दुःखदम् ॥ ८२ ॥ कायवाक्चित्तयोगं च स्थिरं कृत्वा भजेत्तपः । त्यक्त्वा स्त्रीसगम यो ना तस्य स्यान्निर्मलं व्रतम् ॥ ८३ ॥

योगोंको स्थिर कर तप करता है संसारमें उसीके व्रत निर्मल रीतिसे पल सकते हैं ॥८३॥ जो पुरुष उन्मत्त करनेवाली यौवन अवस्थामें तपश्चरण रूपी तलवारसे कामरूपी शत्रुको मारकर ब्रह्मचर्यको पालन करते हैं संसारमें वे ही पुरुष धन्य कहलाते हैं और तीनों लोकोंमें वे ही पुरुष पूज्य गिनेजाते हैं ॥८४॥ जिनका अत्यन्त दुर्लभ शीलरूपी रत्न स्त्री आदि चोरोंने कहीं स्वप्नमें भी हरण नहीं किया उन्हींका जन्म इस संसारमें सफल माना जाता है ॥८५॥ जिन्होंनें यौवन अवस्थामें अनेक स्त्रियोंसे घिरे रहनेपर भी और प्राण नाश होनेपर भी अपना ब्रह्मचर्य नही छोडा है उन्हीके ब्रह्मचर्यको मैं वास्तविक ब्रह्मचर्य मानता हूं ॥८६॥ यौवनरूपी ईंधनके संयोगसे तथा स्त्रीरूपी वायुकी प्रेरणासे और पौष्टिक आहाररूपी तैलसे यह कामरूपी अग्नि प्रगट होती है उस अग्निको बुझानेके लिये धीरवीर पुरुषोंने शीलरूपी पानी ही बतलाया है, स्त्रियोंके सेवन करने आदि अन्य कार्योंसे वह अग्नि कभी नही बुझ सकती ॥८७–८८॥ जो मूर्ख स्त्रियोके सेवन करने आदि कार्योंसे कामरूपी अग्निको बुझाना चाहता है वह मूर्ख अपनी कुबुद्धिके कारण घीसे अग्निकी भारी ज्वालाको बुझाना चाहता है ॥८९॥ यही समझकर हे विद्वानो ! अपने मनमें समस्त विषयोंको त्यागकर यौवन अवस्थामें भी पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करो ॥ ९० ॥ जो मनुष्य कामसेवनमें अत्यन्त लोलुपी होता हुआ अपने मस्तकपर सफेद बालोंको देखकर भी (बूढ़ा होकर भी) कामसेवनका त्याग नहीं करता वह मूर्ख अपने भाग्यसे ठगा जाता है ॥९१॥ दुर्बुद्धिको धारण करनेवाले जो मूर्ख वृद्धावस्थामें भी विषयोंकी आसक्तता नही छोडते वे पापकर्मके उदयसे कुत्तेके समान मरकर अनेक दुर्गतियोमें परिभ्रमण करते हैं ॥ ९२ ॥ जो बूढा

धन्यास्ते भुवने पूज्या ब्रह्मचर्यं चरन्ति ये । उन्मत्तयौवने हत्वा कामारिं च तपोऽसिना ॥८४॥ जन्मेह सफलं तेषां शीलरत्नं सुदुर्लभम् । नार्यादितस्करैर्येषां स्वप्नेऽपि न हृतं क्वचित् ॥८५॥ ब्रह्मचर्यमहं मन्ये तेषां ये यौवनान्वितैः । रक्षैरामादिभिस्त्यक्तं न च प्राणात्ययेऽपि भो । ॥८६॥ यौवनेंधनसंयोगाद्रामावातप्रप्रेरणात् । सबलाहारतैलेन कामाग्निः प्रकटो भवेत् ॥८७॥ तस्यैव सुमनो धीरैः शीलनीरं प्रकीर्तितम् । नचान्यद्भुवने कामसेवनादिवमेव हि ॥ ८८ ॥ योषित्सेवादिभिर्यो धीः कामाग्निं हतुमिच्छति । स मूढश्च महाज्वालां घृतेनैव कुबुद्धितः ॥ ८९ ॥ इति मत्वा मनः कृत्वा निःशेषविषयच्युतम् । पालयध्वं बुधा ब्रह्मचर्यं सद्यौवने सदा ॥ ९० ॥ आलोक्य पलितं केशं स्वमूर्ध्नि योऽतिलोलुपः । कामसेवां त्यजेन्नैव वञ्चितो विधिना शठः ॥९१॥ वृद्धत्वे विषयासक्ता ये न मुंचति दुर्धियः । मंडलामिव ते मृत्वा यान्ति पापात्कुदुर्गतिम् ॥९२॥ यो वृद्धो मृत्युपर्यन्तं भार्यासेवां करोति सः । यमेन नीयमानोऽतिदुःखी स्यादतिचौरवत् ॥९३॥ इति मत्वा गृह-

होकर भी मृत्युपर्यंत स्त्रीका सेवन करता है वह।जिससमय यमराजके द्वारा पकडा जाता है-मरता है उससमय वह महाचोरके समान अत्यन्त दुःखी होता है ॥ ९३ ॥ यही समझकर गृहस्थोंको यौवन अवस्थामें स्त्रीको स्वीकार करना चाहिये और वृद्धावस्थामें बाल सफेद होनेपर स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अवश्य ही ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये ॥ ९४ ॥ यह ब्रह्मचर्य समस्त गुणोंकी निधि है, स्वर्ग मोक्षके अद्वितीय कारण है, संसाररूपी महासागरसे पार करनेके लिये जहाज है, दुःख और संतापको दूर करनेवाला है, पापरूपी वनको जलानेके लिये महा अग्नि है और धर्मरूपी रत्नोंका घर है इसलिये हे भव्य ! तू अपने आत्माकी सिद्धिके लिये अत्यन्त सुदृढ शक्तिसे इस ब्रह्मचर्यका पालन कर ॥ ९५ ॥ यह ब्रह्मचर्य एक उत्तम देवता है, यह संसाररूपी महासागरसे पार कर देनेवाला है, नरकके द्वारको बंद करनेके लिये अत्यन्त मजबूत अर्गल वा बेंड़ा है, पुण्य बढानेवाला है, श्री तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं, इन्द्रादिक समस्त देव इसकी पूजा करते हैं, यह अत्यन्त आदर सत्कार देनेवाला है, सबमें सार है और समस्त गुणोंकी खानि है। हे मित्र ! ऐसे इस ब्रह्मचर्यरूपी देवताकी सदा आराधना कर ॥ ९६ ॥

इसप्रकार सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमाका निरूपण कर अब कर्मोंका संवर वा निर्जरा करनेके लिये आरम्भ त्याग नामकी आठवीं प्रतिमाका निरूपण करते हैं ॥९७॥ जो पुरुष मन, वचन, कायसे छहो कायके जीवोंका नाश करनेवाले सब तरहके आरम्भोंका त्याग करता है उसके पुण्य बढानेवाली आठवीं प्रतिमा होती है ॥ ९८ ॥ जो बुद्धिमान धर्मध्यान धारण कर और अनेक शास्त्रोंका पठनकर सदा अपना समय व्यतीत करता है वह व्रत पालन करनेवालोंमें सबसे मुख्य गिना जाता है ॥९९॥ आरम्भ करनेसे अनेक जीवोंको दुःख देनेवाली हिंसा होती है, उस हिंसासे चारों गतियोंका कारण

स्थैश्च ग्राह्य सगतयौवने । पालितं ब्रह्मचर्यं तत स्वर्गमुक्तिसुखाप्तये ॥९४॥ सकलगुणनिधान स्वर्गमोक्षैकहेतु, भवजलनिधिपोतं दुःखसंताप दूरम् । दुरितवनमहाग्निं धर्मरत्नादिगेह, भज दृढतरशक्त्या ब्रह्मचर्यं स्वसिद्ध्यै ॥ ९५ ॥ ससाराम्बुधितारकां सुखकरां स्वर्मोक्षसोपानतां, श्वभ्रद्वारदृढार्गलां शुभप्रदा सेव्या जिनाधीश्वरै । पूज्यां चेन्द्रपुरस्सरैः सुरगणैः सन्मानदानादिदां, सारां सर्वगुणाकरां भज सदा त्वं ब्रह्मस-देवताम् ॥९६॥ ब्रह्मचर्यं समाख्याय प्रारम्भरहिता वराम् । अष्टमीं प्रतिमां वक्ष्ये सवरादिकहेतवे ॥९७॥ सर्वारम्भ त्यजेद्यस्तु षड्जीवादि-विरोधकम् । त्रिशुद्ध्या जायते तस्य प्रतिमा स्वष्टमी शुभा ॥९८॥ धर्मध्यानेन शास्त्रादिपठनेन सदा च यः । स्वकाल गमयेद्धीमान् सोऽग्रणी

ऐसा महापाप उत्पन्न होता है और उस पापसे अत्यन्त दुःखी हुआ वह जीव दुःखरूपी सिंह वाघोंसे भरे हुए इस संसाररूपी वनमें सदा परिभ्रमण किया करता है इसमें कोई संदेह नहीं है ॥१००–१०१॥ यही समझ कर चतुर पुरुषोंको महापापका कारण ऐसे घोर आरम्भका त्यागकर हिंसासे सर्वथा रहित और अनेक गुणोंकी खानि ऐसे धर्मका सेवन करना चाहिये ॥१०२॥ आरम्भ साग प्रतिमाको धारण करनेवाले धीरवीर व्रती पुरुषोंको अपने आरम्भका त्याग करनेके लिये मन, वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे पृथ्वी खोदना, कपडे धोना, दीपक मसाल आदिका जलाना, वायु करना, वनस्पतियोंको तोडना, काटना, छेदना, गेहूं, जौ आदि बीजोंको कूटना, पीसना, दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेन्द्रिय आदि जीवोंको बाधा पहुंचाना वा उनकी ताडना करना आदि निंद्य आरम्भोंका बहुत शीघ्र साग कर देना चाहिये ॥ १०३–१०५ ॥ आरम्भ साग प्रतिमा धारण करनेवाले व्रतियोंको प्राण नष्ट होनेपर भी स्थूल जीवोंकी हिंसा करनेवाले और निंद्य ऐसे रथ आदि सवारियोपर चढकर कभी नहीं चलना चाहिये ॥१०६॥ आरम्भ सागी चतुर पुरुषोंको दया धारण कर व्यापार आदिके महारम्भ, विवाहादिक कार्य और घर बनाना आदि आरम्भके कार्योंका सदाके लिये साग कर देना चाहिये ॥१०७॥ जो पुरुष जीवोंकी हिंसा करनेवाले घर सम्बन्धी सब तरहके आरम्भोंका मन, वचन, कायसे त्याग कर धर्मसेवन करता है उसके आरम्भ साग नामका यह व्रत निर्मल रीतिसे पालन होता है ॥१०८॥ यह घर सम्बन्धी आरम्भ चारों गतियोंमें परिभ्रमण करानेवाला है, पापकी खानि है, नरकका मुख्य कारण है, स्वर्गरूपी घरको बंद कर देनेके लिये किवाड है, रोग

व्रतिना मत ॥९९॥ आरम्भाज्जायते हिंसा प्राणिना दुःखदायिका । तया सजायते पाप चतुर्गतिनिबधनम् ॥ १०० ॥ तेन ससारकान्तारे दुःखव्याघ्रादिसकुले । भ्रमत्येव न सदेहो जीवो दुःखेन पूरित ॥१०१॥ इति मत्वा सदारम्भ घोर पापनिबधनम् । त्यक्त्वा धर्मं भजेद्दक्षो हिंसात्यक्त गुणाकरम् ॥१०२॥ पृथिवीखनन धीरारम्भ वस्त्रादिधोवनम् । दीपादिज्वालन निंद्य वातादिकरण तथा ॥१०३॥ वनस्पत्यङ्गच्छेद धानादिबीजमर्दनम् । द्वित्रीन्द्रियादिजतूना बाधन ताडनादिकम् ॥ १०४ ॥ मनोवचनकायेन कारितादिभिरंजसा । नैव कुर्याद् व्रती नित्य प्रारम्भपरिहानये ॥१०५॥ रथाद्यारोहण निंद्य स्थूलजीवविघातकम् । प्राणान्तेपि न कर्तव्य त्यक्तारम्भै. कदाचन ॥१०६॥ वाणिज्यादिमहारम्भ विवाहादिकमजसा । गेहादिकारण दक्षैस्त्याज्य च कृपया सदा ॥ १०७॥ यत्किंचिच्च गृहारम्भं जन्तुहिंसाकर त्रिधा । त्यक्त्वा धर्मं चरेद्यस्तु तस्य स्याद्विशद व्रतम् ॥१०८॥ चतुर्गतिकर पापखानिं श्वभ्रादिसाधकम् । स्वर्गगृहकपाट च रोगक्लेशभयादिदम् ॥१०९॥

क्लेश, भय आदिको देनेवाला है, अनेक जीवोंका घातक है, अपने और दूसरोंके लिये दुःखकी जड है, धर्मका शत्रु है, धीर-वीर चतुर मुनियोंके द्वारा त्याग करने योग्य है और झूठ चोरी आदि पापोंका सागर है और बडी कठिनतासे त्याग किया जाता है। जो पुरुष संतोष धारण कर इसका त्याग करता है वह अवश्य ही मोक्षस्थानको प्राप्त करता है ॥१०९–१११॥ जो मनुष्य सब तरहके आरम्भोंका त्यागकर थोडा भी तप करता है, वह इस लोक तथा परलोक दोनों लोकोंमें तीनों लोकोंमें उत्पन्न हुए समस्त महासुखोंको प्राप्त होता है ॥ ११२ ॥ जो पुरुष आरम्भोंके साथ साथ तप करता है उसका वह तप करना हाथीके स्नानके समान व्यर्थ है उस तपसे उसके कर्म कभी नष्ट नहीं होसकते ॥ ११३ ॥ जो पुरुष अपने व्रत पालन करनेके लिये अपनी सब शक्ति लगाकर पापरूप आरम्भोंका त्याग करता है वह सोलहवें स्वर्गके सुख भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ११४ ॥ जिसने समस्त पापोंकी निर्जरासे रहित ऐसे आरम्भका त्याग कर दिया है मैं उसीके जन्मको सफल मानता हूं ॥ ११५ ॥ यह घर सम्बन्धी आरम्भ अत्यन्त निंद्य है। जो इस आरम्भका त्याग करता है उसीके तप और संवर होता है ॥ ११६ ॥ यही समझकर व्रती पुरुषोंको स्वयं स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अपनी पूर्ण शक्तिको प्रगट कर सब तरहके आरम्भोंका सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये ॥ ११७ ॥ यह आरम्भ विद्वानोंके द्वारा निंद्य है, पाप और संतापकी खानि है, भयंकर नरकका मार्ग है, धर्मरूपी घरका चोर है, समस्त गुणोंके वनको जलानेके लिये अग्नि है और स्वर्ग मोक्षका एक अद्वितीय शत्रु है इसलिये हे भव्य ! तू इस सब तरहके आरम्भका सदाके लिये त्यागकर ॥ ११८ ॥ यह आरम्भ त्याग नामकी आठवी प्रतिमाका व्रत समस्त सज्जनोंके द्वारा सेवा करने योग्य है, धर्म

जीवघातकरं दुःखमूलं स्वस्य परस्य च। धर्मशत्रु परित्यक्त दक्षैर्धीरैर्मुनीश्वरैः ॥११०॥ असत्यादिसमुद्रं च गृहारम्भं सुदुस्त्यजम्। त्यजेत्संतोषतो योऽत्र लभेत्सोप्यव्ययं पदम् ॥१११॥ सर्वारंभं परित्यज्य तपः स्वल्पं करोति यः। इहाऽमुत्र लभेत्सोपि बृहत्सौख्यं त्रिलोकजम् ॥११२॥ आरंभेन समं कुर्यात्तपो दुस्तरमेव यः। गजस्नानमिवेह स्यात्तस्य कर्मक्षयो न हि ॥११३॥ पापारम्भं त्यजेद्यस्तु व्रताय सर्वशक्तितः प्राप्य षोडशमं नाकं क्रमाद्याति शिवालयम् ॥११४॥ मन्येऽहं सफलं जन्म तस्य येन विवर्जितः। पूर्वाघनिर्जरामुक्तिगृहारंभो विवर्जितः ॥११५॥ गृहारंभो जिनैर्निंद्यस्तेन सूरपि भूपिता। यो वर्जयेद्गृहारंभं तस्य स्यात्तपः संवरः ॥११६॥ इति ज्ञात्वा सदा त्याज्य. सर्वारंभो व्रतान्वितैः। स्वशक्तिं प्रकटीकृत्य स्वस्य स्वर्मुक्तिहेतवे ॥११७॥ विबुधजनविनिंद्यं पापसंतापखानिं, विषमनरकमार्गं तस्करं धर्मगेहे।

रूपी अमृतका कूआ है, पापरूपी वृक्षके लिये कुठार है, स्वर्ग देनेके लिये अत्यन्त समर्थ है, सब गुणोंका समुद्र है, मुक्तिको देनेवाला है और सुखोंका घर है। इसलिये हे भव्य ! तू इस आरम्भ साग नामके व्रतको अर्थात् आठवीं प्रतिमाको अवश्य धारण कर ॥ ११९ ॥

इसप्रकार आठवीं प्रतिमाका स्वरूप वर्णन कर अब मोक्ष प्राप्त करनेके लिये पुण्य वढानेवाली परीग्रहसाग नामकी नौवीं प्रतिमाको कहते हैं ॥१२०॥ जो पुरुष क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, दास, पशु, आसन, शयन, कुप्य, भांड इन सब पाप वढानेवाले दस प्रकारके परिग्रहोंमेंसे केवल वस्त्रोंको छोडकर तथा अपने मनकी इच्छाको रोककर वाकीके सब परिग्रहोंका साग कर देता है उसके नौवीं प्रतिमा कही जाती है ॥ १२१-१२२ ॥ जो मनुष्य संतोषरूपी अमृतको पीकर सब तरहके परिग्रहोंका त्याग कर देता है उसके इस लोकमें भी आत्मासे उत्पन्न हुआ अनुपम सुख प्राप्त होता है ॥ १२३ ॥ सोना चांदी आदि धनके होनेसे कामका उद्रेक, माया, लोभ, क्रोध, असह्य मनका द्वेष, राग, चिंता, शोक, भय, आशा आदि सब विकार उत्पन्न होते हैं, झूठ वोलना पडता है तथा उसके नाश होनेसे मनुष्योंको वडा भारी दुःख होता है, और मान भंग होता है। यही समझकर व्रत धारण करनेवालोंको अपना धर्म सिद्ध करनेके लिये काली सर्पिणीके समान इस धनको स्वप्नमें भी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ १२४-१२६ ॥ इस नौवीं प्रतिमाको धारण करनेवाले व्रतियोंको वीतरागताको सूचित करनेवाले, वस्त्रोंको छोडकर अन्य चिंता उत्पन्न करनेवाले, रोग उत्पन्न करनेवाले अधिक मूल्यके वस्त्र कभी ग्रहण

सकलगुणवनाग्नि स्वर्गमोक्षैकशत्रु, निखिलमपि त्यज त्व नित्यमारभमेव ॥११८॥ अखिलवसुजनसेव्य धर्मपीयूषकूप, दुरिततरुकुठार नाकदानैकदक्षम् । सकलगुणसमुद्र मुक्तिद सौख्यधाम, व्रतमपि भज सार सर्वथारभमुक्तम् ॥११९॥ अष्टमीं प्रतिमा पूर्वं व्याख्याय नवमीं वराम् । वक्ष्येऽह प्रतिमा मुक्त्यै त्यक्तसगा सुपुण्यदाम् ॥१२०॥ क्षेत्रवास्तुधनं धान्य सेवक च चतुष्पदम् । आसन शयन कुप्य भांड सर्वाशुभाकरम् ॥ १२१ ॥ इत्येव दशभेद य. सग वस्त्र विना त्यजेत् । हत्वा स्वमनसामिच्छा नवमी प्रतिमा लभेत् ॥ १२२ ॥ सर्वं परिग्रह योपि पीत्वा सतोषजामृतम् । जहेता प्रत्यह तस्य सुखमत्रैव स्वात्मजम् ॥१२३॥ कामोद्रेकोतिमाया च लोभक्रोधोतिऽदुसहम् । मनोद्वेपश्च रागश्च चिताशोकभयादिकः ॥१२४॥ आशा तन्नाशतो दु ख मानभगो नृणा भुवि । रूप्यहेमादिकादद्रव्यादसत्य जायते वचः ॥१२५॥ इति मत्वा न सग्राह्य कृष्णाहिमिव तद्धनम् । स्वप्नेऽपि धर्मसिद्ध्यर्थं कचित्सद्व्रतधारिभिः ॥१२६॥ वस्त्र नैव

नही करने चाहिये ॥ १२७ ॥ व्रती मनुष्योंको अपनी सेवा चाकरी करनेके लिये अपने पासमें अव्रती मनुष्य कभी नहीं रखना चाहिये ॥ १२९ ॥ विद्वान् त्यागियोंको अपने रहनेके लिये अत्यन्त ममता उत्पन्न करनेवाला और महा हिंसा करनेवाला मठ आदि कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ १२८ ॥ इसीप्रकार व्रती मनुष्योंको अनेक जीवोंकी हिंसा करनेवाले हिंसाके पात्र, पाप बढानेवाले और राग उत्पन्न करनेवाले गाय, घोडा आदि पशु भी नहीं रखने चाहिये ॥१३०॥ संसारमें जो जो परिग्रह मनुष्योंके द्वारा निंद्य गिने जाते है, और जो व्रतोंमें दोप उत्पन्न करनेवाले हैं वे सव परिग्रह विप मिले हुए अन्नके समान व्रती लोगोंको छोड देने चाहिये ॥ १३१ ॥ जो मनुष्य लोभके कारण सोना, चांदी आदि धनको छोड नही सकता वह पुरुष पुरुष नही नपुंसक है, ऐसा नपुंसक मनुष्य आगे चलकर कर्मरूपी सेनाको किसप्रकार नष्टकर सकता है ॥ १३२ ॥ जो मनुष्य परिग्रहोंका त्याग किये विना ही मोक्षकी इच्छा करता है वह मूर्ख है। भला जो लंगडा मार्गमें गिरता पडता हुआ चलता है वह मेरुपर्वतको किसप्रकार उल्लंघन कर सकता है ॥ १३३ ॥ जो भाग्यहीन मनुष्य परिग्रहके साथ साथ मोक्षकी इच्छा करते है वे आकाशके फूलोंसे वंध्यापुत्रका मुकुट बनाना चाहते हैं ॥ १३४ ॥ जो मनुष्य परिग्रह रखते है उनके ध्यान सिद्ध होनेके लिये समस्त पापोंसे रहित और गुणोंकी खानि ऐसी मनकी शुद्धि होना अत्यन्त कठिन है ॥ १३५ ॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवने परिग्रहोंका त्याग मनुष्योंका मन शुद्ध करनेके लिये बतलाया है, तथा परिग्रहोंका त्याग किये विना व्रतोंका पालन करना (नौवीं प्रतिमा धारण करना) छिलके कूटनेके समान है-अर्थात् छिलके कूटनेसे जैसे चावल नही निकलते उसीप्रकार परिग्रहोंका त्याग किये विना यह प्रतिमा हो नहीं सकती ॥ १३६ ॥ जिसप्रकार पत्थरकी

समादेय रागद बहमूल्यदम् । वीतरागं परित्यज्य दक्षैश्चितादिकारकम् ॥१२७॥ व्रतहीनो नरो नैव रक्षणीय कदाचन । स्वपार्श्वे व्रतसंयुक्तै सुश्रूषादिकहेतवे ॥१२८॥ मठादिक न च ग्राह्य स्वस्याधिष्ठानकारणम् । हिसादिकरमप्युच्चै ममत्वादिप्रद बुधैः ॥ १२९ ॥ चतुप्पद न चादेय जीवघातकर हि सा । भाजन रागसयुक्त पापद व्रततत्परै ॥१३०॥ यत्किंचिन्मुनिना निंद्य सदव्रतादिमलप्रदम् । तत्सर्वं नाश्रयेत्सग विषान्नमिव सदव्रतम् ॥ १३१ ॥ द्रव्यादिक परित्यक्तु योऽक्षमो नात्र लोभत । स क्लीव कथमग्रेति कर्मसैन्य हनिप्यति ॥ १३२ ॥ यो परित्यज्य सग न मुक्तिमिच्छति मदधीः । स पगु प्रस्खलन्मार्गे कथ मेरु च लघयेत् ॥ १३३ ॥ सगेन सह ये मोक्ष वाच्छन्ति विधिवचिता । खपुष्पैरिह ग्रथन्ति ते वध्यासुतशेखरम् ॥१३४॥ परिग्रहवतां पुसा शुद्धि स्वप्नेपि दुर्घटा । मनसो ध्यानसिद्ध्यर्थं पापहीनाः

नावपर बैठा हुआ मनुष्य अवश्य ही समुद्रमें डूबता है उसीप्रकार व्रती मनुष्य भी परिग्रहके भारसे इस संसार–सागरमें अवश्य डूबता है ॥ १३७ ॥ इसप्रकार परिग्रहके दोषोंको समझकर जो बुद्धिमान इन परिग्रहोंका त्याग कर देता है उसके पास स्वर्गरूपी लक्ष्मीके साथ साथ मुक्तिरूपी लक्ष्मी अपने आप आ जाती है ॥१३८॥ इस संसारमें जिसकी इच्छा धनादिकसे नष्ट होजाती है, संसारमें मैं उसीको पुण्यवान मानता हूं और उसीसे ये पृथिवीके सब गुण सुशोभित होते हैं ॥ १३९ ॥ जो उत्तम मनुष्य धनादिकमें संतोष धारण करता है उसके पास तीनों लोकोंमे रहनेवाली सब लक्ष्मी अपने आप आ जाती है ॥१४०॥ सन्तोष धारण करनेसे व्रती पुरुषोंको पुण्यकर्मके उदयसे इन्द्र, चक्रवर्ती, गणधर और तीर्थंकर आदिके समस्त उत्तम पद प्राप्त होते हैं इसमें कोई संदेह नहीं ॥ १४१ ॥ जो लोभी पुरुष धनसे अपना लोभ छोड देते है वे इस लोक और परलोकमें स्वर्ग मोक्षपर्यंततकके सुख प्राप्त करते हैं ॥ १४२ ॥ निर्लोभी मनुष्य जिसप्रकार इस लोकमें यश, बडप्पन आदि प्राप्त करते हैं उसीप्रकार उन्हें परलोकमें भी अनेक प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं ॥१४३॥ लोभका त्याग करनेसे मन शुद्ध होता है, मन शुद्ध होनेसे ध्यान होता है, ध्यानसे कर्म नष्ट होते है और कर्म नष्ट होनेसे मोक्ष प्राप्त होती है इसमें कोई संदेह नहीं। तथा मोक्षमें विद्वानोंको समस्त विषयोंसे रहित, संसारमें अन्य कोई जिसकी उपमा नहीं ऐसा आत्मासे उत्पन्न हुआ परमोत्तम सारभूत अनन्त सुख सदा प्राप्त होता रहता है ॥ १४४–१४५ ॥ विद्वानोंको संतोषके इस प्रकार गुण जानकर पाप उत्पन्न करनेवाला लोभ छोड देना चाहिये और परिग्रह त्याग नामका व्रत धारण करना चाहिये

गुणाकरा ॥१३५॥ सगत्यागो जिनैरुक्तो मनशुद्ध्यर्थमजसा । नृणा तस्यापरित्यागाद्व्रत स्यात्तुपखडनम् ॥१३६॥ दृपन्नावसमारूढा यथा मज्जन्ति तेऽर्णवम् । तथावसग भारेण व्रती ससारसागरे ॥१३७॥ एव दोष परिज्ञाय सग यो वर्जयेत्सुधीः। मुक्तिश्री स्वयमायाति धर्मात्स्वर्गश्रिया समम् ॥१३८॥ मन्ये स एव पुण्यात्मा यस्या सा निधनं गताः । द्रव्यादिष्वत्र तेनैव भूपिता: पृथिवीगुणा. ॥१३९॥ द्रव्यादिके समादत्ते सतोप यो नरोत्तम । त सुसपत्समायाति सर्वलोकत्रये स्थिता ॥१४०॥ शक्रत्व चक्रवर्तित्व गणेशत्वं जिनेशिता । भवत्येव न सदेह सतोषाद व्रतिना शुभात् ॥१४१॥ ये लोभ वर्जयत्येव धनादत्यन्त लोभिन. । स्युरत्रामुत्र स्वर्गादिमुक्तिपर्यन्तसौख्यके ॥ १४२ ॥ जन्यतेऽत्र यथा लोके ख्यातिपूजादिक नरै । निस्पृहत्वेन तद्वच्च परत्र सुखमजसा ॥ १४३ ॥ निस्पृहत्वेन स्याच्चित्तशुद्धिर्ध्यान पुनस्तया । ध्यानात्कर्मक्षयस्तस्मान्मुक्तिरेव न सशय ॥ १४४ ॥ तत्रानन्त सुख सार नित्य त्यक्तोपम बुधै· । प्राप्यते विषयातीत

॥ १४६ ॥ यह परिग्रह साग नामका व्रत समस्त गुणोंका निधि है, धर्मात्मा लोगोंके द्वारा धारण किया जाता है, समस्त सुखोंका सागर है, मोक्ष प्राप्त करानेमें चतुर है, समस्त संसारमें पूज्य है और दुःख चिंता आदिसे दूर है, इसलिये हे भव्य! निर्मल गुणोंको प्राप्त करनेके लिये तू इस परिग्रह त्याग व्रतको (नौवी प्रतिमाको) अवश्य धारण कर ॥ १४७ ॥ यह परिग्रह त्याग व्रत अनन्त गुणोंको देनेवाला है, अत्यन्त निर्मल है, स्वर्ग मोक्षमें पहुंचा देनेवाला है, धर्मध्यानका कारण है, पुण्यरूपी वृक्षोके लिये बाग है, देवोंके द्वारा पूज्य है, चिंता आदि दोपोंसे रहित है, सुखका घर है, विद्वानोके द्वारा सेवा करने योग्य है, अत्यन्त पवित्र है और हिंसादि पापोंसे सर्वथा रहित है। हे भव्य! ऐसे इस परिग्रह साग व्रतको तू सदा धारण कर ॥ १४८ ॥ जो पुरुप मन, वचन, कायकी शुद्धता पूर्वक दर्शन प्रतिमासे लेकर परिग्रह त्याग नामकी नौवी प्रतिमा तक नौ प्रतिमाओंका पालन करते हैं वे इस संसारमे श्री जिनेन्द्रदेवके द्वारा मध्यम श्रावक कहे जाते हैं ॥ १४९ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग प्रतिमाओंका निरूपण करनेवाला यह तेईसवा परिच्छेद समाप्त हुआ।



अथ चौवीसवां परिच्छेद ।

जो श्री वर्द्धमानस्वामी जगतपूज्य हैं, भव्यरूपी कमलोंके लिये सूर्य है, और गुणोंके समुद्र हैं ऐसे श्री महावीर-स्वामीको मै सिद्धपद प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ ऊपर लिखे अनुसार परिग्रह त्याग प्रतिमाका निरूपण

स्वात्मज परम वरम् ॥ १४५ ॥ इत्येव च परिज्ञाय गुण सन्तोषज बुधा. । हत्वा लोभ दुराय त कुरुव्व भो सदा वलात् ॥ १४६ ॥ अखिलगुणनिधान धर्मसत्त्वैर्निषेव्य, सकलसुखसमुद्र मुक्तिसदानदक्षम् । निखिलभुवनपूज्य दुःखचिन्तादिदूर, भज विमलगुणाप्त्यै त्यक्तसंगं व्रत त्वम् ॥ १४७ ॥ अतातीतगुणप्रद सुविमल स्वर्मुक्तिसम्पादक, धर्म्यध्यान निवधन शुभनगाराम सुरैः पूजितम् । चिंतात्यक्तसुखास्पद बुधजनैः सेव्य पवित्र सदा, भो हिंसादिविवर्जित भज सदा त्व त्यक्तसग व्रतम् ॥१४८॥ दृष्ट्यादि नव पर्यन्तं प्रतिमां योऽत्र पालयेत् । त्रिशुद्ध्या स जिनैरुक्तो मध्यमः श्रावको भुवि ॥ १४९ ॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे ब्रह्मचर्यादिप्रतिमानवप्ररूपको नाम त्रयोविंशतितमः परिच्छेदः।

कर अब समस्त पापोंको शांत करनेके लिये संक्षेपमें पापरूप अनुमतिका त्याग करने रूप अनुमति त्याग नामकी दशवीं प्रतिमाको कहते हैं ॥ २ ॥ जो दयालु मनुष्य पापोंसे डरकर किसी आरम्भमें, घरके काममें, खेती करनेमें, व्यापारमें विवाहादि कार्योंमें तथा और भी ऐसे ही कार्योंमें अपनी सम्मति नहीं देता है उसके पुण्य बढानेवाली दशवीं उत्तम प्रतिमा होती है ॥ ३–४ ॥ संसारमें मनके संकल्प करने मात्रसे मनुष्योंको बिना ही प्रयोजनके नरक तिर्यंच गतिका कारण ऐसा घोर पाप उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥ शरीरसे और वचनसे तो कभी कभी पाप होता है परन्तु संसारमें मनकी चञ्चलतासे मनुष्योंको निरंतर घोर पाप लगता रहता है ॥ ६ ॥ बिना वश किया हुआ यह मन महापापरूप कार्योंमें सम्मति देकर रात्रि दिन पाप करता रहता है ॥ ७ ॥ जो मूर्ख घरके आरम्भ करता है और जो उसमें सम्मति देता है उन दोनोंको एकसा पाप लगता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ८ ॥ स्वयंभूरमणसमुद्रमें जो तंदुल मत्स्य है वह महामत्स्यके पापोंका संकल्प करनेसे ही नरकमें जाकर पडता है ॥ ९ ॥ यही समझकर व्रती बुद्धिमानोंको पापोंसे डरकर हिंसा आदि पापरूप कार्योंमें तथा घरमें अपनी सम्मति कभी नहीं देनी चाहिये ॥ १० ॥ व्रती श्रावकको अपने वा दूसरेके घर नीरस वा सरस अनेक प्रकारके आहारमें जान बूझकर कभी सम्मति नहीं देनी चाहिये ॥ ११ ॥ चतुर व्रतियोंको राग छोडकर अपने घर वा

अथ चतुर्विंशतितमः सर्गः ।

महावीरं जगत्पूज्यं कर्मशत्रुविनाशकम् । भव्यपद्माकरे सूर्यं वन्दे सिद्ध्यै गुणार्णवम् ॥१॥ संगत्यागं समाख्याय पापानुमतिवर्जनम् । व्रतं वक्ष्ये समासेन सर्वसावद्यशान्तये ॥ २ ॥ आरंभे गृहकार्यादौ कृष्यादिकरणे तथा । वाणिज्यादौ विवाहादिकार्येऽन्यस्मिन् तथाविधे ॥३॥ यो धत्तेऽनुमतिं नैव पापभीतो दयापरः । प्रतिमां दशमीं सोऽपि लभेत्पुण्यकरां वराम् ॥ ४ ॥ मनःसंकल्पतो लोके पापं संजायते नृणाम् । विना प्रयोजनं घोरं श्वभ्रतिर्यग्निबन्धनम् ॥ ५ ॥ उत्पद्यते कदाचित्पापं कायेन वचसा तथा । चित्तचञ्चलतो लोके पुंसां घोरं निरन्तरम् ॥६॥ अहोरात्रं मनः पापं तनोति निग्रहं विना । अनुमत्यादियोगेन महापापकरकर्मणा ॥७॥ यः करोति गृहारम्भं यो धत्तेऽनुमतिं शठः । द्वयोरपि समं पापं प्रोक्तं श्रीजिनस्वामिना ॥ ८ ॥ शालिसिक्थाख्यमत्स्योऽगात्स्वयंभूरमणार्णवे । महामत्स्यस्य पापेन श्वभ्रं स्वस्य विकल्पतः ॥ ९ ॥ इति मत्वा सुधीर्नित्यं न धत्तेऽनुमतिं क्वचित् । हिंसारम्भादिसत्कार्ये पापभीतो व्रतैर्युतः ॥१०॥ नीरसे सरसे वापि स्वान्यस्य गृहसंभवे । आहारे विविधे ज्ञानात्कुर्यान्नानुमतिं व्रती ॥११॥ दत्तोऽसाहारमादेयं कृतादिकविवर्जितम् । हत्वा रागं यथालब्धं स्वगृहे वा परगृहे ॥ १२ ॥

दूसरेके घर जहां कहीं कृत कारित अनुमोदना आदि दोषोंसे रहित आहार मिल जाय वही कर लेना चाहिये ॥ १२ ॥ जो व्रती घर सम्बन्धी समस्त कार्योंमें अपनी सम्मति देनेका त्याग कर देता है उसके किसी समयमें भी अशुभ कर्मोंका वन्ध नही होता है ॥ १३ ॥ किसी प्रकारका संकल्प न करनेरूप तलवारके बलसे जिसने अपना चित्त जीत लिया है, उसके मोक्षके कारणकी प्राप्ति होना आदि सब मनोरथ सिद्ध होजाते है ॥ १४ ॥ जो व्रती ध्यान रूपी तलवारसे अपने चंचल मनको वशकर तथा अत्यन्त निस्पृह होकर समस्त आरम्भोंका त्याग कर रहते हैं, किसीमें अपनी सम्मति नही देते वे मनुष्य तीनों लोकोंमें धन्य गिनेजाते हैं ॥ १५ ॥ जिसने अपना मन जीत लिया उसने समस्त इंद्रियोंको जीत लिया और कर्मोंके समूहको जीत लिया तथा सुखकी खानि ऐसा महापुण्य उसने प्राप्त कर लिया ॥ १६ ॥ इस दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाले व्रतियोंको पापरूप सम्मतिके त्याग करदेनेसे परलोकमें चक्रवर्ती, इन्द्र और तीर्थंकर पदकी प्राप्ति होती है ॥ १७ ॥

जिसने अपने मनके संकल्प विकल्पोंके समूहको नाशकर अपना चित्त वशमें कर लिया है मै इस संसारमें उसीका जन्म सफल मानता हूं ॥ १८ ॥ वहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि जिन्होंने अपना पूर्ण उद्योत कर मन, वचन, कायसे सम्मति देनेका त्याग कर दिया है वही मनुष्य परलोकमें पूज्य और महापुरुष होता है ॥१९॥ हे भव्य ! यह अनुमतित्याग व्रत शुभ गतियोंमें जानेका मार्ग है, मोक्ष महलकी सीढियोंकी पंक्ति है, पापरूपी वनको जला देनेके लिये अग्नि है, धर्मरूपी रत्नोंका पिटारा है, समस्त पापोंसे रहित है और कर्मोंका शत्रु है इसलिये हे भव्य ! तू अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिये इस अनुमति त्याग नामके व्रतको अवश्य धारण कर ॥ २० ॥

सर्वेषु गृहकार्येषु यः संकल्पं निवारयेत् । न तस्याशुभकर्मणां बधः स्याद्धि क्वचित्क्षणे ॥१३॥ चित्त विनिर्जित येन निःसंकल्पासिना भवेत् । तस्य समीहित सिद्ध सर्वं मुक्त्यादि कारणम् ॥१४॥ ये हत्वा मानसं ध्यानखड्गेनाढ्याः सुनिस्पृहाः । तिष्ठंति विगतारम्भा धन्यास्ते भुवनत्रये ॥ १५ ॥ जितं स्वमानसं येन तेन चेन्द्रियसंजयम् । कर्मजालं महापुण्यं ननु प्राप्तं सुखाकरम् ॥१६॥ पापानुमतित्यागाच्च चक्रेशत्वं सुरेशताम् । अमुत्र तीर्थनाथत्वं प्राप्यते च व्रतान्वितैः ॥१७॥ जन्मेह सफलं तस्य मन्येऽहं येन संस्कृतम् । स्वचित्तं स्ववशे हत्वा सकल्पादिकदम्बकम् ॥ १८ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन यैस्त्यक्तानुमतिस्त्रिधा । पूज्यतां महतां लोके परत्र विहितोधर्मैः ॥ १९ ॥ सुगतिगमनमार्गं मुक्तिसोपानपंक्तिं, दुरितगहनवन्हिं धर्मरत्नादिभांडम् । रहित सकलपापं संव्रतं कर्मशत्रुं, अनुमतिरहितं स्वस्यात्मशुद्ध्यै भज त्वम् ॥२०॥

इसप्रकार दशवीं प्रतिमाका वर्णन कर अब धर्मके लिये उद्दिष्टाहार त्याग नामकी ग्यारहवीं प्रतिमाका निरूपण करते हैं ॥ २१ ॥ जो गृहस्थ संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त होकर तथा घर और कुटुंबका त्याग कर मुनिराजके समीप जाता है, तथा वहां जाकर इंद्र चक्रवर्ती आदि महापुरुषोंके द्वारा पूज्य ऐसे मुनिराजके चरणकमलोंका आराधन कर और खंड वस्त्र धारण कर क्षुल्लककी दीक्षा धारण करता है, सदा मुनिराजके समीप रहता है और भिक्षा भोजन करता है उसके उद्दिष्ट त्याग नामकी ग्यारहवीं प्रतिमा होती है ॥ २२–२४ ॥ अपने व्रतोंको पालन करनेवाले क्षुल्लक श्रावकको दो तीन अथवा चार महीने बाद अपने मस्तकको मुडवा डालना चाहिये वा कैंचीसे कतरवा डालना चाहिये अथवा लोंच कर देना चाहिये ॥ २५ ॥ व्रत पालन करनेमें तत्पर रहनेवाले क्षुल्लक श्रावकको लीख जूं आदि पडनेके डरसे बाल नहीं रखना चाहिये और राग पाप वा हिंसा होनेके डरसे स्नान नहीं करना चाहिये ॥ २६ ॥ केशोंका लोंच करना वैराग्यको बढानेवाला है, धीरवीर पुरुषोंको लोभका त्याग करनेवाला है और कातर जीवोंको अपनी शक्ति बढानेवाला है। इसलिये सदा लोच करना ही अच्छा है ॥ २७ ॥ ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेवाले व्रती क्षुल्लकोंको राग बढानेवाले कोमल बिछोनेपर कभी नहीं सोना चाहिये अथवा कामोद्वेग होनेके डरसे वा पाप उत्पन्न होनेके डरसे ऐसे बिछोनेपर कभी नहीं सोना चाहिये ॥ २८ ॥ जो विद्वान् व्रती कोमल बिछोनेपर सोता है उसका ब्रह्मचर्य कामदेवके डरसे दूर भाग जाता है ॥२९॥ व्रती क्षुल्लकोंको गद्दोंपर सोजाना अच्छा परंतु राग बढानेवाले, पाप तथा कामको उत्पन्न करनेवाले ऐसे रुई आदिके

गृहस्थः प्राप्य वैराग्य देहभोगभवादिषु । व्याख्याय प्रतिमा पूर्वं दशमीं धर्महेतवे ॥ २१ ॥ गृहस्थः प्राप्य वैराग्य देहभोगभवादिषु । इदानीं सम्प्रवक्ष्येऽहमुद्दिष्टाहारवर्जनम् । व्याख्याय प्रतिमा पूर्वं दशमीं धर्महेतवे ॥ २१ ॥ त्यक्त्वा गृहं कुटुंब च प्रागायान्मुनिसन्निधिम् ॥२२॥ आराध्यमुनिसत्पादौ शक्रभूपेन्द्रपूजितौ । गृहीत्वा क्षुल्लकीं दीक्षां खडवस्त्रसमन्विताम् ॥२३॥ गुरुपार्श्वे स्थितो नित्यं सोऽत्ति भिक्षां परगृहात् । उद्दिष्टवर्जिताख्यैकादशमीं प्रतिमां लभेत् ॥२४॥ मस्तके मुडन लोचः कर्तन वा समाचरेत् । द्वित्रिभिर्वा चतुर्मासैर्व्रती सद्व्रतसंयुत ॥२५॥ न केशधारणं कुर्यात्स्नानं च व्रततत्परः । यूकादिभयतो रागपापहिंसादिकारणम् ॥ २६ ॥ लोचः प्रकल्पते नित्यं वैराग्यादिविवर्द्धकः । धीराणां त्यक्तलोभोऽपि कातराणां स्ववीर्यदः ॥ २७ ॥ संस्तरे कोमले नैव रागयुक्ते भजेत्क्वचित् । कामादिभयतोऽघाद्वा शयनं ब्रह्मरक्षकः ॥ २८ ॥ विधत्ते शयनं योऽत्र कोमले संस्तरे बुधः । मन्मथादिभयात्तस्य ब्रह्मचर्यं पलायते ॥ २९ ॥ वरं सद्व्रतिना शस्त्रादिकेषु शयनं न च । तूलिकादिषु सरागपापकामादिहेतुषु ॥ ३० ॥ कदोपवेशनं नैव कर्तव्यं

विछोनेपर सोना अच्छा नहीं ॥ ३० ॥ राग द्वेष और सुखका त्याग कर देनेवाले ब्रह्मचारी व्रतियोंको गद्दा आदि कोमल आसनोंपर कभी नही बैठना चाहिये ॥ ३१ ॥ अपने आत्माको सुखमें तल्लीन कर देनेवाले जो व्रती गद्दा आदि कोमल आसनोंपर बैठते है उनके ब्रह्मचर्यव्रत किसप्रकार पल सकता है ? अर्थात् कभी नही ॥ ३२ ॥ ब्रह्मचारी क्षुल्लकोंको शौचके लिये पापरहित, वीतरागरूप, और सब तरहके भयोसे रहित ऐसा कमण्डलु ग्रहण करना चाहिये ॥ ३३ ॥ जो अच्छी (अधिक मूल्यकी) धातुओसे बना हो, जिसका मुंह छोटा हो, और जिसका मध्यदेश दिखाई न पडता हो ऐसा भय उत्पन्न करनेवाला कमण्डलु वा वर्तन चतुर व्रतियोंको कभी नही लेना चाहिये ॥ ३४ ॥ इसलिये जिसका मुंह वडा हो, जो योग्य हो, थोडे मूल्यका हो, प्रासुक हो, जिसके रखनेमें किसी तरहका भय न हो और जिससे वा जिसके निमित्त किसी तरहकी हिंसा न होती हो ऐसा कमण्डलु ग्रहण करना चाहिये ॥ ३५ ॥ व्रती क्षुल्लकोंको कोपीन और खण्ड वस्त्र रखना चाहिये और वह ऐसा रखना चाहिये जिसके रखनेमें न तो राग हो न किसी तरहका भय हो, जो थोडे मूल्यका हो और दूसरेके द्वारा दिया गया हो ॥ ३६ ॥ चतुर क्षुल्लकोंको प्राण नाश होनेपर भी अधिक मूल्यका और वडा वस्त्र कभी ग्रहण नही करना चाहिये क्योंकि ऐसा वस्त्र पाप राग चिंता शोक और भय आदि अनेक विकार व पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥ ३७ ॥ जो कुमार्गगामी पुरुष लोभके कारण सुन्दर वस्त्रोंको ग्रहण करता है उनके उस वस्त्रके चले जाने आदिका सदा भय लगा रहनेके कारण धर्मध्यान आदि सब नष्ट होजाता है ॥ ३८ ॥ व्रती क्षुल्लकोंको पापके डरसे अप्रासुक जलसे कभी उन वस्त्रोंको नही धोना चाहिये क्योकि उन वस्त्रोंके धोनेमें अनेक जीवोंकी हिंसा होगी ॥ ३९ ॥

गद्यकादिषु । ब्रह्मव्रतधरैस्तस्य रागद्वेषसुखादिकैः ॥ ३१ ॥ आसन ये प्रकुर्वन्ति गद्यकादिषु कोमले । कुतो ब्रह्मव्रत तेषां स्वात्मसुखरतात्मनाम् ॥ ३२ ॥ शौचार्थं सगृहीतव्यो निष्पाप सत्कमडलु । वीतरागपरित्यक्तभयः सद्ब्रह्मचारिभिः ॥ ३३ ॥ सद्धात्वादिसमुत्पन्नः सकीर्णमुख एव स. । अदृष्टमध्ये देशे न ग्राह्यो दक्षैर्भयप्रद ॥३४॥ ततो बृहन्मुखो योग्य स्वल्पमूल्यो कमडलुः । प्रासुको भयसत्यक्तो ग्राह्यो हिसादिवर्जित ॥ ३५ ॥ कोपीन खडवस्त्र च गृहीतव्य व्रतान्वितै । अल्पमूल्यं परैर्दत्तं त्यक्तरागभयादिकम् ॥ ३६ ॥ बृहद्वस्त्रं नचादेय दक्षैरत्यलमूल्यजम् । प्राणांते पापसंरागचिंताशोकभयादिदम् ॥३७॥ गृह्णन्ति सुन्दर वस्त्रं ये लोभेन कुमार्गगा । नश्येद्धर्म्यादिसद्ध्यान तेषा नाशादिसभयात् ॥३८॥ क्षालितव्य न तद्वस्त्र पापभीतैर्व्रतात्मजैः । अप्रासुकजलेनैव जन्तुसघातघातनात् ॥३९॥ जीवयुक्त-

जो व्रती अप्रासुक जलसे ही अपने वस्त्रोंको धो डालते हैं उनके अनेक जीवोंकी हिंसा होनेसे अहिंसाव्रत कभी नहीं पल सकता ॥ ४० ॥ व्रती क्षुल्लकोंको भिक्षाके लिये एक छोटासा पात्र रखना चाहिये और वह ऐसा होना चाहिये जिसके रखनेमें चोरी आदिका डर न हो, जो वीतराग रूप हो और जिसके रखनेमें अपनी मान मर्यादा व रक्षा करनेकी चिंता आदि न करनी पडे ॥ ४१ ॥ व्रती क्षुल्लकोंको अधिक मूल्यकी थाली आदि कभी नहीं रखना चाहिये क्योंकि ऐसे पात्रोंके रखनेमें राग, द्वेष, चिंता, भय, शोक आदि सब विकार उत्पन्न होजाते हैं ॥ ४२ ॥ बहुमूल्यके पात्र रखनेमें धर्मध्यान नहीं होसकता और न व्रत ही पल सकते हैं तथा उसके चोरी चले जानेसे मनुष्यके आर्तध्यान उत्पन्न होता है ॥ ४३ ॥ यही समझकर धर्मध्यानादिकोंमें तत्पर रहनेवाले क्षुल्लकोंको बहुमूल्यके और बडे पात्र कभी गृहण नहीं करने चाहिये। उनको वीतरागताको सूचित करनेवाला और जो शंका चिंता आदि न करनेवाला हो ऐसा छोटा पात्र ही रखना चाहिये ॥४४॥ उस पात्रको लेकर सात मुहूर्त दिन चढ जानेपर योग्य समयमें क्षुल्लक व्रतीको योग्य भिक्षाके लिये चर्चा करनी चाहिये ॥ ४५ ॥ क्षुल्लकोंको भिक्षाके लिये न तो शीघ्र गमन करना चाहिये न धीरे धीरे चलना चाहिये न देर करके जाना चाहिये और न मार्गमें खडे होकर कुछ बातचीत करनी चाहिये ॥ ४६ ॥ सब जीवोंपर दया करनेवाले क्षुल्लकोंको अपने दोनों नेत्रोंसे चार हाथ भूमि देखकर यत्नाचार पूर्वक पैर रखना चाहिये ॥ ४७ ॥ भिक्षाके लिये चर्या करनेवाले क्षुल्लकको संसार शरीर और भोगोंमें वैराग्य धारण करते हुए निर्दोष श्रेष्ठ घरमें प्रवेश करना चाहिये ॥ ४८ ॥ यह घर गरीबका है वा धनीका है ऐसा विचार संयमीको कभी नहीं करना चाहिये। तथा

जलेनैव ये वस्त्रं क्षालयन्ति भो। अहिंसाख्य व्रत तेषा नश्येज्जन्तुविघातनात् ॥ ४० ॥ भिक्षायै भाजन स्वल्प ग्राह्य चौरभयातिगम्। विराग त्यक्तसन्मानरक्षाचिन्तादिकं नरैः ॥४१॥ स्थाल्यादिक महामूल्य नादेय व्रतधारिभिः। रागद्वेष महार्चिताभयशोकादिसद्गृहम् ॥४२॥ द्रव्याढ्यभाजनान्नस्याद्धर्मध्यानं व्रतादिकम्। चौरादिगृहणात्पुसा चार्तध्यान प्रजायते ॥ ४३ ॥ इति मत्वा न तद्ग्राह्य धर्मध्यानादितत्परैः। वीतराग परित्यज्य शकाचिंताकर क्वचित् ॥४४॥ योग्यकाले तदादान मुहूर्तसप्तसगते। दिने परिग्रहे योग्ये भिक्षार्थं सभ्रमेत् व्रती ॥४५॥ न शीघ्र गमन चैव कुर्यान्मद न सद्यतिः। विलवित न सन्मार्गे स्थित्वा नैव प्रजल्पनम् ॥४६॥ निरीक्ष्य यत्नतो भूमि चतुर्हस्तप्रमाणकम्। नयनाभ्या न्यसेत्पाद सर्वसत्त्वदयापर ॥ ४७ ॥ वैराग्य भावयन् गच्छेत् देहभोगभवादिषु। सद्गृहं त्यक्तसंदोष भिक्षान्वेषणतत्पर. ॥४८॥

उसे घरकी पंक्तियोंमें अनुक्रमसे ही प्रवेश करना चाहिये बीचमें किसी घरको छोडना नहीं चाहिये ॥ ४९ ॥ संयमीको घरके दरवाजे तक जाना चाहिये, यदि भिक्षा मिल जाय तो लेलेना चाहिये यदि न मिले दूसरे घरमें जाना चाहिये। भिक्षाके मिलने न मिलने दोनोंमें संतोष धारण करना चाहिये ॥ ५० ॥ व्रती क्षुल्लकोंको अग्निपर विना पकाया हुआ आहार, बीज, कंद, फल, पत्र, पुष्प, आदि निंद्य आहार कभी नहीं लेना चाहिये ॥५१॥ जो आहार स्वादिष्ट हो, गरम हो, जिसमें जीव हों और जो एक ही पात्रमें दो जगह रक्खा हो ऐसा आहार ब्रह्मचारी क्षुल्लकोंको कभी नहीं लेना चाहिये ॥५२॥ जो आहार कामाग्निको बढानेवाला है और जो तीव्र है, ऐसे लड्डू आदि निंद्य आहार विषमिले अन्नके समान क्षुल्लकोंको सर्वथा नहीं लेना चाहिये ॥ ५३ ॥ जिससे जिह्वामें लंपटता आजाय और जो कामको उत्तेजित करनेवाला हो ऐसा दूध आदिसे मिला हुआ अन्न व्रती क्षुल्लकोंको त्याग कर देना चाहिये ॥ ५४ ॥

तदनन्तर क्षुधा रोगसे असमर्थ हुए उस क्षुल्लकको किसी एक घरमें बैठकर वह भिक्षामें प्राप्त हुआ भोजन खा लेना चाहिये। उस समय उसे अपनी जिह्वा इंद्रिय वशमें कर लेनी चाहिये और रूखा चिकना, ठंडा गर्म, नमकीन, विना नमकका स्वाद रहित जैसा कुछ आगया है वैसा सब भोजन उसे कर लेना चाहिये ॥ ५५–५६ ॥ पापसे डरनेवाले व्रती क्षुल्लकोको अनेक पापोंका कारण और अनेक जंतुओंसे भरा हुआ ऐसा रात्रिका रक्खा हुआ दही अथवा छाछ कभी नहीं लेना चाहिये ॥ ५७ ॥ मांस, रुधिर, चर्म, हड्डी, मद्य, जीवोंका वध और त्याग किया हुआ पदार्थ ये सात प्रकारके

श्रीहीनोऽयं धनाढ्योऽयं चेति चिंता परित्यजेत्। विशेदनुक्रमेणैव गृहपंक्तिं स संयमी ॥४९॥ गृहद्वारं स समासाद्य प्राप्य भिक्षां न वा ततः। लाभालाभेन सन्तुष्टो विशेदन्यगृहं पुनः ॥५०॥ अनाग्निपक्वमाहारं बीजकंदफलादिकम्। पत्रं पुष्पादिकं नैव निंद्यं गृह्णाति सद्व्रती ॥५१॥ आहारं न समादेयं यत्पात्रैकद्विसंस्थितम्। सुस्वादु ज्वलितं जन्तुयुक्तं सद्ब्रह्मचारिणा ॥५२॥ न ग्राह्यं व्रतिना निंद्यं प्राहारं मोदकादिकम्। कामाग्निदीपकं तीव्रं विषान्नमिव सर्वथा ॥ ५३ ॥ लंपटत्वं भजेज्जिह्वा येन कामोत्कटो भवेत्। तत्त्याज्यं यतिना चान्नं दुग्धादिरससंयुतम् ॥ ५४ ॥ पश्चादेकगृहे स्थित्वा प्राप्तभिक्षां तथाविधाम्। क्षुधारोगासमर्थः स्वजिह्वानिग्रहतत्परः ॥ ५५ ॥ रूक्षं स्निग्धं तथा शीतमुष्णं वा लवणान्वितम्। त्यक्तसल्लवणं वापि त्यक्तस्वादु यथागतम् ॥ ५६ ॥ रात्रौ स्थितं नचादेयं तक्रं जीवसमाकुलम्। सयतैर्दधिपापाद्भीतैः सावद्यकारणम् ॥ ५७ ॥ आमिषं रुधिरं चर्म वास्थि मद्यं वधोगिनः। प्रत्याख्यानं स्वभुक्तेऽन्तरायं सप्तधा भवेत् ॥ ५८ ॥ यः पश्यति पर

भोजनके अन्तराय गिनेजाते हैं, क्षुल्लकोंको इनको टालकर भोजन करना चाहिये ॥ ५८ ॥ जो व्रती भोजन करना हुआ मांसको देख लेता है उसके शक्तिको बढानेवाला भोजनका अन्तराय गिना जाता है ॥ ५९ ॥ जो व्रती भोजन करता हुआ चार अँगुल प्रमाण रुधिरकी धाराको देख लेता है उसके भी भोजनका अन्तराय समझा जाता है ॥ ६० ॥ यदि भोजन करता हुआ व्रती गीले चमडेको देखले अथवा सूके चमडेसे उसका स्पर्श होजाय वा किसी कारणसे भोजनमें हड्डी आजाय तो वह भी भोजनका अन्तराय माना जाता है ॥ ६१ ॥ व्रतियोंको मद्यकी धारा देखकर आहार छोड देना चाहिये और घी अथवा छाछ आदिमें दो इंद्रिय आदि जीवोंका घात होगया हो तो भी आहार छोड देना चाहिये ॥ ६२ ॥ त्याग किये हुए पदार्थोंका भक्षण कर लेनेसे व्रतोंका भंग होता है इसलिये व्रतीमनुष्योंके लिये यह भी भोजनका अंतराय माना जाता है ॥ ६३ ॥ हिंसाका त्याग करनेवाले चतुर पुरुषोंको विना अंतरायके थोडासा भी अन्न नहीं छोडना चाहिये, सब खा लेना चाहिये क्योंकि अन्नके छोडनेसे हिंसाकी प्रवृत्ति होती है ॥ ६४ ॥ यदि भोजनमें कोई अंतराय आजाय तो चाहे वह भोजन खाया हो, वा न खाया हो, उद्दिष्ट त्यागीको वह अवश्य छोड देना चाहिये ॥ ६५ ॥ तदनंतर व्रती श्रावकको (उद्दिष्ट त्यागीको) प्रासुक जलसे आचमन (कुल्ला) कर लेना चाहिये और फिर अपना पात्र धोकर शीघ्र ही अपने गुरुके समीप चले जाना चाहिये ॥६६॥ गुरुको नमस्कार कर अपने हृदयको धर्म ध्यानमें तल्लीन करनेवाले व्रतीको उनके मुखसे ही चारो प्रकारका प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये ॥ ६७॥ इसप्रकार पापरहित आहारकी प्रवृ-

---

कुर्वन्भोजन स व्रती स्वयम् । अन्तराय लभेत्सोऽपि भोजनस्य स्ववीर्यदम् ॥ ५९ ॥ पश्येद्यो रुधिरस्यैव चतुरंगुलसम्मितम् । धारां भुञ्जा-न्व्रतस्तस्य प्रान्तराय' प्रजायते ॥६०॥ पश्येद्यार्द्रचर्माशु शुष्क यो वा स्पृशेत्कचित् । भोजनेप्यागत चास्थि सोऽतरायं लभेद्यमी ॥६१॥ मद्यधारां समालोक्य त्यजेदाहारमञ्जसा । वधं च द्वीन्द्रियादीना घृततक्रादिके व्रती ॥६२॥ अन्तरायो भवेन्नृणा त्यक्तवस्त्वादिभक्षणत् । व्रतादिभगतश्चापि पापसगादिहेतुत' ॥६३॥ विनान्तराय न स्तोक प्रान्नं त्याज्य कचिन्न वै । हिंसादिविरतैर्दक्षैर्यतो हिंसा प्रवर्तते ॥६४॥ यद्यागतोऽत्र वै कोपि प्रान्तराय' स्वभोजने । तदा स्वान्नं प्रभुक्त वा न भुक्त वा त्यजेद्यति' ॥ ६५ ॥ तत' प्रासुकनीरेण विधायाचमनं व्रती । प्रक्षाल्य भाजन प्रायात् सद्गुरोः निकट द्रुतम् ॥ ६६ ॥ गुरुं प्रणम्य संग्राह्य प्रत्याख्यान चतुर्विधम् । तन्मुखादव्रतिना धर्मध्यान सयुक्तचेतसा ॥ ६७ ॥ एव सदा प्रकर्तव्यं भिक्षाहारं व्रतोचितम् । यावज्जीव प्रयत्नेन निष्पापाहारभोगिना ॥ ६८ ॥ स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य

करनेवाले व्रती त्यागीको अपने जीवनपर्यंत प्रयत्नपूर्वक सदा इसी प्रकार आहार ग्रहण करना चाहिये ॥६८॥ व्रती त्यागियोंको अपनी शक्तिको प्रगट कर अनशन आदि वारह प्रकारका तप करना चाहिये तथा वेला तेला आदि भी करना चाहिये। संसारमें यह तप ही स्वर्गरूपी महलकी सीढ़ी है, मुक्तिको वश करनेवाला है, अत्यंत कठिन है, संसाररूपी समुद्रसे पार करनेवाला है, तथा इंद्र चक्रवर्ती और तीर्थंकर आदिके पद देनेवाला है। इसलिये कर्मोंसे डरनेवाले त्यागियोंको ऐसा तपश्चरण अवश्य करना चाहिये॥६९–७१॥ व्रती त्यागियोंको अनेक उपवास करके भी पारणाके दिन नीच वा निंद्य क्रियाओंसे उत्पन्न हुआ और पाप वढानेवाला आहार कभी नहीं लेना चाहिये ॥ ७२ ॥ यथायोग्य और निर्दोष आहार प्रतिदिन ग्रहण करना अच्छा परन्तु एक महीनाके उपवासके वाद किये हुए पारणाके दिन सदोष आहार ग्रहण करना अच्छा नही ॥ ७३ ॥ जिस प्रकार यथायोग्य व्यवहार करनेवाले सद्गृहस्थोंकी शुद्धि वतलाई है उसीप्रकार क्षुल्लक वा मुनियोंकी भी भिक्षा शुद्धि वही गई है ॥७४॥ जो त्यागी सदोष आहार ग्रहण करते है उनके विषमिले दूधके समान अनेक उपवास मौन, और वीरासन आदि स्थान सव व्यर्थ हैं ॥ ७५ ॥ समस्त व्रतोंमें अहिंसाव्रत ही प्रधान है, यह व्रत सव व्रतोंकी जड है और मोक्षका साधक है, वही अहिंसाव्रत सदोष आहार ग्रहण करनेवालोंके नही होसकता क्योंकि सदोष आहार ग्रहण करनेसे छहों कायके जीवोंकी हिंसा होती है ॥ ७६ ॥ जो त्यागी सदोष आहार ग्रहण करते है वे छहो कायके जीवोंकी विराधना करते हैं इसलिये जीवोकी हिंसा होनेसे उनका आहार इस संसारमें संवेगको वढानेवाला कैसे हो सकता है ? ॥ ७७ ॥ जो अज्ञानी मुनि सदोष आहारमें लीन रहता है वह गृहस्थपनेको प्राप्त होता है तथा हिंसा करनेके कारण वह दोनों ओरसे भ्रष्ट होता

तप. कुर्याद् द्विषड्विधम् । सदोपवासभेदादिसमव कर्मघातकम् ॥ ६९ ॥ षष्टाष्टमाससजात सोपान स्वर्गधामनि । मुक्तेर्वशीकर घोर संसाराम्बुधितारकम् ॥ ७० ॥ शक्रचक्रेशतीर्थेशपदादिप्रापणे क्षमम् । सर्वशक्त्या करोत्येव तपः कर्मादिशकिता ॥७१॥ कृत्वा बहूपवास च न ग्राह्य पारणादिके । अधःकर्मभवाहार पापदं व्रतधारिभिः ॥ ७२ ॥ वर प्रत्यहमाहार निःसावद्यं यथोचितम् । न च मासोपवासादिपारणे दोषसंयुतम् ॥ ७३ ॥ यथोक्तव्यवहारस्य शुद्धिः सद्गृहमेधिनाम् । यतीना च तथा सा हि भिक्षाशुद्धिरुदाहृता ॥७४॥ बहूपवासं मौनं च स्थान वीरासनादिकम् । सदोषाहारिणा सर्वं व्यर्थं स्याद्विषदुग्धवत् ॥७५॥ अहिंसाख्यं व्रत मूलं व्रताना मुक्तिसाधकम् । नश्येत् षड्जीवघातेन सदोषाहारग्राहिणाम् ॥ ७६ ॥ षडगिवधिकाना च सावद्याहारवर्तिनाम् । कथं स्यादशनं लोके सवेग चागिवाधनात् ॥७७॥

है क्योंकि गृहस्थपनेको प्राप्त होकर भी वह दान पूजा आदि गृहस्थोंके शुभ कर्म नहीं करता ॥ ७८ ॥ जो नीच गृहस्थाश्रम छोडकर दीक्षा धारण करता है और फिर भी सदोष आहार ग्रहण करता है उसकी दीक्षा लेना व्यर्थ ही समझना चाहिये ॥ ७९ ॥ जिह्वा लंपटी जो पुरुष महा निंद्य पापरूप आहार ग्रहण करता है वह अनेक जीवोंकी हिंसा करता है और इसीलिये संसारमें उसकी अपकीर्ति होती है ॥ ८० ॥ सदोष आहार ग्रहण करनेवाले व्रतियोंका हृदय निर्दय रहता है, इसलिये उनको परलोकमें भी सुख नहीं मिल सकता है, ऐसे लोगोंको परलोकमें पाप और दुर्गतियोंसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके भारी भारी दुःख भोगने पडते हैं ॥ ८१ ॥ निर्दोष गृहस्थ पद अच्छा परन्तु इंद्रिय सेवन, स्त्री जन्य दोष वा राग, द्वेष आदिसे कलंकित हुआ मनुष्योंका मुनिपद अच्छा नही ।। ८२ ॥ एकवार प्राणोंका नाश करनेवाला हलाहल विष खा लेना अच्छा परन्तु संसाररूपी समुद्रमें डुबानेवाला सदोष आहार ग्रहण करना अच्छा नही ॥८३॥ यही समझकर व्रती पुरुषोंको प्राण नाश होनेपर भी अभक्ष्यके समान सदोष आहारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ ८४ ॥ जो त्यागी निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं उन्हींका तप, व्रत, यम आदि सब सफल है, उन्हींके तप यमादिक मोक्षरूपी वृक्षके बीज हैं और पुण्यको अतिशय संचय करनेवाले हैं ॥८५॥ जिसने अपने समस्त इंद्रियोंके सुखोंका त्याग कर दिया है और वैराग्यरूपी जालमें फंसकर जिसने अपनी जीभको वशमें कर लिया है उसीका जन्म इस संसारमें सफल माना जाता है ॥ ८६ ॥ संसारसे भयभीत होनेवाले और भावनाओंमें तत्पर रहनेवाले व्रती त्यागियोको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये प्रतिदिन धर्मध्यानपूर्वक रहना चाहिये ॥ ८७ ॥ श्रेष्ठ गुणोंको धारण करनेवाले त्यागियोंको दुःख देनेवाले कर्म नाश करनेके लिये

सदोषान्नरतो याति गृहस्थत्व यति॰ कुधी. । हिंसयोभयभ्रष्टत्व वादानादिकवर्जनात् ॥ ७८ ॥ गृहस्थत्वं परित्यज्य दीक्षामादाय योऽधमः । सदोपमतिप्राहार तस्य दीक्षा वृथा भवेत् ॥ ७९ ॥ पापासन महानिद्य यो जिह्वालपटोत्ति ना । तस्येह जायते लोके कुकीर्तिर्जन्तुघातनात् ॥ ८० ॥ न स्यात्सुखममुत्रापि निर्दयान्वितचेतसाम् । भूरिदु ख भवेन्नून पापदुर्गतिज घनम् ॥ ८१ ॥ अच्यं वर गृहस्थत्वं यतित्व न कलकितम् । इद्रियदारदोषैश्च रागद्वेषादिकैर्नृणाम् ॥८२॥ श्रेष्ठ हालाहलं भुक्त यत्सकृत्प्राणनाशनम् । सदोषान्न पुनर्नैव संसाराम्बुधिपातनम् ॥ ८३ ॥ इति मत्वा सदा त्याज्य दोषाढ्य प्रान्नमजसा । अखाद्यमिव नादेय प्राणान्तेपि व्रतान्वितै. ॥ ८४ ॥ निर्दोषाहारिणा सर्व तपोव्रतयमादिकम् । भवेन्मोक्षतरोर्बीज सफल पुण्यपुण्यदम् ॥ ८५ ॥ जन्मेह सफल तस्य येन जिह्वा वशी कृता । वद्ध्वा वैराग्यपाशेन

सदा प्रयत्नपूर्वक ध्यान और अध्ययनमें ही अपना समय विताना चाहिये ॥ ८८ ॥ विद्वान् पुरुषोंको यह दुर्लभ मनुष्य
जन्म पाकर सदा धर्मध्यान करते रहना चाहिये । विना धर्मध्यानके प्रमादमें एक घडी भी कभी नहीं खोनी चाहिये ॥८९॥
दूसरोंका दिया हुआ अन्न ग्रहण करके विरागी पुरुषोंको महापाप उत्पन्न करनेवाली और निंद्य विकथाएं स्वप्नमें भी कभी
नहीं करनी चाहिये ॥ ९० ॥ जो त्यागी दूसरेके घर आहार ग्रहण कर विकथा कहते हैं वे उस पापके भारसे मरकर पर-
लोकमें वैल होते हैं ॥ ९१ ॥ वुद्धिमानोंको चोर कथा, राज कथा, भोजन कथा और स्त्री कथा कभी नहीं करनी चाहिये
क्योंकि ये विकथाएं व्यर्थ ही पाप उत्पन्न करनेवाली हैं इसीप्रकार देश भाषा आदिकी अन्य ऐसी ही कथाएं भी विकथाएं
हैं वे भी त्यागियोंको नहीं करनी चाहिये ॥ ९२ ॥ प्रमादमें डूवे हुए तथा विकथा करने सुननेवाले त्यागियोंका जन्म ही
निरर्थक जाता है और उनकी ली हुई दीक्षा निःसंदेह व्यर्थ गिनी जाती है ॥९३॥ त्यागियोंको या तो मौन धारण करना
चाहिये वा श्रेष्ठ धर्मका उपदेश देना चाहिये या सिद्धांत शास्त्रोंका पठन-पाठन करना चाहिये अथवा परमेष्ठियोंका ध्यान
करना चाहिये ॥ ९४ ॥ अथवा व्रती त्यागियोंको अपने वैराग्यको सुदृढ़ वनानेके लिये अपने मनमें सदा कर्मोंको
नाश करनेवाली सारभूत वारह अनुप्रेक्षाओंका चितवन करना चाहिये ॥ ९५ ॥ धर्मात्मा त्यागियोंको मोक्ष प्राप्त करनेके
लिये अपने मनमें उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दस धर्मोंका सदा
चिंतवन करते रहना चाहिये ॥ ९६ ॥ चतुर त्यागियोंको तीर्थंकरकी विभूति देनेवाली दर्शन विशुद्धि आदि सोलहकारण

त्यक्तेन्द्रियसुखस्य वै ॥ ८६ ॥ धर्मध्यानेन स्यातव्य प्रत्यह स्वर्गमुक्तये । संसारे भयभीतैश्च भावनादिपरायणैः ॥८७॥ ध्यान वाध्ययनं
नित्य कार्यं सद्गुणशालिभिः । प्रयत्नेन क्षयायैव कर्मणां दुःखदायिनाम् ॥ ८८ ॥ प्रमादेन न नेतव्या चैका कालकला क्वचित् । मानुष्यं
दुर्लभं प्राप्य धर्मध्यानं विना वुधैः ॥८९॥ परान्न हि समदाय न कार्या विकथा क्वचित् । महापापाकरा निंद्या स्वप्नतेपि विरागिभिः॥९०॥
भक्षयित्वा पराहारं विकथां ये वदन्ति ते । अमुत्र पापभारेण वलीवर्दा भवन्ति वै ॥ ९१ ॥ चौरराजान्ननारीणां कथा कार्या न धीधनैः ।
वृथा पापप्रदा घोरा देशभाषादिका परा ॥ ९२ ॥ विकथाचारिणां याति जन्म एव निरर्थकम् । वृथा दीक्षा भवेन्नूनं प्रमादाधिष्ठितात्मनाम्
॥ ९३ ॥ मौनमेव प्रकर्तव्यं वाशु धर्मोपदेशनम् । सिद्धान्तस्य पठनं वा ध्यानं वा परमेष्ठिनाम् ॥ ९४ ॥ चिंतनीयाः सदा सारा अनुप्रेक्षा
व्रतान्वितैः । वैराग्यादि प्रसिद्ध्यर्थं मानसे कर्मनाशिकाः ॥ ९५ ॥ क्षमादिदशसद्भेदं ब्रह्मचर्यान्तमंजसा । चित्ते संभावयेन्नित्यं धर्मं धर्मी

भावनाओंका चिंतवन सदा करते रहना चाहिये ॥९७॥ व्रती त्यागियोंको स्वर्गमोक्ष प्राप्त करनेके लिये आज्ञाविचय, अपाय विचय, विपाक विचय, संस्थानविचय ये चारों प्रकारके धर्मध्यान सदा धारण करते रहना चाहिये ॥ ९८ ॥ बुद्धिमान त्यागियोंको अपने मनके समस्त संकल्प विकल्प छोडकर अनंत कर्मोंके समूहको नाश करनेवाली, अपने आत्माके चिंतवन करनेकी भावना सदा करते रहना चाहिये ॥ ९९ ॥ चतुर त्यागियोंको अपने कर्म नाश करनेके लिये समता वंदना आदि छहों प्रकारके आवश्यक प्रयत्न पूर्वक रात दिन पालन करते रहना चाहिये ॥ १०० ॥ धीरवीर त्यागियोंको प्राण नाश होनेपर भी व्रतोंके दोषोंको नाश करनेवाले और सब प्रकारके सुखोंकी खानि ऐसे सर्वोत्तम आवश्यक कभी नहीं छोडने चाहिये ॥ १०१ ॥ जिसप्रकार विना दांतोंके हाथी शोभायमान नहीं होता, विना दाढोंके सिंह शोभायमान नहीं होता और विना दानके गृहस्थ शोभायमान नहीं होता उसीप्रकार विना आवश्यकोंके संयमी भी शोभायमान नहीं होता ॥ १०२ ॥ पूर्ण व्रतोंको पालन करनेवाले त्यागियोंको सबसे पहिले आवश्यकोंका पालन करना चाहिये और फिर ध्यान अध्ययन आदि अन्य समस्त कार्य करने चाहिये ॥ १०३ ॥ पुस्तक, जल, पात्र, वस्त्र अथवा और भी धर्मोपकरण जो कुछ दयालु व्रतियोंको लेना वा रखना हो वह सब मुलायम उपकरणसे वार वार देख शोधकर तथा उस पदार्थ वा स्थानको अच्छी-तरह देखकर उठाना वा रखना चाहिये ॥ १०४–१०५ ॥ इसप्रकार चतुर त्यागियोंको जीवोंके दुःख दूर करनेके लिये किसी पदार्थको उठाने वा रखनेमें प्रत्येक पदार्थको देख व शोध लेना चाहिये ॥ १०६ ॥ दिनमें कभी नींद नहीं लेनी

स्वमुक्तये ॥ ९६ ॥ भावनीयाः सदा दक्षैः षोडशात्मकभावनाः । दृष्ट्यादिकविशुद्धाद्यास्तीर्थनाथविभूतिदाः ॥ ९७ ॥ आज्ञापायविपाकाख्य संस्थानविचयात्मकम् । धर्मध्यानं सदा ध्येयं व्रतिभिः स्वर्गमुक्तये ॥ ९८ ॥ संकल्पवर्जितं कृत्वा मनः कार्यात्मभावना । अनन्तकर्मसन्तान-घातका स्वस्य सद्बुधैः ॥ ९९ ॥ आवश्यकं प्रकर्तव्यं षड्विधं यत्नतोऽनिशम् । समतादिप्रदं दक्षैः स्वकर्मक्षयहेतवे ॥१००॥ प्राणान्तेपि न मोक्तव्यं सर्वसौख्याकरं परम् । आवश्यकं सदा धीरैर्व्रतादिमलनाशकम् ॥१०१॥ दन्तहीनो यथा हस्ती दंष्ट्राहीनो मृगाधिपः । दानहीनो गृही नाभात्यक्तावश्यकसंयमी ॥१०२॥ विधायावश्यकं पूर्वं सम्पूर्णं व्रतसंयुतैः । ततः सर्वं विधातव्यं सद्ध्यानाध्ययनादिकम् ॥ १०३ ॥ यत्किंचिच्च समादेयं पुस्तकं नीरभाजनम् । वस्त्रादिकं यथान्यद्वा धर्मोपकरणं वरम् ॥१०४॥ पूर्वं निरीक्ष्य तत्सर्वं ग्राह्यं त्याज्यं दयान्वितैः । सूक्ष्मोपकरणेनैव प्रतिलेख्य पुनः पुनः ॥१०५॥ एवं दक्षैः प्रकर्तव्यं वस्तूनां प्रतिलेखनम् । निक्षेपे वा सदा दाने जन्तुपीडाप्रहानये ॥१०६॥

चाहिये क्योंकि दिनमें नींद लेना प्रमाद बढानेवाला, पाप उत्पन्न करनेवाला, और समस्त दोषोंको प्रगट करनेवाला है इसलिये पूर्ण व्रतोंको न पालनेवाले क्षुल्लकोंको भी दिनमें नहीं सोना चाहिये ॥ १०७ ॥ चतुर त्यागियोंको यत्नपूर्वक भूमिपर संस्तर करना चाहिये वह संस्तर शरीरके समान हो वडा न हो, वीतरागरूप हो और स्त्री जंतु आदिसे सर्वथा रहित हो ॥ १०८ ॥ बुद्धिमानोको दिनमें अथवा रातमें तीनों समय अथवा सदा कर्मरूपी ईंधनको जलानेके लिये अग्निके समान ऐसा कायोत्सर्ग अवश्य करना चाहिये ॥ १०९ ॥ उत्तम व्रतियोंको पहिले तो अपने आवश्यक करने चाहिये और फिर रातमें डेड पहर (साडे चार घंटे) रात वीत जानेपर केवल परिश्रमको शांत करनेके लिये दो घडी नींद लेनी चाहिये ॥ ११० ॥ परलोकको सिद्ध करनेवाले और इंद्रिय सम्बन्धी सुखोंका त्याग करदेनेवाले उत्तम व्रतियोंको अपने व्रत पालन करनेके लिये ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंको नाश करनेवाली अधिक नींद कभी नहीं लेनी चाहिये ॥ १११॥ व्रतियोंको तीव्र निद्रा दूर करनेके लिये और सुखका त्याग कर देनेके लिये धनुषके आकारकी शय्या बनानी चाहिये वा दंडाकार सोना चाहिये अथवा मृतकासनसे सोना चाहिए ॥११२॥ संयमियोंको रात्रिके पिछिले पहर शय्यासे उठकर छहों आवश्यकोंके अन्तर्गत रहनेवाला धर्मध्यान अवश्य करना चाहिये ॥११३॥ वहुत कहनेसे क्या, थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि घर गृहस्थीका त्याग करनेवाले क्षुल्लकोंको अपना सदाका समस्त समय धर्मध्यान पूर्वक ही व्यतीत करना चाहिये ॥ ११४ ॥ जो बुद्धिमान मन वचन कायकी शुद्धता पूर्वक इन ग्यारह प्रतिमाओंका पालन करते हैं वे इस संसारमें श्री तीर्थंकर परमदेवके द्वारा उत्तम श्रावक कहे जाते हैं ॥ ११५ ॥ जो जीव इस संसारमें व्रत और चारित्रके आचरण करनेसे ही लोगोंके द्वारा सर्वथा पूज्य

दिने निद्रा प्रकर्तव्या प्रमादाशुभदायका । कृत्स्नदोषकरा तीताचारैरपि न सयतैः ॥१०७॥ प्रमार्ज्य यत्नतो दक्षैः कार्यो भूमौ स्वसस्तरः । वपुस्तुल्यो विरागश्च स्त्रीजन्त्वादिविवर्जितः ॥१०८॥ कायोत्सर्गो विधातव्यो रजन्या वा दिने वुधैः । कालत्रयेऽथवा नित्य कर्मेन्धनहुताशनः ॥१०९॥ रात्रावावस्यकं कृत्वा सार्द्धयामे गते सति । निद्रां मौहूर्तिकीं कुर्यात्सद्व्रती श्रमशान्तये ॥११०॥ बहुनिद्रा न कर्तव्या-ब्रह्मचर्यादिनाशिका । परलोकार्थिभिस्त्यक्तसुखै· सद्व्रतसिद्धये ॥१११॥ धनुःशय्या विधातव्या दंडाख्या मृतका तथा । तीव्र नेद्राविनाशार्थं व्रतिभिः सौख्यहानये ॥११२॥ रजन्याः पश्चिमे यामे शयनादुत्थाय सयतैः । धर्मध्यान विधातव्य षडावश्यकगोचरम् ॥ ११३ ॥ किमत्र वहुनोक्तेन त्यक्तगेहैश्च क्षुल्लकैः । धर्मध्यानेन कर्तव्यः कालः सर्वोऽपि शास्वतः ॥ ११४ ॥ एकादशसप्रतिमा त्रिशुद्धया पालयेत्सुधीः । यो

हुए हैं वे ही संसारमें धन्य हैं और वे ही संसारमें पूज्य हैं ॥११६॥ जो उत्तम श्रावक (क्षुल्लक) स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये व्रत पालन करता है उस धर्मके प्रभावसे वह स्वर्गकी ऐसी संपदा प्राप्त करता है जो समस्त गुणोंकी निधि है, सब देवोंके द्वारा पूज्य है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानोंसे सुशोभित है, सबमें सारभूत है, आठों ऋद्धियोंका घर है और निरुपम गुणोंकी खानि है ॥११७॥ उत्तम श्रावक अपने निरुपम (उपमारहित) व्रतोंके पालन करनेसे सोलहवें अच्युत स्वर्गको प्राप्त करता है। वह अच्युत स्वर्ग सब गुणोंका सागर है, समस्त भोगोंका एक मात्र स्थान है, अनेक गुणोंसे भरपूर है, ज्ञान और ऋद्धियोंसे सुशोभित है, सब प्रकारके दुःखोंसे रहित है और पुण्यकी जड़ है ॥ ११८ ॥ उत्तम श्रावकोंको उनके द्वारा पालन किये गये उत्तम व्रतोंसे उत्पन्न हुए पुण्यसे चक्रवर्तियोंका उत्तम पद प्राप्त होता है। वह चक्रवर्तियोंका पद छहों खंड पृथिवीसे उत्पन्न हुए सुखोंका घर है और नौनिधि तथा चौदह रत्नोंसे सुशोभित है ॥ ११९ ॥ उत्तम श्रावकोंको व्रतोंके प्रभावसे श्री तीर्थंकरकी विभूति प्राप्त होती है। यह तीर्थंकरकी विभूति इंद्र चक्रवर्तियोंके द्वारा पूज्य है, तीनों लोकोंमें पूज्य है, घोर तपश्चरण करनेवाले महा मुनिराज भी घोर तपश्चरणके द्वारा इसकी प्रार्थना करते हैं, यह अनंत गुणोंकी खानि है, अत्यंत निर्मल है, परम सुखका घर है, और मुक्तिको देनेवाली है। ऐसी यह तीर्थंकरकी विभूति उत्तम श्रावकोंको प्राप्त होती है ॥ १२० ॥ बुद्धिमानोंको इस उत्तम गृहस्थधर्मके प्रभावसे अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त होती है। इस मोक्षको मुनिराज भी श्रेष्ठ तपश्चरणके द्वारा प्रार्थना करते हैं, यह जन्म जरा मरणसे रहित है, अनुपम गुणोंसे सुशोभित है और समस्त सुखोंका सागर है ॥ १२१ ॥ उत्तम मनुष्य गृहस्थधर्ममें उत्पन्न हुए पुण्यके प्रभावसे तीनों लोकोंमें जो

जिनेन्द्रैः स संप्रोक्तः उत्तमः श्रावको भुवि ॥११५॥ ते धन्या त्रिजगत्पूज्याः गता ये प्रार्चता जनात्। लोकेस्मिन् सद्व्रताचाराचरणे नैव सर्वथा ॥११६॥ अखिलगुणनिधानं सर्वदेवैः प्रपूज्य, अवगमत्रययुक्त सारमष्टर्द्धिगेहम्। निरुपमगुणखानिं प्रोत्तमः श्रावकोत्र, व्रतजनितवृषाद्वै सलभेत्स्वर्गमुक्त्यै ॥११७॥ अखिलगुणसमुद्र कृत्स्नभोगैकधाम, विविधगुणसुपूर्णं ज्ञानऋद्ध्यादिकाढ्यम्। विगतसकलदुःख पुण्यमूल गृहस्थो, निरुपमव्रतयोगादच्युत याति नाकम् ॥११८॥ षट्खंडभूसभवसौख्यगेह, रामादिसप्तद्वयरत्नयुक्तम्। निध्याकर सदव्रतजातपुण्यात्संलभ्यते चक्रिपद गृहस्थैः ॥११९॥ यद्देवेन्द्र नरेन्द्रवदिनमहो लोकत्रये पूजितं, प्रार्थ्यं यन्मुनिनायकैः कृतमहाकष्टैस्तपोदुष्करात्। अन्तातीतगुणाकर सुविमल सौख्यालय मुक्तिद, तन्नृणा प्रभवेत्सुगेहिव्रततःसर्वज्ञसंवैभवम् ॥ १२० ॥ मुनिवरगणप्रार्थ्यो दुष्करैः सत्तपोभिरजर इह क्रमात्

सुख सबसे उत्तम है उनको पाकर अनुक्रमसे समस्त दु:खोसे रहित और सुखका समुद्र ऐसे मोक्षरूप परम स्थानको प्राप्त होते है ॥ १२२ ॥ श्री जिनेंद्रदेवने यह उत्तम धर्म दो प्रकारका बतलाया है-एक मुनियोका और दूसरा गृहस्थोंका। मुनियोंका धर्म अत्यंत कठिन है। जो इसे पालन नही कर सकते उन्हें गृहस्थोंके ये व्रत अवश्य पालन करने चाहिये ॥१२३॥ यह गृहस्थ धर्म संसाररूपी समुद्रसे पार कर देनेवाला है, सुख देनेवाला है, स्वर्गरूपी घरको उघाडनेवाला है, नरकके द्वारके किवाडोंको वंद कर देनेवाला है, अनेक गुण प्रगट करनेवाला है, सबमें सारभूत है, अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करानेवाला है, इसमें उत्तम मध्यम जघन्य सब प्रकारके व्रत पालन किये जाते हैं, और यह समस्त दोषोंसे रहित है। हे विद्वानो! तुम लोग स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये ऐसे इस गृहस्थ धर्मका सेवन करो ॥ १२४ ॥ जो चतुर पुरुष इस गृहस्थ धर्मका पालन करते हैं वे मनुष्य और देवोंके समस्त सुख पाकर तथा सबके द्वारा पूज्य ऐसे तीर्थंकर परमपदको पाकर और केवलज्ञानकी परम विभूतिको पाकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते है ॥ १२५ ॥ जो पुरुष भक्तिपूर्वक इस श्रावकाचार ग्रंथका पठन पाठन करते हैं वे उन आचरणोंका पालन कर देव मनुष्योंके सब सुख पाते है और अंतमें मोक्षपदको प्राप्त होते हैं ॥ १२६ ॥ जो बुद्धिमान अपने परिणामोंको शुद्धकर इस श्रावकाचारका पठन पाठन करते हैं वे इस संसारमें अपनी निर्मल कीर्ति फैलाते हैं तथा अनेक गुण देनेवाले शुभ अशुभ पदार्थोंको जानकर और समस्त पापोंका त्याग कर अतिशय पुण्यको प्राप्त होते है ॥ १२७ ॥ जो पुरुष इस ग्रंथको गुणी श्रावकोंके लिये अथवा अपने पुत्रोंके लिये पढाते हैं अथवा

स जन्मजातकदूरम्। निरुपमगुणयुक्तो मोक्ष एवाप्यते वै, अखिलसुखसमुद्रः सद्बुधैर्गहि धर्मात् ॥१२१॥ यत्सुख त्रिभुवनाखिले वर, तद्गृहाश्रितसुपुण्यपाकतः। प्राप्य याति सुपदं नरोत्तमस्त्यक्तदु खसुखसागर क्रमात् ॥१२२॥ श्रीजिनेन कथितो वरधर्मः, सद्गृहेशमुनिगोचरो द्विधा। दुष्करो मुनिवृषे विलाक्षमास्ते धरन्तु गृहिणा व्रतमेतत् ॥१२३॥ ससाराम्बुधितारक सुखकर स्वर्गगृहोद्घाटन, श्वभ्रद्वारकपाटद गुणकर सार क्रमान्मुक्तिदम्। उत्कृष्टव्रतपालनादिविषय ससारधर्मं बुधा', सेवध्व परित्यक्तदोषमखिल स्वर्मोक्षसौख्याप्तये ॥ १२४ ॥ ये पालयन्ति निपुणा हि गृहस्थधर्मं, ते प्राप्य सौख्यमखिल नृसुरादिजातम्। लब्ध्वापि तीर्थकरभूतिमपीह पूज्य, वा मुक्केवलिपदं च प्रयांति मुक्तिम् ॥१२५॥ प्रोपासकाचारमिद पवित्र, पठन्ति ये शास्त्रमपीह भक्त्या। ते प्राप्य सौख्य नृसुरादिजात, प्राचारतस्ते नु प्रयान्ति मुक्तिम् ॥१२६॥ ये तत्पठन्ति सुधियः परिणामशुद्ध्या, ते कीर्तिमेव विमला समवाप्य लोके। ज्ञात्वार्थतोतिगुणद च शुभाशुभं वै, त्यक्तेन सो घनतर प्रभजन्ति

जैनी श्रावकोंके मध्यमे वैठकर इसका व्याख्यान करते हैं, सुनाते हैं वे ज्ञान दानके प्रभावमे निर्मल केवलज्ञानको पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ १२८ ॥ जो गृहस्थ एकाग्रचित्तकर बडी भक्तिसे पुण्य बढानेवाले इस ग्रंथको सुनते हैं वे उस ज्ञानसे और निर्मल चारित्रको धारण करनेमे तीनो लोकोंके सुख पाकर अंतमें मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ १२९ ॥ हे पुण्यवान मनुष्यो ! यह ग्रंथरूपी अमृत संवेग और धर्मको उत्पन्न करनेवाला है, गुणोसे सुशोभित है, गृहस्थोके समस्त श्रावकाचारको कहनेवाला है और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानरूपी निर्मल जलसे भरा हुआ है। हे पुण्यवानो, ऐसे इस ग्रंथरूपी अमृतका तुम लोग पान करो, अर्थात इसका पठन पाठन मनन श्रवण आदि करो ॥ १३० ॥ जो राग द्वेष रहित और अनेक शास्त्रोके जानकार मुनि इसीके समान किसी दिगम्बर आचार्यके बताये हुए शास्त्रोंसे श्रावकाचारको कहनेवाले इस ग्रंथका शोधन करते हैं वा इसका निरूपण करते हैं वे भी अनंत पुण्यके भागी होते हैं ॥ १३१ ॥ यह उपासकाचार ग्रंथ अर्थरूपमे तो भगवन् अरहंत देवके मुखसे प्रगट हुआ है, गणधर देवोंके द्वारा अनेक प्रकारके अक्षरोसे गूंथा गया है और इस संसारमे मुनिराज सकलकीर्तिके द्वारा विस्तारताको प्राप्त हुआ है ॥ १३२ ॥ जो तीर्थंकर परमदेव तीनो लोकोमें इन्द्रादिकोंके द्वारा प्रतिदिन पूज्य हैं, जो संसाररूपी समुद्रसे पार कर देनेवाले हैं, जो गणधर और मुनिराजोके द्वारा वंदनीय हैं, जो अनन्त सुख आदि निर्मल गुणोंसे सुशोभित हैं और संसारमें जिनकी कोई उपमा नहीं है ऐसे श्री तीर्थंकर परमदेवके चरणकमलोंको मै निर्मल बुद्धि प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हू ॥ १३३ ॥ जो समस्त इन्द्रादि देवोके द्वारा पूज्य हैं, अनुपम

पुण्यम् ॥१२७॥ ये पाठयन्ति गुणिनो गृहिणां स्वपुत्रान्, व्याख्या वदन्ति निजश्रावकजैनमध्ये। ग्रंथस्य तेऽतिश्रुतदानत एव लब्ध्वा, सत्केवल सुविमलं च भजन्ति मोक्षम् ॥ १२८ ॥ शृण्वन्ति येऽतिशुभदं परम हि ग्रन्थमेकाग्रचित्तसहिता परमातिभक्त्या। ते ज्ञानतोऽतिविमलाचरणात्प्रयान्ति, मुक्ति समाप्य भुवनत्रयज सुख च ॥१२९॥ सवेगधर्मजनन विमल गुणाढ्य, प्राचारकृत्स्नकथकं गृहमेधिना च। सद्दर्शनावगमनिर्मलनीरपूर्णं, ग्रन्थामृत सुकृतिनो हि पिवध्वमेव ॥१३०॥ ग्रन्थ गृहस्थचरणान्वितमेव सार, सशोधयन्ति मुनयो बहुशास्त्रवन्त। रागादिदोषरहिता हि निरूपयन्तरतत्तुल्यशास्त्रसहितेन दिगम्बरेण ॥१३१॥ अर्थो जिनेश्वरमुखादिह जातमेतत्, संग्रथितं गणधरैर्विविधाक्षरैश्च। लोके बभूव प्रकट सुमुनीन्द्रवर्गात, सर्वादिकीर्तिविशदाच्च व्युपासकाख्यम् ॥ १३२ ॥ पूज्या ये भुवनत्रये जिनवरा इन्द्रादिभिः प्रत्यह। ससाराम्बुधितारका. गणधरैर्वन्द्या मुनीन्द्रादिभि.। अन्तातीतसुखादिनिर्मलगुणैर्युक्ता व्यतीतोपमास्तेषा तीर्थकृता नमामि चरणौ

गुणोंसे सुशोभित है और इंद्रिय तथा कामदेवको जीतनेवाले हैं ऐसे पूर्व विदेहमें विराजमान श्री सीमंधर तीर्थंकर परमदेवकी मैं उनके समस्त गुण प्राप्त करनेके लिये स्तुति करता हूं ॥ १३४ ॥ जो तीर्थंकर परमदेवकी सारभूत विभूतिको प्राप्त हुए हैं, इन्द्रादिक देव भी जिनकी सेवा करते हैं, जो अनन्त गुणोंकी खानि है, अनन्त गुण देनेवाले हैं, और जिनकी उपमा संसारभरमें कोई नहीं है ऐसे भूत, भविष्यत, वर्तमान तीनों कालोंमें होनेवाले अनन्तानन्त तीर्थंकरोंके पुण्य बढानेवाले चरणकमलोंको मैं केवल मोक्ष प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १३५ ॥ जो सिद्ध भगवान् लोकशिखरपर विराजमान होते हैं, सम्यक्त्व आदि आठों गुणोंसे सुशोभित हैं, संसारमें जिनकी कोई उपमा नहीं, जिन्हें अनेक मुनिराजोंके समूह भी नमस्कार करते हैं, जो शरीरके भारसे रहित हैं, सारभूत अनंत सुखोंकी खानि है, अत्यंत निर्मल है, जो मध्य अंत रहित हैं और जो धर्मको प्रदान करनेवाले हैं, ऐसे श्री सिद्ध भगवानके समस्त गुण प्राप्त करनेके लिये मैं उनका प्रतिदिन ध्यान करता हूं ॥१३६॥ जो आचार्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप और वीर्य इन पांचो आचारोंको स्वयं पालन करते हैं और शिष्योंसे पालन कराते हैं तथा जो शुद्ध आचरणोंके द्वारा मोक्षके कारण बने रहते हैं ऐसे समस्त आचार्योंको मैं सदा नमस्कार करता हूं ॥१३७॥ जो उपाध्याय ज्ञान देनेवाले अंग पूर्वरूप श्रुतज्ञानको स्वयं पढते हैं और अपने शिष्य मुनियोंको पढाते हैं ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीके चरणकमलोंकी मैं शुभ श्रुत ज्ञान प्राप्त करनेके लिये स्तुति करता हूं ॥ १३८ ॥ जो मुनिराज सद्धर्मरूपी महासागरके मध्यमें विराजमान हैं, जो रत्नत्रयसे सुशोभित हैं, जिन्होने

सदबुद्धिससिद्धये ॥१३३॥ अमरगणसुसेव्य धर्मसद्रत्नभाण्ड, निरुपमगुणयुक्त पूर्वपूर्वे विदेहे। विजितकरणमार त हि सीमधराख्यं, सकलगुणसमाप्त्यै सस्तुवे तीर्थनाथम् ॥१३४॥ ते तीर्थेश्वरभूतिसारकलिता देवेन्द्रसंसेवितातीतानागतवर्तमानसकले काले जिनेन्द्रा भुवि। अन्तातीतगुणाकरा गुणप्रदास्त्यक्तोपमा मुक्तये, ह्यतातीतजिनेशिनां सुचरणौ तेषा प्रवन्दे शुभौ ॥१३५॥ ये सिद्धा नमिता मुनीश्वरगणैर्लोकाग्रगेहे स्थिताः। सम्यक्त्वादिगुणाष्टका निरुपमा देहादिभारोज्झिताः। सारानन्तसुखाकरा हि विमला अन्तातिगा धर्मदास्तेषा तद्गुणप्राप्तये प्रतिदिनं ध्यानं करोम्येव वै ॥ १३६ ॥ पंचाचारं ये चरन्ति स्वय वै, सच्छिष्याणां चारयन्त्येव शुद्धम्। मुक्तेरंगं नित्यमाचारशुद्धं, वन्दे सर्वान् तान् सदा सूरिसंघान् ॥ १३७ ॥ ये पठन्ति श्रुतमंगपूर्वजं, पाठयन्ति च विनेयमुनीनाम्। ज्ञानद शुभश्रुताय पाठका, संस्तुवे पदयुगं खलु तेषाम् ॥ १३८ ॥ येसद्धर्ममहाब्धिमध्यविगता रत्नत्रयालंकृता, ध्यानध्वस्तसमस्तकिल्विषविषा स्वर्मोक्षससाधका। अन्ता-

पागल मनुष्य है इसे यहांसे निकाल देना चाहिये। यह सुनते ही उन मनुष्योंने उसे जबरदस्ती वहांसे निकलवा दिया ॥७५॥ विचारा सागरदत्त सब तरहसे लाचार होकर रोता हुआ उसी नगरमें घूमने लगा और चिल्ला चिल्लाकर कहने लगा कि सत्यघोषने मेरे पांच माणिक्य मारलिये हैं ॥७६॥ राजभवनके पास एक इमलीका वृक्ष था। उसीपर चढ़कर सवेरेके स[मय] यही कह कहकर वह प्रतिदिन पुकार मचाने लगा ॥ ७७ ॥ इसप्रकार पुकार करते करते उसे छह महीने होगये [...] दिन रानीने राजासे कहा कि हे देव ! यह पुरुष सदा एकसी पुकार करता है इसलिये यह पागल नहीं हो सकता। तब राजाने कहा कि क्या सत्यघोष ऐसी चोरी कर सकता है ? इसके उत्तरमें रानीने कहा कि हे देव ! संभव है ऐसा हो। रानीके इतना कहनेपर महाराजने आज्ञा दी कि तू ही इसकी परीक्षा कर ॥ ७८–८० ॥ इसप्रकार रानीको परीक्षा करनेकी आज्ञा मिल चुकी थी और प्रातःकाल ही वह पुरोहित महाराजके पास प्रणाम करनेके लिये आया था। रानीने उस दुष्ट पुरोहितको देखते ही बुलाया और पूछा कि हे मित्र ! आज सवेरे ही कैसे आए ? पुरोहितने कहा कि आज मेरा साला आया है वह भोजन करनेके लिये घर बैठा है इसीलिये मैं यहां चला आया ॥ ८१–८२ ॥ रानीने फिर कहा कि अच्छा आज कुछ देरतक यहां ही ठहरना। हे तात ! आज मुझे कुछ पाशा खेलनेकी इच्छा हुई है, मैं आज तुम्हारे ही साथ पांसेसे खेलूंगी। रानीके इतना कहते ही वहांपर महाराज आपहुंचे और उन्होंने भी आज्ञा दे दी कि महारानीकी इच्छा पूरी करो ॥ ८३–८४ ॥ इसप्रकार रानीने पुरोहितको तो रोक लिया और निपुणमती नामकी किसी चतुर वेश्याको बुलाकर और

किम् । भवता ते पुनरुक्त सर्वं वेत्सि त्वमेव हि ॥ ७४ ॥ तत. प्रोक्त पुनस्तेन नाऽय तु गृहिलो गृहात् । अस्मान्निस्सार्यतामेव स तैर्निस्सारितो हठात् ॥ ७५ ॥ भ्रमन् लोके स पूत्कार कुर्वन्नित्य प्रतिस्थित' । सत्यघोषेण पञ्चैव माणिक्यानि हृतानि मे ॥ ७६ ॥ चिंचावृक्ष समारुह्य स पूत्कार करोति वै । राजगृहसमीपे नु रात्रौ यामे च पश्चिमे ॥ ७७ ॥ एव प्रतिदिन कुर्वन् षण्मासात्स वणिग्वर । स्थित पूत्कृतिमाकर्ण्य सुराज्ञ्या भणितो नृप ॥ ७८ ॥ नाथ ना गृहिलो देव सादृश्यवचनात्सदा । राजोक्त सत्यघोषस्य किं चौर्यं हि प्रभाव्यते ॥ ७९ ॥ पुनर्निरूपित रामदत्तया देव भाव्यते । ततोऽपि सिंहसेनेन प्रोक्त त्व हि परीक्षय ॥ ८० ॥ लब्ध्वादेश प्रभाते स प्रणामार्थं समागत' । राज्ञ्यास्तया समाकार्य पृष्ठो दुष्टपुरोहितः ॥ ८१ ॥ किमागतो भो मित्र वृहद्वेलामुवाच स । आगत श्यालको मेऽद्य तस्य भुक्त्यै गृहे स्थित ॥ ८२ ॥ पुनर्निरूपित राज्ञ्या क्षणैक चात्र तिष्ठ भो । ममाति कौतुक जात द्यूतक्रीडादिहेतवे ॥ ८३ ॥ करोम्यद्य

उसे एकांतमें ले जाकर उसके कानमें सब बात समझाकर कह दी और कहा कि देख, तू पुरोहितके घर जा, पुरोहितानीसे कहना कि " पुरोहितजी महाराणीके पास बैठे हैं उन्होंने उस परदेशी पागलके माणिक मगाये हैं उन माणिकोंसे उन्हें आवश्यक कार्य है मुझे इसीलिये आपके पास भेजा है। " इसप्रकार उसकी स्त्रीसे कहकर और उन माणिकोंको लेकर शीघ्र ही मेरे पास आ जा। यह सब समझ बूझकर वह वेश्या पुरोहितानीके पास गई, उससे जाकर सब बात कही परंतु उस पुरोहितानीको भी सदा झूठ बोलनेका अभ्यास था और पुरोहितने न देनेके लिये कह रक्खा था इसलिये उसने वे माणिक दिये ही नही ॥ ८५–८८ ॥ तब लाचार होकर वह वेश्या रानीके पास लौट आई और आकर कहा कि वह पुरोहितानी उन माणिकोंको किसी तरह नही देती है ॥ ८९ ॥ इसी बीचमें रानीने उस पांसेके खेलमें पुरोहितकी एक अंगूठी जीत ली थी अतएव रानीने पुरोहितके चिन्ह रूपमे वह अंगूठी भेजी तथापि पुरोहितानीने ब्राह्मणके डरसे वे रत्न नही दिये ॥ ९० ॥ इधर रानीने पुरोहितजीका यज्ञोपवीत (जनेऊ) और उसमें बंधी हुई वह कैंची भी जीत ली थी इसलिये रानीने उस वेश्याके साथ चिन्हरूपमें वे दोनों चीज भेजकर वे रत्न मंगाये ॥ ९१ ॥ अबकी बार जनेऊ और कैंची दोनो चीजें देखकर पुरोहितानीको विश्वास होगया और उसने शीघ्र ही वे रत्न निकालकर दे दिये ॥९२॥ वेश्याने वे रत्न लाकर रानीको दे दिये और रानीने वे बहुमूल्य माणिक राजाको दिखाये ॥ ९३ ॥ अब राजाने उस सेठकी भी

त्वया सार्द्धमक्षक्रीडामहं स्वयम्। तत्रागत्य नृपेणापि प्रोक्तः कुरु समीहितम् ॥ ८४ ॥ ततो द्यूते सम जाते प्रोक्तं कर्णे तदा तया। निपुणादिमतीनामविलासिन्या प्रपचत ॥८५॥ पुरोहितः स्थित राज्ञी पार्श्वेऽहं तेन प्रेषिता। याचित्वा गृहिलस्यैव माणिक्यानि स्वकार्यत ॥ ८६ ॥ तद्भार्यायै भणित्वेति शीघ्र नीत्वापि तानि वै। आगच्छात्र ततः सागात्तद्गृह रत्नहेतवे ॥ ८७ ॥ रत्नानि याचितान्येव विलासिन्या निषिद्धया। तद्भार्यया न दत्तानि तरा पूर्ववचोऽनृतात् ॥ ८८ ॥ आगत्य तद्विलासिन्या राज्या कर्णे निरूपितम्। ददाति नैव सा तानि माणिक्यानि कदाचन ॥ ८९ ॥ साभिज्ञान प्रदत्त्वा सा प्रेषिता निजमुद्रिका। तस्यास्तथा न दत्तानि तद्ब्राह्मणातिभीतया ॥९०॥ ततस्तया जिते यज्ञोपवीतछुरिके तदा। साभिज्ञानद्वय दत्त्वा प्रेषिता ननु तद्गृहे ॥ ९१ ॥ कार्तिका ब्रह्मसूत्र च दृष्ट्वा दत्तानि भीतया। तद्भामया विलासिन्याः शीघ्रं रत्नानि पच वे ॥ ९२ ॥ तयागत्यप्रदत्तानि राज्ञ्यस्तानि तया पुन। राज्ञ प्रदर्शितान्येव माणिक्यानि वराणि च ॥९३॥ ततोऽतिबहुसद्रत्नमध्ये निक्षिप्य तानि सः। आकर्ण्य गृहिलो राज्ञा भणित सत्यहेतवे ॥९४॥ माणिक्यानि त्वदीयानि

परीक्षा लेनी चाही। इसलिये उसने अपने घरके बहुतसे माणिकोंमें मिलाकर वे माणिक रख दिये और सेठको बुलाकर कहा कि इनमें जो माणिक तुम्हारे हों वे परीक्षा करके निकाल लो। तब सेठने देखकर अपने माणिक छांट लिये ॥९४–९५॥ सागरदत्तके इस कार्यसे राजाको बहुत सन्तोष हुआ। शुभ कर्मके उदयसे सागरदत्त सेठको अपने नगरका राजश्रेष्ठी बना लिया ॥ ९६ ॥ सो ठीक ही है क्योंकि सत्य और संतोषके माहात्म्यसे इस संसारमें क्या क्या प्राप्त नहीं होता है। सत्यके माहात्म्यसे देव भी सेवक समान होजाते हैं फिर मनुष्योंको राज्यके सुखकी तो बात ही क्या है ॥९७॥ तदनन्तर राजाने महा झूठ बोलनेवाले सत्यघोषसे पूछा कि बता तूने यह काम किया है या नहीं ॥ ९८ ॥ इसके उत्तरमें पुरोहितने कहा कि हे देव! मै ऐसा निंद्य कर्म कभी नहीं कर सकता। क्या मै ऐसा महा पाप करनेवाला काम कर सकता हूं? ॥९९॥ तदनंतर महाराज उसके कामसे बहुत ही क्रोधित हुए और उन्होंने उसके लिये तीन प्रकारका दण्ड निश्चित किया। या तो वह तीन थाली गोबरकी खावे या वह दुर्मति किसी मल्लके तीन घूंसे खावे अथवा उस दोषको शांत करनेके लिये अपना सब धन दे देवे ॥१००–१०१॥ पुरोहितने सोच विचार कर पहिले गोबर खाना प्रारंभ किया। जब वह उसे न खा सका तब मल्लके घूंसे खाये उनकी भी पूरी चोट न सह सका तब अपना सब धन देना प्रारंभ किया तथा उस लोभी और पापीने फिर गोबर खाना आदि तीनों प्रकारके दंडोंको सहा। इस प्रकार उस नीचको तीनो प्रकारके दंड सहन करने पड़े ॥१०२–१०३॥ इस प्रकार तीनों प्रकारके दंडोंको भोगकर वह मरा और अतिशय लोभके कारण राजाके भण्डारमें गंधन् नामका सर्प हुआ

परिज्ञाय गृहाण रे। परीक्ष्य श्रेष्ठिना तानि गृहीतानि निजानि च ॥ ९५ ॥ प्रतिपन्नश्च स तासां पुरस्तोषाच्छुभोदयात्। श्रेष्ठी समुद्रदत्तो नु राज्ञा श्रेष्ठी कृत पुरे ॥९६॥ सत्यसन्तोषमाहात्म्यात् किं न स्यादिह भूतले। भृत्यायते सुरा नृणां राजसौख्यस्य का कथा ॥९७॥ ततो नृपतिना पृष्ठ. सत्यघोषोऽनृताकरः। इद कर्म कृत मूढ त्वया वा न निरूपय ॥९८॥ तनोक्त देव नात्राह निंद्य कर्म करोमि तत्। ममेदृश महापाप कर्तुं किं कर्म युज्यते ॥९९॥ ततो रुष्टेन भूपेन तस्य दडत्रय कृतम्। गोमयेन भृत स्थालत्रय भक्षय निश्चितम् ॥१००॥ मल्लमुष्टेर्दृढ घातत्रय चाप्यद्य दुर्मते। स्वद्रव्य सकल देहि स्वदोपस्यातिशान्तये ॥१०१॥ आलोच्य तेन प्रारब्ध खादितु गोमय मलम्। तस्याशक्तेन तन्मुष्टिघातं सोढु च पापत ॥१०२॥ तदाशक्य धन दातुमारब्ध लोभिना स्वयम्। तस्यासक्तेन प्रारब्ध गोमयादिकभक्षणम् ॥१०३॥ एव दड स्वय भुक्त्वा भाण्डागारे नृपस्य स। मृत्वा लोभवशाज्जात सर्पो गधनसज्ञक ॥१०४॥ दिव्याग्निना ततो मृत्वा कुर्कुटो

भाति सर्वगुणोपेता दिव्यध्वनिरनोपमा ॥७०॥ वीज्यमानो जिनो देवैश्चतु षष्ठिप्रकीर्णकैः । सिंहासनत्रय रेके दीप्त भामडल सदा ॥७१॥
सार्द्धद्वादशसकोटिवादित्रैर्भाति देवजैः । दुदुभिः शब्द एवात्र श्वेतछत्रत्रय भवेत् ॥ ७२ ॥ प्रातिहार्याष्टकैः देवकृतै. श्रीजिननायकाः ।
भान्ति प्रान्तव्यतिक्रान्त ज्ञानं केवलदर्शनम् ॥७३॥ अनन्त च महावीर्यं सुख वाचामगोचरम् । पिण्डीकृता. गुणाः सर्वे षट्चत्वारिंशदेव स्युः
॥७४॥ अन्ये गुणा जिनेन्द्राणां वहवः सन्ति भूतले । विज्ञेया मुनिभिरन्यशास्त्रादुपशमादिकाः ॥७५॥ ज्ञायन्ते न यथाऽसख्या ऊर्मय सागरे
घने । धारा कर्देगिनस्तारास्तथा श्रीजिनसद्गुणाः ॥७६॥ अनन्तगुणसम्पूर्णान् पञ्चकल्याणपूजितान् । अनन्तमहिमोपेतान् भज त्वं जिन-
नायकान् ॥७७॥ अनन्यशरणो यस्तु सेवते तीर्थंकारकान् । कुदेवानपि सत्यज्य स. स्यात्ताद्दग्विधोऽचिरात् ॥७८॥ ये कुदेवाः भवन्त्यत्र
स्वामिन् तान् मे निरूपय । ज्ञाते सति जनैस्तेषा त्याग कर्तुं च शक्यते ॥७९॥ विष्णुब्रह्मादयो ज्ञेया कुदेवा योषिदन्विता' । ससार-
सागरे मग्ना शस्त्राभरणमण्डिताः ॥८०॥ गोपांगनासमासक्तः पापारम्भप्रवर्तकः । शस्त्रहस्तो भवे रक्तो देव. कृष्णः कथ भवेत् ॥८१॥
अर्द्धांगे योषितायुक्त. प्रास्थिमालाविभूषितः । लज्जादिरहितो देव कथ स्यादीश्वरो बुध. ॥८२॥ तपोभिमानसयुक्तो देवीनृत्यावलोकनात् ।
रागाविष्ट' कथ ब्रह्मा हीनसत्त्वोऽमरो भवेत ॥ ८३ ॥ विनायकादयो देवा. पशुरूपेण सस्थिताः । मूढैः संस्थापिता लोके दु खदारिद्र-
दायका ॥८४॥ शस्त्रहस्ताः महाक्रूरा व्युद्युक्ता सत्त्वखंडने । चडिका पापकर्माढ्या. कथ सेव्या बुधोत्तमैः ॥८५॥ विष्ठादिभक्षणे लोला या
दुष्टा हन्ति देहिनाम् । पादश्रृंगै कथ सा गौर्वंद्या भवति देहिनाम् ॥८६॥ काकविष्टादिकैर्जातास्तरवः पिप्पलादय । एकेन्द्रियत्त्वमापन्ना
कथ पूज्या भवन्त्यहो ॥८७॥ आचाम्ल भाजन गेह कूपिका काकमेव ये । पूजयन्ति महामूढा पशवस्ते न मानवा ॥८८॥ नीचदेवान्
भजन्त्येव क्रूरकर्मात्मन. खला । ये ते पापार्जन कृत्वा मज्जन्ति श्वभ्रसागरे ॥८९॥ नमन्ति ये पशून् मूढा गोहस्त्यादिवहून् वृथा ।
पशवस्ते भवन्त्यत्र लोकेऽमुत्र विनिश्चितम् ॥९०॥ दुर्द्धियाः ये तरून् भक्त्या प्रार्चयन्ति नमन्ति च । स्युस्तेऽमुत्र नगा नूनं तस्करादि
कुसगवत् ॥९१॥ नद्यादिजलमत्रैव पूजयन्ति नमन्ति ये । स्नान कुर्वन्ति तेऽमुत्र मत्स्ययोनिं व्रजन्ति वै ॥९२॥ नमन्ति यदि गां मूढा
घ्नन्ति यष्ट्यादिभि' कथम् । वदते यज्जल तेन शौच कुर्यु' कथ च ते ॥९३॥ अहो पिप्पलदूर्वादीन पूर्वं यान् पूजयन्ति ये । छेदयन्ति
पुनस्ताश्च ते खला दुष्टबुद्धयः ॥९४॥ कुदेवादिसमस्तांश्च त्यक्त्वा त्व भज श्रीजिनान् । एकचित्तेन भो धीमन् स्वर्गमुक्तिसुखाप्तये ॥९५॥
वीतरागान् परित्यक्त्वा कुदेवान् सेवते कुधीः । योऽमृतं हि स सत्यज्य गृह्णन् हालाहाल विषम् ॥९६॥ भजते तीर्थनाथान् य. कुदेवान्
सेवते पुनः । इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट. सः स्याज्जंवुकवत्कुधी ॥९७॥ यथाणोश्च पर नाल्प न महदगगनात्परम् । तथा श्रीजिनदेवेन समो

देवो न विद्यते ॥९८॥ इति मत्वा जिनाधीशान् मनोवाक्कायकर्मभि । भज त्व वत्स मुक्त्यर्थं धर्मार्थं वा विशुद्धिदान् ॥९९॥ निश्चयं कृत्य तीर्थेश तदुक्त धर्ममाचर । अहिंसालक्षण सार सर्वसत्त्वसुखप्रदम् ॥१००॥ मुक्तिसौख्याकरो धर्मो मुनीना कथितो जिनै । स्वर्गऋद्धिप्रद स्तोक. स च श्रावकगोचर. ॥१०१॥ संसारसागरे मग्नान् जीवानुद्धृत्य यो ध्रुवम् । धत्ते मुक्तिपदे त हि धर्मं धर्मेश्वरा विदु. ॥१०२॥ वदन्ति फलमस्यैव धर्मस्य श्रीजिनेश्वरा. । नित्याम्युदयस्वर्गादिसुखं साक्षाद्धि मुक्तिजम् ॥१०३॥ धर्मादभ्युदय पुंसां सुखं चक्रयादिगोचरम् । इन्द्रादिजं च स्यान्नित्य तीर्थनाथनिषेवितम् ॥१०४॥ सद्दर्शनमहामूल सद्दयाजलसिंचितम् । ज्ञानवृत्तिमहास्कन्दं क्षमादिशाखशोभितम् ॥१०५॥ दानादिपल्लवोपेत ध्यानपुष्पं जिनेश्वरा । स्वर्गमुक्तिफलाढ्यं च धर्मं कल्पद्रुम जगु ॥१०६॥ अमृतादपर न स्यान्मिष्ट कल्पतरोः परम् । वृक्षो यथा तथा धर्मो दयायाश्च परो न च ॥१०७॥ कुधर्मं दूरतस्त्यक्त्वा श्रीधर्मं कुरु सौख्यदम् । जिनाख्यातं दयोपेतमेकाचेत्तन प्रत्यहम् ॥१०८॥ भगवस्तं कुधर्मं हि प्ररूपय ममादरात् । प्रणीत केन सल्लोके पापादिदु खदायक ॥१०९॥ यागादिकरण विद्धि जीवहिंसादिसम्भवम् । कुधर्मं स्नानम निंद्य तर्पण श्राद्धमेव च ॥११०॥ जीवादिहिंसनं ये च कुर्वन्ति कारयन्त्यहो। धर्मयागकुदेवादिकार्ये श्वभ्रे पतन्ति ते ॥१११॥ यदि हिंसादिसंसक्ता नाक गच्छन्ति दुर्मदा । केनैव कर्मणा श्वभ्र के च यान्ति विचारय ॥११२॥ जीवनाशकर स्नान रागपापादिवर्द्धनम् । धर्मध्वंसकर विद्धि सागरादिषु प्रत्यहम् ॥ ११३ ॥ यदि स्वर्गो भवेद्धर्म स्नानादपि पवित्रता । प्राणिना च तदा मत्स्याः स्वर्गं गच्छन्ति धीवराः ॥११४॥ चित्तमन्तर्गत दुष्ट यस्य नित्य प्रवर्तते । तस्य शुद्धि. कथ स्नानाज्जायते मद्यकुम्भवत् ॥ ११५ ॥ तिलपिंड जले मूढा क्षिपन्ति पितृतृप्तये । ये तेऽतिदुर्गतिं यान्ति त्रसनीरागिहिंसनात् ॥११६॥ तर्पण ये प्रकुर्वन्ति मृतजीवादि श्रेयसे । मिथ्यात्वसत्त्वसघाताद्भवारण्ये भ्रमन्ति ते ॥११७॥ मातृपित्रादिसिद्ध्यर्थं श्राद्ध कुर्वन्ति ये वृथा । गृह्णन्ति ते खपुष्पेण विंध्यासुतशेखरम् ॥११८॥ भोजन कुरुते पुत्र पिता पश्यति त स्वयम् । यदि तृप्ति भजन्नैव मृतः सोपि कथ श्रयेत् ॥११९॥ द्रव्यार्जनान्नसपाकजातजीवक्षयाद् ध्रुवम् । बृहत्पापकर श्राद्ध न च पुण्यप्रद भवेत् ॥ १२० ॥ श्रद्धापूर्वं सुपात्राय दान देय विवेकिभि । स्वधर्माय परार्थ न श्राद्ध कार्यं च पापदम् ॥१२१॥ वर्तमाने स्वपित्राणा धर्मविघ्न भजन्ति ये । तन्मृतानां च श्राद्ध ते श्वभ्रनाथा भवन्ति वै ॥१२२॥ बहुनोक्तेन किं मूढ. पितृदेवादिकारणम् । तपोदान च य कुर्याद् व्यर्थं तस्य भवेच्च तत् ॥१२३॥ सर्वं च पापदं विद्धि संक्रांतिग्रहणादिकम् । दानमेकादशीसूर्यप्रभव कुतपोऽखिलम् ॥१२४॥ रागद्वेषादिससक्तैर्धूर्तै मिथ्योपदेशिभिः । मूर्खै कुमार्गसलग्नैर्योपित्ससक्तमानसै. ॥१२५॥ प्रणीतो य. कुधर्मो हि मूढसत्त्वप्रतारण. । अक्षसपोपको दुष्टस्त त्यज त्व विषाहिवत् ॥१२६॥ हिंसाधर्मरता मूढा दुष्टा

वर हुताशने पातो वर कंठे च सर्पिणी। विपस्य भक्षण श्रेष्ठ मिथ्यात्वान्न च कुगुरुसेवका.। कुदेवकुतप.सक्ता· कुगतिं यान्ति पापत· ॥१२७॥ जिनमार्गाद्विपक्ष यद्व्रत-जीवितम् ॥१२८॥ यदुक्त जिननाथेन दानपूजाव्रतादिकम्। तप· सोपि भवेद्धर्म कुधर्मं सर्वमन्यथा ॥१२९॥ जिनवेपान्विता धर्मतपोऽखिलम्। दानपूजादिक तच्च मिथ्यात्व विद्धि दु खदम् ॥१३०॥ विधाय निश्चय प्रोच्चे धर्मे श्रीजिनभाषिते। गिरि-सेव्या निर्ग्रथाः गुरव त्वया ॥१३१॥ सर्वसत्त्वदयोपेतान् शश्वद्धर्मोपदेशकान्। विकथादिविनिर्मुक्तान् हेमतृणसमोपमान् ॥१३२॥ शून्यगृहावासान् ध्यानविध्वस्तकिल्विषान्। वाह्याभ्यन्तरभेदेन त्यक्तसर्वपरिग्रहान् ॥१३३॥ निर्जितेन्द्रियसच्चौरान् मारमातंगघातकान्। त्यक्तकार्यादिसस्कारान् महासत्त्वान् शुभाशयान् ॥१३४॥ सर्वांगमलसलिप्तान् निर्मलान् सगवर्जितान्। त्रिकालयोगसयुक्तान् ध्यानाध्ययन-तत्परान् ॥१३५॥ मौनव्रतधरान् धीरान् सर्वांगश्रुतपारगान्। क्षमादिदशधाधर्मयुक्तान् जितपरीषहान् ॥१३६॥ दिगम्बरधरास्त्यक्तदड-शल्यत्रयादिकान्। विरक्तान् कामभागेषु रक्तान् मुक्त्यादिके सुखे ॥१३७॥ दुर्वलीकृतसर्वांगान् सवलीकृतसद्‌गुणान्। सिंहनिष्क्रीडिता-ध्युग्रतप·ससक्तमानसान् ॥१३८॥ मूलोत्तरगुणोपेतान् प्रसन्नान् सज्जलोपमान्। कर्मेन्धनाग्निसादृश्यान् गभीरान् सागरानिव ॥१३९॥ प्रावृट्काले स्थितान् वृक्षमूले हेमन्तिकेऽचलान्। चतुर्मार्गे च ग्रीष्मे तान् नगशृंगमुखीश्वरान् ॥१४०॥ अनेकऋद्धिसम्पूर्णान् समर्थान् भव्यतारणे। निर्भयान् सद्गुरून् नित्यं भज त्व स्वर्गमुक्तये ॥१४१॥ देशका ये तरन्ति स्वं संसारे दु खसागरे। तारयन्ति समर्थास्ते परेषा भव्यदेहिनाम् ॥१४२॥ गुरून् सगविनिर्मुक्तान् ये भजन्ति बुधोत्तमाः। नाकराज्यादिक प्राप्य मुक्तिनाथा भवन्ति. ते ॥१४३॥ निर्ग्रंथान् ये गुरून् मुक्त्वा सेवन्ते कुगुरून् पुनः। चिंतामणीन् परित्यज्य काचान् गृह्णन्ति तेऽधमाः ॥१४४॥ एकाग्रचेतसा धीमन् त्व त्यक्त्वा कुगुरून्, भज। दिगम्बरान् महाधीरान् निर्ग्रन्थान् मुक्तिहेतवे ॥१४५॥ स्वामिस्त्व कुगुरूनत्र तान् मे कथयादरात्। ससारजलधौ मग्नान् धर्मध्यानादिवर्जितान् ॥१४६॥ धनधान्यादिसंसक्तान् नित्यं कामार्थलालसान्। आर्तरौद्रपरान् मूढान् गृहव्यापारभारितान् ॥१४७॥ मिथ्यात्वप्रेरकान् पापपडितान् योपि-ताश्रितान्। सप्रार्थनपराल्लोके दुष्टान् दुर्गतिदायकान् ॥ १४८ ॥ मिथ्योपदेशकान् नीचान् मूढसत्त्वप्रतारकान्। सत्क्रोधानपदान् लग्नान् पथि मिथ्यात्वपूरिते ॥१४९॥ जिनमार्गपरित्यक्तान् त्यज त्वं कुगुरून् वहून्। सर्पानिव सदा भ्रातो दूरत· पापशंकया ॥१५०॥ स्वयं मज्जन्ति ये मूढाः भवाब्धि तारयन्ति ते। कथ वा परजीवानां दुष्टाचारपरायणा ॥१५१॥ वर सर्पारिचौराणा सग स्यान्न परे· समम्। मिथ्यात्वपथसलग्नैरनन्तबहुदुःखदम् ॥१५२॥ इति मत्वा महाभाग भज सद्गुरुपुङ्गवान्। स्वर्गमुक्त्यादिसिद्ध्यर्थं सर्वसत्त्वोपकारकान् ॥१५३॥ भज जिनवरदेव श्रीगणेन्द्रादिसेव्य, कुरु परमपवित्रं तत्प्रणीतं सुधर्मम्। सकलगुणगरिष्ट सद्‌गुरु संश्रय त्व, भवति बुधसुबीजं तत्त्रय

दर्शनस्य ॥१९४॥ विगतसकलदोषं तीर्थनाथैः प्रणीतं, भुवनपतिसुसेव्यं भव्यसत्त्वैकपात्रम्। परमगुणनिधानं मोक्षवृक्षस्य बीजं, पिव विगत-कुसंग दर्शनाख्य सुधाबु ॥ १९९ ॥

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे देवधर्मगुरूप्ररूपकोनाम तृतीय सर्गः ।

अथ चौथा परिच्छेद ।

अथानंतर—आनंद वढानेवाले भगवान अभिनंदन परमदेवको नमस्कार कर सम्यग्दर्शनके भेद, कारण और हेतु कहता हूं ॥ १ ॥ जो जीव भव्य हो, पंचेंद्रिय हो, संज्ञी हो, पर्याप्तक हो और काललब्धि आदि समस्त कारण जिसे प्राप्त होगये हों ऐसा जीव प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है ॥२॥ फिर वह अंतर्मूहूर्तके वाद मिथ्यात्व गुणस्थानमें निवासकर क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है। भावार्थ—औपशमिक सम्यग्दर्शनका समय अंतर्मुहूर्त है। अंतर्मुहूर्तके वाद मिथ्यात्व होता ही है। इसके वाद समयानुसार क्षायोपशमिक होता है ॥ ३ ॥ अत्यंत शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करने वाले जीव क्षायिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होते हैं। यह क्षायिक सम्यग्दर्शन सुमेरु पर्वतके समान अकंप है, कभी नष्ट नहीं होता और कर्मरूपी ईंधनको अग्निके समान है ॥ ४ ॥ जिसप्रकार मिट्टी मिले पानीमें फिटकरी या कतकफल डाल देनेसे मिट्टी नीचे वैठ जाती है और शुद्ध जल ऊपर आजाता है उसी प्रकार अनंतानुवंधी क्रोध मान माया लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोंके उपशम होनेसे भव्य जीवोंके पहिला औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है ॥ ५ ॥ जिस प्रकार उस स्वच्छ जलको दूसरे वर्तनमें उतार लेनेसे फिर उस स्वच्छ जलमें किसी प्रकारकी मिट्टी

अथ चतुर्थः सर्गः ।

आनन्दोत्पत्तिसद्गेह नमस्कृत्याभिनन्दनम्। भेदं च कारणं हेतु वक्ष्ये सद्दर्शनस्य च ॥१॥ भव्य पञ्चेन्द्रियः सज्ञी काललब्ध्यादिप्रेरित.। पूर्णः गृह्णाति सम्यक्त्वमग्युपशमादिकम् ॥२॥ अन्तर्मुहूर्तकालेन मिथ्यात्व प्रतिपद्य स । क्षायोपशमिकं नाम्ना प्रादत्ते दर्शन भुवि ॥३॥ क्षायिक भजते कश्चिद भव्यो व्यासन्नमुक्तिग. । अकंप मेरुसतुल्य कर्मेन्धनहुताशनम् ॥४॥ सप्तप्रकृतिदुष्कर्मशमने प्रथम शमम् । जायते भव्यजीवानामूर्द्धस्वच्छजलोपमम् ॥५॥ षट्प्रकृतिशमेनैव सम्यक्त्वोदयकर्मणा । क्षायोपशमिक विद्धि प्रार्द्धस्वच्छोदकोपमम् ॥६॥ सप्तप्रकृति-

नही रहती उसी प्रकार ऊपर लिखी हुई सातों प्रकृतियोंके अत्यंत क्षय होनेसे जीवोंके क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है यह सम्यग्दर्शन सारभूत है और मोक्ष प्राप्त करानेवाला है ॥ ६ ॥ पहिले छह प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय होनेसे तथा उपशम होनेसे और देशघाती सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय होनेसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। जैसे मिट्टी मिले जलमेंसे मिट्टीका कुछ भाग निकल गया हो और थोडासा बना हो। उसी प्रकार चल मलिन आदि दोष जिसमें हों वही क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है ॥ ७ ॥ मिथ्यात्व प्रकृतिके तीन भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व। तथा अनंतानुबंधी कषायके चार भेद हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ। हे वत्स तू इन सातों प्रकृतियोंको नष्ट कर सम्यग्दर्शनको धारण कर। यह सम्यग्दर्शन मोक्ष महलकी प्रथम सीढी है ऐसा भगवान सर्वज्ञदेवने कहा है ॥ ८–९ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् यह मिथ्यात्व कैसा है और कषाय कैसे हैं सो कृपाकर बतलाइये। क्योंकि ये जीव जानकर ही उनका त्याग कर सकते हैं ॥१०॥ उत्तर—जिससे विवेक सब नष्ट होजाय, मूढता प्रगट हो और जो प्राणियोंको नरकमें पटक दे उसको श्री जिनेंद्रदेवने मिथ्यात्व कहा है ॥११॥ यह मिथ्यात्व अनेक रोग क्लेश उत्पन्न करनेवाला है, दुष्ट है, अनंत संसारमें परिभ्रमण करानेवाला है, और मोक्षमहलमें जानेसे रोकनेके लिये जुडे हुए किवाडोंके समान है। यह मिथ्यात्व अनंत परंपरारूप दुःखोंको देनेमें चतुर है, पापका बीज है और धर्मरूपी वनको जलादेनेके लिये अग्निके समान है इसलिये हे वत्स! इसे तू दूरसे ही छोड़ ॥ १२–१३ ॥ मिथ्यादृष्टी जीव हिंसा रहित धर्मको कभी नही समझ सकता। जिसप्रकार पागल पुरुष पदार्थोंको उलटा ही जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव भी असत्य और कुधर्मको ही जानता है ॥ १४ ॥ उस मिथ्यात्वसे ज्ञान चारित्र धर्म आदि सब नष्ट होजाता है। यह जीवोंको विषके समान है और बुद्धिको नाश

निःशेषक्षयाज्जीवा भजन्ति वै। क्षायिकं मुक्तिदं सारं स्वच्छनीरसमं क्रमात् ॥ ७॥ सम्यङ्मिथ्यात्वमिश्रेण मिथ्यात्वप्रकृतिर्भवेत्। त्रिधा चतुर्थानन्तानुवधिकर्मकषायजम् ॥८॥ सप्तप्रकृतिकर्माणि हत्वा त्वं भज दर्शनम्। सोपानं प्रथमं मुक्तिगेहे श्रीजिनभाषितम् ॥९॥ मिथ्यात्वं कीदृशं स्वामिन् कषायं मे निरूपय। ज्ञाते सति पुनस्त्यागं तत्कर्तुं शक्यते जनैः ॥१०॥ विवेको हन्यते येन मूढता च प्रसूयते। नीयन्ते प्राणिनः श्वभ्रं मिथ्यात्वं तज्जगुर्जिनाः ॥११॥ अनन्तदुःखसन्तानदानदक्षं बुधैः मतम्। मिथ्यात्वं पापसवीजं धर्मारण्यहुताशनम् ॥१२॥ रोगक्लेशकरं दुष्टमनन्तभवकारणम्। मुक्तिधामकपाटं च मिथ्यात्वं त्यज दूरतः ॥१३॥ मिथ्यादृष्टिर्न जानाति धर्मं हिंसाविवर्जितम्।

करनेवाला है इसलिये हे भव्य इसे तू शीघ्र ही छोड़ ॥ १५ ॥ मुनिराजोंने इस मिथ्यात्वके पांच भेद बतलाए हैं—एकांत, विपरीत, वैनयिक, संशय और अज्ञान ॥ १६ ॥ जिस मतमें जीव तत्त्वोंको तथा अन्य तत्त्वोंको सर्वथा क्षणिक बतलाता है, जिस मतमें कर्मोंको अन्य जीव करता है और उनके फलोंको अन्य ही भोगता है तथा जो मछली आदिके भक्षण करनेमें दोष ही नहीं समझते उनका वह दुःख देनेवाला, दुष्ट और केवल अपनी कुबुद्धिसे कल्पना किया हुआ एकांत मिथ्यात्व है ॥ १७–१८ ॥ जिस मतमें जीवोंकी हिंसासे पुण्य बतलाया गया हो, स्नानसे शुद्धि बतलाई गई हो, जिनके देव हिंसा आदि क्रूर कर्मोंमें लगे हुए हैं, गुरु लोग कामकी लालसामें लिप्त हों, जिसमें पशु वृक्ष आदिकी पूजा करना बतलाया हो और मृत मनुष्योंका तर्पण बतलाया हो, ऐसा ब्राह्मणोंका वैदिक मत विपरीत मिथ्यात्व समझना चाहिये ॥१९–२०॥ जिस मतमें प्रितिदिन पात्र अपात्रोंकी, देव अदेवोंकी सबकी विनय की जाती हो वह तापसियोंका विनय मिथ्यात्व कहलाता है ॥ २१ ॥ जो तीर्थंकर अरहंतदेवमें भी आहारकी कल्पना करते हैं, स्त्रियोंको भी मोक्ष होना बतलाते हैं, जो वर्द्धमान स्वामीका गर्भापहरण मानते हैं, जो लकड़ी, वस्त्र, पात्र आदि सबको धर्मका साधन मानते हैं (क्षयोपकरण मानकर साधुलोग रखते हैं) वह दुःख देनेवाला श्वेतांबरोंका सांशयिक मिथ्यात्व है ॥ २२–२३ ॥ अज्ञान मिथ्यात्व म्लेच्छ आदि जीवोंके होता है, जिनमें भक्ष्य अभक्ष्यका कुछ विचार नहीं होता ॥ २४ ॥ यह पांचों प्रकारका मिथ्यात्व पापोंको उत्पन्न

असत्यं च कुधर्मं ना यथोन्मत्तः पदार्थकम् ॥१४॥ ज्ञानचारित्रधर्मादि सर्वं नश्यति येन तत् । मिथ्यात्वं विषतुल्यं भो त्यज त्वं बुद्धिनाशकम् ॥१५॥ एकान्तविपरीतं च वैनयिकं च संशयम् । अज्ञानं पञ्चधा प्रोक्तं मिथ्यात्वं मुनिपुंगवैः ॥१६॥ कथ्यते क्षणिको जीवो यत्र तत्र च सर्वथा । अन्यः कर्मकरोत्येव भुंक्ते अन्यो हि तत्फलम् ॥१७॥ मत्स्यादिभक्षणे दोषो नास्ति दुःखाकरं खलम् । मिथ्यात्वं विद्धि तन्मित्र कुबोधमतकल्पितम् ॥१८॥ पुण्यं जीववधाद्यत्र शुद्धिः स्नानेन कल्प्यते । क्रूरकर्मरतादेवाः गुरवः कामलालसाः ॥१९॥ पूजनं पशुवृक्षाणां तर्पणं मृतस्वजनात् । विपरीतं च तं ज्ञेयं मिथ्यात्वं द्विजसंभवम् ॥२०॥ विनयो गीयते यत्र पात्रापात्रेषु प्रत्यहम् । देवादेवेषु तद्विद्धि मिथ्यात्वं तापसप्रजम्॥२१॥ ब्रूयते यत्र तीर्थेशः चाहारो मुक्तिसंभवम् । स्त्रीणां गर्भापहारं च वर्द्धमानस्य दुःखदम् ॥२२॥ यष्टिकावस्त्रपात्रादि सर्वं धर्मस्य साधनम् । तद्धि संशयमिथ्यात्वं भवेत्श्वेतपटप्रजम् ॥२३॥ अज्ञानकं कुमिथ्यात्वं भवेत्स्वेच्छादिगोचरम् । खाद्याखाद्यपरित्यक्तं विचारः शून्यवादनम् ॥२४॥ पंचप्रकारमिथ्यात्वं दूरं तं मतकल्पितम् । उक्तं स्याद्बहुधाप्यन्यदनेकाशयजं भुवि ॥२५॥

करनेवाला है, और बुद्धिके द्वारा स्वयं कल्पित किया हुआ है। इनके सिवाय अभिप्रायोंके भेदसे इस संसारमें और भी अनेक प्रकारका मिथ्यात्व समझ लेना चाहिये ॥ २५ ॥ यह मिथ्यात्व मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होता है। यह धर्मको नाश करनेवाला है। ज्ञान चारित्रको जडसे उखाड देनेवाला और अनेक पापोंका कारण है ॥ २६ ॥ सम्यक्त्वप्रकृति सम्यग्दर्शनमें मल उत्पन्न कर देती है तथा यह जिनालय हमारा है, यह प्रतिमा हमारी है यह दूसरेकी है, इसप्रकार हठ पूर्वक ममत्व उत्पन्न कर देती है ॥ २७ ॥ सम्यङ् मिथ्यात्व प्रकृति सब देवोंमें तथा सब धर्मोंमें समान परिणाम उत्पन्न कर देती है इसीलिये उसको मिश्र प्रकृति कहते है ॥ २८ ॥ इसी प्रकार अनंत संसारमें परिभ्रमण करानेवाले और पापोंके कारण ऐसे अनंतानुवंधी कषायके भी क्रोध मान माया लोभके भेदसे चार भेद होते हैं ॥ २९ ॥ हे वत्स ! तू इन सातों प्रकृतियोंका त्याग कर और दुःखोंको दूर करनेवाले, स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करानेवाले तथा नरक और तिर्यंच गतिको रोकनेवाले सम्यग्दर्शनको स्वीकार कर ॥३०॥ जो भव्य जीव शंका आदि दोषोंसे रहित और आठों अंगों सहित इस शुभरूप सम्यग्दर्शनको स्वीकार करते हैं वे अवश्य ही परम निर्वाण पदको प्राप्त करते हैं ॥ ३१ ॥

प्रश्न—हे प्रभो ! अब कृपाकर मेरे लिये सम्यग्दर्शनके अंगोंका निरूपण करिये, क्योंकि जानलेनेपर ही वे स्वीकार किये जा सकते हैं ? ॥३२॥ उत्तर—चाहे पर्वतमाला चलायमान होजाय और अग्नि शीतल होजाय तथापि भगवान सर्वज्ञदेवके कहे हुए तत्त्वोंमें कभी अंतर नहीं पड सकता ऐसा श्री जिनेंद्रदेवने कहा है। इसी प्रकार सूक्ष्म तत्त्वोंमें, धर्मके स्वरूपमें, अरहंतदेवके स्वरूपमें, श्रेष्ठ मुनियोंमें और शुभ ज्ञानमें शंकाका त्याग करदेना निश्चल होजाना निःशंकित अंग कहलाता है

मिथ्यात्वकर्मजं ज्ञेयं मिथ्यात्वं धर्मनाशकम् । ज्ञानचारित्रनिर्मूलस्फोटकं पापकारणम् ॥ २६ ॥ सम्यक्त्वप्रकृतिर्ज्ञेया दर्शनस्य मलप्रदा । स्वपरादिषु बिम्बेषु ममत्वजनका हठात् ॥ २७ ॥ समानं सर्वदेवेषु सर्वधर्मादिकेषु च । करोति परिणामं यन्मिश्रकर्म तदुच्यते ॥ २८ ॥ क्रोधमानादिभेदेन कषायाः पापहेतवः । चतुर्धा हि भवन्त्याद्या अनन्तभवकारकाः ॥ २९ ॥ सत्यज्य सप्तप्रकृतीः भज दुःखविनाशकम् । दर्शयन् स्वर्गसोपानं श्वभ्रतिर्यक्निवारणम् ॥३०॥ अष्टांगसयुतं यत्र भजन्ति दर्शनं शुभम् । शंकादि दोषनिर्मुक्तं ते व्रजन्ति परं पदम् ॥३१॥ अंगानि यानि सत्वत्र दर्शने तानि भोः प्रभो । निरूपय ममाग्रे हि कृपां कृत्वा तदाप्तये ॥३२॥ चलत्यचलमालेयं शीततां लभतेऽनलः । देवात् ज्ञानादिजं तत्त्वं न च श्रीजिनभाषितम् ॥३३॥ सूक्ष्मतत्त्वेषु धर्मेषु जिनेषु सन्मुनौ शुभे । ज्ञाने संत्यज्यते शंका या सा निःशंकिता

॥ ३३–३४ ॥ जिसे किसी प्रकारका भय नहीं है जिसने कुदेवादिकोंका सर्वथा त्याग कर दिया है और भगवान जिनेंद्रदेवके कहे हुए तत्त्वोंमें किसी प्रकारकी शंका नहीं करता वह अवश्य ही मोक्ष लक्ष्मीको अपने वश कर लेता है ॥ ३५ ॥ सौभाग्य प्राप्त होनेमें उत्तम भोगोंके मिलनेमें, स्वर्गके सुखोंमें, राज्यमें और धनादिकमें इच्छाका त्याग कर देना–इनके प्राप्त होनेकी इच्छा न करना सो निःकांक्षित अंग कहलाता है ॥ ३६ ॥ जो मूर्ख धर्म सेवन कर अपने भोग सेवन करनेकी इच्छा करता है वह स्वर्ग मोक्षको सिद्ध करनेवाले अमूल्य रत्नको देकर काच खरीदता है ॥ ३७ ॥ जो विद्वान् धर्म सेवन कर सदा मोक्ष प्राप्त होनेकी और कर्मोंके नाश होनेकी इच्छा करते हैं वे अवश्य ही भगवान जिनेंद्रदेवको प्राप्त हुए सुखोंको पाते हैं ॥ ३८ ॥ यदि मुनिराजका शरीर रोग आदिसे पीडित हो अथवा उनके सब शरीर पर मैल लगा हो तोभी उन्हें देखकर घृणा न करना उनके गुणोंमें प्रेम करना निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है ॥ ३९ ॥ जिनमार्गमें सब जगह परीषहोंका सहन करना ही उत्तम होता है ऐसा विचारकर घृणाका त्याग देना भावपूर्वक निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है ॥४०॥ जो धीर वीर मुनि रोगादिकसे पीडित होकर भी महाव्रतोंको पालन करते हैं, घोर तपश्चरण करते हैं इसलिये वे तीनों लोकमें धन्य गिने जाते हैं ॥ ४१ ॥ जो चतुर पुरुष धर्म, देव, मुनि, पुण्यदान और शास्त्र आदिमें पूर्ण विचार करते हैं उनके वह अमूढदृष्टि अंग समझा जाता है ॥ ४२ ॥ जो जीव देव, सद्धर्म, गुरु और तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको विचार करनेमें चतुर है, वह स्वर्गादिकके सुख और राज्य आदिको पाकर अंतमें मोक्षलक्ष्मीका स्वामी होता है ॥ ४३ ॥ जो मूर्ख

मता ॥३४॥ भयसप्तविनिर्मुक्ता कुदेवादि विवर्जितम् । नि शका कुरुते योऽसौ मुक्तिश्रीवशमानयेत् ॥३५॥ सौभाग्ये भोगसारे च स्वर्गे राज्यादिके धने । इच्छा संत्यज्यते धर्माद् या सा नि.काक्षिता भवेत् ॥३६॥ धर्मं कृत्वापि यो मूढः ईहते भोगमात्मनि । रत्न दत्वा स गृह्णाति काच स्वर्मोक्षसाधनम् ॥३७॥ इच्छन्ति ये बुधा नित्य मुक्तिं कर्मक्षय पुनः । धर्मं कृत्वा लभेन्नित्य सुख श्रीजिनसेवितम् ॥३८॥ सर्वांगमलसलिप्ते मुनौ रोगादि पीडिते । घृणा न क्रियते या सा ज्ञेया निर्विचकित्सता ॥३९॥ जिनमार्गे भवेद्भद्रं सर्वं नो चेत्परीषहाः । इति सकल्प्यसंत्यागे भावपूर्वा मता हि ता ॥४०॥ रोगादि पीडिता येऽपि तपोवृत्तादिकं शसा। चरंति मुनयो धीरास्ते धन्या भुवनत्रये ॥४१॥ धर्मे देवे मुनौ पुण्ये दाने शास्त्रे विचारणम् । दक्षैर्यत्क्रियते तद्धि प्रामूढत्व गुण भवेत् ॥ ४२ ॥ यो दक्षो देवसद्धर्मगुरुतत्त्वविचारणे । नाकराज्यादिक प्राप्य सः स्यान्मुक्तिस्वयवरः ॥४३॥ धर्माधर्मं न जानाति मूढो देवादिक च य. । धर्ममुद्दिश्य पाप स. कृत्वा दुर्गतिमाप्नुयात् ॥४४॥

धर्म अधर्मके स्वरूपको नहीं जानता, न देव कुदेवोंके स्वरूपको जानता है वह धर्म समझकर अनेक पाप करता है और इसीलिये अंतमें दुर्गतिको प्राप्त होता है ॥४४॥ जो विवेकी पुरुष धर्मात्मा और मुनियोके दोषोंको देखकर भी ढक देते है, प्रगट नही करते उसे उपगूहन अंग कहते है ॥ ४५ ॥ जो विद्वान जिनमार्गके आये हुए (अज्ञान वा प्रमादसे लगे हुए) दोषोंको देखकर ढक देते हैं उन्हें स्वर्ग मोक्षादिक क्यों प्राप्त नही होंगे अर्थात अवश्य होंगे ॥ ४६ ॥ जो निंद्य जिनधर्मकी वा मुनियोकी निंदा करता है वह पापके भारसे अवश्य नरकरूपी महासागरमें पडता है ॥ ४७ ॥ जो धर्मात्मा पुरुष व्रत चारित्र वा धर्मसे डिगते हुए पुरुषोंको फिर उसीमें स्थिर करदेता है, धर्ममें लगा देता है वह उसका स्थितिकरण अंग कहलाता है ॥ ४८ ॥ जो विद्वान् अन्य मनुष्योंको धर्मादिकमें सदा स्थिर करते रहते है वे स्वर्गादिकके सुख पाकर अंतमें मोक्षपदमें जा विराजमान होने हैं ॥४९॥ जो मूर्ख दान धर्म तप ज्ञान पूजा आदिमें विघ्न करते हैं वे अवश्य ही नरकोंके दुःख भोगते है ॥ ५० ॥ जिस प्रकार हालकी प्रसूता गाय अपने बच्चेपर प्रेम करती है उसी प्रकार जो विद्वान् धर्मात्मा भांइयोंमें, मुनियोंमें और जैन धर्ममें प्रेम करते है उनका वह सबसे उत्तम वात्सल्य अंग समझना चाहिये ॥५१॥ जो भव्य मुनियोंमें जैन धर्ममें और धर्मात्माओंमें सुख देनेवाला धर्मरूप प्रेम करता है वह तीर्थंकरकी विभूतिको पाकर मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ५२ ॥ जो अधम स्त्री पुत्र आदि संतानोमें पाप उत्पन्न करनेवाला प्रेम करते हैं वे अनेक दुःखोंको पाकर अवश्य ही दुर्गतियोंमें जन्म लेते है ॥ ५३ ॥ ज्ञानके द्वारा, उग्र तपश्चरणके द्वारा तथा दान पूजा आदिके द्वारा जैनधर्मका

सद्धर्मिणा मुनीना च दृष्ट्वा दोष विवेकिभिः । छादन क्रियते यच्च तद्भवेदुपगूहनम् ॥४५॥ आगत दोषमालोक्य जिनमार्गस्य ये बुधा । छादयन्ति न किं तेषा स्वर्गमुक्त्यादिक भवेत ॥ ४६ ॥ जिनधर्मस्य यो निंद्यो मुनीना वा करोति वै। निंदा स पापभारेण मज्जति श्वभ्रसागरे ॥ ४७ ॥ व्रतचारित्रधर्मादिचलता धर्मदेशिभि । स्थिरत्व क्रियते यत्तत् स्थितिकरणमुच्यते ॥ ४८ ॥ श्रीधर्मदौ सदा येऽपि कुर्वन्ति स्थिरता बुधा । पुसां नाकादिक प्राप्य ते व्रजन्ति स्थिर पदम् ॥४९॥ कुर्वन्ति ये महामूढा विघ्न दानवृषादिषु। तपोज्ञानसुपूजादौ स्युस्ते वै श्वभ्रगामिन ॥५०॥ सद्धर्मिणि मुनौ जैने स्नेहो यत्क्रियते बुधैः । सद्य प्रसूतगोवत्स ज्ञेय वात्सल्यमुत्तमम् ॥५१॥ ये कुर्वन्ति मुनौ जैने स्नेह धर्मसुखप्रदम् । ते तीर्थनाथसंभूतिं लब्ध्वा मुक्तिं भजन्ति भो ॥ ५२ ॥ पुत्रदारादि सन्ताने स्नेहं कुर्वन्ति येऽधमाः । पापाकर महादु ख प्राप्य ते यान्ति दुर्गतिम् ॥५३॥ ज्ञानोग्रतपसासक्तैः दानपूजादिकारकैः । जिनधर्मस्य माहात्म्य क्रियते सा प्रभावना

माहात्म्य प्रगट करना प्रभावना अंग है ॥ ५४ ॥ जो भव्य जीव श्रुतज्ञानके द्वारा अथवा पूजा प्रतिष्ठाके द्वारा अथवा अन्य धार्मिक कार्योंके द्वारा जिनधर्मकी महिमा प्रगट करते हैं वे अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ५५ ॥ जो दुष्ट पुण्य उत्पन्न करनेवाली जिनधर्मकी प्रभावनामें विघ्न करते हैं वे अवश्य ही अनेक दुःखोंको पाकर नरकमें पडते हैं ॥ ५६ ॥ जिसप्रकार अपनी सेनाके साथ होनेसे राजा अपने शत्रुओंको नष्ट कर देता है उसी प्रकार इन आठो अंगोंसे परिपूर्ण और सारभूत सम्यग्दर्शन समस्त कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट कर देता है ॥ ५७ ॥ इस सम्यग्दर्शनके एक एक अंगको पालन करके ही अनेक भव्य जीवोंने मोक्ष प्राप्त किया है फिर भला जो समस्त अंगोंको पालन करते हैं वे क्यों नहीं मोक्ष प्राप्त कर सकते अर्थात् वे अवश्य मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ५८ ॥ इसलिये हे भव्यजीव! तू इन आठों अंगोसे परिपूर्ण सम्यग्दर्शनको धारण कर। यह सम्यग्दर्शन शुभ है, अनेक कर्म—समूहको नष्ट करनेवाला है और मोक्षका साधन है ॥ ५९ ॥

प्रश्न—हे भगवन्! इन आठो अंगोंके सेवन करनेसे किस किस भव्य जीवको क्या क्या फल प्राप्त हुआ है सो आप कृपाकर सब मुझसे कहिये ॥ ६० ॥ उत्तर—हे भव्य! यह सम्यग्दर्शन अनुपम गुणोंका निधि है, स्वर्ग मोक्षकी जड है। तीनों लोकोंके स्वामी तीर्थंकर भी इसकी सेवा करते हैं। यह कर्मरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुठारके समान है। संसार-रूपी महासागरसे पार होनेके लिये जहाजके समान है। पुण्यरूप है, तीर्थरूप है और अत्यंत पवित्र है। इसलिये तु सब तरहकी कुसंगतियोंसे वचकर आठों अंगों सहित इसका पालन कर ॥ ६१ ॥

इसप्रकार आचार्य श्री सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें आठों अगोको निरूपण करनेवाला यह चौथा परिच्छेद समाप्त हुआ।

॥५४॥ कुर्वन्ति प्रकट ये च जिनधर्म श्रुतादिभि.। प्रतिष्ठादिकैर्धर्मैस्ते भव्या यान्ति निर्वृतिम् ॥५५॥ प्रभावनादिक येऽपि घ्नन्ति दुष्टाः सुपुण्यदम्। जिनधर्मस्य ते दुःख प्राप्य श्वभ्रे पतन्ति वै ॥५६॥ अष्टागसयुत सार समर्थ दर्शन भवेत्। नाशने कर्मशत्रूणा यथा सैन्ययुतो नृप ॥५७॥ एकैकमगमासाद्य गता भव्याः शिवालयम्। सर्वागसयुता ये ते किं न मुक्ता भवन्त्यहो ॥५८॥ अष्टागपरिपूर्णं हि भज त्वं दर्शन शुभम्। अनेककर्मसन्तानस्फोटकं मुक्तिसाधनम् ॥५९॥ यस्य यच्च फल यातं स्वामिन्नंगादिसेवनात्। तस्य भव्यस्य तत्सर्वं दयां कृत्वा प्रकाशय ॥६०॥ अतुलगुणनिधान स्वर्गमोक्षैकमूल, त्रिभुवनपतिसेव्य कर्मकक्षे कुठारम्। भवजलनिधिपोत पुण्यतीर्थं पवित्र, भज रहितकुसंग दर्शन व्यगयुक्तम् ॥ ६१ ॥ इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे अष्टांगप्ररूपकोनाम चतुर्थः सर्गः।

पांचवां परिच्छेद ।

अथानंतर—अपनी बुद्धिको श्रेष्ठ बनानेके लिये मैं श्री सुमतिनाथ भगवानको नमस्कार कर आठों अंगोंमें प्रसिद्ध होनेवाले अंजन आदिकी कथा कहता हूं ॥ १ ॥ सम्यग्दर्शनके प्रथम निःशंकित अंगमें जो मनुष्य प्रसिद्ध हुआ है उसकी संवेग प्रगट करनेवाली कथा मैं कहता हूं ॥ २ ॥ एक धन्वंतरी राजा था। विश्वानुलोम नामका एक ब्राह्मण उसका मित्र था। पुण्यके प्रभावसे धन्वंतरीका जीव तो मरकर ज्योतिष्क विमानोंमें अमितप्रभ नामका देव हुआ और उस ब्राह्मणका जीव विद्युत्प्रभ नामका देव हुआ। इनमेंसे अमितप्रभ धर्मात्मा था और अच्छी ऋद्धियां उसे प्राप्त थीं तथा विद्युत्प्रभ धर्म-हीन था और ऋद्धियां भी उसे उससे कम प्राप्त हुई थीं ॥ ३–४ ॥ किसी एक दिन अमितप्रभ नामका देव सम्यग्दर्शन ग्रहण करानेके लिये विद्युतप्रभके घर आया परंतु उस मूर्खने सम्यग्दर्शन स्वीकार किया ही नहीं ॥ ५ ॥ तदनंतर वे दोनों धर्मके विषयमें कुछ विवाद करने लगे और अपने अपने धर्मकी परीक्षा करानेके लिये यमदग्नि नामके तपस्वीके पास आए ॥ ६ ॥ उन दोनोंने पक्षीका रूप धारण कर लिया और किसी तरह उसके तपश्चरणको भंग कर दिया। फिर वे दोनो देव विद्युतप्रभकी सलाहसे राजगृह नगरमें आए ॥ ७ ॥ वहांपर एक जिनदत्त नामका सम्यग्दृष्टी सेठ था, वह बुद्धिमान व्रतोंसे भी सुशोभित था और दान पूजा आदि कार्योंमें सदा तत्पर रहता था ॥ ८ ॥ उस दिन कृष्ण पक्षकी अष्टमी थी। उस सेठने प्रोषधोपवास किया था और रात्रिमें कायोत्सर्ग धारणकर स्मशानमें जा विराजमान हुआ था।

अथ पञ्चमः सर्गः ।

सुमतीश जिनं नत्वा वक्ष्ये सन्मति हेतवे। कथामगादिसजातामञ्जनादिभवामहम् ॥१॥ अगे निःशकिताख्येऽपि विख्यातो योऽञ्जनो भवेत्। कथा तस्य प्रवक्ष्यामि सवेगादिकरामहम् ॥ २ ॥ वै धन्वंतरि विश्वानुलौमौ नृप द्विजात्मजौ। मित्रौ पुण्यवशाज्जातौ स्वर्गज्योतिष्कसद्गृहे ॥३॥ अमितप्रभनामा स देवोऽभूद्धर्मतत्परः। नृपो द्विज पुन जातो नीचो विद्युत्प्रभोऽमर. ॥ ४ ॥ धो जैन. स समायात इतरस्य गृहे पुन'। दातु सद्दर्शन सोपि न च गृह्णाति मूढधी. ॥५॥ परस्परविवाद तौ कृत्वा धर्मसमुद्भवम्। पार्श्वे तु यमदग्नेश्च तत्परीक्षार्थमागतौ ॥६॥ पक्षीरूप समादाय तपोभग विधाय च। तस्यैव वचनेनैव प्राप्तौ राजगृहे पुरे ॥७॥ जिनदत्तो भवेच्छ्रेष्ठी तत्रदर्शनधारक । व्रतेनालङ्कृतो धीमान् दानपूजादितत्पर ॥८॥ आदाय प्रोषधं रात्रौ कृष्णपक्षेऽष्टमी दिने। कायोत्सर्गं श्मशानेऽसौ ध्यात्वामात्मावलोकित. ॥९॥

अकस्मात् वहींपर वे दोनों देव आ निकले और उन्होंने ध्यान करते हुए सेठको देखा ॥ ९ ॥ तब अमितप्रभ देवने कहा कि हमारे साधु लोगोंकी बात तो दूर ही रहो, हे भाई! यदि तुझमें शक्ति है तो ये गृहस्थ सेठ ध्यान लगाये हुए विराजमान हैं अनेक गुणोंके सागर हैं, निस्पृह हैं और अपनी शक्तिके अनुसार ध्यान कर रहे हैं इन्हींको तू ध्यानसे चलायमान कर दे ॥ १०–११ ॥ अमितप्रभकी यह बात सुनकर विद्युतप्रभने वध, बंधन, हाव, भाव आदि अनेक कुरीतियोंसे असह्य और महा घोर उपसर्ग करना प्रारंभ किया ॥ १२ ॥ परंतु वे सेठ भगवान वीतराग परमदेवके ध्यान करनेमें तल्लीन बने रहे, उन्होने शरीरसे ममत्व छोड़ दिया। अपने संवेग आदि गुण बढा लिये और वे निश्चल होकर ध्यान करते रहे ॥१३॥ उस समय वे धीरवीर सेठ पर्वतके समान निश्चल थे, मुनिके समान परिग्रह रहित थे, जलके समान निर्मल थे, और सागरके समान गंभीर थे ॥ १४॥ जब देव सब कुछ कर चुका ,आगे करनेमें असमर्थ होगया तब वह अपने चित्तमें बहुत ही लज्जित हुआ। उसने अपना अभिमान छोडकर धर्म स्वीकार किया और संवेग धारण किया ॥ १५ ॥ इधर सवेरा होते ही सब परीषहोंको जीतकर सेठने अपने कायोत्सर्गका विसर्जन किया और कुछ देरतक सुखसे बैठे ॥१६॥ इतनेमें ही वे दोनों देव इनके पास आए। दोनोंने सेठको नमस्कार किया और बड़ी भक्तिसे दिव्य वस्त्र और आभूषणोंसे सेठकी पूजा की ॥१७॥ तदनंतर उन देवोंने सब हाल कहा और प्रार्थना की कि हे उत्तम विद्वान्! आप धर्मकार्योंके लिये तथा यात्रा आदि धार्मिक कार्य करनेके लिये सब कार्योंको सिद्ध करनेवाली और सारभूत इस आकाशगामिनी विद्याको स्वीकार कीजिये ॥१८॥ यदि सारभूत पंच नमस्कार मंत्रके द्वारा आराधना और पूजा की जायगी तो पुण्यकर्मके उदयसे

अमितप्रभदेवेन प्रोक्तं तिष्ठन्तु साधवः । दूरे मे प्रास्ति शक्तिश्चेद्धातुस्ते गृहनायकम् ॥१०॥ इमं ध्यानसमापन्नं निस्पृहं गुणसागरम् । चालय शीघ्रमागत्य ध्यानाद्धैर्यावलम्बितम् ॥११॥ तेन कृतो महाघोरोपसर्गो दुस्सहो घनः । वधबंधप्रयोगैश्च हावभावैः दुरुक्तिभिः ॥१२॥ दयाश्चित्त स सद्ध्याने वीतरागादिगोचरे । निश्चलं देहनिर्मुक्तं संवेगादिगुणाश्रितम् ॥१३॥ सुस्थिरोऽचलवद्धीरः साधुवत्सगवर्जितः । प्रसन्नो जलवत्सोऽभूदगाधः सागरादिवत् ॥१४॥ निरर्थकोऽमरो जातो लज्जाकुलितमानसः । धर्मसंवेगसम्पन्नस्त्यक्तमानस्तदा च सः ॥१५॥ प्रभातसमये सोऽपि जित्वा शेषपरीषहान् । कायोत्सर्गं विमुच्याशु स्थितो यावत्सुखे च वै ॥१६॥ ताभ्यामागत्य शीघ्रेण नमस्कारं विधाय सः । पूजितः परया भक्त्या दिव्यवस्त्रादिभूषणैः ॥१७॥ आकाशगामिनीं विद्यां गृहाणेमां बुधोत्तम। सिद्धकार्यकरां सारां धर्मयात्रादिहेतवे ॥१८॥

यह विद्या अन्य लोगोंको भी सिद्ध हो जायगी ॥१९॥ इसप्रकार कहकर, उनको नमस्कार कर, बार बार उनकी प्रशंसा कर और अनेक प्रकारकी बातें कर वे दोनों देव अपने स्थानको चले गये ॥२०॥ इधर जिनदत्त सेठ उस आकाशगामिनी विद्याके प्रभावसे पूजाकी सामग्री लेकर मेरु आदि पर्वतोंपर ढाईद्वीपके अकृत्रिम चैत्यालयोंकी पूजा करनेके लिये प्रतिदिन जाने लगे ॥ २१ ॥

किसी एक दिन उस सेठसे सोमदत्त नामके मालीने पूछा कि हे प्रभो! आप प्रतिदिन कहां जाया करते हैं? तब सेठने उत्तर दिया कि हे वत्स सुन! मैं प्रतिदिन अकृत्रिम चैत्यालयमें विराजमान अत्यन्त मनोहर जिनप्रतिमाकी पूजा करनेके लिये और उससे पुन्य संपादन करनेके लिये जाया करता हूं ॥२२-२३॥ तब सोमदत्तने फिर पूछा कि आप किस प्रकार जाया करते हैं तब इसके उत्तरमें सेठने विद्युत्प्रभ देवकी सब कथा कह सुनाई और उस आकाशगामिनी विद्याका भी सब हाल कह सुनाया ॥२४॥ तब सोमदत्तने फिर प्रार्थना की कि हे विद्वन्! कृपाकर मुझे भी यह विद्या दे दीजिये मैं भी आपके साथ पुष्पादिक लेकर चला करूंगा ॥२५॥ उसकी यह प्रार्थना सुनकर सेठने धर्मकार्य करनेके लिये धर्मकार्योंको सिद्ध करनेवाली उस विद्याके सिद्ध करनेका सब उपाय बतला दिया ॥२६॥ उस विद्याको सिद्ध करनेके लिये सोमदत्तने पहिले दो उपवास किये फिर कृष्ण पक्षकी चतुर्दशीके दिन किसी अत्यन्त भयानक स्मशानमें एक भारी वटवृक्षकी पूर्व शाखा पर एक दाभका सींका बांधा उस सींकेमें एकसौ आठ दाभकी लड़ियां थीं और उसके नीचे भूमिपर ऊपरको मुंह किये हुए तीक्ष्ण शस्त्र

सारपञ्चनमस्कारप्राराधनप्रपूजनात् । परेषां सिद्धिमायाति सा विद्या पुण्ययोगतः ॥ १९ ॥ इत्युक्त्वा तं नमस्कृत्य प्रशस्य च मुहुर्मुहुः । अनेकवचनालापैः स्वस्थानं तौ गतौ पुनः ॥२०॥ पूजामादाय सयाति नृलोके मंदरादिके । पूजार्थं जिनबिम्बानां प्रत्यहं धर्महेतवे ॥२१॥ एकदा सोमदत्तादिपुष्पान्तवटकेन सः । पृष्टः प्रत्यहं कुत्र व्रजतीति भवानहो ॥२२॥ सद्व्रते शृणु देवत्व पूजनार्थं व्रजाम्यहम् । अकृत्रिमजिनागारे प्रतिमाना शुभाय वै ॥२३॥ आह सोपि पुनः श्रेष्ठिन् कथं तत्र प्रयासि भो। तेनोक्तं तस्य तत्सर्वं विद्यालाभादिकारणम् ॥२४॥ ऊचे स शृणु भो धीमन् ! विद्यां देहि ममादरात् । पुष्पादिकं समादाय गच्छामि भवता सह ॥२५॥ ततो हि श्रेष्ठिना तस्मै धर्मसंसिद्धिकारणं । उपदेशोपि सम्पूर्णो दत्त श्रीधर्महेतवे ॥२६॥ ततः कृष्णचतुर्दश्यां कृत्वा सत्प्रोषधद्वयम् । न्यग्रोधाख्यनगे पूर्वशाखायां सत्पबांधवैः ॥२७॥ अष्टोत्तरशतापाद दर्भशिक्यं निपाय च । अधो सुश्रुसुखास्त्राणि श्मशानेऽतिभयप्रदे ॥२८॥ पुष्पादिकं समादाय शक्यसम्बो

गढ़े हुए थे ॥ २७—२८ ॥ इतना काम करनेपर वह पुष्पादिक लेकर उस सींकेमें जा बैठा और सर्वश्रेष्ठ पंच नमस्कार मंत्रका उच्चारण कर एक एक लड़ी काटनेका उद्योग करने लगा। इसप्रकार वह पहिली लड़ी काटना ही चाहता था कि नीचेके छुरा आदि तीक्ष्ण शस्त्रोंको देखकर वह डर गया और विचार करने लगा कि यदि दैवयोगसे सेठके वचन असत्य हो जांय (सब लड़ियोंके काट लेनेपर भी विद्या सिद्ध न हो) तो फिर अवश्य ही मेरा मरण हो जायगा ॥ २९—३१ ॥ इसप्रकार विचार कर वह मूर्ख सींकेसे उतर आया परंतु कुछ सोचकर फिर चढ़ गया इसी प्रकार वह बहुत देर तक चढ़ने उतरनेका काम करता रहा। इसी बीचमें एक दूसरी घटना इसप्रकार हुई ॥ ३२ ॥

उस समय उस नगरमें प्रजापाल नामके राजा राज्य करते थे, उनको सुख देनेवाली कनकावती रानी थी उसके गलेमें एक रत्नोंका हार था जो कि बहुत ही सुंदर था ॥ ३३ ॥ उस हारको देखकर एक वेश्याने अपने मनमें विचार किया कि इस हारके विना जीना व्यर्थ है ॥३४॥ रातको उस वेश्याके घर अंजन नामका चोर आया। उससे उस वेश्याने कहा कि यदि तू राजमहलमेंसे लाकर वह रानीका हार मुझे देगा तभी मैं तुझे अपना स्वामी बनाऊँगी अन्यथा नहीं। वेश्याकी यह बात सुनकर चोरने उसे धैर्य बंधाया और बड़े अहंकारसे उस हारको लेनेके लिये निकला ॥३५—३६॥ अपने विज्ञानबलसे वह राजभवनमें घुस गया और अपनी कुशलतासे हार लेकर चलता बना। परंतु उस हारमें लगे हुए

प्रविश्य च। उच्चरित्वानमस्कारान् पञ्चनायकमन्त्रपात् ॥२९॥ उद्यम कुरुते यावत् तत्पादेकैक छेदने। तावच्छुरिकयालोक्य तीक्ष्णास्त्राणि भय ययौ ॥३०॥ चिन्तित तेन मूढेन यद्यसत्य भविष्यति। वचन श्रेष्ठिनो दैवात् तदा मे मरण भवेत् ॥३१॥ इति मत्वा शठ सोपि चढनोत्तरण भयात्। कुर्वन् पुन पुन यावत्तावदन्या कथा शृणु ॥३२॥ प्रजापाल नृपस्यैव कनकाख्या सुखप्रदा। राज्ञी बभूव तस्या हि हृदि हारो विराजते ॥३३॥ दृष्ट्वा त चिंतित सार विलासिन्या स्वमानसे। किमनेनविना जीवितव्येनास्ति प्रयोजनम् ॥३४॥ अजनाख्यः पुनश्चौर आगतो निशि तद्गृहम्। सा ब्रूते यदि मे हार ददासि नृपमन्दिरात् ॥ ३५ ॥ तदा भर्ता त्वमेक स्यादन्यथा न च भूतले।

१ एक एक वार पच नमस्कार मत्रका उच्चारण एक एक लड़ी काट लेनेपर अर्थात् एकसौ आठ वार नमस्कार मत्रका उच्चारण कर एकसौ आठ लड़ियाँ काट लेनेपर उस विद्याके सिद्ध होनेका नियम था।

२–उस समय एक प्रकारका अंजन होता था जिसे लगा लेनेसे उसको तो सब कुछ दिखाई देता था परन्तु वह स्वयं किसीको भी दिखाई नहीं पड़ता था और इसीलिये यह अजनचोर कहलाता था।

रत्नोंका प्रकाश बहुत था इसलिये कोतवाल और पहरेदारोंसे छिप न सका और उन्होंने पकड़नेके लिये चोरका पीछा किया परन्तु वह चोर पहरेदारोंको अपने पीछे पीछे आता हुआ जानकर उस हारको छोडकर भाग गया। भागते भागते वह उसी वटवृक्षके नीचे आया जहां कि सोमदत्त माली आकाशगामिनी विद्या सिद्ध करनेके लिये प्रयत्न कर रहा था और डरकर चढने उतरनेका काम कर रहा था। चोरने उस सबका कारण पूछा। उत्तरमें उस सोमदत्त मालीने भी सब ज्योंका त्यों बतला दिया ॥ ३७–३८ ॥ अंजनचोरको सेठके वचनोंपर विश्वास होगया और उसने विना किसी शंकाके उसपर चढकर एक ही वार पंच नमस्कारका उच्चारण कर सब लडियें काट डालीं। जिस समय सब लडियोंके कट जानेपर वह नीचे गिरने लगा उसी समय आकाशगामिनी विद्याने आकर उसे रोक लिया और उससे प्रार्थना की कि हे स्वामिन्! कृपाकर मुझे आज्ञा दीजिये इस समय आपका कौनसा काम करूं ॥ ३९–४० ॥ तब अंजनचोरने कहा कि इस समय मुझे जिनदत्त सेठके समीप ले चलो। यह सुनकर उस विद्यादेवताने उसी समय विमान बनाया और उसपर विठाकर आकाश मार्गसे ले चली। उस समय सेठ सुदर्शनमेरुपर चैत्यालयमें थे इसलिये वह विद्या भी उसे अनेक महिमाओंसे सुशोभित उस सुदर्शनमेरुके चैत्यालयमें लेगई और सेठके सामने जाकर पृथ्वीपर उसे उतार दिया ॥ ४१–४२ ॥ अंजनचोर उस सुवर्ण और रत्नोंके बने हुए अकृत्रिम दिव्य जिन चैत्यालयको देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ ४३ ॥ उसने बड़ी भक्तिसे भगवान अरहंत देवको नमस्कार किया और फिर उस बुद्धिमानने भव्य जिनदत्तके समीप आकर उनको नमस्कार किया और वह उनसे इसप्रकार मधुर वचन कहने लगा कि ॥४४॥ हे स्वामिन् ! जिसप्रकार आपके प्रसादसे मुझे यह महा

इति श्रुत्वा स सतोष्य तामतो निर्गतो दरात् ॥३६॥ प्रविश्य गृहमध्येऽस्य विज्ञानेन निजेन तम्। समादाय व्रजन् वेगाद्‌दृष्टो रत्नादितेजसा ॥३७॥ ध्रियमाण स त त्यक्तः कोटपालांगरक्षकैः। आगतो वटवृक्षे तं दृष्ट्वा पृष्ट्वा ददौ च तम् ॥३८॥ भूत्वा निःशंकितो धीमान् स श्रेष्ठिवचने शुभे। एकवारेण सर्वं सः शक्यं छित्वा पतेद्यदा ॥३९॥ तदा विद्या समायाता सिद्धा त प्रार्थयत्यहो। आदेशं देहि मे स्वामिन् कृपया कार्यसाधनम् ॥४०॥ नयेति तेन सा प्रोक्ता समीपं श्रेष्ठिनो हि माम्। तया नीतः स्वर्मार्गेण समारोप्य विमानके ॥४१॥ सुदर्शनमहामेरौ जिनचैत्यालये शुभे। अनेकमहिमोपेते धृतस्तस्य पुरो भुवि ॥४२॥ अजनो वीक्ष्य तं देव जिनं चैत्यालयादिकम्। अगमन्मुदमत्यन्तं हेमरत्नादितन्मयम् ॥४३॥ प्रणम्य श्रीजिन भूयस्तं भव्य भक्तिनिर्भरः। अवोचच्च वचो धीमान् श्रेष्ठिनं प्रत्यसौ शुभान् ॥४४॥

विद्या सिद्ध हुई है उसी प्रकार इसलोक और परलोक दोनों लोकोंमें कल्याण करनेवाला धर्म मुझे बतलाइये ॥ ४५ ॥ अंजनचोरकी यह बात सुनकर वे सेठ उसको साथ लेकर समीप ही विराजमान दो चारण मुनियोके समीप पहुंचे। दोनोंने उन मुनिराजोंके चरणकमलोंको नमस्कार किया और बैठकर सर्वोत्तम धर्मका स्वरूप पूछा ॥ ४६ ॥ उन दोनोंमें से बड़े मुनिराजने उन दोनोंके लिये अनेक महिमाओंसे सुशोभित और सदा सुख देनेवाला मुनि और श्रावक दोनोंका धर्म निरूपण किया ॥४७॥ सब तरहके परिग्रहसे रहित और सब दोषोंसे रहित ऐसे मुनिराजके महाधर्मको सुनकर उस अंजन-चोरने उन मुनिराजसे दीक्षा धारण करनेकी प्रार्थना की ॥४८॥ उत्तरमें मुनिराजने कहा कि हे भद्र ! तूने यह बहुत ही अच्छा विचार किया क्योंकि अब तेरी आयु थोडे ही दिनोंकी रह गई है इसलिये अब तपश्चरण करना ही सर्वोत्तम है ॥४९॥ तदनंतर उस अंजनचोरने दीक्षा धारण की घोर तपश्चरण किया और शुक्लध्यानके निमित्तसे चारों घातिया कर्मोंको नष्ट किया ॥५०॥ उन अंजन मुनिराजने घातिया कर्मोंको नाशकर तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाला और सदाकाल एकसा रहनेवाला केवलज्ञान रूपी साम्राज्य बहुत शीघ्र प्राप्त कर लिया ॥ ५१ ॥ उस बुद्धिमानने समयानुसार बाकीके अघातिया कर्मोंका नाश कर डाला और इंद्र नरेंद्र आदि सबसे पूज्य होकर कैलाश पर्वतसे मोक्ष प्राप्त किया ॥ ५२ ॥

देखो जो अंजनचोर अनेक व्यसनोंमें लीन था वह भी निःशंकित गुणके प्रभावसे ध्यान कर अनंत सुखोंसे परि-पूर्ण मोक्षमें जा विराजमान हुआ फिर भला जो सम्यग्दृष्टी है, अनेक श्रेष्ठ व्रतोको पालन करता है और अनेक धर्मकार्योंसे सुशोभित है वह निःशंकित गुणके प्रभावसे मोक्षका स्वामी क्यों नहीं हो सकता ? ॥ ५३–५४ ॥ इसी प्रकार महाराज

स्वामिन् यथा महाविद्या सिद्धा युष्मत्प्रसादतः । अत्रामुत्रभवेत्सौख्य मम धर्मं निरूपय ॥४५॥ ततो मत्वा समीप तौ नत्वा चारणयोः क्रमौ । पृष्ठवन्तौ स्थितौ धर्मं महानर्घ्यं मुनीशयोः ॥४६॥ ज्येष्ठो मुनिस्ततो ब्रूयाद्धर्मं तौ प्रतिसौख्यदम् । अनेकमहिमोपेत यति श्रावक गोचरम् ॥४७॥ त्यक्तदोष महाधर्मं श्रुत्वा सगविवर्जितम् । अजनो याचयामास दीक्षा श्रीमुनिपार्श्वगान् ॥४८॥ मुनिर्ब्रूते त्वया भद्रा भद्र-मेतत्कृतं तप. । याचित तव चायु स्याद्यतः काश्चिद्दिनानपि ॥४९॥ जिनमुद्राः समादाय कृत्वा घोरतर तपः । शुक्लध्यानादियोगेन हत्वा घातिचतुष्टयम् ॥५०॥ शीघ्रमुत्पादयामास त्रैलोक्यक्षोभकारणम् । केवलज्ञानसाम्राज्यमव्यय सोऽजनो मुनिः ॥५१॥ शेपकर्माणि निर्मूल्य शक्रराजादिपूजितः । कैलाशशिखरारूढो गतो मोक्षसना सुधीः ॥५२॥ अजनो व्यसनासक्तो धीरो नि शकिताश्रयात् । मुक्ति यदि गतो

विभीषणने भी निःशंकित गुणका पालन किया था उनकी कथा रामायणमें (पद्मपुराणमें) है वहांसे समझ लेना चाहिये
|| ५५ || द्वारिकापुरीके राजा वसुदेव और उनकी रानी देवकी भी निःशंकित अङ्गमें प्रसिद्ध हुई है उनकी कथा भी
हरिवंशपुराणसे जान लेनी चाहिये || ५६ || इस निःशंकित गुणसे विभूपित और भी वहुतसे लोग हुए हैं उन सबकी
कथाएं भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंसे जान लेना चाहिये || ५७ || इसलिये भव्य जीवोको भगवान जिनेन्द्रदेवके
कहे हुए सिद्धांतशास्त्रोंमें तथा उनके उपदेशमें कभी शंका नही करनी चाहिये और ज्ञानी पुरुषोंको अपना सम्यग्दर्शन
निश्चल और निर्मल वना लेना चाहिये || ५८ || जिस अंजनने सम्यग्दर्शनके निःशंकित गुणको सबसे उत्तम रीतिसे पालन
किया फिर चारित्र धारणकर परम तपश्चरण किया तथा समस्त कर्माको नष्टकर मोक्षके निर्मल सुखको प्राप्त किया ऐसे
संसाररूपी महासागरसे पार करनेके लिये जहाजके समान वे अंजन जिनराज हम लोगोंकी रक्षा करें || ५९ ||

इसप्रकार आचार्य सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें निःशकितगुणके वर्णनमे अजनचोरकी कथाको कहनेवाला यह पाचवांपरि० समाप्तहुआ।

अथ छठा परिच्छेद ।

अथानन्तर—जिन्होंने संसारमें कमलसे उत्पन्न हुई लक्ष्मीको लात मार दी है अथवा जिनके चरणकमलोंके नीचे कमलोंकी रचना होती है, जो कमलके चिन्हसे सुशोभित हैं, कमलकीसी ही जिनकी कांति है और जो अन्तरङ्ग वहिरंग

ध्यानादनन्तसुखसंयुतम् ||९३|| सद्दृष्टिः सँन् व्रतोपेतो यो धर्मादिविभूपितः । निःशंकितगुणो सोऽपि न स्यात् किं मुक्तिवल्लभ ||९४||
विभीषणमहाराजा निःशंकगुणधारक. । यः स्यात्तस्य कथा ज्ञेया रामायण निरूपिता || ९९ || वसुदेवोऽभवद् भूपो राज्ञी तस्यापि देवकी ।
ज्ञेया कथा तयोरेव हरिवंशात्सम्यक्त्वजा ||९६|| अन्येपि बहवः सन्ति नि शका गुणभूपिता । ये ते सर्वेपि विज्ञेया आगमाज्जिनभाषित ||९७||
तस्माद्भव्यैर्न कर्तव्या शका सिद्धातदेशने। नि.शंकिता विधेयापि दृष्टिज्ञानादिसयुते ||९८|| धृतप्रथमगुणो यो नीतचारित्रभार., कृतपरम-
तपश्च सर्वकर्माणि हत्वा । अगमदमलसौख्य मुक्तिजं सोऽपि नोव्याद्, भवजलनिधिपोतादजनाख्यो यतीन्द्र ||९९||

इति श्री भट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे निःशंकितगुणव्यावर्णने अजनचोरकथा निरूपणोनाम पचम सर्गः ।

अथ पष्ठः सर्गः ।

पद्मप्रभमहं वंदे पद्मयानासन भुवि। सत्पद्मालंकृत पद्मद्युति पद्माकर परम् ||१|| नि.शङ्कितगुणे ख्याता ज्ञातानन्तमती हि या।

लक्ष्मीके परम निधि हैं ऐसे भगवान पद्मप्रभको नमस्कार कर मैं सम्यग्दर्शनको निर्मल करनेके लिये दूसरे निःकांक्षित गुणमें प्रसिद्ध हुई अनन्तमतीकी कथा संक्षेपसे कहता हूं ॥ १-२ ॥

अनेक मनुष्योंसे भरे हुए अंग देशकी राजधानी चम्पापुरी थी। वह चम्पापुरी नगरी बड़ी ही अच्छी थी, अनेक जिनालयोंसे सुशोभित थी और सदा अनेक उत्तम मुनियोंसे विभूषित रहती थी। पुण्य कर्मके योगसे उसमें वर्द्धमान नामका राजा राज्य करता था उसकी प्राणप्यारी रानीका नाम लक्ष्मीमती था ॥ ४ ॥ उसी नगरीमें एक प्रियदत्त नामका धर्मात्मा सेठ रहता था। उसकी सेठानीका नाम अङ्गवती था और वह अनेक गुणोंसे सुशोभित थी ॥ ५ ॥ उन दोनोंके एक पुत्री थी जिसका नाम अनन्तमती था। वह अनन्तमती सम्यग्दर्शनसे सुशोभित थी और दान, पूजा आदि धार्मिक कार्योंमें सदा लीन रहती थी ॥ ६ ॥ किसी एक दिन नंदीश्वर पर्वके दिनोंमें केवल आठ दिनके लिये दोनों सेठ सेठानियोंने श्री धर्मकीर्ति नामके आचार्यके पास ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया ॥ ७ ॥ उस धर्मात्मा सेठने सदा धर्मकार्योंमें लगी रहनेवाली अनन्तमतीको भी विनोदपूर्वक सुख देनेवाला ब्रह्मचर्य व्रत धारण करा दिया ॥ ८ ॥ अनन्तर जब सेठने उसके विवाहकी चर्चा चलाई तब अनन्तमतीने अपने पितासे कहा कि-हे तात ! आपने मुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिला दिया है फिर आप मेरे विवाहकी चर्चा क्यों करते हैं ? ॥ ९ ॥ उसके उत्तरमें सेठने कहा कि-हे पुत्री ! मैंने वह व्रत विनोदके लिये दिलाया था वास्तवमें नहीं। यह सुनकर अनन्तमती कहने लगी कि हे तात ! धर्म, दान, पूजा और व्रतोंमें भी कहीं विनोद हुआ करता है ? ॥ १० ॥ तब सेठने फिर कहा कि हे पुत्री ! वह तो केवल आठ दिनके लिये दिलाया था ?

कथा वक्ष्ये समासेन तस्याः सद्दृष्टिहेतवे ॥२॥ अंगदेशे जनाकीर्णे चंपाख्या नगरी शुभा । उच्चैर्जिनालयोपेता नित्यं सन्मुनिसंयुता ॥३॥ वर्द्धमानो महीपालस्तत्राभूत्पुण्ययोगतः । राज्ञी लक्ष्मीमती तस्य बभूव प्राणवल्लभा ॥ ४ ॥ संजातः प्रियदत्ताख्यः श्रेष्ठी श्रीधर्मकारकः । भार्या चांगवती तस्य जातानेकगुणाश्रिता ॥५॥ तयोः पुत्री समुत्पन्ना सम्यक्त्वादिविभूषिता । दानपूजादिसंलीना ख्यातानंतमती सती ॥६॥ गृहीतं ब्रह्मचर्यं च स्वयमष्टदिनान्वितम् । धर्मकीर्तिमहाचार्यपार्श्वे नंदीश्वरविधौ ॥ ७ ॥ ग्राहितासौ विनोदेन ब्रह्मचर्यं सुखाकरम् । पुत्री धर्मादिसंसक्ता श्रेष्ठिना धर्मशालिना ॥८॥ प्रदानसमये साह तात मे दापितं त्वया । ब्रह्मचर्यमतस्तेन सत्पाणिग्रहणेन किम् ॥९॥ दापितं क्रीडया पुत्री मया ते तन्नचान्यथा । का क्रीडा तात सद्धर्मदानपूजाव्रतादिके ॥१०॥ दिनाष्टकमिदं पुत्री दापितं ते मया तदा । ब्रूत न

इसके उत्तरमें अनन्तमतीने कहा कि उस समय मुनिराजने व्रतोंके पालन करनेके लिये दिनोंकी कुछ मर्यादा नहीं वतलाई थी इसलिये मैंने तो वह उत्तम ब्रह्मचर्य जीवनपर्यंत धारण कर लिया है। अब मैं उसे प्राण नाश होनेपर भी कभी नहीं छोडूंगी और मेरु पर्वतके समान निश्चल होकर आजन्म उसका पालन करूंगी ॥ ११–१२ ॥

किसी एक दिन युवावस्था प्राप्त होनेपर चैत्रके महीनेमें अपने वगीचेमें महा रूपवती और कला विज्ञानसे परिपूर्ण वह अनन्तमती झूल रही थी ॥ १३ ॥ इसी समय विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीके किन्नरपुर नगरके विद्याधरोंका राजा कुण्डलमंडित अपनी रानी सुकेशीके साथ विमानमें बैठा हुआ आकाशमार्गसे जारहा था। अचानक उसकी दृष्टि अनन्तमतीपर पड़ी। उसे देखकर वह मोहित होगया और विचार करने लगा कि इसके विना मेरा जीना ही व्यर्थ है ॥ १४–१९ ॥ यही सोचकर वह घर लौटा, उसने अपनी रानीको घरपर छोड़ा फिर वह दुष्ट शीघ्र ही आकर शीलगुणसे सुशोभित और रोती हुई अनन्तमतीको लेकर आकाशमार्गसे चलने लगा ॥ १६ ॥ उसकी रानीको भी कुछ संदेह होगया था इसलिये वह भी उसके पीछे पीछे ही दौडी आई। रानीको देखकर वह विद्याधर डर गया और शीघ्र ही अनंतमतीको प्रज्ञप्ता और पर्णलध्वी नामकी विद्याके आधीन किया ॥ १७ ॥ उन दोनों विद्याओंने अत्यन्त दुःखसे व्याकुल सती अनन्तमतीको किसी एक बड़े वनमें छोड़ दिया परन्तु वहां भी उस वेचारीको सुख नहीं मिला। एक भीम नामके भीलोंके राजाने उसे अपने आधीन कर लिया और अपने घर ले जाकर प्रार्थना की कि तू मुझे स्वीकार कर, मै तुझे पट्टरानी वना लूंगा, परन्तु वह सती कव स्वीकार करनेवाली थीं; उसकी अनिच्छा देखकर रात्रिमें वह भीम उसपर बलात्कार करनें

मुनिना किंचिद्दिनमानं व्रते वरे ॥११॥ गृहीतं नियमं सार यावज्जीवं जहासि न। अचलं मेरुवत्तात प्राणान्तेपि कदाचन ॥१२॥ कलाविज्ञानसम्पन्ना चैत्रे सख्या बनेपि सा। निजोद्याने महारूपा दोलयती यदा स्थिता ॥१३॥ रूप्याद्रिदक्षिणश्रेण्यां किन्नराख्ये पुरे वसन्। विद्याधराधिपो नाम्ना कुंडलाद्यंतमण्डित ॥१४॥ सुकेशीभार्यया युक्तो गच्छन् खे स सरत्यहो। दृष्ट्वा ता जीवितव्येन तेन किं मेऽनया विना ॥ १९ ॥ गृहे धृत्वा स्वरामां च शीघ्रमागत्य तेन सा। नीता दुष्टेन खे वाला रुदन्ती शीलभूषिता ॥ १६ ॥ उन्मानादागतां भार्यां दृष्ट्वा तेन भयेन सा। समर्पितानुप्रज्ञप्त्याख्यपर्णलघुविद्ययोः ॥१७॥ स्थापिता सा महाटव्या ताभ्या दुःखाकुला सती। नीता भीमाख्यभिल्लेन राज्ञापि निजपल्लिकाम् ॥१८॥ पट्टराज्ञिपद देवि ददामीच्छसि मां हठात्। अनिच्छंती हि प्रारब्धा मोक्तुं रात्रौ खलेन सा ॥१९॥

लगा ॥ १८-१९ ॥ परन्तु उस सतीके शीलके माहात्म्यसे क्षुब्ध होकर वनदेवी प्रगट हुई और उसने लकड़ी थप्पड आदिकी चोटोंसे भीमकी खूब ही खबर ली ॥ २० ॥ भीम बहुत ही डर गया और उसने समझ लिया कि यह नारी नहीं है किन्तु नीचेको नेत्र किये हुए कोई देवता है। उसेने शीघ्र ही पुष्पक नामके एक साहूकारको वह अनन्तमती सोंप दी ॥ २१ ॥ वह मूर्ख साहूकार भी लोभ दिखाकर उसके साथ विवाह करनेकी प्रार्थना करने लगा, परंतु निःकांक्षितगुणको धारण करनेवाली उस सतीने किसीकी भी इच्छा नहीं की ॥ २२ ॥ तब उस दुष्ट साहूकारने अयोध्या नगरीमें आकर शीलगुणसे विभूपित वह अनंतमती एक कामसेना नामकी वेश्याके हाथ सोंपदी ॥२३॥ उस कामसेनाने भी उसे अनेक प्रकारके दुःख दिये तथा हाव भाव विकारोंसे समझाया तथापि वह अपने शीलगुणसे रंचमात्र भी न डिगी-जिस प्रकार मेरु पर्वतका शिखर निश्चल रहता है उसी प्रकार अत्यंत धीरवीर वह अनंतमती अपने व्रतमें निश्चल रही ॥ २४ ॥ अंतमें हारकर कामसेनाने वह राजा सिंहराजको दे दी। उसने भी उसपर अपना चक्र चलाना चाहा और अत्यन्त दृढतारूपसे व्रतको पालन करनेवाली और किसीको भी न चाहनेवाली उस अनंतमतीपर किसी एक रातको बलात्कार करनेपर उतारू हो गया ॥२५॥ परंतु उसके शीलव्रतके माहात्म्यसे पहिलेकी वनदेवी आ उपस्थित हुई और उसने लकड़ी घूंसोंसे राजाकी खूब ही खबर ली ॥२६॥ तब तो राजाको उससे बहुत ही डर लगा और उसने उसी समय उसे अपने घरसे निकाल दिया। चलते चलते उसे पद्मश्री अर्जिकाके दर्शन हुए। उसे देखकर वह और भी रोने लगी और उसे अपनी सब कथा कह सुनाई ॥२७॥ उस अर्जिकाने अपना धर्म पालन करनेके लिये उसे अच्छी श्राविका जानकर अपने

शीलमहात्म्यसक्षोभादागत्य दु.खदुष्कृत. । वनदेवतया तस्योपसर्गो यष्टिमुष्टिभि ॥ २० ॥ भीतेन तेन ता नीत्वा देवता सा समर्पिता । सार्थपुष्पकनाम्नश्च सार्थवाहस्य वेगतः ॥२१॥ लोभ प्रदर्श्य दुर्बुद्धि परिणेतु स याचते । न वाच्छति सती त सा नि.काक्षितगुणाश्रिता ॥२२॥ नगर्यामप्ययोध्यायां दत्तां चानीय तेन सा । वेश्यायै कामसेनायै शीलसम्पूर्णभूषणा ॥२३॥ न जाता तत्र वेश्या सा हावभावविकारिभि. । कृतातिधीरतापन्ना यथा मेरुशिखा दृढा ॥ २४ ॥ तया दत्ता पुनः सिंहनृपाय तेन सा निशि । हठात्सेवितुमारब्धा प्राणिच्छती महाव्रता ॥२५॥ पुरदेवतया तस्य कृतो घोरउपद्रव. । तस्या. शीलप्रभावेन यष्टिमुष्ट्यादिभिर्महान् ॥ २६ ॥ भीतेन तेन सा बाला गृहान्निस्सारिता हठात् । अर्यिकया समादृष्टा रुदन्ती कमलश्रिया ॥ २७ ॥ आकाराच्छ्राविकां मत्वा नीत्वा पार्श्वे स्वय तया । धृतातिगौरवोपेता स्वस्य

पास रखकर उसका निर्वाह करने लगी ॥ २८ ॥
ही पास रक्खा और यथायोग्य आदर सत्कारके साथ उसको अपने साथमें अन्य कुटुंबियोंको भी हुआ। उसके शोकसे
इधर पुत्रीके हरे जानेसे सेठ प्रियदत्तको बहुत ही शोक हुआ। उस शोकको दूर करनेके लिये सेठ प्रियदत्त तीर्थयात्राको निकला और वंदना
वे अपना सुख और धर्म सब भूल गये ॥२९॥ अयोध्यापुरीमें एक जिनदत्त नामका सेठ रहता था, जो प्रियदत्तका साला था प्रियदत्त
करते हुए अयोध्यापुरीमें आया ॥३०॥ सायंकालके समय सब कामोंसे निवट लेनेपर प्रियदत्तने जिनदत्तसे अपनी पुत्रीके हरे
उसीके मकानमें आकर ठहरा। प्रातःकाल होनेपर नहा धोकर सेठ प्रियदत्त अयोध्या नगरके जिनमंदिरोंकी तथा वहां टिकनेवाले
जानेके समाचार कहे ॥३१॥ इधर सेठ जिनदत्तकी स्त्रीने पद्मश्री अर्जिकाके समीप रहनेवाली श्राविकाको
मुनियोंकी वंदना करनेके लिये निकला ॥३२॥ वह श्राविका (अनंतमती) भोजनकर
(अनंतमतीको) अपने घर भोजन करनेके लिये और चौक पूरनेके लिये बुलाया ॥३३॥ इसके बाद वंदनाकर सेठ प्रियदत्त आया और अनन्तमतीके द्वारा पूरे हुए उस
और चौक पूरकर अपने स्थानको चली गई। प्रियदत्तने कहा कि जिसने यह चौक पूरा
चौकको देखकर और पहिचानकर उसके शोकसे आंसू डालने लगा ॥ ३४ ॥ पुत्रीको देखकर
है उसे लाकर मुझे दिखलाओ। तब सेठ जिनदत्तने वह श्राविका (अनन्तमती) बुलवा दी ॥ ३५ ॥ सेठ जिनदत्तने भी अपनी भानजीके मिल जानेपर
प्रियदत्तने वह गोदीमें उठा ली और फिर पीछेकी सब बातें पूछीं।
बडा भारी उत्सव किया ॥ ३६ ॥
सबसे मिलाभेटी हो जानेके बाद अनन्तमतीने कहा कि हे पिताजी! मैंने इस संसारको खूब देख लिया है

पितृबधुजनादीना सुखधर्मैकनाशकृत ॥ २९ ॥ अथानन्तमतीशोक-
धर्मादिहेतवे ॥ २८ ॥ तदा शोक. समुत्पन्नो दुस्सहस्तद्वियोगतः । प्रविष्टो जिनदत्तस्य श्रेष्ठिनो मन्दिरे शुभे । शालकस्यापराह्णे
विनाशार्थं जगाम स । यात्रार्थे जिनतीर्थाना दृष्टायोध्यापुरी शुभात् ॥३०॥ श्रेष्ठी पूजादिसंयुक्तो जिनचैत्यमुनीशिनाम् ॥ ३२ ॥
स पुत्री वार्ता कृता निशि ॥३१॥ प्रभाते वन्दना भक्ति कर्तुं यातः स्वय पुरीम् । सर्वं कृत्वा गता सोपि स्वस्थान प्रागतो
सा श्रेष्ठिभार्यया चापि श्राविकाकारिता गृहे । दक्षा रसवती कर्तुं चतुष्क रातुमप्यहो ॥ ३३ ॥ तां मम दर्शयानीता जातो मेलापक-
वणिक् । दृष्ट्वा त करोति तूर्णमश्रुपातं विशोकजम् ॥३४॥ उक्तं तेन यया गेहमंडन कृतमप्यहो । अथानन्तमती ब्रूते दृष्टं ससा-
स्तयोः ॥३५॥ विधायालिंगनं तेन पृष्टा वार्ता वियोगजा । श्रेष्ठिना जिनदत्तेन कृतोत्यतमहोत्सव ॥३६॥

इसमें अनेक प्रकारके विचित्र दुःख भरे हुए हैं। यह दुःखोंसे भर रहा है इसलिये हे तात ! अव मुझे दीक्षा दिला दीजिये ॥ ३७ ॥ तव प्रियदत्तने उत्तर दिया कि पुत्री ! तू शीघ्र ही तपश्चरण धारण कर, क्योंकि यह तपश्चरण ही कर्मोको नाश करनेवाला है, स्वर्ग मोक्षके सुख देनेवाला है, सवमें सार है और दुःखरूपी दावानल अग्निके लिये मेघकी धाराके समान है ॥ ३८ ॥ तव पिताकी आज्ञासे उस अनन्तमतीने परम संयम धारण किया और वह भगवान जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ वारह प्रकारका घोर तपश्चरण करने लगी ॥ ३९ ॥ अन्तमें उसने समाधिमरण धारण किया तथा प्राणोंको छोडकर और स्त्रीलिंगको छेदकर वारहवें सहस्रार स्वर्गमें उत्तम देव हुई ॥ ४० ॥ वहांपर उसको अठारह सागरकी आयु थी। अठारह सागर पर्यन्त उत्तम सुख भोगकर वह अनंतमतीका जीव सम्यग्दर्शनके प्रभावसे अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करेगा ॥ ४१ ॥ रामचन्द्रकी पट्टमहादेवी सीताने भी निःकांक्षित अंगका पालन किया था और उसीके प्रभावसे वह सोलहवें स्वर्गमें इन्द्र हुई थी जहां कि अनेक देव उसकी पूजा करते थे ॥४२॥ उस सती सीताकी कथा पद्मपुराणसे जान लेनी चाहिये। इनके सिवाय इस निःकांक्षित अगको पालन करनेवाले और भी वहुतसे जीव हुए हैं उन सवको कोई कह भी नही सकता है ॥ ४३ ॥ यही समझकर भव्य जीवोंको सदा निःकांक्षित अंगका पालन करना चाहिये और स्वर्गादिके सुखोकी इच्छा कभी नहीं करना चाहिये ॥ ४४ ॥ देखो शीलव्रतको दृढ़तापूर्वक पालन करनेवाली और अनेक गुणोंसे सुशोभित तथा सम्यग्द-

---

रसभवम् । वैचित्र्य दु खसम्पूर्णं तात दापय मे तपः ॥ ३७ ॥ गृहाण पुत्रि वेगेन तपः कर्मविनाशकम् । स्वर्गमुक्तिकर सारं दुःखदावाग्निवार्मुचम् ॥ ३८ ॥ सा तस्याहि समीपे च आदाय सयम परम् । तप. कृत्वा महाघोर द्विषट्भेद जिनोदितम् ॥ ३९ ॥ अन्ते संन्यासमादाय त्यक्त्वा प्राणान् वभूव सा । हत्वा स्त्रीलिगमप्युच्चै. सहस्रारे सुरोत्तम ॥४०॥ अष्टादशसमुद्रायु भुक्त्वा तत्र सुख वरम् । सम्यक्त्वयोगतोऽग्रे क्रमात्मुक्तिं प्रयास्यति ॥ ४१ ॥ या सीताख्या महादेवी धृत्वा निःकाक्षित गुणम् । जाता षोडशमे स्वर्गे देवो देवै प्रपूजित' ॥ ४२ ॥ तस्या कथा परिज्ञेया शास्त्रे रामायणादिके । अन्येपि वहव. सन्ति कस्ताश्च गदितु क्षम ॥ ४३ ॥ इति मत्वा सदा कार्यो गुणो निःकाक्षिताभिध. । काक्षादिक परित्यज्य भोगे स्वर्गादिगोचरे ॥ ४४ ॥ निःकाक्षिताख्य परम हि धृत्वा, गुण गरिष्ठा दृढशीलयुक्ता । स्वर्गं वृजित्वा पुनरेति मुक्तिं, सद्दर्शनानंतमती सुधर्मात् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे नि काक्षितगुणप्ररूपणे थनतमतीकथा प्ररूपणोनाम षष्ठ परिच्छेद ।

शॅनको धारण करनेवाली अनन्तमती एक निःकांक्षित परम गुणको धारण करनेसे ही स्वर्गमें उत्तम देव हुई है और धर्मके प्रभावसे अन्तमें मोक्ष प्राप्त करेगी (वह अनन्तमती सवका कल्याण करे) ॥ ४९ ॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें नि.कांक्षित गुणमें प्रसिद्ध होनेवाली अनंतमतीकी कथाको कहनेवाला यह छठा परिच्छेद समाप्त हुआ ।



अथ सातवां परिच्छेद ।

मै श्री सुपार्श्वनाथ भगवानको नमस्कार कर कुछ धर्मोपदेश कहता हूं और उसमें भी निर्विचिकित्सा गुणमें प्रसिद्ध होनेवाले राजा उद्दायनकी कथा कहता हूं ॥ १ ॥ किसी एक दिन देवोंसे भरी हुई सभामें भव्य जीवोंको समझानेके लिये सौधर्म इन्द्रने सम्यग्दर्शनके गुणोंका वर्णन किया ॥ २ ॥ और कहा कि भरतक्षेत्रके वंग देशांतर्गत रोरुक नामके शुभ नगरमें राजा उद्दायन राज्य करता है। वह अपने पहिले जन्ममें उपार्जन किये हुए पुण्यकर्मके प्रभावसे सम्यग्दर्शनके तीसरे निर्विचिकित्सा गुणको विना किसी दोषके पालन करता है। इस प्रकार मति श्रुत और अवधि तीनो ज्ञानोंको धारण करनेवाले इन्द्रने उद्दायनकी वहुत प्रशंसा की ॥ ३–४ ॥ उद्दायनकी ऐसी भारी प्रशंसा सुनकर वासव नामका देव उसकी परीक्षा लेनेके लिये आया। उसने एक मुनिका विकृतरूप धारण कर लिया, उस समय उसके उस वनाये हुए शरीरसे कोढ गल रहा था और वह वहुत ही विकृति (घृणा करने योग्य) रूपमें था ॥ ५ ॥ अपना ऐसा मुनिका रूप वनाकर वह देव उद्दायनके द्वारपर आया। पुण्यवान उद्दायनने देखते ही भक्तिपूर्वक उसका पड्गाहन किया और विधिपूर्वक आहार दिया ॥६॥

अथ सप्तमः सर्गः ।

सुपार्श्वं जिनमानम्य वक्ष्ये सद्धर्मदेशकम् । गुण निर्विचिकित्साख्य नृपोद्दायनगोचरम् ॥१॥ सौधर्मेन्द्र. सभामध्ये सम्यक्त्वगुणवर्णनम् । करोति देवसम्पूर्णे भव्यसम्बोधहेतवे ॥२॥ भरते वगदेशेऽभूद्रोरुकाख्ये पुरे शुभे । उद्दायनो महाराज· पूर्वपुण्यप्रभावत. ॥ ३ ॥ गुण निर्विचिकित्साख्य त्यक्तदोषं स सेवते । इति प्रशसयामास शक्रस्त्रिज्ञानसंयुत ॥ ४ ॥ वासवाख्योऽमरो नाकादागतस्तं परीक्षितुम् । विकृत्य मुनिरूपं स कुष्टादिगलितं घनम् ॥५॥ गृहद्वारे स्थितस्तस्य त विलोक्य स पुण्यधी· । ददौ हि विधिनाहार प्रतिगृह्य सुभक्तित.

अपनी मायासे (विद्यासे) वह देव उद्दायनका सब अन्न खा गया और सब पानी पी गया और फिर उसने अत्यन्त दुर्गन्ध और घृणित वमन कर दिया ॥ ७ ॥ उस वमनकी असह्य दुर्गन्धसे राजाके कुटुम्बी और सेवक सब भाग गये। केवल रानी प्रभावती और पुण्यवान् राजा उद्दायन मुनिकी वैयावृत्य करनेके लिये रह गये ॥ ८ ॥ रानी उसके शरीरको पोंछने लगी। परन्तु उस मायाचारी मुनिने उसके ऊपर भी वमन कर दिया, परन्तु फिर भी वे दोनों उसके शरीरको धोने लगे और उस दुर्गन्धमय वमनको भी धोने लगे ॥ ९ ॥ इतना ही नहीं उस समय राजाने स्वयं अपनी बड़ी निंदा की और कहा कि हा हा इन दुःखी मुनिराजके लिये मेरे द्वारा न जाने कौनसा अयोग्य आहार दिया गया है उसीके कारण इनको इतना कष्ट हुआ है ॥ १० ॥ राजाके इस प्रकारके वचनको सुनकर देवको बहुत ही आनन्द हुआ और उसे निश्चय हो गया कि इन्द्रका कहा हुआ सर्वथा ठीक है। इससे अपना बनाया हुआ मुनिका रूप छोड़ दिया और अपना स्वाभाविक दिव्यरूप बनाकर अपनी सब कथा कही, राजाकी बहुत बहुत प्रशंसा की और दिव्य वस्त्राभरणोंसे राजाकी पूजाकर वह देव अपने स्वर्गलोकको चला गया ॥ ११–१२ ॥ कुछ दिनोंके बाद राजा उद्दायनने भी अपना सब राज्य छोड़कर श्री वर्द्धमान स्वामीके समीप जिनदीक्षा धारण कर ली ॥ १३ ॥ उसने महा घोर तपश्चरण किया, सब कर्मसमूहोंका नाश किया और केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्तिलक्ष्मीका स्वामी हुआ ॥ १४ ॥ रानी प्रभावतीने भी दीक्षा धारण कर ली और घोर तपश्चरण कर स्त्रीलिंगको छेदकर पांचवें ब्रह्मस्वर्गमें दिव्य आभरणोंसे सुशोभित देव हुई ॥ १५ ॥

॥६॥ सर्वान्नं च जलं सोऽपि भक्षयित्वातिमायया। अतिदुर्गंधवीभत्सं वमनं कुरुते पुनः ॥७॥ नष्टः परिजनस्तस्माद् दुर्गंधादतिदुःसहात्। स्थितो राजा प्रभावत्या सहितः सोपि पुण्यवान् ॥ ८ ॥ राज्ञः प्रतीच्छतो वान्तं देव्या उपरि छर्दितम्। सा क्षालयति हस्तेन राजा तद्वमनादिकम् ॥ ९ ॥ हा हा दत्तो मयाहारोऽयोग्यो रुक्पीडितात्मने। इति निंदां स्वयं स्वस्य करोति स मुनीशिने ॥१० ॥ श्रुत्वा तद्वचनं देवः सानन्दो जातनिश्चयः। मायारूपं परित्यज्य दिव्यरूपं व्यधादसौ ॥ ११ ॥ कथयित्वा कथां स्वस्य प्रजल्प तं मुहुर्मुहुः। प्रपूज्य वस्त्राभरणैः स्वर्गलोकं ययौ सुरः ॥ १२ ॥ उद्दायनो नृपो भूयस्त्यक्त्वा राज्यादिसंपदः। पार्श्वे श्रीवर्द्धमानस्य दीक्षामंगीचकार स ॥१३॥ तपः कृत्वा महाघोरं हत्वा कर्मकदंबकम्। उत्पाद्य केवलज्ञानं जातो मुक्तिस्वयंवरः ॥१४॥ प्रभावती तपः कृत्वा हत्वा स्त्रीलिंगमप्यसौ। ब्रह्मस्वर्गे सुरो जातो दिव्याभरणमण्डितः ॥१५॥ परमसुखनिधिश्चोद्दायनो लोकपूज्यो, विधृतगुणनिमग्नो दर्शनस्यैव योगात्। कृतपरमतपो

जो मुनिराज उद्दायन परम सुखके निधि थे, लोकपूज्य थे, जिन्होंने सम्यग्दर्शनके समस्त गुण धारण किये थे, जिन्होंने
घोर तपश्चरण किया और समस्त कर्मोंको नष्टकर अपार परमपद—मोक्षपद प्राप्त किया वे उद्दायन मुनिराज हम लोगोंकी
रक्षा करें ॥ १६ ॥ इस निर्विचिकित्सा गुणको धारण कर और भी बहुतसे जीव मोक्ष पधारे हैं, परन्तु उन सबकी कथा
कौन कह सकता है ॥ १७ ॥

सम्यग्दर्शनके चौथे अमूढदृष्टि अंगमें रेवती रानी प्रसिद्ध हुई है इसलिये सम्यग्दर्शनको निर्मल करनेके लिये
उसकी भी कथा कहता हूं ॥ १८ ॥ विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक मेघकूट नगर है। पुण्यकर्मके उदयसे वहांपर
सम्यग्दृष्टी राजा चन्द्रप्रभ नामका विद्याधर राज्य करता था ॥ १९ ॥ किसी एक समय वह राजा चन्द्रप्रभ अपने पुत्र
चन्द्रशेखरको राज्य देकर भक्तिपूर्वक गुरु और देवोंकी वंदना करनेके लिये किसी एक विद्याके साथ चल दिया ॥ २० ॥
चलते चलते वह दक्षिण मथुरामें आया। वहांपर उसे श्रीगुप्ताचार्यके दर्शन हुए। उनकी पूजाकर उस बुद्धिमान राजाने
उनके ही पास क्षुल्लककी दीक्षा धारण कर ली ॥ २१ ॥

किसी एक दिन उस चन्द्रप्रभ क्षुल्लकने अपने गुरु गुप्ताचार्यसे पूछा कि हे स्वामिन्! मैं तीर्थयात्रा करनेके लिये
उत्तर मथुराको जा रहा हूं, क्या आपको किसीसे कुछ कहना है? ॥ २२ ॥ उत्तरमें मुनिराजने कहा कि पापोंसे डरनेवाले
और संसाररूपी समुद्रसे पार कर देनेवाले मुनिराज सुव्रतके लिये हमारा नमस्कार कहना तथा राजा वरुणकी रानी रेवतीसे
स्वर्ग मोक्षकी देनेवाली हमारी अनेक प्रकारसे धर्मवृद्धि कहना ॥ २३—२४ ॥ इतना कहकर वे चुप हो गये। तब क्षुल्लकने

हि सर्वकर्माणि हत्वा, परमपदमपार पात्वसौ नो मुनीन्द्रः ॥१६॥ गुणं निर्विचिकित्साख्यं धृत्वाऽन्ये बहवो गता। मुक्तिं येऽत्र कथां दक्ष-
क्स्तेषां गदितुं क्षम ॥१७॥ विख्याता रेवती राज्ञी ह्यमूढत्वगुणे प्रिया। कथा तस्याः प्रवक्ष्यामि दर्शनस्यैव हेतवे ॥ १८ ॥ रूप्याद्रि-
दक्षिणश्रेण्यां मेघकूटे पुरे खग। राजा चन्द्रप्रभो जात पुण्यात्सद्दर्शनान्वित ॥१९॥ चन्द्रशेखरपुत्राय दत्वा राज्यं स निर्गत.। भक्त्यर्थं
गुरुदेवानां युक्त काचिद्विद्यया ॥२०॥ आगतो दक्षिणाख्या स मथुरां सत्कृतार्चन.। सूरे श्रीमुनिगुप्तस्य पार्श्वेऽभूत् क्षुल्लको बुधः ॥२१॥
एकदा श्रीगुरु पृष्टो व्रजता तीर्थहेतवे। तेनोत्तरमथुरायां किं कस्य कथ्यते न वा ॥२२॥ तेनोक्तं पापभीताय सुव्रताय नमोस्तु मे। कथ-
नीयो मुनीन्द्राय तारकाय भवार्णवे। राज्ञो वरुणनाम्नश्च रेवत्याः कथयस्व मे। धर्मवृद्धिमनेकार्थस्वर्गमुक्तिसुखप्रदाम् ॥२४॥ एकादशांग-

सोचा कि वहांपर ग्यारह अंगके पाठी मुनिराज भव्यसेन भी हैं तथा और भी मुनि होंगे उनको गुरुदेवने नाम तक नहीं लिया। यही सोचकर क्षुल्लकने फिर पूछा, परन्तु दुबारा पूछनेपर भी मुनिराजने यही कहा कि अब और किसीसे कुछ नहीं कहना है तब क्षुल्लकने विचार किया कि इसका कुछ भी कारण होना चाहिये; मैं उसे अभीतक समझ नहीं सका हूं ॥ २५–२६ ॥ इसके बाद वह क्षुल्लक उत्तर मथुरामें पहुंचा और सुव्रत मुनिराजके समीप जाकर मस्तक झुकाकर उनको नमस्कार किया और उनके गुणोंसे वह बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ २७ ॥ उनके विशेष वात्सल्यको देखकर गुरुके वाक्योंपर उसका दृढ़ निश्चय हुआ और फिर उसने गुरुका कहा हुआ नमस्कार भी उनको कह सुनाया ॥ २८ ॥ इसके बाद वह शीघ्र ही वसतिकामें आया। वहांपर भव्यसेन मुनि विराजमान थे, परन्तु उन्होंने अपने अभिमानमें आकर इससे कुछ बात भी नहीं की ॥ २९ ॥ जब वे भव्यसेन मुनि कमंडलु लेकर शौचके लिये बाहर गये तब उनकी परीक्षा करनेके लिये वह क्षुल्लक भी उनके साथ गया ॥ ३० ॥ क्षुल्लकने कुछ आगे चलकर अपनी विद्यासे सब मार्ग अनेक जीवोंसे भरी हुई हरी घाससे आच्छादित कर दिया ॥ ३१ ॥ उस हरी घाससे भरे हुए मार्गको देखकर भी और "भगवान जिनेन्द्रदेवने इनमें एकेन्द्री जीव कहे हैं" ऐसा जानकर भी भव्यसेनने उसकी परवा नहीं की और उस घासको पैरोंसे कुचलता हुआ चला गया ॥ ३२ ॥ जब भव्यसेन शौचको बैठ गया तब उस चन्द्रप्रभ विद्याधरने अपनी विद्यासे उसके कमंडलुका पानी सुखा दिया और सामने आकर कहने लगा कि–हे स्वामिन्! कमंडलुमें जल नहीं है तो न सही इसमें कुछ चिंता करनेकी बात नहीं है, यह पासमें ही एक सरोवर स्वच्छ जलसे भरा है उसमें जाकर शुद्धि कर लीजिये। यह कहकर वह तो चला गया

विद्भव्यसेनसूरिस्तथापरे। सन्ति तेषां न नामापि नीयते गुरुणाऽधुना ॥२५॥ द्विःपृष्टेनापि तेनैतदुक्तं नान्यद्विचिंतितम्। कारणं किंचिदत्रास्ति नाहं जाने च मानसे ॥२६॥ तत्र गत्वा स्थितः पार्श्वे सुव्रतस्य मुनेः स वै। नमस्कृत्योत्तमांगेन तद्गुणग्रामरंजितः ॥ २७ ॥ दृष्ट्वा तदीयवात्सल्यं विशिष्टं जातनिश्चयः। प्रतिपाद्य नमस्कारं संगतो गुरुणोदितम् ॥२८॥ ततो वसतिकां शीघ्रमागतो भाषणं स्वयम्। न कृतं भव्यसेनेन तस्य गर्वितचेतसा ॥ २९ ॥ गृहीत्वा कुंडिकामेष बहिर्भूमिं गतो व्रती। तेनापि सह मार्गेण तत्परीक्षादिहेतवे ॥३०॥ हरितांकुरसछन्नो मार्गस्तेनापि दर्शितः। स्वविकुर्वणया तस्य स्वयं मार्गांगिसंकुलः ॥३१॥ तं दृष्ट्वास्यागमे जीवाः कथ्यन्ते जिनभाषिते। एष तत्रारुचिं कृत्वा गतः पादेन मर्दयन् ॥ ३२ ॥ शौचादिसमये नीरं शोषयित्वा वदन्नसौ। कुंडिकायां जलं नास्ति स्वामिन्नो विकृति

और मूर्ख भव्यसेनने उसी सरोवरमें जाकर अपनी शुद्धि कर ली ॥ ३३–३४ ॥ इसपरसे उस क्षुल्लकने समझ लिया कि यह कुमार्गगामी मिथ्यादृष्टी है। उसने उसी दिनसे उसका नाम अभव्यसेन रख दिया ॥ ३५ ॥

अब उसने रेवतीकी परीक्षा करनी प्रारम्भ की। दूसरे दिन नगरके पूर्व दिशाकी ओर वह ब्रह्माका रूप धारण कर विराजमान हो गया। उसने विद्याके बलसे अपने चार मुंह बना लिये, यज्ञोपवीत धारण कर लिया, देवोको अपनी पूजामें लगा लिया और इस प्रकार पद्मासन लगाकर बैठ गया। उसे इस प्रकार ब्रह्माके रूपमें देखकर राजा तथा भव्यसेन आदि सब मूर्ख उसकी पूजा करनेके लिये पहुंचे ॥ ३६–३७ ॥ अनेक अज्ञानी लोगोने रेवती रानीको भी बहुत समझाया, चलनेके लिये बहुत प्रेरणा की परन्तु उसने सबको यही उत्तर दिया कि भाई ब्रह्मा नामका कोई देव आगया होगा ॥३८॥ तीसरे दिन नगरके पश्चिमकी ओर जाकर उस क्षुल्लकने रेवतीकी प्रसिद्धि सुनकर उसकी परीक्षा करनेके लिये विष्णुका रूप धारण कर लिया। विद्याबलसे अनेक गोपियां बना ली, चार भुजाएं बना ली, गरुडपर सवार होगया, शंख चक्र और शस्त्र आदि चिह्न बना लिये और अनेक मिथ्यादृष्टियोंको अपनी सेवामें लगा लिया ॥ ३९–४० ॥ परन्तु रेवती रानी वहांपर भी नही गई। चौथे दिन नगरके दक्षिण ओर जाकर उसने महादेवका रूप बना लिया, माथेपर आधा चन्द्रमा लगा लिया, मस्तकपर जटाजूट रख लिया, वृषभपर (नादियापर) सवार हो गया और आधे अंगमें पार्वतीको धारण कर लिया। उसे देखकर बहुतसे मूर्ख भक्ति करते हुए चले आए, परन्तु रेवती रानी तथा कितने ही अन्य समझदार लोग वहां भी नही गये ॥ ४१–४२ ॥ पांचवें दिन उत्तर दिशाकी ओर जाकर उसने तीर्थकरका रूप बनाया। अतिशय,

---

कचित् ॥३३॥ सरोवरेऽत्र संस्वच्छनीरे शौच द्रुतं कुरु। भणित्वा पूर्ववत्मूढ प्राकरोच्छौचमजसा ॥३४॥ ततस्त स परिज्ञाय दृष्टिहीन कुमार्गगम्। कृत्वा सोऽभव्यसेनाख्य तस्य लोके गतो बलात् ॥३५॥ ततोऽन्यस्मिन् दिने तेन ब्रह्मरूप प्रदर्शितम्। चतुर्मुखं सुयज्ञोपवीतयुक्त सुरार्चितम् ॥३६॥ तत्पूर्वदिशि पद्मासनस्थं तत्रापि मायया। राजादयो भव्यसेनादयो मूढाः समागता ॥३७॥ रेवती प्रेर्यमाणापि मूढलोकैरनेकधा। भणित्वा ब्रह्मनामाय कश्चिद्देवो हि चागतः ॥३८॥ रेवत्याः ख्यातिमाकर्ण्य तत्परीक्षादिहेतवे। पुनर्दक्षिणदिग्भागे कृष्णरूपं प्रदर्शितम् ॥३९॥ गोपागनादिसयुक्त गरुडारूढ चतुर्भुजम्। शखचक्रायुधोपेत दृष्टिहीनैर्जनैर्वृतम् ॥४०॥ तत. पश्चिमदिग्भागे रुद्ररूपं व्यधादसौ। अर्द्धचन्द्रजटाजूटमारूढ वृषभस्य च ॥४१॥ गौरीरूपसमासक्त. तद्दृष्ट्वा भक्तितत्परः। आगतास्तत्र सर्वे च

प्रातिहार्य आदि सब गुण बना लिये, सभाके मध्यभागमें सिंहासनपर विराजमान हो गया, अनेक देव विद्याधरोंको नमस्कार करते हुए दिखला दिया और सब तरहसे धर्मको प्रगट करनेवाले तीर्थंकरका रूप बना लिया ॥ ४३–४४ ॥ अनेक श्रावक अनेक मुनि भक्ति करनेके लिये आये, रानी रेवतीसे भी अनेक लोगोंने प्रेरणा की परन्तु वह वहां भी नहीं गई ॥४५॥ उस बुद्धिमती रानीने सबसे कह दिया कि वासुदेव नौ होते हैं, महादेव ग्यारह होते हैं और तीर्थंकर चौवीस होते हैं ऐसा जैन शास्त्रोंमें वर्णन किया है और वे सब हो चुके फिर अब वासुदेव, महादेव वा तीर्थंकर कहांसे आये। यह तो लोगोंको भ्रम जालमें फंसानेके लिये कोई देव अपनी मायासे रूप धारण कर आया है ॥ ४६–४७ ॥ इसके दूसरे दिन उस क्षुल्लकने अपना रूप क्षुल्लकका ही रक्खा परन्तु उसे अनेक व्याधियोंसे पीडित बनाया और चर्याके समय रेवती रानीके राजमहलकी देहलीके निकट आकर अपनी विद्यासे ही बेहोशमा होकर गिर गया। रेवती रानी सुनते ही बाहर आई और धर्मकी भावनासे भक्तिपूर्वक उसे उठाकर अपने भवनमें ले गई ॥ ४८–५० ॥ रानीने उसके लिये पथ्य और शुद्ध आहार खिलाया और उचित जल ग्रहण कराया परन्तु उसने ग्रहण करनेके बाद सब दुर्गन्धिमय वमन कर दिया ॥ ५० ॥ रानीने उस सब उच्छिष्टको स्वयं धोया और अपनी निंदा की कि अवश्य ही मेरेसे आहारमें कोई अपथ्य वा अयोग्य वस्तु दी गई है ॥५१॥ रेवतीके अपने निंदात्मक वचन सुनकर उसने अपना बनाया हुआ रूप छोडकर अपना असली रूप धारण कर लिया। उसने रानीकी बार बार प्रशंसा की और पहिलेका अपना सब हाल कह सुनाया ॥ ५२ ॥ तदनंतर उसने रानीसे अपने

शठा नैव विचक्षणा. ॥४२॥ अतोप्युत्तरदिग्देशे रूप तीर्थंकरस्य च । व्यधाद्द्विषट्गुणोपेत प्रातिहार्यादिभूषितम् ॥४३॥ सिंहासनसमासीन देवविद्याधरादिभि. । नुत धर्माकर दिव्य सभामध्ये परिस्थितम् ॥४४॥ श्रावकास्तत्र भक्त्यर्थमागता मुनयो परे । रेवती बहुभि. लोकै प्रेरितापि न चागता ॥४५॥ नवैव वासुदेवाश्च रुद्रा एकादश स्मृता । चतुर्विंशतिसत्तीर्थंकरा श्रीजिनशासने ॥४६॥ अतीतास्तेप्यहो सर्वे मूढाना भ्रान्तिहेतवे । कश्चिदेष समायातो मायावी ज्ञायते न च ॥ ४७ ॥ अथापरदिने चर्या वेलाया व्याधिपीडितम् । पतितो मूर्च्छया रूप विधाय क्षुल्लकस्य स ॥ ४८ ॥ प्रतोलीनिकटे मार्गे रेवत्या धर्मवाञ्छया । श्रुत्वा त द्रुतमागत्य नीतो भक्त्या स्वमालयम् ॥४९॥ तया पथ्य कृतं तस्य शुभभावनया निजम् । सर्वमादाय दुर्गंधं वमन तदधादसौ ॥५०॥ अपनीय तदुच्छिष्टं तं प्रक्षाल्य करोति सा । निंदा स्वस्य मया दत्त आहारोय विरूपक. ॥५१॥ रेवत्या वचन श्रुत्वा त्यक्त्वा रूपादिविक्रियाम् । तोषात्प्रशस्य वृतान्त पूर्वं च कथित

इसके स्थानको चला गया ॥५३॥ इसके
गुरुदेवकी कही हुई धर्मवृद्धि कही, उसके अमूढदृष्टि अंगकी प्रशंसा की और फिर अपने स्थानको चला गया ॥५३॥ इसके
वाद राजा वरुणने कितने ही दिन तक राज्य किया और फिर अपने पुत्र शिवकीर्तिको राज्य देकर कर्मोको नाश करनेके
लिये दीक्षा धारण कर ली ॥५४॥ उसने वहुत दिन तक सुख देनेवाला तपश्चरण किया और अंतमें समाधिपूर्वक शरीरका
त्यागकर माहेंद्र स्वर्गमें वड़ी ऋद्धिका धारक देव हुआ ॥५५॥ रानी रेवतीने भी दीक्षा धारण कर ली और भयको भी भय
देनेवाला घोर तपश्चरण कर, स्त्रीलिंग छेदकर ब्रह्मस्वर्गमें उत्तम देव हुई ॥५६॥ वहांपर उसकी दस सागरकी आयु थी।
दस सागर तक अनेक सुखोंका अनुभव कर वह रेवती रानीका जीव अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करेगा ॥५७॥ इस अमूढदृष्टी
अगमें और भी वहुतसे लोग प्रसिद्ध हुए हैं परन्तु उन सवकी कथाएं कौन कह सकता है। उन सवकी कथाएं जैन शास्त्रोंसे
जान लेनी चाहिये ॥५८॥ जो विद्वान् विचार करनेमें चतुर है उन्हें देव, धर्म, गुरु तथा दान पूजा शास्त्र आदिमें होनेवाली
मूढता अवश्य छोड़ देनी चाहिये ॥५९॥ यह अमूढदृष्टी अंग इस संसारमें स्वर्ग मोक्षके सुखको देनेवाला है इसलिये सम्य-
ग्दर्शन गुणको प्राप्त करनेके लिये मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक इस अमूढदृष्टी अंगको अवश्य पालन करना चाहिये
॥६०॥ जिसने सम्यग्दर्शनके निर्मल गुणोंकी विभूतिसे मूढता आदि सव दोषोंको छोड़ दिया था, भगवान जिनेंद्र देवकी

स्वयम् ॥५२॥ धर्मवृद्धिर्गुरोस्तस्याः प्रतिपाद्य प्रकाश्य च। अमूढत्वगुण लोके गत स्थानं पुनर्निजम् ॥५३॥ सद्राज्यं वरुणो राजा दत्वा
दीक्षां समाददौ। स्वशिवकीर्तिपुत्राय कर्मनिर्नाशहेतवे ॥५४॥ कृत्वा तपः सुखाधारं त्यक्त्वा देहं समाधिना। स्वर्गे माहेन्द्रसज्ञे स देवो
जातो महर्द्धिकः ॥५५॥ रेवती तप आदाय दुष्कर भवभीतिदम्। हत्वा स्त्रीलिंगमेवाभूद् ब्रह्मस्वर्गेऽमरो वरः ॥५६॥ दशसागरपर्यन्तमा-
यु भुक्त्वा सुख क्रमात्। हत्वा कर्माणि निर्वाण गमिष्यति न चान्यथा ॥५७॥ अन्ये च वहवः सन्ति प्रामूढत्वगुणाश्रिता। कस्ता च
गदितुं शक्यो ज्ञातव्यास्ते जिनागमे ॥५८॥ मूढत्व विवुधैस्त्याज्यं गुरुधर्मामरादिषु। दानपूजादिशास्त्रेषु विचारचतुरैः सदा ॥५९॥ अमू-
ढत्वगुणं लोके स्वर्गमुक्तिसुखाकरम्। भज त्व हि विशुद्धात्र दर्शनं च गुणाप्तये ॥६०॥ अमलगुणविभूषा त्यक्तमूढादिदोषा, जिनचरण-
विभक्ता संश्रिता श्रीसुधर्मे। जिनवचनवियुक्ता रेवती संयमाढ्या, सकलसुखनिधाने ब्रह्मस्वर्गेऽमरोऽभूत् ॥६१॥

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारे निर्विचिकित्सामूढत्वगुणव्यावर्णनो
उद्दायननृप रवेतीराज्ञीकथा प्ररूपणोनाम सप्तमः परिच्छेदः।

भक्तिपूर्वक जिसने श्रेष्ठ धर्मका पालन किया था, जो जिन वचनोंमें तल्लीन रही थी और जिसने दृढतापूर्वक संयम पालन किया था ऐसी रेवती रानी समस्त सुखोंकी निधि ऐसे ब्रह्म स्वर्गमें जाकर देव हुई थी ॥ ६१ ॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें निर्विचिकित्सा और अमूढदृष्टी अंगमें प्रसिद्ध होनेवाले राजा उद्दायन और रेवती रानीकी कथाको निरूपण करनेवाला यह सातवां परिच्छेद समाप्त हुआ ।



अथ आठवां परिच्छेद ।

जिनकी कांति चन्द्रमाके समान है, जिनके चन्द्रमाका ही चिह्न है और जो भव्य जीवोंको सदा आनन्द देनेवाले हैं ऐसे श्री चन्द्रप्रभ भगवानको मैं उनके गुणोंको प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ सम्यग्दर्शनके पांचवें उपगूहन अंगमें जिनेन्द्रभक्त प्रसिद्ध हुआ है इसलिये अब मैं उस सेठकी कथा कहता हूं ॥ २ ॥ सौराष्ट्र (सोरठ) देशके पाटलीपुर नगरमें पुण्य कर्मके उदयसे राजा यशोधर राज्य करता था । उसकी रानीका नाम सुसीमा था । उन दोनोंके एक सुवीर नामका पुत्र हुआ था जो कि पाप कर्मके उदयसे सातों व्यसनोंके सेवन करनेमें चतुर था । उसने अपने समान ही बहुतसे सेवक रख लिये थे और इस प्रकार वह कुमार्गगामी बन गया था ॥ ३–४ ॥ सोरठ देशकी पूर्व दिशामें गौड नामके देशकी तामलिप्त नामकी नगरीमें एक जिनेन्द्रभक्त नामका धनी सेठ रहता था ॥ ५ ॥ उस सेठका भवन सात मंजिलका था और वह सेठ बहुत ही बड़ा ऐश्वर्यशाली था । उसके उस भवनमें एक चैत्यालय था जिसमें श्री पार्श्वनाथ भगवानकी प्रतिबिम्ब विराजमान थी । सेठने उसकी रक्षाका बहुत ही अच्छा प्रबन्ध कर रक्खा था ॥ ६ ॥ उस प्रतिमापर तीन छत्र लगे हुए थे

अथ अष्टमः सर्गः ।

चन्द्रप्रभमहं वन्दे चन्द्राभं चन्द्रलाञ्छनम् । जनानंदकरं देवं तद्गुणग्रामहेतवे ॥१॥ ख्यातो योऽभूदिहैव प्रोपगूहनगुणे शुभे । जिनेन्द्रभक्तस्तस्याहं कथां वक्ष्ये हि श्रेष्ठिनः ॥२॥ सौराष्ट्रविषये पाटलिपुत्रे हि स्वपुण्यतः । राजा यशोधरो जातः सुसीमा तस्य वल्लभा ॥३॥ तयोः पुत्रः सुवीराख्यः सप्तव्यसनपीडितः । जातस्तथाविधैर्भृत्यैर्वेष्टितोऽतिकुमार्गगः ॥४॥ पूर्वदेशे हि गौडाख्यविषये श्रेष्ठिनंदनः । तामलिप्तनगर्यां च जिनदत्तो वसन् धनी ॥५॥ तत्र सप्ततलप्रासादोपर्यस्ति महाशुभा । प्रतिमा पार्श्वनाथस्य बहुरक्षासमन्विता ॥६॥ तस्या

और उन छत्रोंमें एक अत्यन्त बहुमूल्य वैडूर्यमणि लगा हुआ था। उस वैडूर्यमणिकी बात परम्परासे ऊपर लिखे राजपुत्र सुवीरने भी सुन ली ॥ ७ ॥ उस मणिकी बात सुनकर उसे लोभने दबाया और लोभके वश होकर उसने अपने सेवकोंसे पूछा कि तुममेंसे कोई सेवक अपना छल कपट रचकर क्या उस मणिको ला सकता है ? ॥ ८ ॥ उन सेवकोंमें एक सूर्य नामका चोर था। वह गर्जकर बोला कि यह कौनसी बड़ी बात है। मैं इंद्रके मुकुटमें लगी हुई मणिको भी ला सकता हूं ॥९॥ यह कहकर वह उस मणिको लेनेके लिये चल दिया। उसने कपट कर अपना क्षुल्लकका रूप बना लिया और नगर गांवोंमें लोगोंको क्षोभ प्रगट करता हुआ और प्रतिदिन चलता हुआ शीघ्र ही तामलिप्त नगरीमें आ पहुंचा। बुद्धिमान जिनेंद्रभक्त क्षुल्लकके आनेकी बात सुनते ही उसके समीप आया। सेठने उसे नमस्कार किया, उसके साथ बातचीत की, उसे सब तरहसे संतुष्ट किया और अपने घर लाकर श्री पार्श्वनाथकी प्रतिमाके दर्शन कराये ॥१०—१२॥ सेठने उससे चैत्यालयमें रहनेकी प्रार्थना की परन्तु उसने कपटपूर्वक अपनी अनिच्छा प्रगट की। तथापि उस सेठने धर्मकी वृद्धि होनेके लिये उस मणिकी रक्षार्थ उस दुष्ट क्षुल्लकको वहां ठहरा लिया ॥१३॥

किसी एक दिन सेठने समुद्रयात्रा करनेका विचार किया और उस क्षुल्लकसे आज्ञा लेकर घरसे निकलकर नगरके बाहर डेरा दिये॥१४॥ उस रातको सेठके अन्य कुटुंबी लोग भी अपना अपना सामान संभालनेमें लगे हुए थे। ऐसे समयको देखकर वह चोर क्षुल्लक भी आधी रातके समय उस मणिको लेकर चलता बना ॥ १५ ॥ वह मणिको लेकर जा रहा था परन्तु उस मणिके प्रकाशसे कोटवालको दिखाई पड़ ही गया, इसलिये वह भयंकर कोटवाल पकड़नेके लिये उसके पीछे

छत्रत्रये लग्ना वैडूर्यमणिरेव च। अत्यनर्घ्यो सुवीरेण पारपर्येण सश्रुत ॥ ७ ॥ पुनर्लोभातिशक्तेन तेन पृष्टा सुसेवका। आनेतु कोपि शक्तोपि ता मणिं स्वप्रपचत ॥८॥ तस्कर सूर्यनामापि जल्पदत्यतगर्जितम्। हत्वाहमिंद्रशेखरमणिमप्यानयाम्यहम् ॥ ९ ॥ तस्मान्निर्गत्य संजात क्षुल्लक कपटेन स। कुर्वन् क्षोभ पुरे ग्रामे कायक्लेशेन प्रत्यहम् ॥१०॥ तामलिप्तनगरीं स क्रमाच्छीघ्र समागत। जिनेन्द्रभक्त संश्रुत्वा तूर्णं तत्रागत सुधीः ॥ ११ ॥ वदित्वा त स सभाष्य प्रशस्य वचनेन च। गृहमानीय श्रीबिंब पार्श्वनाथस्य दर्शितम् ॥१२॥ अनिच्छन्नपि तत्पार्श्वे स्थापितो मायया खल। मणिरक्षार्थमेवासौ श्रेष्ठिना धर्मसिद्धये ॥१३॥ एकदा क्षुल्लक पृष्ट्वा श्रेष्ठी निर्गत्य संस्थित। पुराद्बहि समुद्रादियात्राया गमनोद्यतः ॥१४॥ सोपि गृहजन व्यग्र नेतु वस्त्वादिक स्वयम्। परिज्ञायार्द्धरात्रौ ता मणिमादाय निर्गत ॥१५॥

दौड़ा ॥ १६ ॥ वह क्षुल्लक और अधिक दौड़ न सका उसने देखा कि मैं अब किसी तरह बच नहीं सकता तब वह दुष्ट उसी सेठके शरणमें पहुंचा और कहने लगा कि इस समय मेरी रक्षा कीजिये ॥ १७ ॥ उधर सेठने पहरेदारोंका चोरके भागनेका कोलाहल भी सुन रक्खा था इसलिये उसने उसे चोर तो समझ लिया परन्तु एक क्षुल्लक वेषधारीको चोर कहनेमें जैनधर्मकी हंसी होगी यह समझकर उसने उस विषयको दबाना ही उचित समझा ॥ १८ ॥ सेठने आये हुए कोतवाल और अन्य लोगोंसे यही कहा कि यह तो मेरी आज्ञासे ही इस रत्नको लाया है। आप लोगोंने यह बहुत बुरा किया जो एक क्षुल्लकके लिये चोरकी घोषणा की ॥ १९ ॥ सेठकी यह बात सुनकर वे सब लोग उसे नमस्कार कर चले गये। उनके चले जानेके बाद धर्ममें सदा तत्पर रहनेवाले सेठने उस दुष्टको शीघ्र ही अपने यहांसे निकाल दिया ॥ २० ॥ बुद्धिमान् सम्यग्दर्शनसे सुशोभित व्रत और ज्ञानादि गुणोंसे विभूषित और विचार करनेमें अत्यन्त चतुर वह सेठ आगे स्वर्ग मोक्षके सुखोंको प्राप्त होगा ॥ २१ ॥ इसलिये सम्यग्दृष्टी पुरुषोंको चाहिये कि वे बालक, अज्ञानी अथवा असमर्थ लोगोंके आश्रयसे होनेवाले धर्मके दोषोंको सदा ढकते रहें॥२२॥ जो विद्वान् अपनी निंदा करते हैं और दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करते हैं वे मनुष्य संसारमें धन्य हैं। वे अवश्य ही स्वर्गके सुखोंको भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥२३॥ जो मनुष्य अपने मुंहसे दोषोंको कभी नहीं कहते और दूसरोंके श्रेष्ठ गुणोंको सदा प्रगट करते रहते हैं वे इंद्रादिकके सुख भोगकर अंतमें मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ॥ २४ ॥ जो मूर्ख अपने गुणोंको अपनेआप कहते फिरते हैं और अपने दोषोंको

गच्छंतं तस्करं तस्मादालोक्य भणितैर्नसा। आरब्धो धर्तुमेवासौ कोट्टपालैर्भयंकरैः ॥१६॥ पलायितुं क्षमो नैव श्रेष्ठिनः शरणं पुनः। प्रविष्टो रक्ष रक्षेति मम दुष्टो वदन्नसौ ॥ १७ ॥ कोलाहलं समाकर्ण्य तेषां विज्ञाय तस्करम्। तं शासनोपहासस्यालोच्य प्रच्छादनाय सः ॥१८॥ ब्रूते मद्वचनेनैव नीतं रत्नमनेन भोः!। कृतं भवद्भिश्चानिष्टं न चौरो घोषणा कृता ॥१९॥ ततस्ते तं नमस्कृत्य गताः सर्वे स श्रेष्ठिना निर्घाटितोऽतिवेगेन धर्मतत्परचेतसा ॥२०॥ सद्दृष्ट्यालंकृतः श्रेष्ठी व्रतज्ञानगुणान्वितः। विचारचतुरो धीमान् स्वर्गमुक्त्यादिकं व्रजेत् ॥२१॥ एवं सद्दृष्टिना बालाज्ञानाशक्तजनाश्रयात्। आगतस्यापि दोषस्य कर्तव्यं छादनं वृषे ॥२२॥ स्वस्य निन्दां प्रकुर्वन्ति स्तुवन्ति परगुणान् ये। धन्यास्ते यान्ति स्वर्लोकं क्रमान्मुक्त्यालयं बुधाः ॥ २३ ॥ परदोषान् व्यपोहन्ति प्रकटीकृत्य सद्गुणान्। सौख्यं शक्रादिजं ये ते भुक्त्वा यान्ति शिवास्पदम् ॥२४॥ ये वदन्ति स्वयं स्वस्य गुणान् दोषान् पुनर्न च। गर्दभादिकुयोनिं ते श्वभ्रं वा यान्ति दुर्धियः ॥२५॥

दुःख भोगते हैं ||२५|| जो मनुष्य
कभी प्रगट नहीं करते वे गधे आदिकी कुयोनियोंमें जन्म लेते हैं अथवा नरकमें जाकर दुःख भोगते हैं ||२५|| जो मनुष्य
दूसरोंकी निंदा करते रहते हैं और दूसरोंके गुणोंको ढंकते रहते हैं वे दुष्ट सबसे अधिक पापी है। उन मूर्खोंको नरकमें ही
स्थान मिलता है ||२६|| वह श्री जिनेंद्रभक्त सेठ अनेक निर्मल गुणोंसे सुशोभित था, तीर्थंकर परमदेवका भक्त था, परम
तत्त्वका जानकार था, दान धर्म आदि क्रियाओंमें निपुण था, सम्यग्दर्शनके उत्तम गुण प्रगट करनेमें चतुर था और निंदा
आदि सब दोषोंसे रहित था || २७ ||

इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके स्थितिकरण गुणमें वारिषेण प्रसिद्ध हुआ है। अब मैं सम्यग्दर्शनके गुण बढानेके लिये
उसकी कथा कहता हूं ||२८|| मगधदेशके राजगृह नगरमें राजा श्रेणिक राज्य करता था। उसकी पट्टरानीका नाम चेलना था
||२९|| उन दोनोंके वारिषेण नामका पुत्र था जो कि सम्यग्दृष्टी था, श्रावकोंके सब व्रतोंको पालन करता था, धीरवीर था,
जिनेंद्रदेवका भक्त था और उदार हृदय था || ३० || किसी एक दिन चतुर्दशी पर्वके दिन उसने प्रोषधोपवास किया था
इसलिये उस रातको उस बुद्धिमानने स्मशानमें जाकर कायोत्सर्ग धारण कर ध्यान लगाया था ||३१|| उसी दिन दिनके
समय किसी बागमें सेठ श्रीकीर्ति वायु सेवनके लिये आया था। पुण्य कर्मके उदयसे उसके गलेमें एक अत्यन्त मनोहर
हार पड़ा हुआ था। वह हार मुग्धसुंदरी नामकी किसी वेश्याने देखा। उस हारको देखकर वह विचार करने लगी कि
इस हारके विना जीना व्यर्थ है। यही सोचती विचारती वह घरको चली गई और शोक करती हुई शय्यापर जा लोटी
||३२-३३-३४|| विद्युच्चर नामका एक चोर उस वेश्यापर आसक्त था। वह रातको उसके घर आया और उस वेश्याको रातमें

परनिंदा प्रकुर्वन्ति गुणान् प्रच्छादयन्ति ये। ते मूढा श्वभ्रगा ज्ञेया भूरिपापावृताः खलाः || २६ || विमलगुणगरिष्टस्तीर्थनाथस्य भक्तो,
विदितपरमतत्त्वो धर्मदानादियुक्तः। प्रकटितगुणसारो दर्शनस्यैव वद्याद्रहितसकलदोषोऽत्रैव जैनेन्द्रभक्तः ||२७|| वारिषेणोऽतिविख्यातो य
स्थितिकरणे गुणे। प्रवक्ष्यामि कथां तस्य तद्गुणग्रामसिद्धये ||२८|| मगधाख्ये शुभे देशे पुरे राजगृहेऽभवत्। श्रेणिको भूपतिस्तस्य राज्ञी
स्याच्चेलिनी शुभा ||२९|| वारिषेणस्तयोर्जातः सुतः सद्दर्शनान्वितः। श्रावकाचारसम्पन्नो धीरो जैनो महाशयः ||३०|| एकदा स चतु-
र्दश्यां कृत्वा सत्प्रोषधं सुधीः। कायोत्सर्गं समादाय श्मशाने सस्थितो निशि ||३१|| तस्मिन्नेवाह्नि प्रोद्याने विलासिन्या विलोकितः।
गतया मुग्धसुन्दर्या वै हारोऽति मनोहरः ||३२|| स्थितः श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या हृदि पुण्यफलेन सा। चिंतयामास किं मेऽहो जीवितव्येन साम्प्र-

भी उस प्रकार शोकाकुलित देखकर पूछने लगा कि हे प्रिये ! तू आज किस चिंतामें डूब रही है ॥ ३५ ॥ इसके उत्तरमें उस वेश्याने कहा कि हे स्वामिन् ! यदि आप सेठ श्रीकीर्तिके गलेमें पड़ा हुआ दिव्य हार लाकर मुझे दें तो मैं आपको अपना स्वामी बनाऊंगी अन्यथा नहीं ॥ ३६ ॥ यह सुनकर विद्युच्चरने उसे धीरज बंधाया और आधी रातके समय सेठ श्रीकीर्तिके घर जाकर और उस हारको लेकर कुशलपूर्वक बाहर निकल आया ॥ ३७ ॥ परन्तु उस हारका प्रकाश छिप न सका इसलिये कोतवालने और पहरेदारोंने उसे चोर समझकर पकड़ना चाहा। आगे वह चोर दौड़ता जाता था और पीछे पीछे पहरेदार। वह चोर उसी स्मशानकी ओर दौड़ा और अंतमें पकड़ जानेके डरसे उस हारको ध्यानमें लीन हुए वारिषेण कुमारके आगे पटककर छिप गया ॥३८–३९॥ कोटवालने वारिषेणको हारके पास इस प्रकार खड़े देखकर महाराज श्रेणिकसे जाकर कहा कि हे महाराज ! कुमार वारिषेण हार चुराकर इस प्रकार स्मशानमें ध्यान लगाकर जा खडा हुआ है ॥ ४० ॥ कोतवालकी यह बात सुनकर महाराज श्रेणिकको अपने पुत्रपर बहुत ही क्रोध आया और उसने उसका मस्तक काट डालनेकी आज्ञा दे दी ॥ ४१ ॥ आज्ञा होते ही चांडालने जाकर उसके गलेपर तलवार चलाई परन्तु उस व्रतके माहात्म्यसे वह तलवार भी पुष्पमाला होकर उसके गलेमें जा पड़ी ॥ ४२ ॥ पुत्रका यह अतिशय सुनकर राजा श्रेणिक भी अपनी निंदा करता हुआ आया और उस कुमारसे क्षमा मांगी ॥ ४३ ॥ विद्युच्चर भी यह सब लीला देख रहा था वह तुरन्त ही आ उपस्थित हुआ और अभयदान मांगकर राजा श्रेणिकसे हार चुरानेकी तथा वारिषेणके आगे डालनेकी

तम् ॥३३॥ हारेणापि विना लोके चेति चिंताकुलापि सा। गेहं गत्वा स्थिता शोकात्पतित्वा शयनोदरे ॥३४॥ तदासक्तेन विद्युच्चौरेणागत्य प्ररूपितम्। रात्रावेव स्थिता किं हे प्रिये चिंतातुरासि वै ॥३५॥ तयोक्तं यदि मे नाथ ददासि दिव्यभूषणम्। हारं श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या भर्त्ता त्वं चात्र नान्यथा ॥३६॥ तच्छ्रुत्वा ता समुद्धीर्य तस्या गेहं प्रविश्य तम्। चौरयित्वार्द्धरात्रौ स कौशलेन विनिर्गतः ॥३७॥ हारोद्योतेन तं चौरं ज्ञात्वा सोपि च तस्करः। ध्रियमाणो बलाद्गेहरक्षकैः कोटपालकैः ॥ ३८ ॥ तेभ्यः पलायितुं सोऽसमर्थो हारं स्थितस्य वै। वारिषेणकुमारस्याग्रे धृत्वादृश्यतामगात् ॥ ३९ ॥ कोटपालैस्तथा तं च दृष्ट्वागत्य प्ररूपितम्। श्रेणिकस्य महाचौरो वारिषेणः स्थितोधुना ॥ ४० ॥ तेनोक्तं दृष्टिवैकल्यात्स्थितस्य तस्य मस्तकम्। गृहीत्वा त्यक्तदेहस्य ग्रय सत्कृतमायया ॥ ४१ ॥ क्षिप्तोसिस्तेन तत्कंठे मातंगेन स चाजनि। सत्पुष्पदामरूपेण व्रतमाहात्म्ययोगतः ॥ ४२ ॥ तं श्रुत्वातिशयं जातं देवात्तं निंदा विधाय सः। श्रेणिकेन समागत्य

अपनी सब कथा कह सुनाई ॥ ४४ ॥ तदनंतर महाराज श्रेणिकने कुमार वारिषेणसे घर चलनेके लिये कहा परन्तु वारिषेणने उत्तर दिया कि अब तो मैंने जिनदीक्षा लेकर पाणिपात्र भोजन करनेकी प्रतिज्ञा ले ली है ॥ ४५ ॥ इस प्रकार अपने पिताकी आज्ञा लेकर वह कुमार वारिषेण सूर्यदेव मुनिराजके समीप गया और उन्हें नमस्कार कर उस बुद्धिमानने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली ॥ ४६ ॥

किसी एक दिन तपश्चरण और व्रतोंसे सुशोभित वे वारिषेण मुनि आहारके लिये राजगृहके समीपवर्ती पलासकूट गांवमें पधारे ॥ ४७ ॥ वहांपर महाराज श्रेणिकका महामंत्री अग्निभूत रहता था और उसके पुत्रका नाम पुष्पडाल था। उस पुष्पडालने उन मुनिराजको देखकर शीघ्र ही उनका पड़गाहन किया ॥ ४८ ॥ उसने मुनिराजको आहार दिया और फिर अपनी सोमिला ब्राह्मणीसे पूछकर उसकी आज्ञानुसार कुछ दूर तक उन मुनिराजके साथ गया ॥ ४९ ॥ कुछ दूर जाकर उसें लौटनेकी पड़ी। अपने लौट जानेकी आज्ञा मागनेके लिये कभी कोई क्षीरवृक्ष दिखाकर स्मरण कराया और कभी उन्हें वंदना कर स्मरण कराया परन्तु वे मुनिराज कुछ न बोले, चले ही गये। लाचार होकर पुष्पडालको भी जाना पड़ा। अपने स्थानपर जाकर मुनिराजने सद्धर्म ग्रहण करनेके लिये उसे समझाया और कहा कि ॥ ५०–५१ ॥ हे मित्र ! यह गृहस्थका निवास अत्यन्त निंदनीय है, पापका कारण है, अनेक दुःखोंको उत्पन्न करनेवाला है, अनेक चिंताओंसे भरपूर है और धर्मकार्योंमें विघ्न करनेवाला है, इसलिये तू इसे छोड़ और चारित्र धारण कर। यह चारित्र ही स्वर्ग मोक्षको वश करनेवाला है, सुखकी खानि है, महापापोंको नाश करनेवाला है और दुखोंको दूर करनेवाला है ॥५२–५३॥

क्षमा स्वकारितोप्यसौ ॥ ४३ ॥ याचयित्वाभयं दान विद्युच्चौरेण तत्क्षणम् । प्रकटीकृत्य स्व राज्ञो वृत्तात कथितं निजम् ॥ ४४ ॥ वारिषेणो गृह नेतुं प्रारब्ध. सोवदत्सुधी. । पाणिपात्रेपि भोक्तव्यं गृहीतो नियमो मया ॥४५॥ राजा देश समादाय गत्वा श्रीगुरुसन्निधौ । सूर्यदेवमुनिं नत्वा दीक्षां जग्राह शुद्धधी ॥ ४६ ॥ राजगृहसमीपे पलाशकूट स वेकदा । ग्राम प्रविष्टश्चर्यायै सुतीव्रतपसान्वित ॥४७॥ श्रेणिकस्य महामत्री योऽग्निभूतसमाह्वयः । तत्पुत्रपुष्पडालेन दृष्ट्वा सस्थापितो मुनिः ॥४८॥ दान दत्त्वा मुनीन्द्राय सोमिल्लां ब्राह्मणीं पुन । दृष्ट्वानुव्रजन कर्तुं निर्गतो मुनिना सह ॥४९॥ स्वस्य व्याघुटनार्थं स क्षीरवृक्षादिक मुहुः । दर्शयन् वदना कुर्वन् मुहुस्तस्मै मुनीशिने ॥५०॥ मुनिना हस्तमादाय नीत स वालमित्रत । कुर्वता वोधन तस्य परं सद्धर्महेतवे ॥ ५१ ॥ गृहवासं महानिंद्य पापवीज कुदुःखदम् ।

मुनिराजका उपदेश सुनकर पुष्पडालको कुछ लज्जा आई, लज्जासे कुछ अभिमान आया और कुछ वैराग्य प्रगट हुआ इसलिये उसने संयम धारण कर लिया परन्तु वह सोमिला ब्राह्मणीको अपने हृदयसे कभी नहीं भूलता था ॥ ५४ ॥ तदनन्तर वे दोनों मुनिराज तीर्थयात्राको निकले। वारह वर्ष तक तीर्थयात्रा की और फिर श्री वर्द्धमानस्वामीके समवशरणमें आए ॥ ५५ ॥ वहां आकर उन दोनोंने अपने दोनों हाथ जोड़कर तीर्थंकर परमदेवको नमस्कार किया और हृदयमें धर्मकी आराधना करते हुए अपने कोठेमें जा बैठे ॥ ५६ ॥ वहांपर कुछ देव पृथ्वीके विषयमें कुछ रसीले गीत गा रहे थे और उनमेंसे एक गीत यह था "कि हे राजन् ! फटे और मैले वस्त्र पहिने तथा अपने हृदयमे जलती हुई पवित्र पृथ्वी तूने छोड़ दी है इसलिये अव वह किस प्रकार जीवेगी" देवोंका यह गीत पुष्पडालने भी सुना और उसने ज्योंका सों अपनी सोमिला ब्राह्मणीपर घटा लिया। वस फिर क्या था वह बुद्धिहीन मुनि मोहमें फंस गया और हृदयमें राग भाव उत्पन्न हो जानेके कारण वहांसे घरके लिये चल पड़ा ॥५७-५८-५९॥ उसकी यह लीला सम्यग्दृष्टि मुनिराज वारिषेणने भी जान ली और उसको अपने धर्ममें स्थिर करनेके लिये वे उसे अपने राजभवनमें ले गये ॥ ६० ॥ रानी चेलनाने उन दोनों मुनिराजोंको आते हुए देखकर विचार किया कि वारिषेण क्यों आया ? क्या वह चारित्रसे चलायमान तो नहीं हो गया ? ऐसी शंका उसके हृदयमें उत्पन्न हुई ॥ ६१ ॥ उस शंकाको दूर करनेके लिये और अपने पुत्रकी परीक्षा करनेके लिये उसने उन मुनियोके लिये दो प्रकारके आसन डलवाए। एक स्थानपर सुवर्ण चांदीके रागरूप और दूसरे स्थानपर वीतराग काठके ॥ ६२ ॥ वे मुनिराज वीतराग आसनपर विराजमान हो गये और फिर उन्होंने अपनी मातासे कहा कि–हे माता !

चिंतादिशतसम्पूर्णं धर्मविघ्नकरं त्यज ॥५२॥ मित्र गृहाण चारित्रं स्वर्गमुक्तिवशीकरम्। सुखाकरं महापापस्फोटकं दुःखदूरगम् ॥ ५३ ॥ लज्जाप्तमानवैराग्याद् गृहीत्वा संयमं परम्। सोमिल्लां स्वचित्तस्थां नैव स विस्मरेत् सदा ॥ ५४ ॥ तौ मुनी द्वादशाब्दैश्च कृत्वा सत्तीर्थ-वन्दनाम्। वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य प्रागतौ सत्सभां शुभात् ॥ ५५ ॥ नमस्कृत्य जिनाधीशमुपविष्टौ निजे गणे। स्वहस्तौ कुड्मलीकृत्य सद्ध-र्मान्वितचेतसौ ॥ ५६ पृथिव्यादिसमुद्भूतं गीयमानं सुरैर्वरम्। गीतं सर्वरसाढ्यं हि पुष्पडालेन सश्रुतम् ॥ ५७ ॥ कुवस्त्रमललिप्तांगा दह्यमाना हृदि त्वया। त्यक्ता शुभा कथं पृथ्वी जीविष्यति महीधरः ॥ ५८ ॥ एतत्स्वस्यापि संयोज्य सोमिल्लायाश्च नष्टधीः। निर्गतो रागसंयुक्तो स्वगेहं मोहितो मुनिः ॥ ५९ ॥ स ज्ञात्वा वारिषेणेन स्थितीकरणहेतवे। नीतो राजगृहं तस्मात्सम्यग्दर्शनशालिना ॥ ६० ॥

शीघ्र ही मेरे सामने सब स्त्रियोंको बुला दो ॥६३॥ रानी चेलनाने वस्त्र और आभूषणासे सुशोभित तथा हावभाव विलास आदि गुणोंसे शोभायमान उनकी वत्तीसों सुन्दर स्त्रियां बुलाकर उनके सामने खड़ी कर दीं ॥ ६४ ॥ तब मुनिराज वारिषेणने पुष्पडालसे कहा कि यदि अब भी तेरी लालसा नही मिटी है तो इन स्त्रियोको और मेरे युवराज पदको स्वीकार कर ॥ ६५ ॥ मुनिराजकी यह बात सुनकर (और उनको ऐसी परम विभूतिसे भी विरक्त जानकर) पुष्पडाल हृदयमें बहुत ही लज्जित हुआ। उसे उसी समय परम वैराग्य प्रगट हुआ और वह स्वयम् अपनी निंदा करने लगा ॥ ६६ ॥ वह कहने लगा कि इनको धन्य है जिन्होंने राज्यलक्ष्मी और ऐसी ऐसी सुन्दर स्त्रियां त्याग दी हैं तथा मुझ मूर्खको वारवार धिक्कार है जो त्याग करनेपर भी स्त्रीकी चितामें लगा रहता हूं ॥ ६७ ॥ तदनन्तर पुष्पडालने परम संवेग धारण किया, निरन्तर तीव्र तपश्चरण किया और अन्तमें स्वर्गसुख प्राप्त किया। अनुक्रमसे वह मोक्ष प्राप्त करेगा ॥ ६८ ॥ रत्नत्रयसे विभूषित हुए मुनिराज वारिषेण भी बारह प्रकारका घोर तपश्चरण कर स्वर्गमें महाऋद्धिके धारक देव हुए ॥ ६९ ॥ जो अनुपम गुणोंसे शोभायमान थे, जिन्होने शंका आदि सब दोष दूरकर सम्यग्दर्शनके समस्त उत्तम गुणोंको धारण किया था, जिन्होंने बारह प्रकारका तपश्चरण किया था और जो ज्ञान विज्ञानसे विभूषित थे ऐसे वे मुनिराज वारिषेण हम लोगोंको मोक्ष सुख प्रदान करें ॥ ७० ॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें उपगूहन और स्थितिकरण अगमें प्रसिद्ध होनेवाले जिनेन्द्रभक्त और वारिषेणकी कथाको कहनेवाला यह आठवां परिच्छेद समाप्त हुआ।

चेलिनी तौ मुनी दृष्ट्वा वारिषेण किमागत । चारित्राच्चलितोभूत्वा चेति शका चकार सा ॥ ६१ ॥ वीतरागसरागौ द्वौ चासनौ दापितौ तया। स्वपुत्रस्य परीक्षार्थं स्वय सविग्नचेतसा ॥ ६२ ॥ उपविश्य ततः प्रोक्त मुनिना मातर प्रति। ममान्तःपुरमेवात्र प्रानय त्व सुवेगत ॥ ६३ ॥ तया सुदेव्यो द्वात्रिंशद्वस्त्राभरणभूषिताः। हावभावविलासाढ्या आनीता मुनि सन्निधौ ॥ ६४ ॥ भणित वारिषेणेन पुष्पडालं प्रति स्वयम्। इमा स्त्रियो गृहाण त्व यौवराज्य पद च मे ॥ ६५ ॥ तच्छ्रुत्वा पुष्पडालोभूल्लज्जाकुलितमानस। वैराग्यं परम गत्वा स्वस्य निंदा करोत्यसौ ॥ ६६ ॥ धन्योयं येन सत्यक्ता राज्यश्री सुभगास्त्रियः। धिङ्मां रागान्वित मूढम् त्यक्तभार्यादिचित्तकम् ॥६७॥ पुष्पडालोतिसवेगात्कृत्वा तीव्रतपोनघम्। स्वर्गऋद्ध्यादिक प्राप्य क्रमान्मोक्ष प्रयास्यति ॥६८॥ वारिषेणो मुनीन्द्रः सुरत्नत्रयविभूषितः। कृत्वा

अथ नौवां परिच्छेद ।

जो सब इच्छाओंको पूर्ण करनेवाले हैं, कामदेवको नष्ट करनेवाले हैं, कुंदके पुष्पके समान जिनका शरीर है और जो धर्मके स्वामी है ऐसे श्री पुष्पदन्त भगवानको मै अपने प्रारम्भ किये हुए कार्यको प्रसिद्ध करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ मुनिराज श्री विष्णुकुमार सम्यग्दर्शनके वात्सल्य अंगमें प्रसिद्ध हुए हैं इसलिये उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिये मै उनकी कथा कहता हूं ॥ २ ॥ इसी भरतक्षेत्रके मनोहर अवन्ती देशके अन्तर्गत उज्जयिनी नगरीमें अपने पुण्यकर्मके उदयसे श्रीधर्म नामका राजा राज्य करता था ॥ ३ ॥ उसके चार मंत्री थे। वलि, बृहस्पति, प्रल्हाद और नमुचि उनका नाम था। ये चारों ही मंत्री बड़े दुष्ट थे ॥ ४ ॥

किसी एक समय अवधिज्ञानी अकंपनाचार्य अनेक मुनियोके साथ उस उज्जयिनी नगरीके बाहर वनमें आ विराजे ॥ ५ ॥ उनके साथ सातसौ मुनिराज थे, वे सब बुद्धिके पारगामी थे, तपश्चरणसे उनका शरीर कृश हो रहा था और वे अनेक गुणरूपी संपदाओसे विभूषित थे ॥ ६ ॥ गुरुराज अकंपनाचार्यने अपने निमित्त ज्ञानसे जानकर सब संघको आज्ञा दे दी थी कि राजा आदिके आनेपर भी कोई किसीसे कुछ भाषण न करे क्योंकि भाषण करनेपर संघपर किसी उपद्रवके

तपो द्विषड्भेद स्वर्गऋद्ध्यादिक व्रजेत् ॥६९॥ निरुपमगुणयुक्तस्त्यक्तशङ्कादिदोषो, विसृतगुणगरिष्टो दर्शनस्यैव नित्यम्। कृतसकलतपो यो ज्ञानविज्ञानदक्षो, दिशतु शिवसुख नो वारिषेणो मुनीन्द्र ॥ ७० ॥

इतिश्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे उपगूहनीस्थीतकरणप्ररूपणो जिनेन्द्रभक्त वारिषेण कथा प्ररूपणो नाम अष्टम परिच्छेद ।

अथ नवमः सर्गः ।

पुष्पदन्तमह वन्दे कामद कामघातकम् । प्रारब्धार्थप्रसिद्ध्यर्थं कुन्दाभ धर्मनायकम् ॥१॥ सद्विष्णवादिकुमारो य सद्वात्सल्यगुणे मुनि । विख्यातोह कथा तस्य वक्ष्ये तद्गुणप्राप्तये ॥ २ ॥ अवन्तीविषये रम्ये उज्जयिन्यामभूत्पति । नगर्यामपि श्रीधर्मो पूर्वोपार्जित-पुण्यत ॥ ३ ॥ मन्त्रिणस्तस्य सजाताश्चत्वार प्रथमो वलि । बृहस्पतिश्च प्रह्लादो नमुचो दुष्टमानस ॥ ४ ॥ एकदाकपनो नाम्नाचार्योवधि-सुवीक्षण' । तत्रागत्य स्थितो ज्ञेयो बने सह मुनीश्वरै ॥ ५ ॥ धीरैः सप्तशतैर्दक्षै· सज्ज्ञानाम्बुधिपारगै । तपसा कृशसर्वाङ्गैरनेकैर्गुण सपदा ॥ ६ ॥ गुरुणा वारित सघ· कर्तव्यं नैव जल्पनम् । राजादिके समायाते अन्यथा सघऽत्यय ॥ ७ ॥ हर्म्योपरिस्थितेनैव राज्ञा पुजाकरा-

होनेकी आशंका है ॥ ७ ॥ मुनिराजको आए हुए जानकर नगरके लोग पूजाकी सामग्री लेकर आए। किसी कारणवश उस समय राजा अपने भवनकी ऊपरी छतपर था। वहांसे उसने सब लोगोंको पूजा की सामग्री लेकर जाते हुए देखा तब उसने मंत्रियोसे पूछा कि आज ये लोग पुण्य उपार्जन करनेके लिये किसकी यात्रा करने जा रहे हैं? मंत्रियोंने उत्तर दिया कि हे महाराज! नगरके बाहर उद्यानमें मुनिराज पधारे हैं ॥ ८–९ ॥ उन्हींकी वंदना करनेके लिये ये लोग निरन्तर आ जा रहे हैं। मंत्रियोंकी यह बात सुनकर राजाने भी कहा हम भी उनकी वंदना करनेके लिये चलेंगे। यह कहकर वह राजा उन मंत्रियोको साथ लेकर चल दिया। वहां जाकर उसने सब मुनियोंकी वंदना की परन्तु किसी मुनिने राजाको आशीर्वाद नहीं दिया ॥ १०–११ ॥ यह देखकर राजाने समझा कि शरीरसे ममत्व छोड़े हुए ये निस्पृह और अनेक गुणोंसे विराजमान मुनिराज अपने ध्यानमें लगे हुए हैं यह समझकर वह वापिस लौट गया ॥१२॥ परन्तु उन दुष्ट मंत्रियोंने उनकी हंसी उड़ाई और कहा कि ये कोरे बैल हैं, कुछ जानते नहीं। इन्होंने केवल छलकपट कर मौन धारण कर लिया है ॥१३॥ आगे जाते हुए उन मंत्रियोको एक श्रुतसागर नामके मुनि मिले जो चर्या करके वापिस लौट रहे थे। उन्हें देखकर उन दुष्ट मंत्रियोंने कहा कि एक यह भी तरुण बैल आया। यह भी मूर्ख और ज्ञानादिकसे सर्वथा रहित है और यह अभी अपना पेट भरकर आया है ॥ १४–१५ ॥ यह सुनकर मुनिराजने राजसभाके मध्यमें उन चारो मंत्रियोंके साथ शास्त्रार्थ किया और अनेकांतकी युक्तियोंसे उन सबको पराजित किया ॥१६॥ फिर अपने संघमें आकर अपने गुरुराजको नमस्कार किया और

न्वितम्। गच्छत मन्त्रिण· पृष्टा आलोक्य नागर जनम् ॥ ८ ॥ काय लोक प्रयातिस्म यात्राया सत्पुण्यहेतवे। तेरुक्त बहिरुद्याने प्रागता मुनयो ध्रुवम् ॥ ९ ॥ वदनार्थमय तेषा लोको याति निरन्तरम्। गच्छामो वयमपीति भणित्वा निर्गतो नृप ॥ १० ॥ मन्त्रियुक्तेन भूपेन गत्वा सर्वे प्रवन्दिता। आशीर्वादो न दत्तोस्य केनापि मुनिना पुन ॥ ११ ॥ तिष्ठति निस्पृहाश्चैते त्यक्तदेहा मुनीश्वरा। ध्यानारूढा गुणैर्युक्ता इति मत्वा नृपो गत ॥ १२ ॥ उपहास· कृतश्चैतेर्मान्त्रिभिर्दुष्टमानसै। बलीवर्दा न जानन्ति दम्भमौनेन संस्थिता· ॥ १३ ॥ गच्छद्भिर्मन्त्रिभिर्महादुष्टैरग्रे दृष्टो मुनीश्वर। चर्या कृत्वा समागच्छन् श्रुतसागरसंज्ञक ॥१४॥ उक्त चाय बलीवर्दस्तरुणो याति साम्प्रतम्। पूरयित्वोदर स्वस्य मूर्खो ज्ञानादिभिश्च्युत ॥१५॥ तच्छ्रुत्वा मुनिना तेपि वाद कृत्वा विनिर्जिता·। नीत्वा राजसभामध्ये सत्स्याद्वाद-

१ मुनिराज श्रुतसागर आहारको गये थे और उन्होंने आचार्यकी आज्ञा सुनी नहीं थी इसलिये उन्होंने मंत्रियोंके साथ बातचीत की थी।

मार्गमें होनेवाले शास्त्रार्थकी सब कथा कह सुनाई। उसे सुनकर आचार्यने कहा कि हे विद्वन्! आपने संघके लिये एक उपद्रव खड़ा कर दिया ॥१७॥ आचार्यकी यह बात सुनकर श्रुतसागरने प्रार्थना की कि हे स्वामिन्! वह मुनियोंका उपद्रव किस प्रकार दूर हो सकता है? आप कृपाकर मुझसे कहिये ॥ १८ ॥ तब आचार्यने कहा कि जहांपर शास्त्रार्थ किया है वहीं जाकर यदि आप आज रहें तो संघका जीवन बच सकता है और आपकी शुद्धि भी हो जायगी ॥ १९ ॥ आचार्यकी यह आज्ञा सुनकर वे धीरवीर मुनिराज वहींपर गये और निर्भय होकर कायोत्सर्ग धारण कर पर्वतके समान निश्चल होकर उस रातको वहींपर विराजमान रहे ॥ २० ॥ शास्त्रार्थमें हार जाने और मान भंग हो जानेके कारण उन चारों दुष्ट मंत्रियोंने क्रोधित होकर सब संघके मारनेका विचार किया। वे इस कामके लिये रातमें निकले परन्तु मार्गमें उन मुनिराजको देखकर परस्पर कहने लगे कि हम लोगोका मानभंग तो इसने किया है इसलिये इसे ही मारना चाहिये, दूसरोंको नहीं। यह कहकर चारों मंत्री एक साथ तलवार उठाकर मारनेके लिये तैयार हुए ॥ २१-२२ ॥ परन्तु जैनधर्मके प्रभावसे और मुनिराजके महात्म्यसे नगरके देवताने वे चारों ही मंत्री उसी प्रकार (मारनेके लिये हाथमें तलवार उठाए) कील दिये ॥ २३ ॥ सवेरा होते ही नगरके सब लोग मुनिराजकी वंदनाके लिये आये। सबने उन ध्यानारूढ मुनिराजको मारनेका उद्यम करनेवाले उन चारों मंत्रियोंकी निंदा की ॥२४॥ राजाने स्वयं जाकर उनको देखा। उसे बड़ा क्रोध आया परन्तु उसने उनके प्राण नही लिये। काला मुंह कर गधेपर सवार कराकर नगरमें फिराया और इस प्रकार महादंड देकर अपने राज्यसे बाहर निकाल दिया ॥ २५ ॥

निरुक्तिभि ॥ १६ ॥ तेनागत्य गुरु नत्वा स्ववार्ता कथिता पुन । गुरुणोक्त त्वया धीमन् सघस्योपद्रव कृत ॥१७॥ तच्छ्रुत्वा त प्रति प्राह सोपि स्वामिन् कथ हि स । विनश्यति मुनीना त्व कृपा कृत्वा निरूपय ॥१८॥ यदि गत्वा त्वमेकाकी वादस्थाने हि तिष्ठति। सघस्य जीवितव्य ते शुद्धिश्चैव भविष्यति ॥१९॥ ततो गत्वाप्यसौ तत्र कायोत्सर्गेण सस्थितः । धीरस्त्यक्तभयो रात्रौ ध्यानारूढोऽचलो यथा ॥२०॥ गच्छद्भिस्तैर्महाक्रुद्धैः सघ मारयितु निशि । मानभगान्मुनिं दृष्ट्वा मार्गे ब्रूत परस्परम् ॥२१॥ मानभग कृतो येन स हन्तव्यो न चापरे। चतुर्भिर्युगपत्खड्गा उद्गीर्णा तद्वधाय तै ॥२२॥ जिनधर्मप्रभावेन मुनिमाहात्म्ययोगत. । पुरदेवतया तत्र कीलितास्ते तथैव च ॥२३॥ प्रभातसमये तेपि दृष्ट्वा लोकैश्च निन्दिताः । ध्यानारूढ मुनिं धीर हतु कृतमहोद्यमा. ॥२४॥ निर्धाटिता हता नैव कोपाद्राज्ञा क्रमा-

कुरुजांगल देशके हस्तिनागपुरमे राजा महापद्म राज्य करता था। उसकी रानीका नाम लक्ष्मीमती था। उन दोनोंके दो पुत्र थे। बड़ेका नाम पद्मकुमार था और छोटेका नाम विष्णुकुमार था। किसी निमित्तको पाकर राजा महापद्मने बड़े पुत्र पद्मकुमारको राज्य देकर छोटे पुत्र विष्णुकुमारके साथ श्रुतसागर मुनिराजके समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली ॥२६–२७॥ दैवयोगसे वे वलि आदि चारों मंत्री मानभंगसे दुःखी होकर, राजा पद्मकुमारके यहां आकर मंत्री होगये ॥२९॥

हस्तिनागपुर राज्यके पास ही एक कुंभपुर नगर था। उसमें सिंहवल नामका राजा राज्य करता था। उसके पास एक सुदृढ किला था और इसीलिये वह हस्तिनागपुर राज्यकी प्रजापर उपद्रव किया करता था ॥ ३० ॥ पद्मकुमार उसे अपने वश नहीं कर सकता था इसीलिये वह चिंता करते करते प्रतिदिन दुर्वल होता जाता था। किसी एक दिन मंत्रियोंने उससे दुर्वलताका कारण पूछा तव राजा पद्मकुमारने सव हाल कह सुनाया। राजाकी वात सुनकर मंत्रियोंने सेनाके साथ उसपर चढ़ाई करनेकी आज्ञा मांगी। आज्ञा पानेपर सेनाके साथ वे उसपर चढाई करनेके लिये चल दिये ॥ ३१–३२ ॥ उन्होने अपनी वुद्धिमानीसे किलेको तोड़ दिया और वलिने सिंहवलको पकड़कर राजा पद्मकुमारके सामने उपस्थित किया ॥ ३३ ॥ वलिका यह काम देखकर राजा वहुत प्रसन्न हुआ और वलिसे कहा कि इस समय तुम जो कुछ मागोगे वही दूंगा। इसके उत्तरमें वलिने प्रार्थना की कि महाराज, जव हमें आवश्यक्ता होगी तव मांग लेंगे ॥ ३४ ॥

इधर अकंपनाचार्य आदि धीरवीर सातसौ ही मुनिराज विहार करते हुए हस्तिनागपुर आ पहुंचे ॥ ३५ ॥ उनके

गत.। कारयित्वा महादड गर्दभारोहणादिकम् ॥२५॥ कुरुजागलदेशेऽथ हस्तिनागपुरे पति । महापद्मो भवेदस्य राज्ञी लक्ष्मीमती सती ॥२६॥ तयो पुत्रौ समुत्पन्नौ पद्मविष्णुसमाह्वयौ । प्राप्य किंचिन्निमित्तं स वैराग्य कृतवान् नृप. ॥२७॥ राज्यं दत्वा स पद्माय वभूव विष्णुना सह । श्रुतसागरसूरेश्च समीपे सन्मुनिर्नृप. ॥२८॥ वलिप्रभृतयस्तेपि पद्मराज्यस्य साम्प्रतम् । आगत्य मन्त्रिणो जाता मानभगाकुला खला. ॥२९॥ अथ कुम्भपुरे दुर्गे राजा सिंहवलोऽवसत । उपद्रवमकरोत्तस्य मण्डलस्य मदान्वित ॥३०॥ तद्वृत्ताकर्ण्य सजातचिंतया तैश्चतुर्वलम् । पद्म दृष्ट्वोदित किं हि देव दौर्वल्यकारणम् ॥३१॥ वलै निरूपित राज्ञा तत श्रुत्वा ससाधन । आदेश प्राप्य शीघ्रं च गतस्तत्र वलान्वित ॥३२॥ वुद्धिमाहात्म्यसामर्थ्यात् दुर्गं भक्त्वा प्रगृह्य तम् । व्याघुट्याागत्य पद्मस्य वलिना स समर्पित ॥३३॥ तोषादुक्त स्वय राज्ञाऽभीष्ट-प्रार्थय सद्वरम् । तेनोक्त प्रार्थयिष्यामि यदा कार्यं भविष्यति ॥३४॥ अथ तेऽकपनाचार्यादयो धीरा मुनीश्वरा । सप्तशतगणोपेताः प्रभ्र-

आते ही नगरमें क्षोभ होगया। नगरके सब लोग दर्शन करने जाने लगे। इन सब कारणोंसे राग, द्वेष, मद, उन्माद, भय, शोक आदि सब दोषोंसे रहित उन मुनिराजका आना बलि मंत्रीने जान लिया। राजा पद्मकुमारको मुनिराजका भक्त जानकर बलि मंत्रीने उसके पास जाकर प्रार्थना की कि हे महाराज! हमें पहिले दिये हुए वरके बदले सात दिनका राज्य दे दीजिये। इस प्रकार उस दुष्टने मुनियोंको मारनेके लिये वर मांगा। राजा वचन दे चुका था इसलिये वह लाचार होकर सात दिनके लिये बलिको राज्य देकर अन्तःपुरको चला गया ॥ ३६–३८ ॥ वे मुनिराज किसी पर्वतपर कायोत्सर्गके द्वारा आतापनयोग धारण किये हुए विराजमान थे, उन सबको उस दुष्टने घेर लिया और सब स्थानके ऊपर एक मण्डप बना डाला ॥ ३९ ॥ फिर उस दुष्टने नरक निगोदके दुःख देनेवाला और धर्मको सर्वथा नाश करनेवाला नरमेध यज्ञ (जिसमें मनुष्य मारकर हवन किये जाते हैं) करना प्रारम्भ किया ॥ ४० ॥ उस नीचने मुनियोंको मारनेके लिये जीवोंके कलेवरोंका तथा हड्डी चमड़ा आदिका बहुतसा धूंआ किया और ऐसे ही ऐसे और भी अनेक उपसर्ग करने प्रारम्भ किये ॥ ४१ ॥ परन्तु जिनका हृदय निश्चल है, शरीर निश्चल है, जिन्होंने शरीरसे ममत्व छोड़ दिया है और जो अत्यन्त धीर-वीर हैं ऐसे वे मुनिराज उभय विकल्पात्मक (यदि इस उपद्रवसे बचेंगे तो अन्नजलादिक ग्रहण करेंगे अन्यथा सबका त्याग है) सन्यास धारण कर लिया ॥ ४२ ॥

इसी समय मिथिला नगरीके बाहर आचार्य सागरचन्द्रने आकाशमें शुभ श्रवण नक्षत्रको कम्पायमान होते देखा। उसी समय उन्होंने अपने अवधिज्ञानको जोड़ा। अवधिज्ञानसे जानते ही उनके मुंहसे निकला कि हा! हा! समस्त परिग्रहके

मन्तत्र चागता ॥३५॥ पुरक्षोभात्परिज्ञाय बलिना तन्मुनीश्वरान्। रागद्वेषमदोन्मादभयशोकादिवर्जितान् ॥३६॥ ज्ञात्वा भूप हि तद्भक्त गत्वा पद्मोभिप्रार्थित। पूर्वं वेर मुनीन्द्राणा वधाय दुष्टचेतसा ॥३७॥ अस्माक देहि भो देव राज्य सप्तदिनान्वितम्। तस्मै दत्वा तु स राजा प्रविश्यान्त पुरे स्थित. ॥३८॥ आतापन गिरौ कायोत्सर्गेणापि स्थितान् मुनीन्। बलिनावेष्टय सवृत्या कृत्वा सन् मडप पुन ॥३९॥ यज्ञ कर्तुं समारब्धो नरमेधसमाह्वय। श्वभ्रतिर्यक्फलोपेतो धर्मध्वसकरोऽपद ॥ ४० ॥ अस्थिचर्मादिजैर्धूम्रैस्तथा जीवकलेवरै। मारणार्थं मुनीन्द्राणामुपसर्गं करोति स ॥४१॥ आदाय मुनयो धीरा सन्यास द्विविकल्पजम्। त्यक्तदेहा स्थिता सर्वे निश्चलागा स्थिराशया ॥४२॥ अथापि मिथिलाख्याया नगर्या निर्गतो वहि। अर्द्धरात्रौ स्वय सागरचन्द्राचार्यसज्ञक ॥४३॥ तेनाकाशे समालोक्य नक्षत्रं श्रवण शुभम्।

त्यागी मुनिराजोंको असन्त कठिन और अत्यन्त भयानक उपसर्ग हो रहा है ॥ ४३–४५ ॥ उनके ये वचन सुनकर पुष्पदन्त नामके क्षुल्लक विद्याधरने पूछा कि हे स्वामिन् ! वह उपसर्ग कहां और किनको हो रहा है ॥४६॥ उत्तरमें आचार्यने कहा कि हे वत्स ! हस्तिनापुर नामके शुभ नगरमे बड़े ज्ञानवान अकंपनाचार्य आदि बहुतसे मुनियोंको उपसर्ग हो रहा है। ॥ ४७ ॥ विद्याधरने पूछा कि हे भगवन् ! शरीरसे ममत्व छोडनेवाले उन मुनिराजोंका यह उपसर्ग आज ही शीघ्रताके साथ किस प्रकार नष्ट हो सकता है ॥ ४८ ॥ इसके उत्तरमें आचार्यने कहा कि धरणिभूषण पर्वतपर विक्रिया ऋद्धिको धारण करनेवाले विष्णुकुमार मुनिराज विराजमान हैं। वे इस उपद्रवको दूर कर सकते हैं ॥४९॥ यह सुनते ही वह विद्याधर स्वयं मुनिराज विष्णुकुमारके समीप गया और नमस्कार कर उसने सब वृतांत कहा ॥ ५० ॥ विद्याधरकी यह बात सुनकर उन्हे आश्चर्य हुआ और मुझे विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हुई है इसकी परीक्षा करनेके लिये उन्होने अपना हाथ फैला दिया ॥५१॥ उनका वह हाथ पर्वतको भेदकर दूर तक चला गया तब उन्हे अपनी विक्रिया ऋद्धिका निश्चय हो गया और फिर वे स्वयं राजा पद्मकुमारके समीप आकर कहने लगे कि तूने यह व्यर्थ ही मुनियोंका उपसर्ग क्यों किया है, तेरे कुलमें और कोई भी ऐसा दुर्बुद्धि नही हुआ है ! ॥ ५२–५३ ॥ तब पद्मकुमारने कहा कि हे भगवन् ! आज मैं क्या करूं ! मैं अपने अशुभ कर्मके उदयसे इस पापीको एक बुरा वचन दे चूका हूं—अर्थात् वरमें सात दिनका राज्य दे चुका हूं ॥ ५४ ॥ तब विष्णु-

कम्पमान परिज्ञायावधिज्ञानेन तत्क्षणम् ॥४४॥ उक्त हा ! हा ! मुनीन्द्राणामुपसर्गोऽति वर्तते । समस्तसगत्यक्ताना दुष्करो भीरुभीतिद. ॥४५॥ तच्छ्रुत्वा पुष्पदन्ताख्यक्षुल्लकेन प्ररूपितम् । विद्याधरेण भो स्वामिन् क्व स केषा प्रवर्तते ॥४६॥ उक्त तद्गुरुणा वत्स हस्तिनागपुरे शुभे । वर्ततेऽकंपनाचार्यादीना सज्ज्ञानशालिनाम् ॥४७॥ तेनोक्त भगवन् सोद्य कथ शीघ्र विनश्यति । उपसर्गो महांस्तेषा यतीना त्यक्तदेहिनाम् ॥ ४८ ॥ विष्णुकुमारसज्ज्ञश्च गिरौ धरणिभूषणे । सद्विक्रियर्द्धिसम्पन्नो मुनिर्नाशयितु क्षम ॥४९॥ एतदाकर्ण्य तेनैव गत्वा तत्सन्निधौ पुन । कृत्वा तस्मै नमस्कार वृत्तान्त कथित स्वयम् ॥ ५० ॥ तच्छ्रुत्वा विक्रियाऋद्धि किं जाता मम साम्प्रतम् । तत्परीक्षार्थमप्याशु तेन हस्त प्रसारित ॥५१॥ सोपि भित्वा गिरि दूर गतो निश्चित्य ता पुन. । आगत्य पद्मराज्यस्य समीपे भणित स्वयम् ॥ ५२ ॥ मुनीनामुपसर्गो हि किं त्वया कारितो वृथा । भवत्कुले न संजात सदृशस्तव दुर्मते ॥५३॥ तेनोक्त भगवन्नद्य किं करोमि मयाऽशुभात् । पूर्वं दत्तो वरो ह्यस्य पापिष्ठस्य विरूपक ॥ ५४ ॥ ततो विष्णुकुमारेण द्विजरूप विधाय वै । वामनरूपसयुक्त मुनिना बलिसान्निधौ ॥५५॥

कुमारने वामन रूप ब्राह्मणका भेष बनाया और बलिके समीप पहुंचे ॥ ५५ ॥ वहांपर जाकर उन्होंने बड़ी अच्छी दिव्य आवाजसे शुभ प्रार्थना की। तब बलिने कहा कि महाराज आपको क्या दें, आपको जो इच्छा हो वही आप मांग लें ॥५६॥ तब विष्णुकुमारने कहा कि मुझे तीन पेंड पृथ्वी दे दीजिये। तब बलिने कहा कि हे ब्राह्मण! यह क्या मांगा और भी घर आदि बहुतसी चीजें मांगो ॥ ५७ ॥ और अधिक मांगनेके लिये बलिने भी बारबार कहा तथा और भी अनेक लोभी पुरुषोंने भी अधिक मांगनेके लिये कहा परन्तु सन्तोषको धारण करनेवाले विष्णुकुमार अपनी उसी मांगपर डटे रहे ॥५८॥ तब बलिने हाथपर पानीकी धारा छोड़कर विष्णुकुमारके लिये कल्याण करनेवाला तीन पेंड पृथ्वीका दान दे दिया ॥५९॥ मुनिराजने दान लेकर पृथ्वी नापनी प्रारंभ की। उन्होंने विक्रिया ऋद्धिसे अपना शरीर बढ़ाकर एक पैर तो मेरु पर्वतपर रक्खा दूसरा मानुषोत्तर पर्वतपर रक्खा, अब तीसरा पैर रखनेके लिये कहीं स्थान न रहा। उनके इस कृत्यसे समस्त संसारमें क्षोभ होगया और देवोंके विमानोंमें भी क्षोभ हो गया तब लाचार होकर उन्होंने अपना तीसरा पैर बलिकी पीठ पर रक्खा ॥६०–६१॥ तब वे सब मंत्री महाराज पद्मकुमारके भयसे घबड़ाये। वे सब उसी समय मुनिराज विष्णुकुमारके तथा उन सातसौ मुनियोंके शरणमें जा पड़े ॥ ६२ ॥ उन्होंने उन सबको नमस्कार किया और जैनधर्मका ऐसा महात्म्य देखकर वे चारों ही मंत्री अच्छे श्रावक बन गये ॥ ६३ ॥ इस संसारमें विष्णुकुमार मुनिराज बड़े ही धन्य हैं। उनका वात्सल्य अंग बहुत ही प्रशंसनीय है क्योंकि मुनियोंका साक्षात उपसर्ग उन्होंने स्वयं दूर किया था ॥ ६४ ॥ इनके सिवाय रामचन्द्र आदि और भी बहुतसे महापुरुष इस वात्सल्य गुणको धारण करनेवाले हुए हैं उन सबके जीवनचरित्र श्री जैन

दिव्येन ध्वनिना गत्वा कृत्वा सत्प्रार्थनं शुभम्। किं ते ददामि तेनोक्त यदिष्ट तच्च प्रार्थय ॥५६॥ तेनोक्त देहि मे पादत्रय भूमेरुवाच स'। अन्यद्बहुतर दानं विप्र गृहिल याचय' ॥५७॥ तदेवं याचते सोपि भण्यमानो मुहुर्मुहु । लोभैरनेकधा लोभाविष्टैः संतोषतत्पर' ॥ ५८ ॥ ततो हि बलिना दत्त भूमिपादत्रयं स्वयम्। हस्तोदकादिविधिना दानं तस्मै शुभप्रदम् ॥५९॥ दत्तो नु मुनिना चैकपादो मेरुगिरौ पुनः। द्वितीयो विक्रियायोगान्मानुषोत्तर पर्वते ॥६०॥ पातेन तृतीयेनापि कृत्वा क्षोभ बलाच्च स । खे देव विमानादीना दत्त पृष्ठे बलेरपि॥६१॥ ततस्ते मन्त्रिण. पद्मभयादागत्य तत्क्षणम्। मुनेर्विष्णुकुमारस्य मुनीनां शरणं गताः ॥६२॥ कृत्वा तेभ्यो नमस्कार जाता सच्छ्रावका शुभात्। चत्वारो जैनधर्मस्य दृष्ट्वा माहात्म्यमीदृशम् ॥६३॥ धन्यो विष्णुकुमारोय सद्वात्सल्यगुणान्वित'। येन सद्योगिनां साक्षादुपसर्गो निवारित

यह वात्सल्य गुण सदा सुख देनेवाला है और धर्मको
शास्त्रोंसे जान लेना चाहिये ॥ ६५ ॥ हे वत्स ! हे बुद्धिमान ! बढ़ानेवाला है इसलिये यथायोग्य रीतिसे मुनि और श्रावकोंमें सदा वात्सल्य धारण करना चाहिये ॥६६॥ जो अभिमानी मूर्ख धर्मात्माओंमें प्रेम नही करते हैं वे धर्मरूपी पर्वतसे गिरकर संसाररूपी समुद्रमें डूब जाते हैं ॥ ६७ ॥ जो अभिमानी गुणवान् मुनिको देखकर भी उनमें प्रेम नही करते हैं अपना उत्कृष्ट धर्म छोड़कर नरकमें पड़ते हैं ॥ ६८ ॥ जो संयमी पुरुष केवल धर्म-पालन करनेके लिये मुनियोंमें प्रेम करते हैं वे इन्द्रादिकके पदको पाकर अवश्य ही मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥ ६९ ॥ जिन मुनिराज विष्णुकुमारको अनेक ऋद्धियां प्राप्त हुई थीं, जिन्होंने सम्यग्दर्शनका सातवां उत्तम वात्सल्य अंग धारण किया था, जो संसारके भारको छोड़कर मोक्षसुखके पारगामी हुए थे और जो संसाररूपी महासागरसे पार कर देनेके लिये जहाजके समान है उन्हें मै मोक्ष प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ ७० ॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें वात्सल्य अंगमें प्रसिद्ध होनेवाले विष्णुकुमार मुनिराजकी कथाको कहनेवाला यह नौवा परिच्छेद समाप्त हुआ ।

अथ दशवां परिच्छेद ।

जो धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करनेके लिये वादलके समान है और पापरूप संतापको दूर करनेवाले हैं ऐसे श्री

सद्वात्सल्यं प्रकर्तव्य त्वया
॥६४॥ अन्ये ये वहव सन्ति सद्वात्सल्यविधायका । ते श्रीरामादयो ज्ञेया दक्षे सच्छ्रीजिनागमात् ॥ ६५ ॥ धीमन् सुखावहम् । यतीना श्रावकाणा च यथायोग्यं सुधर्मदम् ॥६६॥ ये वात्सल्य न कुर्वन्ति मूढा गर्वसमन्विताः । पतित्वा धर्मशैलात्ते मज्जन्ति भवसागरे ॥६७॥ गुणान्वित मुनि दृष्ट्वा ये वात्सल्यं भजन्ति न । गर्वात्ते स्व परित्यज्य धर्मं श्वभ्रे पतन्त्यघात् ॥६८॥ प्रकुर्वन्ति मुनीनां ये वात्सल्यं धर्महेतवे । ते शक्रादिपद लब्ध्वा मुक्तिं गच्छन्ति संयता ॥६९॥ कलितविविधऋद्धिर्विष्णुसंज्ञ मुनीन्द्र, विधृतगुणगरिष्ट सप्तम दर्शनस्य । गतशिवसुखपार त्यक्त ससारभारं, भवजलनिधिपोतं मुक्तयेऽहं प्रवन्दे ॥ ७० ॥

इतिश्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे वात्सल्यगुणे विष्णुकुमारेणागीकृत. इति कथा निरूपको नाम नवमः परिच्छेदः ।

अथ दशमः सर्गः ।

शीतलेशमहं वन्दे सद्धर्मामृतवारिदम् । जन्मदाहविनाशाय पापतापविनाशकम् ॥१॥ गुणे प्रभावनाख्ये यो विख्यातो मुनिपुंगव. ।

शीतलनाथ भगवानको मैं अपने जन्ममरण रूप दाहको नाश करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ सम्यग्दर्शनके आठवें प्रभावना अंगमें मुनिराज वज्रकुमार प्रसिद्ध हुए हैं इसलिये अब संक्षेपसे उनकी कथा कहता हूं ॥२॥ हस्तिनागपुरमें राजा बल राज्य करता था उसके गरुड़ नामका एक धार्मिक पुरोहित था और उसके पुत्रका नाम सोमदत्त था ॥ ३ ॥ वह सोमदत्त अनेक शास्त्रोंका पारगामी था। वह किसी समय अहिछत्रपुर नगरमें अपने शिवभूति मामाके पास गया। किसी एक दिन उसने अपने मामासे कहा कि हे मामा! इस समय यहांके राजा दुर्मुखसे मेरी भेट करा दीजिये। उसका मामा भी अनेक शास्त्रोंका पारगामी था परन्तु वह अभिमानी था इसलिये उसने राजासे सोमदत्तकी भेट नहीं कराई ॥ ४-५ ॥ तब सोमदत्तने स्वयं ही कुछ उपाय किया और पुण्यकर्मके उदयसे राजसभामें जाकर सिंहासनपर विराजमान हुए राजाके दर्शन किये ॥ ६ ॥ सोमदत्तने महाराजको आशीर्वाद दिया, अपने शास्त्रोंकी कुशलता प्रगट की और इस प्रकार राजाको प्रसन्न कर उसने सर्वोत्तम मंत्री पद स्वयं प्राप्त कर लिया ॥ ७ ॥ शिवभूतिने भी अपने भानजेको इस प्रकार विद्वान् और धनी देखकर उसे यज्ञदत्ता नामकी अपनी पुत्री व्याह दी ॥८॥ समयानुसार उसे गर्भ रहा। किसी एक दिन वर्षाकालके दिनोंमें जब कि पानी पड़ रहा था तब यज्ञदत्ताको आम खानेका दोहला उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥ वह समय आमोंका समय नहीं था इसलिये सोमदत्तने बहुतसे उद्यान और वन ढूंढ़े परन्तु आम कहीं न मिले। अंतमें वह एक वनमें गया पर एक आमके वृक्षके नीचे सुमित्र नामके आचार्य मुनिराज विराजमान थे। तथा उस वृक्षपर बहुतसे आमके फल लग रहे थे।

तस्य वज्रकुमारस्य कथा वक्ष्ये समासतः ॥ २ ॥ हस्तिनागपुरे जातो धर्माचारपुरोहितः। गरुडो बलिराजस्य सोमदत्तस्तदात्मजः ॥ ३ ॥ पठित्वानेकशास्त्राणि चाहिछत्रपुरे शुभे। शिवभूतिमामपार्श्वे गत्वा तेन प्रपृच्छितम् ॥ ४ ॥ माम दुर्मुखराजस्य त्वं मां दर्शय साम्प्रतम्। शास्त्रार्थपारगः तेन गर्वितेन न दर्शितः ॥५॥ ततः किंचिदुपायं स रचयित्वा प्रविश्य वै। सभां सिंहासनस्थं तं ददर्श पुण्ययोगतः ॥६॥ आशीर्वादादिकं दत्वा स्वकौशल्यं प्रकाश्य सः। सच्छास्त्रस्य परिप्राप्तो वरं मंत्रिपदं शुभात् ॥७॥ तथाभूतं तमालोक्य मामेनापि धनान्वितम्। स्वपुत्रीयज्ञदत्तास्मै दत्ता भोगाय तत्क्षणम् ॥८॥ एकदा खलु गुर्विण्यान्तस्या दोहलकोऽजनि। वृषाकाले पतन्नीरे सदाम्रफलभक्षणे ॥९॥ सोमदत्तेन तान्युच्चैरुद्यानवनसन्निधौ। अन्वेषयता यत्राम्रवृक्षे योगं चकार सः ॥ १० ॥ आचार्योऽपि सुमित्राख्यस्तं दृष्ट्वा फलितं पुनः। गृहीत्वाम्राणि सद्वृत्य हस्तेन प्रेषितानि वै ॥ ११ ॥ तमाचार्यं नमस्कृत्य श्रुत्वा धर्मं सुखाकरम्। स्वर्गमुक्तिकरं सारं वैराग्यं सोप्यगात्तदा

सोमदत्तने आम तोड़कर सेवकके हाथ घर भेज दिये ॥ १०—११ ॥ तदनंतर उसने उन आचार्यको नमस्कार किया और
उनसे सुख देनेवाले तथा स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करा देनेवाले धर्मका स्वरूप सुना। उसे सुनते ही उसे वैराग्य उत्पन्न होगया ॥१२॥
उसने इस संसारको असार समझा और स्त्री पुत्र धन जीवन आदिको अनित्य समझा तथा ऐसा निश्चय कर उसने संयम
धारण कर लिया ॥ १३ ॥ मुनिराज सोमदत्तने अनेक शास्त्रोंका अभ्यास किया और ज्ञान ध्यानमें तल्लीन होनेका
अभ्यास किया। किसी एक समय वे नाभिगिरि पर्वतपर तपश्चरण करनेके लिये सूर्यके सामने जा विराजमान हुए ॥१४॥

इधर समय पाकर यज्ञदत्ताके पुत्र उत्पन्न हुआ। इसके कुछ दिन बाद उसने अपने पतिका समाचार भी सुना।
उनके मुनि होनेके समाचार सुनकर उसे बहुत ही क्रोध आया और भाई आदिको साथ लेकर वह नाभिगिरि पर्वतपर
पहुंची ॥ १५ ॥ वहां जाकर देखा शरीरसे ममत्व छोड़े हुए पर्वतके समान अचल, सूर्यके सामने विराजमान होकर तप कर
रहे है ॥ १६ ॥ उस दुष्टाने उन मुनिराजको अनेक दुर्वचन कहे और क्रोधमें आकर उस बालकको उन मुनिराजके
पैरोंपर डालकर अपने घरको चली गई ॥ १७ ॥ परन्तु समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देनेवाले और सब तरहकी चिंताओंसे
रहित वे मुनिराज उसी प्रकार एकाग्रचित्त होकर ध्यानमें तल्लीन बने रहे ॥ १८ ॥

इसी समयकी एक कथा और है और वह इस प्रकार है कि विजयार्द्ध पर्वतपर एक अमरावती नामकी नगरी है
जिसमें अनेक धर्मात्मा लोग निवास करते थे ॥ १९ ॥ उस नगरीमें दिवाकर देव नामका विद्याधर राज्य करता था।
उसके छोटे भाईका नाम पुरंदर था। पुरंदरने अपने बलसे अपने बड़े भाईको नगरसे निकाल दिया था और उसका राज्य

॥१२॥ ससार तमसार च दारापुत्रधनादिकम्। अध्रुव जीवितव्य च मत्वा जग्राह संयमम् ॥१३॥ परिज्ञायागम सोपि ज्ञानध्यानतपोरत।
गत्वा नाभिगिरौ सूर्यसन्मुख सस्थितो मुनि ॥१४॥ यज्ञदत्ता प्रसूता सा पुत्र श्रुत्वा स्वभर्तृजम्। वृत्तात कोपसम्पन्ना गता स्वबांधवा-
न्तिकम् ॥ १५ ॥ मुने शुद्धिं परिज्ञाय गत्वा नाभिगिरौ सह। बधुभिस्त्यक्तदेहोसौ यतिर्दृष्टोऽचलस्तया ॥ १६ ॥ कोपाद्धृत्वा स्वबाल
तत्पादोपरि कुमार्गगा। दत्वा दुर्वचनान्यस्य मुनेर्गेहं गता हि सा ॥ १७ ॥ मुनिस्तथैव ध्यानेन स्थित एकाग्रमानसः। सर्वचिन्तादि
निर्मुक्त सर्वत्यक्तपरिग्रह ॥१८॥ तस्मिन्नेव हि प्रस्तावे वसन् रूप्याचले शुभे। नगर्याममरावत्यामाकराया सुधर्मिणाम् ॥१९॥ दिवाक-
रादिदेवान्तनामा विद्याधराधिप। पुरन्दरलघुभ्रात्रा पुर्य्यान्निर्घाटितो बलात् ॥२०॥ इदं पापफल मत्वा सद्राज्यादिविनाशनम्। वदनार्थं

स्वयं ले लिया था ॥ २० ॥ दिवाकर देवने अपने राज्यका नाश होना पापका फल समझा इसलिये वह अपनी स्त्रीको साथ लेकर मुनियोंकी वंदना करनेके लिये निकला ॥ २१ ॥ वह चलता चलता नाभिगिरि पर्वतपर आया और मुनिराजको नमस्कार कर बैठ गया। उसने उनके चरणोंपर पड़े हुए सुन्दर बालकको देखा और उसे उठाकर अपनी स्त्रीको सौंप दिया ॥ २२ ॥ दिवाकर देवने उसका नाम वज्रकुमार रक्खा और वह मुनिराजके दर्शन कर बड़ी प्रसन्नताके साथ कनकपुरको चला ॥ २३ ॥ वहांपर वज्रकुमारका मामा (दिवाकर देवका साला) विमलवाहन राज्य करता था। वह विमलवाहन बहुत ही विद्वान् था। उसीके पास रहकर वज्रकुमारने अनेक विद्याएं सीखीं ॥ २४ ॥

किसी एक दिन वज्रकुमार शोभा देखनेके लिये ह्रीमंत पर्वतपर गया था। वहांपर गरुड़वेग विद्याधरकी स्त्री गंगावतीकी पुत्री पवनवेगा प्रज्ञप्ति नामकी विद्याको सिद्ध कर रही थी। वह पवनवेगा बड़ी गुणवती थी, बड़ी ही रूपवती थी, और उस समय एकाग्र चित्त होकर बड़े परिश्रमसे विद्या सिद्धकर रही थी। दैवयोगसे उसी समय वायुसे उडकर एक वेरका कांटा उसकी आंखमें पड गया था और उसकी पीडासे उसका चित्त चञ्चल हो उठा था। तथा चित्तके चंचल होनेसे वह विद्या सिद्ध नहीं हो रही थी। वज्रकुमारने अपने विज्ञानबलसे वह कांटा देख लिया था और पास जाकर स्वयं अपने हाथसे उसे निकाल डाला था ॥ २५–२८ ॥ कांटेके निकल जानेसे उसका चित्त स्थिर होगया और चित्तके स्थिर हो जानेसे तथा पुण्यके प्रभावसे उस विद्याधर पुत्रीको अनेक कार्य करनेवाली विद्या स्वयं आकर सिद्ध होगई ॥ २९ ॥ विद्या सिद्ध हो जानेपर उस विद्याधर पुत्रीने वज्रकुमारसे कहा कि हे स्वामिन्! मुझे यह विद्या आपके प्रसादसे सिद्ध हुई है

समायात सकलत्रो मुने स वे ॥२१॥ प्रणम्य मुनिनाथं तं दृष्ट्वा तच्चरणे स्थितम्। गृहीत्वा बालकं कान्तं स्वभार्यायै समर्प्य स. ॥२२॥ नाम वज्रकुमारोयमिति कृत्वा पुन स्वयम्। कनकाख्यं पुरं रम्यं धर्महर्षान्वितो ययौ ॥२३॥ तत्र वज्रकुमारश्च जातो विद्यान्वितो युवा। विमलादिवाहनान्तस्वमैथुनिकसन्निधौ ॥ २४ ॥ ततो गरुडवेगाख्यगंगावत्योर्गुणाकरा। पुत्री पवनवेगाख्या जाता रूपादिभूषिता ॥२५॥ ह्रीमन्तपर्वते गत्वा विद्यां प्रज्ञप्तिसंज्ञिकाम्। साधयन्ती श्रमेणैव स्वयमेकाग्रचेतसा ॥ २६ ॥ वाताकम्पितबदरीकण्टकेनैव लोचने। विद्धा तत्पीडया जाता चलचित्ता नभेश्वरी ॥२७॥ नैव सिद्ध्यति सा विद्या स्वविज्ञानबलेन सा। दृष्ट्वा वज्रकुमारेण स्वयं कण्टक उद्धृत ॥२८॥ तत' सुस्थिरचित्तायास्तस्या सिद्धिं गता पुन। विद्या कार्यकरा पुण्यप्रभावेनैव तत्क्षणम् ॥ २९ ॥ उक्त तया ममैषापि विद्या भो भव्य

इसलिये इस जन्ममें मेरे पति आप ही हैं अब मैं और किसीको स्वीकार कर नहीं सकती ॥ ३० ॥ तदनंतर माता-पिताकी
आज्ञासे उन दोनोंका विवाह होगया सो ठीक ही है, क्योंकि इस संसारमें पुण्योदयसे क्या क्या प्राप्त नहीं होता है ॥३१॥
किसी एक दिन मालूम हो जानेपर वज्रकुमार अपनी स्त्रीकी विद्या लेकर और कुछ सेना लेकर अमरावतीपर चढ़ गया
और अपने काकाको जीतकर अपने पिताको राज्यगद्दीपर बिठाया ॥ ३२ ॥

किसी एक दिन वज्रकुमारकी माता जयश्री (दिवाकरदेवकी रानी) अपने निजके पुत्रको राज्य दिलानेके
लिये वज्रकुमारसे कुछ ईर्षाके वचन कह रही थी और कह रही थी कि यह वज्रकुमार कहां तो उत्पन्न हुआ है और कहां
आकर हम लोगोंको दुःखी करता है। अपनी माताकी यह बात सुनकर वज्रकुमार उसी समय अपने पिताके पास पहुंचा
॥ ३३-३४ ॥ और कहने लगा कि हे तात ! आज सच बतला दीजिये कि मैं किसका पुत्र हूं। आज यह बात जान
लेनेपर ही मैं अन्नपानी ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं ॥ ३५ ॥ पुत्रके असाग्रहसे दिवाकरदेव विद्याधरने भी पहला सब हाल
ज्योंका त्यों कह सुनाया ॥ ३६ ॥ उस कथाको सुनकर वज्रकुमार अपने पूज्य पिताके दर्शन करनेके लिये पिता, भाई
आदि सबके साथ निकला। उस समय उसके पिता श्री सोमदत्त मुनिराज मथुरा नगरीमें एक क्षत्रिय नामकी गुफामें तप-
श्चरण कर रहे थे। वज्रकुमार भक्तिपूर्वक वहीं पहुंचा ॥ ३७ ॥ सब लोग मुनिराजको नमस्कारकर बैठ गये। तब दिवा-
करदेवने उन मुनिराजसे उस वज्रकुमार पुत्रके होनेकी सब कथा कह सुनाई ॥ ३८ ॥ यह सुनकर मुनिराज वज्रकुमारसे

साम्प्रतम्। सिद्धा भवत्प्रसादेन भर्ता त्व मे न चापर ॥ ३० ॥ महोत्सवेन सा वज्रकुमारेणैव तत्क्षणम्। परिणीता स्वपुण्येन किं किं न
स्यान्महीतले ॥३१॥ तद्विद्यामाशु चादाय गत्वा तेनामरावतीम्। पितृव्य सगरे जित्वा राज्ये सस्थापित· पिता ॥३२॥ एकस्य तस्य धीरस्य
जनन्यापि जयश्रिया। अमर्षं प्रोद्वहन्त्या स्वपुत्रस्य राज्यहेतवे ॥ ३३ ॥ प्रोक्तमन्येन सजातश्चान्य सतापयत्ययम्। श्रुत्वा तद्वचन सोऽपि
पितृपार्श्वे समाययौ ॥३४॥ भो तात ! कस्य पुत्रोऽहं सत्य त्व कथयेति मे। तस्मिन्प्ररूपितेनाद्यौ प्रवृत्तिर्मे न चान्यथा ॥ ३५ ॥ ततस्तेन
खगेशेन सत्यमेव निरूपित·। वृत्तांत· पूर्वज· सर्वस्तस्याग्रे मायया विना ॥३६॥ तदाकर्ण्य ततो द्रष्टु स्वगुरु बधुभि·समम्। मथुरा सक्षत्रि-
याख्यां गुहा सद्भक्तितो ययौ ॥३७॥ गुरु नत्वा स्थितस्तत्र कुमार· कथितोऽमुना। दिवाकरादिदेवेन वृत्तान्त पुत्रसंभव· ॥३८॥ तच्छ्रुत्वा
मुनिना ब्रूत पुत्र दीक्षा गृहाण भो। हत्वा मोहमहामल्लं स्वर्गमुक्तिसुखप्रदम् ॥३९॥ आकर्ण्य तद्वचो वज्रकुमार सर्वबाधवान्। महत्कष्टेन

कहने लगे कि हे पुत्र ! मोहरूपी महा मल्लको नाशकर स्वर्ग मोक्षके सुख देनेवाली दीक्षा ग्रहण कर ॥ ३९ ॥ मुनिराजके वचन सुनकर वज्रकुमारने भी सब कुटुम्बका त्याग किया और अपने पूज्य पितासे दीक्षा धारण की ॥ ४० ॥

इधर मथुरा नगरमें राजा पूतिगन्ध राज्य करता था उसकी रानीका नाम उर्विला था जो रानी सदा धर्ममें तत्पर रहती थी ॥ ४१ ॥ वह रानी सम्यग्दर्शन गुणसे सुशोभित थी, धर्मोत्सव करनेमें तत्पर थी, प्रभावना अंगको पालन करनेमें चतुर थी और जिनेंद्रदेवमें परम भक्ति रखती थी ॥ ४२ ॥ वह प्रत्येक नंदीश्वर पर्वमें श्रेष्ठ रथमें भगवान जिनेंद्रदेवको विराजमानकर आठ दिनतक बराबर रथयात्रा करती थी और इस प्रकार प्रत्येक वर्षमें तीन बार किया करती थी ॥४३॥ उसी मथुरा नगरीमें सेठ सागरदत्तकी सेठानी समुद्रदत्ताके उदरसे एक दरिद्रा नामकी पुत्री हुई थी। उसके होते ही पापकर्मके उदयसे उस सेठका सब धन नष्ट होगया था और माता पिता भी मरगये थे। तब वह दरिद्रा अकेली इधरउधर फिरा करती थी और दूसरोंके घर जूठा और बुरा अन्न खाया करती थी। किसी एक दिन उस नगरीमें दो मुनिराज पधारे। उनमेंसे छोटे मुनिने उस दरिद्राको देखकर बड़े मुनिसे कहा कि देखो, पहिले जन्ममें उपार्जन किये हुए पापकर्मके उदयसे यह दरिद्रा बड़े कष्टसे अपना जीवन बिता रही है ॥४४–४७॥ छोटे मुनिकी यह बात सुनकर बड़े मुनिने कहा कि कालांतरमें यह यहांके इसी राजाकी पट्टरानी होगी ॥ ४८ ॥ मुनिराजकी यह बात एक बौद्ध भिक्षुक धर्मश्री वंदकने भी सुन ली। उस समय वह भी भिक्षाके लिये आया था। उसने यह बात सुनकर निश्चय कर लिया कि मुनिराजकी बात

सत्यक्त्वा व्रतमगीचकार स ॥४०॥ अत्रान्तरे मथुराया पूतिगन्धनृपोऽभवत् । उर्विला तस्य सद्राज्ञी बभूव धर्मतत्परा ॥४१॥ सम्यक्त्वादिगुणोपेता रता धर्ममहोत्सवे । प्रभावनादिसयुक्ता भक्ता श्रीजिनपुगवे ॥४२॥ करोति रथयात्रा सा प्रतिवर्षं दिनाष्टकम् । नदीश्वरे त्रिवार सद्रथे प्रारोप्य श्रीजिनम् ॥४३॥ तत्रैव सन्नगर्या च दरिद्राख्या सुताऽजनि । श्रेष्ठिसागरदत्तस्य धनहीनस्य पापत ॥४४॥ श्रेष्ठिन्या हि समुद्रादिदत्ताया उदरे शुभे । मृते सागरदत्ते सा क्षुधाक्राता बहिर्गता ॥४५॥ भक्षयन्ती कुसिक्तानि परगेहे विरूपिका । दृष्टा चर्याप्रविष्टेन मुनियुग्मेन सा स्वयम् ॥४६॥ लघुना मुनिना प्रोक्त हा वराकी हि जीवति। कष्टेन महता नित्य पूर्वोपार्जितपापत ॥४७॥ तदाकर्ण्य पुन प्रोक्तं ज्येष्ठेन मुनिना स्वयम् । इह अस्य ध्रुव राज्ञ पट्टराज्ञी भविष्यति ॥ ४८ ॥ वचस्तस्य समाकर्ण्य धर्मश्रीवदकेन भो । मत्वेति भ्रमता भिक्षां नान्यथा मुनिभाषितम् ॥४९॥ शीघ्रेण स्वमठ सा च नीता सपोपिता पुन । मिष्टाहारैश्च सम्प्राप्ता यौवन रूपसम्पदम् ॥५०॥

वह वंदक शीघ्र ही उसे अपने मठमें ले गया और उसे मीठे मीठे आहार खिलाकर
कभी मिथ्या नहीं होती है ॥ ४९ ॥
संतुष्ट किया। अनुक्रमसे वह दरिद्रा यौवनरूपी संपदाको प्राप्त होगई ॥ ५० ॥
किसी एक समय चैत्रके महीनेमें अनेक गुणोंसे सुशोभित वह दरिद्रा झूल रही थी, कि राजा पूतगन्ध भी वायु
सेवनके लिये उधर आ निकला था। उस समय वह राजा उसको देखकर मोहित और विह्वल होगया ॥ ५१ ॥ दरिद्रा
अब रूपवती और लावण्यवती होगई थी तथा उसके पुण्यकर्मका भी उदय हो गया था इसलिये मंत्रियोंके द्वारा राजाने
वंदकसे वह कन्या मांगी ॥ ५२ ॥ इसके उत्तरमें वंदकने कहा कि यदि राजा जैनधर्मको छोडकर केवल मेरा बौद्ध धर्म
स्वीकार कर लेगा तो मै यह कन्या राजाको दे दूंगा, विना इस शर्तको पूरी किये मै नहीं दे सकता ॥ ५३ ॥ राजा मूर्ख
था इसलिये उसने वंदककी यह शर्त मान ली और उसके साथ विवाह करलिया। उसने उसे पट्टमहादेवी बनाया और
वह उसपर बहुत प्रेम करने लगा ॥ ५४ ॥
इधर उर्विला रानी फाल्गुन महीनेके अष्टाह्निका पर्वमें रथोत्सवकी तैयारी कर रही थी। अनेक प्रकारके वस्त्राभ-
रणोंसे सुशोभित उसका अद्भुत और बहुत बड़ा रथ खड़ा हुआ था ॥ ५५ ॥ उसे देखकर दरिद्राने अपने पतिसे (राजासे)
कहा कि हे देव ! इस समय बुद्धका रथ भी निकलना चाहिये और धर्मके लिये वह मेरा रथ इस नगरीमें सबसे पहिले
निकलना चाहिये ॥ ५६ ॥ राजाने भी उसकी इच्छानुसार आज्ञा दे दी। उसका रथ तैयार होने लगा। अब उर्विलाको
बड़ी कठिनता पडी, क्योंकि पहिले बुद्धका रथ निकलनेके लिये उसका रथ रोक दिया गया था। इसलिये उसने प्रतिज्ञा

एकदा चैत्रसन्मासे दृष्ट्वा राजा गुणान्विताम्। बभूवान्दोलयन्तीं ता कामासक्तोतिविह्वल. ॥ ५१ ॥ ततोपि याचितस्तूर्णं वदको
मन्त्रिभिः स्वयम्। तदर्थं रूपसम्पन्ना ता पुण्यपरिपाकत. ॥५२॥ तेनोक्त यदि मे राजा धर्मं गृह्णाति केवलम्। त्यक्त्वा जिनेन्द्रसद्धर्मं
तां ददामि न चान्यथा ॥५३॥ राज्ञा मूढेन तत्सर्वं कृत्वा सापि विवाहिता। कृता पट्टमहादेवी जाता तस्यातिवल्लभा ॥५४॥ सुनन्दीश्वर-
यात्रायामुर्विलारथमद्भुतम्। फाल्गुने सन्महाटोप वस्त्राभरणभूषितम् ॥ ५५ ॥ आलोक्य भणित देव तया बुद्धरथोऽधुना। मदीयः प्रथम
पुर्यां भ्रमतु धर्महेतवे ॥५६॥ राज्ञोक्तमस्तु चैव हि तया निर्मापितो रथ.। बुद्धदेवसमोपेत. श्रृंगारादिसमन्वितः ॥५७॥ ब्रूते तत्रोर्विलादेवी
भ्रमते प्रथम रथः। मदीयो मे तदाहारे प्रवृत्तिर्नैव चान्यथा ॥ ५८ ॥ गृहीत्वेति प्रतिज्ञा सा सोमदत्तमुनीशिने। गत्वा क्षत्रियगुहायामूचे

की कि जब मेरा रथ निकल जायगा तभी मैं आहार ग्रहण करूंगी अन्यथा नहीं ॥ ५७-५८ ॥ ऐसी प्रतिज्ञाकर वह रानी सोमदत्त मुनिराजके समीप क्षत्रिय गुफामें पहुंची और उन मुनिराजसे सब हाल कहा ॥ ५९ ॥ दैवयोगसे इसी समय वज्रकुमार मुनिकी वंदना करनेके लिये दिवाकरदेव आदि बहुतसे विद्याधर आए थे ॥ ६० ॥ वे मुनिराजकी वंदनाकर और मुनिराजके श्री मुखसे सुख देनेवाले धर्मका स्वरूप सुनकर हृदयमें धर्मकी भावना करते हुए बैठे थे ॥ ६१ ॥ रानीकी प्रतिज्ञा सुनकर वज्रकुमारने उन विद्याधरोंसे कहा कि आपको यह धर्मकी प्रभावना अवश्य कर देनी चाहिये और इस उर्विला रानीका रथ निकलवा देना चाहिये ॥ ६२ ॥ मुनिराजकी यह बात सुनकर वे सब विद्याधर नगरमें पहुंचे और बुद्ध दासी दरिद्राका रथ तोडफोडकर चूर्ण कर डाला। फिर जिन धर्मकी प्रभावना करनेवाले उन लोगोंने बडी विभूतिके साथ उर्विलाका रथ निकलवाया जिसमें अनेक लोगोंने खूब उत्साह किया और नगरमें बडी शोभा हुई ॥ ६४ ॥ राजा पूतगन्ध और बुद्धदासी दरिद्राने भी जैनधर्मका ऐसा माहात्म्य देखकर बौद्ध धर्मका त्याग कर दिया और भगवान जिनेंद्रदेवका कहा हुआ जैनधर्म स्वीकार कर लिया ॥ ६५ ॥ उन विद्याधरोंके द्वारा किये हुए बडे भारी अतिशयको देखकर अनेक लोगोंने मिथ्यात्व छोड दिया और पवित्र जैनधर्मको स्वीकार कर लिया ॥ ६६ ॥ लोगोंने रानी उर्विलाकी बडी प्रशंसा की और मुक्त कण्ठसे कहा कि सम्यग्दर्शनसे सुशोभित धर्मात्मा और प्रभावना आदि सम्यक्त्वके गुणोंमें आसक्त रहनेवाली इस उर्विला रानीको बार बार धन्य है ॥ ६७ ॥ सम्यग्दर्शनसे विभूषित होनेवाले और भी ऐसे अनेक भव्य हैं जिन्होंने इस जैनधर्मकी प्रभावना की है उनका वर्णन अन्य शास्त्रोंसे जान लेना चाहिये ॥ ६८ ॥ जैसे मुनिराज अपनी

सा सन्यासकारणम् ॥५९॥ प्रस्तावेऽस्मिन्मुनेर्वज्रकुमारस्य महात्मनः । [illegible] विद्याधरा [illegible] ॥६०॥ वन्दित्वा मुनिनाथं ते श्रुत्वा धर्मं सुखाकरम् । मुनीश्वरमुखाज्ज्ञात्वा स्थिताः सद्धर्मभाविताः ॥६१॥ उक्त वज्रकुमारेण मुनिना [illegible] प्रभावना । [illegible] कर्तव्येति रथादिना ॥६२॥ ततस्ते तत्र गत्वाशु बुद्धदासीरथं [illegible] । [illegible] ॥६३॥ पश्चात्[illegible]स्याः रथयात्रा सुकारिता । उर्विलाया महापुण्यदा [illegible] शोभाकरा परा ॥६४॥ दृष्ट्वा माहात्म्यमत्यन्तं [illegible] । [illegible] सा जग्राह जिनोदितम् ॥६५॥ अन्ये चातिशयं दृष्ट्वा कृतं विद्याधरैर्जनाः । जैनधर्मं प्रपन्नाः [illegible] मिथ्यात्वनाशनाः ॥६६॥ धन्येयमुर्विला राज्ञी सम्यग्दर्शनभूषिता । प्रभावनादिसंसक्ता साऽतिश्लोकैः प्रशंसिता ॥६७॥ अन्ये ये बहवः सन्ति शासनस्य प्रभावकाः । जिनस्य चाग-

शक्तिको प्रकटकर ज्ञान और तपश्चरणके द्वारा इस जैनधर्मकी प्रभावना प्रगट करते हैं तथा श्रावक जन भी अपनी शक्तिको प्रगटकर दान पूजा और उत्सवों द्वारा सदा इस जैनधर्मकी प्रभावना किया करते हैं ॥ ६९–७० ॥ जो अनेक निर्मल गुणोंके निधि हैं, जिन्होंने ससारमें सारभूत पदार्थ सम्यग्दर्शन प्राप्त करलिया है, जो समस्त दोषोंसे रहित हैं, सारभूत रत्नत्रयसे विभूपित हैं और जिन्होने संसारभरमें जैन धर्मका प्रभाव प्रगट किया था ऐसे मुनिराज वज्रकुमार सदा जयशील हों ॥ ७१ ॥

इसप्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें प्रभावनाअगमे प्रसिद्ध होनेवाले वज्रकुमारकी कथाको निरूपण करनेवाला यह दशवां परिच्छेद समाप्त हुआ।



अथ ग्यारहवां परिच्छेद।

जो संसारके समस्त प्राणियोंका कल्याण करनेवाले हैं, अनन्त गुणोंसे सुशोभित हैं और धर्मकी खानि है ऐसे श्री श्रेयांसनाथको मैं श्री जैनधर्मकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूं ॥१॥ पहिले सम्यग्दर्शनके आठों गुणोंका व्याख्यान किया था अब सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाले उसके दोषोंको कहता हूं ॥ २॥ आठों गुणोंसे परिपूर्ण और समस्त दोषोसे रहित सम्यग्दर्शन ही मोक्ष महलकी पहिली सीढ़ी है हे वत्स ! तू ऐसे ही निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण कर ॥ ३ ॥

मादृज्ञेया भव्या' सम्यक्त्वभूषिता ॥६८॥ स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य ज्ञानेनतपसाथवा। मुनीश्वरा प्रकुर्वन्ति जैनधर्मप्रभावनाम् ॥६९॥ अनाच्छाद्य स्वशक्तिं च दानपूजा महोत्सवै.। श्रावका जैनधर्मेषु व्यक्त कुर्वन्ति प्रत्यहम् ॥७०॥ विमलगुणनिधान. प्राप्तससारपारो, विगतसकलदोष. साररत्नत्रयाढ्य.। कृतप्रकटप्रभावो जैनधर्मस्य लोके, जयतु खलु कुमारोन्त्यादिवज्रो मुनीन्द्र. ॥७१॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्ति विरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे प्रभावनागुणवर्णने वज्रकुमारमुनिकथा प्ररूपकोनाम दशम परिच्छेदः।

अथ एकादशमः सर्गः।

श्रेयोमिधं जिन वन्दे लोके श्रेयोविधायकम्। वृषाकर गुणैर्युक्त जिनधर्मादिसिद्धये ॥१॥ पूर्वंगुणाष्टकस्यैव कृत्वा व्याख्यानमंशतः। इदानीं दर्शनस्यैव दोषान् वक्ष्ये मलप्रदान् ॥२॥ गुणाष्टकेन सयुक्त सर्वदोषविवर्जितम्। सोपान प्रथम मुक्तेस्त्वं वत्स भज दर्शनम् ॥३॥

प्रश्न—हे प्रभो ! सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाले वे कौनसे दोष हैं कृपाकर मेरे लिये उन सबका निरूपण कीजिये ॥४॥

उत्तर—हे वत्स ! तू एकाग्र चित्त होकर सुन, मै केवल त्याग करनेके लिये सम्यग्दर्शनके गुणोको घात करनेवाले महा निंद्य उन दोषोंको कहता हूं ॥ ५ ॥ तीन मूढता, जाति आदिके आठ मद, छह अनायतन और शंका आदि आठ दोष इस प्रकार ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष कहलाते हैं। अज्ञानी लोग बड़ी कठिनतासे इनका त्याग करते हैं परन्तु सम्यग्दर्शनको शुद्ध करनेके लिये इनका त्याग कर देना ही चाहिये ॥६–७॥ भगवान वीतराग अरहंत देव अत्यन्त निर्दोष है तथापि अज्ञानी लोग कृष्ण, ब्रह्मा आदि सदोष देवोंकी पूजा करते हैं, कोई कोई बुद्धिहीन तो पशुओंकी भी पूजा करते है। इस प्रकार विना किसी परीक्षाके वे लोग पुण्य करनेके लिये प्रतिदिन मूढ भावोंको प्राप्त होते रहते हैं इसीको विद्वान् लोग देवमूढता कहते हैं ॥ ८–९ ॥ जैन शास्त्रोंमें, जैन सिद्धांत सूत्रोंमें भगवान जिनेन्द्रदेवने धर्मका यथार्थ स्वरूप वर्णन किया है तथापि पांचों प्रकारके मिथ्यात्वमें लगे हुए अज्ञानी जीव वेद आदिमें कहे हुए धर्मको ही मानते हैं। वे लोग श्रेष्ठ विचारोको छोडकर वेदादिके कहे अनुसार चलते हैं इसीको बुद्धिमान लोग शास्त्रमूढता वा समय मूढता कहते हैं ॥१०-११॥ भगवान जिनेन्द्रदेवने धर्मका स्वरूप अहिंसामय बतलाया है, परन्तु अज्ञानी लोग उसपर विचार न कर स्नान श्राद्ध आदि लोकाचारको ही धर्म मान लेते हैं इसीको श्री जिनेन्द्रदेव लोकमूढता कहते हैं ॥ १२–१३ ॥ हे वत्स ! तू परीक्षारूपी नेत्रोंसे देखकर मिथ्यात्वको छोडकर जैन धर्मको स्वीकार कर और तीनों मूढताओंका त्याग कर ॥ १४ ॥ जो मूर्ख इन

प्रभो ! ये सन्ति दोषा हि सम्यक्त्वमलहेतवे । कृपा कृत्वा ममाग्रेपि तांश्च सर्वान् निरूपय ॥४॥ शृणु त्व शिष्य तान् दोपानेकचित्तेन मुक्तये । कथयामि महानिद्यान् सम्यक्त्वगुणघातकान् ॥५॥ मूढत्रय भवेच्चाष्टौ मदा जात्यादिजा बुधै । षडनायतनान्यष्टौ दोषा शकादयो मता ॥६॥ ते सम्यक्त्वमलदोषा स्युस्त्वया पञ्चविंशति । दुस्त्याज्या मूढलोकाना त्याज्या. सम्यक्त्वशुद्धये ॥७॥ वीतरागोऽतिनिर्दोषो कृष्ण-ब्रह्मादिकोऽथवा । सदोष पूज्यते मूढै पशुर्वा गतबुद्धिभि ॥८॥ यत्परीक्षा परित्यज्य मूढभावेन प्रत्यहम् । पुण्यहेतोर्बुधैस्तच्च देवमूढत्व-मुच्यते ॥९॥ जिनसिद्धातसूत्रे य उक्तो धर्मो जिनेश्वरै । पचमिथ्यात्वसलग्नैर्मूढैर्वेदादिके च ये ॥१०॥ सद्विचार परित्यज्य क्रियते स शठैर्जनै । कथ्यते तद्बुधैर्लोके मूढत्व समयोद्भवम् ॥११॥ अहिंसालक्षणोपेतो जिनोक्तो धर्म एव य । स्नानादिभिश्च श्राद्धाद्यै लोका-चारेण चागत. ॥१२॥ आचर्यते शठैर्लोके परित्यक्त्वा विचारणम् । प्ररूपित जिनैस्तद्धि लोकमूढत्वमेव भो ॥१३॥ परीक्षालोचनैस्त्व सज्जैन

तीनों मूढताओंको स्वीकार करता है वह जीवित रहनेके लिये विप खाता है अथवा सुखी रहनेके लिये अपने प्राणोंका घात करता है ॥ १५ ॥

सज्जाति, सत्कुल, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, वल और शिल्प आदि विद्या। इन आठोंके आश्रय मद करना आठ मद कहलाते हैं। हे मित्र! तू इनको शीघ्र ही छोड़ ॥१६॥ मातृपक्षमें उत्पन्न हुए कुटुम्वसमूहको जाति कहते हैं। संसारके सब कुटुम्वादिक नश्वर हैं नाश होनेवाले हैं यही समझकर हे शिष्य! तू इस जातिके मदको छोड़ ॥ १७ ॥ हे मित्र! इस संसारसागरमें परिभ्रमण करते हुए तूनें भिन्न भिन्न सव जातियोंकी माताओंका अलग अलग इतना दूध पिया है कि जो एक एक जातिका इकट्ठा किया जाय तो वह महासागरसे भी अधिक होजाय। फिर भला उसका अभिमान करना कैसा? ॥ १८ ॥ पिताके पक्षमें उत्पन्न हुए कुटुम्वको कुल कहते हैं। ये स्वजन परिजन भी दाभकी नोकपर पड़ी हुई जलकी वूंदके समान चंचल हैं शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं यही समझकर कुलका अभिमान कभी नहीं करना चाहिये ॥ १९ ॥ धन धान्य घर राज्य आदि भी अग्नि चोर आदिके द्वारा नष्ट होता है किसीकी सम्पदा सदा नहीं वनी रहती, यही समझ कर ऐश्वयका मद छोड देना चाहिये ॥ २० ॥ यह शरीर सुन्दर होनेपर भी अनित्य है, किसी न किसी दिन अवश्य नष्ट होगा यह केवल वस्त्रोंसे ढका हुआ ही अच्छा दिखता है, वास्तवमें बुढापा रोग आदि अनेक व्याधियोंसे घिरा हुआ है यही समझकर बुद्धिमानोको रूपका अभिमान छोड़ देना चाहिये ॥ २१ ॥ बुद्धिमानोंको थोडासा ज्ञान पाकर कभी अभिमान नहीं करना चाहिये क्योंकि यदि पहिलेके ज्ञानियोंकी तुलना का जाय तो उनके सामने अवका ज्ञान एक अंश मात्र भी नहीं है ॥२२॥

धर्मं परीक्ष्य सः। मिथ्यात्व च समादाय त्यज मूढत्रय सुकृत ॥१४॥ मूढभावेन यो मूढो धर्मं गृह्णाति लोकजम्। पुण्याय स विष भुंक्ते सुखाय प्राणनाशनम् ॥१५॥ सज्जातिसत्कुलैश्वर्यरूपज्ञानतपःप्रजम्। वलशिल्पिभव मित्र त्यज त्वं मदमञ्जसा ॥१६॥ सन्मातृपक्षसजातं कुटुम्वादिकदवकम्। विनश्वर परिज्ञाय जात्याख्य त्वं मदं त्यज ॥१७॥ सदवाना त्वया मित्र पीत दुग्ध भवार्णवे। भिन्नभिन्नविजातीनामधिकं सागराम्वुधे ॥१८॥ पितृपक्षसमुद्भूतं वलंदर्भाग्रविंदुवत्। ज्ञात्वा स्व स्वजनं दक्ष कुलनाममद त्यजेत् ॥१९॥ धनधान्यादिकं गेह सर्वं राज्यादिक वुधैः। अग्न्यादिभिश्चल मत्वा चैश्वर्याख्यं मद त्यजेत् ॥२०॥ शरीरं सुन्दराकारमनित्य वस्त्रशोभितम्। जराव्याध्यग्निभिर्दग्धं रूपाख्य त्व मदं त्यज ॥२१॥ किंचिद्ज्ञान परिज्ञाय मदो न क्रियते वुधै। अपेक्षया हि पूर्वस्य अतो न ज्ञायते लव ॥ २२ ॥

इसी प्रकार चतुर पुरुषोंको तपश्चरणका अभिमान भी नहीं करना चाहिये । क्योंकि पहिलेके मुनि जो तपश्चरण करते थे उसका तो एक अंश भी इस समय नही किया जा सकता ॥ २३ ॥ चतुर पुरुषोंको बलवान शरीर पाकर भी उसका अभिमान छोड देना चाहिये । क्योंकि यह शरीर केवल अन्नादिकसे पुष्ट होता है और क्षणभरमें नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥ इसी प्रकार सुन्दर लेख आदि कलाकौशलोंका अभिमान भी नही करना चाहिये क्योंकि इस विचित्र सम्यग्दर्शनके लिये उसका अभिमान भी अशुभ ही है ॥ २५ ॥

हे बुद्धिमान ! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेके लिये श्रेष्ठ मार्दव धर्मको स्वीकार कर अनेक दुःख और दुर्गतियोंके देनेवाले इन आठों पदोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ २६ ॥ जो नीच अनेक प्रकारके बुरे दुःख देनेवाले ऊपर लिखे आठो मदोको करता है, इनका अभिमान करता है वह सम्यग्दर्शनको नष्टकर नीच गतिको प्राप्त होता है ॥ २७ ॥ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और मिथ्यादृष्टी, मिथ्याज्ञानी तथा मिथ्याचारित्रको धारण करनेवाला ये छह पद् अनायतन कहलाते है ॥ २८ ॥ अज्ञानी जीवोंके द्वारा जो पाप और दुःख देनेवाले कुदेव कुगुरु और कुधर्ममें विश्वास किया जाता है वह मिथ्यादर्शन कहलाता है ॥ २९ ॥ मिथ्यादृष्टी जीव जो वेदशास्त्र वा स्मृतिशास्त्र आदिका पठनपाठन करते हैं और उनके द्वारा पापोंको उत्पन्न करनेवाला ज्ञान बढाते है चतुर पुरुष उसको मिथ्याज्ञान कहते है ॥ ३० ॥ अज्ञानी जीव पंचाग्नि तपके द्वारा अथवा और भी कुतपोके द्वारा जो कायक्लेश करते हैं उसे मिथ्याचारित्र कहते हैं ॥ ३१ ॥ जो मिथ्यादर्शन सहित है, श्रेष्ठ तत्वोपर अथवा सम्यग्दर्शनपर जो कभी विचार नही करता और जो जैनधर्मसे बहिर्भूत है उसे

तपसा समवो दक्षैर्मदो न क्रियते मनाक् । तपश्चापेक्षया पूर्वमुने' कर्तुं न शक्यते ॥२३॥ सप्राप्य सबल देह गर्व त्याज्य विवेकिभि. । पुष्टमन्नादिभिस्तद्धि यतो याति क्षय क्षणात् ॥२४॥ शिल्पिगर्व न कर्तव्य सुलेखादि समुद्भवम् । विचित्रैर्दर्शनायैव त्वया वत्साशुभप्रदम् ॥२५॥ सन्मार्दवं समादाय दु'खदुर्गतिवारणम् । मदाष्टक त्यजेद्धीमान् दर्शनज्ञानप्राप्तये ॥२६॥ अहंकार हि य कुर्यादष्टभेद कुदु खदम् । विनाश्य दर्शन सोपि नीचो नीचगतिं व्रजेत् ॥२७॥ मिथ्यादर्शनकुज्ञानकुचारित्रत्रयात्मका: । तद्युक्तपुरुषाश्चैव षडनायतनं भवेत् ॥२८॥ कुदेवकुगुरौमूढै' कुधर्मे पापदु'खदे । निश्चय' क्रियते योऽत्र तन्मिथ्यादर्शनं मतम् ॥२९॥ प्रणीत वेदशास्त्रादौ स्मृत्यादौ वा कुदृष्टिभि । श्रुत पापकर दक्षैस्तन्मिथ्याज्ञानमुच्यते ॥३०॥ पचाग्निसाधने योऽपि कायक्लेशो विधीयते । कुत्सिततपसा मूढैस्तन्मिथ्याचरण भवेत् ॥३१॥

विद्वान् लोग मिथ्यादृष्टी कहते हैं ॥३२॥ जो मनुष्य वेदादि कुशास्त्रोंका पठनपाठन करता है और जिसने सिद्धांत शास्त्रोंको सर्वथा छोड़ दिया है वह मिथ्याज्ञानी कहलाता है ॥३३॥ जो मनुष्य पंचाग्नि तप तपता है अथवा और भी मिथ्या तपोंमें उद्यम करता है उसको मुनीश्वर लोग कुतपसी कहते हैं ॥३४॥ ये ऊपर लिखे हुए छह (मिथ्यादर्शन, मिथ्यादृष्टी, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र और कुतपसी) अनायतन (जो धर्मके आयतन वा स्थान न हो किन्तु अधर्मके स्थान हों) कहलाते हैं। ये छहों अनायतन नरक और तिर्यंच गतिके दुख देनेवाले है, अनेक पापोंको उत्पन्न करनेवाले है, निंद्य हैं और सम्यग्दर्शनको नाश करनेवाले है ॥ ३५ ॥ हे मित्र ! ये छहों अनायतन शत्रुके समान दुःख देनेवाले हैं और दुःखरूपी दावानलके लिये महा ईंधनके समान है इसलिये इनको अच्छी तरह जानकर दूरसे ही इनका त्याग कर देना चाहिये ॥ ३६ ॥ पहिले जो निःशंकित आदि सम्यग्दर्शनके आठ गुण कहे थे उन्हींके उलटे शंका आदिक आठ दोप कहलाते हैं ॥ ३७ ॥ हे वत्स ! अनेक पापोंको उत्पन्न करनेवाले ये सम्यग्दर्शनके सब दोप मिलकर पच्चीस होते हैं। सम्यग्दर्शनको शुद्ध करनेके लिये तू इन पच्चीसों दोषोंका त्याग कर ॥ ३८ ॥ जिस प्रकार मलिन दर्पणमें अपना मुंह अच्छा दिखाई नहीं दे सकता उसी प्रकार अशुद्ध (दोप सहित) सम्यग्दर्शनमें विद्वान् लोगोंको भी मुक्तिलक्ष्मीका मुंह दिखाई नहीं दे सकता ॥ ३९ ॥ जिस प्रकार हृदयके मलिन होनेपर ध्यान नहीं किया जा सकता उसी प्रकार सदोप सम्यग्दर्शनसे कर्मरूप शत्रु कभी नष्ट नहीं किये जा सकते ॥ ४० ॥ जिस प्रकार निर्मल दर्पणमें ही मुंह दिखाई देता है उसी प्रकार चतुर

मिथ्यासम्यक्त्वयुक्तो यो न शक्तः सुविचारके। जैनधर्मबहिर्भूतो मिथ्यादृष्टिर्बुधैर्मतः ॥३२॥ जनो वेदादियुक्तो यः कुशास्त्रादिसमन्वितः। त्यक्तसिद्धान्तसारश्च मिथ्याज्ञानी स कीर्तितः ॥ ३३ ॥ पञ्चाग्निसाधको मिथ्यातपसादिकृतोद्यमः। यः शठः सोऽत्र संप्रोक्तः कुतपस्वी मुनीश्वरैः ॥३४॥ षडनायतनं ज्ञेयं श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम्। अघाकरं बुधैर्निंद्यं दर्शनस्य विनाशनम् ॥३५॥ सम्यक्त्वं त्वं परिज्ञाय त्यज भेद विदूरतः। शत्रुवत्षड्विधं मित्र दुःखदावमहेन्धनम् ॥३६॥ निःशंकितादयो ये ते प्रोक्ता अष्टौ गुणाः शुभाः। विपरीताश्च विज्ञेया दोषाः शंकादयो बुधैः ॥३७॥ सर्वान् पिंडीकृतान् दोषान् पापदान् पञ्चविंशति। सम्यक्त्वस्य त्यज त्वं हि दर्शनस्य विशुद्धये ॥३८॥ आदर्शे मलिने यद्वत्सन्मुखं नैव दृश्यते। तथाशुद्धे च सम्यक्त्वे मुक्तिश्रीवदनं बुधैः ॥ ३९ ॥ यथा च मलिने चित्ते ध्यानं कर्तुं न शक्यते। कर्मारातिं तथा हन्तुं सम्यक्त्वे समले जनैः ॥४०॥ निर्मले दर्पणे यद्वल्लोक्यते वदनं नरैः। तद्वद्दक्षैश्च सम्यक्त्वे मुक्तिश्रीमुखपंकजम् ॥४१॥

मनुष्योंको निर्मल सम्यग्दर्शनमें ही मुक्ति लक्ष्मीका मुखरूपी कमल दिखाई देता है ॥ ४१ ॥ मुनियोंको विना ज्ञान और
विना व्रतादिकोंके केवल सम्यग्दर्शनसे ही इन्द्रकी विभूति तथा तीर्थंकरकी विभूति प्राप्त होजाती है ॥ ४२ ॥ जिस प्रकार
मकानका आधार उसकी जड वा नीव है उसी प्रकार तप, ज्ञान, व्रत आदि सबका आधार सम्यग्दर्शन है ऐसा श्री जिनेन्द्र-
देवने कहा है ॥ ४३ विद्वान् लोग विना सम्यग्दर्शनके ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहते हैं, चारित्रको कुचारित्र कहते हैं और
मनुष्योंके व्रतोंको सबको निरर्थक बतलाते हैं ॥ ४४ ॥ विना व्रत, तप, ज्ञान और श्रुतके अकेला सम्यग्दर्शन तो अच्छा,
परन्तु विना सम्यग्दर्शनके अकेले व्रत तप ज्ञान और श्रुत अच्छे नहीं, क्योंकि विना सम्यग्दर्शनके अकेले तप व्रत ज्ञान श्रुत
आदि मिथ्यात्वरूपी विषसे दूषित होजाते हैं ॥ ४५ ॥ इसमें कोई संदेह नहीं कि विना सम्यग्दर्शनके यह प्राणी सर्वथा
पशु ही है क्योंकि जिस प्रकार जन्मका अन्धा पुरुष सूर्यको नहीं जानता उसी प्रकार विना सम्यग्दर्शनके यह प्राणी धर्म
अधर्मको भी नहीं जान सकता है ॥ ४६ ॥ यदि सम्यग्दर्शनके साथ साथ अत्यन्त दुःख देनेवाले नरकमें भी निवास करना
पड़े तो भी अच्छा परन्तु विना सम्यग्दर्शनके स्वर्गलोकमें शोभायमान होना भी अच्छा नहीं ॥ ४७ ॥ क्योंकि इस सारभूत
सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे यह प्राणी नरकसे निकलकर लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाला तीर्थंकर होता है, परन्तु विना
सम्यग्दर्शनके भोगोंमें तत्पर रहनेवाला स्वर्गका देव भी आर्तध्यानमें लीन होकर स्थावर जीवोंमें आ उत्पन्न होता है
॥ ४८-४९ ॥ सदा कालसे यह निश्चित चला आरहा है कि तीनो काल और तीनो लोकोंमें सम्यग्दर्शनके समान कल्याण
करनेवाला धर्म आज तक न हुआ, न अब है और न आगे होगा ॥ ५० ॥ सम्यग्दर्शनके समान न कोई मित्र है, न धर्म है,

इन्द्रश्रीर्जिनदेवादिलक्ष्मीर्नैवोपजायते । मुनीना दर्शनेनैव विना ज्ञानव्रतादिभि ॥ ४२ ॥ अधिष्ठान भवेन्मूल हर्म्यादीना यथा तथा ।
तपोज्ञानव्रतादीना दर्शन कथित जिनै ॥४३॥ दर्शनेन विना ज्ञानमज्ञान कथ्यते बुधै । चारित्र च कुचारित्र व्रत पुसा निरर्थकम् ॥४४॥
वर सम्यक्त्वमेक च व्रतज्ञानतपश्च्युतम् । न पुन सद्व्रत ज्ञान मिथ्यात्वविषदूषितम् ॥४५॥ सम्यक्त्वेन विना प्राणी पशुरेव न संशय ।
धर्माधर्म न जानाति जात्यध इव भास्करम् ॥४६॥ सम्यक्त्वेन सम वासो वर श्वभ्रेऽतिदु खगे । राजते देवलोके न तद्विना देहिना क्वचित्
॥४७॥ श्वभ्रान्निर्गत्य जीवोऽय तीर्थनाथो भवेद् ध्रुवम् । सारसम्यक्त्वमाहात्म्याल्लोकालोकप्रकाशक ॥४८॥ सम्यक्त्वेनविना स्वर्गात्स्थावरेषु
प्रजायते । आर्तध्यान विधायोच्चैर्मिथ्यात्वाद्भोगतत्पर ॥४९॥ सम्यक्त्वसदृशो धर्मो न भूतो न भविष्यति । नास्ति कालत्रये लोकत्रितये

इस सम्यग्दर्शनसे सुशोभित चांडाल भी देवके समान न सार पदार्थ है, न हितकारक है, न कुटुम्ब है, न सुख है ॥ ९१ ॥ जो जीव सम्यग्दर्शनको पाकर दो है और विना सम्यग्दर्शनके साधु भी स्थान स्थानपर निंदनीय गिना जाता है ॥ ९२ ॥ जिस घड़ीके लिये भी छोड़ देते हैं वे थोड़े दिन तक तो मोक्ष जानेसे रुक ही जाते हैं इसमें कोई संदेह नही ॥ ९३ ॥ जिस भव्यके पास सम्यग्दर्शन है उसके हाथमें चिंतामणि रत्न समझना चाहिये तथा उसके घरमें कल्पवृक्ष समझना चाहिये और कामधेनु उसके पीछे पीछे चलनेवाली समझना चाहिये ॥ ९४ ॥ यह सम्यग्दर्शन इस संसारमें एक निधिके समान है और असन्त सुख देनेवाला है इसलिये जिस भव्य जीवने इसको प्राप्तकर लिया उसने जन्म लेनेका फल पा लिया ॥ ९५ ॥ यदि सम्यग्दर्शन न हो तो साधु होकर भी यह मनुष्य वृक्षके समान ही समझना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार वृक्ष अकेला रहता है उसी प्रकार वह साधु भी अकेला रहता है। वृक्ष हिंसा नही करता वह साधु भी हिंसा नही करता, वृक्ष भी वनमें रहता है, साधु भी वनमें रहता है और वृक्ष भी शीत, उष्ण आदिकी बाधाएं सहता है, साधु भी शीत उष्ण आदिकी बाधाएं सहता है इसलिये जिस प्रकार वृक्षको मोक्ष प्राप्त नहीं होती उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित साधुको भी मोक्ष प्राप्त नही होती ॥९६॥ सम्यग्दर्शनके विना यह मनुष्य दान पूजा व्रत आदि जो कुछ पुण्यकर्म करता है वह सब व्यर्थ हो जाता है ॥ ९७ ॥ विना सम्यग्दर्शनके यह मनुष्य एकादिवार व्रत दान आदि करता है परंतु उसके फलस्वरूप थोडेसे भोग पाकर फिर वह सदा इस संसाररूपी वनमें परिभ्रमण किया करता है ॥ ९८ ॥ इस सम्यग्दर्शनके बलसे मुनिराज जिन कर्मोको क्षणभरमें

निश्चित सदा ॥९०॥ सम्यक्त्वान्नापरं मित्रं न धर्मः सार एव च। हितं न पितृमात्रादिकुटुम्बं न सुखं न च ॥९१॥ सम्यक्त्वालकृत पूज्यो। मातंगोपि सुरैर्भवेत्। सम्यक्त्वेन विना साधुर्निंदनीयः पदे पदे ॥ ९२ ॥ गृहीत्वा दर्शनं येऽपि त्यजन्ति घटिकाद्वयम्। कियत्काले न ते मुक्तिं यास्यन्त्यत्र न सशय. ॥९३॥ सम्यक्त्वं यस्य भव्यस्य हस्ते चिन्तामणिर्भवेत्। कल्पवृक्षो गृहे तस्य कामगव्यनुगामिनी ॥९४॥ प्राप्तं जन्मफलं तेन सम्यक्त्वं येन स्वीकृतम्। निधानमिव लोकेऽस्मिन् भव्यजीवेन सौख्यदम् ॥९५॥ एकाकी त्यक्तहिंसः स वनस्थो दर्शनं विना। शीतोष्णादिसहो नित्यं तरुवन्नैव सिद्ध्यति ॥ ९६ ॥ सम्यक्त्वेन विना किंचित्पुण्यं यत्क्रियते जनैः। तत्सर्वं विफलं च स्याद्दानपूजाव्रतादिकम् ॥९७॥ दृष्टिहीनः पुमान् किंचिद्व्रतदानादिकं सकृत्। कृत्वा लब्ध्वा च भोगं हि भवारण्ये भ्रमेत्पुन. ॥९८॥ सम्यक्त्वस्य बलाज्जीवा निघ्नति कर्म यत्पुनः। तद्विना न तदाघोरैस्तपस्तीव्रैर्मुनीश्वराः ॥९९॥ वरं गार्हस्थ्यमेवार्हं सम्यक्त्वादिविभूषितम्। व्रत दानादिसंपूर्णं

नष्ट कर देते हैं उनको विना सम्यग्दर्शनके घोर और तीव्र तपश्चरण करनेपर भी कभी नष्ट नहीं कर सकते ॥५९॥ सम्यग्दर्शनसे सुशोभित होनेवाला गृहस्थधर्म ही अच्छा क्योंकि सम्यग्दर्शन सहित गृहस्थधर्म व्रत दान आदि शुभ कार्योंसे परिपूर्ण होता है और भावि मोक्षका कारण होता है ॥ ६० ॥ सवतरहके परिग्रहोंसे रहित और व्रतोंसे सुशोभित ऐसा मुनियोंका अरहंतोंके समान निर्ग्रंथ रूप यद्यपि देवोंके द्वारा पूज्य होता है तथापि विना सम्यग्दर्शनके वह प्रशंसनीय नहीं गिना जाता ॥ ६१ ॥ जो जीव सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे तीनों लोकोंमें भ्रष्ट हैं क्योंकि विना सम्यग्दर्शनके वे किसी समयमें भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ॥ ६२ ॥ परंतु जो जीव सम्यग्दर्शनसे सुशोभित हैं और चारित्र आदिसे रहित हैं वे किसी समय भी संयमको पाकर अवश्य मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ६३ ॥ जिस प्रकार नेत्रहीन मनुष्य रूपको नहीं जान सकता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित जीव भी न देवको जान सकता है, न धर्म अधर्मको जानता है और न गुण अवगुणोंको जान सकता है ॥ ६४ ॥ जिसप्रकार प्राणरहित शरीरको लोग मृतक कहते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित मनुष्य चलता फिरता हुआ जीवित होकर भी मृतक कहलाता है ॥ ६५ ॥ सम्यग्दर्शनके साथ साथ केवल नमस्कार करने मात्रका ज्ञान होनेपर वह जीव सम्यग्ज्ञानी कहलाता है ऐसा श्री गौतम आदि गणधरोंने कहा है ॥ ६६ ॥ परंतु ग्यारह अंगोंको जानने वाला मुनि भी विना सम्यग्दर्शनके अभव्यसेन मुनिके समान चतुर पुरुषोंके द्वारा सदा अज्ञानी कहलाता है ॥ ६७ ॥ हे भव्य जीव यह सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रका बीज वा कारण है, मोक्षके सुख देनेवाला है, अमूल्य है और उपमा रहित है इसलिये सुख प्राप्त करनेके लिये इसे अवश्य धारण करना चाहिये ॥ ६८ ॥ जिन्होंने स्वप्नमें भी सम्यग्दर्शनको पाकर

भाविनिर्वाणकारणम् ॥६०॥ जिनरूप सुरैः पूज्य सर्वसगविवर्जितम् । मुनीना व्रतसयुक्त तद्विना नैव शस्यते ॥६१॥ ये भ्रष्टा दर्शनाच्च ते च भ्रष्टा लोकत्रये मता । नैव यास्यन्ति निर्वाण कदाकालेपि तद्विना ॥६२॥ सम्यक्त्वालकृता जीवा चारित्रादिपरिच्युताः । कदाचित्स यमं प्राप्य ये ते गच्छन्ति निर्वृतिम् ॥६३॥ नेत्रहीना यथा जीवा रूपं जानन्ति नैव च । दृष्टिहीनास्तथा ज्ञेया देवधर्म गुणागुणम् ॥६४॥ त्यक्तप्राण यथा देह मृतक कथ्यते जनैः । दृष्टिहीनो नरस्तद्वच्चलन् मृतक उच्यते ॥६५॥ नमस्कारादिक ज्ञान सम्यक्त्वेन सम हि यः । जानाति सोऽपि सज्ञानी प्रोक्त श्रीगौतमादिभि ॥६६॥ एकादशांगयुक्तोपि यो मुनि सोऽपि तद्विना । अज्ञानी कीर्तित सद्भिरभव्यसेनवत्सदा ॥६७॥ ज्ञानचारित्रयोर्वीज दर्शन मुक्तिसौख्यदम् । अनर्घ्यमुपमात्यक्त गृहाण त्व सुखाय तत् ॥ ६८ ॥ धन्यास्ते भुवने पूज्या

अनेक नयोंके द्वारा अपने ही पास रख लिया है वे ही मनुष्य संसारमें धन्य हैं, पूज्य है, वंदनीय हैं, प्रशंसनीय हैं और वे ही विद्वानोंमें सर्वोत्तम विद्वान हैं ॥ ६९ ॥ इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह जीव नीच कुल और नीच गतिको छोडकर श्रेष्ठ देव तथा मनुष्य होकर मुक्तिलक्ष्मीका स्वामी ही होता है ॥ ७० ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! सम्यग्दृष्टी पुरुष किस किस नीच गतिको और किस किस नीच कुलको प्राप्त नहीं होता सो मै आपसे सुनना चाहता हूं ॥ ७१ ॥

उत्तर—हे मित्र ! चित्त लगाकर सुन, मै अब सारभूत सुखकी खानि ऐसे इस सम्यग्दर्शनकी महिमा कहता हूं ॥ ७२ ॥ जो विद्वान् शुद्ध सम्यग्दर्शनसे सुशोभित हैं वे चाहे व्रत धारण न भी करें तो भी वे नरकगति और तिर्यंच गतिमें उत्पन्न नही होते, स्त्री पर्याय तथा नपुंसक पर्यायको धारण नहीं करते, खोटे कुलमें उत्पन्न नही होते, बहिरे, गंजे, गूंगे, बौने, अन्धे नहीं होते, दरिद्री नही होते, उनकी आयु थोडी नहीं होती, उनका शरीर विकृत नही होता, उन्हें कभी शोक वा भय नही होता, वे कुरूप नहीं होते, निंदनीय नहीं होते, दास नहीं होते, दुष्ट नही होते और मूर्ख नहीं होते ॥ ७३–७५ ॥ जिन जीवोंके पास यह सम्यग्दर्शनरूपी महारत्न विराजमान है वे जीव उद्यम आदि अनेक गुणोसे सुशोभित होते हैं, तेजस्वी और स्वज्ञान विज्ञानके पारगामी होते हैं, वे वज्रसंहनन (वज्रवृषभनाराच) वाले होते हैं, चतुर होते हैं, बड़े बलवान और बड़े उदार होते हैं, वे यशस्वी होते हैं, अनेक लोगोंके स्वामी होते हैं, धन धान्य आदि विभूतियोसे परिपूर्ण होते हैं, समस्त शत्रुओंको वश करनेवाले चारों पुरुषार्थोंको उत्तम रीतिसे प्राप्त करनेवाले और धर्म, अर्थ, कामको

वद्या शस्या बुधोत्तमे । दृष्टिरत्नं स्वस्वप्नेपि मलपार्श्वे कृत न यैः ॥६९॥ सम्यग्दृष्टिः स्फुट नीचकुल नीचगति च ना । त्यक्त्वा सुदेव मानुष्य लब्ध्वा मुक्तिवरो भवेत् ॥७०॥ दृष्टियुक्तो नरः स्वामिन् या गतिं यत्कुलं न च । याति तत्सर्वमेवाह श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥७१॥ एकाग्रचेतसा मित्र श्रृणु त्वं कथयाम्यहम् । माहात्म्य दर्शनस्यैव सारसौख्याकरस्य भो ॥ ७२ ॥ सम्यग्दर्शनसंशुद्धा ये बुधा यान्ति न क्वचित् । श्वभ्रतिर्यग्गति स्त्रीत्व क्लीवत्व कुकुलं च ते ॥७३॥ वधिरत्वं च खजत्वं वामनत्व च मूकताम् । अधत्वं विकलांगत्वमल्पायुस्त्वं दरिद्रताम् ॥७४॥ महाशोकभयत्व च दुर्भगत्व च निदिताम् । दासत्व खलु मूर्खत्वं व्रतादिरहिता अपि ॥७५॥ उद्यमादिगुणोपेतास्तेजो-विज्ञानपारगाः । वज्रसहनना दत्वा महावीर्या महाशयाः ॥७६॥ यशोयुक्ता महानाथा धनधान्यादिसयुताः । निर्जितारिमहावर्गा धर्मार्थ-

सिद्ध करनेवाले होते हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टी जीव अनेक प्रकारकी महिमासे सुशोभित होते हैं, वे समस्त इंद्रियोंके सुखरूपी महासागरमें डूबे रहते हैं और बड़े धर्मात्मा होते हैं॥७६–७८॥ इस सारभूत सम्यग्दर्शनके प्रभावसे जो पुण्य प्राप्त होता है उसके फलसे यह जीव यदि परलोकमें मनुष्य भवमें जन्म लेगा तो बड़े कुलमें जन्म लेगा ॥७९॥ इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ही चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त होती है जिसमें चौदह महारत्न प्राप्त होते हैं, छह खण्ड पृथ्वीका राज्य प्राप्त होता है, सारभूत नौ निधियां प्राप्त होती हैं, विद्याधर आदि अनेक राजा उसकी सेवा करते हैं, सेना आदि छह प्रकारका बल प्राप्त होता है, समस्त पृथ्वीके स्वामीपनेको सूचित करनेवाला एक छत्र उसके मस्तकपर फिरा करता है और देव लोग भी उसकी पूजा किया करते है ॥ ८० ॥ इस सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले परम सुखी उत्तम विद्वान् मनुष्योंको तीर्थंकरकी परम विभूति प्राप्त होती है, जिसमें पंच कल्याणक प्राप्त होते है, इन्द्रादि सब देव उन्हें वंदना करते है, तीनों लोकोंमें क्षोभ होजाता है, धर्मचक्र उनकी अलग ही शोभा बढाता है और उन्हें अनन्त महिमा प्राप्त होती है ॥ ८१–८२ ॥ सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह जीव भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवोंमें उत्पन्न नही होता तथा कल्पवासियोंमें भी किल्विषक, आभियोग आदि नीच देव कभी नही होता ॥ ८३ ॥ जीवादिक पदार्थोंमें यथार्थ श्रद्धा रखनेवाले सम्यग्दृष्टी पुरुष स्वर्गोंमें भी इन्द्र होते हैं वहांपर उन्हें अणिमा महिमा आदि आठों ऋद्धियां प्राप्त होती हैं, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तीनों ज्ञान प्राप्त होते है, उनका शरीर अत्यन्त दिव्य होता है, वे धीरवीर होते है समस्त आभरणोसे सुशोभित होते हैं, केवल मानसिक अमृताहारसे सदा तृप्त रहते है, रोग क्लेश आदि दुःखोसे सदा रहित होते हैं, दिव्य माला और दिव्य वस्त्रोंसे सदा सुसज्जित रहते हैं और

कामसाधका ॥७७॥ अनेकमहिमायुक्ता दृष्टिरत्नविराजिता । सर्वेंद्रियसुखाब्धेश्च मध्यगा धर्मसंयुता ॥७८॥ अमुत्र सारसम्यक्त्वजातपुण्यफलाद् ध्रुवम् । मनुजत्वे च जायन्ते खगादिनृपसेवितम् ॥७९॥ षडङ्गवलसपाद्य चैकछत्र सुरार्चितम् । लभन्ते चक्रिवर्तित्व प्राणिनो दर्शनान्विता ॥ ८० ॥ पञ्चकल्याणकोपेता शक्रादिसुरवन्दिताम् । त्रैलोक्यक्षोभिका सारा धर्मचक्रविभूषिताम् ॥८१॥ अनन्तमहिमायुक्तां दर्शनाढ्या सुखाकराम् । तीर्थंकरविभूति च प्राप्नुवन्ति बुधोत्तमा. ॥ ८२ ॥ ज्योतिष्कव्यतरत्व च कुदेवता सर्वा स्त्रियम् । भावनत्व न गच्छति वाहनत्व सुदृष्टय ॥८३॥ ऋद्ध्यष्टकसमायुक्ताः ज्ञानत्रितयलोचना । दिव्यदेहधरा धीरा सर्वाभरणशोभिताः ॥८४॥ मानसाहारसतृप्ता. रोगक्लेशादिवर्जिता । दिव्यमालाम्बरोपेता निष्कपा मेरुवत्सदा ॥८५॥ सुगधीकृतदिग्भागनिःश्वासा चारुलक्षणा । धातुनेत्रपरिस्पद

मेरुपर्वतके समान सदा निष्कंप अचल रहते हैं। वे इन्द्र अपने उच्छ्वाससे समस्तदिशाओंको सुगन्धित करते रहते हैं, उनके शरीरपर सुन्दर लक्षण रहते हैं, उनका शरीर धातु उपधातुओंसे रहित होता है, उनके नेत्रोंकी टिमकार नहीं लगती, वे बडे रूपवान और शुभ हृदयके होने है। उनके नख केश नहीं बढते, दिव्य स्त्रियोंके भोगोंसे सदा सुखी रहते हैं, सब देव उनको नमस्कार करते हैं इस प्रकार वे देवोंकी सभामें विराजमान होकर आनंद किया करते हैं, गीत नृत्य आदि सुख देनेवाले कार्योंमें आसक्त रहते हैं और सुख सागरमें सदा डूबे रहते हैं ॥ ८४-८८ ॥ हे मित्र ! बहुत कहनेसे क्या लाभ है थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि स्वर्गलोकमें और मनुष्यलोकमें जो कुछ उत्तमसे उत्तम सुख है वे सब सम्यग्दृष्टी जीवोंको ही प्राप्त होते हैं ॥ ८९ ॥ यह विधि पूर्वक ग्रहण किया हुआ सम्यग्दर्शन ही समस्त शास्त्रोंका सर्वस्व है, यही सिद्धांतका जीवन है और यही मोक्षरूपी वृक्षका बीज है ॥९०॥ इस संसारमें कितने ही सम्यग्दृष्टी भव्य तो ऐसे है जो पहले सुख देनेवाले स्वर्गोंमें देव होते हैं फिर वहांसे आ मनुष्य होकर संयम धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं तथा भगवान जिनेंद्रदेवके भक्त कितने ही भव्य ऐसे है जो मनुष्य और देवोंके सुख भोगकर सात आठ भवके बाद मोक्ष प्राप्त करते है ॥ ९१-९२ ॥ इस संसारमें सम्यग्दृष्टी जीवोंको सुख देने वाली देवगति अथवा मनुष्यगतिको छोडकर और कोई गति नहीं होती है ॥ ९३ ॥ जो बुद्धिमान् इस सम्यग्दर्शनको अतिचार रहित पालन करता है उसके लिये मोक्ष अपने आप आजाती है फिर भला उसके लिये स्वर्गके सुखोंकी तो बात ही क्या है ॥ ९४ ॥

त्यक्तरूपा॰ शुभाशया ॥८६॥ नखकेशादिसहीना दिव्यस्त्रीभोगसगता॰ । सर्वामरैर्नुता नित्य स्थिता देवसभादिषु ॥८७॥ गीतनृत्यादिसक्ताः सौख्यसागरमध्यगाः । इन्द्रा भवन्ति ते स्वर्गे ये तत्त्वरुचयो नराः ॥८८॥ किमत्र बहुनोक्तेन सम्यक्त्वाद्यत्सुख वरम् । देवलोके नृलोके च तत्सर्वं देहिनां भवेत् ॥ ८९ ॥ एतत्समयसर्वस्वमेतत्सिद्धातजीवितम् । एतन्मोक्षगतेर्बीज सम्यक्त्व विद्धि तत्त्वत ॥ ९० ॥ केचित्सद्दृष्टयो भव्याः स्वर्गं गत्वा सुखाकरम् । मनुष्यत्व पुन॰ प्राप्य निर्वृति यान्ति सयमात् ॥ ९१ ॥ केचिच्छ्रीजिनभक्त्या हि भोगान् भुक्त्वा नृदेवजान् । सप्ताष्टभवपर्यन्त पश्चाद्यान्ति शिवालयम् ॥९२॥ त्यक्त्वा देवगतिं सारां नृगतिं च सुखाकराम् । अन्यागतिर्भवेन्नैव सम्यग्दृष्टिनृणा भुवि ॥ ९३ ॥ अतिचारविनिर्मुक्त यो धत्ते दर्शनं सुधी॰ । तस्य मुक्ति॰ समायाति नाकसौख्यस्य का कथा ॥९४॥ प्रभो

प्रश्न—हे प्रभो ! कृपाकर मेरे लिये सम्यग्दर्शनके उन सब अतीचारोंका निरूपण कीजिये जिसमें उनका त्याग कर देनेपर आज ही मेरा सम्यग्दर्शन निर्मल होजाय ! ॥ ९५ ॥

उत्तर—हे वत्स ! हे श्रावकोत्तम ! तू अपने चित्तको अपने वशमें करके सुन. अब मैं सम्यग्दर्शनको मलिन करनेवाले अतिचारोंको त्याग करनेके लिये कहता हूं ॥९६॥ शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अन्यदृष्टि संस्तव ये पांच सम्यग्दर्शनके अतिचार गिने जाते हैं ॥९७॥ जो अज्ञानी तीर्थंकरोंमें, गुरुओंमें, शास्त्रोंमें, श्रेष्ठ तत्त्वोंमें और अहिंसामय उत्तम धर्ममें शंका करता है उसके शंका नामका पहिला अतिचार लगता है ॥९८॥ जो बुद्धिहीन चारित्र पालन कर अथवा और भी कोई धर्मकार्य कर फिर उससे इस लोक संबंधी अथवा परलोक संबंधी भोगोंकी इच्छा करता है वह आकांक्षा दोषका भागी होता है ॥ ९९ ॥ जो मुनियोंके मलिन अथवा रोगी शरीरको देखकर घृणा करता है वह सम्यग्दर्शनके विचिकित्सा नामक दोषको प्राप्त होता है ॥ १०० ॥ मिथ्यादृष्टि, कुतपसी, मिथ्याज्ञानी अथवा मिथ्या व्रतोंको पालन करनेवालेकी जो प्रशंसा करता है उन्हें मनमें अच्छा प्रशंसनीय समझता है उसके सम्यग्दर्शनका अन्यदृष्टिप्रशंसा नामका अशुभ अतिचार लगता है ॥ १०१ ॥ जो बुद्धिहीन, मिथ्याज्ञानी अथवा मिथ्याचारित्रवालोंकी वचनसे स्तुति करता है उसके अन्यदृष्टिसंस्तव नामका सम्यग्दर्शनका पांचवा अतिचार लगता है ॥ १०२ ॥ जो मनुष्य इन पांचों अतिचारोंका त्यागकर निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण करते हैं उनके लिये इन तीनों लोकोंमें ऐसा कौनसा पदार्थ है जो प्राप्त न हो सके अर्थात उनके लिये इस संसारमें अलभ्य पदार्थ कोई नहीं है ॥ १०३ ॥

सर्वानतीचारान् दया कृत्वा निरूपय। तेषां त्यागान्ममाद्यैव सम्यक्त्वं निर्मलं भवेत् ॥९५॥ स्वचित्तं सन्निधायोच्चैः स्ववशे श्रावक शृणु। अतीचारान् प्रवक्ष्येऽहं तत्त्यागाय विरूपकान् ॥ ९६ ॥ शंका कांक्षा भवेत्पापा विचिकित्सा तथा परा। अन्यदृष्टिप्रशंसा च संस्तवो हि कुलिंगिनाम् ॥९७॥ तीर्थेशे सद्गुरौ शास्त्रे सप्ततत्त्वे वृषे च यः। शंकां करोति यो मूढः शंकादोषं लभेत सः ॥९८॥ चरणादिवृषं कृत्वा भोगान् वाञ्छति योऽशुभान्। इहामुत्र भवे सोऽधीः काङ्क्षादोषभाग्भवेत् ॥९९॥ दृष्ट्वा मुनीश्वराङ्गं यो मललिप्तरुजान्वितम्। घृणां धत्ते भजेत्सोपि मलं विचिकित्साभिधम् ॥१००॥ कुदृष्टेः कुतपोज्ञानव्रतेषु यः करोति ना। प्रशंसां जायते तस्य सम्यक्त्वस्य मलेऽशुभे ॥१०१॥ करोति संस्तवं योऽधीः कुज्ञानकुव्रतादिजम्। पाखंडिनामतीचारं लभेत्तद्दर्शनस्य सः ॥१०२॥ पंचातिचारसत्यक्तं सम्यक्त्वं शशिनिर्मलम्।

इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे मुनियोंको मोक्षका वह सुख प्राप्त होता है जो स्वजन परिजनोंके सुखसे पारंगत है, शरीरादिके दुःखोंसे रहित है, उपमा रहित है, सारभूत है, संसारसे पारंगत है, ज्ञानावरणादि सब शत्रुओंसे रहित है और सब तरहकी बाधाओंसे दूर है ॥ १०४ ॥ यह सम्यग्दर्शन समस्त सुखोंका निधि है, स्वर्ग मोक्षका एक अद्वितीय कारण है, नरकरूपी घरको बन्द कर देनेके लिये किवाड़ोंके समान है, कर्मरूपी हाथीके लिये सिंह है, पापरूपी वनके लिये कुल्हाडी है, समस्त सुखोंकी खानि है और सब तरहकी शंकाओंसे रहित है। हे वत्स! ऐसे इस सम्यग्दर्शनको तू धारण कर ॥ १०५ ॥ हे मित्र! यह सम्यग्दर्शन कर्मरूपी पर्वतको चूर चूर करनेके लिये वज्रके समान है, दुःखरूपी दावानल अग्निको शांत करनेके लिये मेघकी धाराके समान है, मोक्षके सारभूत सुखको देनेवाला है और अनेक गुणोंका घर है अतएव मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू इसे धारण कर ॥ १०६ ॥ यह सम्यग्दर्शन मोक्ष–सुख देनेवाले एक सर्वोत्तम कल्पवृक्षके समान है। भगवान जिनेंद्रदेवमें श्रद्धा रखना ही इसकी जड़ है, जीवादिक तत्वोंपर श्रद्धान रखना इसका स्कंध वा पीड है, निःशंकित आदि समस्त गुणरूपी जलके सींचनेसे यह वढता है, चारित्र ही इसकी शाखाएं हैं, समस्त समितियां ही इसके पत्ते और फूल हैं उनके भारसे यह नम्र होरहा है और मोक्ष–सुख ही इसका फल है। इसप्रकार यह सम्यग्दर्शनरूपी वृक्ष सर्वोत्तम कल्पवृक्ष है ॥ १०७ ॥ यह सम्यग्दर्शन सवमें सारभूत है, समस्त गुणोंका घर है और उपमा रहित है, ऐसे इस सम्यग्दर्शनको जिन्होंने धारण कर लिया है इस संसारमें वे ही पुरुषोत्तम धन्य हैं, वे ही पुण्यवान हैं, वे ही तीनों

ये भजन्ति नरास्तेषा किं नास्ति भुवनत्रये ॥१०३॥ स्वयमपरमसार त्यक्तदेहादिभार निरुपममतिसार प्राप्तससारपारम्। अरुजमजमशक सर्ववाधादित्यक्तं, भवति शिवसुख वै दृष्टियोगान्मुनीनाम् ॥१०४॥ सकलसुखनिधान स्वर्गमोक्षैकवीज नरकगृहकपाट कर्मनागस्य सिंहम्। दुरितवनकुठार सर्वसौख्यादिखानिं विगतनिखिलशक दर्शनं त्व भजस्व ॥१०५॥ कर्मपर्वतनिपातनवज्र दु खदावशमनेकसुमेघम्। मुक्तिसारसुखदं गुणगेह दर्शन भज मित्र! विमुक्त्यै ॥१०६॥ जिनवरवचमूलस्तत्त्वसस्कधपीठ सकलगुणपयोधिवर्द्धितो वृत्तशाख। अखिलसमतिपत्रपुष्पभारोवतान्न. शिवसुखफलनम्रो दृष्टिसत्कल्पवृक्ष ॥१०७॥ धन्यास्ते पुरुषोत्तमाः सुकृतिनो लोकत्रये पूजिता। सारासारविचारमार्गचतुरा. पापारिविध्वसका। सार सर्वगुणैकगेहमसम सद्दर्शन ये श्रियात्, भुक्त्वा सर्वसुख नृदेवजनित यात्येव मुक्त्यालयम् ॥१०८॥

इतिश्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे सम्यक्त्वमलमाहात्म्य वर्णनो नामैकादशम परिच्छेद.।

लोकोंमें पूज्य हैं, सार असारके विचार करनेमें वे ही सबसे अधिक चतुर हैं और वे ही पापरूप शत्रुओंको सर्वथा नाश करनेवाले हैं। ऐसे मनुष्य, देव और मनुष्योंके सर्वोत्तम सुखोंका अनुभवकर अंतमें अवश्य ही मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥ १०८ ॥

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें सम्यग्दर्शनके दोष और उसके माहात्म्यको वर्णनकरनेवाला यह ग्यारहवा परिच्छेद समाप्त हुआ।



अथ बारहवां परिच्छेद।

जो तीनो लोकोमें पूज्य हैं, पूजाके योग्य हैं और राग द्वेपसे सर्वथा रहित हैं ऐसे श्री वासुपूज्य भगवानको मैं उनके गुणसमूह प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ यहांतक सम्यग्दर्शनका व्याख्यान होचुका है अब भव्य जीवोंका उपकार करनेके लिये ग्यारह प्रतिमाओका वर्णन करता हूं ॥ २ ॥ उन ग्यारह प्रतिमाओमें भी मैं सबसे पहिले सर्वोत्तम दर्शन प्रतिमाको कहता हूं। इस दर्शन प्रतिमामें सम्यग्दर्शनके साथ साथ आठ मूलगुणोंका पालन किया जाता है ॥ ३ ॥ जो सम्यग्दर्शनके साथ साथ आठ मूलगुणोंका पालन करता है और सातो व्यसनोंका त्याग करता है उस पुरुषको श्री जिनेन्द्रदेव दर्शनिक अथवा दर्शन प्रतिमावाला कहते हैं ॥ ४ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! आज आप कृपाकर मेरे लिये आठ मूलगुण और सातो व्यसनोंका स्वरूप वर्णन करिये ॥५॥

उत्तर—हे मित्र ! तेरा हृदय ज्ञान और वैराग्यसे सुशोभित है इसलिये उसको और भी निर्मल बनाकर सुन। अब

अथ द्वादशमः सर्गः।

वासुपूज्य जिन वन्दे लोकत्रितयपूजितम्। पूजार्हं रागनिर्मुक्तं तद्गुणग्रामसिद्धये ॥१॥ व्याख्याय दर्शनं पूर्वं वक्ष्येह प्रतिमां वराम्। भव्यलोकोपकाराय विश्वैकादश रूपया ॥२॥ तासां मध्ये प्रवक्ष्यामि प्रथमा प्रतिमा वराम्। दर्शनाख्यं ससम्यक्त्वामष्टमूलगुणान्वितान् ॥३॥ दर्शनेन समं यस्तु धत्ते मूलगुणाष्टकम्। जिनैर्दर्शनिकः प्रोक्तः स पुमान् व्यसनोज्झितः ॥४॥ स्वामिन् मूलगुणानद्य सर्वाणि व्यसनानि च। कथय त्वं ममाग्रेऽपि कृपां कृत्वा विशुद्धये ॥५॥ स्वचित्तं निर्मलीकृत्य ज्ञानवैराग्यवासितम्। शृणु तेऽहं प्रवक्ष्यामि मित्र!

मैं तेरे लिये आठो मूलगुणोंको कहता हूं ॥ ६ ॥ मद्य मांस मधुका त्याग और पांचो उदंबरोंका त्याग ही श्री जिनेंद्रदेवने गृहस्थोंके आठ मूलगुण वतलाए है ॥ ७ ॥ हे मित्र ! यह मद्य अनेक त्रस जीवोंसे भराहुआ है, धर्म कर्मको नाश करनेवाला है और बुद्धिको नष्ट करदेनेवाला है इसलिये धर्मकी इच्छा रखनेवालोंको इसका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ॥ ८ ॥ जो मद्यपान करता है वह चतुर पुरुषोंके द्वारा सदा निंदनीय गिना जाता है, जिससमय वह मद्य पीकर वेहोश होकर मुंह फाडकर पड़ जाता है तो उस समय कुत्ते भी उसके मुंहमें मूत जाया करते है और वह उस मूतको वडे मजेसे चाटा करता है, हाय हाय ! ऐसे जीवनको भी धिक्कार है ॥ ९ ॥ जो जीव इस जन्ममें मद्य पीते हैं वे मरकर नरकमें पडते हैं और वहांपर अन्य नारकी उनका मुंह फाडकर जवर्दस्ती उनके मुंहमें तपाया हुआ गलाहुआ तांवेका पानी डालते हैं ॥१०॥ जो मूर्ख मद्यपानका त्याग किये विना ही धर्म धारण करना चाहते हैं वे विना पैरोंके ही मेरुपर्वतपर चढना चाहते हैं ॥ ११ ॥ यह मद्यपान नरक निगोद आदि कुगतियोंको प्राप्त करानेवाला है, असार है, बुद्धिको नष्ट करनेवाला है, नरकको ले जानेका एक मार्ग है, पाप और दुःखोंकी जड़ है, व्याकुलता उत्पन्न करनेवाला है और धर्मरूपी वृक्षको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान है, इसलिये हे वत्स ! धर्मकी प्राप्तिके लिये तू इस निंद्य मद्यपानका त्याग कर ॥ १२ ॥

इसी प्रकार मांस भी महा निंद्य है, जीवोंकी हिंसासे उत्पन्न होता है और अनेक पापोंकी खानि है इसलिये इसे केवल मूर्ख लोग ही सेवन करते हैं। विवेकी पुरुष दूरसे ही इसका त्याग करदेते है ॥ १३ ॥ देख, जो दुष्ट विना किसी कृपा वा दयाके जीवोंको मारकर मांस खाते है वे वैरभावका संस्कार होजानेके कारण परलोकमें उन्हीं जीवोंके द्वारा मारे

मूलगुणादिकम् ॥६॥ मद्यमांसमधून्येव तथोदुंबरपञ्चकम् । अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ता श्रीजिनैर्गृहमेधिनाम् ॥७॥ अनेकत्रससम्पूर्णं धर्मादिक्षय कारकम् । बुद्ध्यादिनाशकं मद्य. त्याज्य वृषजिघृक्षुभि. ॥८॥ पीतमद्यो बुधैर्निंद्य पथि वा पतितो मुखे । मूत्र कृत्वापि लिह्याच्च यो धिक् तस्यास्तु जीवितम् ॥९॥ मद्य पिवन्ति यो मुत्र मुखे तस्य विदार्य वै । क्षिपन्ति नारका श्वभ्रे तप्त ताम्रादिज रसम् ॥१०॥ मद्यपानमत्यक्त्वा यो धर्ममिच्छति मूढधी । विना स चरणेनैव मेरुमारोहित च स' ॥११॥ कुगतिकर्मसारं बुद्धिनिर्नाशक वै, नरकगमनमार्गं पापदु - खादिमूलम् । विकलकर्मयित्व धर्मवृक्षाग्निदाव, त्यज विषमिव धर्मप्राप्तये मद्यपानम् ॥१२॥ जीवहिंसादिसजात निंद्य पापकर शठे । स्वीकृत चास्पृश लोके पल त्याज्य विवेकिभि ॥१३॥ हत्वा यस्यामिष योऽत्र प्राप्ति दुष्ट. कृपां विना । चामुत्र तस्य लोके स वैरसस्कारयोगत

जाते हैं ॥ १४ ॥ जो नीच केवल स्वादसे ठगे जानेके कारण मांस खाते हैं वे अनेक दुःखोंसे भरे हुए संसाररूपी महासागरमें अवश्य डूबते हैं ॥ १५ ॥ जो मूर्ख मांसभक्षणका तो त्याग कर नहीं सकते और धर्म धारण करना चाहते हैं वे विना नेत्रोंके नाटक देखना चाहते हैं ॥ १६ ॥ यह मांस सेवन नरकके दुःख देनेवाला है, असार है, पापरूप वृक्षकी जड़ है, अनेक प्रकारके जीवसमूहोंसे भरा हुआ है, उसके छूने मात्रसे ही अनंत जीवोंका घात होता है, इसीलिये धार्मिक सज्जन लोग विषके समान इसका त्याग कर देते हैं। यह पापरूप है और कुगतिका बीज है, इसलिये हे वत्स ! धर्म धारण करनेके लिये तू इसका त्याग कर ॥ १७ ॥

यह मधु वा शहत भी अनेक त्रस जीवोंके उत्पन्न होनेका स्थान है, और मक्खियोंका वमन किया हुआ उच्छिष्ट है इसीलिये इसका सेवन करना अनेक पाप और दुःखोंको उत्पन्न करनेवाला है, निंद्य है और अपवित्र है। बुद्धिमानोंको दूरसे ही इसका साग कर देना चाहिये ॥ १८ ॥ जो अज्ञानी रोग आदिको दूर करनेके लिये भी शहतको काममें लाता है वह अनेक रोगोंका पात्र होकर नरकादि दुर्गतियोंमें प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ जो मूर्ख मद्य और मांसके समान शहतको खाता है वह मद्य मांस आदि सबका सेवन करता है और अनेक दुर्गतियोंमें प्राप्त होता है, क्योंकि शहतमें असंख्य जीव रहते है ॥२०॥ जो मूर्ख मधुके सेवन करनेसे रोगोंका नाश करना चाहते हैं वे अवश्य ही तेलसे अग्निको बुझाना चाहते हैं ॥ २१ ॥ हे मित्र ! यह शहत अनेक छोटे छोटे कीडोंसे भरा हुआ है, अनेक चौइंद्रिय जीवोंके घातसे उत्पन्न होता है, इसका सेवन करना अनेक दुर्गतियोंका कारण है, सज्जन लोगोंके द्वारा स्पर्श करने योग्य भी नहीं है, यह समस्त पापोंकी

॥१४॥ पलाशन प्रकुर्वन्ति येऽधमा स्वादुवञ्चिता । मज्जन्ति दु खसम्पूर्णे ते ससारमहार्णवे ॥१५॥ असक्ता आमिप त्यक्तु धर्मं वाञ्छति ये शठा. । नयनाभ्या विना तेपि द्रष्टुमिच्छन्ति नाटकम् ॥१६॥ नरककर्मसार पापवृक्षस्य कन्द, कृमिकुलशतपूर्णं चास्पृश्यं नैव दृश्यम् । इह विषमतिपाप सज्जनैर्धर्मयुक्तै. त्यज कुगतिकुबीज त्व पल धर्महेतो' ॥१७॥ त्रसजीवादिसव्याप्त मक्षिकाछर्दित मधु । पापदु खादिक निंद्य अपवित्र त्यजेद्बुध ॥१८॥ मधु रोगादिशान्त्यर्थं यो गृह्णाति स मूढधी. । रोगस्य भाजन मृत्वा सोप्यघात् यान्ति दुर्गतिम् ॥१९॥ सम मद्यामिषेणैव यो भुक्ते माक्षिक शठ. । भुक्त मद्यादिक सर्वं तेन दुर्गतिदायकम् ॥२०॥ रोगनाश सुवाञ्छन्ति ये खला मधुना स्वयम् । निवारयन्ति ते नून तैलेनैव हुताशनम् ॥२१॥ कृमिकुलशतपूर्णं सत्त्वघातादिजात, कुगतिगमनहेतु प्रास्पृश्य साधुलोकै. । सकलदुरितखानि

खानि है, क्लेश तथा व्याधियोंकी जड़ है और अत्यन्त अपवित्र है। हे मित्र! सुख प्राप्तकरनेके लिये तू इसका त्याग कर ॥२२॥
इसी प्रकार विवेकी पुरुषोको उदंबर फलोका त्याग भी कर देना चाहिये, क्योंकि ये भी अनेक सूक्ष्म जन्तुओंसे
भरे रहते हैं इसलिये इनके सेवन करनेसे नरकादिकके अनेक दुःख प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥ जो मूर्ख दुर्भिक्ष आदि पडनेपर
भी अनेक कीड़ोंसे भरे हुए इन फलोंको खाता है वह अनेक जीव-राशिका नाश करदेनेके कारण नरक वा तिर्यंच गतिमें
ही जन्म लेता है ॥ २४ ॥ इसलिये प्राणोंका त्याग कर देना अच्छा परन्तु भारीसे भारी दरिद्रता पडनेपर भी असंख्यात
जीवोंसे भरे हुए पांचो उदंबरोका सेवन करना अच्छा नही ॥२५॥ हे मित्र ! तू धर्मकी प्राप्तिके लिये इन वड, पीपल, ऊमर
(गूलर), कठूमर (अंजीर), पाकर पांचों उदंबर फलोंका त्यागकर, क्योकि मांसके समान इसे भील आदि नीच लोग ही
सेवन करते हैं ॥ २६ ॥ हे वत्स ! वट, पीपल आदि पांचो उदंबरोका सेवन करना नरकमें ले जानेका कारण है, दुःख
और दरिद्रताको उत्पन्न करनेवाला है, और सर्वोत्तम मोक्ष-सुखका शत्रु है। ये पांचों फल अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरे रहते
हैं, और नीच लोगोंके द्वारा ही सेवन किये जाते हैं इसके सिवाय ये पापकी जड़ है। इसलिये हे मित्र ! धर्मकी प्राप्तिके
लिये तू इनका भी त्याग कर ॥ २७ ॥ जो मनुष्य श्रेष्ठ नियम लेकर इन आठो मूलगुणोंका पालन करते है वे अवश्य ही
स्वर्गसुखको प्राप्त होते हैं ॥ २८ ॥ ये आठों मूलगुण आगे कहे हुए बारह व्रतोंके मूल कारण हैं, और बारह व्रतोंके
पहिले धारण किये जाते है तथा स्वर्गादिकके सुख देनेवाले हैं, इसलिये जिनेन्द्र भगवान इनको मूलगुण कहते है ॥२९॥
जो मनुष्य धर्मकी जड़रूप इन मूलगुणोको भी धारण नहीं कर सकते वे अनेक प्रकारके पापोंका संग्रहकर संसार महासा-

---

क्लेशवाध्यादिमूलम्, त्यज मधु सुखहेतोश्चापवित्र सुमित्रम् ॥२२॥ उदम्बरफलान्येव न ग्राह्याणि विवेकिभि । सूक्ष्मजन्तुभृतान्येव दु ख-
श्वभ्रकराणि वै ॥२३॥ दुर्भिक्षेनैव यो भुक्ते कीटाद्यानि फलानि सः । श्वभ्रतिर्यग्गतिं यान्ति जीवराशिप्रभक्षणात् ॥२४॥ वरं प्राणपरि-
त्यागो न चोदुबरपंचकम् । ग्राह्य विसख्यजीवादिव्याप्त तीव्रदरिद्रकम् ॥२५॥ त्यज त्वं धर्मसिद्ध्यर्थं वटादिफलपचकम् । भिल्लादिकुजनै-
र्भक्ष्यमामिषेण समं ध्रुवम् ॥२६॥ नरकगमनमार्गं दुःखदारिद्र्यबीजं, वरशिवसुखशत्रुं सूक्ष्मजीवादिपूर्णम्। कुजनगणगृहीत पिप्पलादिप्रसूतं,
फलमपि त्यज धर्मप्राप्तये पापमूलम् ॥२७॥ अष्टौ मूलगुणानेव पालयन्ति सदा नरा । ये ते स्वर्गं प्रयान्त्येव प्रादाय नियमं वरम् ॥२८॥
द्वादशव्रतमूलत्वा गुणानां प्रथमोद्भवात् । स्वर्गादिसुखसदानादुक्ता मूलगुणा जिनैः ॥२९॥ व्रतं धर्तुमसक्ता येऽधमा मूलगुणादिजम् । ते

गरमें डूबते हैं ॥ ३० ॥ इसलिये हे बुद्धिमान् ! आगे कहे हुए व्रतोंको पालन करनेके लिये और स्वर्ग मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिये इन आठों मूलगुणोंको चित्त लगाकर पालन कर ॥ ३१ ॥ इस प्रकार पहिले मूलगुणोंका व्याख्यान किया।

अब हे श्रावक ! धर्मकी सिद्धिके लिये सातों व्यसनोंको कहता हूं ॥ ३२ ॥ जूआ खेलना, मांस खाना, मद्यपान करना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्रीसेवन करना ये सात व्यसन कहलाते हैं। ये सातों व्यसन पापोंकी जड़ हैं इसलिये हे भव्य ! तू इनका त्याग कर ॥ ३३ ॥ जो दुष्ट मनुष्य इस संसारमें जूआ खेलते हैं वे संसारमें अपनी अपकीर्ति फैलाते हैं, उनके द्रव्यका नाश होता है और अन्तमें नरकमें पड़ते हैं ॥ ३४ ॥ सातों व्यसन इस जूआ खेलनेसे ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये जो जूआ खेलता है उसे समस्त व्यसनोंके सेवन करनेका ही फल प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥ अरे जिस जूआके खेलनेसे राजा युधिष्ठिर ऐसे नष्ट होगये फिर भला जूआ खेलनेवाले अन्य साधारण लोग किसप्रकार दुःखी नहीं हो सकते अर्थात् अवश्य होते हैं ॥ ३६ ॥ जूआ खेलनेवालोंको जो पाप लगता है तथा भवभवमें जो पाप उन्हें लगता है और जो वध बंधन आदिके दुःख भोगने पड़ते हैं उन्हें कौन कह सकता है ? अर्थात् वे पाप और दुःख किसीसे कहे भी नहीं जासकते ॥ ३७ ॥ यह जूआ खेलना पापोंके वनको बढ़ानेके लिये मेघकी धाराके समान है, दुःख और दरिद्रताका मुख्य कारण है, नरकरूपी घरमें ले जानेवाला है, मोक्षमहलके लिये किवाड़ जुड़ देनेवाला है, समस्त व्यसनोंका मूल कारण है और सदाकालतक अपकीर्तिका कारण है इसलिये हे मित्र ! तू धर्म प्राप्त करनेके लिये कुगतियोंमें डालनेवाले इस जूआका त्याग कर ॥ ३८ ॥

पापमग्रह कृत्वा मज्जन्ति भवसागरे ॥३०॥ एकचित्तेन भो धीमन् ! अग्र त्वं व्रतशुद्धये। अष्टौ मूलगुणानेव नाकमुक्तिसुखाय वा ॥३१॥ आदौ मूलगुणान् सर्वान् व्याख्याय शृणु श्रावकान् । वक्ष्ये श्रीधर्मसिद्ध्यर्थं सप्तैव व्यसनान्यहम् ॥३२॥ द्यूतक्रीडां प्रकुर्वन्ति ये नरा अत्र ते ध्रुवम् । अकीर्तिं द्रव्यनाशं च प्राप्य श्वभ्रे पतन्त्यहो ॥ ३३ ॥ द्यूतामिषसुरावेश्याखेटचौर्यपरस्त्रियः । सप्तैव व्यसनान्येव पापमूलानि भो त्यज ॥ ३४ ॥ द्यूतमूलानि सप्तैव व्यसनानि भवन्ति वै । द्यूतं यो रमते तस्य स्युः सर्वव्यसनान्यलम् ॥३५॥ युधिष्ठिरादयो द्यूतयोगान्नष्टा नृपा यदि । अन्यो यो रमते द्यूतं न स्यात्किं सोपि दुःखभाक् ॥३६॥ द्यूतासक्तस्य यत्पापं यच्च दुःखं भवे भवे । वधबाधादिकं यत्स्यात्तद्वक्तुं कः प्रभुर्भवेत् ॥३७॥ दुरिततरुमेघं दुःखदारिद्र्यदीनं, नरकगृहप्रवेशं मुक्तिगेहे कपाटम् । सकलव्यसनमूलं सर्वदा-

इसी प्रकार मांस भी जीवोंके घात होनेसे उत्पन्न होता है, नरक और तिर्यंच गतिके अनेक दुःख देनेवाला है, निंद्य है, पापकी खानि है, इसलिये हे भ्रात ! इसका भी तू त्यागकर ॥ ३९ ॥ मद्य भी अनेक सूक्ष्म जीवोंमे भरा हुआ है, विवेक और बुद्धिको नाश करनेवाला है, अनेक पापोंको वढ़ानेवाला है और धर्मका ध्वंस करनेवाला है इसलिये सुख प्राप्त करनेके लिये इस मद्यका भी त्यागकर ॥ ४० ॥ यह वेश्या मद्य मांस आदिमें सदा आसक्त रहती है, चांडाल आदिकोंमें भी लॅपट रहती है, और सदा अपकीर्ति देनेवाली है इसलिये हे मित्र ! सर्पिणीके समान इस वेश्याको तू दूरसे ही छोड ॥ ४१ ॥ शिकार खेलनेमे भी अनेक जीवोंकी हिसा होती है, हिंसासे पाप, दुःख और दुर्गतियां प्राप्त होती है तथा अनेकवार वध वंधन आदिके दुःख सहने पडते है इसलिये इस शिकारको भी दूरसे त्यागकर ॥ ४२ ॥ चोरी करनेसे कभी मर जाना पडता है, कभी शरीर काटा जाता है, वंधनमें पडना पडता है तथा और भी अनेक प्रकारके दुःख तथा दरिद्रता प्राप्त होती है। इसके सिवाय चोरी करनेसे दूसरोको सदा दुःख पहुंचाना पडता है इसलिये हे वत्स ! इस चोरीको भी तू छोड़ ॥ ४३ ॥ परस्त्रीसेवन सव दुःखोंकी खानि है, पापकी वेल है, भय अपकीर्ति देनेवाली है और नरककी देहली है इसलिये परस्त्रीसेवन करना भी सर्वथा छोड देना चाहिये ॥ ४४ ॥ इन व्यसनोंमेंसे एक एक व्यसनको सेवन करनेवाले अनेक जीव नष्ट हो चुके है फिर भला जो समस्त व्यसनोंमें आसक्त है वह क्यों दुःखी नही होसकता ? अर्थात् वह अवश्य महा दुःखी होगा ॥ ४५ ॥ जूआके खेलनेसे राजा युधिष्ठिरको अनेक प्रकारके दुःख प्राप्त हुए थे—उन्हें राज्यसे भ्रष्ट होना पडा था, निर्जन वनमें निवास करना पडा था और फिर भारी युद्ध करना पडा था ॥ ४६ ॥ मांस सेवन करनेसे राजा

कीर्तिहेतु, त्यज कुगतिकर त्व धर्मलाभाय द्यूतम् ॥३८॥ सत्त्वघातादिसजात श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् । निंद्य पापकर भ्रातस्त्यज त्व निखिलामिषम् ॥३९॥ सूक्ष्म जीवभृत मद्य विवेकबुद्धिनाशकम् । धर्मविध्वसक प्राघप्रदं त्यज सुखायते ॥४०॥ मद्यमांसादिससक्तां मातगादिपु लपटाम् । सर्पिणीमिव भो मित्र त्यज वेश्या कुकीर्तिदाम् ॥४१॥ जीवहिंसाकर पाप दु खदुर्गतिदायिकम् । वधवधकरं दक्ष आखेट दूरत त्यजेत् ॥४२॥ वधागच्छेदवधादिदु खदारिद्रकारणम् । परपीडाकर वत्स चौर्याख्यं व्यसनं त्यज ॥४३॥ सर्वदु खाकरां पापवल्ली भयकुकीर्तिदाम् । परनारी त्यज त्व भो श्वभ्रतिर्य्यग्गतिप्रदाम् ॥४४॥ एकैकव्यसनासक्ता नष्टा जीवा अनेकधा । य सर्वव्यसनासक्तो दु खभाक् कि भवेन्न स ॥४५॥ द्यूताद् धर्मसुतो राजा प्राप्तो दु खमनेकधा । राज्यभ्रष्टाटवीवास सगरादिभव घनम् ॥४६॥ पलाशनवशान्नष्ट. इह

वकको इस लोकमें ही राजभ्रष्ट होना होना पडा था—अपने राज्यसे हाथ धोना पडा था और अन्तमें इस अपार संसार-सागरमें मग्न होना पडा था ॥ ४७ ॥ मद्यपानके सेवन करनेसे कुमार्गगामी राजपुत्र यादव अनेक दुःखोंको पाकर इसी लोकमें प्राण नाशको प्राप्त हुए थे ॥ ४८ ॥ वेश्यासेवनसे सेठ चारुदत्तको कितने दुःख भोगने पडे थे, उनका सब द्रव्य नष्ट होगया था और अन्तमें उन्हे विष्टामें फेंक दिया गया था ॥ ४९ ॥ शिकार खेलनेसे राजा ब्रह्मदत्तको बहुतसे दुःख भोगने पडे थे और अन्तमें संसाररूपी महासागरमें परिभ्रमण करनेका महा घोर दुःख भोगना पड़ा था ॥ ५० ॥ चोरी करनेसे शिवभूतिको घोर और असह्य दुःख भोगने पडे थे, तथा इस लोकमें भी वध बंधन आदिके अनेक दुःख भोगने पडे थे ॥ ५१ ॥ सीताका हरण करने मात्रसे ही तीन खण्डके स्वामी रावणकी संसारभरमें अपकीर्ति हुई थी, उसका राज्य नष्ट हुआ था, उस कुमार्गगामीको मरना पडा था, और अन्तमें नरक जाना पडा था ॥ ५२ ॥ ये सब एक एक व्यसनमें आसक्त होनेवालोंके नाम हैं इन सबकी कथा संवेग बढानेवाली है और पापोंसे डरानेवाली है इसलिये अन्य शास्त्रोंमे अवश्य जान लेनी चाहिये ॥ ५३ ॥ इन व्यसनोंमें आसक्त हो जानेके कारण और भी बहुतसे लोग नष्ट हुए हैं उन सबकी कथाओंको तीनो लोकोंमे कोई कह भी नहीं सकता ॥ ५४ ॥ एक एक व्यसनके सेवन करनेसे कितने ही जीवोंको अनेक वार नरकोंमें जाना पड़ा है, फिर भला जो सातो व्यसनोंका सेवन करते हैं वे भला नरकमे कैसे बच सकते हैं ॥ ५५ ॥ जो मनुष्य इन व्यसनोंको विना छोड़े ही धर्म धारण करनेकी इच्छा करता है, वह मूर्ख विना पैरोंके ही मेरुपर्वतपर चढ़ना चाहता है ॥ ५६ ॥ इस संसारमें सात ही नरक हैं और सात ही व्यसन हैं इसलिये जो जीव इन व्यसनोंमें आसक्त रहते

लोके वको नृप । राज्यनाशं परिप्राप्य मग्नः संसारसागरे ॥४७॥ मद्यपानात्प्रनष्टा हि यादवा नृपनन्दना । इहैव प्राणपर्यन्त प्राप्य दुःख कुमार्गगा ॥४८॥ चारुदत्तेन संप्राप्त दुःख वेश्याप्रसगतः । द्रव्यनाशभव विष्टामध्यनिक्षेपज परम् ॥४९॥ ब्रह्मदत्तो नृपो प्राप्तो दुःखमाखेटतः स्वयम् । भवाब्धौ बहुशो घोर मज्जनोन्मज्जनादिजम् ॥५०॥ चौर्यव्यसनतो घोर दुःख प्राप्नोति दुस्सहम् । शिवभूतिरिहामुत्र क्लेशबधबधादिजम् ॥५१॥ सीताहरणाद्गत श्वभ्र त्रिखडाधिपरावण । कुकीर्ति राज्यनाश च वधं प्राप्य कुमार्गगः ॥५२॥ एतेषां व्यसनाज्जाता ज्ञेया शास्त्रे निरूपिताः । कथाः संवेगदाः तीव्र पापभीतिप्रदाः वराः ॥५३॥ अन्ये ये बहवो नष्टा व्यसनासक्तचेतसा । कथा को गदितु तेषा समर्थो भुवनत्रये ॥५४॥ एकैकव्यसनाज्जीवा श्वभ्र प्राप्ता अनेकशः । य सप्तव्यसनासक्ति धत्ते श्वभ्र न यान्ति किम् ॥५५॥

हैं वे अवश्य ही नरकोंमें पडते हैं ॥ ५७ ॥ पापरूपी राजाने धर्मरूपी शत्रुको नाश करनेके लिये और अपना स्वराज्य सुदृढ़ करनेके लिये इन सातों व्यसनोंको सेनाके समान स्थापन कर रक्खा है ॥ ५८ ॥ ये सातों व्यसन अनेक दुर्गतियोंमें जन्म देनेवाले हैं, दुःख शोक आदिके मुख्य कारण हैं, पापरूपी वनको वढानेके लिये मेघकी वर्षाके समान हैं, धर्मके शत्रु हैं, बुरी संगति देनेवाले हैं, परभवमें परिभ्रमण करानेवाले हैं और सब प्रकारकी दरिद्रताके मूल कारण हैं। इसलिये हे मित्र ! तू धर्म धारण करनेके लिये शत्रुके समान इन सातों व्यसनोंका साग कर ॥ ५९ ॥ जो बुद्धिमान् सम्यग्दर्शनके साथ साथ ऊपर कहे हुए आठों मूलगुणोंका पालन करता है और सातों व्यसनोंका त्याग करता है वह दार्शनिक अथवा दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाला कहलाता है ॥ ६० ॥ इस प्रकार सब प्रतिमाओंकी मूल कारण ऐसी दर्शन प्रतिमाका स्वरूप वर्णन किया ।

अब आगे उत्तम व्रत प्रतिमाका निरूपण करते हैं ॥ ६१ ॥ पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत ये गृहस्थोंके वारह व्रत कहलाते है ॥६२॥ स्थूल हिंसाका त्याग, स्थूल असत्यका त्याग, स्थूल चोरीका त्याग, स्थूल अब्रह्मका त्याग और स्थूल परिग्रहका त्याग इस प्रकार हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह इन पांचो पापोंसे एक देश विरक्त होना श्रावकोंके पांच अणुव्रत कहलाते है ॥ ६३ ॥ अपने हृदयको दया पालन करनेमें सदा तत्पर रखनेवाला जो मनुष्य मन, वचन, कायसे न तो कभी स्वयं त्रस जीवोंकी हिंसा करता है न दूसरोंसे कराता है और न कभी त्रस जीवोंकी हिंसामें

व्यसनान्येव य. त्यक्तुमशक्तो धर्ममीहते । चरणाभ्या विना खञ्जो मेरुमारोहितु स च ॥५६॥ सप्तैवात्र नरकाणि सप्तैव व्यसनानि तत् । अनुक्रमेण गच्छन्ति जीवास्तल्लम्पटाशया. ॥ ५७ ॥ धर्मशत्रुविनाशार्थं पापराज्ञा दृढीकृतम् । स्वराज्य सप्तव्यसनैरङ्गैरिव यथापरे ॥ ५८ ॥ कुगतिगमनहेतु दु.खशोकादिबीज, दुरितवनकुमेघ धर्मशत्रु कुसगम् । परभवशतखानि सर्वदारिद्रमूलं, जहि व्यसनसमस्त शत्रुवद्धर्महेतो ॥५९॥ दर्शनेन सम योऽत्र सोऽष्टमूलगुणान् सुधी. । दधाति व्यसनान्येव त्यक्त्वा दर्शनिको भवेत् ॥६०॥ दर्शनाख्य प्रव्याख्याय प्रतिमा मूलकारणम् । इदानी खलु वक्ष्येऽहं व्रताख्या प्रतिमां वराम् ॥६१॥ पञ्चैवाणुव्रतानि स्युस्त्रिधापि स्याद्गुणव्रतम्। शिक्षाव्रत चतुर्भेदं द्वादशैव व्रतानि च ॥ ६२ ॥ स्थूलहिंसानृतस्तेयान्मैथुनाच्च परिग्रहात् । विरति' श्रावकाणां तत् पचभेदमणुव्रतम् ॥६३॥ स्वय हि त्रसजीवानां हिंसा नैव करोति यः । कारयति न चान्येन कृत नैवानुमन्यते ॥ ६४ ॥ मनोवाक्काययोगेन दयातत्परचेतसः । आद्य व्रत भवेत्तस्य

अनुमति देता है उसके सबसे पहिला अहिंसाणुव्रत होता है। यह अहिंसा अणुव्रत अन्य सब व्रतोंका मूल है ॥ ६४—६५ ॥ हे मित्र ! जीवोंके सब भेद पहिले बताये जाचुके हैं अतएव मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अनेक प्रकारके भयोंमे भयभीत हुए समस्त जीवोंपर तू प्रतिदिन दयाकर ॥ ६६ ॥ श्री गणधरादि देवोंने उस अहिंसाको सब व्रतोंकी जननी वा माता बतलाया है, क्योंकि यह अहिंसा समस्त जीवोंकी सदा हित करनेवाली है, और माताके समान सबका कल्याण करनेवाली है ॥६७॥ मुनिराजोंने इस दयाको सब जीवोंकी जन्मभूमि बतलाया है, यह दया सबको सुख देनेवाली है, सबमें सारभूत है और समस्त उत्तम गुणोंको देनेवाली है ॥ ६८ ॥ बुद्धिमान् लोग इस दयाको सब सुखोंकी निधि बतलाते हैं, स्वर्ग मोक्षरूपी घरमें जानेके लिये यह दया ही द्वारकी देहली है और यही समस्त संसारको सुख देनेवाली है ॥ ६९ ॥ दया पालन करनेमें अत्यन्त चतुर पुरुषोंने निरूपण किया है कि यह दया ही रत्नत्रयकी खानि है, दया ही सम्यग्ज्ञान आदि श्रेष्ठ रत्नोंको उत्पन्न करनेवाली है और यही सबका हित करनेवाली है ॥ ७० ॥ श्री जिनेन्द्रदेवने वर्णन किया है कि श्रेष्ठ धर्मरूपी बागकी शोभा बढानेके लिये, उसपर स्वर्ग मोक्षके फल लगानेके लिये और दुःखरूपी उष्णता वा अग्निको (संतापको) नष्ट करनेके लिये यह दया ही मेघकी वर्षाके समान है ॥ ७१ ॥ यह अहिंसा ही मुक्तिरूपी स्त्रीकी सखी है और वरके चित्तको प्रसन्न करनेवाली है, इसलिये सत्संगकी लालसा रखनेवाले मुनियोंको इस अहिंसाका सेवन अवश्य करना चाहिये ॥७२॥ इस अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिये ही चतुर पुरुषोंने पांचो महाव्रतोंका निरूपण किया है, पांचों समितियोंका निरूपण किया है और गुप्ति आदि सब व्रतोंका निरूपण केवल अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिये ही किया है ॥ ७३ ॥ अनेक मुनिराजोंने

मूल सर्वव्रतस्य भो ॥६५॥ पूर्वोक्तान् जीवभेदान् भो ज्ञात्वा मित्र दया कुरु । सर्वसत्त्वेषु मुक्त्यर्थं भयभीतेषु प्रत्यहम् ॥ ६६॥ अहिंसा जननी प्रोक्ता व्रतादीना गणाधिपै । सर्वजीवहिता शश्वन्मातेव हितकारिणी ॥ ६७ ॥ जन्मभूमिर्गुणानां भो दया प्रोक्ता मुनीश्वरै. । सर्वसौख्यकरा सारा सारसर्वगुणप्रदा ॥ ६८ ॥ निधि. सर्वसुखादीनां कृपापि कथिता बुधै । स्वर्गमुक्तिगृहद्वारे प्रतोली कृत्स्नसौख्यदा ॥६९॥ रत्नत्रयस्य सत्खानिर्दयदक्षै प्ररूपिता । सम्यग्ज्ञानादिसद्रत्नकारणा हितकारिका ॥७०॥ सद्धर्मारामसारस्य नाकमोक्षफलस्य वै । कृपावृष्टिर्जिनै. प्रोक्ता दु'खदावविनाशिनी ॥७१॥ सखी सन्मुक्तिनार्या हि वरा तच्चित्तरंजिका । अहिंसा मुनिभि. सेव्या नित्य सत्संगलालसै' ॥७२॥ अहिंसाव्रतरक्षार्थं भो महाजनपञ्चकम् । दक्षै समितिगुप्त्यादि सर्वं चाचर्यते स्फुटम् ॥ ७३ ॥ मुनीना च गृहस्थाना

स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि मुनि और गृहस्थोंके समस्त व्रतोंके समूहका वर्णन केवल अहिंसा व्रतकी रक्षा वा प्रसिद्धिके लिये ही है ॥ ७४ ॥ जो बुद्धिमान् इस एक अहिंसा नामके व्रतको ही प्रयत्नके साथ पालन कर लेता है उसके विना किसी कष्टके प्रतिदिन समस्त व्रतोंका पालन होजाता है ॥ ७५ ॥ जिसप्रकार विना अंकके अनन्त शून्य भी व्यर्थ होते हैं उसी प्रकार जो मनुष्य दयाको पालन किये विना ही तप व्रत आदि करना चाहता है उसका वह तप व्रत आदि सब व्यर्थ और निष्फल है ॥ ७६ ॥ जो बुद्धिमान् अपने हृदयमें दयाको सुदृढ वनाकर थोडासा भी तप करता है वह इस लोक और परलोकमें भी अनेक महाफलोंको प्राप्त होता है ॥७७॥ विना दयाके तप, धर्म, व्रत, ज्ञान, ध्यान, पूजा और गुण आदि सब व्यर्थ है। विना दयाके ये तप आदिक सव जीवोंके शरीरोंको केवल कष्ट पहुंचानेवाले है और इनसे कोई लाभ नहीं ॥७८॥ समस्त जीवोंको अभयदान देनेवाला और सबमें सारभूत ऐसा यह अहिंसा रूप एक व्रत ही अच्छा परंतु इसके विना समस्त व्रतोंका समुदाय भी जीवोंके लिये कल्याणकारी नहीं ॥ ७९ ॥ जिस धर्मात्माका हृदय प्रतिदिन समस्त जीवोंपर होनेवाली कृपासे सुगंधित है, भरपूर है उसीको मैं (आचार्य) सबसे अधिक पुण्यवान् मानता हूं ॥ ८० ॥ जो धर्म दयारहित है, जो तप दया रहित है और प्राणियोंका जो जीवन दया रहित है उस धर्म, तप वा जीवनसे इस संसारमें कोई लाभ नही और न ऐसे दयाहीन धर्म, तप वा जीवनसे कोई कार्यसिद्धि हो सकती है ॥ ८१ ॥ इस दयाके समान पूजा, दान, जप, तप, धर्म आदि कुछ नही हो सकता क्योंकि यह दया उन सबका वीज है, सबका मुख्य कारण है ॥ ८२ ॥ " जो जीवोंकी दयासे

सर्वं व्रतकदम्बकम् । एकाहिंसाप्रसिद्धयर्थं भाषितं मुनिपुंगवैः ॥७४॥ अहिंसाख्यं व्रत धीमन् यस्तनोति प्रयत्नतः । तस्य सर्वव्रतानि स्युः विना कष्टेन प्रत्यहम् ॥७५॥ दया त्यक्त्वापि यः कुर्याद यत्तपोव्रतादिक तत् । सर्वं विफलं तस्य विना चाकेन शून्यवत् ॥७६॥ दृढीकृत्य दयां चित्ते तपः स्तोकं करोति यः । सुधीस्तत्तस्य वामुत्र स्यान्महाफलकारणम् ॥७७॥ तपो धर्मं व्रतं दानं ध्यान पूजा गुणादिकम् । दया विनात्र व्यर्थं स्यात्कायक्लेशं च प्राणिनाम् ॥ ७८ ॥ वरं चैकव्रत सारं सर्वजीवाभयप्रदम् । तद्विना देहिनां नैतत् सर्वं व्रतकदवकम् ॥७९॥ मन्ये स एव पुण्यात्मा यस्य चित्तं सुवासितम् । कृपया सर्वजीवेषु धर्मयुक्तस्य प्रत्यहम् ॥ ८० ॥ दयाहीनेन किं तेन धर्मेण तपसाथवा । कार्यसिद्धिर्भवेन्नैव जीवितव्येन चांगिनाम् ॥ ८१ ॥ कृपासम भवेन्नैव पूजा दान जपादिकम् । तपो धर्मं च सर्वेषा दयाबीजं यतो मतम् ॥ ८२ ॥ श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च । धर्मो जीवदयोपेतस्तद्विपक्षोऽशुभप्रदः ॥ ८३ ॥ एतत्समयसर्वस्वमेतच्चारित्र-

रहित है वह अनेक दुःखोंको देनेवाला अधर्म है" यह बात सब शास्त्रोंमें और सब मतोंमें सुनी जाती है ॥ ८३ ॥ यह दयारूप धर्म ही समस्त शास्त्रोंका समस्त मतोंका सर्वस्व है, यही सजीव चारित्र है, यही धर्मरूपी वृक्षका मूल है और यही समस्त जीवोंका रक्षक है ॥ ८४ ॥ जो मूर्ख जीवोंकी हिंसाका संकल्प भी करते हैं वे उस पापकर्मके उदयसे तंदुल मत्स्यके समान नरकमें ही पड़ते हैं ॥ ८५ ॥ इस संसारमें जीवोंकी हिंसा करनेसे कास (खांसी), श्वास (दमा), महापित्त, वात, कोढ आदि अनेक बडे बडे महा रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ८६ ॥ दयाके विना ही यह जीव इस लोकमें दीन होता है, निर्धन होता है, डरपोक होता है, थोडी आयुवाला होता है और दरिद्री होता है तथा परलोकमें भी ऐसे ही अनेक दुःखोंको प्राप्त होता है ॥ ८७ ॥ यह जीव प्राणियोंका घात करनेसे ही पुत्र, पौत्र, वहिन, स्त्री, माता पिता और भाई आदिका तीव्र वियोग पाता है अर्थात् उनके वियोगसे उत्पन्न होनेवाले दुःखको भोगता है ॥८८॥ वहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि इस लोकमें वा परलोकमें जितने दुःख हैं वे सब प्राणियोंको दयाका त्याग करनेसे ही होते हैं ॥८९॥ जो नीच मनुष्य केवल रोग शांत करनेके लिये प्राणियोंका घात करते हैं उनके वात पित्त और महा कोढ़ आदि भयंकर रोग अवश्य उत्पन्न होते हैं ॥९०॥ जो नीच अपना वा पुत्र पौत्रोंका कल्याण करनेके लिये जीवोंकी हिंसा करता है वह अनेक

जीवितम् । मूल धर्मतरोर्यच्च सर्वजीवाभिरक्षणम् ॥ ८४ ॥ जीवहिंसादिसंकल्प ये कुर्वन्ति शठा हि ते । पापात् श्वभ्रे पतन्त्येव शालिशिक्षादिमत्स्यवत् ॥ ८५ ॥ कासश्वासमहापित्तवातकुष्टादयो ध्रुवम् । वृहद्रोगाः प्रजायन्ते प्राणिघातादिहाङ्गिनम् ॥ ८६ ॥ दीनत्वं निर्धनत्व च भीरुत्व स्वल्पजीवितम् । भवेज्जीवस्येहामुत्र दारिद्र्य ता दयां विना ॥ ८७ ॥ पुत्रपौत्रस्वसृभार्यामातृपितृस्ववाधवैः । प्राप्नुवन्ति वियोग च सत्त्वघातात्सदाङ्गिनः ॥ ८८ ॥ किमत्र वहुनोक्तेन यत्किंचिद्दुःखमंजसा । तत्सर्वं हि भ्रयेदगी चेहामुत्र कृपा विना ॥ ८९ ॥ कुर्वन्ति प्राणिना घात येऽधमा रोगशान्तये । वातपित्तमहाकुष्टादिक तेषा भवेद् ध्रुवम् ॥९०॥ विधत्ते देहिना हिंसा योऽधमो मंगलाय भो । अमंगल

१ स्वयंभूरमण समुद्रमें सवसे वडा राघवमत्स्य होता है उसकी आंखपर एक तंदुलमत्स्य बैठा रहता है। राघवमत्स्य सबसे वड़ा है इसलिये उसके मुह फाडते ही अनेक जीव उसके मुहमें आजाते हैं और उनमेंसे वहुत सासके साथ वाहर निकल जाते हैं। तंदुलमत्स्य आंखपर बैठा हुआ यह सोचा करता है कि यह मत्स्य मूर्ख है जो इन छोटे मत्स्योंको मुहके भीतर आजानेपर भी फिर वाहर जाने देता है, यदि मैं होता तो एकको भी वाहर न जाने देता-सवको खाजाता। वस सदाके इसी संकल्पसे वह मरकर सातवें नरक जाता है।

अमंगलोंको—दुःखोंको प्राप्त होता है तथा भयंकर दुःख देनेवाले समस्त पापोंको प्राप्त होता है-अर्थात् उसके तीव्र पापकर्मोंका
वन्ध होता है ॥९१॥ जो मूर्ख केवल धर्मपालन करनेके लिये जीवोंके समूहका घात करता है वह अपने जीवित रहनेके लिये
मृत्यु देनेवाले हलाहल विषको पीता है॥९२॥जो अज्ञानी चंड़ी मुंड़ी आदि देवियोंके वहानेसे जीवोंकी हिंसा करता है वह
अपने दुःखोंको शांत करनेके लिये अपनेआप दुःख क्लेशादिकोमें जा पडता है॥९३॥ जो जीव नीच देवोंकी पूजा करनेके लिये
अनेक जीवोंको मारता है वह मनुष्य अपने सुखके लिये अमृतको सर्पके मुखसे निकालना चाहता है ॥९४॥ इंद्रियभोगोंमें
असन्त लालसा रखनेवाले जो नीच अपने भोगोपभोगोंके लिये जीवराशिका विनाश करते हैं—उन्हें मारते हैं वे महा दुःखी
होते हैं, अत्यन्त कुरूप होते हैं और महा दरिद्री होते है ॥ ९५ ॥ जो नीच अपने पुत्र पौत्र और कुटुम्बकी वृद्धिके लिये
पशुओंको मारता है उसके सव कुटुम्बका नाश होता है और अंतमें उसे अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करना पडता है॥९६॥
श्री जिनेन्द्रदेवने धर्मका स्वरूप अहिंसामय ही कहा है क्योंकि समस्त जीवोंका कल्याण इसी अहिंसामय धर्मसे होसक्ता है
और इसी धर्मसे स्वर्ग-मोक्षके सुख प्राप्त हो सकते है ॥ ९७ ॥ परन्तु कुशास्त्रोको पढ़नेवाले और इंद्रियोंके स्वादकी लालसा
रखनेवाले मूर्ख लोगोंने असत्य भापण करके झूठ वोल करके जीवोंको नाश करनेवाली हिंसाको ही धर्म वतला दिया है
॥ ९८ ॥ जो धूर्त लोग समस्त इंद्रियोंको तृप्त करनेवाले कुशास्त्रोंको दिखा दिखाकर लोगोंसे धन इकठ्ठा करते है वे अंतमें
मरकर अवश्य ही नरक गतिमें उत्पन्न होते हैं ॥ ९९ ॥ जिन दुष्टोंने केवल भोगोपभोगोंके लिये अपने शास्त्रोंमें अहिंसाका
निरूपण किया है और जिन लोगोंने उसे स्वीकार किया है वे सव मरकर दुर्गतिमें उत्पन्न होंगे ॥ १०० ॥ जो स्वयं हिसा

भजेत्सोपि पापात्सर्वं कुदुःखदम् ॥९१॥ धर्मार्थं सत्त्वसघात ये शठाः घ्नन्ति मृत्युदम् । पिवन्ति जीवितार्थं ते विप हालहल स्फुटम् ॥९२॥
उद्दिश्य चण्डिका पाप जीवहिंसां करोति यः । दुःखादिशान्तये सोऽधीः दुःखं क्लेशादिक भजेत् ॥ ९३ ॥ पूजार्थं नीचदेवाना ये घ्नन्ति
पशून् वहून् । स्वसुखाय ते वांछन्ति सुधा सर्पमुखाच्च ते ॥ ९४ ॥ भोगार्थं जीवराशिं ये घ्नन्ति चेन्द्रियलालसाः । दुखदुर्भगदारिद्रं ते
लभन्ते भवे भवे ॥९५॥ पुत्रपौत्रकुटंवादिवृद्ध्यर्थं हन्ति यः पशून् । कुटुंवपरिनाश च प्राप्य स याति दुर्गतिम् ॥९६॥ अहिंसालक्षणो धर्म.
उक्तः श्रीजिननायकैः । सर्वजीवहितायैव स्वर्गमुक्तिसुखप्रदः ॥ ९७ ॥ सोऽसत्यवलतः धर्म उक्तः सत्त्वक्षयंकरः । कुशास्त्रपाठकैर्मूढैरिन्द्रिय-
स्वादुलालसैः ॥ ९८ ॥ दर्शयित्वा कुशास्त्र भो लोकानामर्थप्राप्तये । सर्वाक्षपोपकं धूर्त्तं नयन्ति नायकीं गतिम् ॥ ९९ ॥ हिसा परूपिता

करते हैं वा दूसरोंसे कराते हैं अथवा हिंसाको देखकर आनन्द मानते हैं वे सब उस पापसे नरकमें पडते हैं ॥ १०१ ॥ यदि कदाचित् दैवयोगसे सर्पके मुंहसे अमृत उत्पन्न होजाय अथवा रात्रिमें सूर्य दिखाई दे तथापि जीवोंकी हिंसासे कभी धर्म नहीं हो सकता ॥ १०२ ॥ यदि हिंसासे धर्म होता हो और स्वर्गादिकके सुख प्राप्त होते हों तो सदा शिकार खेलनेवाले म्लेच्छ लोगोंको भी स्वर्गकी ही प्राप्ति होनी चाहिये ॥ १०३ ॥ इसलिये हे बुद्धिमान् ! हिंसाको छोडकर तथा हिंसा आदिको पुष्ट करनेवाले शास्त्रोंको छोडकर अहिंसारूप धर्मको स्वीकार कर और जीवोंपर सदा दया कर ॥ १०४ ॥

इसी अहिंसाको पालन करनेके लिये सब पानी उसी समय छानकर काममें लाना चाहिये । नहाना, कपडे धोना, प्रक्षालन करना आदि सब काम उसी समयके छने हुए पानीसे करना चाहिये ॥ १०५ ॥ जो विना छने पानीसे स्नान आदि भी करते हैं उनसे जीवोंकी हिंसा होती है और जीवोंकी हिंसा होनेसे उनका अहिंसा व्रत नष्ट होजाता है ॥ १०६ ॥ हे धीमन् ! पशुओंको भी छना हुआ पानी ही देना चाहिये क्योंकि विना छने पानीमें अनंत जीवोंकी हिंसा होती है इस-लिये वह पशुओंको देने योग्य नहीं है ॥ १०७ ॥ हे धीमन् ! तुझे जलसे जो जो कार्य करने पडें उन सब कामोंमें अपना धर्म धारण करनेके लिये छना हुआ पानी ही काममें ला ॥ १०८ ॥ जिस वस्त्रसे पानी छाना जाय वह मोटा होना चाहिये, चिकना होना चाहिये और नया होना चाहिये तथा जितना वडा वर्तनका मुंह हो उससे तिगुना होना चाहिये, ऐसे वस्त्रको दुहराकर फिर उससे जल छानना चाहिये ॥ १०९ ॥

शास्त्रे दुष्टैर्यैं भोगसिद्धये । अंगीकृता च लोकैर्यैस्ते सर्वे यान्ति दुर्गतिम् ॥ १०० ॥ ये कुर्वन्ति स्वयं हिंसां परैः सकारयन्ति ये । दृष्ट्वा हिंसाप्रानद ये ते श्वभ्रे पतन्त्यधात् ॥ १०१ ॥ क्वचित्सर्पमुखाद्दैवादमृतं जायते नृणाम् । रात्रौ दिवाकरश्चैव न धर्मो जीवहिंसनात् ॥ १०२ ॥ हिंसया यदि जायेत धर्मो नाकं च निस्तुपः । तदा स्वर्गं प्रयात्येव म्लेच्छाश्चाखेटकारिणः ॥ १०३ ॥ त्यक्त्वा हिंसां च भो धीमन् ! शास्त्रं हिंसादिपोषकम् । अहिंसालक्षणं धर्मं कुरु त्वमंगिनां दयाम् ॥१०४॥ सद्यो गालितनीरेण स्नानं वस्त्रादि धोवनम् । प्रक्षालनं च यत्किंचित्तत्सर्वं कुरु भो बुध ॥ १०५ ॥ स्नानादिकं प्रकुर्वन्ति चागालित जलेन ये । अहिंसाख्य व्रतं तेषां जीव घाताद्विनश्यति ॥ १०६ ॥ गालयित्वा जलं दत्वा पशूनां यत्नतो बुधः । अगालितं न योग्यं स्यात्पातुं च जीवसक्षयात् ॥ १०७ ॥ यदेवोत्पद्यते कार्यं जलसाध्यं तदेव तत् । गालयित्वा जलं धीमन् कुरु त्वं धर्महेतवे ॥ १०८ ॥ वस्त्रेण स्थूलस्निग्धेन नूतनेनैव भो बुधाः । भाजनस्य द्विगु-

हे श्रावकोत्तम ! जिसमें कीडे पडगये हों ऐसे उडद, मूंग आदि धान कभी नहीं खाना चाहिये। क्योंकि ऐसे धान्योंके खानेसे जीवोंकी हिंसा होती है इसलिये धर्मपालन करनेके लिये इनको छोड देना चाहिये ॥११०॥ श्रावकोंको लकड़ी वा थप्पड आदिसे शत्रु, वालक, स्त्री अथवा कुत्ते आदि पशुओंको भी कभी नहीं मारना चाहिये ॥ १११ ॥ जो प्राणी अपने तथा दूसरोंके सुख दुःखादिकोंका विचार किये विना ही लकड़ी आदिसे अन्य जीवोंको मार देते हैं वे मनुष्य होकर भी राक्षसके समान हैं ॥ ११२ ॥ गृहस्थी लोगोंको अपना वैठना, सोना, चलना आदि सव काम आंखोंसे देखकर प्रयत्नपूर्वक करने चाहिये जिससे किसी जीवकी हिंसा न होने पावे ॥ ११३ ॥ यदि जीवोंकी रक्षा करनेमें प्रयत्न न किया जाय तो विना किसी जीवकी हिंसा हुए भी व्रतका भंग होजाता है और व्रतका भंग होनेसे भवभवमें कर्मबंध होता है ॥ ११४ ॥ जो गृहस्थ अपना हृदय दया पालन करनेमें लगाता है उसके अज्ञानसे यदि किसी जीवकी हिंसा भी हो जाय तो भी न तो उसके व्रतका भंग ही होता है और न कर्मका वंध ही होता है ॥११५॥ इसका भी कारण यह है कि गौतमादि ऋषियोंने धर्मका पालन करना वा व्रतोंका पालन करना भावपूर्वक वतलाया है इसलिये बुद्धिमान लोगोंको जीवोंकी रक्षा करनेमें सदा अपने भाव लगाते रहना चाहिये ॥ ११६ ॥ उत्तम श्रावकोंको जीवराशिको क्षय करनेवाले प्रमादको छोड़कर घरमें प्रतिदिन होनेवाले पांचों पापोंमें (चक्की, उखली, चूलि, बुहारी और पानी ये गृहस्थीके पांच सून वा पाप कहलाते हैं) जीवोंकी रक्षाका सदा प्रयत्न करना चाहिये ॥ ११७ ॥ व्रतोंकी रक्षाके लिये गृहस्थोंको अग्निके

णेन गालय त्व सदोदकम् ॥ १०९ ॥ मापमुद्गादिकं सर्वं धानं कीटादिसभृतम् । जीवहिंसाकर धर्मसिद्ध्यर्थं त्यज भो सुहृत् ॥ ११० ॥ शत्रवो वालका नार्य. पशवो मण्डलादयः। मुष्टियष्ट्यादिघातैश्च न हतव्या हि श्रावकैः ॥ १११ ॥ अविचार्य सुखं दु.ख स्वान्ययोर्यै च देहिन' । घ्नन्ति यष्ट्यादिभिस्तेपि मनुजत्वेपि राक्षसा. ॥ ११२ ॥ आसन शयनं सर्वं यत्नेन गमनादिकम् । निरीक्ष्य नयनाभ्यां च कुरुध्वं गृहिणः सदा ॥ ११३ ॥ कर्मबन्धो गृहस्थस्य व्रतभगो भवेद् ध्रुवम् । यत्नहीनस्य जीवादिरक्षणे च वधं विना ॥ ११४ ॥ दयायुक्त-गृहस्थस्य मृते जीवगणे क्वचित् । अजानात्कर्मवधश्च व्रतभंगो भवे भवे ॥ ११५ ॥ भावेन कथितो धर्मो व्रतं च गौतमादिभि. । तस्मा-द्भावो विधातव्यो बुधैर्जीवादिरक्षणे ॥ ११६ ॥ सूनादिके सदा यत्न कुरुध्व श्रावकोत्तमाः । प्रमाद हि परित्यज्य जीवराशिक्षयंकरे ॥ ११७ ॥ हुताशने गृहस्थैश्च यद्जीवादिविनाशके । महायत्नोपि कर्तव्यो व्रतरक्षादिहेतवे ॥ ११८ ॥ नीरं चागलितं येन पीतमजलि-

जलानेमें भी सबसे अधिक प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि अग्निके जलानेमें छहों कायके जीवोंकी हिंसा होती है ॥११८॥

इसी प्रकार जो एक अंजलिमात्र भी विना छना पानी पीता है और विना छने एक घडेसे भी नहाता है उसके पापोंको हम लोग जान भी नहीं सकते ॥ ११९ ॥ बुद्धिमान लोगोंको भगवान जिनेंद्रदेवकी पुजा, प्रक्षाल आदि करनेके लिये बहुत थोडे छने जलसे देखभाल कर स्नान करना चाहिये ॥ १२० ॥ बहुत कहनेसे क्या, थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि विद्वान् लोगोंको व्रत पालन करनेके लिये मनसे, वचनसे और शरीरसे जीवोंकी रक्षा करनी चाहिये ॥१२१॥

जो दुष्ट बलवान होकर दुर्बलोंको मारता है वह परलोकमें उसी जीवके द्वारा अनेक वार मारा जाता है ॥ १२२ ॥ अरे जो एक जरासे तृणके स्पर्शसे दुःखी होता है वह दूसरे जीवोंके शरीरपर किसप्रकार शस्त्र चलाता है ? ॥ १२३ ॥ जो मनुष्य निर्दयी हैं, जीवोंकी हिंसा करते रहते हैं वे मूर्ख अन्धे, कुबजे, वौने, अङ्ग उपाङ्गोंसे रहित, कोढ़ आदि अनेक रोगोंसे घिरे हुए, दरिद्री, चॅचल, देखनेमें घृणित भयानक, मूर्ख, होते हैं, दूसरोंके दास होते हैं, अत्यन्त दुःखी होते हैं, परभवमें थोड़ी आयु पाते हैं और चांडाल आदि नीच योनियोंमें उत्पन्न होते है ॥ १२४ ॥ जो मूर्ख और दुष्ट लकड़ी आदिसे पशुओंको मारते हैं वे भी अत्यन्त दुःखी होते हैं और मरकर उस पापसे परलोकमें तिर्यंच गतिमें ही जन्म लेते हैं ॥ १२५ ॥ जो दुष्ट जीव इस जन्ममें जीवोकी हिंसा करते हैं वे बुद्धिमानोंके द्वारा सदा निंदनीय गिने जाते हैं तथा कोढ आदि अनेक रोगोंको पाकर परलोकमें उस पापकर्मके उदयसे विषम नरकमें ही जन्म लेते हैं ॥ १२६ ॥ यह हिंसा

मात्रकम् । घटेनैव कृतं स्नान तस्य पाप न वेद्म्यहम् ॥ ११९ ॥ अतिशोकेन नीरेण निरीक्ष्य मूत्रसादिकम् । स्नानादिक प्रकर्तव्य बुधैः पूजादि हेतवे ॥ १२० ॥ बहुनोक्तेन किं साध्य कायवाङ्मनसादिभिः । जीवरक्षा कुरुध्व भो बुधा· श्रीव्रतसिद्धये ॥ १२१ ॥ सबलो दुर्बलो चात्र हन्ति यो दुष्टमानसः । सहेत परलोके स तस्माद्धिंसामनेकधा ॥ १२२ ॥ तृणेन स्पर्शमात्रेण किंचिदु खमवैति य । स कथ परजीवानामगे शस्त्र निपातयेत् ॥ १२३ ॥ अंधा कुब्जकवामनातिविकलाः कुष्ठादिरोगान्विताः । दारिद्रोपहता अतीवचपला बीभत्स-रूपा· शठा· । भृत्या दु खविपीडिता· परभवे चाल्पायुषः स्युर्ध्रुवं । मातगादिकुजातिष्वगिहननान्मदा नरा· निर्दया ॥१२४॥ ये घ्नन्ति दुष्टा हि शठा· पशूश्चऽयष्टयादिभिस्ते बहुदु·खपूर्णाम् । तिर्यग्गतिं यान्ति सदाप्यमुत्र । पापव्रजात्स्थावरजातियुक्ताम् ॥ १२५ ॥ कुर्वन्ति ये दुष्टधियश्च हिंसा, जीवस्य तेऽमुत्र बुधैर्विनिंद्या । कुष्ठ्यादिरोग प्रतिपद्य लोके । पतति श्वभ्रे विषमेऽतिपापात् ॥ १२६ ॥ हिंसा श्वभ्र-

नरककी देहली है, विद्वानोंके द्वारा सदा निदनीय है। रोग, क्लेश, भय आदि अनेक दुखोंकी जननी है, मूर्ख लोग ही इसको स्वीकार करते है, अनेक पापोंकी खानि है, स्वर्गका द्वार वन्द करनेके लिये अर्गल है, अपनेको दूसरोंको सवको दुःख देनेवाली है, बड़ी कठिनतासे छूटती है और मुक्ति लक्ष्मीको भय देनेवाली (दूर भगानेवाली) है। इसलिये हे भव्य! तू जीवोंपर दया कर इस पापमयी हिंसाको छोड़ ॥ १२७ ॥ हे भ्रात! तू समस्त जीवोंको अपने समान मानकर सव जीवों-पर दया कर, क्योंकि यह दया सवको सुख देनेवाली है। मुनि लोग भी इसकी सेवा करते हैं, मोक्षमार्गमें प्रवेश करानेके लिये यह अत्यन्त कुशल है। नरकरूपी घरको वन्द करनेके लिये अर्गल है, सद्धर्मरूपी निर्मल रत्नोंकी खानि है और स्वर्ग लोककी देहली है, ऐसा समझकर इसको सदा धारण करना चाहिये ॥ १२८ ॥ यह जीवोंकी रक्षा करनेवाला व्रत निर्मल सुखकी निधि है, धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है, सव सामितियोंसे सिद्ध होता है, तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं, यह निर्मल यशको देनेवाला है और स्वर्गमोक्षका कारण है। इसलिये हे भव्य! तू भी इस व्रतका सेवन कर ॥ १२९ ॥ जो बुद्धिमान इस अहिंसा अणुव्रतको समस्त अतीचारोंको छोडकर पालन करता है वह अवश्य ही सोलहवें स्वर्गमें जाकर उत्तम देव होता है ॥ १३० ॥

प्रश्न–हे मुने! इस अहिंसा अणुव्रतको निर्मल निर्दोष पालन करनेके लिये इस व्रतके जितने अतिचार हैं उन सवको मेरे लिये निरूपण कीजिये ॥ १३१ ॥

उत्तर–हे वत्स! तू चित्तको एकाग्रकर सुन। मैं केवल धर्मकी वृद्धिके लिये व्रतोंमें दोष उत्पन्न करनेवाले अती-

---

प्रतोलिका वुधजनैर्निंद्या शठै स्वीकृता। रोगक्लेशभयादिदु.खजननीं पापादिखानिं सदा। स्वर्गद्वारमहार्गला स्वपरयोर्वाधाकरा दुस्त्यजा। मुक्तिस्त्रीभयदा त्यज त्वमपि भो जीवेपु कृत्वा दयाम् ॥ १२७ ॥ भ्रात. सर्वसुखाकरा मुनिजनैः सेव्या दयां भो भज। मुक्तिद्वारप्रवेशमार्गकुशला श्वभ्रगृहेप्वर्गलाम्। सद्विद्यामलरत्नखानिपरमा नाकगृहे दीपिका। मत्वा जीवकदवक हि स्वसम सर्वेपु सत्त्वेपु वै ॥ १२८ ॥ अमलसुखनिधान धर्मवृक्षस्य मूल, सकलसमितिसाध्यं तीर्थनाथस्य सेव्याम्। विमलनियमकन्द स्वर्गमोक्षैकहेतोस्त्वमपि भज व्रत भो जीवरक्षाख्यमेव ॥ १२९ ॥ सर्वातिचारनिर्मुक्त अहिंसाख्यमणुव्रतम्। यो धत्ते मतिमान् सोपि याति षोडशम दिवम् ॥१३०॥ भवन्त्यणुव्रतस्यैव व्यतिचारा हि ये मुने। अहिंसाव्रतशुद्ध्यर्थं तान् सर्वान् मे निरूपय ॥ १३१ ॥ निश्चल स्ववशे चित्त कृत्वा त्वं शृणु श्रावक।

चारोंको कहता हूं ॥ १३२ ॥ इस अहिंसा अणुव्रतके बंध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध ये पांच अतिचार हैं। इन पांचो अतीचारोंको तू छोड ॥ १३३ ॥ पशुओंको रस्सी आदिसे मजबूत बांध देना (जिससे कि वे अग्नि आदि लगनेपर भी भाग न सकें) वह बंध नामका अहिंसाणुव्रतका पहिला अतीचार गिना जाता है ॥ १३४ ॥ जो नीच मनुष्य, स्त्री वा पशुओंको लकडी आदिसे मारते हैं उनको यह वध नामका दूसरा निंद्य अतीचार लगता है ॥१३५॥ जो बुद्धिहीन कान नाक आदि छेदा करते हैं उनके दुःख देनेवाला यह छेद नामका तीसरा अतिचार लगता है ॥ १३६ ॥ जो लोभके वश होकर पशुओंपर अधिक बोझ लाद देते हैं उसके दोप उत्पन्न करनेवाला अतिभारारोपण नामका अतीचार लगता है ॥ १३७ ॥ जो मनुष्य वा पशुओंका अन्नपान रोक देता है अथवा समयपर नहीं देता उसके अन्नपाननिरोध नामका पांचवां अतीचार लगता है ॥ १३८ ॥ जो भव्य इन समस्त अतीचारोंको छोडकर निर्मल अहिंसाव्रतको पालन करता है वह स्वर्ग वा राज्यादिके सुख भोगकर अंतमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥ १३९ ॥ जो बुद्धिमान् इस प्रथम अहिंसा अणुव्रतको पालन करता है वह देवोंके द्वारा भी पूज्य होता है और परलोकमें भी सुखी होता है तथा इस व्रतके न पालनेसे वह सदा दुःखी रहता है ॥ १४० ॥

प्रश्न—हे प्रभो ! इस अहिंसा अणुव्रतको पालन करनेसे किसको उत्तम फल मिला है उसकी कथा कृपाकर मेरे लिये कहिये ॥ १४१ ॥

व्यतीपातान् प्रवक्ष्यामि ते धर्माय मलप्रदान् ॥१३२॥ श्रृणु त्व बन्धवधच्छेदातिभारारोपणमेव हि । अन्नपाननिरोध च त्यजातिचारपचकम् ॥ १३३ ॥ रज्वादिभिः पशूना यो विधत्ते बधन दृढम् । अतिचारो भवेद्बंधो नाम तस्य व्रतस्य वै ॥ १३४ ॥ यष्ट्यादिभिर्मनुष्यस्त्रीपशूना हन्ति योऽधम. । भवेद्व्यतिक्रमस्तस्य वधो नाम विरूपकः ॥ १३५ ॥ ये कर्णनासिकादीना छेद कुर्वन्ति दुर्धिय. । व्यतीपातोऽति स्यात्तेषा छेदो नामा कुदुःखदः ॥ १३६ ॥ लोभादादधे पशूना य. प्रभाराधिरोपणम् । अतिक्रमो भवेत्तस्य व्रतस्य मलदायकः ॥१३७॥ पशूना यो नृणा धत्ते चान्नपाननिरोधनम् । अन्नपाननिरोध· स्यादतिचारोपि तस्य वै ॥१३८॥ कृत्स्नातिचारसत्यक्त यो धत्ते व्रतमंजसा । स्वर्गराज्यादिक प्राप्य क्रमाद्याति शिवालयम् ॥ १३९ ॥ आद्य व्रत विधत्ते यः प्राप्य पूजा सुरैरिह । नाक प्रयाति सोऽमुत्र तद्विना दुःखभाग् भवेत् ॥१४०॥ येन पूजा परिप्राप्ता अहिंसाव्रतरक्षणात् । भट्टारक ! कथा तस्य कृपा कृत्वा वदस्व मे ॥१४१॥ निधाय चित्तमेकाग्र

उत्तर–हे वत्स ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं इस अहिंसा अणुव्रतमें प्रसिद्ध होनेवालेकी सारभूत कथा संक्षेपसे कहता हूं ॥ १४२ ॥ इस अहिंसा अणुव्रतके पालन करनेमें यमपाल नामका चांडाल प्रसिद्ध हुआ है इसलिये अब मैं उसीकी पुण्य बढानेवाली कथा कहता हूं ॥ १४३ ॥

सुरम्यदेशके पोदनपुर नगरमें पुण्यकर्मके उदयसे महाचल नामका बलवान राजा राज्य करता था। उसका एक पुत्र था जो दुष्टबुद्धिवाला था और बल उसका नाम था ॥ १४४ ॥ किसी एक समय नंदीश्वरपर्वके दिनोंमें राजाकी आज्ञासे मंत्रीने आठ दिन पर्यंत जीवोंके न मारनेकी सब जगह घोषणा कर दी ॥ १४५ ॥ परंतु राजकुमार बल मांसासक्त था उस पापीने राजाके ही बागमें छिपकर राजाका ही मेढा मारा और उसका मांस पकाकर खाया ॥ १४६–१४७ ॥ मेढाके न मिलनेसे उसके मारे जानेकी बात राजाने सुनी और वह उस मेढाको मारनेवालेकी तलाश करने लगा ॥१४८॥ जिस समय कुमारने मेढा मारा था उस समय उस बागका माली एक वृक्षपर चढा हुआ था इसलिये उसने उस कुमारके पाप कर्मके उदयसे उसका सब कृत्य देख लिया था ॥१४९॥ रातको घर आनेपर उसने वह सब बात अपनी स्त्रीसे कही थी, क्योंकि उसने उस राजकुमारका सब कृत्य देख ही लिया था ॥१५०॥ राजाके किसी गुप्तचरने कानोंको दुःख देने-वाली वह सब बात सुन ली और जाकर राजाको सब-हाल ज्योंका त्यों सुना दिया ॥ १५१ ॥ सवेरा होते ही राजाने मालीको बुलाकर पूछा। उसने महाराजसे सब बात ज्योंकी त्यों यथार्थ कह दी ॥१५२॥ महाराजने विचार किया कि ऐसे

श्रृणु वत्स कथा तव। वक्ष्ये समासतः सारामहिंसाव्रतसभवाम् ॥१४२॥ विख्यातो यो भवेदत्र मातंगः प्रथमे व्रते। यमपालाभिधस्तस्य कथां वक्ष्ये शुभप्रदाम् ॥ १४३ ॥ सुरम्यविषये पुण्यात्पोदनाख्ये पुरे बली। महाबलो भवेद्राजा तस्य पुत्रः कुधीर्बलः ॥ १४४ ॥ अथ नदीश्वराष्टम्यां जीवामारणघोषणा। कृता राजाज्ञया लोके प्रधानैश्च दिनाष्टका ॥ १४५ ॥ बलनामकुमारेण मासासक्तेन मेढकः। राजकीयो हतः शीघ्रं कश्चिन्नरमपश्यता ॥ १४६ ॥ तस्यामिषं सुसंस्कार्य भक्षितं तेन तत्क्षणम्। राजोद्यानेपि प्रच्छन्ने नैव पापाढ्यचेतसा ॥१४७॥ राज्ञा रुष्टेन व्याकर्ण्य वार्ता तन्मरणोद्भवाम्। गवेषयितुमारब्धो मारको मेढकस्य यः ॥ १४८ ॥ मालाकारेण प्रोद्यानवृक्षोपरि स्थितेन वै। तन्मारण प्रकुर्वाणो दृष्टः पापोदयात् स्वयम् ॥१४९॥ गृहमागत्य रात्रौ हि स्वभार्यायाः निरूपितम्। दृष्टं तेनैव यत्तद्धि सर्वं राजकुमारजम् ॥ १५० ॥ प्रच्छन्नेन तदाकर्ण्य वचनं कर्णदुःखदम्। राज्ञश्चरपुरुषेण प्रोक्तं सर्वं विशेषतः ॥ १५१ ॥ आकारितः पुनः पृष्टो मालाका-

पुत्रसे क्या लाभ है जो जीवघात करे और राजाकी आज्ञाका उल्लंघन करे । यही विचार कर उसने यमपाल चांडालको आज्ञा दी कि वह मांसभक्षक राजकुमार बलको मार डाले ॥१५३-१५४॥ तदनन्तर वह राजकुमार वधस्थानमें पहुंचाया गया और उसी समय यमपाल चांडालको बुलानेके लिये सेवक लोग भेज दिये गये ॥१५५॥ कोतवालके सिपाहियोंको आते हुए देखकर चांडालने अपनी स्त्रीसे कहा कि "हे प्रिये ! ये आनेवाले मुझे पूंछें तो कह देना कि आज वह गांवको गया है।" इस प्रकार अपनी स्त्रीको समझाकर वह घरके एक कौनेमें छिप गया। उन सिपाहियोंने आते ही पूछा कि चांडाल कहां है? इसके उत्तरमें उसकी स्त्रीने उत्तर दिया कि आज वह गांवको गया है। चांडालीका यह उत्तर सुनकर सिपाहियोंने कहा कि "छी छी वह बडा पापी है और बहुत ही पुण्यहीन है। अरे ! आज वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित राजकुमार मारा जायगा इसलिये आज अनेक रत्न, बहुतसा सोना तथा और भी बहुतसी प्राप्ति होगी॥१५६-१५९॥ उन सिपाहियोकी यह बात सुनकर वह चांडाली अपने लोभको न दबा सकी और उस चांडालके डरसे उसने मुंहसे तो कपटपूर्वक यही कह दिया कि 'वह आज तो गांवको ही गया है, परन्तु उसने हाथके इशारेसे चांडालको दिखला दिया। इसके बाद उन सिपाहियोंने उस चांडालको बलात्कार घरसे निकाला और मारनेके लिये कुमार उसको सोंपा, परन्तु उस चांडालने कहा कि मैं आज जीवघात कभी नही कर सकता ॥१६०-१६२॥ इसके उत्तरमें कोतवालने कहा कि इस कुमारको मारनेकी राजाकी

रोऽपि तेन स' । प्रभाते तेन तत्सर्वं तस्य सत्य निरूपितम् ॥१५२॥ तेन पुत्रेण किं साध्य जीवघात करोति य । आज्ञामुल्लघन राज्ञ. प्रोक्तं चेति विचार्य वै ॥ १५३ ॥ यमाख्य तलवर त्व नवखण्ड प्रकारय । शीघ्र बलकुमार मे रुष्टेन मासभक्षकम् ॥ १५४ ॥ ततस्त मारणस्थाने नीत्वा भृत्याश्च प्रेषिता । आनेतु यमपालाख्य मातगं तेन तत्क्षणम् ॥ १५५ ॥ दृष्ट्वा तेनैव तानुक्त प्रिये त्व सुनिरूपय । एतेषा सोऽद्य मातगो गतो ग्राम सुनिश्चितम् ॥१५६॥ इत्युक्त्वा गृहकोणे ता प्रच्छन्न स स्वय स्थितः। आगत्याकारित तैश्च मातगस्तल-रक्षकै' ॥ १५७ ॥ मातग्या कथित तेपा सोऽद्य ग्राम गतो ध्रुवम् । तैरुक्त हि पापीऽय पुण्यहीन कुतो गत. ॥१५८॥ कुमारमारणे तस्य वस्त्राभरणमडिते । बहुरत्नसुवर्णादिलाभो भवति निश्चितम् ॥ १५९ ॥ तेपा वचनमाकर्ण्य तया मातगभीतया । द्रव्यादिलुब्धया सोऽपि दर्शितो हस्तसज्ञया ॥ १६० ॥ भणत्या मायया ग्राम गतश्चेति पुन पुन । ततो निस्सारितो गेहात् दृढात्तूर्णं स तै. स्वयम् ॥ १६१ ॥ मारणार्थं कुमारस्तै स तस्यापि समर्पित । तेनोक्त नाहमद्यैव जीवघातं करोमि भो ॥ १६२ ॥ तैरुक्तमद्य घस्रे त्व कुमार हसि किं न भो।

आज्ञा है इसलिये तू इसे मार । तब चांडालेने कहा कि आज चतुर्दशीका दिन है, आजके दिन मेरे जीवोंके न मारनेका
नियम है ॥ १६३ ॥ यह सुनकर कोतवाल बहुत ही शीघ्र उस चांडालको राजाके पास ले गया और महाराजसे प्रार्थना की
कि हे महाराज ! यह चांडाल कुमारको आपका पुत्र समझकर नहीं मारता है ॥१६४॥ राजाने उस चांडालसे पूछा कि तू
इस कुमारको क्यों नहीं मारता है ? तब चांडालेने कहा कि हे प्रभो ! मेरी एक छोटीसी कथा सुन लीजिये ॥१६५॥
"किसी एक दिन मुझे सर्पने काट लिया था और मैं उसके विषसे मूर्छित होगया था, तब मेरे भाई बंधु आदि कुटुम्बियोंने
मुझे मरा समझकर स्मशानमें लाकर पटक दिया था ॥१६६॥ वहांपर एक सर्वौषधि ऋद्धिको धारण करनेवाले मुनिराज विरा-
जमान थे, उनके शरीरको स्पर्श करनेवाली वायु मेरे शरीरपर लगी और शुभ कर्मके उदयसे मैं जीवित होगया ॥१६७॥
जीवित होते ही मैंने परमोपकार करनेवाले उन मुनिराजसे व्रत लिया था कि मैं चतुर्दशीके दिन किसीकी हिंसा नहीं करूंगा।
इसीलिये हे देव ! स्वर्ग-मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिये और पर्वके दिनोंमें समस्त पापोंको शांत करनेके लिये आज मैं उसे
कभी नहीं मारूंगा" ॥१६८—१६९॥ राजाने सोचा कि 'यह अस्पृश्य चांडाल है इसके ऐसा उत्तम व्रत कहांसे होसकता है'
यही सोचकर राजाने कड़े शब्दोंमें कहा कि "हे कोतवाल ! ये दोनो ही दुष्ट हैं इसलिये इन दोनोंको रस्सी आदिसे खूब
अच्छी तरह बांधकर शिशुमार नामके भयंकर सरोवरमें पटक दो ! ॥१७०—१७१॥ राजाकी यह आज्ञा सुनकर वह चांडाल
विचार करने लगा कि "प्राणोंका त्याग कर देना अच्छा, परंतु व्रतका भंग करना अच्छा नहीं, क्योंकि व्रत भंग करनेसे

चतुर्दशीदिने प्राह ध्रुवं स नियमोस्ति मे ॥ १६३ ॥ ततः तूर्णं तलारैः स नीत्वा राज्ञो निरूपित । देवाय तव पुत्रं त नैव मारयति स्फुटम् ॥६४॥ राजा ब्रूते हि मातंग त्व पुत्रं हंसि किन्न वै । तेनोक्त श्रृणु भो देव ! काचिन्मम कथा वराम् ॥१६५॥ एकदा सर्पदष्टोऽहं मूर्छितो बाधवादिभिः । स्मशाने परिनिक्षिप्तो नीत्वा च मृतकं यथा ॥ १६६ ॥ सत्सर्वौपधर्द्धिमुनेः शरीरस्पर्शिवायुना । त्यक्तदेहस्य तत्रैव जीवितोहं शुभोदयात् ॥ १६७ ॥ पार्श्वे तस्य मुनीन्द्रस्य गृहीतं हि मया व्रतम् । चतुर्दशीदिने सारं सर्वजीवाभयप्रदम् ॥१६८॥ अतो देव ! तमद्याहं मारयामि न निश्चितम् । स्वर्गमुक्तिसुखायैव पूर्वपापादिशान्तये ॥१६९॥ व्रतमस्पृश्यचांडालस्यापि सारं कथं भवेत् । इति सचिन्त्य रुष्टेन राज्ञा प्रोक्तं विरूपकम् ॥१७०॥ एतयोश्चण्डकर्म त्वं बंधयित्वा विबंधनैः। शिशुमारह्रदे नीत्वा निक्षेपं कुरु दुष्टयोः ॥१७१॥ जीवितव्य भवेद्रू यत्र व्रतं त्यक्त्वाति-वरं प्राणपरित्यागो न च भंक्तुं क्वचिद्व्रतम् । व्रतभंगोऽतिदुःखाय प्राणाः सन्ति भवे भवे ॥१७२॥

जन्म जन्ममें दुःख प्राप्त होते हैं और प्राण तो प्रत्येक भवमें प्राप्त होते रहते हैं। व्रतकी प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है, ऐसे प्राप्त हुए व्रतको छोडकर जीवित रहनेसे क्या लाभ है? इसलिये प्राण भले ही चले जाओ, परंतु मैं अपने व्रतको कभी नहीं छोड सकता।" हृदयमें ऐसा निश्चय कर वह धीर वीर चांडाल अपने व्रत पालनेमें तत्पर बना रहा और अपने प्राणोंका भय छोडकर सिंहके समान निर्भय बना रहा ॥ १७२–१७५ ॥ तदनंतर उस कोतवालने उन दोनोंको अच्छी तरह बांधकर उस सरोवरमें पटक दिया। चांडाल अपने व्रतमें अचल रहा था इसलिये उसके व्रतके माहात्म्यसे उसी समय जलकी देवी आई। आते ही उसने उस जलके मध्यमें ही एक मणियोंका मंडप बनाया। उसमें एक सिंहासनपर चांडालको विराजमान किया, दुंदुभी बाजे बजाये, प्रातिहार्य बनाये और पुकारकर कहा कि "हे चांडाल! तेरी जय हो, तू संसारमें बहुत अच्छा है, बहुत उत्तम है और तू ही धन्य है" इसप्रकार उस देवीने उस चांडालके व्रतकी बड़ी प्रभावना की ॥ १७६–१७७ ॥ उस अतिशयको सुनकर राजा भी दौडता आया, भयसे उसका सब शरीर कंपने लगा और उसने बार बार अपनी निंदा की ॥ १७८ ॥ राजाने आते ही उसकी प्रशंसा की, पूजा की, वस्त्राभूषणोंसे उसका सत्कार किया और अपने छत्रके नीचे बिठाकर स्वयं उसे स्नान कराया ॥ १७९ ॥ इस प्रकार वह चांडाल एक केवल अहिंसाव्रतके माहात्म्यसे राजाके द्वारा पूज्य हुआ, और देवोंके द्वारा पूज्य हुआ तथा मरकर स्वर्गमें देव हुआ ॥ १८० ॥ इस अहिंसाव्रतके प्रभावसे जब एक चांडालने इतना फल पाया तब फिर श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुआ भव्य पुरुष, मन वचन कायसे जीवोंकी दया पालन करता है,

दुर्लभम्। तेन मे पूर्यतामद्य प्राणान्ते न गृह्णामि तत् ॥ १७३ ॥ इति निश्चित्य चित्ते स धीरः सद्व्रततत्परः। त्यक्तप्राणः परित्यक्तभयः सिंह इव स्थितः ॥१७४॥ तेन निक्षिपितौ शीघ्रं दृढबंधनबंधितौ। मातंगव्रतमाहात्म्यादागता जलदेवता ॥ १७५ ॥ तयाशु जलमध्येपि कृतं सन्मणिमण्डपम्। सिंहासनं महाप्रातिहार्यं सदुंदुभिस्वनम् ॥ १७६ ॥ जयात्र भो सन्मातंग साधु साधु त्वमेव हि। धन्योऽसीति तया तस्य कृता व्रतप्रभावना ॥ १७७ ॥ तं प्रातिशयमाकर्ण्य स्वं विनिंद्य मुहुर्मुहुः। भयकंपितसर्वांगः स्वयं तत्रागतो नृपः ॥ १७८ ॥ प्रशस्य पूजयित्वा च विशिष्टस्तेन सत्कृतः। सदृश्य स्नापयित्वा च निजच्छत्रतले स्वयम् ॥१७९॥ एवं चादि व्रतेनैव मातंगोऽपि दिवं गतः। अमुत्रात्र परिप्राप्य पूजां राज्ञा सुरेण स ॥१८०॥ यो भव्यो सत्कुलोत्पन्नो धत्ते जीवदयाव्रतम्। मनोवाक्काययोगेन फलं तस्य न वेद्म्यहम् ॥१८१॥ नृपजनसुरपूज्यो धीरवीरैकचित्तो, धृतप्रथमव्रतो यः कीर्तिलाभादिसारम्। अमलमिह समस्तं प्राप्य स्वर्गं गतो ना। स जयतु

अहिंसाव्रतको धारण करता है उसके फलको हम जान भी नहीं सकते ॥ १८१ ॥ देखो धीर वीर और सिंहके समान निर्भय यमपाल चांडालने एकाग्रचित्तसे प्रथम अहिंसाव्रतका पालन किया था इसलिये वह राजा और देवोंके द्वारा पूज्य हुआ, संसारमें उसकी निर्मल कीर्ति हुई और सवतरहकी महिमाको पाकर अंतमें स्वर्गका देव हुआ। इसलिये यह अहिंसाव्रत सवको पालन करना चाहिये ॥ १८२ ॥ हे वत्स ! इसप्रकार तुझे सर्वोत्तम अहिंसाव्रतका फल वतलाया। अव आगे विना दयाके जो दोष होते हैं उन्हें कहता हूं तू सुन ॥ १८३ ॥

विना दयाके धनश्रीने वहुत दिनों तक अपार दुःख पाया था इसलिये भव्य जीवोंको उस निर्दयताके पापसे भय उत्पन्न करनेवाली उसकी कथा कहता हूं ॥ १८४ ॥ लाट देशके भृगुकक्ष नामके नगरमें पुण्य-कर्मके उदयसे श्रीमान् राजा लोकपाल राज्य करता था ॥१८५॥ उसी नगरमें एक धनपाल नामका वैश्य रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था। उन दोनोंके सुन्दरी नामकी पुत्री थी और गुणपाल नामका एक पुत्र था ॥ १८६ ॥ पहिले किसी समय धनश्रीने एक कुंडल नामके वालकको पुत्र समझकर पाला था और उसपर उसका वहुत मोह था ॥१८७॥ परन्तु धनपालके मरनेपर वह दुराचारिणी धनश्री उसी कुंडलके साथ कामक्रीड़ा करने लगी ॥१८८॥ धनश्रीके पुत्र गुणपालने अपनी माताका यह सव दुराचार जान लिया इसलिये धनश्रीको उससे कुछ डर लगा और उसने कुंडलसे कहा कि "हे कुंडल! मैं सवेरे ही गुणपालको गायें चरानेके लिये जंगलमें भेजूंगी सो तू वहां जाकर गुणपालको मार आना। गुणपालके मारनेसे फिर हमारे तुम्हारे एक स्थानपर रहनेमें कोई वाधा नहीं होगी।" धनश्रीकी यह वात सुंदरीने भी सुन ली और उसने उसी समय अपने भाई

यमपालो नाम मातगसिंहः ॥ १८२ ॥ अहिंसाव्रतसारस्य प्रतिपाद्य फल तव । वक्ष्येऽहं शृणु भो वत्स दोष जीवदया विना ॥ १८३ ॥ कृपा विना धनश्रीर्या प्राप्तदु खपरम्परा । कथा तस्या हि वक्ष्यामि भव्यलोकभयप्रदाम् ॥१८४॥ लाटदेशेऽतिविख्याते भृगुकक्षाख्यपत्तने । लोकपाल नृप श्रीमान् वभूव पुण्ययोगत ॥१८५॥ वणिक् स्याद्धनपालोऽत्र धनश्रीस्तस्य वल्लभा । तयोश्च सुन्दरी पुत्री गुणपालाभिध सुतः ॥१८६॥ पूर्वं धनश्रिया योऽपि पुत्रवुद्ध्याऽतिपोपित । मोहेन पुत्रकालेऽपि कुण्डलाख्योति वालकः ॥१८७॥ धनपाले मृते पश्चात्तेनैव सह रूपिणा । करोति कामक्रीडा सा दुष्टाचारैकमानसा ॥ १८८ ॥ गुणपालेन तज्ज्ञात अपायाश्चेष्टित ध्रुवम् । प्रोक्त धनश्रिया जार प्रतिशंकितया स्वयम् ॥१८९॥ रे कुण्डल ! प्रभातेऽहं चारयितु स्वगोधनम् । अरण्या प्रेषयामि त्व गुणपाल हि मारय ॥१९०॥ येनाव-

गुणपालसे कहा कि भाई माता आज तुझे गाय चरानेको भेजेगी और कुंडलके हाथसे तुझे मरवावेगी। वह ये सब बात रातमें कुंडलसे कह रही थी इसलिये तूं खूब सावधान रहना ॥ १८९–१९३ ॥ सवेरा होते ही धनश्रीने गुणपालसे कहा कि हे पुत्र आज कुंडलका शरीर ठीक नहीं है इसलिये आज जंगलमें जाकर गायोंको तू ही चरा ला। माताकी यह बात सुनकर गुणपाल सब गायोंको लेकर जंगलमें चला गया ॥ १९४–१९५ ॥ वहां जाकर उसने अपने सब कपड़े एक लकडीको पहिनाये। उसे सोती हुई बनाकर ऊपरसे उढ़ाकर आप छिप गया और दूरसे ही माताकी चेष्टा देखने लगा ॥१९६॥ कुंडल आया, उसने कपडोंसे गुणपाल समझकर तलवारका वार किया। गुणपाल यह सब कुछ देख ही रहा था इसलिये वह झट निकल आया और तलवारसे कुंडलको मारकर स्वयं घर आगया ॥ १९७–१९८ ॥ गुणपालके घर आते ही धनश्रीने उससे पूछा कि कुंडल कहां है ? इसके उत्तरमें गुणपालने कहा कि उसकी बात मेरी तलवार जानती है ॥१९९॥ धनश्रीने देखा कि गुणपालकी तलवार रक्तसे लाल हो रही है तब उसे बडा क्रोध आया और उसने उसी तलवारसे विना किसी दयाके गुणपालको मार डाला ॥ २०० ॥ गुणपालको मारते हुए देखकर सुंदरीको भी भाईका स्नेह उमड़ आया और धनश्रीके पाप कर्मके उदयसे सुंदरीने भी मूसलोंसे धनश्रीको खूब मारा ॥ २०१ ॥ पीछे बहुत कोलाहल हो गया, कोतवाल भी आगया और वह उसे बांधकर सब कुटुंबियोंके साथ राजाके सामने ले आया ॥ २०२ ॥ राजाने

योरेक स्थान भवत्येव निरकुशम् । ब्रुवाण मातर श्रुत्वा जगौ तत्सुन्दरी स्वयम् ॥ १९१ ॥ हे बाधवाद्य यामेपि पश्चिमे निशि गोधनम् । गृहीत्वा प्रेषयित्वा च माता त्वा मारयिष्यति ॥ १९२ ॥ अटव्या कुण्डलस्यैव हस्तेन कूटयोगत' । अतस्तत्राधुना त्व हि सावधानो भव स्वयम् ॥ १९३ ॥ यामे धनश्रिया रात्रौ पश्चिमे भणितोगज. । हे पुत्र ! कुडलस्याग वर्ततेऽति विरूपकम् ॥१९४॥ अतो व्रज गृहीत्वा त्व गोधन प्रसरे स्वयम् । तस्या वचनतस्तेन तत्र नीत तदेव हि ॥१९५॥ काष्ठ पिधाय वस्त्रेण भूत्वा तत्र तिरोहितः । स्थितोऽन्वेषयितु मातुश्चेष्टित सोऽतिमूढतः ॥ १९६ ॥ आगत्य कुण्डलेनैव कृतो घातोऽसिना स्वयम् । मत्वेति गुणपाल तत् काष्ठे सद्वस्त्रकपिते ॥१९७॥ ततो घादगुणपालेन मारितः सोऽतिदुष्टधीः। खड्गेनैव पुनः गेहमागत' स्वयमेव सः ॥१९८॥ ततो धनश्रिया पृष्ठो गुणपालः क्व कुडलः। तेनोक्त तस्य वार्ता मे खड्गो जानाति तत्त्वत' ॥ १९९ ॥ ततो रक्तसमालिप्त खड्गमालोक्य कोपतः । तया तेनैव खड्गेन हतः पुत्रो दया विना ॥ २०० ॥ दृष्ट्वा ता मारयन्तीं स्वस्यांबा बाधवस्नेहतः । हता सा मुशलेनैव सुन्दर्याः पापयोगत' ॥ २०१ ॥ पश्चात्कोलाहले

पुत्री सुंदरीके मुखसे सब बातें सुनीं और क्रोधित हो उसने बहुत ही बुरा और बहुत ही कठोर दंड दिया ॥ २०३ ॥ उसने नाक कान कटाकर काला मुंहकर गधेपर चढाकर शहरमें फिरवाई । इसप्रकार उसी समय उपार्जन किये हुए पाप-कर्मके उदयसे राजाके द्वारा दिये हुए महा घोर सब दुःखोंका अनुभव कर वह दुष्ट धनश्री अनेक दुःखोंसे भरी हुई दुर्गतिमें जा उत्पन्न हुई ॥ २०४–२०५ ॥ इसप्रकार धनश्रीने अपनी दुष्ट चेष्टासे और हिंसा नामके महा पापसे इस लोकमें भी घोर दुःख पाया और परलोकमें भी उसे अत्यंत निंद्य गतिमें जन्म लेना पड़ा ॥ २०६ ॥ नारद आदि और भी ऐसे बहुतसे मनुष्य हुए हैं जो हिंसामें प्रेम रखनेके कारण नरकमें गये हैं उन सबकी कथा कहना भी सामर्थ्यसे वाहर है ॥ २०७ ॥ देखो धनश्रीने निडर होकर जीवहिंसा की थी और दुराचरण किया था इसलिये उस पापके फलसे उसे अनेक दुःखोंसे भरी हुई और समस्त अनिष्ट संयोगोंसे परिपूर्ण ऐसी दुर्गतियोंमें जन्म लेना पड़ा था । इसलिये हे भव्य ! यदि तू दुःखोंसे डरता है तो तू भी सब तरहकी हिंसाका त्याग कर ॥ २०८ ॥

इसप्रकार आचार्य सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें आठ मूलगुण, सात व्यसन और अहिंसाव्रतको निरूपण करनेवाला तथा यमपाल चाडाल और धनश्रीकी कथाको कहनेवाला यह बारहवा परिच्छेद समाप्त हुआ ।



जाते कोटवालैरघोदयात् । राजाग्रे सा समानीता धनश्री' वाधवै समम् ॥ २०२ ॥ वृत्तात सर्वमाकर्ण्य राज्ञा पुत्रीमुखात्स्वयम् । दत्तो दडो महाघोर कोपादस्याः महाशुभः ॥ २०३ ॥ सत्कर्णनासिकाछेदगर्दभारोहणादिकम् । तत्कालार्जितपापस्य प्रोदयेन कुदु खद ॥२०४॥ अनुभूय महाघोर तत्सर्वं दुःखमजसा । दुर्गतिं दु.खसकीर्णा दुष्टध्यानेन सा गता ॥ २०५ ॥ इति घोरतर दुःखं इहामुत्रादि निंदिता । हिंसादोषेण सप्राप्ता धनश्रीर्दुष्टचेष्टया ॥ २०६ ॥ अन्येपि वहव' श्वभ्र गता ये नारदादय' । हिंसानुरागतस्तेषां कथां को गदितु क्षमः ॥ २०७ ॥ अशुभसकलपूर्णां दुर्गतिं दु.खदीप्तां, दुरितधनप्रसगा जीवहिंसादियोगात् । अतिकुचरणदोषात् सा धनश्रीर्गता त्व, त्यज सकलबध भो दुःखभीतो यदि त्वम् ॥ २०८ ॥

इतिश्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे अष्टमूलगुणसप्तव्यसन प्रथमहिंसाविरातिव्रत समागत मातग-धनश्रीकथाप्ररूपको नाम द्वादशम' परिच्छेद ।

अथ तेरहवां परिच्छेद ।

जिनकी आत्मा अत्यन्त निर्मल हैं, जिन्होंने समस्त कर्मोंको नष्ट कर दिया है, और गणधरादि निर्मल पुरुष भी जिन्हें वंदना करते है ऐसे श्री विमलनाथ भगवानको मैं अपने पापकर्मोंको नाश करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥१॥ ऊपरके सर्गमें अहिंसाव्रतका निरूपण किया । अब आगे समस्त जीवोंका हित करनेके लिये और श्रेष्ठ व्रतोकी सिद्धिके लिये उत्तम सत्य व्रतको कहता हूं ॥२॥ सज्जन पुरुषोंने अहिंसा व्रतकी रक्षा करनेके लिये ही सत्यव्रतका निरूपण किया है। यह व्रत गृहस्थोके लिये सारभूत व्रत है और भाषासमितिसे परिपूर्ण है ॥३॥ जो न तो स्थूल झूठ स्वयं बोलते हैं न दूसरोंसे बुलवाते है और न किसीके द्वारा बोले हुए झूठकी अनुमोदना करते हैं उनके यह सत्यव्रत होता है ॥४॥ विद्वान् गृहस्थोंको सबका हित करनेवाला, थोड़ा और मधुर वचन कहना चाहिये, किसीकी निंदा नहीं करनी चाहिये और सब जीवोंको सुख देनेवाले वचन कहने चाहिये ॥५॥ हे भव्य! तू सदा ऐसे वचन कह जिनसे अपने आत्माका कल्याण हो, जो धर्मके कारण हों, यश देनेवाले हों, और पापोंसे सर्वथा रहित हों ॥६॥ विद्वान् लोगोको अन्य जीवोंका हित करनेवाले, रागद्वेषसे रहित, सारभूत और धर्म वा संवेगको वढ़ानेवाले वचन ही सदा कहने चाहिये ॥७॥ विद्वान् लोग सदा आगमके अनुसार, अनिंद्य, विकथादिकसे रहित, धर्मोपदेशसे भरे हुए ही वचन कहते है ॥८॥ जो दूसरोंके हितके लिये कुछ कठिन वाक्य भी कहे जाते हैं अथवा दूसरोकी रक्षा वा हितके लिये असत्य भी कहा जाता है वह सब भगवान जिनेंद्रदेवने सत्य

अथ त्रयोदशमः सर्गः ।

विमल विमल वन्दे विमलेश्वरवदितम् । नष्टकर्ममल देव पापदुर्मलहानये ॥ १ ॥ अहिंसाव्रतमाख्याय सत्यसज्ञ व्रतं परम् । सर्वलोकहितार्थं च वक्ष्ये तद्व्रतसिद्धये ॥ २ ॥ अहिंसाव्रतरक्षार्थ द्वितीय सद्व्रत जिनै' । कीर्तित गृहिणा सार भाषासमितिसयुतम् ॥३॥ ये वदन्ति न च स्थूलमलीक वादयन्ति न । परैर्न चानुमन्यन्ते तेषा सत्यव्रत भवेत् ॥ ४ ॥ हित ब्रूयान्मित ब्रूयाद् ब्रूयात्सन्मधुर वच. । बुधैर्निंदादिसत्यक्त सर्वसत्त्वसुखप्रदम् ॥ ५ ॥ हितं स्वस्य भवेद् यत्तद् वचन धर्मकारणम् । यशःप्रद च पापादित्यक्त वद त्व सर्वदा ॥६॥ परस्यापि हित सार रागद्वेषविवर्जितम् । वक्तव्य च बचो नित्यं धर्मं सवेगद बुधैः ॥ ७ ॥ आगमोक्तमनिंद्य च विकथादिपराङ्मुखम् । धर्मोपदेशनायुक्त वदन्ति सद्वचो बुधा' ॥ ८ ॥ हितमुद्दिश्य यत्किंचिदुक्त भो कठिन वचः । असत्य वा परस्यापि तत्सत्य गदित जिनैः

ही बतलाया है ॥ ९ ॥ जो दूसरोंको दुःख उत्पन्न करनेवाले हों, कानोंको दुःख देनेवाले हो, और जीवोंका वध वा बंधन करनेवाले हों ऐसे सत्य वचनोंको भी विद्वान लोग असत्य ही कहते हैं ॥१०॥ सत्यरूपी सारभूत अमृत वचनोंसे जीवोंको यश प्राप्त होता है, प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और धर्मकी प्राप्ति होती है और असत्य वचनोंसे वध बंधन आदि अनेक प्रकारके दुःख प्राप्त होते है ॥ ११ ॥ इस संसारमें जब सब जीवोंको सुख देनेवाले, सबका हित करनेवाले, और पूज्य ऐसे सत्य-रूपी अमृत वचन उपस्थित है फिर भला ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो निंद्य, कठोर और झूठ वचनोंको कहे ॥ १२ ॥ जो पुरुष सदा सत्य वचनोंकी सीमामें ही रहता है कभी असत्य नही बोलता, उसे अग्नि सर्प आदि कोई भी पीड़ा नही दे सकते ॥ १३ ॥ सत्य वचनोके ही कारण यह प्राणी इस संसारमें देव और मनुष्योके द्वारा पूज्य होता है तथा परलोकमें स्वर्ग मोक्षादिके सुख प्राप्त करता है ॥ १४ ॥ जो वाक्य कर्कश हों, कठोर हों, निंद्य हों, पापमय उपदेशसे परिपूर्ण हों, किसी मर्मको कहनेवाले हों, दूतपनेके कामको करनेवाले हों, धर्मसे रहित हो, दूसरोंको क्रोध उत्पन्न करनेवाले हों, कडवे हों, दूसरोंकी निंदा करनेवाले हो, अभिमान प्रगट करनेवाले हों, राग उत्पन्न करनेवाले हों, शोक करनेवाले हों, समस्त जीवोंको भय उत्पन्न करनेवाले हों, हंसी करनेवाले हों, कामोद्रेक उत्पन्न करनेवाले हो, मुनियोंमें दोष लगानेवाले हो, असत्य हो, दुख देनेवाले हों, विचार रहित हों, शास्त्रोंसे विरुद्ध हों, अपने गुणोंकी प्रशंसा करनेवाले हों, मूर्ख लोगोंको ठगनेवाले हों, धर्मविरुद्ध हों, देशविरुद्ध हों, कृष्णलेश्या आदिमें डुबानेवाले हों, विकथा आदिको सूचित करनेवाले हो, और नीच लोगोंके द्वारा कहनेयोग्य हों, हे मित्र ! ऐसे वचन कंठगत प्राण होनेपर भी नही कहने चाहिये । तू ऐसे वचनोका

॥ ९ ॥ परपीडाकर यत्तद्वच सत्कर्णदु खदम् । वधवंधादिक सत्यमसत्य गदित जिनै. ॥ १० ॥ सारसत्यामृतादगी यशः पूजादिकं भजेत् । सद्धर्मादिमसत्येन बधवधादिक च भो ॥११॥ सति सत्यामृते पूज्ये हिते सर्वसुखाकरे । अलीक कटुक निंद्य वचन को वदेत् सुधी ॥१२॥ सत्यसीमादियुक्तस्य वाऽसत्यरहितस्य वै । अग्निसर्पादया नैव पीडा कुर्वन्ति केचन ॥ १३ ॥ सत्येन वचसा प्राणी पूजनीयो भवेद्ध्रुवम् । नैरैर्दैवैरिहामुत्र स्वय मुक्त्यादिक श्रयेत् ॥ १४ ॥ कर्कश निष्ठुर निंद्य पापाढ्य मर्मसूचकम् । दूतकर्मकरं त्यक्तधर्मं चापरकोपदम् ॥१५॥ कटुकं परनिंदादियुक्त गर्वादिकारणम् । सराग शोकसम्पन्न सर्वजीवभयप्रदम् ॥ १६ ॥ हास्यादिप्रेरकं कामकारण . मुनिदूषितम् । असत्य दुःखदं त्यक्तविचार शास्त्रदूरगम् ॥ १७ ॥ आत्मगुणप्रशसादिकरं मूढप्रतारकम् । धर्मदेशविरुद्ध च कृत्स्नक्लेशादिसागरम् ॥ १८ ॥

सर्वथा साग कर ॥ १५–१९ ॥ असत्य वचन कह कह कर ही दुष्ट पुरुषोंने अनेक कुशास्त्र रचकर लोगोंको व्याकुल और धर्मसे परान्मुख कर दिया है ॥ २० ॥ झूठ बोल बोल कर ही अपने आत्माको तथा अन्य लोगोंको ठगनेवाले और धर्म मार्गसे ही द्रव्य कमानेवाले धूर्तोंने हठपूर्वक अनेक कुशास्त्रोंको रचा है ॥ २१ ॥ असत्य वचनोंके प्रभावसे ही जिनशासनके भीतर और जिनशासनके बाहर अनेक मत मतांतर उत्पन्न होगये हैं ॥२२॥ नीच मुखरूपी वामीमें जिह्वारूपी सर्पिणी रहती है वह असत्यरूपी हलाहल विषसे भरेहुए मुखसे अनेक लोगोंको खा डालती है ॥ २३ ॥ भिष्टा भक्षण कर लेना अच्छा, परंतु अपनी जिह्वासे हिंसा करनेवाले, पाप और दुःख उत्पन्न करनेवाले झूठ वचन कहना कभी अच्छा नहीं ॥ २४ ॥ इन तीनो लोकोंमें असत्य वचनोंके समान अन्य कोई पाप न आज तक हुआ है और न हो सकता है इसलिये हे मित्र ! विषैले सर्पके समान शीघ्र ही तू इसका साग कर ॥ २५ ॥ इस असत्य वचनके फलसे ही लोग गूंगे, बहिरे होते हैं, उनके मुंहमें अनेक रोग होजाते हैं, उनका स्वर बुरा होता है और वे मूर्ख होते हैं ॥२६॥ इसी प्रकार सत्य वचनके फलसे ज्ञान बढता है, विद्या बढती है, विवेक बढता है, अच्छा मीठा स्वर होता है, वचनकी चतुरता आती है, सभाको जीतनेवाला वादी होता है और अच्छा कवि होता है ॥ २७ । जो मनुष्य इस सत्यव्रतको अतीचार रहित पालन करता है वह स्वर्गादिकके तथा राज्यादिकके सुख भोगकर अंतमें मुक्तिलक्ष्मीका स्वामी होता है ॥ २८ ॥

विकथादिकरं सर्वनीचलोकोदितं वचः । त्यज त्वं सर्वथा मित्र प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ १९ ॥ असत्यवचनाल्लोको वराको व्याकुलीकृतः । रचयित्वा कुशास्त्रं भो खलैर्धर्मपरान्मुखैः ॥२०॥ मृषावादेन लोकोऽयं धूर्तैः स्वपरवंचकैः । धर्ममार्गात्सुद्रव्यार्थमुत्पथे पतितो हठात् ॥२१॥ जैनशासनमध्ये च बाह्ये श्रीजिनशासनात् । असत्यबलतो नूनं जाता सर्वे मतान्तराः ॥ २२ ॥ असद्वदनवल्मीके जिह्वाख्या सर्पिणी स्थिता । असत्यकुविषास्येन खादत्येव बहून् जनान् ॥ २३ ॥ अमेध्यभक्षणं श्रेष्ठं न च वक्तुं स्वजिह्वया । हिंसाकरं मृषावादं दुःखपापाकरं नृणाम् ॥२४॥ असत्यसदृशं पापं न भूतं न भविष्यति । नास्ति लोकत्रये तस्मात्त्यज त्वं हि विषादिवत् ॥ २५ ॥ नृणां मूकवधिरांहंसुपरोगादिसंचयम् । दुःस्वरत्वं च मूर्खत्वं जायतेऽनृतभाषणात् ॥ २६ ॥ ज्ञानं विद्या विवेकं च सुस्वरत्वं वचःपटुम् । वादित्वं सुकवित्वं च सत्याज्जीवा भजन्त्यहो ॥२७॥ अतिचारविनिर्मुक्तं सत्याख्यं यो व्रतं चरेत् । नाकराज्यादिकं प्राप्य मुक्तिनाथो भवेत्स ना ॥ २८ ॥ भो भगवन्नतीचारान् दया कृत्वा प्ररूपय । व्रतशुद्ध्यर्थमत्रैव सत्यव्रतमलप्रदान् ॥ २९ ॥ कृत्वा सुहृदयं वत्स सकलपादिविवर्जितम् । श्रृणु

प्रश्न—हे भगवन् ! इस व्रतको शुद्ध पालन करनेके लिये इस सत्य व्रतमें दोष उत्पन्न करनेवाले अतिचारोंको कृपाकर कहिये ॥ २९ ॥

उत्तर—हे वत्स ! तू हृदयके सब संकल्प—विकल्पोंको छोड़कर सुन ! तेरे लिये मैं उन अतिचारोंको कहता हूं ॥३०॥ मिथ्याउपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद ये सत्य व्रतमें दोष लगानेवाले पांच अतीचार गिने जाते हैं ॥ ३१–३२ ॥ जो अपने किसी कार्यकी सिद्धिके लिये अथवा द्रव्य कमानेके लिये झूठा उपदेश दिया जाता है सो मिथ्योपदेश नामका पहिला अतीचार गिना जाता है ॥३३॥ जो किसी द्रव्यके लोभसे अथवा अन्य किसी प्रयोजनसे स्त्री पुरुषोंके द्वारा अन्यथा अन्य किसीके द्वारा किये हुए छिपे कार्यको प्रगट करता है उसके वह रहोभ्याख्यान (एकांतमें किए हुए कार्यको प्रगट करना) नामका अतीचार कहलाता है ॥ ३४ ॥ जो किसी दूसरेको ठगनेके लिये झूठे लेख लिखता है उसके कूटलेखक्रिया नामका तीसरा अतीचार लगता है ॥३५॥ किसीके धरोहर रक्खे हुए धनमेंसे जो थोडा देता है उसमेंसे कुछ रख लेता है उसके न्यासापहार नामका चौथा अतीचार होता है ॥३६॥ जो किसी छल कपटसे अथवा किसीकी चेष्टा देखकर दूसरेके हृदयकी वातको जानकर उसे अन्य लोगोंके सामने प्रकाशित करता है वह साकारमंत्रभेद नामका पांचवां अतीचार कहलाता है ॥३७॥ जो पुरुष इन अतीचारोंको छोड़कर सत्य भाषण करता है वह स्वर्गादिकके सुख भोगकर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करता है ॥३८॥ संसारमें असत्य वचन अनेक कुगतियोंके कारण हैं, गूंगे, बहिरे आदि अनेक रोगोंके बीजभूत हैं, नरकमें प्रवेश करानेवाले हैं, स्वर्ग-मोक्षके अद्वितीय शत्रु हैं, अनेक कठिन दुःख देनेवाले हैं और पाप—संतापके

तेऽहं प्रवक्ष्यामि व्यतीचारान् व्रतस्य भो ॥३०॥ आद्यो मिथ्योपदेशश्च रहोभ्याख्यानसंज्ञक । कूटलेखक्रिया न्यासापहारश्च भवेत्तत ॥३१॥ साकारमंत्रभेदश्च व्यतीचारा भवन्त्यमी । पंचैवाप्यनृतत्यागव्रतस्य दोषदायकाः ॥३२॥ कार्यमुद्दिश्य यो सत्य उपदेशो हि दीयते । परस्य द्रव्यलाभार्थं सः स्यादादौ व्यतिक्रमः ॥ ३३ ॥ अनुष्ठित च प्रच्छन्नं स्त्री भर्तृभ्या प्रकाश्यते । प्राप्य लोकजनैर्यत्तद् रहोभ्याख्यानमुच्यते ॥ ३४ ॥ परस्य वचनार्थं यः कूटलेखादिकं लिखेत् । कूटलेखक्रिया नाम्ना भवेत्तस्य व्यतिक्रम ॥ ३५ ॥ न्यासात्स्वामिनो योऽपि धनं स्वल्प ददाति भो । अतिचारो भवेत्तस्य स्तोकमाहृत्य तत्स्वयम् ॥३६॥ गृहीत्वा परमर्थं यः प्रपंचेनापि चेष्टया । प्रकाशयति लोकाग्रे अतिचारं लभेत् सः ॥३७॥ एतद्दोषपरित्यक्तं सूनृतं यो वदेद्वचः । स एव संवर प्राप्य नाकं याति क्रमात् शिवम् ॥३८॥ सुबोधरगतिहेतु मूकरो-

बीज हैं इसलिये हे मित्र ! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये ऐसे असत्य वचनोंका सर्वथा त्यागकर ॥३९॥ इसी प्रकार सत्य वचन
नरकरूपी घरको बन्द करनेके लिये किवाड़ हैं, स्वर्ग-मोक्षके मित्र हैं, श्री जिनेन्द्रदेव और गणधरदेव भी इनकी सेवा करते हैं,
ये समस्त विद्याओंके देनेवाले हैं, अपने आत्माका परम कल्याण करनेवाले हैं, सर्वथा निर्दोष हैं और जीवोंकी हिंसासे
सर्वथा रहित हैं इसलिये हे वत्स ! आगामी सुख प्राप्त करनेके लिये तू भी ऐसे सारभूत सत्य वचनोंके भाषण करनेका
नियम ले ॥ ४० ॥ जो बुद्धिमान् स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सदा प्रतिष्ठित सत्य वचन कहते हैं वे इस लोकमें ही राजा
और देव विद्याधरोंके द्वारा पूज्य गिने जाते हैं ॥ ४१ ॥

प्रश्न—हे प्रभो ! इस सत्य व्रतके माहात्म्यसे जिसने इस संसारमें प्रतिष्ठा प्राप्त की है उसकी कथा कृपाकर मुझे
सुना दीजिये ॥ ४२ ॥

उत्तर—हे मित्र ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं मोक्ष प्राप्त करनेके लिये कल्याण करनेवाली धनदेवकी कथा तुझे
सुनाता हूं ॥ ४३ ॥ अनेक मनुष्योंसे भरे हुए इस जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें जैनधर्मसे अत्यन्त शोभायमान एक पुष्क-
लावती देश है। उसकी पुंडरीकिणी नगरीमें एक धनदेव नामका वैश्य रहता था। वह धनदेव सदा सत्य भाषण ही
करता था। उसी नगरीमें एक दुष्ट जिनदेव रहता था ॥ ४३-४४ ॥ किसी एक समय धनदेव और जिनदेव दोनों ही
व्यापारके लिये देशांतर गये उन्होंने विना किसी अन्यकी साक्षीके परस्परमें यह तय कर लिया था कि हमारे व्यापारमें जो
कुछ लाभ होगा उसे हम दोनों आधा आधा बांट लेंगे ॥ ४६ ॥ वहां जाकर उन्होंने पुण्यकर्मके उदयसे बहुतसा द्रव्य कमाया

त्यज सकलमसत्यं त्वं सदा मुक्तिहेतोः ॥ ३९ ॥ नरक-
गाढिबीज, नरकगृहप्रवेश स्वर्गमोक्षैकशत्रुम्। इहपरभवदुःख पापसन्तापबीज, त्वमपि वद सुसार सत्यवाक्य सुखाय
गृहकपाट नाकमोक्षैकमित्र, जिनगणधरसेव्य सर्वविद्याकर भो। स्वपरहितमदोष जीवहिंसादित्यक्त, सुसत्यव्रतमाहात्म्यात्प्राप्ता पूजेह
॥ ४० ॥ य सुधी स्वर्गमुक्त्यर्थं व्रत सत्यप्रतिष्ठितम्। धत्ते स पूज्यता याति चेहैव नृसुरासुरैः ॥४१॥ धनदेवभवा वक्ष्ये कथा
जन्मनि। प्रभो तस्य कथा सारा स्वदयया समाविश ॥ ४२ ॥ निधाय स्ववशे चित्त श्रृणु मित्र ! शुभप्रदाम्। नगर्यां पुडरीकिण्या
मुक्त्यै तवाद्य ताम् ॥ ४३ ॥ जम्बूद्वीपे जनाकीर्णे विदेहे पूर्वनामनि। पुष्कलादिवती देशे जैनधर्माकरे वरे ॥ ४४ ॥ निःसाक्षिका च व्यवस्था
धनदेवो वणिक् भवेत्। सत्यवाद्यपरस्तत्र जिनदेवोतिदुष्टधीः ॥४५॥ अर्द्धमर्द्ध स्वलाभस्य गृह्णीण्यावो धनम् इति।

और फिर वे दोनों शीघ्र ही लौटकर कुशलपूर्वक घर आगये ॥ ४७ ॥ जिनदेव दुष्ट था इसलिये घर आनेपर उसने धनदेवको आधा द्रव्य नहीं दिया किन्तु उसे थोड़ासा द्रव्य देना चाहा। इसलिये उन दोनोंमें परस्पर झगडा होगया। सो ठीक ही है क्योंकि मूर्ख लोग धनके लिये क्या क्या पाप नहीं करते हैं ? अर्थात् सब कुछ करते हैं ॥४८-४९॥ कोई साक्षी तो था ही नहीं इसलिये झूठ बोलनेवाले पापी जिनदेवने सब लोगोंके सामने, कुटुंबियोंके सामने और राजादिके सामने यही कहा कि मैंने इस व्यापारके लाभमेंसे इसे कुछ भी द्रव्य देना नहीं कहा था इसलिये मैं इसे उचित द्रव्यके सिवाय और कुछ अधिक नही दे सकता ॥ ५०-५१ ॥ धनदेव अपने सत्यव्रतमें निश्चल था इसलिये उसने राजा, कुटुंबी और वैश्योंके सामने परस्परमें तय हुए आधे आधे द्रव्यकी ही बात कही ॥ ५२ ॥ तब राजाने वह सब धन दोनोंसे लेकर जलती हुई अग्निमें रख दिया और कहदिया कि जो सत्यवादी हो वही अग्निमें जाकर ले आवे। धनदेव सत्यवादी और शुद्ध था इसलिये वह झट अग्निमें जाकर द्रव्यको ले आया तथा झूठ बोलनेके कारण जिनदत्त उस द्रव्यको न ला सका ॥५३॥ इसलिये वह सब धन राजाने धनदेवको ही सौंप दिया तथा राजाने व अन्य लोगोंने उनका यथेष्ट आदरसत्कार किया और संसारमें वह बहुत ही श्रेष्ठ और धन्य गिना गया ॥५४॥ यह बात देखकर अन्य लोगोने भी उसकी स्तुति की, पूजा की और उसे नमस्कार किया। इसप्रकार धनदेव सत्यके प्रभावसे संसारभरमें प्रसिद्ध हुआ ॥ ५५ ॥ देखो, वैश्यपुत्र धनदेव निर्मल सत्यवचनोंके ही प्रभावसे अनेक निर्मल गुणोंका निधि होगया था, धनाढ्य होगया था, राजाके द्वारा और अन्य संसारी लोगोंके द्वारा

तौ कृत्वा देशान्तर गतौ ॥ ४६ ॥ उपार्ज्य बहुशो द्रव्य पुण्यकर्मोदयादुभौ। व्याघुट्य कुशलेनैव स्वगृह प्रागतौ चिरात् ॥४७॥ जिनदेवोऽतिलोभार्थं न दत्ते दुष्टमानस.। स्तोक स्व धनदेवाय चौचित्येन ददाति वै ॥ ४८ ॥ ततो झकटिको जातस्तयोस्तत्र परस्परम्। मूढा द्रव्यार्थमेवाहो पाप कुर्वन्ति किं न हि ॥ ४९ ॥ नि साक्षिकबलाद्ब्रूते जिनदेवोदितपापधी। लोकस्वजनराजादीनामग्रेऽसत्यतत्पर ॥५०॥ मया नैवास्य लाभार्द्धं सद्द्रव्य भणित तदा। उक्त तदोचितं तस्मान्नाधिक प्रददाम्यहम् ॥५१॥ धनदेवो नृपादीनां स्वजनानां वणिग्वेशाम्। वदत्येव स्फुट सत्य सत्यव्रतप्रतिष्ठितम् ॥५२॥ ततो राज्ञा तयोर्दत्तं द्रव्य वन्हि समुद्धरन्। धनदेवोते शुद्धो भृदग्निना नेतरोऽनृतात् ॥५३॥ अतो हि धनदेवस्य धन सर्वं समर्पितम्। राज्ञानुपूजितः साधु कारितो भूतले शुभात् ॥५४॥ तथा सर्वजनैर्लोके संस्तुतोऽभ्यर्चितो नुत धनदेवोति विख्यातो जात सत्यप्रभावत ॥ ५५ ॥ अमलगुणनिधानो वैश्यपुत्रो धनाढ्यो, नृपतिजनगणैश्च लोकमध्ये स पूज्य। विमल

पूज्य होगया था और संसारमें उसकी निर्मल कीर्ति फैल गई, ऐसा सत्यवादी धनदेव सदा जयशील हो ॥ ५६ ॥ इसप्रकार सत्यवचनोंके गुणोंको सुनकर शिष्य फिर पूछनेलगा कि—

प्रश्न—हे भगवन्! सत्य वचनोके त्याग करनेमे किसको दुःख पहुंचा है उसकी कथा और सुना दीजिये ॥ ५७ ॥

उत्तर—इसके उत्तरमें आचार्य कहने लगे कि हे शिष्य! तू चित्त लगाकर सुन, अब मैं झूठ बोलनेवाले सत्यघोषकी भय उत्पन्न करनेवाली कथा कहता हूं ॥ ५८ ॥

इसी जंबूद्वीपके प्रसिद्ध भरतक्षेत्रमें एक सिंहपुर नगर है। उसमें राजा सिंहसेन राज्य करता था ॥ ५९ ॥ उसको सुख देनेवाली उसकी रानीका नाम रामदत्ता था। उसी राजाके एक श्रीभूति नामका अत्यंत कपटी पुरोहित था ॥ ६० ॥ वह अपने जनेऊमें एक कैंची बांधे फिरता था और लोगोंसे कहता फिरता था कि यदि कभी लोभसे मेरे मुंहसे कुछ झूंठ निकल जाता है तो मै इस कैंचीसे उसी समय अपनी जीभ काट डालता हूं। इसप्रकार वह प्रतिदिन अपना सब व्यवहार कपटपूर्वक ही करता था ॥ ६१—६२ ॥ परंतु उसका यह कपट किसीको मालूम नही हुआ था इसलिये उसका दूसरा नाम सत्यघोष पडगया था। तब बहुतसे लोग उसका विश्वास करने लगगये थे और उसके पास आआकर अपना धन धरोहर रखने लगगये थे ॥ ६३ ॥ परंतु जो द्रव्य रख जाते थे उनको वह कुमार्गगामी पुरोहित सब नही देता था, थोडा ही देता था। तथापि संसारमें उसके सत्यकी प्रसिद्धि हो रही थी इसलिये उससे कोई कुछ कह नहीं सकता था ॥ ६४ ॥ जो पुरुष उसके इस कृत्यको जान लेता था वह उसके सत्यकी प्रसिद्धिको सुनकर यही सोच लेता था कि "क्या

वचनसत्यात् प्राप्तएवात्र ख्यातिं, स जयतु धनदेव सत्यवादी गरिष्ठः ॥ ५६ ॥ गुण सत्यवचो जात श्रुत्वा शिष्य' प्रपृच्छति। भगवन् सत्यवाक्त्यागात्प्राप्त दु'खं च केन भो ॥५७॥ श्रृणु शिष्य प्रवक्ष्येऽहं कृत्वा सनिश्चल मनः। कथ्यते सत्यघोषस्य सत्यहीनस्य भीतिदम् ॥५८॥ जम्बूद्वीपे प्रसिद्धेस्मिन् क्षेत्रे सद्भारताभिधे। जातः सिंहपुरे राजा सिंहसेनो नृपाग्रणी ॥५९॥ सद्राज्ञी रामदत्ताख्या जाता तस्य सुखप्रदा। आसीत् क्षुद्रः परोधाश्च श्रीभूति' कपटान्वितः ॥ ६० ॥ सबध्वा कर्तिकां तीक्ष्णा ब्रह्मसूत्रे परिभ्रमन्। वदत्येवानृत किंचिद् ब्रवीमि यदि लोभत' ॥ ६१ ॥ तदा कर्तृकया जिन्हाछेदं स्वस्य करोम्यहम्। एव स वर्तते लोके कपटेनैव प्रत्यहम् ॥ ६२ ॥ सत्यघोषाव्हय तस्य जात नाम द्वितीयकम्। विश्रुतौ बहवो लोका' पार्श्वे तस्य धरन्ति स्वम् ॥ ६३ ॥ स्वल्प द्रव्य पुनस्तेषा स ददाति कुमार्गग'। ते पृत्कर्तु समर्था

॥ १०४ ॥ वहांपर वह दिव्य अग्निसे मरकर यहा पाप-कर्मके उदयसे किसी वनमें कुर्कुट नामका सर्प हुआ ॥१०५॥ वहांपर उसने किसी व्रती राजाको काटा था इसलिये मरकर नरकमें जा उत्पन्न हुआ। इसप्रकार केवल मिथ्या भाषण करनेसे अनेक दुःखोको भोगता हुआ वहुत दिनतक संसारमें-परिभ्रमण करता रहा ॥१०६॥ देखो केवल मिथ्याभाषण करनेसे ही सत्य-घोष पुरोहितने तीनो लोकोंमें निंद्य ऐसे घोर दु ख सहे, राजाके दिये हुए तीनों प्रकारके दंड सहे और फिर मरकर पापरूपी जलसे भरेहुए तथा अनेक दुःखोसे परिपूर्ण संमारसागरमें गोते खाये ॥ १०७ ॥ इस महा निंद्य असत्य वचनके फलसे जीवोंका घात करनेवाला मूर्ख राजा वसु आदि और भी अनेक जीव नरकमें गये है वे सब असत्य रूप महापापसे कलंकित थे इसलिये इस संसारमें उन सवकी कथा भी कोई नहीं कह सकता ॥ १०८–१०९ ॥ इस कथाको सुनकर विद्वान् लोगोंको इस लोक और परलोक दोनो लोकोमें दुःख देनेवाले असत्य वचन प्राणोंका नाश होनेपर भी कभी नहीं कहने चाहिये ॥ ११० ॥ हे वत्स ! यदि तुझे मोक्ष प्राप्त करना है तो तू सदा सत्य वचन ही वोल, क्योंकि संसारमे सत्य वचन ही समस्त श्रुतज्ञानको प्रगट करनेवाले हैं, कीर्तिरूपी वेलको वढानेके लिये अच्छे पानीके समान है, पुण्यरूपी वनके लिये वरसाती मेघ है, निर्मल सुखके समुद्र हैं, बुद्धि सिद्धिके देनेवाले है, शुभ गतिके कारण है और धर्मके स्वामी तीर्थंकर भी इसकी सेवा करते हैं। इसलिये तू सदा सत्य वचन ही वोल ॥ १११ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें सत्यव्रतका निरूपण करनेवाला तथा धनदेव और सत्यघोषकी कथाको कहनेवाला यह तेरहवा परिच्छेद समाप्त हुआ।

हि समाह्वयः । जातो वने महापापोदयाद्राजादिभक्षणात् ॥ १०५ ॥ ततो मृत्वा गत श्वभ्र सद्व्रतीयादखादनात् । ततो च दीर्घससारी जातो दु खाकुलोऽनृतात् ॥१०६॥ अनृतवचनयोगात्सत्यघोष पुरोधः, सकलभुवननिंद्य घोरदुःख प्रभुक्त्वा । नृपतिकृतकुदडान्मृत्युमासाद्य चाग्नौ, दुरितनलप्रपूर्णे दुःखदे वै भवाब्धौ ॥१०७॥ वसुराजादयोऽन्ये ये श्वभ्र च वहवो गता. । असत्यवचनान्निंद्याज्जीवघातकरा शठाः ॥१०८॥ गदितुं क: कथा तेषा समर्थोऽत्र महीतले । भूरिपापकृतानां स प्रलीकादिकलंकिताम् ॥१०९॥ इमा कथा समाकर्ण्य बुधै प्राणात्यये सदा । असत्य नैव वक्तव्य चेहामुत्राशुभप्रदम् ॥११०॥ सकलश्रुतकरं त्वं कीर्तिवल्लीसुनीरं, शुभवनघनमेव सेवित धर्मनाथै'। अमलसुखसमुद्रं बुद्धिदं सिद्धिद च । वद शुभगतिहेतु सत्यवाक्यं प्रमुक्त्यै ॥ १११ ॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्ति विरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे असत्यविरतिव्रत धनदेवसत्यघोष कथाप्ररूपकोनाम त्रयोदशम परिच्छेदः ।

अथ चौदहवां परिच्छेद ।

जो अनंत गुणोंके सागर हैं, अनंत गुणोंको प्राप्त हुए हैं और अनंत गुण देनेवाले हैं ऐसे श्री अनंतनाथ भगवानको मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ समस्त सुखोंके महासागर ऐसे सत्यव्रतका निरूपण हो चुका अब अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिये अचौर्यव्रतको कहते हैं ॥ २ ॥ श्री जिनेन्द्रदेवने उस अचौर्यव्रतको अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिये ही निरूपण किया है। यह व्रत सब दोषोंसे रहित है और यश देनेवाला है ॥ ३ ॥ जो धन धान्य आदि स्थूल पदार्थोंको मन वचन कायसे विना दिया हुआ ग्रहण नहीं करता है उसके यह अचौर्याणुव्रत कहलाता है ॥ ४ ॥ हे वत्स ! किसी वनमें, मार्गमें वा किसी घरमें पड़े हुए, भूले हुए, नष्ट हुए, स्थापन किये हुए, और धरोहर रक्खे हुए धनको दूरसे ही छोड ॥ ५ ॥ यदि तू उसके ग्रहण करनेका त्याग नहीं कर सकता, उसे नहीं छोड सकता तो उस धनको लेकर अपना पुण्य बढानेके लिये पूजा आदि कामोंके लिये श्री जिनालयमें दे देना चाहिये ॥६॥ इस संसारमें सर्पको पकड़ लेना अच्छा परंतु दूसरेका धन लेना अच्छा नहीं क्योंकि सर्पके पकड़नेमें एक जन्म ही नष्ट होगा किंतु दूसरेका धन लेनेमें असंख्य भवों तक दुःख प्राप्त होते रहते हैं ॥७॥ भीख मांगकर पेट भरलेना अच्छा परंतु दूसरेके द्रव्यको लेकर घी बूरेसे तर शालि चावलोंका खाना अच्छा नहीं ॥ ८ ॥ हलाहल विष खालेना अच्छा परंतु दूसरेका धन लेलेना अच्छा नहीं क्योंकि विष खानेसे एक ही जन्मका भय है किंतु दूसरेका धन लेनेमें उन्हें करोडों जन्मतक दुःख भोगना पडेगा ॥ ९ ॥ इस संसारमें जो दुष्ट दूसरेका थोडा

अथ चतुर्दशमः सर्गः ।

अनन्त श्रीजिन वन्दे अन्तातीतगुणप्रदम् । अनन्तगुणसम्प्राप्त्यै स्वानन्तगुणसागरम् ॥१॥ सत्य व्रत समाख्याय सर्वसौख्यमहार्णवम् । अदत्तविरति वक्ष्ये दयादि व्रतहेतवे ॥२॥ कृपासत्यादिरक्षार्थं अदत्तविरतिव्रतम् । प्रणीत जिननाथेन त्यक्तदोष यश प्रदम् ॥ ३ ॥ अदत्त यो न गृह्णाति स्थूल वस्तु धनादिकम् । मनोवाक्काययोगेन तत्तस्यास्तेयाणुव्रतम् ॥४॥ पतित विस्मृत नष्ट स्थापित निहित सदा । अरण्ये पथि वा गेहे परद्रव्यादिक त्यज ॥५॥ यदि त्यक्तु समर्थो न तदादाय धनादिकम् । पुजाद्यर्थं स्वपुण्याय ददस्व श्रीजिनालये ॥६॥ सर्पादान वर लोके भवैकप्राणनाशनम् । न चादान परस्व हि विसंख्यभवदु खदम् ॥ ७ ॥ वर भिक्षादनेनैव स्वस्योदरप्रपूरणम् । परद्रव्य समादाय न च शाल्योदनैर्नृणाम् ॥ ८ ॥ वर हालाहल भुक्त चैकजन्मभयप्रदम् । न परस्व व्यतीतान्त भवकोटि कुदु.खदम् ॥ ९ ॥

धन भी लेता है वह वध वंधनके अनेक दुःखोको पाकर अंतमें नरकका ही स्वामी होता है ॥ १० ॥ चोरी करनेवालेका हृदय न तो किसी वनमें स्वस्थ रहता है न किसी घरमें स्वस्थ रहता है न संसारमे कही स्वस्थ रहता है और न भोजन करनेमें कही जी लगता है क्योंकि उमे अपने मरनेकी, पकडे जानेकी आशंका सदा वनी रहती है ॥११॥ यदि चोरी करनेवाला अपना कुटुंवी ही हो तो उससे डरकर माता भी उसे छोडदेती है, पुत्री भी छोड देती है, पिता भी छोड देता है, स्त्री भी छोड देती है और भाई वंधु आदि सव कुटुंवी उसे छोड़ देते हैं ॥ १२ ॥ जो अनेक प्रकारके छल कपटोसे दूसरेका थोडा भी धन लेता है उसके घरका सव धन नष्ट होजाता है इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ १३ ॥ दूसरोंके वस्त्र आदिकी लालसा रखनेवाले कपटी चोरको चोर समझकर सज्जन लोग भी तृणके समान उसे मारते हैं ॥ १४ ॥

महापुण्यको प्रगट करनेवाली और तीनो लोकोंमें रहनेवाली ऐसी समस्त लक्ष्मी नीतिमार्गसे ही पुण्यवानके घर आ जाती है ॥ १५ ॥ अन्यायरूप आचरण करनेसे घरमें रहनेवाली लक्ष्मी भी उस पुण्यहीन मनुष्यके घरसे निकलकर धर्मात्माके घर चली जाती है ॥१६॥ यदि चोरीके व्यापारसे ही लक्ष्मी घरमें रहने लगे तो दुष्ट भील आदि चोर लोगोंके घर ही बहुतसा धन क्यो नही दिखाई देता ॥१७॥ जो पुरुष केवल धनके लिये सदोष व्यापार करता है वह कोढी होता है और भवभवमें दरिद्री होता है ॥ १८ ॥ जो पुरुष जिस किसी भी उपायसे दूसरेके धनको हरण करते है उनके हाथ पैर आदि अङ्ग उपाङ्ग काटे जाते है और अंतमें उन्हें सातवें नरकके दुःख भोगने पड़ते हैं ॥ १९ ॥ संसारी जीवोंको धन नष्ट होनेपर

अतिस्तोक परस्व यो लोके गृह्णाति दुष्टधी । वधवधादिक प्राप्य श्वभ्रनाथो भवेत्स वै ॥१०॥ अरण्ये वा गृहे लोके स्वस्थ चित्त न जायते। चौरस्य भोजने स्वस्य वाशक्य मरणादिकम् ॥ ११ ॥ चौर्यासक्त स्वजनं च मत्वा माता भयात्त्यजेत् । पुत्री च जनको भार्या बाधवाश्च त्यजन्ति भो ॥ १२ ॥ य· परश्रियमादत्ते प्रपचरचने परे । स्तोका· बहुतरा तस्य गृहात्सा याति निश्चितम् ॥१३॥ चौर विज्ञाय सन्तोऽपि घ्नन्ति तृणमिव निशम् । परवस्त्वादिकेऽत्यतलोलुप कपटान्वितम् ॥ १४ ॥ न्यायमार्गात्समायाति लक्ष्मीर्लोकत्रये स्थिता । पुण्याढ्यस्य गृह सर्वा महापुण्यविधायिनी ॥ १५ ॥ अन्यायाचरणात्सोपि स्थिता गेहात्प्रयाति वै । पुण्यहीनमनुष्यस्य धर्मवता गृहप्रति ॥ १६ ॥ स्थिति करोति सा गेहे चौरव्यापारतो यदि । भवन्ति किं धनाढ्या न दुष्टभिल्लादितस्कराः ॥१७॥ सदोषं व्यवसाय यो विधत्ते धनहेतवे। सकुष्ट त समायाति दारिद्र च भवे भवे ॥१८॥ येनकेनाप्युपायेन परद्रव्य हरन्ति ये। हस्तौ छेदादिक प्राप्य ते श्वभ्र यान्ति सप्तमम् ॥१९॥

अथवा मरनेपर जैसा दुःख होता है वैसा दुःख इस संसारमें और कहीं नहीं होता क्योंकि प्राण और धनके समान और कोई प्रिय है ही नहीं ॥२०॥ अरे ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो केवल दो मुट्ठी धान्योंके लिये चोरी ठगी आदिसे होनेवाले और अनेक दुर्गतियोंके दुःख देनेवाले पापोंको करे ॥२१॥ जो कुटुम्बी लोगोंके उपभोगके लिये दूसरोंका धन हरण करते हैं वे भी कुटुम्बको छोडकर नरकरूपी महासागरमें गोते खाते हैं॥२२॥ यह प्राणी जिस कुटुम्बके लिये धन लेता है वह कोढ आदि अनेक रोगोंको भोगता है, तथा विना कुटुम्बके केवल अकेला ही नरकके दुःख भोगता है ॥२३॥ यही समझकर हे भव्य! तू विषैले सर्पके समान अथवा अभक्ष्य भक्षणके समान असारभूत तथा पाप क्लेश और अपयशको देनेवाले दूसरेके धन ग्रहण करनेका त्यागकर ॥ २४ ॥ जो प्राणी संतोषपूर्वक सब अतीचारोंको छोड़कर उस अचौर्यव्रतको पालन करता है वह स्वर्गादिक सुख पाकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन ! मुझपर कृपाकर आज इस अचौर्य व्रतके सब अतिचारोंको कह दीजिये ॥ २६ ॥

उत्तर—हे धीमन ! व्रतोंकी शुद्धिके लिये मैं व्रतोंको दूषित करनेवाले पांचो अतिचारोंको कहता हूं, तू चित्त लगा कर सुन ॥ २७ ॥ स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध राज्यातिक्रम, हिनाधिक मानोन्मान, और प्रतिरूपक व्यवहार ये पांच अचौर्य व्रतके अतिचार श्री जिनेन्द्रदेवने कहे हैं ॥ २८–२९ ॥ चोरी करनेके लिये दूसरोंको उपदेश देना या चोरीके उपाय बतलाना अचौर्य व्रतका स्तेनप्रयोग नामका पहिला अतिचार है ॥ ३० ॥ अपने विना किसी उपदेशके जो चोर चोरी

नष्टे धने भवेद दुःख यादृश मरणेंगिनाम् । तादृश न च लोकेस्मिन्नत्यत प्राणवल्लभे ॥२०॥ अजलिद्वयधान्यार्थं क सुधी पापमाचरेत् । चौर्यकूटप्रयोगादिजात दुर्गतिदु खदम् ॥२१॥ कुटुम्बादिप्रभोगार्थं ये हरन्ति परश्रियम् । तेऽपि त्यक्त्वा कुटुम्ब तन्मज्जन्ति श्वभ्रसागरे ॥२२॥ यदर्थं धनमादत्ते कूटोपायात् शठो नर । तत्कुटुम्ब विना श्वभ्रे भुक्ते दुःख स केवलम् ॥२३॥ इति मत्वा परस्व भो त्यज सर्पविषादिवत् । अभक्ष्यमिव चासार पापक्लेशायश प्रदम् ॥२४॥ त्यक्त्वा सर्वानतीचारानस्तेय यो व्रत चरेत् । सतोषात्सोपि सम्प्राप्य स्वर्गं याति क्रमाच्छिवम् ॥२५॥ सन्ति स्वामिन्नतीचारा ये चाचौर्यव्रतस्य भो । निरूपयतु तान् सर्वानद्येवानुग्रहाय मे ॥ २६ ॥ शृणु त्व व्रतशुद्धयर्थं वक्ष्येऽतीचारपञ्चकम् । एकचित्तेन भो धीमन् ! सर्वव्रतमलप्रदम् ॥ २७ ॥ स्तेनप्रयोगश्च तदाहृतादान हि सभवेत् । ततो विरुद्धराज्यादिक्रमोपि तृतीयो मत ॥ २८ ॥ पश्चाद्धीनाधिकमानोन्माननाम प्ररूपित । जिनेन्द्रै प्रतिरूपेकव्यवहारोऽप्यतिक्रम ॥ २९ ॥ अन्येषामुपदेश यो

करके लाया है उसके धनको घरमें रख लेना तदाहृतादान (चोरीका धन ग्रहण करना) नामका दूसरा अतिचार है ॥३१॥ जो राजनीतिको छोड़कर व्यापार करता है और अधिक धन ग्रहण करता है उसके विरुद्ध राज्यातिक्रम नामका तीसरा अतिचार लगता है ॥३२॥ जो तौलनेके वांट और नापनेके गज पायली आदिको लेनेके लिये अधिक रखता है और देनेके लिये कम रखता है उसके हीनाधिक मानोन्मान नामका चौथा अतिचार लगता है ॥ ३३ ॥ जो उत्तम पदार्थोंमें कम कीमतके पदार्थ मिलाकर चलाता है और सुवर्ण हींग आदिको कृत्रिम बनाता है उसके प्रतिरूपक व्यवहार नामका अतिचार लगता है ॥ ३४ ॥ जो प्राणी इन सब अतिचारोंको छोड़कर और केवल एक संतोष धारणकर इस अचौर्यव्रतको पालन करता है उसके समस्त सम्पदा स्वयमेव आजाती है ॥ ३५ ॥ इस संसारमें दूसरेका धन ग्रहण करनेसे अनेक प्रकारके दुःख सहने पड़ते हैं, धर्मका विध्वंस होजाता है, यह पापरूपी वनको सींचनेके लिये मेघके समान है, दुःख और संतापोंका घर है, नरकरूपी घरका कुमार्ग है और धर्मरूपी वृक्षको जलानेके लिये अग्नि है इसलिये हे भव्य ! ऐसे इस परधनहरण करनेका तू सदा त्यागकर ॥ ३६ ॥ यह अचौर्य अणुव्रत सब दोषोंसे रहित है, संतोषकी जड़ है, यश और प्रसन्नताको बढ़ानेवाला है, स्वर्ग-मोक्षका कारण है, धर्म और व्रतोंका घर है और समस्त विद्वान् इसकी सेवा करते हैं इसलिये हे भव्य ! तू भी सदा इसका पालन कर ॥ ३७ ॥ जो प्राणी विना दिये हुए पदार्थोंको ग्रहण नहीं करता वह देवोंके द्वारा भी पूज्य होता है और जो विना दिये हुए दूसरेके धनको ले लेता है वह वध बंधन आदिके अनेक दुःखोंको भोगता है ॥३८॥

दत्ते चौर्यादिकर्मणि । अतीचारो भवेत्तस्य प्राद्यो व्रतविनाशकः ॥ ३० ॥ आनीतमुपदेशेन विना चौरेण यद्धनम् । तत्स्व गृह्णाति यो मूढो व्यतीपातो लभेत् सः ॥ ३१ ॥ राजनीति परित्यज्य व्यवसाय करोति य । परेषा वचनाद्यर्थं लभते सोप्यतिक्रमम् ॥ ३२ ॥ तुलाप्रस्थादिमानेन हीन दत्ते परस्य य । गृह्णाति चाधिक वस्तु व्रतदोष भजेत्स ना ॥ ३३ ॥ श्रेष्ठवस्त्वादिके यस्तु हीनवस्त्वादिक क्षिपेत् । करोति हेमहिंग्वादि कृत्रिम तस्य स्यात्स वै ॥ ३४ ॥ सर्वातीचारसत्यक्त धत्ते यस्तृतीय व्रतम् । कृत्वा सन्तोषमेक हि स्युस्तस्य सर्वसम्पद. ॥ ३५ ॥ विविधदुखकर वै धर्मविध्वसहेतु, दुरितकुवनमेघ दु खसतापगेहम् । नरकगृहकुमार्गं धर्मवृक्षव्रजाग्निं, त्यज सकलमदत्त दुर्धन भो परेषाम् ॥ ३६ ॥ बुधैकसेव्य हतसर्वदोष सन्तोषमूल सुखसप्रद भो । स्वर्मुक्तिहेतोर्व्रतधर्मगेह, व्रत तृतीय भज सर्वकालम् ॥३७॥ अदत्त यो न गृह्णाति स स्यात्पूज्योऽमरैरिह । य परस्व समादत्ते वधबधादिक भजेत् ॥ ३८ ॥ योगिन् ! येन फल प्राप्त चादत्तविरति-

प्रश्न—हे प्रभो ! अचौर्य व्रतके पालन करनेसे किसको उत्तम फल मिला है तथा चोरी करनेसे किसको दुःख मिला है उन दोनोंकी कथा कृपाकर मुझसे कहिये ॥ ३९ ॥

उत्तर—हे मित्र ! तू चित्त लगाकर सुन। मैं धर्म बढ़ानेके लिये अथवा मोक्ष प्राप्त करनेके लिये दोनोंकी कथा कहता हूं ॥४०॥ विना दिये हुए पदार्थोंका त्यागकर देनेसे (अचौर्य व्रत पालन करनेसे) राजपुत्र वारिषेण इस जन्ममें देवोंके द्वारा, प्रजाके द्वारा और राजा आदिके द्वारा पूज्य हुआ है ॥४१॥ इस धीरवीर वारिषेणकी कथा हमने पहिले सम्यग्दर्शनके स्थितिकरण अंगके वर्णन करनेमें कही है, चतुर पुरुषोंको वहांसे जान लेना चाहिये ॥४२॥ अब आगे चोरी करनेवालेकी कथा कहता हूं। वत्स देशके कौशांबी नगरमें पुण्यकर्मके उदयसे सिंहरथ नामका राजा राज्य करता था। उसकी रानीका नाम विजया था ॥ ४३ ॥ उसी नगरमें एक दुष्ट चोर रहता था वह पापी अपने छल कपटसे दिनमें तपसीका भेष बनाये रखता था, पंचाग्नि तप तपता था और "मैं दूसरेकी भूमिका भी स्पर्श नहीं करता" इस प्रकार प्रगट करता हुआ वह एक बडके पेडके नीचे छींका टांगकर रहता था। परन्तु वह दुष्ट रात्रिको प्रतिदिन चोरी करता था ॥४४–४५॥ प्रतिदिन चोरी होनेके कारण किसी एक दिन सब महाजनोंने मिलकर महाराजसे प्रार्थना की कि महाराज, सब नगर लुटा जा रहा है। महाराजने क्रोधित होकर कोतवालको बुलाया और कहा कि तू सात दिनके भीतर यातो चोरको लाकर उपस्थित कर अथवा चोरी होनेके अपराधमें तू अपना मस्तक दे ॥ ४६–४७ ॥ कोतवालने बहुत ढूंढा परंतु चोरका कहीं पता न चला तब वह बड़ी चिंतामें पड़ा। वह इसी चिंतामें डूबाहुआ था कि इतनेमें ही सायंकालके समय किसी ब्राह्मणने आकर उससे

व्रतात्। तद्दिनेह महादुःख तयो कथा निरूपय ॥३९॥ एकचित्तेन भो मित्र ! शृणु तेऽहं कथाद्वयम्। वक्ष्ये धर्माय मुक्त्यै वा चौर्याचौर्यान्वितात्मनो ॥४०॥ अदत्तपरिहारेण वारिषेणो नृपात्मजः। इहैव पूजितो देवैर्जनै राजादिभि पुन ॥४१॥ ज्ञेया तस्य कथा दक्षै सा स्थितीकरणे गुणे। निरूपिता मया पूर्वं धीरवीरस्य साम्प्रतम् ॥४२॥ वत्सदेशे च कौशाम्बीपुरे सिंहरथो नृप.। अभवत्पुण्ययोगेन राज्ञ्यस्य विजयाभिधा ॥ ४३ ॥ तत्रैव तस्करो दुष्टो धत्ते पचाग्निसाधनम्। तापसत्व समादाय कौटिल्येनातिपापधी ॥४४॥ शिक्यमारुह्य न्यग्रोधे परभूमिं स्पृशन्न च। चौर्यं विधाय रात्रौ च दिने तिष्ठति प्रत्यहम् ॥ ४५ ॥ एकदा नगरं मुष्ण समाकर्ण्य महाजनात्। नृपेण भणितो रोषात्कोट्टपाल समागत ॥ ४६ ॥ त्व सप्तदिनमध्ये रे चौर शीघ्र च आनय। निज वा मस्तक देहि चौरव्यापारयोगत ॥ ४७ ॥

भोजनकी प्रार्थना की ॥ ४८ ॥ कोतवालने कहा कि हे ब्राह्मण ! यहां तो मेरे प्राणोंमें भी संदेह है तू मुझसे ही भोजन मांगरहा है ? ॥ ४९ ॥ कोतवालकी यह बात सुनकर वह ब्राह्मण कहने लगा कि तुझे आज अपने प्राणोका संदेह क्यों है, तू मुझसे सव कथा कह ॥ ५० ॥ इसके उत्तरमें कोतवालने सव हाल कह सुनाया तव ब्राह्मणने फिर पूछा कि क्या इस नगरमें कोई ऐसा मनुष्य नही है जो अत्यंत निस्पृह हो ? कोतवालने कहा कि हां है, एक तपसी है जिसके साथ अन्य वड़े २ तपस्वी हैं, क्या उसके चोर होनेकी सभावना हो सकती है ? ॥५१-५२॥ तव ब्राह्मणने कहा कि वह अत्यंत निस्पृह है इसलिये वही चोर है। हे मित्र ! तू संवेग उत्पन्न करनेवाली मेरी कथा सुन ॥५३॥ मेरी ही ब्राह्मणी वड़ी प्रसिद्ध महासती थी। वह अपने शरीरसे दूसरे पुरुषके शरीरका स्पर्श तक नही होने देती थी ॥ ५४ ॥ जव वह व्यभिचारिणी पापिनी अपने पुत्रको भी दूध पिलाती थी तो कपटपूर्वक अपने शरीरको ढककर पिलाती थी ॥५५॥ परंतु वही ब्राह्मणी विषयोमे लंपट होकर अपने ही घरपर किसी गवालियेके साथ वड़े आनंदसे कुकर्म करती थी ॥५६॥ हे मित्र ! उसीके कृत्यको देखकर मुझे वैराग्य उत्पन्न हुआ है । इसप्रकार उस ब्राह्मणने अपनी स्त्रीकी निंदा की तथा भोग शरीर और घर आदिकी निंदा की ॥ ५७ ॥ वह ब्राह्मण फिर कहने लगा कि मै मार्गके खर्चके लिये किसी वनी हुई लकडीमें थोडासा सोना रखकर तीर्थयात्राके लिये निकला ॥ ५८ ॥ चलते चलते मार्गमें एक ब्रह्मचारी मिला । परंतु मैं उसका विश्वास नही करता था । मै वडे

चौर सोऽलभमानो हि तलारश्चिंतयान्वित । ब्राह्मणेनापराह्णेऽपि केनचित्प्रार्थितोऽशनम ॥४८॥ तेनोक्त श्रृणु भो विप्र ! सदेहो वर्तते मम । प्राणाना भोजन त्व च कथ प्रार्थयसि ध्रुवम् ॥४९॥ श्रुत्वा तद्वचन विप्रो वभाषे त प्रति स्वयम् । कुतस्ते प्राणसदेहो जातोऽद्यैव निरूपय ॥ ५० ॥ वृत्तान्त कथित तेन कोट्टपालेन तस्य तत् । विप्रेणापि पुन पृष्ट सोपि कि कोपि चास्ति ना ॥ ५१ ॥ अत्यंतनिस्पृहो लोके तेनोक्त चास्ति तापस । महातपस्विनस्तस्य नैतत्सभाव्यते स्फुटम् ॥५२॥ प्रोक्त द्विजेन सोपि स्याच्चौरोत्यतनिस्पृहात् । श्रृणु मित्र मदीया त्व कथा सवेगकारिणीम् ॥ ५३ ॥ ममैव ब्राह्मणी जाता ख्याता सातिमहासती । अन्येषा पुरुषाणा चास्पृशती कायमेव भो ॥ ५४ ॥ शरीर निजपुत्रस्य प्रच्छाद्य कपटेन सा। स्तन ददाति नि.शीला पापिष्ठात्यंतकौटिला ॥५५॥ रात्रौ स्वस्यैव गेहस्य गोपालेन सम सदा। कुकर्म विदधे पापलपटा विषयेषु सा ॥५६॥ तदकृत्य समालोक्य जात वैराग्यमेव मे । कृत्वा निन्दा स्वरामाया भोगदेहगृहादिषु ॥५७॥ शलाकां हेमजां क्षिप्य संवलार्थं विनिर्गतः । सद्वशयष्टिकामध्ये तीर्थयात्रादिहेतवे ॥ ५८ ॥ अग्रे प्रगच्छतश्चैको वटुको मिलितो मम । न विश्वासं

यत्नसे उस लकडीकी रक्षा करता था ॥ ५९ ॥ जिसके भीतर सोना रक्खा हुआ है ऐसी वह लकड़ी उस ब्रह्मचारीने ताड ली। किसी एक दिन हम दोनों रातको एक कुंभारके घर सोए ॥६०॥ सवेरे ही उठकर वहांसे चल पडे। दूर जाकर उसने देखा कि उसके मस्तकपर एक बहुत पुराना तृण लगा हुआ है। उसे देखकर उस दुष्टने मुझसे कहा कि "हा हा देखो, यह विना दिया हुआ तृण मेरे साथ चला आया है और टूट गया है" यह कहकर वह लौटा, उस कुंभारके घर गया, तृणको वहां रक्खा और फिर शामको आकर मुझसे मिला। फिर संन्यासी भिक्षाके लिये गया और कुत्ता आदिको मारनेके लिये वह लकड़ी मुझसे मागी ॥ ६१–६३ ॥ मैंने भी उसे अत्यन्त निर्लोभ जानकर उसपर विश्वास किया और वह अपनी लकड़ी रक्षा करनेके लिये उसको दे दी ॥६४॥ परन्तु वह दुष्ट लोभके वश होकर उस लकड़ीको लेकर न जाने कहां चलागया। अरे! इस संसारमें जो जबर्दस्ती दूसरेका धन ले लेते हैं वे अनेक दुर्गतियोंके दुःख भोगते हैं ॥ ६५ ॥ सब धन नष्ट होजानेके कारण मुझे बहुत पश्चात्ताप हुआ परन्तु अंतमें चुप होजाना पड़ा। फिर मैं वहांसे अकेला चल पड़ा। चलते चलते देखा कि किसी पर्वतपर जंगलमें एक गीध रहता था उसी वृक्षपर रातको बहुतसे पक्षी आकर ठहरते थे। जब अन्य पक्षियोंने उसे हटाना चाहा तो उस बूढे गीधने कहा कि "हे प्रभो! मैं अत्यन्त बूढा हूं कहीं दूसरी जगह जानेकी सामर्थ्य मुझमें नहीं है। कदाचित मैं तुम्हारे बच्चोंका भक्षण करलूं यह तुम्हें डर हो तो तुम सब लोग मेरी मुख (मेरी चोच) बांध दो और फिर निश्चिंत होकर चले जाओ।" उसकी यह बात सबने मानली और सवेरे ही उसका मुंह बांधकर सब

दत्वे तस्य यष्टिरक्षा करोम्यहम् ॥ ५९ ॥ तेन सा कलिता यष्टि सगर्भिता प्रयत्नत । कुम्भकारगृहे रात्रौ सुप्तस्तेनैकदा सह ॥ ६० ॥ दूर गत्वा तृण लग्न तेन दृष्टम् स्वमस्तके । अति जीर्ण ममाग्रेति कुटिलेन निरूपितम् ॥ ६१ ॥ हा! हान्यस्य मयादत्त तृणमद्यैव हिंसितम् । ममेत्युक्त्वा स व्याघुट्य कुम्भकारगृह गत ॥६२॥ धृत्वा तृण समागत्य मिलितो मे दिनात्यये । हुताशनस्य भिक्षार्थं गच्छन् सा तेन याचिता ॥ ६३ ॥ श्वानादिकरक्षार्थं सा मया तस्य अर्पिता । निर्लोभ त परिज्ञाय विश्वासान्वितचेतसा ॥ ६४ ॥ ततो यष्टि समादाय नष्टो लोभात्स दुष्टधी । ये गृह्णन्ति परस्व भो खलास्ते यान्ति दुर्गतिम् ॥ ६५ ॥ पश्चात्ताप विधायोच्चै स्थितस्त्यक्तधनादिक । गच्छता भो मयाटव्या दृष्टमेक प्रकुर्कुटम् ॥ ६६ ॥ मयैकस्मिन्नगे तुगे समूहो मिलितो निशि । पक्षिकाणा प्रवृद्धेन पक्षिणा भाषित तदा ॥ ६७ ॥ रे पुत्रा अतिवृद्धोऽहं गन्तु शक्नोमि नैव हि । करोमि भवदीयाना पुत्राणा भक्षण कचित् ॥ ६८ ॥ ततो मम मुखं बध्वा

पक्षी चले गये ॥ ६८–६९ ॥ उन पक्षियोंके चले जानेपर उस बूढ़े गीधने अपने पंजोंसे चोंचके बंधनको उतारा और पक्षियोंके बच्चोंको खा डाला ॥ ७० ॥ जब उन पक्षियोंके आनेका समय हुआ तब उस गीधने पंजोंसे वह बंधन चोंचके ऊपर चढ़ा लिया और फिर खालीसा पेट दिखलाता हुआ कपटपूर्वक चुपचाप बैठगया ॥ ७१ ॥ यह कृत्य देखकर मैं आगे चला। मार्गमें मैने देखा कि एक अपसर नामका पापी चोर तपसीका रूप धारण कर खड़ा है। उसने अपने मस्तकके ऊपर दोनों हाथ ऊँचे कर रक्खे थे और उन दोनों हाथोंमें एक पत्थरकी शिला ले रक्खी थी। इसप्रकार शिला लिये वह रातदिन फिरा करता था ॥ ७२–७३ ॥ वह प्रायः गढ़े आदि निर्जन स्थानमें जाकर खड़ा होता था जब कभी सुवर्णालंकारोंसे सुशोभित कोई धनी आदमी आकर उसे नमस्कार करता तभी वह उसके ऊपर वह शिला पटक देता था और लोभके वश हो इसप्रकार उसे मारकर उसका सब धन हरण करलेता था ॥ ७४ ॥ इसप्रकार संसारभरको दुःख देनेवाले चार पापियोंको देखकर मैने यह श्लोक बनाया है ॥ ७५ ॥

वालमस्पर्शिका नारी, ब्राह्मणोऽतृणग्राहकः। वने गृद्धश्च पक्षी स्याद्, भ्रमेदपसरः पुरे ॥

इस संसारमें अपने बच्चेको भी स्पर्श न करनेवाली स्त्री, तृणको भी वापस लौटादेनेवाला ब्राह्मण, वनमें रहनेवाला बूढ़ा गीध और अपसर नामका चोर भी फिरा करता है ॥ ७६ ॥ इसप्रकार उस ब्राह्मणने उस कोतवालसे चार कथाएं कहीं तथा उसको धैर्य बंधाकर सायंकालके समय वह स्वयं उस तपसीके पास गया ॥ ७७ ॥ वह ब्राह्मण छल कपटकर

यूय गच्छत निश्चितम्। प्रभाते ते पुनस्तस्य मुख बध्वा गता' स्वयम् ॥ ६९ ॥ गतेषु तेषु सर्वेषु चरणाभ्या स्वबधनम्। मुखादुत्तार्य वृद्धेन भक्षितास्तेपि बालका ॥ ७० ॥ तेषामागमने काले मुखे सयोज्य बन्धनम्। भूत्वा क्षीणोदर पश्चात् कौटिल्येन स्थितो हि स ॥ ७१ ॥ तत' पुरगतेनैव मया दृष्ट प्रकुर्कुटः। तपस्विरूपमादाय स्थितश्चौरोऽतिपापधी ॥ ७२ ॥ मस्तकस्योपरि दोर्भ्यामूर्ध्वं धृत्वा बृहच्छिलाम्। भ्रमत्यपसराख्यो हि अहोरात्रिं स तत्पुरे ॥ ७३ ॥ गर्तादिनिर्जनस्थाने जन हेमादिभूषितम्। नमन्तं शिलया हत्वा हेमं गृह्णाति लोभत' ॥ ७४ ॥ इत्येव हि समालोक्य कोट्टपाल विचार्यताम्। संसारे दु खद पाप श्लोकोऽय सकृतो मया ॥ ७५ ॥ वालमस्पर्शिका नारी ब्राह्मणोऽतृणग्राहकः। वने गृद्धश्च पक्षी स्याद् भ्रमेदपसरः पुरे ॥ ७६ ॥ इत्येव कथयित्वा स तत्कथानां चतुष्टयम्। धीरयित्वा च संध्याया गतस्तापससन्निधिम् ॥७७॥ स' तपस्विनैरस्तस्मात्स्थितो मायान्वितो द्विज । निर्घाटितोऽपि न याति भूत्वा रान्ध्यधव

वहीं बैठ गया, हटानेसे भी नहीं हटा और कहने लगा कि मुझे रात्रिमें कुछ दिखाई नहीं देता है ॥७८॥ उन तपसियोंने उसके नेत्रोंके सामने बहुतसी उंगली दिखाकर पूछा, बहुतसे घास पात आदि रक्खे और सब तरहसे उसकी परीक्षा करनी चाही परंतु वह ब्राह्मण तो मौन धारणकर चुप हो रहा ॥ ७९ ॥ आधी रातके समय उस ब्राह्मणने देखा कि सब तपसी धन ला लाकर एक अंधे कूएमें रखरहे हैं। ब्राह्मणने छिपकर सब कृत्य देखलिया ॥ ८० ॥ सवेरे ही वह कोतवाल मारा जाने-वाला था परंतु उस ब्राह्मणने आकर उसकी रक्षा की और उस तपसी चोरको पकड़वाया। वहांपर उसे वध बंधन आदिके अनेक दुःख भोगने पड़े और ऐसे ऐसे महा दुःख भोगने पड़े जो वचनसे भी नहीं कहे जासकते। उन सबको भोगकर और कोतवालके द्वारा मारा जाकर उस पापीने अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण किया ॥ ८१-८३ ॥ तपसीकी यह कथा सुनकर पापोंसे डरनेवाले महाजनोको दांतोंको साफ करनेके लिये विना दिया हुआ एक तृण भी नहीं लेना चाहिये ॥८४॥ इस चोरी करनेके कारण शिवभूति आदि और भी बहुतसे नीच पुरुष नष्ट हुए हैं। इस संसारमें उन सबकी कथाओंको भला कौन कह सकता है ॥ ८५ ॥ देखो, दूसरेका धन हरण करनेके कारण मूर्ख तपसीको वध बंधन आदिके अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़े और उन्हीं पापोंके कारण प्राणोंका सागकर सब तरहके पापोंसे परिपूर्ण घोर दुःखोंकी खानि तथा

स ॥ ७८ ॥ तैरतस्य च नयनाग्रे तृणागुल्यादिक धृतम्। परीक्षणाय पश्यतस स्थितो मौन विधाय वै ॥ ७९ ॥ अर्द्धरात्रौ पुनस्तेषा सर्वं दृष्ट धनादिकम्। गुहायामधकूपे च तेन प्रच्छन्नयोगत ॥ ८० ॥ प्रभाते मार्यमाणोपि तलारस्तेन रक्षित। रात्रिदृष्ट समावेद्य राज्ञस्तापसवृत्तकम् ॥ ८१ ॥ स तपस्वी तलारेण मारितोऽत्यतकोपत। अनेकवधबधादिच्छेदनैश्च कदर्थनै ॥ ८२ ॥ भुक्त्वा सोऽपि महादु ख तीव्र वाचामगोचरम्। अनुभूति गत. पापाद् दुर्गतिं बहुयोनिजाम् ॥ ८३ ॥ तापसस्य कथा श्रुत्वा पापभीतैर्महाजनै। अदत्त तृणमात्र च न ग्राह्य दन्तशुद्धये ॥८४॥ अन्ये ये बहवो नष्टा शिवभूत्यादयोऽधमा। चौर्याच्च क कथा तेषा गदितु स्यात्क्षमो भुवि ॥८५॥ अशुभसकलपूर्णां घोरदु खादिखानिं, परधनहरणाच्च दुर्गतिं तापसोऽगात्। विविधकुवधबन्ध प्राप्य त्यक्त्वा च प्राणान्, इह दुरितकुकीर्तिं पापतोऽमुत्र मूढ. ॥ ८६ ॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्ति विरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे अदत्तादानविरतिव्रत वारिषेणतापसकथाप्ररूपकोनाम चतुर्दशम परिच्छेदः।

पाप और अपकीर्तिको बढ़ानेवाली ऐसी अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करना पड़ा। यही समझकर चोरी करनेका त्याग सदाके लिये कर देना चाहिये ॥ ८६ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तर श्रावकाचारमें अचौर्याणुव्रतका स्वरूप और वारिषेण तथा तपसीकी कथाको कहनेवाला यह चौदहवा परिच्छेद समाप्त हुआ ।



अथ पंद्रहवां परिच्छेद ।

जो धर्मके देनेवाले हैं, धर्मके स्वामी हैं, पूर्ण धर्ममय हैं और धर्मकी खानि हैं ऐसे श्री धर्मनाथ जिनेंद्रदेवको मैं केवल धर्मकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ अब मैं तीसरे अचौर्याणुव्रतका स्वरूप कहकर समस्त सुखोंको देनेवाले और परम उत्कृष्ट ऐसे चौथे ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप कहता हूं ॥ २ ॥ परस्त्रीके त्याग करनेरूप यह चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत श्री जिनेंद्रदेवने सबमें सार बतलाया है, यही व्रत समस्त जीवोंके लिये परम पवित्र और श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥ जो अपनी स्त्रीमें संतोष रखकर अन्य स्त्रियोंको माताके समान देखता है, उसके यह स्थूल शीलव्रत वा स्थूल ब्रह्मचर्य अथवा ब्रह्मचर्याणुव्रत होता है ॥ ४ ॥ इस चौथे ब्रह्मचर्य अणुव्रतको पालनकर जीवोंको विरक्त होना चाहिये और किंपाकफलके समान परस्त्रियोंका त्याग करदेना चाहिये ॥५॥ परस्त्रीके संसर्गसे मनुष्योंको कलंक लगता है और जीवनपर्यंत अपयशको देनेवाला व्रत भंग होता है ॥६॥ बुद्धिमान पुरुषोंको परस्त्रियोंके साथ एक क्षणभर भी संसर्ग नहीं करना चाहिये । क्योंकि

अथ पञ्चदशमः सर्गः ।

धर्मनाथजिन देव धर्मद धर्मनायकम् । सर्वधर्ममय धर्मकर सद्धर्महेतवे ॥ १ ॥ अणुव्रत प्रवक्ष्येऽहं चतुर्थं ब्रह्मसंज्ञकम् । तृतीय व्रतमाख्याय सर्वसौख्याकर परम् ॥ २ ॥ प्रणीतं जिननाथेन सारं तुर्याणुसद्व्रतम् । पवित्रमगिना सर्वपरस्त्रीत्यागलक्षणम् ॥ ३ ॥ स्वरामयां [illegible] संतोष कृत्वा योऽत्र हि पश्यति । मातृवत्पररामां स स्थूलं शीलव्रत भजेत् ॥ ४ ॥ चतुर्थं व्रतमादाय कृत्वा वैराग्यमञसा । किंपाकफलवन्नारी दूरूपामपरा त्यज ॥ ५ ॥ परभार्यादिसंसर्गात् कलंक जायते नृणाम् । व्रतभंगो भवेच्चैव यावज्जीवायशः प्रदम् ॥ ६ ॥ संसर्गं हि न कुर्वन्ति क्षणमेक सुधीधना । कलंककारण निंद्य परेषा रामया सह ॥ ७ ॥ नवनीतसम ज्ञेय मन स्त्रियोऽनलोपमा । पुंसा

परस्त्रियोंका संसर्ग कलंक उत्पन्न करनेवाला है और अत्यन्त निंद्य है ॥७॥ स्त्रियोंका मन मक्खनके समान है और पुरुषोंका मन अग्निके समान है फिर भला दोनोंका संसर्ग होनेपर वे दोनों कबतक स्थिर रहसकते हैं ॥८॥ केवल इस लोकमें प्राणोंको हरण करनेवाली क्रोधित हुई सर्पिणीका आलिंगन करलेना अच्छा परन्तु इस लोकमें प्राणोंको हरण करनेवाली और परलोकमें प्राणोंको नाश करनेवाली परस्त्रीका आलिंगन करना अच्छा नहीं ॥ ९ ॥ इस संसारमें परस्त्रीसेवनके समान अन्य कोई पाप न हुआ है न हो सकता है, संसारमें इसके समान और कोई महानिंद्य काम नहीं है और न इसके समान मनुष्योंके दुःख देनेवाला अन्य कोई काम है ॥ १० ॥ मूर्ख लोगोंको परस्त्रीके साथ भोगोंकी प्राप्ति हो या न हो किन्तु परस्त्रीकी इच्छा और चितासे ही उन्हें महापाप लगजाता है ॥ ११ ॥ जो मूर्ख किसी निर्जन स्थानमें परस्त्रीके समीप जाता है वह सुखी किसप्रकार हो सकता है क्योंकि वहां तो उसे सदा अपने मारे जानेकी ही आशंका लगी रहती है ॥ १२ ॥ मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि परस्त्री समागम करनेवालोंकी बुद्धि नष्ट होजाती है इसलिये उन मूर्खोंको परस्त्रीके समागमसे जो दुःख उत्पन्न होता है उसे ही वह सुख मान लेता है ॥ १३ ॥ विषयोंसे व्याकुल हुए जो मनुष्य परस्त्रीकी इच्छा करते हैं वे वध बंधनके अनेक क्लेश सहते हैं, उनका सब धन हरण कर लिया जाता है और मरकर परलोकमें दुःखरूपी अनेक मछलियोंसे भरे हुए असह्य, विषम और घोर ऐसे नरकरूपी महासागरमें डूबते हैं ॥ १४–१५ ॥ जो पुरुष परस्त्रियोंके साथ आलिंगनादिक करते हैं, परलोकमें नरकमें जाकर उनके शरीरसे, अग्निसे लाल की हुई लोहेकी पुतलियां चिपकाई जाती हैं ॥ १६ ॥ परस्त्रीरूपी तेलके सींचनेसे यह कामरूपी अग्नि कभी शांत नहीं होती और ब्रह्मचर्यरूपी जलके सींचनेसे यह

कथं भवेत्तद्धि स्थिरं तप्तं खु स्त्र्यग्निना ॥८॥ वरमालिंगिता क्रुद्धा सर्पिणी प्राणहारिणी । परस्त्री न च रूपाढ्येहामुत्र प्राणनाशिनी ॥९॥ परस्त्रिया समं पापं न भूतं न भविष्यति । नास्ति लोके महानिंद्यं पुंसां सततश्वभ्रदम् ॥१०॥ परस्त्रिया समं भोगो भवेन्मा वा शठात्मनाम् । तद्वाच्छा चिंतया तेषां महापापं प्रजायते ॥ ११ ॥ परभार्यां परिप्राप्य निर्जनेऽत्र कश्चिच्छठः । कथं संलभते सौख्यं वधमाशंक्य चात्मनः ॥ १२ ॥ मन्येऽहमेव मूढानां परस्त्रीसंगमं भवम् । यद्दुःखं तद्धि सौख्यं च भासते बुद्धिनाशतः ॥ १३ ॥ परनारीं समीहन्ते ये चेह विषयाकुलाः । वधबन्धादिकं क्लेशं सर्वस्वहरणं तथा ॥ १४ ॥ प्राप्यतेऽमुत्र लोकेऽहो मज्जन्ति श्वभ्रसागरे । दुस्सहे विषमे घोरे दुःखमीनसमाकुले ॥ १५ ॥ परस्त्रिया समं येऽत्र कुर्वन्त्यालिंगनादिकम् । तदामुत्रभवेत्तेषां तप्तलोहाग्निरामया ॥ १६ ॥ कामदाहो न

कामाग्नि अपने आप शांत होजाती है ॥१७॥ जो नीच पुरुष कामज्वरको परस्त्री रूपी औषधिसे दूर करना चाहते हैं वे अग्निको तेलसे बुझाना चाहते हैं ॥ १८ ॥ हालाहल विष खा लेना अच्छा, अग्निमें जल मरना अच्छा, समुद्रमें डूब जाना अच्छा तथा पर्वतसे गिरपड़ना अच्छा परंतु मनुष्योंका शीलरहित जीवित रहना अच्छा नहीं ॥ १९ ॥ इसलिये हे भव्य! अपने हृदयमें वैराग्य धारण कर और हृदयको शीलव्रतसे सुशोभित कर सर्पिणीके समान परस्त्रीका सर्वथा त्याग कर ॥२०॥

इसी प्रकार मद्य, मांस आदिमें आसक्त होनेवाली, चांडालादिकके साथ लंपटता धारण करनेवाली तथा अपयश, पाप और दुःखादिको उत्पन्न करनेवाली वेश्याका भी तू सर्वथा त्याग कर ॥ २१ ॥ यह वेश्या समस्त व्यसनोंको उत्पन्न करनेवाली है, क्रूर है, कुटिल है, पापिनी है, धन और धर्मको चुरानेवाली है और इसका मुख स्वाभाविक कुटिल है (कहती कुछ है करती कुछ है) ऐसी वेश्याका तू दूरसे ही त्याग कर ॥ २२ ॥ यद्यपि यह वेश्या ऊपरसे गोरे चमडेसे मढी हुई है, बाहरसे वस्त्र आभरणोसे सुशोभित होरही है, इसका स्वर भी मधुर है, गीत नृत्य करनेवाली है, रूपवती है और अच्छीसी जान पड़ती है तथापि हे मित्र! यह नीच प्राणियोंके ही मनमें क्षोभ उत्पन्न करती है, यही विचार कर हे मित्र! इन स्वेच्छाचारिणी वेश्याका तू त्यागकर ॥ २३–२४ ॥ जिस प्रकार कुत्ता खप्परको चाटता है उसी प्रकार जो नीच मद्यकी लारसे भरे हुए वेश्याके मुंहको चाटता है उसे स्वानपुत्र वा कुत्ता क्यों नहीं कहना चाहिये ॥ २५ ॥ जिस प्रकार घोडा गर्दभीका सेवनकर अपनी ज्ञातिको नष्ट करता है उसी प्रकार जो कुमार्गगामी पुरुष नीच जातिकी स्त्रियोका सेवन करते है वे खच्चरोंके समान अपनी जातिको नष्ट कर देते हैं क्योंकि खच्चरोंके फिर संतान नहीं होती।

शाम्येत परस्त्रीतैलसिंचित । स एवोपशमं याति ब्रह्मचर्याम्बुसिंचित. ॥ १७ ॥ कामज्वरमपीहन्ते निराकर्तुं हि येऽधमा । परनारीमौषधेन तैलेनाग्निं सिंचन्ते बुधा. ॥ १८ ॥ वरं हालाहलं भुक्तमग्नौ वा सागरेऽचले । झपापातो न पुंसां च शीलाद्विच्युतजीवितम् ॥ १९ ॥ वैराग्याधिष्ठितं कृत्वा हृदयं शीलवासितम् । परदारां त्यज त्वं भो सर्पिणीमिव सर्वथा ॥ २० ॥ मद्यमांसादिससक्तां मातंगादिषु लम्पटाम् । अयशःपापदुःखादिकरां वेश्यां त्यजेद्ध्रुवं ॥२१॥ सर्वव्यसनदां क्रूरां कुटिलां कुटिलाननाम् । त्यज त्वं गणिकां पापां धनधर्मेषु तस्करीम् ॥२२॥ गौरचर्मावृतां बाह्ये वस्त्राभरणमंडिताम् । मधुरां मधुरालापां गीतनृत्यकरां वराम् ॥ २३ ॥ स्वरूपां हीनसत्त्वानां मन क्षोभकरां सुहृत् । स्वैरिणीं गणिकां चान्यां दृष्ट्वा मध्ये विचारय ॥२४॥ मद्यलालावुसच्छिष्टं खर्परं मंडला इव । वेश्यास्यं ये हि लिह्यन्ति श्वानपुत्रा. कथं न

धर्मरूप आचरण करनेसे जातिहीन पुरुष भी स्वर्गमें जा उत्पन्न होता है किंतु पाप करनेसे वा धर्मका नाश करनेसे यह प्राणी दोनो लोकोंमें दुर्गतिको प्राप्त होता है ॥ २७ ॥ जो मनुष्य शीलरहित हैं वे जीवित रहते हुए भी मरे हुएके समान हैं क्योंकि जिसप्रकार किसी मरे हुए पुरुषमें कोई गुण नहीं ठहर सकते उसी प्रकार उस शीलरहित पुरुषमें भी कोई गुण नहीं ठहर सकते ॥ २८ ॥ जो मूर्ख अपनी स्त्रीको छोड़कर परस्त्रीका सेवन करते हैं वे अपने उत्तम भोजनोंको छोडकर चांडालके घर सरका उच्छिष्ट खाते हैं ॥ २९ ॥ जो नीच पुरुष वेश्याओंका वा परस्त्रियोंका समागम करते हैं वे चांडालके समान तीनों लोकोंमें अस्पृश्य (न छूने योग्य) गिने जाते हैं ॥ ३० ॥ यही समझकर हे मित्र ! पहिले अपनी स्त्रीमें ही पुण्य बढानेवाला संतोष धारण कर और फिर सदाके लिये परस्त्रीका त्याग कर ॥ ३१ ॥ जो मनुष्य मुक्तिरूपी स्त्रीके चित्तको प्रसन्न करनेवाला ब्रह्मचर्य पालन करते हैं वे स्वर्गका साम्राज्य पाकर अंतमें मुक्तिके स्वामी होते हैं ॥ ३२ ॥ जो उत्तम विद्वान् एकाग्रचित्तसे शीलका पालन करते हैं उनकी इन्द्र भी आकर स्वयं सेवा करता है ॥३३॥ जो एक दिन भी ब्रह्मचर्य पालन करता है वह नौ लाख जीवोंके अभयदान देनेका पुण्य प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥ शीलवान पुरुष इस लोक और परलोकमें मनुष्य, देव, विद्याधरोंके द्वारा पद पदपर पूज्य होता है और अंतमें स्वर्ग मोक्षका स्वामी होता है ॥ ३५ ॥ इस संसारमें जो स्त्रियां शीलरूपी आभरणको धारण करती हैं वे देवोंके द्वारा पूजा प्रतिष्ठा पाकर सोलहवें स्वर्गमें जाकर

ते ॥ २९ ॥ निषेवन्ते हि नारीं ये जातिहीना कुमार्गगा । सम्प्राप्य जातिनाशं ते गर्दभीमश्ववत्तथा ॥ २९ ॥ जातिहीनो दिवं याति धर्माचरणयोगत । पापान्ना दुर्गतिं याति कुलजो धर्मव्यत्ययात् ॥२७॥ जीवन्तोपि मृता ज्ञेया शीलहीना हि मानवा । न तिष्ठति गुणास्तेपु केचिद्वो मृतके यथा ॥२८॥ स्वनारीं य परित्यज्य परनारीं निषेवते । भुक्ते मातङ्गगेहे स त्यक्त्वा स्वान्नं वरं खल ॥२९॥ वेश्यादिपरनारीणां सङ्गं कुर्वन्ति येऽधमा । मातङ्गवत् तेप्यस्पृश्या भवन्ति भुवनत्रये ॥३०॥ इति मत्वा हि भो मित्र ! पररामां सदा त्यज । पूर्वं कृत्वातिसन्तोषं पुण्यदं स्वस्य रामया ॥३१॥ ब्रह्मचर्यं चरेद्यस्तु मुक्तिस्त्रीचित्तरञ्जकम् । प्राप्य स्वर्गं च राज्यं स मुक्तिनाथो भवेद् ध्रुवम् ॥३२॥ एकचित्तेन ये शीलं पालयन्ति बुधोत्तमा । सेवां कुर्वन्ति देवेन्द्रास्तेषां भृत्या इव स्वयम् ॥३३॥ दिनैके ब्रह्मचर्यं यो विधत्ते भयदानत । वे नवलक्षजीवानां तस्य पुण्यं न वेद्म्यहम् ॥३४॥ शीलयुक्त इहामुत्र भवेत्पूज्य पदे पदे । नृदेवखेचरेन्द्रैश्च नाकमोक्षाधिप स ना ॥३५॥ कुर्वन्ति भुवने शीलाभरणं या स्त्रियोऽमरै । प्राप्य पूजामिहामुत्र यान्ति षोडशमे दिवे ॥३६॥ मन्ये स एव पुण्यात्मा शीलरत्नं सुनिर्मलम् ।

देव होती हैं ॥ ३६ ॥ जिसका निर्मल शीलरूपी रत्न स्त्रियोके कटाक्षरूपी लुटेरोंके द्वारा नही हरा गया वही पुरुष संसारमे पुण्यवान है ऐसा मै मानता हूं ॥ ३७ ॥ जिनका शीलरूपी श्रेष्ठ भंडार मनरूपी राजाके द्वारा प्रेरणा किये गये काम और इंद्रियरूपी चोरोंके द्वारा नही लूटा गया वे ही पुरुष संसारमे धन्य है ॥३८॥ जिन्होने स्त्रियोके किये हुए अनेक उपद्रवोके होनेपर तथा सैकडो कठिन परीषहोंके उपस्थित होनेपर अपना शीलरूपी माणिक–रत्न नही छोडा है उनके लिये मै वार-वार नमस्कार करता हूं ॥ ३९ ॥ वहुत कहनेसे क्या, थोडेमेमे इतना समझ लेना चाहिये कि यह शीलव्रत सव व्रतोंका सार है और धर्मरूपी रत्नोंका भंडार है इसलिये हे मित्र! तू इसको सव तरहसे पालन कर ॥४०॥ जो वुद्धिमान अतिचार रहित इस शीलव्रतको पालन करता है वह इस संसारमें पूजा प्रतिष्ठा पाकर अंतमे स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ४१ ॥

प्रश्न–हे प्रभो! यद्यपि यह शीलव्रत स्वयं निर्मल है तथापि इसमें मल उत्पन्न करनेवाले अतिचारोको आप कृपाकर कहिये ॥ ४२ ॥

उत्तर–हे वत्स! सुन। इस व्रतमें मल उत्पन्न करनेवाले स्त्रियोके संसर्गसे और अत्यंत अशुभ कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए अतिचारोको मै कहता हूं ॥ ४३ ॥ अन्यविवाहकरण, परिग्रहीता इत्वरिकागमन, अपरिग्रहीता इत्वरिकागमन, अनंगक्रीडा, और काम तीव्राभिनिवेश ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार कहलाते हैं ॥ ४४–४५ ॥ जो अज्ञानी जीव दूसरोके पुत्र पुत्रियोंके विवाह करते है उनके ब्रह्मचर्यमें मल उत्पन्न करनेवाला अन्यविवाहकरण नामका पहिला अतिचार लगता है ॥ ४६ ॥ जो पुरुष रागपूर्वक किसीकी विवाहिता व्यभिचारिणीकी इच्छा करते हैं उनके शीलव्रतमे परिग्रहीता इत्वरिका-

स्त्रीकटाक्षादिलुटाकैर्न हृत यस्य भो हठात् ॥३७॥ ते धन्या शीलसद्रत्न येषा सार न लुठितम्। कामेन्द्रियादिचौरैश्च मनोराजादिप्रेरितैः ॥३८॥ परीषहभटैरुच्चै स्त्रीकृतोपद्रवेस्तथा। न त्यक्त शीलमाणिक्य यैश्च तेभ्यो नमोस्तु मे ॥३९॥ किमत्र वहुनोक्तेन त्व शील भज सर्वथा। सार सर्वव्रतादीना धर्मरत्नादिसद्गृहम् ॥ ४० ॥ शील यो मतिमान् धत्ते सदातिचारप्रच्युतम्। यश. पूजा स आसाद्य स्वर्गं वा याति निर्वृतिम् ॥ ४१ ॥ निर्मलस्यापि शीलस्य मलसंपादनक्षमात्। आदिश त्व हि भो नाथ! व्यतिचारान् ममादरात् ॥४२॥ शृणु भो वत्स! ते वक्ष्ये अतीचारान् मलप्रदान्। नारीससर्गतो जातान् मोहाद्वाप्यशुभोदयात् ॥ ४३ ॥ अन्यविवाहकरण गृहीतेतरभेदत। इत्वरिकागमन च द्विधा स्यान्मलकारणम् ॥४४॥ चतुर्थोऽनगक्रीडा स्यादतीचारो विरूपक.। पचम कामतीव्राभिनिवेशश्च जिनैर्मत ॥ ४५ ॥ परेषा यो

जो मूर्ख पतिरहित परस्त्रियोंकी अथवा अविवाहित वेश्या आदिकोंकी इच्छा
गमन नामका दूसरा अतिचार होता है ॥ ४७ ॥ जो मूर्ख पतिरहित परस्त्रियोंकी अथवा अविवाहित वेश्या आदिकोंकी इच्छा
करते हैं उनके व्रतमें अपरिग्रहीता इत्वरिकागमन नामका तीसरा अतिचार लगता है ॥ ४८ ॥ जो पुरुष योनिको छोडकर
रागपूर्वक मुखादिकमें क्रीडा करते हैं अथवा शरीरपर यत्र तत्र क्रीडा करते हैं उनके अनंगक्रीडा नामका चौथा अतिचार
लगता है ॥ ४९ ॥ जो बुद्धिमान कामसेवनमें असंत तृष्णा रखता है और अग्निके समान जिसे संतोष होता ही नहीं
उसके काम तीव्राभिनिवेश नामका पांचवां अतिचार लगता है ॥५०॥ जो मूर्ख अपने शीलव्रतको छोडकर परस्त्रीका अथवा
किसी तिर्यंचिनीका सेवन करता है वह परलोकमें नपुंसक होकर नरकका स्वामी होता है ॥ ५१ ॥ जो मनुष्य इन पांचों
अतिचारोंका त्यागकर ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करता है वह स्वर्गका राज्य पाकर अंतमें मुक्त होता है ॥ ५२ ॥ हे भव्य !
परस्त्रीका सेवन नरकरूपी घरकी देहली है, धर्मरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुठारके (कुल्हाडीके) समान है, पापरूपी वनको
बढानेके लिये वर्षाके समान है, भाई बंधु आदिको नाश करनेवाला है, देवगति और स्वर्गरूपी घरको बंद करनेके लिये
अर्गल (वेडा) के समान है और सज्जन पुरुषोंके द्वारा सदा निंद्य है इसलिये हे भव्य ! स्थूल ब्रह्मचर्य धारणकर तू सब
प्रकारकी परस्त्रियोंका त्याग कर ॥ ५३ ॥ इसी प्रकार वेश्या भी मद्य मांसादिकमें सदा आसक्त रहती है, संसारमें जितने
दुष्ट हैं सब उसे सेवन करते हैं, पापरूपी वनको उत्पन्न करनेके लिये भूमिके समान है, धर्मरूपी रत्नोंकी चोर है, दुर्गति
और दुर्बुद्धियोंको उत्पन्न करनेवाली है, और मोक्षमार्गको रोकनेके लिये अर्गलके समान है । इसलिये हे विद्वन् ! तू शील-

---

मनुष्याणां विवाहं पापकारणम् । करोति मूढधीस्तस्य भवेद्दोषं मलप्रदम् ॥ ४६ ॥ इच्छन्ति ये खला नूनमित्वरिका समर्तृकाम् । अतीचारो
भवेत्तेषां रागाच्छीलव्रतस्य वै ॥४७॥ समीहन्ते शठा येऽपि परस्त्रीं भर्तृविच्युताम् । गणिका वातिलोभेन व्यतीपातं भजन्ति ते ॥४८॥
मुक्त्वा योनिं हि ये क्रीडां प्रकुर्वन्ति मुखादिके । यत्र तत्र शरीरेण रागात्तेषामतिक्रमः ॥४९॥ अतितृष्णां विधत्ते य. कामसेवादिके बुधा ।
अग्निवच्च न सन्तोषमतीचारं श्रयेत्स ना ॥५०॥ परनारीं तिरश्चीं च सेवन्ते ये व्रतच्युता । षंडत्वं प्राप्यते दुष्टा श्वभ्रनाथा भवन्ति वै
॥५१॥ त्यक्तपञ्चव्यतीपातं ब्रह्मचर्यमणुव्रतम् । धत्ते य प्राप्य नाकं च राज्यं गच्छति निर्वृतिम् ॥५२॥ नरकगृहप्रतोलीं धर्मवृक्षे कुठारीं ।
दुरितवनकुवृष्टिं बंधुविध्वंसदां त्वम् । सुरगतिशिवगेहेष्वर्गलां साधुनिंद्यां । त्यज सकलपरस्त्रीं स्थूलब्रह्म विधाय ॥५३॥ अखिलकुजनसेव्यां
मद्यमांसादिसक्तां । अशुभभुवनभूमिं तस्करीं धर्मरत्ने । कुगतिकुमतिदां त्वं मुक्तिमार्गार्गलां भो । त्यज भुवि बुध वेश्यां शीलगेहं प्रविश्य ॥५४॥

रूपी घरमें प्रवेशकर इस वेश्यासेवनका भी सदा त्याग कर ॥ ५४ ॥ यह शीलरत्न स्वर्गमोक्षको देनेवाला है, यश और पुण्यको बढानेवाला है, ससारमें इसकी कोई उपमा नहीं, यह अत्यंत निस्पृह है, सद्धर्मरूपी निर्मल रत्नोंका पिटारा है, पापोंका नाश करनेवाला है, उत्तम सुख देनेवाला है, अत्यंत पवित्र है, धीरवीर पुरुषोंके द्वारा ही यह सेवन किया जाता है, अत्यंत शुभ है, सार है और संसाररूपी महासागरसे पार करदेनेवाला है। इसलिये हे भव्य! तू ऐसे शीलव्रतका पालन कर ॥ ५५ ॥ ये जीव ब्रह्मचर्यव्रतके फलसे इसलोकमें भी देवोंके द्वारा पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं और परलोकमें भी स्वर्ग मोक्षके स्वामी होते हैं ॥ ५६ ॥

प्रश्न—हे भगवन्! इस शीलव्रतके माहात्म्यसे इसी लोकमें किसको फल मिला है उसकी कथा कृपाकर मेरेलिये कह दीजिये ॥ ५७ ॥

उत्तर—हे चतुर! तू चित्त लगाकर सुन। मैं पुण्य फल देनेवाली शीलव्रतकी कथा कहता हूं ॥५८॥ इसी मनोहर ललाट देशके भृगुकच्छ नामके नगरमें पुण्यकर्मके उदयसे बुद्धिमान् राजा वसुपाल राज्य करता था ॥ ५९ ॥ उसी नगरमें एक जिनदत्त नामका सेठ रहता था। जिनदत्ता उसकी सेठानीका नाम था। उन दोनोंके रूप और शीलसे सुशोभित नीली नामकी पुत्री थी ॥ ६० ॥ उसी नगरमें एक समुद्रदत्त नामका दूसरा सेठ रहता था और उसको सुख देनेवाली उसकी सेठानीका नाम सागरदत्ता था ॥ ६१ ॥ उन दोनोंके सागरदत्त नामका पुत्र था। वह सागरदत्त अत्यंत यौवनावस्थामें किसी एक दिन अपने किसी मित्रके साथ जिनालयमें गया था। वहांपर सेठ जिनदत्तकी पुत्री नीली वस्त्राभरणोंसे सुशोभित

स्वर्मोक्षैककरं यशःशुभप्रदं त्यक्तोपमं निस्पृहं। सद्धर्मामलरत्नभाण्डमसमं पापस्य निर्नाशकम्। सत्सौख्याकरमेकमेव शुचिदं धीरैः सदा सेवितं। संसाराम्बुधितारकं भजतु भो त्वं सारशीलं शुभम् ॥ ५५ ॥ ब्रह्मचर्यफलाज्जीवः प्राप्य पूजामिहामरैः। कृतामसुत्रलोकेपि स्वर्गमुक्त्यादिकं व्रजेत् ॥५६॥ शीलमाहात्म्यतः केन फलं लब्धं निरूपय। भगवन्निह लोकेपि विधायानुग्रहं मम ॥५७॥ शृणु धीमन्नहं वक्ष्ये कथां शीलसमुद्भवाम्। एकचित्तान्वितो भूत्वा नील्याः पुण्यफलप्रदाम् ॥५८॥ लाटदेशे मनोज्ञेऽस्मिन् वसुपालो नरेश्वरः। पत्तने भृगुकक्षाख्ये जातः पुण्योदयात्सुधीः ॥५९॥ जिनदत्तो भवेत् श्रेष्ठी जिनदत्ताभिधा प्रिया। पुत्री जाता तयोर्नीली रूपशीलसमन्विता ॥ ६० ॥ श्रेष्ठी समुद्रदत्ताख्यस्तिष्ठत्येव पुरेऽपरः। भार्या सागरदत्ताख्या जाता तस्य सुखप्रदा ॥ ६१ ॥ पुत्रः सागरदत्तो हि तयोर्जातोऽतियौवने। गतो जिना-

होकर भगवानकी पूजाकर भगवानके ही सामने कायोत्सर्ग धारणकर खड़ी थी ॥ ६२–६३ ॥ उसे देखकर सागरदत्तने अपने मित्रसे पूछा कि रूप और लावण्यसे सुशोभित क्या यह कोई देवता है ? ॥ ६४ ॥ सागरदत्तकी यह बात सुनकर उसके मित्रने कहा कि यह देवता नहीं है किंतु सेठ जिनदत्तकी पुत्री नीली है ॥६५॥ उसके रूपको देखकर वह सागरदत्त उसमें तीव्र आसक्त होगया, वह कामवाणसे वींधा गया और उसका हृदय रागसे भरगया ॥ ६६ ॥ वह रातदिन यही चिंतवन करने लगा कि यह नीली रूप लावण्यकी सीमा है और महा पुण्यवती है, मै इसके साथ किस प्रकार विवाह करूं ? इसी चितामें वह रातदिन कृश होने लगा ॥६६-६७॥ उसके पिता समुद्रदत्तने यह बात जानकर अपने पुत्र सागरदत्तसे कहा कि हे पुत्र! जिनदत्त जैनको छोडकर और किसीको अपनी पुत्री नहीं देगा ॥ ६८ ॥ वह जिनदत्त सेठ हमलोगोंको चंडालके समान देखता है फिर भला विवाहके लिये वह हमें अपनी पुत्री देगा ? ॥ ६९ ॥ यही सोच विचारकर वे दोनो वाप बेटे कपट धारण कर किसी मुनिराजके पास गये और वहांपर जिनधर्म धारण कर दोनों ही धर्मको वढानेवाले श्रावक वन गये ॥७०॥ सागरदत्तने मिथ्यात्व छोड़ दिया है और जिनधर्म धारण कर लिया है यह सब जगह प्रसिद्ध होगया और फिर सेठ जिनदत्तने भी सागरदत्तके लिये अपनी पुत्री दे दी ॥७१॥ जब नीली सागरदत्तके घर चली गई तब उन्होने उसे अपने पिताके घर जानेसे रोक दिया और फिर वे दोनो कुमार्गगामी वाप बेटे बुद्धके भक्त बौद्ध होगये ॥ ७२ ॥ जब यह बात

लय सोऽपि मित्रेण सममेकदा ॥६२॥ कायोत्सर्गान्विता नीली वस्त्राभरणमंडिता । महापूजा विधायोच्चैर्जिनस्याग्रे स्थिता स्वयम् ॥६३॥ आलोक्य स्वयं तेन दृष्टो मित्रस्तदा स्फुटम् । एषा किं देवता काचित् रूपलावण्यसंयुता ॥ ६४ ॥ तदाकर्ण्याशु मित्रेण प्रियदत्तेन भाषितम् । श्रेष्ठिनो जिनदत्तस्य नीली पुत्रीयमेव हि ॥ ६५ ॥ तद्रूपालोकनाज्जातो तीव्रासक्त स तत्क्षणे । ताडित कामबाणेन हृदये रागहेतुत ॥६६॥ रूपलावण्यसीमेयं कथं लभ्या मयाऽधुना । परिणेतु महापुण्या चेत्यभूच्चितया कृशः ॥६७॥ ज्ञात्वा समुद्रदत्तेन तत्पुत्रो भणितस्तदा । मुक्त्वा जैनं खु हे पुत्र ! पुत्रीं नैव ददाति भो ॥६८॥ श्रेष्ठ्ययं जिनदत्ताख्यो मातगानिव पश्यति । अस्मात् कथं स्वपुत्रीं स परिणेतुं ददाति वै ॥६९॥ पर्यालोच्य ततो जातौ श्रावकौ तौ मुनीश्वरात् । कौटिल्येन जिनेन्द्रस्य शासने धर्मदीपकौ ॥७०॥ परिणेतु प्रदत्ता सा पुत्रिका तस्य श्रेष्ठिना । त्यक्त्वा मिथ्यात्वसर्वत्वागृहीतजिनधर्मत. ॥ ७१ ॥ नीत्वा नीलीं स्वयं गेहे निषिध्य गमनं पुन. । पितृगृहे ततो जातौ बुद्धभक्तौ कुमार्गगौ ॥७२॥ ज्ञात्वा तद्वचनं श्रेष्ठी जगादेयं न मे सुता । जाता वा पतिता कूपे नीता वा च यमेन वै

जिनदत्तने मुनी तब वह बहुत पश्चात्ताप करने लगा और कहने लगा कि मेरे पुत्री हुई ही नही थी, अथवा होकर कूएमें पड़ गई अथवा मर गई ॥ ७३ ॥ पुत्रीको अन्धे कूएमें डाल देना अच्छा परन्तु मिथ्यात्वको सेवन करनेवाले मूर्खके लिये देना अच्छा नहीं ॥७४॥ इसका भी कारण यह है कि यदि वह कूएमें डाल दी जायगी तो केवल इसी एक भवम दुःख भोगेगी परन्तु मिथ्यादृष्टीके घर जानेपर वह मिथ्यात्वसे उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके पाप करेगी और फिर अनन्त भवोंतक दुःख पावेगी ॥ ७५ ॥ कन्याको कूएमें डाल देनेसे मनुष्योंको बालहत्याका दोष लगता है और नीच मनुष्यको देनेमें अनेक प्रकारके पाप होते हैं ॥ ७६ ॥

इधर नीली अपने श्वसुरके घर अपने पतिके साथ अलग रहती हुई प्रतिदिन चित्त लगाकर जैनधर्मका पालन करने लगी ॥ ७७ ॥ समुद्रदत्तने यह सोचा कि धर्म श्रवण करनेसे और बौद्ध भिक्षुकोंको दान देनेसे समय पाकर यह बुद्धकी भक्ति करने लगेगी। यही विचार कर किसी एक दिन उसने नीलीसे कहा कि हे नीली! हमारे जो बौद्ध भिक्षु हैं वे बड़े ज्ञानी हैं, बड़े विद्वान् हैं, इसलिये तू उन्हें आमंत्रण कर किसी एक दिन भोजन दे। उनको भोजन देनेसे हमें बहुत सुख होगा ॥७८-७९॥ नीलीने यह बात स्वीकार करली, भिक्षुकोंको आमंत्रण दिया गया, वे आये और नीलीने सबको भोजन दिया परंतु उनकी अनेक प्राणियोको नाश करनेवाली एक एक जूती बारीक कतर कतर कर घी बूरेमें पागकर खिला दी ॥ ८० ॥ जब वे भिक्षु भोजन करके जाने लगे और उन्हें एक एक जूती नहीं मिली तब उन्होंने क्रोधित होकर पूछा कि प्राणोंका हित करनेवाली हमारी एक एक जूती कहां है ॥ ८१ ॥ इसके उत्तरमें नीलीने कहा कि आप तो बडे

॥७३॥ वर क्षिप्ताधकूपाढौ पुत्री सन्मृत्युहेतवे । न ददातु कुमिथ्यात्वाधिष्ठिताय जडात्मने ॥७४॥ सा कूपे पतिता दुःख भुक्ते चैकभव पुन । अनन्तभवज पापान्मिथ्यादृष्टिगृहे गता ॥७५॥ बालहत्या भवेद्दोष कन्याकूपादिक्षेपणात् । नृणा भवेत्कुनीचाय दानात्पापमनेकश ॥७६॥ श्वसुरस्य गृहे नीली पृथग्भूत्वा प्रियान्विता । जैनं धर्मं करोत्येव एकचित्तेन प्रत्यहम् ॥ ७७ ॥ धर्मादिश्रवणाद्दानात्ससर्गाद्वा भविष्यति । कालेन बौद्धभक्तेयं श्रेष्ठी मत्वेति सजगौ ॥७८॥ हे नीलि ! ज्ञानिना त्व हि वदकाना सुभोजनम्। आमत्र्य विदुषा देहि अस्मदर्थं सुखाकरम् ॥७९॥ नोन्याहूय पुनस्तेषा भोक्तु दत्तातिखण्डिता । एकैका प्राणहिता सुसस्कार्यातिरसान्विता ॥८०॥ गच्छद्भिर्भोजन कृत्वा दृष्टा प्राणहिता वरा । क्व गता नैव पश्यामस्तैरागाकितविभ्रमै ॥ ८१ ॥ तयोक्त तर्हि ता सन्ति यूय जानीत शीघ्रत । ज्ञानेन यदि

ज्ञानी और विद्वान् हैं आप ही बतलाइये कि आपकी जूती कहां है ? यदि आपमें इतना ज्ञान नहीं है तो फिर विद्वान् लोग आपको पूज्य कैसे मान सकते हैं। यह सुनकर भिक्षुकोंने कहा कि हमलोगोंमें ऐसा ज्ञान नहीं है। तब नीलीने कहा कि जो सब जूतियां आप लोगोंके पेटमें हैं। यदि आपको मेरे वचनोंका विश्वास न हो तो वमन कर डालिये। इसपर उन्होंने जबर्दस्ती वमन किया और उसमें चर्मके छोटे छोटे टुकडे दिखाई दिये ॥ ८२–८४ ॥ तदनंतर बडे निरादरके साथ और लज्जासे व्याकुल होकर वे सब भिक्षु चले गये। नीलीके इस कर्तव्यसे और भिक्षुकोंका मान खंडन होजानेके कारण श्वसुरके घरके सब लोग नीलीसे रुष्ट होगये ॥ ८५ ॥ क्रोधित होकर सागरदत्तकी बहिन आदिने पापकर्मके उदयसे नीलीके लिये पर मनुष्यके साथ गमन करनेका महादोप लगाया ॥ ८६ ॥ जब नीलीका यह महादोप संसारमें प्रसिद्ध होगया तब नीली नीचे लिखी प्रतिज्ञाकर भगवानके सामने खडी होगई कि " यदि मेरा यह झूठा लगा हुआ दोष नष्ट हो जायगा तब मैं भोजन करूंगी अन्यथा जीवनपर्यंत जीवोंको सुख देनेवाला अनशन व्रत धारण करूंगी ॥ ८७–८८॥ इस प्रकारकी प्रतिज्ञा कर और निश्चल शरीरको धारण कर, धीरवीर महासती नीली हृदयमें भगवान जिनेन्द्रदेवको स्मरण करती हुई कायोत्सर्ग धारण कर भगवानके सामने खड़ी होगई ॥ ८९ ॥ उसके शीलके माहात्म्यसे नगरके देवताको भी क्षोभ उत्पन्न हुआ और उसने रात्रिमें उसके सामने आकर कहा कि—॥ ९० ॥ हे महासती ! तू व्यर्थ ही प्राणोंका त्याग मतकर, मैं आज रातको ही यहांके राजाको, मंत्रीको तथा मुख्य मुख्य सेठ लोगोंको एक स्वप्न देता हूं कि नगरके जो दरवाजे कीलित होगये हैं वे किसी

तन्नास्ति कथ पूज्या बुधोत्तमे ॥८२॥ तैरुक्त नास्ति चास्माकं ज्ञानमीदृग्विध पुन'। तयोक्त तर्हि ता' सन्ति प्रोदरे श्रीमता स्थिताः ॥८३॥ नोचेद्वचनविश्वासः कुर्वीध्व वमन तदा। दृष्टानि चर्मखडानि तैः कृते वमने बलात् ॥८४॥ ततोऽतिनष्टसन्माना' गता लज्जाकुला हि ते। श्वसुरस्य जना' सर्वे रुष्टास्तन्मानखण्डनात् ॥८५॥ कोपात्सागरदत्तस्य भगिन्यादिभिरप्यघात्। नील्या' दत्तो महादोप परनृगमनादिक ॥८६॥ जातो दोप प्रसिद्धोऽस्मिन् लोकमध्ये यदा तदा। जिनाग्रे सत्प्रतिज्ञात्र गृहीताशु तया दृढा ॥८७॥ यदि नश्यति दोपोऽयमहं भक्ष्ये तदा स्फुटम्। नोचेदनशन चास्तु यावज्जीव सुखाकरम् ॥८८॥ इति संन्यासमादाय कायोत्सर्गेण सस्थिता। निश्चलागा महाधीरा सा स्मरन्ती जिन हृदि ॥८९॥ पुरदेवतयागत्य रात्रौ सा भणिता सती। पुरः क्षुभितया शीघ्र शीलमाहात्म्ययोगतः ॥९०॥ हे महासति ! प्राणाना त्याग त्व मा कुरु वृथा। स्वप्न ददाम्यह राज्ञः प्रधानाना च श्रेष्ठिनाम् ॥९१॥ प्रतोल्यो न नगरे सर्वा उद्घटिष्यन्ति कीलिता'। स्पृष्टा महा-

महासतीके बांये पैरके स्पर्श होते ही खुल जायगे।" इसके बाद तू अपने बांये पैरसे उनका स्पर्श करना, तेरे पैरका स्पर्श होते ही वे सब किवाड खुल जांयगे और तेरी शुद्धता प्रगट हो जायगी ॥ ९१–९३ ॥ यह कहकर वह देवता चला गया, उसने जाकर राजा और मंत्रियोंको वैसा ही स्वप्न दिया और फिर नगरके दरवाजोंको कीलित कर स्वयं वहां बैठ गया, ॥ ९४ ॥ दरवाजोंके रक्षकोंने सवेरे ही आकर महाराजसे निवेदन किया। उधर उन्हें स्वप्न आया ही था इसलिये रक्षकोंकी बात सुनते ही स्वप्नकी बात याद की और नगरकी सब स्त्रियोंको बुलाकर सबके बांये पैरका स्पर्श उन दरवाजोंमे कराया परन्तु वे दरवाजे किसीसे नहीं खुले ॥ ९५–९६ ॥ तब पवित्र प्रभाको धारण करनेवाली नीली वहांसे उठाकर लाई गई। उसका पैरका स्पर्श कराते ही दरवाजे झट खुलगये ॥ ९७ ॥ तब राजा प्रजा सबने नीलीको अत्यन्त शीलवती समझा और वस्त्राभरणोंसे उसकी पूजा की तथा अन्य लोगोंने भी उसकी स्तुति की ॥ ९८ ॥ इसप्रकार वह नीली संसारभरमें निर्दोष प्रसिद्ध हुई, सबके द्वारा पूज्य हुई और परलोकमें भी देवोंके द्वारा पूज्य हुई ॥ ९९ ॥ देखो, यम नियम इंद्रियदमन और शान्त परिणामोंसे परिपूर्ण तथा निर्मल गुणोंको उत्पन्न करनेके लिये पृथ्वीके समान और शीलरूपी रत्नोंकी खानि ऐसी सेठकी पुत्री नीली शील–रत्नके प्रभावसे समस्त दोषोंसे रहित हुई तथा इसी लोकमें देव राजा प्रजा आदि सब लोकोंके द्वारा पूज्य हुई ॥ १०० ॥ इस शीलरत्नके प्रभावसे ही सती सीताका अग्निकुण्ड रामचन्द्र आदि सब महापुरुषोंके सामने देवोंके द्वारा सरोवर बनगया था ॥ १०१ ॥ जो महासती सीता देव और मनुष्योंके द्वारा पूज्य हुई थी

सतीवामपादेनैव न चान्यथा ॥ ९२ ॥ तासा सस्पर्शन कुर्या पादेनैवातिशीव्रत॰ । उद्घटिष्यन्ति चेत्पादस्पर्शाच्छुद्धा त्वमेव ताः ॥९३॥ इत्युक्त्वा सा ततो गत्वा दत्वा स्वप्न हि तादृशम् । राजादीना प्रतोलीश्च कीलितापि स्वय स्थिता ॥९४॥ प्रतोलीरक्षकाच्छ्रुत्वा प्रभाते ता. प्रकीलिता॰ । राजादयोपि तत्स्मृत्वा स्वप्न तत्रागता स्वयम् ॥९५॥ आकार्य नगरस्त्रीणा वामपादेन ताडनम् । प्राकारित प्रतोलीनां राज्ञा नोद्घटिता हि ता ॥ ९६ ॥ पश्चान्नीली समुत्क्षिप्य तत्रानीता शुचिव्रतात् । तत्पादस्पर्शनात्ता हि सर्वा उद्घटितास्तदा ॥ ९७ ॥ ततो राजादिभिर्नीली ज्ञात्वा शील प्रशसिता । पूजिता वस्त्राभरणै स्तुता लोकैस्तथा परै॰ ॥९८॥ त्यक्तदोषास्तदा जाता लोकमध्येऽतिसत्त्वत॰ । इहामुत्र च विख्याता पूज्या नीली नरामरै ॥९९॥ सकलविगतदोषा शीलसारेण जाता । अमरनृपजनैश्च पूजितात्रैव लोके । यमदमशमपूर्णा श्रेष्ठिपुत्री हि नीली । विमलगुणधरित्री शीलरत्नादिखानि ॥ १०० ॥ सीताशीलप्रभावेन अग्निकुण्ड सरोवरम् । जातं देवै कृतं

था ॥१११॥ उसकी रानीका नाम कनकमाला था। दैवयोगसे वह शीलरहित थी। उसी राजाके यहां एक यमदंड नामका कोतवाल था, और उसकी माताका नाम वसुंधरी था ॥ ११२ ॥ वह वसुंधरी विधवा थी, अत्यंत जवान थी और व्यभिचारिणी थी। किसी एक दिन शामके समय यमदंडकी स्त्रीने अपने कुछ आभूषण अपनी सासु वसुंधरीके पास रखनेके लिये दिये थे। उन आभूषणोको लेकर वह वसुंधरी रात्रिके समय जारके पास जारही थी। मार्गमें यमदंडने उसे रोक लिया, उसके साथ विषयसेवन किया और उसके पास जो आभूषण थे वे लेकर अपनी स्त्रीको देदिये ॥ ११३–११४ ॥ उन आभूषणोंको देखकर उसकी स्त्रीने कहा कि ये तो मेरे आभूषण हैं, मैंने ये शामको रखनेके लिये अपनी सासुको दिये थे ॥ ११५ ॥ अपनी स्त्रीकी यह बात सुनकर यमदंडने उसी समय सोच लिया कि रातको जिसे मैंने सेवन किया है वह मेरी माता ही होगी ॥ ११६ ॥ तदनंतर वह मूर्ख जानबूझकर भी प्रतिदिन रातको जार बनकर उसके घर जाने लगा और उस अपनी माताके साथ कुकुर्म करने लगा ॥ ११७ ॥ वह कुमार्गगामी महामूर्ख यमदंड अपने पापकर्मके उदयसे छिपकर प्रतिदिन अपनी माताके पास जाने लगा और उसके साथ अत्यंत आसक्त होगया ॥ ११८ ॥

किसी एक दिन यमदण्डकी स्त्रीने क्रोधित होकर धोबिनसे कह दिया कि " मेरा पति अपनी माताके साथ सदा रहता है " ॥११९॥ धोबिनने यह बात मालिनसे कह दी। इसप्रकार वह यमदण्डका पाप समस्त संसारमें प्रसिद्ध होगया ॥ १२० ॥ किसी एक दिन सुन्दर फूल लेकर वह मालीन रानीके पास गई। रानीने कौतूहलपूर्वक उससे कोई अपूर्व

कनकादिरथो राजा जात. पुण्यफलोदयात् ॥१११॥ राज्ञी कनकमालाभूत्तस्य शीलादिवर्जिता। तलारो यमदण्डाख्यो हि माता तस्य वसुधरी ॥११२॥ एकदा पुश्चली रात्रौ रण्डातितरुणा शुभा। वध्वा धर्तुं प्रदत्तानि गृहीत्वाभरणानि वै ॥११३॥ गच्छन्ती जारपार्श्वे सा यमदडेन सेविता। दृष्ट्वा तद्भूषणं ज्ञात्वा स्वभार्यादत्तमेव च ॥११४॥ तद्दृष्ट्वा नु तया प्रोक्त मदीय भूषण स्फुटम्। एतद्दिनावसाने च मया श्वसु करे धृतम् ॥ ११५ ॥ तस्या वाच समाकर्ण्य चिन्तितं तेन तत्क्षणे। या मया सेविता नून सा मे माता भविष्यति ॥ ११६ ॥ ततोऽसौ जारसंकेतगृहं गत्वा सदा निशि। कुकर्म गूढवृत्त्या हि करोत्येव तया समम् ॥ ११७ ॥ मात्रासमं स मूढात्मा प्रत्यह दुरितोदयात्। अन्यासक्तो हि सजात' प्रच्छन्नेन कुमार्गतः ॥ ११८ ॥ एकदा रुष्टया प्रोक्त रजक्यास्तस्य भार्यया। निजमात्रासमं भर्ता तिष्ठत्येव सदा मम ॥११९॥ रजक्या कथितं मालाकारिण्याः प्रीतियोगतः। तद्वृत्तान्तमहो याति व्यक्त पाप स्वय भुवि ॥१२०॥ सत्पुष्पाणि समादाय

बात पूछी ॥ १२१ ॥ मालिनने कहा कि हे देवी ! पापी यमदण्ड कोतवाल प्रतिदिन अपनी माताके साथ विषयसेवन करता है ॥ १२२ ॥ रानीने यह बात राजासे कह दी कि हे देव ! आपका मूर्ख कोतवाल अपनी माताके साथ आसक्त होगया है ॥ १२३ ॥ राजाने रानीकी यह बात सुनकर गुप्तचरोंके द्वारा छिपकर सब बात देखी और फिर उसपर विश्वास किया ॥ १२४ ॥ तदनंतर राजाने उस पापी यमदंडको वध, बंधन, छेदन, आदि महा घोर दुःख देकर दंडित किया ॥ १२५ ॥ पाप और कुमार्गमें चलनेके महा दुःखोंको भोगकर वह यमदंड मरकर अत्यंत दुःख देनवाली घोर दुर्गतियोंमे परिभ्रमण करने लगा ॥ १२६ ॥ परस्त्रीहरण करनेके दोषसे ही रावणका राज्य नष्ट होगया था और वह मरकर तीसरे नरकमें पहुंचा था, उसकी कथा संसारमें प्रसिद्ध है ॥ १२७ ॥ अमृतादेवी नामकी महा पट्टरानी इस शीलव्रतके अभावसे ही अनेक प्रकारके कष्ट और दुःखोंको सहकर छठवें नरकमें पहुंची थी ॥१२८॥ वैराग्यको वढानेवाली उसकी कथा महाराज यशोधरके जीवनचरित्रसे (यशोधरचरित्र अथवा यशस्तिलकचपूसे) जान लेना चाहिये ॥ १२९ ॥ ग्यारह रुद्र दशपूर्वोके जानकार थे और जिनमुद्राको धारण करनेवाले थे तथापि केवल शीलभंगके पापसे उन्हें नरकके दुःख भोगने पडे थे ॥ १३० ॥ वासुदेव आदि और भी अनेक पुरुष हुए हैं जिन्हें दुर्गतियोके घोर दुःख भोगने पडे हैं वे सब शीलव्रतके खंडन करनेसे ही भोगने पडे हैं ॥ १३१ ॥ देखो ! यमदंड कोतवाल विषयोंके वश होकर कुमार्गगामी हुआ

सा राज्ञीनिकट गता । अपूर्वा च कथा काचित् तया पृष्टा कुतूहलात् ॥१२१॥ तयोक्त देवि पापात्मा कामक्रीडा करोति वै । यमदडतलारोऽय स्वावया सह प्रत्यहम् ॥१२२॥ राज्याशु भणितो राजा देव वे रक्षकस्तव । अवया सह लुब्धोऽय तिष्ठत्येव विमूढधीः ॥१२३॥ ततो राज्ञा तदाकर्ण्य प्रच्छन्नपुरुषै स्फुटम् । गूढवृत्त समालोक्य कृत तन्निश्चय स्वयम् ॥१२४॥ ततो राज्ञा महादु खैश्च्छेदवधवधादिजै । निगृहीतोऽतिसघोरैर्यमदडोऽति पापतः ॥१२५॥ अनुभूय महादु ख सोऽपि पापकुकर्मजम् । मृत्वा गतोऽतिसघोरा दुर्गतिं तीव्रक्लेशदाम् ॥१२६॥ परस्त्रीदोषत प्राप्तो रावण पट्प्रमाक्षितिम् । राज्यनाशादिक प्राप्य तस्य ख्याता कथा भुवि ॥१२७॥ अमृताख्या महादेवी षष्ठ च नरक गता । या शीलेन विना भुक्त्वा दु.ख कुष्ठादिसंभवम् ॥ १२८ ॥ तस्या कथा जनैर्ज्ञेया वैराग्यादिकरा वरा । यशोधरमहीपालचरित्रे शीलहेतवे ॥१२९॥ एकादश गता रुद्रा दशपूर्वांगपारगा । जिनमुद्राधराः श्वभ्र शीलभगाघपाकत. ॥१३०॥ अन्ये ये बहवो जाता प्राघूर्णा दुर्गते' भुवि । वासुदेवा दय ख्यातास्ते शीलव्रतवर्जनात् ॥ १३१ ॥ अशुभसकलपूर्णा दुर्गति दु.खतप्ता । अतिकुपथगतत्वाद्दुष्ट-

था इसलिये उस पापके फलसे उसे राजाके द्वारा दिये हुए अत्यंत तीव्र दुःख भोगने पडे और फिर समस्त दुःखोमे परिपूर्ण दुर्गतियोके दुःख भोगने पडे। इसलिये ऐसे पापोसे बचना ही कल्याणकारक है ॥ १३२ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप, नीलीवाई और कोतवालकी कथाको कहनेवाला यह पद्रहवा परिच्छेद समाप्त हुआ।

अथ सोलहवां परिच्छेद।

जिन्होने कर्मरूप शत्रुओके समूहको शांत करदिया है, जो शांति देनेवाले है, और संसारभरमें शांतिके स्थापक हैं ऐसे श्री शांतिनाथ भगवानको मै अपने कर्म शांत करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ अव मै उत्कृष्ट सन्तोषको उत्पन्न करनेवाले और लोभको नाश करनेवाले परिग्रहपरिमाण नामके पांचवें अणुव्रतको कहता हूं ॥ २ ॥ गणधरादि देवोंने परिग्रहपरिमाणको सबसे श्रेष्ठ व्रत कहा है तथा श्रावकोंका लोभ दूर करनेके लिये ही शास्त्रोमें इसका निरूपण है ॥ ३ ॥ जो बुद्धिमान् सन्तोप धारणकर परिग्रहोकी संख्या नियत करलेते हैं उनके यह पांचवां परिग्रहपरिमाण नामका व्रत होता है ॥ ४ ॥ खेत, घर, धन, धान्य, नौकर चाकर, घोड़ा बैल आदि पशु, आसन, शयन, वस्त्र और भांड ये गृहस्थोंके दश प्रकारके परिग्रह भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहे है। गृहस्थोंको पापरूप आरम्भोंको घटानेके लिये इन सब परिग्रहोकी संख्या

आरक्षकोऽत्र। विषयपरवशाद्वा सगत पापपाकात्। नृपकृतमपि तीव्र दुःखभार च भुक्त्वा ॥ १३२ ॥

इति श्रीभट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे स्थूलब्रह्मचर्यव्रते नील्यारक्षककथाप्ररूपको नाम पचदशम परिच्छेद।

अथ षोडशमः सर्गः।

शान्तिनाथ नमस्यामि जगत्शान्तिविधायकम। शान्तकर्मारिसचक्र शान्तिद कर्मशान्तये ॥१॥ पचमाणुव्रत वक्ष्ये सन्तोषादिकरं परम्। परिग्रहप्रमाणाख्य लोभाद्यादिप्रशान्तये ॥ २ ॥ परिग्रहप्रमाण सद्व्रत प्रोक्तं गणाधिपै। लोभादिकविनाशार्थं श्रावकाणा जिनागमे ॥३॥ कृत्वा सन्तोषसार ये सख्या कुर्वन्ति सद्बुधाः। परिग्रहस्य तेषां स्यात्तत्स्थूल पचम व्रतम् ॥४॥ क्षेत्रं गृहं धन धान्य द्विपद च चतुष्पदम्। आसन शयन वस्त्र भाडं स्याद्गृहमेधिनाम् ॥ ५ ॥ जिनेन्द्रैर्दशधा प्रोक्ता गृहस्थाना परिग्रहा। तेषां सख्या नरेः कार्या

नियत करलेनी चाहिये ॥ ५६ ॥ इनमें पहिला परिग्रह खेत है वह सबसे अधिक हिंसा करनेवाला है अतएव धर्म-पालन करनेके लिये तू उसका साग कर । यदि तू उसका त्यागकर नही सकता तो हल आदिकोंकी संख्या नियत कर ले ॥७॥ संसारमें जितनी भी घर आदिकी संपत्ति है वह सब ममत्व वढानेवाली है और त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसा करनेवाली है इसलिये सन्तोषधर्मको सिद्ध करनेके लिये तू घर आदिकोंकी भी संख्या नियत करले ॥ ८ ॥ हे वत्स ! पाप उत्पन्न करनेवाले लोभको छोड़कर और सन्तोपरूपी अमृतको पीकर सोना चांदी आदि धनकी भी थोड़ीसी संख्या नियत करले ॥ ९ ॥ चावल, गेहूं, चना आदि अनेक कीड़ोंके उत्पन्न होनेके कारण हैं अतएव अपने व्रत शुद्ध रखनेके लिये तू इनका भी थोडासा प्रमाण नियन करले ॥१०॥ श्रावकोंको अपने गुरुके पास जाकर दास दासी आदि सेवकोंका तथा स्त्रियोंका प्रमाण नियत करलेना चाहिते ॥११॥ घोड़ा, बैल, गाय आदि जितने पशु हैं सबके पालन करनेमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती है इसलिये इनका भी प्रमाणकर संख्या नियत कर लेनी चाहिये ॥ १२ ॥ इसीप्रकार गाड़ी, पालकी आदि सवारियोंकी संख्या भी नियत कर लेनी चाहिये और धर्म-पालन करनेके लिये पलङ्ग आदि सोने व आराम करनेके साधनोंकी भी संख्या नियत करलेनी चाहिये ॥ १३ ॥ इसी तरह वस्त्रोंकी संख्या तथा वर्तन आदि अन्य सामग्रियोंकी संख्या भी नियत करलेनी चाहिये ॥१४॥ इस परिग्रहके परिमाण करनेसे गृहस्थोंका लोभ नष्ट होजाता है और तृष्णा संतोष रूपमें परिणत होजाती है ॥१५॥ सतोपसे धर्म होता है, धर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और स्वर्ग प्राप्त होनेसे सुख मिलता है इसलिये

पापारम्भादिहानये ॥६॥ अथ हिंसाकर क्षेत्र त्यज त्व धर्महेतवे । यदि त्यक्तु समर्थो न सख्या कुरु हलादिके ॥ ७ ॥ ममत्त्वजनके सारे स्थावरत्रसघातके । सन्तोपधर्मसिद्ध्यर्थं भज सख्या गृहादिके ॥ ८ ॥ द्रव्यरूप्यसुवर्णादौ स्तोका संख्या विधेहि भो । लोभ पापकर त्यक्त्वा पीत्वा सन्तोषजामृतम् ॥९॥ शाल्यादि सर्वधान्याना प्रमाण भज सर्वथा । कीटाद्युत्पत्तिहेतूना हस्वव्रतविशुद्धये ॥१०॥ भृत्याना दासदासीनां भार्याणा च शुभाय वै । परिमाण प्रकर्तव्य श्रावकै गुरुसन्निधौ ॥ ११ ॥ अश्ववृषभगोसर्वचतुष्पदकदम्बके । त्रसादिहिंसके स्तोका कुरु सख्यां प्रपापदे ॥१२॥ याने सिंहासने चैव शकटादौ तथा भज । प्रमाण मित्र ! धर्माय खट्वादिशयने वरे ॥१३॥ क्षौमादिके सुवस्त्रे च भज सख्या व्रताय भो । मञ्जिष्ठादौ सद्भाडे महार्घे भाजने तथा ॥ १४ ॥ परिग्रहप्रमाणेन लोभश्चैव विलीयते । नृणा सन्तोष सद्राज्य भवत्येव गृहेशिनाम् ॥१५॥ सन्तोषाज्जायते धर्मो धर्मात्स्वर्गस्तत सुखम् । तस्मात्सुखार्थिना लोके त्याज्यो लोभोऽतिदूरत. ॥१६॥ सन्तोष-

सुख चाहनेवाले लोगोंको यह लोभ दूरसे ही छोड देना चाहिये ॥१६॥ संतोषके समान सुख तीनों लोकमें न तो हुआ है न होसकता है न इसके समान अन्य कुछ सार है और न कोई इसके समान उत्तम धर्म प्रगट करनेवाला है॥१७॥ संतोषरूपी आसनपर वैठा हुआ मनुष्य जो जो पदार्थ चाहता है वह चाहे तीनों लोकोंमें कही भी क्यों न हो उसे उसी समय मिल जाता है॥१८॥ जो उत्तम विद्वान् संतोषरूपी थोड़ेसे अमृतको भी पी लेता है वह जन्म मरण बुढ़ापा आदि विषको नष्टकर और महा सुखोंको भोगकर अंतमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥ १९ ॥ जिसप्रकार मागनेवाले लोगोंको धनकी प्राप्ति नही होती उसीप्रकार जो लोभसे द्रव्यकी इच्छा करते हैं उन्हें द्रव्यकी भी प्राप्ति नहीं होती ॥ २० ॥ जिसप्रकार निस्पृह जीवोंको विना इच्छाके भी धनकी प्राप्ति होजाती है उसीप्रकार संतोप धारण करनेसे मनुष्योंको धनकी प्राप्ति अपने आप होजाती है ॥ २१ ॥ संतोप धारण करनेसे द्रव्य आता है और लोभ करनेसे घरमें रक्खा हुआ द्रव्य भी चला जाता है। यही विचार कर हे भव्य पुरुषो ! जो धर्म और धन प्राप्त करानेवाला इष्ट हो वही करना चाहिये ॥ २२ ॥ अथवा पुण्यकर्मके उदयसे मनुष्योंके लक्ष्मी स्वयं आजाती है और विना पुण्यके वहुत दिनसे इकट्ठी की हुई और घरमें रक्खी हुई लक्ष्मी भी नष्ट हो जाती है ॥ २३ ॥ इसलिये धन चाहनेवाले लोगोंको अपनी शक्तिके अनुसार पुण्यकार्य करना चाहिये। क्योंकि लक्ष्मी पुण्यसे ही आती है विना पुण्यके केवल इच्छा करनेसे कुछ नही होता ॥ २४ ॥ इस लोकमें चक्रवर्तीकी लक्ष्मी तथा तीर्थकरोंकी लक्ष्मी और परलोकमें इंद्रादिकको सुख देनेवाली लक्ष्मी धर्मात्मा मनुष्यके ही घर स्थिरताके साथ निवास करती है ॥ २५ ॥ जो बुद्धिमान थोड़ेसे भी परिग्रहका परिमाण कर लेते हैं उनके घर उनकी परीक्षा करनेके लिये वहुतसा

सदृशं सौख्य न भूत भुवनत्रये। भविष्यति न सार च नास्ति धर्माकर परम् ॥१७॥ सन्तोषासनमासीनो यद्यद्वस्तु समीहति। तत्तदेव समायाति स्थित लोकत्रयेऽचिरात् ॥१८॥ सन्तोषाख्यसुधा पीत्वा जन्ममृत्युजराविषम्। हत्वा भुक्त्वा महासौख्य शिवं यान्ति बुधोत्तमा ॥ १९ ॥ न लभन्ते यथा लोके याचाशीला धन नराः। तथा लोभात्समीहन्ते ये ते द्रव्य भजन्ति न ॥ २० ॥ यथा च निस्पृहा जीवा प्राप्नुवन्ति धन हठात्। तथा सन्तोषद्रव्येण द्रव्यमायाति देहिनाम् ॥२१॥ सन्तोषाच्छ्री समायाति लोभाद्याति गृहात् पुन.। विचार्येति कुरु त्व भो यदिष्टं धर्मद पुन ॥२२॥ अथवा सातिपुण्येन नृणामायाति भो स्वयम्। तद्विना सा गृहाच्छीघ्र नश्यत्येव चिरार्जिता ॥२३॥ तस्माद्धनार्थिना लोके पुण्य कार्यं स्वशक्तित। येनायाति महालक्ष्मीस्तद्विना काक्षया हि किम् ॥२४॥ धर्माद्गृहे स्थिति कुर्युः श्रियश्च-

धन जबरदस्ती आजाता है ॥ २६ ॥ परिग्रहोंका नियम किये विना यह प्राणी पशुके समान है इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि दोनों ही परिग्रहका परिमाण किये विना अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण करते हैं ॥ २७ ॥ कदाचित् सूर्य अपना तेज छोड दे और सुमेरु पर्वत अपनी स्थिरता छोड दे तो भी विना नियमके मनुष्योंको पुण्यकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥२८॥ जिसप्रकार पशु नग्न रहते हुए भी विना किसी प्रकारका नियम धारण किये पुण्य प्राप्त नहीं कर सकते उसीप्रकार धर्म-रहित प्राणी भी विना नियमके पुण्य सम्पादन नहीं कर सकते ॥२९॥ यम नियम पालन करनेसे मनुष्योंको प्रचुर पुण्यकी प्राप्ति होती है और सन्तोष धारण करनेसे संसारमें यश फैलता है तथा इन्द्रियां वशमें होजाती हैं, मन शांत होजाता है ॥३०॥ नियमरूपी अंकुशके ताड़न करनेसे विषयरूपी वनमें इच्छानुसार घूमता हुआ और धर्मरूपी श्रेष्ठ वृक्षोंको उखाडता हुआ मनरूपी हाथी वशमें होजाता है ॥३१॥ हे भव्य ! सन्तोषरूपी तीक्ष्ण तलवारसे अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर लोभरूपी दुराचारका नाशकर और नियमादिक वा परिग्रहका परिमाण धारण कर ॥ ३२ ॥ इसका भी कारण यह है कि लोभके फंदेमें फँसा हुआ यह प्राणी धनके लिये गुरु और सज्जन लोगोंको भी मार देता है और अनेक प्रकारके पाप उपार्जन करता है जिन पापोंके फलसे उसे नरकमें ही जाना पडता है ॥ ३३ ॥ लोभी मनुष्य न तो धर्मको समझता है, न पापको जानता है, न सुखदुःखको जानता है, न हित अहितको जानता है, न गुरुको समझता है, न देवको समझता है, न कुगतिको जानता है और न गुण अवगुणको जानता है ॥ ३४ ॥ यह जीव लोभके ही कारण अनेक देशोंमें तथा समुद्रोंमें परिभ्रमण

क्रादिगोचरा. । तीर्थादिका इहामुत्र शक्रादिसुखदा नृणाम् ॥ २५ ॥ परिग्रहप्रमाण ये स्वल्प कुर्वन्ति धीधना । आगच्छति हठात्तेषा परीक्षार्थं महद्धनम् ॥२६॥ नियमेन विना प्राणी पशुरेव न सशय' । परिग्रहप्रमाणस्य स्वेच्छाचारणकारणात् ॥२७॥ क्वचित्सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्व च सुराचलः । विना न नियमात्पुसा पुण्य संजायते तराम् ॥२८॥ यथा हि पशवो नग्नाः पुण्य सन्नियमाद्विना । न लभंते तथा ज्ञेया प्राणिनो धनवर्जिता ॥२९॥ नियमेन सदा नृणा पुण्य जायेत पुष्कलम् । सन्तोष च यशो लोके इन्द्रियादिजय शमम् ॥ ३० ॥ मनोगजो वश याति नियमाकुशताडनात् । भ्रमन् स विषयारण्ये मूलयन् धर्मसद्द्रुमान् ॥३१॥ हत्वा लोभ दुराचार स्वशक्तिमनिगुह्य भो । सन्तोषखड्गतीक्ष्णेन भज त्व नियमादिकम् ॥ ३२ ॥ यतो लोभाकुल प्राणी हन्ति सद्गुरुसज्जनान् । धनार्थं पापमाचष्टे येन श्वभ्रालय व्रजेत् ॥३३॥ लोभाविष्टो न जानाति धर्मं पाप सुखासुखम् । हिताहित गुरु देव कुगति च गुणागुणम् ॥३४॥ लोभादगी भ्रमेद्देशानद्धे-

करता है और धनके लिये ही हजारो कपट वनाता है॥३५॥ जिसमकार अग्निको वहुतसे ईंधनसे भी सन्तोप नहीं होता और समुद्रको अनेक नादियोके जलसे भी सन्तोष नहीं होता उसी प्रकार लोभी पुरुपको वहुतसा धन मिलजानेपर भी सन्तोष नहीं होता ॥३६॥ लोभी मनुष्योंकी आशा समस्त संसारमें फैल जाती है और रत्न आदि संसारभरका समस्त धन दे देनेपर भी वह शांत नहीं होती॥३७॥ यह धन दुःखसे तो आता है, आये हुए धनकी वड़े दुःखसे रक्षा होती है और इसके चले जानेपर भी मनुष्योंको दुःख ही होता है इसमकार सव जगह दुःख देनेवाले इस धनको धिक्कार हो॥३८॥ धन प्राप्त हो जानेसे मनुष्योंको उसकी रक्षा आदिकी चिंता उत्पन्न होजाती है इसके सिवाय वह परलोकमें भी नरक आदि दुर्गतियोके महा दुःख देनेवाला है ॥ ३९ ॥ वहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि यह धन समस्त दुःखोंको खानि है और विना दानके गृहस्थोको अनेक मकारके शोक क्लेश और दुःखोंको देनेवाला है ॥ ४० ॥ यही समझकर हे मित्र ! सन्तोप रूपी सार पदार्थको धारणकर अपकीर्ति देनेवाले लोभको नाशकर और धनादिककी संख्या नियतकर ॥ ४१ ॥ हे मित्र! देख, यह कुलोभ गणधर और मुनियोके द्वारा निंद्य है, दानादिक शुभ कार्योंसे रहित है, पापरूपी वनको वढानेके लिये मेघ है, धर्मरूपी कल्पवृक्षको जलानेके लिये अग्नि है, नरकादिक दुर्गतियोंका मार्ग है और मुक्तिरूपी घरको वंद करनेके लिये किवाडके समान है इसलिये तू परिग्रहका परिमाण नियतकर इस कुलोभका त्यागकर ॥ ४२ ॥ जो पुरुप पांचो अतिचारोको छोडकर परिग्रहपरिमाण व्रतको धारण करता है वह बुद्धिमान सोलहवें स्वर्गके सुख भोगकर अंतमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ४३ ॥

सागरगोचरान् । धनार्थं प्रविधत्ते च कपटादिसहस्रकान् ॥३५॥ लोभाक्रान्तो व्रजेन्नैव सन्तोष धनभूरिभि । इन्धनैरनलो यद्वत्सागरो वा सरिज्जलै ॥३६॥ लोभाविष्टमनुष्याणा आशा विश्व विसर्पति । तस्या न शान्तये विश्वं दत्तं रत्नादिसभृतम् ॥३७॥ अर्थं दु.खेन चायाति स्थिर दुःखेन रक्ष्यते । गते दु खं भवेन्नृणा धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥३८॥ अर्थात्सजायते चिंता रक्षणादिकृतागिनाम् । इहामुत्र सहेदद्दु.खं सर्वं श्वभ्रादियोनिजम् ॥३९॥ किमत्र वहुनोक्तेन सर्वदु.खाकर धनम् । दान विना गृहस्थाना शोकक्लेशाशुभप्रदम् ॥४०॥ इति मत्वा हि भो मित्र ! हत्वा लोभ कुकीर्तिदम् । नीत्वा सन्तोषन राज्य भज सख्या धनादिके ॥४१॥ गणधरमुनिनिंद्य सर्वदानादिवर्ज्जं, दुरितकुवनमेघं धर्मकल्पद्रुमाग्निम् । नरककुगतिमार्गं मुक्तिगेहे कपाट, सुभग त्यज कुलोभ संगसख्या विधाय ॥४२॥ पचातिचारनिर्मुक्ता सत्परि-

प्रश्न—हे प्रभो ! कृपाकर इस व्रतको शुद्ध करनेके लिये इस व्रतके पांचो अतीचारोंको कहिये ॥ ४४ ॥

उत्तर—हे श्रावकोत्तम ! तू चित्त लगाकर सुन । इस व्रतमें मल उत्पन्न करनेवाले और त्याग करने योग्य अतिचारोको कहता हू ॥ ४५ ॥ अतिवाहन, अतिसग्रह, विस्मय, लोभ, और अतिभारारोपण ये पांच परिग्रहपरिमाणके अतीचार हैं ॥ ४६ ॥ घोडे बैल आदिको उनकी शक्तिसे अधिक चलाना और मार मारकर चलाना अतिवाहन नामका पहिला अतिचार * ॥ ४७ ॥ लोभके वश होकर धन धान्यादिकका अतिशय संग्रह करना अतिसंग्रह नामका दूसरा अतिचार है ॥४८॥ जो खरीदनेयोग्य पदार्थ वेच दिया हो अथवा उस खरीदने योग्य पदार्थकी प्राप्ति ही न हुई हो उस समय लोभके वश होकर विषाद करना अतिविस्मय नामका तीसरा अतिचार है ॥ ४९ ॥ जो धन प्राप्त हो जानेपर भी उसको देने वा खर्च करनेमें अत्यंत तृष्णा करते है अथवा धनकी प्राप्तिके लिये अतिशय लोभ करते हैं उनके लोभ नामका चौथा अतिचार लगता है ॥ ५० ॥ जो निर्दय होकर न्यायमार्गको छोडकर (शक्तिसे अधिक) वोझा लाद देते हैं उनके अतिभारारोपण नामका अतिचार लगता है ॥ ५१ ॥ हे मित्र ! यह परिग्रहका परिमाण करना शुभगतिरूपी रत्नोंका पात्र है, नरकरूपी घरको बंद करनेके लिये किवाडोंके समान है, धर्मरूपी रत्नोंकी खानि है, अशुभरूपी वृक्षोंको उखाडनेके लिये वायुके समान है और लोभरूपी हाथीको मारनेके लिये सिंह है । इसलिये तू साररूप संतोषको धारणकर परिग्रहपरिमाण

ग्रहसख्यया । प्राप्य षोडशम नाक क्रमाद्याति शिव बुधा ॥४३॥ भट्टारक ! व्यतीचारानादिश व्रतशुद्धये । पञ्चमाणुव्रतस्यैव कृपां कृत्वा शुभाय मे ॥४४॥ एकाग्रचेतसा सर्वान् शृणु श्रावक ! तेऽधुना । कथयामि व्यतीपातान् त्याज्यान् व्रतमलप्रदान् ॥४५॥ स्यादतिवाहन चादौ ततोऽतिसग्रहो भवेत् । अतिविस्मयोऽतिलोभश्चातिभाराधिरोपणम् ॥ ४६ ॥ कुर्वन्ति वृषभादीनामतिरेकेण वाहनम् । मार्गे प्रमाणतो लोभात् ये विक्षेप भजन्ति ते ॥४७॥ अत्यन्तसग्रह योऽपि धान्यादीना करोति वै । लोभावेशवशात्तस्य व्यतीपातो बुधै॰ स्मृतः ॥४८॥ क्रयाणक च विक्रीय मूलतो गृहणे तथा । लोभाद् धृते विषाद यस्तस्य स्यादतिविस्मयः ॥ ४९ ॥ लब्धेऽप्यर्थे विशिष्टे च तृष्णा कुर्वन्ति ये पुन॰ । लोभार्थं लोभतस्तेषा व्यतिचारो मलप्रद॰ ॥५०॥ उल्लंघ्य न्यायमार्गं यो धत्ते भाराधिरोपणम् । दया विना भवेत्तस्य व्यतिपातोऽशुभप्रद॰ ॥५१॥ सुगतिगृहप्रवेश धर्मरत्नादिभाड । नरकगृहकपाट धर्मरत्नाकर वै । अशुभतरुसमीर लोभमातगसिंह । कुरु धनपरिमाणं तोषसार गृहीत्वा ॥५२॥ पञ्चमाणुव्रतं धत्ते यः पूजा प्राप्य देवजाम् । इहैवाशु क्रमाद्याति स्वर्ग मुक्ति च शुद्धधी ॥५३॥ सम्प्राप्ता येन

व्रतको धारण कर ॥ ५२ ॥ जो बुद्धिमान् इस परिग्रहपरिमाण व्रतको धारण करता है वह देवोंके द्वारा आदर सत्कार पाकर अनुक्रमसे स्वर्गमोक्षके सुख प्राप्त करता है ॥ ५३ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! जिसने इस व्रतको पालनकर इस लोकमें भी देवोंके द्वारा आदर सत्कार प्राप्त किया उसकी कथा कृपाकर निरूपण करिये ॥ ५४ ॥

उत्तर—हे श्रावकोत्तम ! तू मनके अन्य सब संकल्प विकल्प छोडकर सुन ! मैं पुण्य बढानेवाली राजा जयकुमारकी कथा कहता हूं ॥ ५५ ॥ कुरुजांगलदेशके हस्तिनापुर नामके शुभ नगरमें पुण्य-कर्मके उदयसे कुरुवंशी राजा सोमप्रभ राज्य करता था ॥ ५६ ॥ उसके पुत्रका नाम जयकुमार था उसने परिग्रहपरिमाणका व्रत लिया था और स्त्रीपरिमाणमें उसके केवल सुलोचना ही थी, और सबका त्याग था ॥ ५७ ॥ किसी एक दिन जयकुमार और सुलोचना दोनो दम्पती अपने पहिले विद्याधर भवकी कथा कहकर अनेक प्रकारके दृश्य देखते हुए बैठे थे कि इतनेमें ही पहिले भवकी विद्याने आकर कहा कि हे राजन् ! मुझे आज्ञा दीजिये, मैं इस संसारमें आपके सब काम कर सकूंगी ॥ ५८–५९ ॥ उस विद्याके बलसे उन दोनोंने पहिले भवके हिरण्यवर्मा और प्रभावती नामके विद्याधर विद्याधरीका रूप धारण किया ॥ ६० ॥ उन दोनोंने पुण्य बढानेवाली सुमेरुपर्वत आदिकी यात्रा की और फिर चौवीस तीर्थकरोंकी वंदना करनेके लिये वे दोनो कैलास पर्वतपर आये ॥ ६१ ॥ वहांपर महाराज भरतने जो चौवीस तीर्थंकरोके जिन भवन बनवाये थे उनकी वंदना की और फिर वे दोनों अलग अलग स्थानपर जा विराजमान हुए ॥ ६२ ॥ इसी समय सुधर्मा सभामें सौधर्म इन्द्रने जयकुमारके संतोष-

---

सत्पूजा व्रतादिहामरैः कृता । विधायानुग्रह ! स्वामिन् कथां तस्य निरूपय ॥५४॥ श्रृणु श्रावक ! सत्त्वा मन सकल्पवर्जितम् । जयाख्यस्य नृपस्यैव कथा वक्ष्ये शुभप्रदाम् ॥ ५५ ॥ कुरुजागलसद्देशे हस्तिनागपुरे शुभे । कुरुवशे नृप पुण्यादभवत्सोमप्रभाह्वय ॥५६॥ तस्य पुत्रो जयोनाम कृतसंख्यां परिग्रह. । भार्या सुलोचनाया तु प्रवृत्तिस्तस्य नान्यथा ॥ ५७ ॥ एकदा दपती पूर्वं विद्याधरभवस्य तौ । कथयित्वा कथा यावत्स्थितौ भवधीक्षणौ ॥५८॥ तावदागत्य विद्याभिर्भणितोऽसौ नराधिप । आदेश देहि भो देव सर्वकार्यकर भुवि ॥५९॥ तद्बलाद्रुपमादाय तद्विद्याधरगोचरम् । हिरण्यवर्म तद्भार्या प्रभावत्यो परिस्फुटम् ॥ ६० ॥ सुमेर्वादौ विधायाशु यात्रा पुण्यकरा शुभाम् । कैलाशमागतौ तौ हि वंदितु जिनपुगवान् ॥६१॥ भरतेशकृतान् तत्र चतुर्विंशतिसद्गृहान् । पुजयित्वा स्थितौ यावत्पृथग्भूतौ परस्परम् ॥६२॥

व्रतकी प्रशंसा की ॥६३॥ इसलिये उसकी परीक्षा करनेके लिये दिव्य गुणोंसे सुशोभित ऐसा रविप्रभ नामका देव अपने परिवारके साथ आया ॥६४॥ रविप्रभने हावभाव विलास और लावण्यरससे परिपुरित ऐसा विद्याधरीका उत्तमरूप धारण किया ॥६५॥ तथा चार विलासिनी उसने अपने साथ लीं। इसप्रकार स्त्रीका रूप धारणकर वह शीघ्र ही जयकुमारके पास आया और जयकुमारसे कहने लगा कि हे नरेश्वर! जिस विद्याधरोंके स्वामी राजा नमिने सुलोचनाके स्वयंवरमें तेरे साथ कातरोंको भय उत्पन्न करनेवाला भयंकर युद्ध किया था उसकी मै समस्त गुणोंसे परिपूर्ण स्वरूपा नामकी महारानी हूं, मै इस समय असंत यौवन हूं, मेरे पास अनेक विद्याएं हैं और मैं महाराज नमिसे विरक्त होगई हूं। इसलिये हे पुरुषोत्तम! यदि आप महाराज नमिका राज्य चाहते हैं औरं अपनेको जीवित रखना चाहते हैं तो मुझे स्वीकार कीजिये ॥ ६६–६९ ॥ उस वनी हुई विद्याधरीकी यह वात सुनकर जयकुमारने कहा कि तूने यह वडी ही प्रतिकूल, निंद्य, पाप संतापको उत्पन्न करनेवाली, और बुरी वात कही ॥ ७० ॥ मेरे परस्त्रीगमन करनेका सदाके लिये त्याग है। सुलोचनाके विना अन्य स्त्रियां मेरे लिये माताके समान हैं ॥ ७१ ॥ इसलिये हे देवी! तू भी कुत्सित परिणामोंको छोड, धर्म और व्रतोंको धारण कर तथा विद्वानोंके द्वारा पूज्य होती हुई शीलवती हो ॥ ७२ ॥ इतना कहकर जयकुमार गुणोंकी खानि और ध्यानके मूल कारण ऐसे श्री तीर्थंकर भगवानको हृदयमें विराजमान कर कायोत्सर्ग धारणकर खडा होगया ॥ ७३ ॥ तब उस देवने कोई उपाय

तत्प्रस्तावे जयस्यैव प्रशसा हि कृता वरा। सौधर्मस्वर्गनाथेन जाता सन्तोपसद्व्रतात् ॥६३॥ परीक्षितु जय तत्रागतो रविप्रभाह्वय'। परिवारेण सयुक्तो देवो दिव्यगुणान्वित ॥६४॥ हावभावविलासाढ्यं लावण्यरसवर्द्धितम्। रूप कृत्वा गुणोपेत खेचरीगोचरं वरम् ॥६५॥ चतुर्विलासिनीमिश्र सह प्रागत्य शीघ्रत.। स्त्रीरूपधारिणा तेन भणितोऽसौ नरेश्वर ॥६६॥ स्वयवरे कृतो येन सग्रामोपि त्वया सह। रौद्र' सुलोचनाया हि भीरुभीतिप्रदो हठात् ॥६७॥ नमेर्विद्याधराधीशपतेस्तस्य गुणाकराम्। स्वरूपाख्या महाराज्ञीं तद्विरक्ता सुयौवनाम् ॥६८॥ महाविद्यान्विता शीघ्र मामिच्छ पुरुषोत्तम। यदि वाच्छसि तस्यैव राज्य च स्वस्य जीवितम् ॥६९॥ तदाकर्ण्य जयेनोक्त हे सुदरि विरूपकम्। प्रोक्त त्वयाति निंद्य च पापसन्तापकारि यत् ॥७०॥ नित्य स्यान्नियमो मेऽपि परस्त्रीगमनादिके। सुलोचना विना सर्वा नार्यो मे जननीसमा' ॥ ७१ ॥ तस्माच्छीलवती त्व च भवन्नित्य बुधार्चिता। कुत्सित परिणाम स्व त्यक्त्वा धर्मव्रतान्विता ॥ ७२ ॥ इत्युक्त्वा सस्थितो यावत्कायोत्सर्गं विधाय च। चित्त विधाय तीर्थेशपादमूले गुणाकरे ॥७३॥ तावत्तया कृतोघोर उपसर्गोऽतिदुस्सहः। हावभाव-

न देखकर हावभाव कटाक्षोंके द्वारा तथा दृढ आलिंगनोंके द्वारा अत्यंत असह्य और घोर उपसर्ग किया ॥७५॥ जयकुमार मेरु पर्वतके समान अचल होकर खड़ा रहा. उसने घोर दुःख देनेवाली और त्याग करनेयोग्य ऐसी समस्त घोर परीषह सहन की ॥ ७५ ॥ तब उस देवने अपनी माया संकोची और प्रगट होकर जयकुमारसे कहा कि मै तेरी परीक्षासे अत्यंत संतुष्ट हुआ है ॥ ७६ ॥ हे देव ! आप महा पुरुषोंके द्वारा भी पूज्य हैं, धीरवीर हैं, विद्वानोंके द्वारा स्तुति करने योग्य हैं, हमने आपकी कीर्ति स्वर्गमें भी देवोंकी सभामें सुनी है। हे देव ! सौधर्म इन्द्रने आपके सन्तोष व्रतकी बहुत अधिक प्रशंसा की थी परन्तु वास्तवमें आपकी प्रशंसा उसमे भी अधिक है उसे सुनकर ही हम आपकी परीक्षा लेनेके लिये आए थे। हे पुरुषोत्तम ! आपको देखकर अब हमारा निर्णय होगया॥७७-७८॥ सप्रकार कहकर तथा वस्त्राभरणोंसे उसकी पूजाकर नमस्कारकर और अनेक प्रकारसे प्रशंसाकर वह देव अपने स्थानको चला गया ॥ ८० ॥ तदनंतर जयकुमार भी अपने घर आया और प्रतिदिन धर्मको हृदयमें विराजमानकर संसारके सुख भोगने लगा ॥ ८१ ॥ किसी समय उस पुण्यवानको वैराग्य उत्पन्न हुआ, उसने तृणके समान राज्यका त्याग कर दिया, और मोहरूपी महा पापका नाश कर दीक्षा धारण कर ली ॥ ८२ ॥ तदनंतर उन जयकुमारने वैराग्यभावनाओंके द्वारा सारभूत असह्य तपश्चरण किया और समस्त कर्मोको नाश कर अजर अमर मोक्षपद प्राप्त किया ॥ ८३ ॥ और भी बहुतसे श्रावकोने इस संतोष व्रतको धारणकर अनुपम सुख प्राप्त किया है, इस संसारमें उन सबकी कथाओंको कौन कह सकता है ॥ ८४ ॥ जो समस्त गुणोंके समुद्र थे, स्वर्गके देवोंने

कटाक्षैश्च दृढैरालिंगनादिभि ॥७४॥ सस्थितोऽकम्पमानोऽसौ महामेरुरिवानिशम् । जित्वा परीषहान् सर्वान् त्यज्यमान घोरदुःखदान् ॥७५॥ ततोसावुपसहृत्य माया वक्ति जय प्रति । प्रकटीभूय सन्तुष्टस्तत्परीक्षणतोऽमर. ॥ ७६ ॥ त्व देव ! महता पूज्यो धीरोसि त्व बुधैऽस्तुत' तवकीर्तिः श्रुतास्माभि. स्वर्गे देवसभादिषु ॥७७॥ सौधर्मपतिना नाके ते प्रशसा यथा कृता। साधिकातो भवेन्नून सन्तोषव्रतसंभवा ॥७८॥ ता समाकर्ण्य देवाह प्रागतस्ते परीक्षितुम् । अद्य मे निर्णयो जातो दृष्ट्वा त्वा पुरुषोत्तमम्॥७९॥ इत्युक्त्वा पूजयित्वा च वस्त्राभरणमण्डनैः । प्रणम्य सोऽमरो नाकप्रशस्य मुहुरप्यगात् ॥८०॥ ततो जयकुमारोपि गृहमागत्य प्रत्यहम् । धृत्वा स्वमानसे धर्मं भुक्ते ससारजं सुखम् ॥८१॥ कदाचिज्जातवैराग्यस्त्यक्त्वा राज्यं तृणादिवत् । हत्वा मोहं महापाप दीक्षा जग्राह पुण्यधी. ॥८२॥ कृत्वातिदुस्सह सार तपो वैराग्यभावत. । हत्वा कर्माणि सर्वाणि जयोऽगादव्यय पदम् ॥८३॥ अन्ये ये बहव' प्राप्ता. सुख सन्तोषसद्व्रतात् । श्रावका' कः कथा तेषा क्षमः कथयितु

भी जिनकी पूजा की थी, इंद्रने भी जिनकी प्रशंसा की थी, जो धीरवीर थे, विद्वानोंके द्वारा पूज्य थे, समस्त शंकाओंसे रहित थे, लोभके सर्वथा त्यागी थे, संसारभर जिनकी सेवा करता था और जो मुक्ति-लक्ष्मीके स्वामी हुए थे ऐसे मुनिराज जयकुमार सदा जयशील हो ॥ ८५ ॥ जो मूर्ख धर्मरूप और साररूप गुणोंकी खानि ऐसे सन्तोष व्रतको छोडकर लोभ करता है वह अनेक दुर्गतियोंके दुःख भोगता है ॥ ८६ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! इस परिग्रहपरिमाण नामके व्रतके विना जिसने दुःख पाया है उसकी कथा कृपाकर कहिये।

उत्तर—हे श्रावकोत्तम ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं परिग्रहपरिमाण व्रतको न पालनेवाले अत्यंत लोभी ऐसे श्मश्रु-नवनीतकी कथा कहता हूं ॥ ८८ ॥ इसी भरतक्षेत्रके अयोध्या नगरमें भवदत्त नामका एक सेठका लड़का था उसको सुख देनेवाली धनदत्ता नामकी उसकी स्त्री थी ॥ ८९ ॥ उन दोनोंके एक पुत्र हुआ था उसका नाम लुब्धदत्त था। वह अत्यंत लोभी था। किसी एक समय द्रव्य कमाने और व्यापार करनेके लिये वह दूर देशांतरमें गया ॥९०॥ वहांपर जाकर उसने द्रव्य भी कमाया परंतु पापकर्मके उदय होनेसे मार्गमें ही दुःख देनेवाले चोरोंने उसका सब धन लूट लिया ॥ ९१ ॥ इसप्रकार अत्यंत निर्धन होकर वह अपने घरको आ रहा था। मार्गमें किसी एक दिन उसने गवालियेके घरसे पीनेके लिये छाछ मांगी ॥ ९२ ॥ छाछके पीलेनेपर उसने देखा कि उस छाछमेंके मक्खनके कुछ कण मूछोंमें लगगये हैं। उन्हें देखकर उसने अपने हृदयमें विचार किया कि थोडे दिन इसी प्रकार छाछ पीपीकर मक्खनके कण

भुवि ॥ ८४ ॥ अखिलगुणसमुद्रः पूजितो नाकदेवै. । सुरपतिकृतशंसो धीरवीरो बुधार्च्यः । विगतसकलशंकस्त्यक्तलोभो मुनींद्रो । जयतु भुवनसेव्यो मुक्तिनाथो जयाख्यः ॥८५॥ व्रतसन्तोषजं त्यक्त्वा धर्मसारगुणाकरम् । लोभं करोति यो मूढः प्राघूर्णो दुर्गते· स ना ॥८६॥ भो भट्टारक! येनैव प्राप्तं दुःखं व्रतं विना। परिग्रहप्रमाणाख्यं कथां तस्य निरूपय ॥८७॥ उपासक! शृणु त्वं हि कृत्वा चित्तं सुनिश्चलम् । प्रवक्ष्येऽहं कथां सारां ते श्मश्रुनवनीतजाम् ॥८८॥ अत्रैव भारते वर्षेऽयोध्यायां श्रेष्ठिनंदनः। भवदत्तोऽभवद्भार्या धनदत्ता सुखप्रदा ॥८९॥ तयोः पुत्रोऽभवल्लुब्धदत्तो लोभसमाकुलः । वाणिज्येन गतो दूरमेकदा द्रव्यहेतवे ॥९०॥ दुर्गमार्गे हठान्नीतं सर्वद्रव्यमुपार्जितम् । तस्करै-र्दुःखदैस्तस्य पूर्वपापविपाकतः ॥ ९१ ॥ एकदा निर्धनेनैवागच्छता गृहमात्मनः । कुमार्गे गोकुले तक्रं तेन पीतुं हि याचितम् ॥ ९२ ॥ तस्मिन्पीते समालोक्य कूर्चे लग्नं कथंचन। स्वल्पं सुनवनीतं च गृहीत्वा तेन चिंतितम् ॥९३॥ प्रभविष्यति मेऽनेन कालेनैव धनादिकम् ।

इकट्ठे करनेसे व्यापार करनेयोग्य धन होसकता है इसलिये कुछ दिन तक घासकी एक झोंपड़ी बनाकर यहां ही रहना चाहिये ॥ ९३–९४ ॥ इसप्रकार विचारकर वह वहीं एक झोंपड़ी बनाकर उसीमें रहने लगा। वह प्रतिदिन मूछोंमें लगे हुए मक्खनको इकट्ठा करता था इसलिये लोगोंने उसका नाम श्मश्रुनवनीत रखलिया था ॥९५॥ कुछ समय पाकर इकट्ठा होते होते वह घी लगभग एक सेरके होगया तब किसी एक दिन शीतकालके समय उस छोटी झोंपड़ीको वंदकर वह लघुदत्त दरवाजेकी ओर पैरकर सोगया। दरवाजेके पास ही घीका वर्तन रक्खा हुआ था और उसके पास ही शीतसे बचनेके लिये अग्नि जला रक्खी थी। इसप्रकार लेटे लेटे वह बड़े भारी आरम्भ और संग्रहका विचार करने लगा ॥९६-९७॥ वह सोचने लगा कि अब मैं इस घीसे कपास आदिका व्यापार कर सकता हूं। इसप्रकार धीरे धीरे व्यापार करते करते बाहरसे माल लानेवाला और ले जानेवाला बड़ा व्यापारी हो जाऊंगा ॥९८॥ तदनन्तर मेरे हाथी, घोडे आदिकी विभूति होजायगी। बड़े बड़े सामन्त होजांयगे, राज्य मिल जायगा और फिर इसी व्यवसायसे राजाधिराज पद मिल जायगा ॥९९॥ तदनन्तर मैं चक्रवर्ती होजाऊंगा इसमें कोई संदेह नहीं। फिर मुझे समस्त इंद्रियोंके सुख देनेवाले भोगोपभोग प्राप्त होजांयगे ॥ १०० ॥ तब मैं सतखने महा मनोहर शुभ राजभवनमें सोऊंगा, अनेक शुभ लक्षणोंसे सुशोभित स्त्री–रत्न मेरे पैरोंके पास बैठेगी ॥ १०१ ॥ वह बड़ी रूपवती होगी और हृदयमें भोगोंकी लालसा करती हुई वह मेरे पैर दाबनेके लिये अपने हाथोंसे मेरे पैर पकडेगी ॥ १०२ ॥ तब मैं वडे प्रेमके साथ उस सुंदर स्त्रीको यह कहकर स्वयं लात मारूंगा

तृणकुट्या स्थितेनैव सद्व्यवसायहेतवे ॥ ९४ ॥ इति सचिन्त्य तत्रैव स्थितोऽसौ तस्य प्राप्तये। तावल्लोकैः कृत नाम हि श्मश्रुनवनीतकम् ॥९५॥ अथैकदा घृते जाते कालात्प्रस्थप्रमाणके। सस्तरे शीतकाले स कुटीद्वारे ससकटे ॥९६॥ पादान्ते स तृणं धृत्वा वह्निं च घृतभाजनम्। मानसे चिंतयत्येव महारभादिसग्रहम् ॥९७॥ इदानीं सद्व्रतेनाह करोमि क्रयविक्रयम्। कार्पासादिभिव पश्चात्सार्थवाहो भवामि वै ॥९८॥ अश्वहस्त्यादिसल्लक्ष्म्या सामन्तादिपद ततः। राज्याधिराजज प्राप्य पद च व्यवसायतः ॥९९॥ क्रमेण चक्रवर्ती च भविष्यामि न सशयः। अवाप्स्यामि तदा भोगान् सर्वेन्द्रियसुखप्रदान् ॥ १०० ॥ यदा सप्ततले रम्ये प्रासादे शयने शुभे। स्त्रीरत्नं प्रोपविष्ट मे पादान्ते शुभलक्षणम् ॥ १०१ ॥ महारूपान्वित सारं मुष्च्या पादो ग्रहीष्यति। पादमर्दनमाकर्तुं भोगतत्परमानसम् ॥१०२॥ न जानासि त्वमेवाह भणित्वेति तदा स्वयम्। पादेन ताडयिष्यामि स्नेहेनाति वर हि तत् ॥१०३॥ एव चिंतयतो तेन मूढेन रभसा स्वयम्। पाद-

कि हे, यह क्या करती है, तू नहीं जानती कि मैं स्वयं तेरे रूपमें मिलगया हूं ? ॥ १०३ ॥ इसप्रकार चिंतवन करते हुए और अपने हृदयमें अपनेको चक्रवर्ती मानते हुए उस मूर्ख लघुदत्तने आलसके साथ पैर फैलाये ॥ १०४ ॥ दैवयोगसे वे पैर घीके वर्तनपर जा लगे जिससे वह सब घी फैलकर अग्निमें जा पड़ा और उस घीसे दरवाजेके पास ही अग्नि बड़ी तेजीके साथ जलने लगी ॥ १०५ ॥ वह अग्निकी भारी ज्वाला दरवाजेके पास ही जल रही थी इसलिये वह बाहर निकल भी न सका और उस अग्निमें ही जलकर मरगया ॥ १०६ ॥ व्रत रहित होने और अत्यंत तीव्र लोभी होनेके कारण रौद्रध्यानसे उसके प्राण छूटे और इसीलिये उसे अनेक दुःखोंसे भरपूर अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करना पड़ा ॥ १०७ ॥ इसके सिवाय सुभौम चक्रवर्तीको आदि लेकर और भी ऐसे वहुतसे लोग होगये हैं जिनका हृदय लोभसे सदा व्याकुल रहता था और जो अत्यंत लोभी थे, और इसीलिये वहुतसे आरंभ और परिग्रहके कारण उन्हें नरक और तिर्यंच गतियोंके दुःख भोगने पडे । उन सवकी कथाओंको कोई भी विद्वान नहीं कह सकता ॥१०८–१०९॥ हे मित्र ! देख ! यह कुलोभ समस्त पापोकी जड है, अनेक दुर्गतियोंके दुःख देनेवाला है और विद्वानोंके द्वारा निंद्य है। इसी कुलोभके कारण लघुदत्त वैश्यको दुर्गतिमें जाना पडा इसलिये सारभूत संतोषरूपी शस्त्रोंके द्वारा कुलोभको नष्टकर ॥११०॥ इस संसारमें जो श्रावक निःशंकित आदि सम्यग्दर्शनके अङ्गोंको पालन करते है, जैनधर्मको पालनकर प्रसन्न होते हैं, सन्तोष आदि सद्गुणोंको धारण करनेमें तत्पर रहते हैं, श्री जिनेन्द्रदेव और मुनियोंकी सदा भक्ति करते रहते हैं, धर्मध्यानमें सदा लीन रहते हैं, और जिनकी बुद्धि शुभ है ऐसे श्रावक पांचों अणुव्रतोंको पालनकर सुख देनेवाले अच्युत स्वर्गको पाते हैं और फिर

प्रसारितश्चक्रे विवर्त्याधितचेतसा ॥१०४॥ पतितं तेन पादेन तस्यैव घृतभाजनम् । द्वारे सधूक्षितोग्निश्च घृतेन ज्वलितस्तराम् ॥१०५॥ महाग्निज्वलिनाद्द्वारान्निस्सर्तुं सोऽक्षमो मृतः । दग्धदेहोऽतितीव्र प्र-भुक्त्वा दुःख कुर्वन्हि नम् ॥१०६॥ दुर्ध्यानेन गतो घोरां दुर्गतिं दुःख-पूरिताम् । व्रतादिरहितो मूढस्तीव्रलोभाकुलोत्पथात् ॥१०७॥ अन्ये ये वहवो लोके लोभाकुलितचेतसः । चक्रवर्तिसुभौमादिप्रमुखा धनलोलुपाः ॥१०८॥ श्वभ्रतिर्यग्गतिं प्राप्ता वह्वारम्भपरिग्रहात् । प्राज्ञः पुमान् कथा लोके कस्तेषां कथितुं क्षमः ॥१०९॥ अखिलदुरितमूलां दुर्गतिं दुःखयोनिं विवुधजनविनिंद्यां लुब्धदत्तो वणिग्भो । गत इह धन लोभाच्चेति मत्वा मनुष्य ! त्वमपि हन कुलोभं सारसन्तोषशस्त्रैः ॥११०॥ निःशंकादिगुणान्विता हि मुदिताः श्रीजैनसच्छासने, सन्तोषादिषु तत्परा जिनपतेः भक्ता मुनीनां तथा । धर्मध्यानपरायणाः शुभधियः पञ्चैव

अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ १११ ॥ ये पांचों अणुव्रत देवगतिके सुखके घर हैं, ज्ञानरूपी रत्नके पिटारे हैं, मोक्षकी जड हैं, अनेक गुणोंसे सुशोभित हैं, दुर्गतिरूपी घरको वंद करनेके लिये किवाड हैं, पापरूपी वृक्षोंको जलानेके लिये अग्नि है। हे मित्र ! ऐसे इन पांचों अणुव्रतोंको तू पालन कर ॥ ११२ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे परिग्रहपरिमाणका स्वरूप और जयकुमार तथा श्मश्रुनवनीतकी कथाको कहनेवाला यह सोलहवा परिच्छेद समाप्त हुआ।



अथ सत्रहवां परिच्छेद ।

जो कुन्थु आदि समस्त जीवोंकी दया पालन करनेमें चतुर हैं, जो तीर्थंकर और चक्रवर्ती हैं और जो देवाधिदेव है ऐसे श्री कुंथुनाथ भगवानको मै कुंथु आदि समस्त जीवोंकी दया पालन करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ इस-प्रकार अणुव्रतोंका स्वरूप कहकर अव आगे गृहस्थोको सुख देनेवाले और गुणोकी खानि ऐसे तीनों प्रकारके गुणव्रतोंका वर्णन करते हैं ॥ २ ॥ गणधरदेवोंने दिग्विरतिव्रत, अनर्थदण्ड विरतिव्रत, और भोगोपभोग संख्यान ऐसे श्रावकोंके तीन गुणव्रत वतलाये है ॥ ३ ॥ ये गुणव्रत दया आदि व्रतोके कारण है और गुणोंको वढानेवाले हैं। इसलिये धर्मकी सिद्धिके लिये इनको सारभूत गुणव्रत कहते हैं ॥ ४ ॥ जो वुद्धिमान् समस्त दिशाओकी मर्यादा नियतकर उसके वाहर कभी नहीं

चाणुव्रतान्। धृत्वा यान्ति शिवालय सुखकर प्राग्गाच्युत श्रावकाः ॥१११॥ सुरगतिसुखगेह दानरत्नादिभाड। धृतिकरमपि सार मुक्तिकन्द गुणाढ्यम् । कुगतिगृहकपाट पापवृक्षव्रजाग्नि। अणुव्रतमपि मित्र । पञ्चक प्राचरत्वम् ॥११२ ॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्ति विरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे परिग्रहपरिमाणव्रत जयश्मश्रुनवनीतकथाप्ररूपको नाम षोडशम परिच्छेदः।

अथ सप्तदशमः सर्गः ।

कुथु कुथ्वादिजीवाना दयादक्ष जिनाधिपम् । वन्दे चक्रधरं देव कुथ्वग्यादिदयाप्तये ॥ १ ॥ अणुव्रतानि व्याख्याय त्रिःप्रकार गुणव्रतम् । गुणाकर प्रवक्ष्यामि गृहस्थाना सुखप्रदम् ॥२॥ दिग्विरतिव्रत प्रोक्त चानर्थदडवर्जनम् । भोगोपभोगसख्याख्यं श्रावकाणा गणाधिपे ॥३॥ गुणव्रतानि सारानि गुणानामऽपि वृहणात् । भवंति धर्मसिद्ध्यर्थं दयादिव्रतकारणात् ॥४॥ सख्या विधाय यो धीमान् दिक्कूप-

जाता है उसके दिग्विरति नामका पहिला गुणव्रत होता है ॥ ५ ॥ स्वामी वृषभदेवने समुद्र, नदी, पर्वत, द्वीप, देश, वन आदि इस दिग्व्रतकी मर्यादा बतलाई है ॥ ६ ॥ अथवा जीवोंकी हिंसा बचानेके लिये गृहस्थोंको योजनोंके द्वारा दशों दिशाओंकी मर्यादा नियतकर लेनी चाहिये ॥ ७ ॥ नियत की हुई मर्यादाके बाहर स्थूल अथवा सूक्ष्म सब तरहके हिंसा आदि पापोंका त्याग होजाता है तथा मर्यादाके बाहर पापोके लिये मनुष्योके संकल्प और भाव भी नही होते इसीलिये बुद्धिमान् मर्यादाके बाहर समस्त पापोंका त्याग होजानेसे उन अणुव्रतोको मर्यादाके बाहर महाव्रत कह देते हैं ॥ ८–९ ॥ हिंसादिक पांचो पापोका मन, वचन, कायसे और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करना महाव्रत कहलाता है ॥ १० ॥ यद्यपि इस प्रकारका त्याग दिग्व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंके नही होता तथापि एक देश हिंसादिकका त्याग करनेवाले और दिग्व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंके मर्यादाके बाहर उपचारसे महाव्रत माना जाता है ॥ ११ ॥ इस दिग्व्रतको धारण करनेसे संतोष होता है, मर्यादाके बाहर भ्रमणका त्याग होजाता है और हिंसादि पापोंका सर्वथा त्याग होजाता है इसलिये दिग्व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंको महा पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥ १२ ॥ इस दिग्व्रतको धारण करते समय बुद्धिमान गृहस्थोंको अपने स्वार्थको वशमें कर जीवनपर्यंततकके लिये नियम करना चाहिये ॥ १३ ॥ जो गृहस्थ अतिचार रहित इस दिग्व्रतको पालन करता है वह सुख देनेवाले महा पुण्यको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

प्रश्न—हे भगवन् ! कृपाकर इस व्रतके अतिचारोंका निरूपण कीजिये ।

मूहे वहिः कदा । न याति तस्य धर्माय भवेद्दिग्विरतिव्रतम् ॥५॥ सागराद्रिनदीद्वीपदेशोऽटव्यादयो मताः । मर्यादा जिननाथेन दिग्विरतिव्रतस्य वै ॥६॥ गृहस्थैरथवा कार्या योजनैर्गणनादिभिः । सख्या दशदिशा यावज्जीवहिंसादिहानये ॥७॥ मर्यादात्परतः पाप स्थूल सूक्ष्म न जायते । वधादि पचकोपेत सकल्पाभावतो नृणाम् ॥८॥ महाव्रतानि कथ्यन्तेऽणुव्रतान्यऽपि धीधनैः । कृतसख्याबहिर्भागे सर्वसावद्यवर्जनात् ॥९॥ हिंसादिपचपापाना यस्त्यागस्तन्महाव्रतम् । मनोवाक्काययोगैः स्यान्नृणा स्वान्यकृतादिकै. ॥१०॥ सद्भिश्चैवोपचारेण प्रणीत सन्महाव्रतम् । देशहिंसादित्यक्ताना दिग्विरतिकृतात्मनाम् ॥११॥ महापुण्य भजेदगी सद्दिग्विरतिसख्यया । सन्तोषाद्गमनाभावान्नित्य हिंसा विवर्जनाम् ॥१२॥ कर्तव्यो नियम. सारो दिग्विरतिव्रते बुधैः । यावज्जीव व्रतायोच्चै. कृत्वा स्वान्तं वशे स्वयम् ॥१३॥ अतीचारपरित्यक्त दिग्विरतिव्रत चरेत् । यो गृही तस्य जायेत सत्पुण्य च सुखाकरम् ॥ १४ ॥ भगवन्तो व्यतीपातान् सदिशध्व व्रतस्य मे ।

उत्तर–हे मित्र ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं उन अतिचारोंको कहता हूं ॥ १५ ॥ ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और विस्मरण ये पांच इस दिग्व्रतके अतिचार हैं ॥ १६ ॥ जो प्रमादसे अज्ञानसे अथवा किसी कार्यके वश होकर ऊपरकी (ऊर्ध्व दिशाकी) नियत की हुई मर्यादाको उल्लंघन करते हैं उनके दोष उत्पन्न करनेवाला ऊर्ध्वव्यतिक्रम नामका पहिला अतिचार होता है ॥ १७ ॥ जो किसी कार्यके वशसे नियत की हुई अधोलोककी मर्यादाका उल्लंघन करते हैं उनके व्रतको नाश करनेवाला दूसरा अधोव्यतिक्रम नामका अतिचार लगता है ॥ १८ ॥ जो लोभके वश होकर आठों दिशाओंकी मर्यादाका त्याग कर देते हैं उनके व्रतको घात करनेवाला और असह्य ऐसा तिर्यग्व्यतिक्रम नामका अतिचार लगता है ॥ १९ ॥ जो पुरुष प्रमाद अज्ञान अथवा लोभसे सब दिशाओंके क्षेत्रकी मर्यादाको बढा लेते हैं उनके क्षेत्रवृद्धि नामका अतिचार होता है ॥ २० ॥ जो दिग्व्रतमें धारण की हुई मर्यादाको ही भूल जाते हैं उनके पाप संताप और दुःख देनेवाला विस्मरण नामका अतिचार होता है ॥ २१ ॥ हे भव्य ! तू दयाको पालन करनेके लिये और व्रतोंको शुद्ध करनेके लिये अतिचारोंको छोडकर पुण्य बढानेवाले दिग्व्रतको धारण कर ॥ २२ ॥ इस प्रकार पहिले गुण-व्रतका व्याख्यानकर अब तेरे लिये अनर्थदंडविरति नामके दूसरे गुणव्रतका व्याख्यान करता हूं ॥ २३ ॥ जो पुरुषोत्तम दिग्व्रतका पालन करता हुआ भी विना कारणके लगनेवाले पापोंका त्याग करता है उसके अनर्थदंडविरति नामका व्रत होता है ॥ २४ ॥ यद्यपि अनर्थदंडके बहुतसे भेद हैं तथापि व्यर्थ ही पापोंको उत्पन्न करनेवाले उसके पांचो भेदोंको मैं

एकचित्तेन भोमित्र ! शृणुतात् कथयाम्यहम् ॥ १५ ॥ ऊर्ध्वव्यतिक्रमश्चाधो व्यतिपातो भवेन्नृणाम् । तिर्यग्व्यतिक्रम क्षेत्रवृद्धिर्विस्मरण दिशाम् ॥१६॥ प्रमादाज्ञानतो येऽपि कार्य्यत्वाल्लङ्घयन्ति ये । ऊर्ध्वसख्यामतीचार लभन्ते मलदायकम् ॥१७॥ क्वचित्कार्यवशाद् येऽपि अध.सख्या त्यजन्ति ते । प्राप्नुवन्ति व्यतीपातं व्रतस्य नाशक नरा ॥१८॥ तिर्यग्दिक्षु सुमर्यादा ये त्यजन्ति कुलोभत । अतिक्रमो भवेत्तेषा दुस्सहो व्रतघातक ॥१९॥ क्षेत्रवृद्धि प्रकुर्वन्ति दिक्समूहस्य ये बुधा' । अतीचारो भवेत्तेषा प्रमादाज्ञातलोभत ॥ २० ॥ यो दिग्विरतिभूमीना धत्ते विस्मरण शठः । व्यतीपात श्रयेत्सोऽपि पापसन्तापदु.खदम् ॥२१॥ व्यतीपातविनिष्क्रान्त दिग्विरतिव्रत दृढम् । भजेच्च परलोकार्थ दयार्थ च शुभप्रदम् ॥२२॥ गुणव्रत द्वितीयं ते व्याख्यायेक गुणव्रतम् । वक्ष्ये धर्माय चानर्थदण्डविरतिलक्षणम् ॥२३॥ मध्ये दिग्विरतेर्नित्य य करोति नरोत्तम । कारणेन विना पापत्याग तस्याऽपि तद्भवेत् ॥२४॥ अनेकभेदयुक्तस्यानर्थदण्डस्य साम्प्रतम् ।

कहता हूं। भावार्थ—बहुतसे भेद इन्हीं पांचोंमें अंतर्भूत हैं ॥२५॥ पापोपदेश, हिंसादान, दुराचरणोंको करनेवाला अपध्यान, कानोंको दूषित करनेवाली दुःश्रुति और प्रमादके वश रहनेवालोंकी प्रमादचर्या ये पांच अनर्थदंडके औत्सर्गिक वा मुख्य भेद हैं ॥ २६–२७ ॥ हाथी घोडे आदि तिर्यंचोंके बांधने, उनके खरीदने वेचनेके लिये, जीवोंकी हिंसा करनेके लिये, खेती आरंभ आदिके वचन कहनेके लिये, विवाहके लिये, झूठ चोरी परीग्रहके लिये, कुगुरु कुदेव आदिकी पूजा करने, पाप बढाने मिथ्यात्व सेवन करनेके लिये, घरके निंद्य व्यापार करनेके लिये, श्रेष्ठ धर्मकी क्रियाओंको रोकनेके लिये, धन कमानेके लिये, दीक्षा लेनेसे रोकनेके लिये, जो अज्ञानी जीव दूसरे लोगोंको उपदेश दिया करने हैं उसको भगवान जिनेंद्रदेवने पापोपदेश नामका पहिला अनर्थदंड कहा है ॥ २८–३१ ॥ जो मूर्ख लोगोके द्वारा पापरूप उपदेश दिया जाता है उसको विद्वान लोग दुःख देनेवाला पापोपदेश अनर्थदंड कहते हैं ॥ ३२ ॥ विद्वान् लोगोंको धर्मोपदेश छोडकर अपने वा दूसरेके लिये दुःखका सागर ऐसा पापोपदेश कभी नहीं देना चाहिये ॥ ३३ ॥ इसका भी कारण यह है कि जो उन पापोंको करता है या उनका उपदेश देता है, या उनमें अपनी सम्मति देता है उन सब मूर्खोंके एकसा पाप लगता है ॥ ३४ ॥ इसलिये हे मित्र ! तू सदा धर्मोपदेशकर। कंठगत प्राण होनेपर भी पापोपदेश मतकर पापोपदेशका सर्वथा त्यागकर ॥३५॥

तलवार आदि सब प्रकारके शस्त्र, कुदाल, कुठार, लकड़ी, रस्सी, अग्नि, सांकल, जो जो बैल घोडा आदि

पञ्चभेदान् प्रवक्ष्यामि वृथा पापप्रदायकान् ॥२५॥ आद्य पापोपदेशश्च हिंसादान भवेत्तत । अपध्यान दुराचार दु श्रुति , श्रुतिदूषित.॥२६॥ जिनै. प्रमादचर्यापि प्रमादवशवर्तिनाम् । उत्सर्गात्पचभेद चानर्थदड व्रत मतम् ॥ २७ ॥ तिर्यग्हस्त्यश्वबधादौ क्रयविक्रयकारणे । सत्त्वहिंसादिके कृष्यारम्भादौ वचनादिके ॥२८॥ विवाहविषयेऽसत्यस्तेयादौ च परिग्रहे । कुदेवे कुगुरौ पापमिथ्यात्वादिप्रप्रेरणे ॥२९॥ गृहव्यापारसावद्ये सद्धर्मादिनिवारणे । द्रव्यार्जननिमित्ते च प्रवृज्यादिनिषेधने ॥३०॥ दीयते उपदेशो यो चान्येषा वा बुधैर्नरै । पापोपदेश उक्तोऽय जिननाथेन पापद ॥३१॥ शठै पापादियुक्तो य उपदेशोऽत्र दीयते । निरूपित' बुधै पापोपदेश सकलोपि स ॥३२॥ मुक्त्वा धर्मोपदेश च हित स्वस्य परस्य च । न दातव्यो बुधै पापोपदेशो दु खसागर ॥३३॥ यत. करोति यः पापमुपदेश ददाति य' । अनुमन्ये तयोर्मूढ. सर्वेषा तद्भवेद्ध्रुवम् ॥३४॥ तस्मात्त्व कुरु भोमित्र ! नित्य धर्मोपदेशनम् । त्यज पापोपदेश च प्राणै कठगतैरपि ॥३५॥ खड्गासर्वायुधान्येव खनित्रादिकमजसा । कुठारो यष्टिका रज्वाद्यग्निश्रृखलिकादिकम् ॥३६॥ शकटे वा वलीवर्दे घोटके वधकारणम् ।

पशुओके मारने वा बाधनेके कारण हो, जो जो हिंसाके उपकरण हो, चक्की, उखली, चूलि, बुहारी आदि पाप उत्पन्न करनेवाले हो तथा विष आदि और भी जो जो जीवोके घातक हो उन सबका दूसरोंके लिये देना हिंसादान कहलाता है। क्योकि ये सब कर्मोके बंधका कारण है ॥ ३६–३८ ॥ मूर्ख लोग जीवोंको दुःख देनेवाले, बाधा पहुंचानेवाले जो जो पदार्थ दूसरोको देते हैं वह सब गौतमादि देवोने हिंसादान कहा है ॥ ३९ ॥ गृहस्थोंको महा हिंसा करनेवाला लोह आदिका व्यापार भी नही करना चाहिये क्योंकि ऐसा व्यापार सब अशुभ है और पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥ ४० ॥ हिंसा और जीवोका विध्वंस करनेवाला लोहा आदि कही नहीं लेजाना चाहिये। क्योकि उस लोहेसे पाप उत्पन्न करनेवाले शस्त्र आदि बन सकते हैं ॥ ४१ ॥ विवेकी पुरुषोको पाप उत्पन्न करनेवाला मधु वा शहत नही लेना चाहिये क्योकि वह अनेक जीवोकी हिंसासे उत्पन्न होता है और अनेक जीवोसे भरा रहता है ॥ ४२ ॥ अदरख आदि कंदमूल भी अनेक जीव उत्पन्न करनेवाले व महा पाप प्रकट करनेवाले हैं इसलिये उनका व्यवसायकर धन कमाना भी उचित नही है ॥ ४३ ॥ तिल आदि ऐसे धान्य जोकि कीड़ोंके घर हैं नहीं भरने चाहिये और न ऐसे धान्योंका तेल निकलवाना चाहिये क्योकि ऐसे धान्योंका तेल निकलवानेसे अनेक जीवोंका विनाश होता है ॥ ४४ ॥ अपनी कीर्ति बढानेके लिये भी बावड़ी कूआ तलाव आदि भी नही बनवाना चाहिये। क्योंकि इन सबका बनवाना पाप उत्पन्न करनेवाला और अनेक पचेंद्रिय जीवोका घात करनेवाला है ॥ ४५ ॥ गृहस्थोंको अपने घरके कामोके लिये भी वृक्षोंको नही कटवाना चाहिये। क्योकि वृक्षोका कटवाना अनेक पापोंको उत्पन्न करनेवाला, दुःखोंका घर और अनेक जीवोका नाश कर-

---

हिंसोपकरण कृत्स्नं सर्वे सूना हि पापदा ॥३७॥ यत्किंचिद्धिंसकं वस्तु परेषां दीयते शठैः। हिंसादान जिनैरुक्तं तत्सर्वं बधकारणम् ॥३८॥ यज्जीवबाधकं मूढैरन्येषां वस्तु दीयते। हिंसादानं च तत्सर्वं प्रणीतं गौतमादिभिः ॥ ३९ ॥ गृहस्थैर्नैव कर्तव्यो व्यवसायोऽतिपापदः। महाहिंसाकरो दक्षैर्लोहादिजनितोऽशुभः ॥४०॥ क्वचिल्लोहं न नेतव्यं वंधविध्वंसकारणम्। आयुधादिकरं पापगेहं द्रव्याय सन्नरैः ॥४१॥ मधु पापाकरं नैव गृहीतव्यं विवेकिभिः। जीवहिंसादिसंजातं बहुसत्त्वसमाकुलम् ॥ ४२ ॥ शृंगवेरादिका कंदाः सत्त्वानन्तसमुद्भवाः। महापापप्रदाः दक्षैः स्वीकर्तव्या धनाय न ॥ ४३ ॥ तिलान्नीत्वा न दातव्या कीटाढ्या धनहेतवे। तेषां तैलं न कार्यं च नरैर्जीवविनाशकम् ॥४४॥ वापीकूपतडागादि न कर्तव्यमघप्रदम्। पञ्चेन्द्रियादिजन्तूनां घातकं कीर्तिसिद्धये ॥४५॥ छेदं कार्यं न वृक्षाणां गृहस्थैर्गृहहेतवे।

नेवाला है ॥ ४६ ॥ अपना घर बनवानेके लिये भी गृहस्थोंको ईंटे नहीं पकवाना वा बनवाना चाहिये। क्योंकि ईंटोंका बनवाना वा पकवाना त्रस स्थावर सब जीवोंकी हिंसा करनेवाला और पापोंका सागर है ॥ ४७ ॥ उत्तम पुरुषोंको बरसातके दिनोंमें द्रव्य कमानेके लिये गाडी लेकर नहीं जाना चाहिये क्योंकि बरसातमें गाड़ी ले जानेमें अनेक जीवोंकी हिंसा होती है ॥४८॥ बहुत दिनके रक्खे हुए मक्खनमें अनेक त्रस जीव भरे रहते हैं। इसलिये चतुर पुरुषोंको उसका घी नहीं बनवाना चाहिये। क्योंकि यह कार्य भी परलोकमें पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥ ४९ ॥ इसीप्रकार अनेक त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाले गुड, पुष्प, लाख, मृगचर्म, वस्त्र धोनेकी सामग्री, कीड़ोंसे भरे हुए पशु सेवक आदि तथा और भी जो जो पाप उत्पन्न करनेवाले, जीवोंकी हिंसा करनेवाले, निंद्य और सज्जन पुरुषोंके द्वारा वर्जित पदार्थ हैं वे सब पदार्थ द्रव्य कमानेके लिये विवेकी पुरुषोंको नहीं लेजाना चाहिये और अहिंसाव्रतको शुद्ध रखनेके लिये न ऐसे पदार्थ किसी दूसरेको देने चाहिये ॥५०–५२॥ जो पुरुष अत्यन्त लोभी हैं तथा हिंसा करनेवाले पदार्थोंका व्यापार करते हैं, पाप-कर्मके उदयसे उनके घर रहनेवाली लक्ष्मी भी अपनेआप चली जाती है और वे दरिद्रताके सन्मुख होजाते हैं ॥५३॥ जो न्यायमार्गमें रहकर काम करते हैं और जिन्होंने लोभको अपने हृदयसे निकालदिया है ऐसे मनुष्योंके उत्तम आचरण करनेसे और पुण्यकर्मके उदयसे लक्ष्मी अपने आप आजाती है ॥ ५४ ॥ यही समझकर दरिद्री गृहस्थोंको भी धन वा द्रव्य कमानेके लिये निंद्य पदार्थोंको स्वीकार नहीं करना चाहिये ॥ ५५ ॥ अपनी कीर्ति बढानेके लिये, लोभके लिये वा अपनी प्रतिष्ठा

असख्येन प्रद दुःखधाम मत्स्यवधाकरम् ॥४६॥ इष्टाद्रिक विधेय न मनुष्यैर्धर्मासिद्धये। स्थावरत्रससर्वासु क्षयद दुरितार्णवम् ॥ ४७ ॥ द्रव्याय शकटं नीत्वा न गन्तव्य नरोत्तमै। ग्रामादौ हि चतुर्मासे महीसत्त्वाकुले क्वचित् ॥ ४८ ॥ नवनीतादनल्पान्हि स्थितात्त्रसभृतात्। कारप्य न घृत दक्षै परगेहेऽशुभप्रदम् ॥४९॥ त्रसाढ्य गुडपुष्प च लाक्षाचर्मादिक तथा। वस्त्रादिशोधन वस्तु द्विपद च चतुष्पदम् ॥ ५० ॥ कीटादिसभृत पञ्च पापाढ्य हि क्रयाणकम्। जीवहिंसाकर लोके निंद्य च साधुदूषितम् ॥५१॥ तत्सर्वं द्रव्यलोभाय न नेतव्य विवेकिभिः। न दातव्य परेषा चाहिंसादिव्रतशुद्धये ॥५२॥ लक्ष्मीर्गृहात्स्वय याति कुक्रियाणकसग्रहात्। लोभातुरस्य पापेन दारिद्र्य सन्मुखायते ॥५३॥ उत्तमाचरणात्सच्छ्रीश्चायाति पुण्यतो नृणाम्। न्यायमार्गरताना हि लोभादित्यक्तचेतसाम् ॥५४॥ इति मत्वा जनैर्निंद्य ग्राह्य नैव क्रयाणकम्। द्रव्यार्थं धनलाभाय दारिद्र्यादिप्रपीडितैः ॥५५॥ ख्यातिलोभातिमानेन हिंसाकारगवस्तु यत्। तत्सर्वं हि न दातव्य बुधैः प्राणात्यये क्वचित्

प्रगट करनेके लिये कंठगत प्राण होनेपर भी हिंसा करनेवाले पदार्थोंको कभी नहीं देना चाहिये क्योंकि इनका देना हिंसादान है ॥ ५६ ॥

मूर्खलोग जो राग अथवा द्वेषसे दूसरोंके वध बंधनका, उच्चाटन, मारण वशीकरण आदिका, शोक क्लेश महा दुःख देने आदिका, दूसरेके भोगोपभोगके पदार्थोंके हरण करने वा परस्त्रीके हरण करनेका अथवा किसीके द्रव्य मारनेका चिंतवन करते हैं उसको अपध्यान कहते हैं ॥५७–५८॥ दूसरे मनुष्योंका जो कुछ पापरूप चितवन करना है अथवा दूसरोंको दुःख देनेके कारणोंका चिंतवन करना है, और दूसरोंके अहितका चितवन करना है वह सब नरकमें पटकनेवाला अपध्यान वा कुध्यान है ॥ ५९ ॥ जो दुष्ट व्यर्थ ही अपध्यान करता रहता है वह महा पाप इकट्ठे कर अंतमें नरकरूपी कूएमें पडता है ॥ ६० । इसलिये हे भव्य! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये स्वर्गरूपी घरके आंगनके समान धर्मध्यान धारणकर और दुःखसे उत्पन्न होनेवाले अपध्यानका त्याग कर ॥ ६१ ॥

जो द्रव्य कमानेकी, व्यापार, खेती आरंभ आदि करनेकी, घर बनाने आदि शिल्पशास्त्रकी, पशुओंके पालन करनेकी, युद्ध वर्णन करनेकी, मिथ्या एकांत मतके पुष्ट करनेकी, वशीकरण विद्वेषकरण आदिके कारणोंकी, कुधर्म, कुशास्त्र, कुदेव, कुगुरुकी, कुसंस्कारकी और राग प्रगट करनेकी कथाएं कही वा सुनी जाती हैं और जिन्हें मूर्खलोग ही कहने वा सुनते हैं उसे दुःश्रुति कहते हैं। यह दुःश्रुति अनेक पाप और दुःख देनेवाली और स्वर्ग मोक्षरूपी घरको बंद करनेके लिये अर्गलके समान है ॥६२–६५॥ जो अज्ञानीलोग राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा, स्त्रीकथा आदि विकथाओंको सुनते हैं वह

॥५६॥ वधबंधादिके द्वेषादुच्चाटनकदनके । शोकक्लेशमहादुःखे रागाद्रोगादिवस्तुषु ॥५७॥ परस्त्र्यादिसंयोगे द्रव्यादिहरणे च यत् । चिन्तनं क्रियते मूढैरपध्यानं च तद्भवेत् ॥५८॥ यत्किंचिच्चिंतनं पुंसां पापाढ्यं दुःखकारणम् । अहितं स्वान्ययोस्तद्धि कुध्यानं स्याच्च श्वभ्रदम् ॥५९॥ अपध्यानं करोत्येव योऽति दुष्टो वृथा भवे । महाघसंग्रहं कृत्वा श्वभ्रकूपे पतिष्यति ॥ ६० ॥ तस्मादादाय सद्धर्मध्यानं स्वर्गगृहांगणम् । दुर्ध्यानं दुःखसंजातं त्यज त्वं मुक्तिहेतवे ॥ ६१ ॥ द्रव्यार्जनस्य वाणिज्यकृष्यारम्भकरस्य च । गृहादिशिल्पशास्त्रस्य पश्वादिपोषणस्य च ॥६२॥ संग्रामवर्णनस्यापि मिथ्यैकान्तमतस्य च । वशीकरणविद्वेषहेतुभूतस्य प्रत्यहम् ॥६३॥ कुधर्मस्य कुशास्त्रस्य कुदेवस्याऽगुरोस्तथा । कुशृंगारस्य रागाढ्याकरस्य दुःश्रुतेः स्फुटम् ॥६४॥ या कथा श्रूयते मूढैरेनोदुर्गतिदुःखदा । दुःश्रुतिः सा जिनैः प्रोक्ता स्वर्गमुक्तिगृहार्गला

भी स्वाध्यायसे रहित दुःश्रुति ही है ॥६६॥ ऐसी दुःश्रुतिरूप कथाओंके सुननेसे मिथ्याज्ञान होता है, मिथ्याज्ञानमे रागद्वेप आदि विकार उत्पन्न होते हैं, विकारोंमे पाप होता है, पापोंसे नरकमें पडता है और नरकोंमें अनेक प्रकारके दुःख सहने पडते हैं ॥ ६७ ॥ जो अज्ञानी इन विकथाओंको कहता है और जो इनको सुनता है उन दोनोंको नरक और तिर्यग्गतिके दुःख देनेवाला समान पाप लगता है ॥ ६८ ॥ इसलिये हे भव्य ! इन कुशास्त्रोंको पाप उत्पन्न करनेवाले और धूर्तोंके वनाये हुए जानकर और जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंको सुनकर किंपाकफलके समान अवश्य ही इनका सागकर देना चाहिये ॥ ६९ ॥

विना किसी प्रयोजनके पृथ्वी खोदना, वहुतसा पानी फैलाना, अग्नि जलाना, वायु करना, अपने हाथसे किसी वनको काटना, व्यर्थ ही घूमना, आना जाना, वा विना किसी कार्यके दूसरोंको आनेजानेकी प्रेरणा करना, इत्यादि जो अज्ञानी गृहस्थ प्रमादसे करते हैं उसको गणधरादि देव प्रमादचर्या नामका अनर्थदंड कहते हैं ॥ ७०–७२ ॥ अज्ञानी लोग जो विना किसी प्रयोजनके पापरूप कुछ भी क्रियाएं करते हैं उन सव क्रियाओंको प्रमादचर्या अनर्थदंड कहते हैं ॥७३॥ प्रमादचर्या अनर्थदंडसे जीवोंका घात होता है, जीवोंका घात होनेसे पाप होता है, पापसे नरक मिलता है और नरकोंमें जो वचनोंसे भी नहीं कहा जासके ऐसा घोर दुःख मिलता है ॥७४॥ यह श्रेष्ठ धर्म ही सुखका घर है और धर्मकी खानि है, यही समझकर इस श्रेष्ठ धर्मको धारण करनेके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये और दुःख देनेवाले और व्रतोंको भंग

॥६५॥ या काश्चिद् विकथा राजाचौरमुक्तादिजा वुधैः । श्रूयते दुःश्रुतिः सोऽपि सर्वस्वाध्यायवर्जिता ॥६६॥ कुज्ञानाद् द्वेषरागादि सर्वं संजायते ततः । पापं पापाच्च श्वभ्र हि ततो दु.ख पर नृणाम् ॥६७॥ करोति विकथा यस्तु य' शृणोति विमूढधीः । द्वयोः पाप समान स्यात् श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् ॥ ६८ ॥ इति मत्वा कुशास्त्र च पापद धूर्तनिर्मितम् । श्रुत्वा जिनोदितं शास्त्र किंपाकफलवत्त्यज ॥६९॥ भूखनन वहुनीरक्षेपण चाग्निज्यालनम् । वातप्रकरण हस्ताद्वनशाखा प्रछेदनम् ॥७०॥ वृथा पर्यटन लोके गमनागमन तथा । प्रेरण वा परस्यापि सत्कार्येण विनापि यत् ॥ ७१ ॥ गृहस्थै. क्रियते मूढै प्रमादादिसमन्वितै । प्राहु प्रमादचर्या च तामेव श्रीगणाधिपा ॥७२॥ विना कार्यं गेहैर्गेहै काचिदाचर्यते क्रिया । पापाख्या च प्रमादाख्या चर्या सर्वापि सा भवेत् ॥७३॥ प्रमादाज्जायते घातो घातादेनस्ततोऽगिनाम । नरक च ततो दु.ख दीर्घं वाचामगोचरम् ॥ ७४ ॥ यत्न विधाय सद्धर्मे सुखागार वृषाकरम् । त्यज प्रमादचर्या सद्व्रतादिभग-

करनेवाले प्रमादचर्याका सर्वथा त्याग करदेना चाहिये ॥ ७५ ॥ ये पांचों ही अनर्थदंड विना ही कारणके दुःख देते है और पापोका संग्रह करते हैं इसीलिये बुद्धिमान लोग इनको अनर्थदंड कहते है ॥ ७६ ॥ ये पांचो ही प्रकारके अनर्थदंड समस्त पापोंको उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये मन वचन शरीरका निग्रहकर अपने वशमें कर प्रयत्नपूर्वक इनका त्याग करना चाहिये ॥ ७७ ॥ जो बुद्धिमान् अपने चारित्रकी प्रसिद्धिके लिये अतिचारोंको छोडकर इस अनर्थदंडविरति नामके व्रतको धारण करता है वह स्वर्गरूपी घरमें अवश्य पहुंचता है ॥ ७८ ॥

प्रश्न—हे भगवन् ! कृपाकर मुझे इस व्रतके सब अतिचारोका निरूपण कीजिये ।

उत्तर—हे महाभाग ! सुन, मैं उन सब अतिचारोंको कहता हूं ॥ ७९ ॥ कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, और अतिप्रसाधन ये पांच अनर्थदंड व्रतके अतिचार कहे जाते हैं ॥ ८० ॥ जो रागपूर्वक हॅसीसे मिले हुए अत्यंत निंद्य और भंड वचन कहे जाते हैं उन दुर्वचनोंको कंदर्प कहते हैं ॥८१॥ जो हॅसी और भंडरूप दुर्वचनोंके साथ शरीरकी निंद्य और दुष्ट चेष्टा की जाती है उसको कौत्कुच्य कहते हैं ॥ ८२ ॥ जो विना ही कारणके धृष्टता पूर्वक वहुत वोलता है उसके मौखर्य नामका अतिचार लगता है ॥ ८३ ॥ जो मनुष्य हिताहितको विना सोचे समझे किसी कार्यको कर वैठता है उसके पाप और दुःख देनेवाला असमीक्ष्याधिकरण नामका अतिचार लगता है ॥ ८४ ॥ जो अज्ञानी भोगोपभोगकी सामग्रीको आवश्यकतासे अधिक इकट्ठी कर लेता है उसके अतिप्रसाधन नामका अतिचार लगता है ॥ ८५ ॥ हे भव्य !

दुःखदाम् ॥७५॥ कारणेन विनाऽनर्थं दुःखद पापसग्रह । करोत्येव ततोऽनर्थदड स उच्यते बुधे ॥७६॥ सर्वपापकर पचभेद चानर्थसज्ञकम् । त्यज यत्न विधायोच्चैर्मनोवाक्कायनिग्रहम् ॥७७॥ त्यक्त्वा सर्वानतीचारान् यो वृत्तादिप्रसिद्धये । भजेदनर्थदंडाख्यविरतिं गच्छेत्स्वर्गगृहम् ॥७८॥ भगवन्तोऽऽदिश मे कृत्वा कृपा सर्वव्यतिक्रमान् । महायश ! शृणु त्व ते व्यतीपाताश्च ब्रूमहे ॥ ७९ ॥ कदर्पो वत् कौत्कुच्य ततो मौखर्यमिष्यते । चासमीक्ष्याधिकरण त्वतिप्रसाधन भवेत् ॥८०॥ भडिमादिकरो रागोद्रेकाद्वा समन्वित. । योऽतिनिंद्यो हि दुर्वाक्यः कदर्पो हि स उच्यते ॥८१॥ प्रहासभडिमोपेत वक्ति दुर्वचन हि यः । दुष्टकार्यक्रियायुक्त कौत्कुच्य तस्य जायते ॥८२॥ धार्ष्ट्यं वहुप्रलापित्व ब्रूते य कारण विना । वचन तस्य लोकेस्मिन् मौखर्यातिक्रमो भवेत् ॥ ८३ ॥ कार्यं हिताहित किंचिद्योऽविचार्य करोति ना । लभेत सोऽसमीक्ष्याधिकरण दुःखपापदम् ॥८४॥ भोगोपभोगसख्याया योऽधिक च करोत्यधीः । भोगादिक भवेत्तस्य व्यतीपातो व्रतस्य वै ॥८५॥

व्रतोंको पालन करनेके लिये और स्वर्ग-मोक्षके सुख प्राप्त करनेके लिये अनेक भेदोंसे भरे हुए और व्यर्थ ही पाप उत्पन्न करनेवाले इन अनर्थदंडोका तू त्यागकर ॥ ८६ ॥

अब आगे गुण बढानेके लिये भोगोपभोग संख्यान नामके तीसरे गुणव्रतको कहते हैं। यह गुणव्रत कामेंद्रियको दमन करनेके लिये है ॥ ८७ ॥ जो बुद्धिमान लोग भोग और उपभोगोकी संख्या नियत कर लेते हैं उसीको भगवान जिनेन्द्रदेव भोगोपभोग परिमाण नामका श्रेष्ठ व्रत कहते हैं ॥ ८८ ॥ पीनेके पदार्थ, भोजनके पदार्थ, तांबूल, गंध, पुष्प आदि जो पदार्थ एकवार काममें आते हैं उनको श्रीगणधरदेव भोग कहते हैं ॥ ८९ ॥ वस्त्र, आभूषण, शय्या, सवारी, घर, स्त्री, हाथी, घोडे आदि जो बार २ सुख देते हैं उनको विद्वान् लोग उपभोग कहते हैं ॥ ९० ॥ हे भव्य ! तू अदरक आदि कंदमूलका भक्षण करना सर्वथा छोड दे क्योंकि वह पाप देनेवाला अनंतानंत जीवोंका समुदाय है इसलिये वह अभक्ष्य ही है ॥ ९१ ॥ उन अदरक आदि कंदमूलोंके विदारण करनेसे जहां एक जीवका मरण होता है वहीपर अनन्तानन्त जीवोंका मरण अवश्य होजाता है ॥ ९२ ॥ कंदमूलोंमें पानी और बीजका संयोग होनेसे जहां एक प्राणीकी उत्पत्ति होती है वहीं अनन्तानन्त जीवोंकी उत्पत्ति होजाती है ॥९३॥ ककडी आदि जिन फलोंमें सिरा संधिका निश्चय न हो वा गन्ना आदिकी गांठ हो उसमें अनन्तानन्त प्राणियोंका निवास रहता है ॥ ९४ ॥ तोडनेसे जिसका समान भाग होजाय (जिस प्रकार चाकूसे काटते हैं वैसा एकसा टुकड़ा होजाय) अथवा छिन्नभिन्न होजानेपर भी जो उग आवे पैदा होजाय ऐसे फल वा

अनेकभेदसकीर्णं वृथा पापप्रदं त्यज। व्रतायानर्थदंड च स्वर्गमोक्षसुखाप्तये ॥८६॥ भोगोपभोगसंख्यानं तृतीयं सद्गुणव्रतम्। कामेन्द्रियदमनार्थं वक्ष्ये च गुणहेतवे ॥ ८७ ॥ भोगस्यैवोपभोगस्य संख्यामाक्रियते बुधैः। तदेवाहुर्जिना भोगोपभोगाख्यं व्रतं शुभम् ॥ ८८ ॥ पानाशनादि ताम्बूलगंधपुष्पादिगोचरः। वारैक सुखदो भोग उक्तः श्रीगणनायकैः ॥८९॥ वस्त्राभरणसद्यानगृहस्त्रीतुरगादिजम्। उपभोगो बुधैर्ज्ञेयो मुहुर्मुहु सुखप्रदः ॥९०॥ शृंगवेरादिकंदादिभक्षणं त्यज सर्वथा। अनन्तानन्तजीवानामभक्ष्यमिव पापदम् ॥९१॥ यत्रैको म्रियते जीवस्तत्रैव मरणं भवेत्। प्राणिनामप्यनन्तानामार्द्रकादिविघातनात् ॥ ९२ ॥ यत्रैको जायते प्राणी तत्रोत्पत्तिर्भवेद्ध्रुवम्। अनन्तांगिनां लोके च नीरबीजादियोगतः ॥९३॥ यत्र न ज्ञायते दक्षे सिरा संधिश्च निश्चलम्। पर्वापि स्यान्नगादीनां तत्रानन्तांगिसंस्थितिः ॥९४॥ समभंगो भवेद्यस्तु छिन्नभिन्नः प्ररोहति। वृक्षः स एव विज्ञेय आगमेऽनंतकायिकः ॥ ९५ ॥ सर्षपेण समं कन्दं ये खादन्ति शठा ध्रुवम्।

वृक्ष अनन्तकायिक कहलाते हैं ॥ ९५ ॥ जो मूर्ख सरसोंके समान भी कंदमूल खाते हैं वे अनन्त जीवोंका भक्षण करनेके कारण मरकर परलोकमें अनेक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करते हैं ॥ ९६ ॥ जो रोगी सुख प्राप्त करनेके लिये कंदमूलका भक्षण करता है वह अनेक प्रकारके रोगोंसे पीड़ित होकर नरकरूपी कूएंमें पडता है ॥ ९७ ॥ तिलके समान जरासे कंदमूलमें भी अनन्त जीवोंका निवास रहता है इसलिये जो मिथ्यादृष्टी उस कंदमूलका भक्षण करते है वे उन सब जीवोंको खा जाते हैं ॥ ९८ ॥ कंदमूल अनन्त जीवोंका पिंड है यह समझकर भी जो उसे भक्षण करते है वे अत्यन्त नीच हैं उन्हें कौनसे पाप लगेंगे अथवा उनकी कौनसी गति होगी इस वातको हम जान भी नहीं सकते ॥ ९९ ॥ इसलिये मनुष्योंको विपके समान सब तरहके कंदमूलका साग कर देना चाहिये क्योंकि उसमें अनन्त जीवोंकी राशि सदा उत्पन्न होती रहती है ॥ १०० ॥ नीम आदिके फूल भी अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरे हुए होते है तथा उनमें त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं उनके खानेसे सब तरहके पाप होते हैं इसलिये हे मित्र ! इनका शीघ्र ही सागकर देना चाहिये ॥ १०१ ॥ बुद्धिमानोंको पुण्य संपादन करने व जिह्वा आदि इंद्रियोंको दमन करनेके लिये पाप उत्पन्न करनेवाले पत्तोंवाले शाक व कीडोसे भरे हुए पुष्प आदि सबको जानकर साग-कर देना चाहिये ॥ १०२ ॥ विद्वानोंको जीवोंकी रक्षा करनेके लिये पाप उत्पन्न करनेवाले बेलकी गिरी जामुन छोटे वेर आदि सबका साग कर देना चाहिये ॥ १०३ ॥ बेंगन, तरबूज, कुंहडा (पेठा वा काशीफल) वा और भी जो कुछ लोकमें वा शास्त्रोंमें सदोप हों दूषित हों उन सबका त्याग कर देना चाहिये ॥ १०४ ॥ पुण्यवान मनुष्योंको पापोंसे डरनेके लिये और धर्म पालन करनेके लिये जिनमें दोप अदोपका संदेह हो ऐसे अजान फलोंका भी त्याग कर

दुर्गतिं यान्ति तेऽमुत्रानन्तजीवप्रभक्षणात् ॥९६॥ रोगादिपीडितो यस्तु अत्ति कन्द सुखाप्तये । स रोगभाजन भूत्वा श्वभ्रकूपे पतिष्यति ॥९७॥ तिलमात्रसमे कन्दे चानन्तजीवसस्थिति. । तस्य भक्षणतो भुक्त्वा सर्वे जीवा. कुदृष्टिभिः ॥९८॥ योऽनन्तजीवसंयुक्त ज्ञात्वा कन्द च खादति । निकृष्टस्तस्य किं पाप का गतिर्वा न वेद्म्यहम् ॥९९॥ अतस्त्याज्य नैरेरेतत्कन्दमूलकदम्बकम् । हालाहलमिवानन्त जीवराशिसमुद्भवम् ॥१००॥ निम्बादिकुसुम सर्वं सूक्ष्मसत्त्वसमाकुलम् । त्रसागिसम्भृतं मित्र ! सर्वपापाकर त्यज ॥ १०१ ॥ पत्रशाकं त्यजेद्धीमान् पुष्प कीटसमन्वितम् । ज्ञात्वा पुण्याय जिह्वादिदमनायाशुभप्रदम् ॥१०२॥ कीटाढ्य विल्वजम्ब्वादिबदरीनां फल बुध. । त्यजेत्पापाकर सर्वजीवरक्षादिहेतवे ॥१०३॥ वृन्ताकं हि कलिंग वा कूष्माडादिफल तथा। अन्यद्वा दूषित लोके शास्त्रे वा वर्जयेत्सुधीः ॥१०४

देना चाहिये ॥ १०५ ॥ हे भव्य ! पापोंको दूर करनेके लिये मक्खनका भी त्याग कर देना चाहिये क्योंकि मक्खन भी अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरा हुआ है, महा निंद्य है अनेक दोषोंको उत्पन्न करनेवाला है और नरकके दुख देनेवाला है ॥१०६॥ विना कतरी हुई साबूत सुपारी छुहारे आदि फलोंमें भी जीव रहते हैं इसलिये अभक्ष्य पदार्थोंका त्याग करनेके लिये विवेकी पुरुषोंको ऐसे फलोंका भी सदाके लिये त्यागकर देना चाहिये ॥१०७॥ जो नीच कीडोंसे भरे हुए साबूत फलोंको खाता है वह अनेक कीडोंको खा जानेके कारण मांस भक्षीके समान समझा जाता है ॥ १०८ ॥ पापोंसे डरनेवाले बुद्धिमानोंको दो दिनसे ऊपरके दही और छाछका त्याग कर देना चाहिये क्योंकि दो दिनके बाद उसमे अनेक एकेंद्रिय दो इन्द्रिय जीव उत्पन्न होजाते हैं ॥ १०९ ॥ पापोंसे डरनेवाले मनुष्योंको सुख प्राप्त करनेके लिये दो दिनके ऊपरका सब प्रकारका भोजन छोड देना चाहिये क्योंकि उसमें दो दिनके बाद एकेंद्रिय, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय आदि जीव उत्पन्न होजाते हैं ॥ ११० ॥ अग्निपर पका हुआ जो अन्न दुर्गंधयुक्त होगया हो उसका स्वाद बिगड गया हो तो अभक्ष्य और अशुभ समझकर उसे भी छोड़ देना चाहिये ॥ १११ ॥ जो जिह्वा इंद्रियसे ताडित होकर अचार खाते हैं वे उसमें पडनेवाले अनेक कीडोंका मांस खानेके कारण नीच लोगोके समान समझे जाते हैं ॥ ११२ ॥ हे मित्र! प्राणोका नाश होनेपर भी अचार नहीं खाना चाहिये और जिसपर सफेदी आजाती है ऐसी फूली हुई चीज भी अनेक कीडोंसे भरी हुई होती है इसलिये वह भी नहीं खानी चाहिये क्योंकि ऐसे पदार्थोंका खाना भी नरक और तिर्यचगतिके दुःखोंका कारण है

अज्ञातादिफल दोपादोषसशयद त्यजेत् । धर्माय पापसत्रस्तो वर वा पुण्यधी पुमान् ॥१०५॥ सूक्ष्मजीवभृत श्वभ्रे नवनीत कुदुःखदम् । दोषाकर महानिंद्य जहि त्व पापहानये ॥१०६॥ पुगीफलादिसर्वं चाभग्न जीवसमन्वितम् । अभक्ष्यपरिहारार्थं त्याज्य नित्य विवेकिभि ॥१०७॥ अभग्न कीटसयुक्त फल भुक्ते द्वि योऽधम । आमिषाशीसमो ज्ञेय सोऽपि कीटादिभक्षणात् ॥१०८॥ दधितक्रादिक सर्वं त्यजेदूर्ध्वं दिनद्वयात् । सुधी पापादिभीतस्तु भृत द्व्येकेन्द्रियादिभिः ॥१०९॥ सर्वाशन न च ग्राह्य दिनद्वययुतै नरै. । एकाद्वित्रिसयुक्तमेनोभीतै सुखाप्तये ॥११०॥ स्वस्वादुपरिसत्यक्त दुर्गंधादिसमन्वितम् । अन्न तद्वन्हिसजात त्यजाखाद्यमिवाशुभम् ॥१११॥ अच्छानकं प्रखादन्ति जिह्वया दण्डिता हि ते । नीचजातिसमा ज्ञेयास्ते कीटामिषभक्षणात् ॥११२॥ अच्छानक नचादेय सुहृत प्राणात्ययेऽपि भो । पुष्पिकाकीटसछन्न श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदम् ॥११३॥ भक्षयन्ति शठा ये भो अन्नतक्रादिक स्थितम् । दिनद्वयेन कीटादिखादनान्नीचनृसमा ॥ ११४ ॥

॥ ११३ ॥ जो मूर्ख छाछमें अन्नको दो दो दिन रखकर (रावरी वा महेरी बनाकर) खाते हैं वे अनेक कीडोंको खा-जानेके कारण नीचोंके समान समझे जाते हैं ॥ ११४ ॥ जो जिह्वालंपटी मूर्ख अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करते हैं वे अपार पापभारके कारण परलोकमें नरकरूपी महासागरमें डूबते हैं ॥ ११५ ॥ मनुष्योंको विप मिला भोजन खालेना अच्छा, एक प्राणीको मार डालना अच्छा परंतु अनंत जन्मोंतक दुःख देनेवाले अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करना अच्छा नहीं ॥११६॥ यही समझकर श्रावकोंको धर्म और व्रतोंको शुद्ध रखनेके लिये अभक्ष्य फलोंका भिष्टाके समान दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ॥ ११७ ॥ जो पदार्थ अपने लिये अनिष्ट हो अथवा उंटनीका दूध आदि अनुपसेव्य (जिसे सद्गृहस्थ सेवन न करते हों) हो ऐसे समस्त पदार्थोंका त्याग कर व्रत धारण करना चाहिये ॥ ११८ ॥ गणधर देवोंने गृहस्थोंको सुख पहुंचानेके लिये भोगोपभोगोंका त्याग करनेकेलिये यम और नियम बतलाये हैं। भोगोपभोगोंका जन्मपर्यंत त्याग करना यम है और कुछ दिनके लिये त्याग करना नियम है ॥ ११९ ॥ जो सदोप वा निर्दोप पदार्थ जन्म पर्यंतके लिये त्याग किया जाता है वह बुद्धिमानोंको मोक्ष देनवाला यम कहलाता है ॥ १२० ॥ तथा धर्मपालन करनेके लिये जो भोगोपभोग पदार्थोंका महीना पंद्रहदिन दो महीना चार महीना वर्ष दिन आदिकी संख्या नियत कर त्याग किया जाता है वह स्वर्गकी संपदा देनवाला नियम कहलाता है ॥१२१॥ बुद्धिमान लोगोंको परलोकके सुख प्राप्त करनके लिये अपनी शक्तिको प्रगट कर भोगोपभोगके समस्त पदार्थोंमें यम नियम धारण करना चाहिये ॥ १२२ ॥ छहों रसोसे परिपूर्ण भोजन, पान, कुंकुम, पुष्प, तांबूल, गीत, नृत्य, ब्रह्मचर्य स्नान, आभूपण, वस्त्र, वाहन, शयन, आसन और सचित्त पदार्थोंकी संख्या

ये जिह्वालपटा मूढा अभक्ष्य भक्षयन्ति च। तेऽमुत्र पापभारेण मज्जन्ति नरकार्णवे ॥११५॥ वरं विषाशनं नृणां वरंकप्राणनाशनम्। न भक्षणं भवानन्तजन्मदुःखविधायकम् ॥११६॥ मत्वा सदा फलं त्याज्यमभक्ष्यं श्रावकोत्तमैः। धर्मव्रतादिशुद्ध्यर्थममेध्यमिव दूरतः ॥११७॥ अनिष्टं यद्भवेत्स्वस्यानुपसेव्यं हि वस्तु यत्। उष्ट्रादुग्धादिकं तच्च सर्वं त्यक्त्वा व्रतं कुरु ॥ ११८ ॥ यमश्च नियमः प्रोक्तो योगादीनां गणाधिपैः। यावज्जीवेतरेणैव गृहस्थस्य सुखाप्तये ॥११९॥ यावज्जीवं त्यजेद्वस्तु किंचिद्वस्त्वादिकं बुधः। सदोषं निर्दोषं वा भजेन्निर्वृतिदं यमम् ॥१२०॥ भोगादिकं त्यजेद्वस्तु मासवर्षादिसंख्यया। धर्माय नियमं सोऽपि श्रयेन्नाकगृहांगणम् ॥ १२१ ॥ यमं वा नियमं कुर्यात्सुधीर्भोगादिवस्तुषु। स्वशक्तिं प्रकटीकृत्य परलोकसुखाप्तये ॥१२२॥ भोजने षट्रसे पाने कुंकुमादिविलेपने। पुष्पताम्बूलगीतेषु नृत्यादौ

नियत कर प्रतिदिन उन सबका प्रमाण नियत कर लेना चाहिये ॥ १२३–१२४ ॥ मुहूर्त, दिन रात्रि, पक्ष महीना छह-महीना आदिका नियम लेकर भोगोपभोगोंकी मर्यादा नियत कर लेनी चाहिये ॥ १२५ ॥ भोगोपभोगोंकी संख्या नियत कर लेनेसे मन और इंद्रियां वशमें होजाती हैं और मनुष्योंको तृष्णा, क्रोध, लोभ आदि सब विकार वा अंतरंग शत्रु नष्ट हो जाते हैं ॥१२६॥ भोगोंमें संतोष धारण करनेसे मनुष्योंको संतोषजन्य सुख प्राप्त होता है, कीर्ति और प्रतिष्ठा बढती है तथा भोगोपभोगोंकी अनेक संपदाएं प्राप्त होती हैं ॥१२७॥ ज्ञानी पुरुषोंको भोगोपभोगोंका परिमाण नियत कर लेनेसे इस संसारमें आनन्द प्राप्त होता है, स्वर्गमोक्षका साधन महा धर्मध्यान प्रगट होता है तथा परलोकमें इन्द्र चक्रवर्ती आदिकी ऋद्धियां और विभूतियां प्राप्त होती हैं और तीनों लोकोंको क्षोभ उत्पन्न करनेवाला तीर्थंकर पद प्राप्त होता है ॥१२८–२९॥ इसलिये बुद्धिमानोंको विधिपूर्वक भोगोपभोग पदार्थोंकी संख्या नियतकर लेनी चाहिये। बिना व्रतोंके एक घडी भी कभी व्यतीत नहीं करनी चाहिये ॥१३०॥ जो नष्ट बुद्धिवाले नीच पुरुष भोगोपभोगोंकी संख्या नियत नहीं करते वे सदा समस्त पदार्थोंका भक्षण करते रहनेके कारण सज्जन लोगोंमें पशु माने जाते हैं ॥१३१॥ बिना यम नियमके मूर्ख लोग दरिद्री होते हैं और तृष्णासे अनेक पापोंको उत्पन्न कर दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करते हैं ॥१३२॥ जो धनी पुरुष इच्छापूर्वक भोगोपभोग संपदाओंको ग्रहण करते हैं वे बिना नियमके दरिद्री होकर दुर्गतिमें परिभ्रमण करते हैं ॥ १३३ ॥ जो गृहस्थ सन्तोषरूपी अमृतको पीकर भोगोंकी तृष्णाका

ब्रह्मचर्यके ॥१२३॥ स्नानभूषणवस्त्रादौ वाहने स शयनासने । सचित्तवस्तुसंख्यादौ प्रमाणं भज प्रत्यहम् ॥ १२४ ॥ भोगोपभोगमर्यादां व्रताना नियम कुरु । मुहूर्तदिनसद्रात्रिपक्षमासायनादिभि ॥१२५॥ भोगादिसंख्यया यान्ति वशं चित्तेन्द्रियादय । पुसां नश्यति तृष्णा च क्रोधलोभादिविद्विष ॥ १२६ ॥ भोगसन्तोषतो नृणां सुख सन्तोषजं भवेत । ख्यातिपूजादिलाभ न बहुभोगादिसम्पद ॥ १२७ ॥ आनन्दश्च महाधर्म्यध्यान स्वर्मुक्तिसाधनम् । इहामुत्र महत् ऋद्धिरिन्द्रचक्र्यादिगोचरा ॥१२८॥ त्रैलोक्यक्षोभकं तीर्थंकरत्व चापि जायते। भोगादिसंख्यया लोके सदा सज्ज्ञानचेतसाम ॥१२९॥ तस्माद्भोगादिसंख्यानं कर्तव्य विधिवद्बुधै । व्रतशून्या न कर्तव्या चैकापि घटिका कचित ॥१३०॥ भोगसंख्या न कुर्वन्ति येऽधमा नष्टबुद्धय । पशवस्ते मता सद्भि सर्वभक्षणतो भृशम् ॥१३१॥ नियमेन विना मूढा दारिद्र्यादिसमन्विता । तृष्णया पापमादाय दुर्गतिं यान्ति निश्चितम् ॥१३२॥ इच्छया येऽति गृह्णन्ति धनाढ्या भोगसम्पद । ते नियमाद्विना प्राप्य दारिद्र्य यान्ति दुर्गतिम् ॥ १३३ ॥ त्यजन्ति भोगतृष्णा ये पीत्वा सन्तोषजामृतम् । गृहस्था मुनितुल्यास्ते कीर्तिता

त्याग कर देते हैं वे जैन शास्त्रोंमें मुनियोंके समान माने जाते हैं ॥ १३४ ॥ समस्त भोगोपभोगोंका त्याग कर देनेसे गृहस्थ भी मुनिके समान माना जाता है और भोगोकी इच्छा करता हुआ मुनि भी गृहस्थके समान नीच श्रेणीमें गिना जाता है ॥ १३५ ॥ हे विद्वन् ! यही समझकर तुझे धर्म मोक्ष और सुखकी प्राप्तिके लिये थोडेसे भोगोमें सन्तोष देनेवाली भोगोपभोगोंकी संख्या नियत कर लेनी चाहिये ॥ १३६ ॥ जो बुद्धिमान अतीचारोंको छोडकर भोगोंकी संख्या नियत करते हैं वे सोलहवें स्वर्गके सुख भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ १३७ ॥

प्रश्न—हे प्रभो ! मुझपर दयाकर उन भोगोपभोगपरिमाणके अतीचारोंको कहिये ।

उत्तर—हे भव्य ! तू चित्त लगाकर सुन, मै उन अतीचारोंको कहता हूं ॥ १३८ ॥ विषयानुपेक्षा, अनुस्मृति, अतिलौल्य, अतितृष्णा और अनुभव ये पांच भोगोपभोग परिमाणके अतिचार गिने जाते हैं ॥१३९॥ जो उपेक्षा त्याग वा उदासीनताको छोडकर आदर पूर्वक सदा भोगोपभोगोको भोगता रहता है उसके विषयानुपेक्षा (विषयोंसे उदासीन न होना) नामका अतिचार लगता है ॥१४०॥ जो मूर्ख विषयोंको भोगकर पीछेसे उनके सुख और सुंदरताका स्मरण करता है उसके अनुस्मरण नामका अतिचार लगता है ॥ १४१ ॥ जो अत्यन्त कामातुर और लोलुपी होकर उन भोगोंका भोग करता है और अत्यन्त लोभके कारण फिर भी उनकी इच्छा करता हैं उसके अतिलौल्य नामका अतिचार होता है ॥१४२॥ अत्यन्त लोलुपताके कारण जो आगामी कालके लिये भी भोगोंकी इच्छा करता है उसके व्रतमें अतितृष्णा नामका अति-

---

श्रीजिनागमे ॥ १३४ ॥ गृहस्थो मुनिना याति सर्वभोगादिवर्जनात् । गृहस्थवन्नीचता नित्य मुनिस्तु भोगवाञ्छया ॥१३५॥ इति मत्वा त्वया धीमन् ! विधेया स्वल्पभोगदा । भोगोपभोगसत्सख्या धर्ममुक्तिसुखाप्तये ॥ १३६ ॥ अतीचारविनिर्मुक्ता भोगसख्या भजन्ति ये । गत्वा षोडशमे नाके क्रमाद्यान्ति शिवालयम् ॥१३७॥ प्रभो ! मद्दया कृत्वा व्यतीपातान्निरूपय। शृणु भो ! एकचित्तेन वक्ष्येऽहं ते व्यतिक्रमान् ॥१३८॥ स्याद्विषयानुपेक्षा हि ततोनुस्मृतिरुच्यते । अतिलौल्य भवेच्चातितृष्णा चानुभवोंगिनाम् ॥१३९॥ य उपेक्षां परित्यज्य भुक्ते भोगाननारतम् । आदरात्तस्य जायेत चानुपेक्षाव्यतीक्रम ॥१४०॥ ये भुक्त्वा विषयान् पश्चाद्धत्तेऽनुस्मरण शठ । अतीचारो भवेत्तस्य सुखसौंदर्यलक्षणम् ॥१४१॥ कामातुरोऽतिगृद्धो यो भुक्ते भोगान्पुनश्च तान् । इच्छेच्चपोऽतिलोभेन भजेद्व्रतव्य तिक्रमम् ॥१४२॥ भाविकालेपि भोगान् य. वांच्छत्यत्यन्तलोभत । अतितृष्णाव्यतीपातो व्रतस्य जायते पुन ॥१४३॥ भुक्ते भोगादिक योऽत्यासक्त्या काले यदा

चार लगता है ॥ १४३ ॥ जो अत्यन्त आसक्त होनेके कारण जब कभी असमयमें भी भोगोंका भोग करता है उसके भोगोपभोग परिमाण नामके गुणव्रतमें अनुभव नामका अतिचार लगता है॥ १४४ ॥ जो गृहस्थ केवल काम पीडाको दूर करनेके लिये थोडेसे भोगोको सेवन करते है उनके ये अतीचार नहीं लगते ॥ १४५ ॥ जिस प्रकार चोर कोतवालकी मृत्यु चाहता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे विषयोंका सेवन करते हैं ॥ १४६ ॥ यह समस्त भोगोपभोगोंका परिमाण मोक्षके सुखका कारण है, पुण्यरूपी वनको वढानेके लिये प्रबल मेघ है, पापरूपी वृक्षको जलानेके लिये अग्नि है, अनंतसुखरूपी गुणका कारण है और स्वर्गकी सीढियोंके समान है इसलिये हे विद्वन् ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू भोग और उपभोगोका परिमाण सदाके लिये नियत कर ॥ १४७ ॥ हे भव्य जीव ! यह भोगोपभोग परिमाण नामका व्रत समस्त गुणोंका समुद्र है, दोपरूपी वृक्षोंको जलानेके लिये अग्नि है, विद्वान् लोग भी इसकी सेवा करते हैं, स्वर्ग मोक्षका यह एक अद्वितीय कारण है, नरकरूपी घरको बंद करनेके लिये किवाड है, पाप तथा संतापोंको दूर करनेवाला है और गुणोसे परिपूर्ण है। इसलिये हे मित्र ! तू मन वचन कायसे इस व्रतका पालन कर ॥१४८॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमे तीनो गुणव्रतोंका निरूपण करनेवाला
यह सत्रहवा परिच्छेद समाप्त हुआ।



तदा। गुणव्रतस्य तस्याप्यनुभवः स्यादतिक्रमः ॥४४॥ स्वल्प भोगादिक योऽपि सेवन्ते गृहमेधिनः। कामपीडा व्यथार्थं ते न लभन्ते व्यतिक्रमान् ॥ ४५ ॥ चौरो मृत्यु समीहेत कोट्टपालान् यथा तथा। सद्दष्टिर्विषयान् भुक्ते वृत्ताचरणयोगतः ॥ ४६ ॥ शिवसुखगृहमार्गं सर्वभोगस्य नित्य, शुभवनघनमेघ पापवृक्षव्रजाग्निम्। अतिसुखगुणहेतु स्वर्गसोपानभूत कुरु बुध परिमाण चोपभोगस्य मुक्त्यै ॥ १४७ ॥ सकलगुणसमुद्र दोषवृक्षानल वे, बुधजनपरिसेव्य नाकमोक्षैकमार्गम्। नरकगृहकपाट पापसन्तापदूर, भज मनुजगुणाढ्य सद्व्रत त्व त्रिधा भो ॥ १४८ ॥

इति श्रीभट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे गुणव्रतत्रयप्ररूपको नाम सप्तदशम परिच्छेद ।

अथ अठारहवां परिच्छेद ।

जो अनंतगुणोके सागर हैं जो गुणस्वरूप है जिनराज है और जिन्होने कर्मरूप शत्रुओकी सब संतान नाश कर दी है ऐसे श्री अरनाथ तीर्थंकरको मै कर्मरूप शत्रुओको नाश करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ इसप्रकार गुण- व्रतोंका निरूपणकर अब मै भव्य जीवोका उपकार करनेके लिये शिक्षाको संपादन करनेवाले शिक्षाव्रतोंको कहता हूं ॥२॥ देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और दानके साथ होनेवाला वैयाव्रत्य ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं ॥ ३ ॥ दशो दिशाओंकी मर्यादा नियतकर जो बुद्धिमान उसके बाहर नहीं जाते भीतर ही रहते है उनके श्रीजिनेन्द्रदेव देशावकाशिक व्रत कहते है ॥४॥ इस संसारमें जो दिनोंकी संख्या नियत कर उतने दिनोंके लिये दिग्व्रतका उपसंहार करना दिशाओंकी मर्यादा और घटा लेना देशावकाशिक व्रत कहलाता है ॥ ५ ॥ श्रीजिनेन्द्रदेव वन, घर, नदी, गांव, खेत, कोस, योजन आदिको देशावकाशिककी सीमा बतलाते है अर्थात् देशावकाशिक व्रतमें इनकी सीमा नियत करनी चाहिये अथवा कोस और योजनोके द्वारा सीमा नियत करनी चाहिये ॥ ६ ॥ श्रीजिनेन्द्रदेव इस देशावकाशिक व्रतकी दिन पक्ष महीना छह महीना एक वर्ष आदिको कालकी मर्यादा कहते है अर्थात कालकी अवधि नियत कर देशावकाशिक व्रत धारण करना चाहिये ॥ ७ ॥ जिसने अपने हृदयमें देशावकाशिक व्रत धारण कर लिया है उसके मर्यादाके बाहर मन वचन कायसे पांचो पापोंकी प्रवृत्ति नही होती इसलिये मर्यादाके बाहर समस्त जीवोंकी हिंसाका त्याग होजानेसे उसके अणुव्रत भी महाव्रतके

अथाष्टादशम सर्गः ।

अरतीर्थं गुण वन्दे अनन्तगुणसागरम् । नष्टकर्मारिसन्तान जिनेशमरिशान्तये ॥१॥ गुणव्रतानि व्याख्याय वक्ष्ये शिक्षाव्रता- न्यहम् । उपकाराय भव्याना शिक्षासम्पादनानि च ॥२॥ देशावकाशिक पूर्वं तत. सामायिक भवेत् । सत्प्रोषधोपवासश्च वैयावृत्य सुदान- जम् ॥३॥ मर्यादीकृत्य देशस्य मध्ये तिष्ठन्ति धीधना । वहिर्न च ततो गीत जिनैर्देशावकाशिकम् ॥४॥ देशावकाशिक लोके भवेदस्य हि तत्क्षणम् । दिनादिसख्यया सर्वं दिकुसहारोपशान्तये ॥५॥ वनदेशनदीग्रामक्षेत्रक्रोशादियोजनै. । देशावकाशिकस्यैव जिना सीमामुशन्ति वै ॥६॥ दिनादिपक्षमासैक ऋत्वयनाब्दगोचरा । कालावधिर्जिनैरुक्ता आद्यशिक्षाव्रतस्य भो ॥७॥ मर्यादा परतो न स्यात्पञ्चपापप्रवर्तनम् ।

लिये कल्पना किये जाते हैं। भावोंमें प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे उसके महाव्रत हो तो सकते नहीं पर मर्यादाके बाहर उसके कोई पाप भी नहीं होता इसलिये उसके अणुव्रत मर्यादाके बाहर महाव्रतके समान गिने जाते ॥ ८–९ ॥ देशावकाशिक व्रतको धारण करनेवाले पुरुषके, सन्तोष धारण होता है, जीवोंकी दया करनेरूप महा पुण्यकी प्राप्ति होती है और तृष्णा लोभ आदि विकार सब उसके नष्ट होजाते हैं ॥ १० ॥ इसलिये हे मित्र ! धर्म धारण करनेके लिये और व्रतोंको पालन करनेके लिये चंचल परिणामोंको छोड़कर कालकी मर्यादा कर तथा घर आदिकी सीमा नियतकर तुझे यह देशावकाशिक व्रत अवश्य धारण करना चाहिये ॥ ११ ॥ जो मनुष्य समस्त अतिचारोंको छोडकर इस देशावकाशिक व्रतको धारण करते हैं उनके घरके आंगनमें स्वर्गकी लक्ष्मी अपनेआप आजाती है ॥ १२ ॥

प्रश्न–हे स्वामिन् ! कृपाकर देशावकाशिक व्रतके अतिचारोंको निरूपण कीजिये ।

उत्तर–हे वत्स ! सुन, अब मैं इस व्रतके पांचो अतिचारोंको कहता हूं ॥ १३ ॥ प्रेषण, शब्द, आनयन, रूपाभिव्यक्ति, और पुद्गलक्षेपण, ये पांच अतिचार देशावकाशिकके कहलाते हैं ॥ १४ ॥ जो स्वयं मर्यादा किये हुए देशके भीतर रहकर भी मर्यादाके बाहर किसी दूसरेको भेजता है उसके प्रेषण नामका पहिला अतिचार लगता है ॥ १५ ॥ जो मनुष्य मर्यादाके भीतर रहता हुआ भी काम करनेवालोंको मर्यादाके बाहर देखकर उनको काम लगानेके लिये या भीतर बुलानेके लिये खकारकर या और किसी प्रकारके शब्दोंका इशारा करता है वह भी दोषी ही है अर्थात् उसके शब्द नामका दूसरा अतिचार लगता है ॥ १६ ॥ अपनी नियत की हुई मर्यादाके बाहर रक्खे हुए पदार्थोंको अपने किसी कामके लिये किसी

मनोवाक्काययोगेन व्रताधिष्ठितचेतसा ॥८॥ तस्मान्महाव्रतायेव कल्पन्तेऽणुव्रतान्यपि । प्रमाणतो बहिर्भागे नृणा घातादिवर्जनात् ॥ ९ ॥ सन्तोष स समाधत्ते पुण्यं जीवदयादिकम् । आशालोभादिनाश च धत्ते देशव्रतो गृही ॥१०॥ चचलत्व परित्यज्य कुरु देशावकाशिकम् । कालादिसख्यया मित्र ! सद्धर्माय व्रताय च ॥११॥ त्यक्त्वा सर्वानतीचारान् ये देशविरतिं नराः । कुर्वन्ति च भवेत्तेषा स्वर्गलक्ष्मीर्गृहागणे ॥१२॥ स्वामिनो मे व्यतीपातान् सदिशस्व व्रतस्य वै । वक्ष्येऽह शृणु ते वत्स ! व्रतपचव्यतिक्रमान् ॥१३॥ प्रथम प्रेषण शब्दो भवेच्चानयन तत । रूपाभिव्यक्तिरप्येव पुद्गलक्षेप एव हि ॥ १४ ॥ यो मर्यादीकृते देशे स्वय स्थित्वा ततो बहि । अन्यस्यप्रेषण दत्ते व्यतीचार लभेत् स ॥१५॥ सख्यादेशाद्बहिर्दृष्ट्वा यो ना कर्मकरान् प्रति । खात्करणादिक चक्रे कार्यार्थं सोऽपि दोषभाक् ॥१६॥ तद्देशाद्बहिरन्य-

मनुष्यके द्वारा मगाना आनयन नामका अतिचार है ॥ १७ ॥ अपनी नियत की हुई मर्यादाके भीतर रहकर भी काम करनेवालोको अपना रूप दिखाकर उनसे कोई काम लेना रूपाभिव्यक्ति नामका अतिचार है ॥१८॥ जो मर्यादाके भीतर रहकर भी मर्यादाके वाहर ईंट पत्थर ढेले आदि फेंककर उनके इशारेसे अपने सेवकोंसे वा अन्य किसीसे काम कराना पुद्गलक्षेपण नामका अतिचार है ॥ १९ ॥ जो नियत की हुई मर्यादाके वाहर न तो किसीको भेजना है न वाहरसे कुछ मंगाता है और न किसी प्रकारका इशारा करता है उसके व्रतमें कोई दोप नहीं लग सकता ॥ २० ॥ यही समझकर हे भव्य ! व्रतोंको पालन करनेके लिये तू धर्मको वढानेवाले और पापोंको नाश करनेवाले इस देशावकाशिक व्रतको वड़े प्रयत्नसे पालन कर ॥ २१ ॥

इसप्रकार शिक्षाव्रत कह चुके। अव आगे व्रतोंके लिये और श्रावकोंकी विशुद्धता वढानेके लिये पापोंको नाश करने-वाले सामायिकको कहते हैं ॥ २२ ॥ यह धर्मध्यान और शुक्लध्यानको प्रगट करनेवाला सामायिक श्री जिनेंद्रदेवने नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावके भेदसे छह प्रकारका वतलाया है ॥ २३ ॥ जो वुद्धिमान् शुभ और अशुभोंके भेदोंको सुनकर रागद्वेषका त्याग कर देता है उसके नाम सामायिक होता है ॥ २४ ॥ जो शुभ और अशुभरूप चेतन तथा जड़ पदार्थोंको देखकर रागद्वेषादिकका साग करता है उसका वह स्थापना सामायिक कहलाता है ॥ २५ ॥ जो सुवर्ण मिट्टी आदि पदार्थोंमें समान भाव रखता है उसके द्रव्य सामायिक होता है। यह द्रव्य सामायिक समतावालेके ही होता है अन्य

स्मान्नराद्वस्त्वादिक हि य । आनापयति कार्यार्थं दोषमानयन भवेत् ॥१७॥ स्थित्वा मर्याददेशे यो विधत्ते रूपसज्ञया । कार्यं कर्मकराणा च व्यतीपात भवेद्ध्रुवम् ॥१८॥ सेवकेभ्योऽपि यत्कार्यं लोष्टादिक्षेपसज्ञया । कारापयति तस्यैव भवेद्दोषो व्रतस्य वै ॥१९॥ मर्यादादेशतो बाह्ये कारापयति यो जन । प्रेषणादीन्न तस्य स्यादतीचारो मनागपि ॥ २० ॥ इति मत्वा कुरु त्व भो देशावकाशिक सदा । प्रयत्नेन व्रतायैव धर्मद पापनाशनम् ॥ २१ ॥ उक्त शिक्षाव्रत चाथे वक्ष्ये सामायिक तत । सागाराणा विशुद्ध्यर्थं व्रतायाशुभघातकम् ॥२२॥ नाम सस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालेपु श्रीजिनै । उक्त सामायिक भावे षड्विध धर्मशुक्लदम् ॥२३॥ शुभेतरविकल्प य श्रुत्वा नाम कदम्बकम् । रागादिक त्यजेद्धीमान् नाम सामायिकं श्रयेत् ॥ २४ ॥ दृष्ट्वा शुभाशुभ रूप चेतनेतरज हि य । त्यजेद्रागादिक सस्थापना सामायिकं भजेत् ॥२५॥ लोष्टहेमादिद्रव्येषु समचित्त करोति य । द्रव्यसामायिक तस्य भवेन्नान्यस्य सर्वथा ॥२६॥ शुभेतरप्रदेश य सुखदुःखादि-

किसीके नही ॥ २६ ॥ जो किसी शुभ देशमें सुख पाकर और अशुभ देशमें दुःख पाकर रागद्वेषका त्याग कर देता है वह क्षेत्र सामायिक कहलाता है ॥ २७ ॥ जो शीतकालमें तथा उष्णकालमें समता धारण करते हैं किसी कालको भी सुख वा दुःख देनेवाला नहीं मानते उनके काल सामायिक होता है इसमें कोई संदेह नहीं ॥ २८ ॥ जो मित्र शत्रु आदिमें रागद्वेष छोड़कर समताभाव धारण करते हैं उनके भाव सामायिक होता है ॥ २९ ॥ जो रागद्वेष आदि सब विकारोंको छोडकर अपने हृदयको समस्त पापोंसे रहित बना लेता है और धर्मध्यान धारण करता है उसके समस्त सुखोंकी खानि, स्वर्ग-मोक्षको देनेवाला और कर्मरूपी वनको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान सारभूत सामायिक होता है ॥३०–३१॥ वह सामायिक किसी गुफामें, वनमें, पर्वतपर, सूने मकानमें, जिनालयमें वा अपने घरमें जहां कि न तो अधिक शीत हो न अधिक उष्णता हो, जहांपर चित्तमें समता बनी रहे, जहांपर कठोर शब्द न होते हो, स्त्रियां न हो, पशु न हो, लोग न हों, मित्र न हों, जो ध्यानके योग्य एकांत स्थान हो और जहांपर डांस मच्छर कीडे आदि न हो ऐसे स्थानपर एक धोतीके (एक वस्त्रके) विना अन्य सर्व बाह्य परिग्रहोंका त्यागकर प्रोषधोपवास अथवा एकाशन करके अवश्य सामायिक करना चाहिये ॥ ३२–३४ ॥ उस समय शरीरको निश्चल रखना चाहिये, भोंह चलाना मुंह मटकाना आदि सबका त्याग कर देना चाहिये, मुखपर समताभाव प्रगट होना चाहिये, हाथसे इशारा करना आदि सबका त्याग कर देना चाहिये ॥ ३५ ॥ बुद्धिमानोंको जिनालय अथवा घरमें उत्तरकी ओर मुंहकरके हाथ जोडकर और स्वस्थचित्त होकर खडे होना चाहिये ॥ ३६ ॥ संकल्प विकल्प आदिका त्यागकर मनको स्थिर रखना चाहिये, घरकी चिंता सब छोड देनी चाहिये, तथा

सकुलम् । प्राप्य रागादिक हन्यात् क्षेत्रसामायिक भजेत् ॥२७॥ शीतोष्णादिषु कालेषु समता ये वितन्वते । कालसामायिक तेषा भवत्येव न सशय. ॥२८॥ त्यक्त्वा रागादिक योऽरिमित्रादिषु करोति ना । समताधिष्ठित भाव भावसामायिक श्रयेत् ॥ २९ ॥ स्वचित्त यो विधत्ते हि सर्वसावद्यवर्जितम् । त्यक्त्वा रागादिसदोह धर्मध्यानसमन्वितम् ॥३०॥ तस्य सामायिक सार भवेत्सर्वसुखाकरम् । स्वर्गमुक्तिकर कर्मकक्षदावानलोपमम् ॥३१॥ गह्वरादिवनाद्रौ वा शून्यागारे जिनालये । स्वगृहे तीव्रशीतादिवर्जिते चित्तसाम्यदे ॥३२॥ त्यक्तकर्कशशब्दस्त्रीपशुलोकादिके सुहृत् । एकान्ते ध्यानयोगे च दशकीटाद्यगोचरे ॥ ३३ ॥ एकवस्त्र विना त्यक्त्वा सर्वबाह्यपरिग्रहान् । प्रोषध चैकभक्त वा कृत्वा सामायिकं कुरु ॥३४॥ कृत्वा सुनिश्चल देह भ्रूविकारादिवर्जितम् । मुखादिसाम्यतापन्न त्यक्तहस्तादिसज्ञकम् ॥३५॥ उत्तराभिमुख

ध्यान और अध्ययनमें तत्पर रहना चाहिये ॥ ३७ ॥ उस समय बुद्धिमानोंको अपने हृदयमें धर्म संवेग और वैराग्य धारण करना चाहिये, रागद्वेष छोड देना चाहिये और सामायिक पाठके अर्थका चिंतवन करना चाहिये ॥३८॥ वाग्जाल, कठोर शब्द, विकथा आदिका त्याग कर देना चाहिये। सामायिक पाठको मधुर स्वरसे पढना चाहिये, स्वर अक्षर पदार्थ आदिका शुद्ध उच्चारण करना चाहिये, न जोरसे न धीरे पढना चाहिये, पाठके अक्षर न कम हो न अधिक हो। अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिये शुभ और शुद्ध पाठ पढना चाहिये ॥ ३९–४० सबसे पहिले ईर्यापथ शुद्धि करनी चाहिये और फिर दो घडीका नियम लेकर चैत्य भक्तिका पाठ पढना चाहिये ॥ ४१ ॥ फिर वस्त्रसे वा अन्य किसी पीछी आदि साधनसे पृथ्वीको शुद्धकर पंचांग वा अष्टांग नमस्कार करना चाहिये ॥ ४२ ॥ फिर खडे होकर आत्माको शुद्ध करनेवाला कायोत्सर्ग करना चाहिये अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेके लिये नौवार नमस्कार मंत्र पढना चाहिये ॥ ४३ ॥ आदि और अंतमें बृहत् नमस्कार करना चाहिये अर्थात् एक एक प्रणाम करना चाहिये और तीन तीन आवर्त करना चाहिये ॥ ४४ ॥ तदनंतर बुद्धिमानोंको चौवीस तीर्थकरोंकी स्तुति करनी चाहिये तथा इसके आदि अंतमें भी एक एक नमस्कार और तीन तीन आवर्त करने चाहिये ॥ ४५ ॥ सामायिक करनेवालोंको एक एक व्युत्सर्गमें (कायोत्सर्गमें जोकि आदि अंतमें किया जाता है) चार चार नमस्कार और बारह बारह आवर्त करने पडते हैं ॥ ४६ ॥ फिर चैत्यस्तवन कर पांचो परमेष्ठियोंका स्तवन

चैत्यगेहादौ चान्हिसस्थित । सामायिक सुधी स्वस्थो विदध्यात्करकुड्मलम् ॥३६॥ मनःस्थिर विधायोच्चैः सकलपादिविवर्जितम् । गृहचिन्तादिसत्यक्तं ध्यानाध्ययनतत्परम् ॥ ३७ ॥ धर्मसवेगवैराग्याधिष्ठितं रागदूरगम् । सामायिकादिसूत्रस्य चार्थं सचिंतयेद्बुध ॥ ३८ ॥ त्यक्त्वा वाग्जालदु:शब्दविकथादिकदम्बकम् । तीव्रादिध्वनिनिर्मुक्त त्यक्तहीनाधिक शुभम् ॥३९॥ स्वराक्षरपदार्थादिशुद्ध सामयिकस्य भो । मधुरादिस्वरेणैव पठ सूत्रं स्वशुद्धये ॥४०॥ कृत्वेर्यापथसंशुद्धिं द्वयादिघटिकाकिताम् । मर्यादा च विधायादौ चैत्यभक्ति भजस्व भो ॥४१॥ नमस्कार कुरु त्वं भो प्रतिलिख्य धरा शुभाम् । वस्त्रेणान्येन वा धीर पञ्चागादिसमन्वितम् ॥४२॥ ऊर्ध्वीभूय पुनश्चैत्र कायोत्सर्गं विशुद्धिदम् । नमस्कारनवोपेत कुरु त्व भव्य मुक्तये ॥४३॥ आदावन्ते बृहन्नाम नमस्कारस्य त्व भज । एकैकं सत्प्रणाम च त्रितयावर्तसयुतम् ॥४४॥ चतुर्विंशतिलोकेशस्तवनस्यापि भो बुधाः। आदावन्ते नमस्कारं भजावर्तत्रयान्वितम् ॥४५॥ एकस्मिन्नेव व्युत्सर्गे नमस्कारचतुष्टयम् भवेयुः द्वादशावर्ता सामायिकवशात्मजाः ॥४६॥ चैत्यादिस्तवनं कृत्वा नु पंचपरमेष्ठिनाम्। कायोत्सर्गादिकं सर्वं कुरु लोकोत्तमात्मनाम् ॥४७॥

करना चाहिये। और फिर कायोत्सर्गादि समस्त क्रियाएं कर लोकोत्तम पांचों परमेष्ठियोंका स्तवन करना चाहिये ॥४७॥ हे भव्य ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सामायिक करते समय चित्तको एकाग्रकर आदरपूर्वक व्युत्सर्ग आदि सब क्रियाएं करनी चाहिये ॥ ४८ ॥ वैराग्य परिणामोंको बढानेके लिये, आत्माका कल्याण करनेके लिये, और संवेग धारण करनेके लिये अनित्य अशरण आदि अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन करना चाहिये ॥ ४९ ॥ यह शरीर अपवित्र है, संसार अनेक महा दुःखोंसे परिपूर्ण है और भोग नरकोंके दुःख देनेवाले हैं इसलिये शरीर संसार और भोगोंमें सदा विरक्त रहना चाहिये ॥ ५० ॥ छह द्रव्य और सातों तत्त्व सम्यग्दर्शनकी खानि हैं इसलिये हे भव्य ! छहों द्रव्योंमें, सातों तत्त्वोंमें और सारभूत रत्नत्रयमें सामायिक करते समय सदा अपनी भावनाएं रखनी चाहिये ॥५१॥ आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान विचय ये चारों ही धर्मध्यान स्वर्गरूपी घरके आंगन हैं इसलिये सामायिकमें इन चारों धर्मध्यानोंको अवश्य धारण करना चाहिये ॥५२॥ सामायिक करते समय बुद्धिमानोंको ऐसा ही चिंतवन करना चाहिये जिससे इंद्रियां सब वशमें होजांय और मन निश्चल होजाय ॥५३॥ सामायिक करनेवाले धीरवीर पुरुषोंको प्रतिज्ञापूर्वक कातरलोगोंको भय उत्पन्न करनेवालीं शीत, उष्ण, दंशमसक आदि बाइसों परीषह सहन करनी चाहिये ॥५४॥ समताभावोंको धारण करनेवाले बुद्धिमानोंको तिर्यंच, देव मनुष्य और अचेतनोंके किये हुए तथा घोर दुःख देनेवाले उपसर्गोंको भी सहन करना चाहिये ॥५५॥ अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग और रोगसे उत्पन्न होनेवाले आर्तध्यान तथा निदानका भी त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि यह चारों प्रकारका आर्तध्यान तिर्यंच योनिका कारण है ॥ ५६ ॥ सामायिक करनेवाले पुरुषको हिंसानंद, स्तेयानंद, अनृतानंद और विषय

एकचितेन मुक्त्यर्थं भव्य आदरसयुत । सुव्युत्सर्गादिकं सर्वं कुर्यात्सामायिकस्य वै ॥४८॥ विचिंतय त्वमनुप्रेक्षा अनित्याशरणादिका । वैराग्यादिविवृद्ध्यर्थं शर्मसंवेगमाकृथा ॥४९॥ देहसंसारभोगेषु वैराग्यं भावय स्फुटम् । अशुच्यातिमहादुःखश्वभ्रमार्गप्रदेषु भो॥५०॥ षड्द्रव्य सप्ततत्त्वेषु सम्यक्त्वाद्याकरेषु च । भावना कुरु भो भव्य साररत्नत्रयादिषु ॥ ५१ ॥ आज्ञापायविपाकाख्य संस्थानविचयात्मकम् । धर्म-ध्यान चतुर्भेदं भज स्वर्गगृहांगणम् ॥५२॥ येनाक्षाणि विलीयन्ते मनो भवति निश्चलम् । तदेव चिंतयेद्धीमान् स्थित सामायिके समे ॥५३॥ अति शीतोष्णदंशादिद्वाविंशति परीषहा । प्रतिज्ञानात्परैः धीरैः सोढव्या भीरुभीतिदा ॥५४॥ उपसर्गा हि सोढव्यास्तिर्यग्देव-नृना बुधैः । अचेतनादि जाताश्च दु खदा समसंयुतैः ॥ ५५ ॥ अनिष्टेष्टप्रसयोगे वियोगादिरुगादिजम् । तिर्यग्योनिकर चार्तं निदान

संरक्षणानंद (हिंसामें आनंद मानना, झूठ बोलनेमें आनन्द मानना, चोरीमें आनन्द मानना और परिग्रहोंकी रक्षा करनेमें आनन्द मानना) इन चारों प्रकारके रौद्रध्यानोंका त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि ये चारो प्रकारके रौद्रध्यान नरकमें पटकनेवाले हैं ॥५७॥ आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों प्रकारके ध्यान अपध्यान है, महा पाप उत्पन्न करनेवाले हैं और निंद्य हैं इसलिये सामायिक करनेवाले पुरुषोंको घोर उपसर्ग होनेपर भी इनसे बचते रहना चाहिये-इनका त्याग कर देना चाहिये ॥५८॥ व्रतोंको निर्दोष पालन करनेके लिये सामायिक करनेवालोंको तत्त्वोंके चिंतवनका अवलम्बन लेकर धर्मध्यान आदिके द्वारा सामायिकके समयकी वृद्धि करनी चाहिये अर्थात् धर्मध्यान धारणकर अधिक समय तक सामायिक करनेका अभ्यास करना चाहिये ॥ ५९ ॥ सामायिक करते समय वाह्य अन्तरङ्ग परिग्रह नहीं होते और न आरम्भ इंद्रियोंके विषय ही होते हैं तथा न कपाय ही होते है, अतएव सामायिकमें हिंसा आदि समस्त पापोंका त्याग होजानेके कारण उस समय गृहस्थोंके तेरह प्रकारका चारित्र होजाता है ॥६०-६१॥ सामायिक करता हुआ गृहस्थ समस्त परिग्रहोका त्याग कर देनेके कारण वस्त्रसहित मुनिके समान साधु अवस्थाको प्राप्त होजाता है ॥६२॥ यह गृहस्थ सामायिकके बलसे पहिलेके इकट्ठे किये हुए पापकर्मोका नाश करता है और नये कर्मोंको ग्रहण नहीं करता है ॥ ६३ ॥ सामायिक करनेवाला बुद्धिमान चित्तमें समता धारण करनेके कारण स्वर्ग राज्यका कारण ऐसा महापुण्य उपार्जन करता है ॥ ६४ ॥ जो भव्य जीव शुभ व्रतोंको करता हुआ सामायिक करता है वह सोलहवे स्वर्गकी संपदा पाकर मोक्षमें जा विराजमान होता है ॥ ६५ ॥

भव्य त्व त्यज ॥ ५६ ॥ हिंसानदानृतस्तेयार्थसरक्षणसमवम् । रौद्राख्य श्वभ्रद ध्यानं त्यजेत् सामायिकस्थ ना । महापापकरं निंद्यं दुर्ध्यानद्वयमंजसा । घोरोपसर्ग सजाते त्याज्य सामायिकान्वितै' ॥ ५८ ॥ धर्मध्यानादिसयोगैस्तत्त्वचिन्तावलम्बनै. । सामायिकादिकालस्य कुरु वृद्धिं व्रताय भो ॥ ५९ ॥ सामायिके न सन्त्येव बाह्येतरपरिग्रहा । आरम्भार्थेन्द्रियार्था कषायाश्च तदा नृणाम् ॥६०॥ त्रयोदशविध वृत्त जायते गृहिणां ध्रुवम् । सामायिकेन हिंसादि सर्वसावद्य वर्जनात् ॥ ६१ ॥ गृही सामायिकस्थोऽहि यतिभाव प्रपद्यते । सगादि त्यजनान्नून वस्त्रयुक्तो मुनिर्यथा ॥६२॥ नाशं पूर्वार्जितानां स विधत्ते पापकर्मणाम् । नूतनानि न गृह्णाति सामायिकबलाद्गृही ॥६३॥ महापुण्य समाधत्ते नाकराज्यादि कारणम् । समचित्तवशाद्धीमान् सामायिकसमन्वित ॥६४॥ सामायिकं विधत्ते यो भव्य' शुभव्रतादिभाक् । याति निर्वाणमेक स प्राप्य षोडशम दिवम् ॥६५॥ मुनि' सामायिकेनैव भव्य शास्त्रव्रतान्वित' । अत्यनसमभावेन याति ग्रैवे-

शास्त्रोंको जाननेवाले और व्रतोंको पालन करनेवाले भव्य मुनि सामायिकके कारण अत्यन्त समताभाव धारण करते हैं इसलिये वे अग्रिम (उत्तम) ग्रैवेयकमें ही जाकर जन्म लेते हैं ॥ ६६ ॥ सामायिकमें समस्त परिग्रहोंका त्याग होजाता है और समस्त अशुभ छूट जाते है इसलिये गृहस्थोंके लिये सामायिकके समान अन्य कोई भी धर्म किसीतरह नही होसकता ॥६७॥ यही समझकर बुद्धिमानोंको प्रतिदिन सवेरे ही उठकर धर्म धारण करनेके लिये सबसे पहिले पूर्णरीतिसे सामायिक करना चाहिये ॥ ६८ ॥ तदनंतर मनुष्योंको घरके काम करने चाहिये क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारो पदार्थोंमें सबसे पहिले धर्म पुरुषार्थ ही कहा है ॥ ६९ ॥ इसी प्रकार चतुर पुरुषोंको दोपहरके समय भी पहिले धर्म और संवेगका कारण ऐसा शुभ सामायिक करना चाहिये और फिर भोजन करना चाहिये ॥ ७० ॥ तथा बुद्धिमानोंको धर्मकी सिद्धिके लिये शामके समयमें भी पहिले सारभूत सामायिक करना चाहिये और फिर शयन करना (सोना) चाहिये ॥ ७१ ॥ इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन तीन तीन वार सामायिक करना चाहिये और प्राण नाश होनेपर भी तथा महा रोगादिक होनेपर भी इस सामायिकके नियमका भङ्ग नही करना चाहिये ॥ ७२ ॥ जो बुद्धिमान सवेरे दोपहर शाम तीनों समय धर्मध्यान करते हैं वा सामायिक वा जप आदि करते हैं वे हिंसा आदिसे उत्पन्न हुए समस्त पापोंको नष्टकर महापुण्य उपार्जन करते है ॥ ७३ ॥ सामायिकमें बहुतसे आरम्भ और बहुतसे परिग्रहका भार भरा नहीं रहता इसलिये सामायिक करनेवाले गृहस्थ हलके जहाजके समान शीघ्र ही संसाररूपी समुद्रके पार होजाते है ॥७४॥ जो सामायिकके सूत्रपाठोंका पाठ नही कर सकते उन्हें एकाग्रचित्त होकर एकसौ पचास वार पंच नमस्कारमंत्रका जाप करना चाहिये ॥ ७५ ॥ जो गृहस्था-

यकेऽग्रिमे ॥६६॥ सामायिकसमो धर्मो न स्याद्गृहिणा क्वचित्। सर्वं संगपरित्यागात्सकलाशुभवर्जनात् ॥६७॥ इति मत्वा बुधैः पूर्वं प्रातरुत्थाय प्रत्यहम्। सामायिकं सुसम्पूर्णं कर्तव्यं धर्महेतवे ॥६८॥ पश्चाद्गृहादिकर्माणि कर्तव्यानि यतो जनैः। धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः ॥६९॥ मध्याह्नेपि तथा दक्षैः कृत्वा सामायिकं शुभम्। कर्तव्यं भोजनं पश्चाद्धर्मसंवेगकारणम् ॥ ७० ॥ प्रविधायपराह्णेऽपि सारं सामायिकादिकम्। कुर्वीध्वं शयनं पश्चाद्धो बुधा धर्मसिद्धये ॥७१॥ दिने दिने सदा तद्धि कार्यं वारत्रयं नरैः। प्राणान्तेऽपि न मोक्तव्यं महारोगादिकेऽथवा ॥७२॥ कालत्रयेषु कुर्वन्ति धर्मध्यानादिकं बुधाः। हत्वा हिंसादिजं पापं पुण्यं समर्जयन्ति ते ॥७३॥ कुबह्वारम्भद्रव्यादिभृतः सामायिके न भो। याति संसारनीरं च गृही सद्यानपात्रवत् ॥ ७४ ॥ सामायिकादि सत्सूत्रं पाठीकर्तुं क्षमा न ये। शतप-

श्रमरूपी रथमें लगे रहनेपर भी सामायिक नहीं करते, सदा पापकार्योंकी चितामें ही लगे रहते हैं वे नीच बैल हैं, इसमें कोई संदेह नहीं ।७६॥ जो अज्ञानी इस श्रेष्ठ पंच नमस्कार मंत्रका जाप नहीं करते उनका मुंह महापाप करनेवाले बिलके समान समझना चाहिये ॥ ७७ ॥ जो मनुष्य सामायिक, महामंत्र, स्तवन आदिसे भरपूर धर्मध्यानको नहीं करते हैं वे पापके कारण नरकमें ही पड़ते हैं ॥ ७८ ॥ यही समझकर तू सुखमें, दुःखमें, भयमें, मार्गमें, रोगमें, सोनेमें, बैठनेमें सर्व स्थानोंमें पदपदपर इस मंत्रराज (पंच नमस्कार मंत्रका) का जप कर ॥ ७९ ॥ जिसप्रकार परमाणुसे कोई छोटा नहीं है और आकाशसे अन्य कोई बड़ा नहीं है उसी प्रकार पंचनमस्कारमंत्रसे बढकर और कोई मंत्र इस संसारमें नहीं है ॥ ८० ॥ इस मंत्रराजके प्रतापसे शाकिनी, भूत, पिशाच, रोग, चोर, राज्यबंधन आदि किसी प्रकारका भय मनुष्योंको नहीं होता है ॥ ८१ ॥ जो जीव सातों व्यसनोंमें आसक्त थे और महा पापी थे वे भी मरनेके समय सब मंत्रोंके स्वामी इस पंच नमस्कार मंत्रका जपकर शुभ कर्मके उदयसे स्वर्गमें जा पहुंचे हैं ॥८२॥ इस मंत्रराजके प्रतापसे श्रेष्ठ लक्ष्मी भी विवेकी पुरुषोंके घरकी दासीके समान वश होजाती है और दरिद्रता सब नष्ट होजाती है ॥ ८३ ॥ मुझे तो ऐसा निश्चय है कि चिंतामणी रत्न, निधियां, कल्पवृक्ष और कामधेनु आदि सब इस पंच नमस्कार मंत्रके सदा कालसे चले आये सेवक ही हैं ॥ ८४ ॥ जो मनुष्य एकाग्रचित्तसे सारभूत पंच परमेष्ठियोंका ध्यान करते हैं वे इंद्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकरकी संपदाको अवश्य प्राप्त होते हैं ॥ ८५ ॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ है? थोडेसेमें इतना समझलेना चाहिये कि मंत्रके प्रभावसे तीनों लोकोंमें उत्पन्न

चाशन्नमस्कार ते जपन्त्वेकचित्तत ॥७५॥ सामायिक न कुर्वन्ति युक्ता गेहरथेऽधमा । पापचिन्तान्विता नित्य वृषभास्ते न सशय ॥७६॥ ये सत्पचनमस्कारान्न जपन्ति दुराशया । वदन बिलवत्तेषा महापापकर भवेत् ॥ ७७ ॥ सामायिकमहामन्त्रस्तवनादिकगोचरम् । धर्मध्यान न कुर्वन्ति श्वभ्रे चाघात्पतन्त्यहो ॥७८॥ इति मत्वा जप त्व च मन्त्रराज्य पदे पदे । सुखे दुःखे भये मार्गे व्याधौ च शयनासने ॥७९॥ यथाप्यणो पर नाल्प न महदगगनात्परम् । तथा पञ्चनमस्कारमंत्रान्मत्रो न विद्यते ॥ ८० ॥ शाकिनीगृहदुर्व्याधिचौरबंधनृपादिजम् । पुसा नश्याद् भय सर्वं मत्रराजप्रतापत ॥ ८१ ॥ सप्तव्यसनससक्ता महापापान्विता नरा । मरणे सर्वमंत्रेश प्राप्य स्वर्गे गता शुभात् ॥८२॥ सल्लक्ष्मीर्गृहदासीव वश याति विवेकिनाम् । मत्रराजप्रसादेन दारिद्रच प्रपलायते ॥८३॥ चिन्तामणिनिधिकल्पद्रुमकामदुघादय । मत्रराजस्य सर्वोऽपि मन्ये भृत्याश्चिरन्तना ॥ ८४ ॥ इन्द्रतीर्थेशचक्र्यादिभुवा लक्ष्मी भजन्त्यहो । सार पच गुरूणा सदृध्यानादेकाग्रतो

होनेवाले जितने सुख हैं उन सबको पाकर बुद्धिमान लोग मोक्षमें ही विराजमान होते हैं ॥ ८६ ॥ दिन रातमें जो पाप उत्पन्न होते हैं उन सबके क्षय होनेका कारण प्रतिक्रमण है इसलिये बुद्धिमानोंको शाम सवेरे दोनों समय प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिये ॥ ८७ ॥ उत्तम गृहस्थोंको धर्मध्यानकी सिद्धिके लिये अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन चारों प्रकारका स्वाध्याय करना चाहिये ॥ ८८ ॥ उत्कृष्ट श्रावकोंको रात्रिके समय धर्म पालन करनेके लिये और अहिंसा आदि व्रतोंकी रक्षा करनेके लिये प्रतिदिन दो योग धारण करने चाहिये अर्थात सुबह शाम दोनों समय ध्यान करना चाहिये ॥ ८९ ॥ जो उत्तम बुद्धिमान ऊपर लिखे आवश्यकोंको प्रतिदिन करते हैं वे मुनियोंके समान शुभ स्वर्गमें जाते हैं और फिर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ९० ॥ क्षुल्लक व्रतोंको (एक देश व्रतोंको) धारण करनेवाले अणुव्रतियोंको प्रतिदिन समस्त आवश्यक करने चाहिये तथा रोग क्लेश आदि आजानेपर भी कभी नहीं छोडने चाहिये ॥ ९१ ॥ जिसप्रकार दांत रहित हाथी और दाढ रहित बाघ अपने काम करनेमें समर्थ नहीं होता उसी प्रकार आवश्यकोंको न करनेवाला मनुष्य अपने कर्मोंको नाश नहीं कर सकता ॥ ९२ ॥ जिसप्रकार समयपर बोया हुआ बटका बीज बहुतसे फलोंको फलता है उसीप्रकार अपने अपने समयपर किये हुए आवश्यक भी बहुतसे फलोंको फलते हैं ॥९३॥ जिस प्रकार असमयमें बोये हुए बटके बीजपर उत्तम फल नहीं लगते उसी प्रकार आवश्यक भी यदि समयपर नहीं किये जांय तो उनसे कर्म नष्ट नहीं हो सकते ॥९४॥

नरा ॥ ८५ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन सुखं लोकत्रयोद्भवम् । प्राप्य मुक्तिं प्रयात्येव बुधा मंत्रप्रभावत. ॥८६॥ अहोरात्र्यादिजातस्य पापस्य क्षयकारणम् । प्रतिक्रमद्वयं कार्यमुभयो कालयो बुधै ॥ ८७ ॥ धर्मध्यानादिसिद्ध्यर्थं सत्स्वाध्यायचतुष्टयम् । यथाशक्ति हि कर्तव्यं नित्यमेव नरोत्तमैः ॥८८॥ योगद्वयमनुष्ठेयमुत्कृष्टश्रावकैः सदा । रात्रौ धर्माय चाहिंसाव्रतरक्षादिहेतवे ॥ ८९ ॥ इत्याद्यावश्यकं केऽपि प्रकुर्वन्ति बुधोत्तमाः । यान्ति स्वर्गं क्रमान्मोक्षं चानगारा इव शुभा ॥ ९० ॥ सर्वमावश्यकं नित्यं क्षुल्लकव्रतधारिभिः । अनुष्ठेयं न मोक्तव्यं रोगक्लेशादिके क्वचित् ॥९१॥ दन्तहीनो गजो व्याघ्रो दंष्ट्राहीन क्षमो न च । तथा नावश्यकेनापि हीनः कर्मनिपातने ॥९२॥ वटबीजं यथाकाले चोप्तं भूरिफलप्रदम् । भवेदावश्यकं तद्वत्कृतं कालान्वितात्मनाम् ॥९३॥ बीजयुक्तं यथाकाले न स्यात्तत्फलदायकम् ।

१ चारों प्रकारके स्वाध्यायसे वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नायसे अभिप्राय जान पडता है क्योंकि धर्मोपदेश साधारण गृहस्थोंका मुख्य कार्य नहीं है ।

इसलिये हे मित्र ! सवेरे, दोपहर और शामको तीनो समय चार चार घड़ी पर्यंत प्रतिदिन सामायिक करना चाहिये ॥९५॥ चतुर पुरुषोको इन आवश्यक कार्योंमें अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और असह्य अनाचार कभी नहीं करना चाहिये ॥ ९६ ॥ अपने मनसे शुद्धताकी कमी करना अतिक्रम कहलाता है और विषयोंमें आसक्त होना गृहस्थोंके लिये व्यतिक्रम कहलाता है ॥ ९७ ॥ प्रमादके कारण आवश्यकोंमें वा चारित्रमें आलस करना अतिचार है और अत्यन्त मूर्ख मनुष्य जो व्रतोका भंग कर देते है उसे अनाचार कहते हैं ॥ ९८ ॥ अपनी प्रतिज्ञामें तत्पर रहनेवाले बुद्धिमानोंको समस्त व्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिये आवश्यकोंमे तथा व्रतादिकोंमें अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार आदि दोषोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ ९९ ॥ जो समस्त अतिचारोंको छोडकर शुद्ध सामायिक करते हैं उनको समस्त पापोंसे रहित महाधर्मकी प्राप्ति होती है ॥ १०० ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! कृपाकर मेरे लिये उन अतिचारोंका निरूपण कीजिये ?

उत्तर—हे वत्स ! मै उन दुःख देनेवाले अतिचारोंको कहता हूं, तू चित्त लगाकर सुन ॥१०१॥ वचनदुःप्रणिधान, कायदुःप्रणिधान, मनोदुःप्रणिधान, अनादर और अस्मरण ये पांच सामायिकके अतिचार गिने जाते हैं ॥ १०२ ॥ जो सामायिक करता हुआ भी अपने मौनव्रतको छोडकर बुरे वचन (गाली, गलौच वा हिंसा आदि करनेवाले) कहता है उसके दुःख देनेवाला वचन दुःप्रणिधान नामका अतिचार लगता है ॥१०३॥ जो सामायिक करता हुआ भी अपने स्थान

तथानावश्यकं पुंसामलं कर्मनिपातने ॥ ९४ ॥ आदौ मध्येऽवसाने च सत्घटिका चतुष्टयम् । तद्दिनस्य समादाय मित्र ! सामायिकं भज ॥९५॥ अतिक्रमो न कर्तव्यो दक्षैरावश्यकादिषु । व्यतिक्रमोऽप्यतीचारोऽप्यनाचारश्च दुस्सहः ॥९६॥ मनसा शुद्धिहीनेन भवेच्चातिक्रमोंगिनाम् । विषयादिप्रसक्तेन श्रयेज्जीवा व्यतिक्रमम् ॥९७॥ आवश्यके व्यतीचारः स्यादालसप्रमादतः । व्रतस्य भंगतः पुंसामनाचारो जडात्मनाम् ॥९८॥ इमे दोषा बुधैस्त्याज्या आवश्यकव्रतादिषु । सर्वव्रतविशुद्ध्यर्थं प्रतिज्ञातत्परैः सदा ॥९९॥ सर्वातिचारनिर्मुक्तं शुद्धं सामायिकं हि ये । भजन्ति जायते तेषामेतस्त्यक्त महावृषम् ॥१००॥ भट्टारक ! व्यतीपातान् कथय त्वं समादरात् । शृणु भो ते व्यतीपातान् कथयामि विरूपकान् ॥१०१॥ त्रिधा दुःप्रणिधानानि वाक्कायमनसां बुधाः । अनादरोऽस्मरणं च त्यजातीचारपंचकम् ॥१०२॥ सामायिकसमापन्नो वक्ति दुर्वचनादिकम् । त्यक्त्वा मौनं भजेन्मोऽपि व्यतीपातं कुदुःखदम् ॥१०३॥ कायचेष्टां विधत्ते यस्त्यक्त्वा स्थानासनादिकम् ।

वा आसनको छोडकर हाथ वा अन्य किसीके इशारेसे शरीरकी चेष्टा करते हैं उनके व्रतमें कायदुःप्रणिधान नामका अतिचार लगता है ॥१०४॥ जो सामायिक करते हुए भी समताभावको छोडकर अपने मनमें वध बंध आदिसे उत्पन्न होनेवाला अशुभ संकल्प विकल्प करते हैं उनके मनोदुःप्रणिधान नामका अतिचार लगता है ॥ १०५ ॥ जो मूर्ख अत्यन्त प्रमादके कारण विना ही आदरके शुभ सामायिकको करता है उसके अनादर नामका अतिचार लगता है ॥१०६॥ जो सामायिकमें होनेवाले नित्य कर्मोंको चंचल हृदयमे करता है (चंचल हृदयके कारण कभी किसी क्रियाको व कभी किसी पाठको भूल जाता है) उसके अस्मरण नामका अतिचार लगता है ॥ १०७ ॥ जो अपने समयपर पांचों अतिचारोंको छोडकर और बत्तीस दोषोंको टालकर सामायिक करता है वह अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त करता है ॥ १०८ ॥

प्रश्न—हे प्रभो पुण्य उपार्जन करनेके लिये उन दोषोंको कृपाकर कहिये ?

उत्तर हे बुद्धिमान ! मन लगाकर सुन, अब मैं उन दोषोंको कहता हूं ॥ १०९ ॥ अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परिपीडित, दोलायित, अंकुशित, कच्छपरिंगित, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भय, विभ्यत, ऋद्धिगौरव, गौरव, स्तनित प्रतिनीक, प्रदुष्ट, तर्जित, शब्द, हेलित, त्रिवलित, कुंचित, दृष्ट, अदृष्ट, संघकरमोचन, आलब्ध, अनालब्ध, हीन, उत्तरचूलिका, मूक, दुर्दर, मललित इन बत्तीस दोषोंको छोडकर हे मित्र ! तू सामायिक कर ॥ ११०—११४ ॥

हस्तादिसंज्ञया तस्य भवेद्दोषो व्रतस्य वै ॥१०४॥ कुर्वन्ति चित्तसंकल्पमशुभं वधबंधजनम् । समभावं परित्यज्य व्यतिचारं व्रजन्ति ते ॥१०५॥ आदरेण विना योऽधीर्विधत्ते समयं शुभम् । प्रमादेन विशालेन श्रयेद्दोषं व्रतस्य सः ॥१०६॥ नित्यकर्माणि एकाग्रचेतसा यः करोति न । सामायिकादिजातानि तस्य दोषं लभेत स ॥१०७॥ क्रियाकर्म विधत्ते यस्त्यक्त्वातीचारपंचकान् । कालद्वात्रिंशद्दोषांश्च लभते सोऽव्ययं पदम् ॥ गणिन् तान् मम दोषांश्च स्वपुण्याय प्ररूपय ॥१०८॥ वक्ष्येऽहं शृणु भो धीमन् कृत्वातिनिश्चलं मनः ॥१०९॥ अनादृतश्च तब्धः स्यात्प्रविष्टः स्यात्परिपीडितः । दोलायितोंकुशितोऽपि भवेत्कच्छपरिंगितः ॥११०॥ मत्स्योद्वर्तो मनोदुष्टो वेदिकाबद्ध एव हि । भयो विभ्यद्भवेदृद्धिगौरवो गौरवस्तथा ॥१११॥ स्तनितः प्रतिनीकश्च प्रदुष्टस्तर्जितस्तथा । शब्दश्च हेलितश्च त्रिवलितश्चैव कुंचितः ॥११२ ॥ दृष्टोऽदृष्टो भवेत्संघकरमोचन एव हि । आलब्धः स्यादनालब्धो हीन उत्तरचूलिकः ॥११३॥ मूकश्च दुर्दरो दोषो भवेत्सुललितः सुहृत् । द्वात्रिंशत्प्रमितान् दोषांस्त्यक्त्वा सामायिकं भज ॥११४॥ क्रियते यत्क्रियाकर्म प्रादरेण विना नरैः । अल्पभावयुतैस्तद्धि अनादृत इवोच्यते ॥११५॥ विद्यादिगर्वितो

जो मनुष्य सामायिककी क्रियाएं विना आदरके अपने थोडेमे भाव लगाकर करते हैं उनके अनादर (अनादृत) नामका दोष लगता है ॥११५॥ जो मूर्ख विद्या आदिके अहंकारसे हृदयमें उद्धतता धारणकर सामायिककी क्रियाओंको करता है उसके स्तब्ध नामका दोष अवश्य लगता है ॥ ११६ ॥ जो परमेष्ठियोंके अत्यन्त समीप बैठकर सामायिक करता है उसके प्रविष्ट नामका दोष लगता है ॥ ११७ ॥ जो अपने दोनों हाथोंसे जंघाओंका स्पर्श करता हुआ अथवा दबाता हुआ सामायिक करता है अथवा वंदना करता है उसके परिपीडित नामका दोष होता है ॥११८॥ जो अपने शरीरको झूलेके समान हिलाता हुआ सामायिक करता है अथवा जो अपने आत्माको चंचल रखता है, जिसके संदेह बना रहता है—सामायिक वंदना वा उसके फलमें जो संदेह रखता है उसके दोलायित नामका दोष लगता है ॥ ११९ ॥ जो अज्ञानी अंकुशके समान अपने अंगूठेको ललाट वा मस्तकपर रखकर सामायिक वा वंदना करता है उसके अंकुशित नामका दोष लगता है ॥ १२० ॥ जो कटिभागसे (कमरसे) कछुएके समान कुछ आगेको सरककर वंदना करता है उसके कच्छपरिंगित नामका दोष लगता है ॥ १२१ ॥ जो मच्छके समान एक ही बगलमें अथवा दोनों बगलोंमें वंदना करता है उसके मत्स्योद्वर्त नामका दोष लगता है ॥ १२२ ॥ जो दुष्ट आचार्य वा गुरुके ऊपर खेद प्रकाशित करता हुआ सामायिक वा वंदना करता है उसके मनोदुष्ट नामका दोष लगता है। १२३ ॥ जो दोनों हाथोंसे अपने शरीरको वा दोनों जंघाओंको बांधकर, दबाकर सामायिक वा वंदना करता है उसके वेदिकावद्ध नामका दोष लगता है ॥ १२४ ॥ जो मरण भय आदि सातों भयोंमें डरकर सामायिक

योऽधीरुद्धताशयसयुत । क्रियाकर्म विधत्ते य स्तब्धदोष श्रयेद्ध्रुवम् ॥११६॥ अत्यासन्नो हि यो भूत्वा सत्पचपरमेष्ठिनाम् । कुर्यात्सामायिक दोष प्रविष्टाख्य लभेत स· ॥११७॥ दोर्भ्यां जानुप्रदेश य सस्पृश्य परिपीड्य च । करोति वदना तस्य दोष. स्यात्परिपीडित ॥११८॥ आत्मान च चल कृत्वा सशयित्वा तनोति वा । तद्दोलामिव यो सोऽधीर्भजेद्दोलायिताभिधम् ॥११९॥ करागुष्ट ललाटे यो विधायाधीर्यथा-कुशम् । करोति वदना सोऽपि श्रयेद्दोषमिहाकुशम् ॥१२०॥ कटिभागेन यः कृत्वा कच्छपस्येव चेष्टितम् । तद्विधत्ते स आप्नोति दोषं कच्छपरिंगितम् ॥१२१॥ मत्स्यस्येव कटीभारोद्वर्तन यो विधाय वा । पार्श्वद्वयेन ता दध्यात् मत्स्यस्येव लभेत स· ॥१२२॥ सूर्यादीना हि यो दुष्टो भूत्वा ता मनसा भजेत् । क्लेशयुक्तेन वा तस्य मनोदुष्टोऽभिजायते ॥१२३॥ हस्ताभ्यां स्वशरीर यो बध्वा वापि प्रपीड्य तम् । जानुद्वय विधत्ते स वेदिकाबद्धदोषभाक् ॥ १२४ ॥ करोति वदना योऽपि मरणादिभयान्वितः । प्राप्य भयेन वा त्रस्तो भयदोष लभेत हि

वा वंदना करता है उसके भय नामका दोष लगता है ॥ १२५ ॥ जो परमार्थको न जानकर केवल गुरु आदिके डरसे ही सामायिक आदि क्रियाओंको करता है उसके विभ्यत् नामका दोष लगता है ॥ १२६ ॥ चारों प्रकारका महासंघ मेरी भक्ति करेगा, मेरा गौरव करेगा यही समझकर जो अज्ञानी सामायिक वा वंदना करता है उसके ऋद्धिगौरव नामका दोष लगता है ॥ १२७ ॥ जो अपने सुखके लिये आसन आदिके द्वारा अपने माहात्म्यको प्रगटकर सामायिक वा वंदना करता है उसके गौरव नामका दोष लगता है ॥ १२८ ॥ जो गुरुको प्रसन्न करनेके लिये सबसे छिपकर सामायिक वा वंदना करता है उसके स्तनित नामका दोष लगता है ॥१२९॥ जो देव, गुरु वा योगियोंके प्रतिकूल होकर उनकी आज्ञाको न मानकर सामायिक वा वंदना करता है उसके प्रतिनीक नामका दोष लगता है ॥ १३० ॥ जो दूसरोंके साथ द्वेष वैर वा कलह करके भी मन वचन कायसे न तो दूसरोंसे क्षमा कराता है न क्षमा करता है-विना क्षमा करे कराये योंही सामायिक वा वंदना करता है उसके प्रदुष्ट नामका दोष लगता है ॥ १३१ ॥ जो अन्य शैक्ष्य आदिकोंको उंगलीसे तर्जनाकर भय उत्पन्न कर अथवा आचार्य वा गणमे तर्जित होकर सामायिक वा वंदना करता है उसके तर्जित नामका दोष लगता है ॥१३२॥ जो सामायिक करता हुआ भी मौन छोडकर बातें करता है उसके पाप बढानेवाला शब्द नामका दोष लगता है ॥ १३३ ॥ जो आचार्य आदि अन्य मुनियोंका तिरस्कार कर वचनसे उनका उपहासकर सामायिक वा वंदना करता है उसके हेलित नामका दोष लगता है ॥ १३४ ॥ जो कमर मोडकर, गर्दन टेढीकर वा छाती नवाकर अथवा भौंह चलाकर

॥१२५॥ गुर्वादिभ्यो विभीतो य क्रियाकर्म करोति वै । अज्ञातपरमार्थोऽपि विभ्यद्दोष लभेत स ॥१२६॥ चातुर्वर्ण्यमहासंघाद्भक्त्यादिगौरवेच्छया । यो बुधो वंदना दध्याल्लभते ऋद्धिगौरवम् ॥१२७॥ प्रकटीकृत्य माहात्म्यमात्मन आसनादिभि । सुखार्थं चाविषत्ते तद्भजेद्दोषं स गौरवम् ॥१२८॥ गुर्वादेस्य प्रसन्नाय वन्दना कुरुते बुध । परेषा चोरयस्तस्य स्तनितं दोषमाश्रयेत् ॥१२९॥ भूत्वातिप्रतिकूलो यो देवगुर्वादियोगिनाम् । वंदनां कुरुते दोष प्रतिनीक लभेत ना ॥१३०॥ अन्यैः कृत्वापि प्रद्वेष वैर वा कलहादिकम् । प्रदुष्ट यो भजेच्चके क्षन्तव्य सो विधाय तत् ॥१३१॥ परेषा यो भय कुर्वन्नाचार्यैर्वातितर्जित । नित्यकर्म विधत्ते स तर्जित दोषमाप्नुयात् ॥१३२॥ यो मौन हि परित्यज्य वक्ति सामयिके स्थित । वचन जायते तस्य शब्ददोषोऽशुभप्रद ॥ १३३ ॥ कृत्वा परिभव योपि नाचार्यादिसुयोगिनाम् । वचनेन विधत्ते तद्दोष हेलितमाप्नुयात् ॥ १३४ ॥ शरीरस्य त्रिभग यो भाले रेखा त्रय हि वा । कृत्वा करोति सत्कर्म श्रयेत्त्रिवलितं स

अथवा ललाटपर तीन रेखा चढाकर सामायिक आदि सत्कर्म करता है उसके त्रिवलित नामका दोष लगता है ॥ १३५ ॥ जो दोनों हाथोंसे अपने मस्तकको स्पर्शकर सामायिक वा वंदना करता है, अथवा संकुचित होकर मस्तकको जंघाओंके समीप ले जाकर सामायिक वा वंदना करता है उसके कुंचित दोष लगता है ॥ १३६ ॥ जो आचार्य वा अन्य मुनियोंके देखनेपर तो सामायिक आदि क्रियाओंको अच्छी तरह करता है और उनके न देखनेपर अपनी इच्छानुसार सब दिशाओंकी ओर देखता हुआ सामायिक आदि क्रियाओंको करता है उसके दृष्ट नामका दोष होता है ॥ १३७ ॥ जो गुरुकी दृष्टिसे छिपकर सामायिक आदि करता है अथवा पीछी आदिसे विना शोधे, विना देखे चंचल मनसे क्रियाओंको करता है उसके अदृष्ट नामका दोष कहलाता है ॥ १३८ ॥ जो संघको प्रसन्न करनेके लिये अथवा संघसे भक्ति आदि करानेकी इच्छासे सामायिक वा वंदना करता है उसके संघकरमोचन नामका दोष लगता है ॥ १३९ ॥ जो उपकरण आदिको पाकर आवश्यक आदि क्रियाओंको करता है-विना उपकरण आदिके मिले जो नहीं करता उसके मद उत्पन्न करनेवाला आलब्ध नामका दोष लगता है ॥ १४० ॥ जो लोभके वशीभूत होकर उपकरण आदिकी इच्छासे सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओंको करता है उसके अनालब्ध नामका दोष लगता है ॥ १४१ ॥ जो काल, व्यंजन, ग्रंथ अर्थ (अथवा मात्रा आदि) आदिसे रहित सामायिक वा आवश्यकोंके पाठोंको पढता है उसके पाप उत्पन्न करनेवाला हीन नामका दोष लगता है ॥ १४२ ॥ जो सामायिक वा वंदनाको बडी शीघ्रतासे थोडे ही समयमें कर लेता है और आलोचना आदि उसकी चूलिकाको (अंतिम क्रियाको) बड़ी देरमें करता है इसप्रकार जो सामायिक करता है उसके उत्तरचूलिका नामका

ना ॥१३५॥य. कुर्वन् स्वशिरस्पर्शं हस्ताभ्यां विदधे हि तत् । भूत्वा सकुंचितो वा हि स दोषं कुंचितं भजेत् ॥१३६॥ आचार्यादिगणैर्दृष्टः सत्कर्म कुरुते हि य । अन्यथा स्वेच्छया दृष्टं श्रयेद्वा दिग्विलोकनात् ॥१३७॥ आचार्यादिपु प्रच्छन्न काय वाऽप्रतिलेख्य यः । अनेकाग्रो विधत्ते तत्सो दृष्ट दोषमाप्नुयात ॥१३८॥ सघस्य रंजनार्थं यस्तस्माद्भक्त्यादिवांच्छया । वदनां विधदे तस्य स्यात्सघकरमोचनम् ॥१३९॥ आवश्यकं विधत्ते य· प्राप्योपकरणादिकम् । नान्यथा जायते तस्यालब्धदोषो मदप्रदः ॥१४०॥ विदध्याद्यः षट्कर्मोपकरणादिकवाच्छया । लोभाविष्टो भजेद्दोष सोऽत्रानालब्धसंज्ञकम् ॥१४१॥ कालव्यंजनग्रन्थार्थं हीनमावश्यकं हि यः । करोति जायते तस्य हीनदोषोऽशुभप्रदः ॥१४२॥ वदना स्तोककालेन निर्वर्त्य वेगतो ध्रुवम् । वंदना· चूलिकायाश्च किंचिदुद्धरितस्म य· ॥१४३॥ आलोचनादिकस्यातिकालेनापि

दोष लगता है ॥ १४३-१४४ ॥ जो गूंगेके समान मुखके भीतर ही भीतर सामायिक वा वंदना करता है अथवा उंगलीके इशारे वा हुंकार आदि करता हुआ सामायिक आदि क्रियाओंको करता है उसके मूक नामका दोष लगता है ॥ १४५ ॥ जो अपने जोर जोरके शब्दोंसे दूसरोंके अच्छे शब्दोंको भी दबाकर सामायिक आदि क्रियाओंको करता है उसके दुर्दर नामका दोष लगता है ॥ १४६ ॥ जो एक स्थानपर बैठकर ही सबकी वंदना करता है अथवा जो पंचमस्वर आदिसे गा-गाकर वंदना करता है उसके सुललित नामका दोष लगता है ॥ १४७ ॥ जो इन बत्तीस दोषोंसे रहित होकर सामायिक करता है उसके पापकर्मोंकी सबसे अधिक निर्जरा होती है ॥ १४८ ॥ जो इन दोषोंको छोडकर सामायिक करता है उसके स्वर्ग मोक्षको वश करनेवाला समस्त सुखोंकी खानि सारभूत और संसाररूपी महासागरसे पार करदेनेवाला शुभरूप महा पुण्य प्राप्त होता है ॥ १४९ ॥ जो इन दोषोंका विना त्याग किये ही सामायिक वा वंदना आदि क्रियाओंको करता है उसके कर्मोंका नाश कभी नहीं होसकता उसका सामायिक आदि करना केवल शरीरको दुःख पहुंचाना है ॥ १५० ॥

इसीप्रकार बुद्धिमानोंको शरीरसे ममत्वका त्याग करनेके लिये श्रेष्ठ धर्मको प्रगट करनेवाला कायोत्सर्ग भी बत्तीस दोषोंसे रहित होकर ही करना चाहिये अर्थात् कायोत्सर्गके भी बत्तीस दोषोंका त्याग कर देना चाहिये ॥१५१॥ जिसप्रकार पैरमें उत्पन्न हुई पीडासे दुःख आजाता है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करनेवाले मनुष्यके अवश्य ही कर्म नष्ट होजाते हैं ॥१५२॥

प्रश्न—हे प्रभो ! कृपाकर मेरे लिये कायोत्सर्गके दोषोंका निरूपण कीजिये ।

विवर्तनम् । कृत्वा सामायिकं दद्याद्भेतोत्तरचूलिकम् ॥१४४॥ मूकवन्मुखमध्ये वा हुंकारागुलिसंज्ञया । युक्तो यः कुरुते तद्धि मूकदोषं लभेत सः ॥१४५॥ स्वशब्देन परेषां यः सच्छब्दमभिभूय वै । वृहद्ध्वनेन तं दद्याद् दुर्दरं दोषमाप्नुयात् ॥१४६॥ स्थित्वैकस्मिन् प्रदेशे यः सर्वेषां वंदनां भजेत् । श्रयेत्सुललितं दोषं पंचमादिस्वरेण वा ॥१४७॥ एतैर्मुक्तं हि द्वात्रिंशद्दोषैः सामायिकं च यः । करोति निर्जरां पापकर्मणां स भजेत्पराम् ॥१४८॥ त्यक्त्वाशुभं महापुण्यं स्वर्गमुक्तिवशीकरम् । सर्वसौख्याकरं सारं संसाराम्बुधितारकम् ॥१४९॥ अपरित्यज्य तान् दोषान् यः कुर्याद्वंदनादिकम् । कर्मक्षयो भवेन्नैव तस्य क्लेशो हि केवलम् ॥१५०॥ कायोत्सर्गोऽपि कर्तव्यो द्वात्रिंशद्दोषवर्जितः । बुधैः कायममत्वादित्यजनार्थं सुधर्मदः ॥१५१॥ दुःखं यथा समायाति पादमजातपीडया । तथा कर्माणि नश्यन्ति कायोत्सर्गस्थितस्य वै ॥१५२॥ कायोत्सर्गभवान् दोषान् मे गणेश प्ररूपय । भो श्रावक प्रवक्ष्येऽहं तान् दोषान् शृणु ते स्फुटम् ॥१५३॥ घोटकश्च लतादोष

उत्तर—हे श्रावकोत्तम ! सुन, अब मैं कायोत्सर्गके दोषोंको कहता हूं ॥ १५३ ॥ घोटक, लता, स्तम्भ, कुड्य, माल शवर, लम्बोदर, तनुदृष्टि, वायस, खलित, युग, कपित्थ, शिरःप्रकंपन, मूकित, अंगुलि, भ्रूविकार, वारुणीपायी, दिशामालोकन, ग्रीवोन्नमन, प्रणमन, निष्ठीवन, स्वांगस्पर्श ये कायोत्सर्गके दोष कहलाते हैं अतः बुद्धिमानोंको इनका त्याग कर देना चाहिये ॥ १५४–१५७ ॥ जिस प्रकार अच्छा घोडा एक पैर ऊँचा करके खड़ा होता है उसी प्रकार जो कायोत्सर्ग करते समय एक पैरको ऊँचा कर केवल एक पैरसे पृथ्वीको स्पर्श करता हुआ खड़ा होता है उसके घोटक नामका दोष होता है ॥ १५८ ॥ जो संयमी लताके समान अङ्ग उपांगोको कंपाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उसके लता नामका दोष लगता है ॥१५९॥ जो संयमी किसी खम्भेका सहारा लेकर कायोत्सर्ग करता हे अथवा जो अपने हृदयको शून्य बनाकर (आत्माका चिंतवन किये विना) कायोत्सर्ग करता है उसके स्तम्भ नामका दोष लगता है ॥ १६० ॥ जो श्रावक किसी दीवालका

स्तंभ कुड्योऽपि सभवेत् । मालदोषः शवरादिवधूः स्यान्निर्यल्पे ध्रुवम् ॥ १५४ ॥ लवोदरो वपुदृष्टिर्वायसस्खलिनो युगः । कपित्थाख्यो भवेद्दोषः शिरःप्रकपितो भवेत् ॥१५५॥ मूकितोंगुलिदोषश्च भ्रूविकारो हि संभवेत् । तथा च वारुणीपायी दिशामालोकनाभिधा ॥१५६॥ ग्रीवोन्नमनमेव प्रणमनं स्यान्निष्ठीवनः । स्वागमर्पो बुधैस्त्याज्या अमी दोषा मलप्रदाः ॥ १५७ ॥ उत्क्षिप्य चैकपाद यो चाविन्यस्येह तिष्ठति । कायोत्सर्गे भवेत्तस्य घोटकाख्यो मलोश्चवत् ॥ १५८ ॥ अगानि चालयन् योऽपि व्युत्सर्गं कुरुते यमी । लतेव संश्रयेत्सोऽपि लतादोषं प्रचचलः ॥१५९॥ स्तभमाश्रित्य व्युत्सर्गं यो विधत्ते हि सयत । स्तभदोष भजेत्सोपि स्वशून्यहृदयोऽथवा ॥१६०॥ कायोत्सर्गं

---

१ इसमें स्तम्भ और कुड्य अलग अलग लिखे हैं परन्तु अनगारधर्मामृतमें दोनों एक स्तम्भमें ही शामिल कर लिये हैं।

२–बाकीके दोष इसप्रकार हैं । पटक–इसका स्वरूप ६२ वें श्लोकमें लिखा है । प्रखलित–जो अपने पेरोंको साकलसे बधे हुएके समान करके कायोत्सर्ग करे । उत्तीरत–मस्तकको ऊचाकर कायोत्सर्ग करना । स्तनोन्नति–जो दूध पिलाने वालीके समान छातीको ऊचा उठाकर कायोत्सर्ग करना । न्यूनत्व–मात्रा आदि छोडकर कायोत्सर्गका पाठ पढना । मायाप्रायास्थितिश्चिन–दूसरोंको ठगनेवाली और अत्यत आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अपने शरीरकी स्थिति बनाना । वयोपेक्षाविवर्जन–अपना बुढापा समझकर कायोत्सर्गका छोड देना । व्याक्षेपासक्तचित्तत्व–चित्तका इधर उधर, भटकाते हुए कायोत्सर्ग करना । कालापेक्षाव्यतिक्रम–समय देखकर कायोत्सर्गका कुछ अंश छोड देना । लोभाकुलत्व–लोभके कारण कुछ अश छोड देना । मूढत्व–कर्तव्य अकर्तव्यका विचार न करना । पापकर्मैकसर्गता–हिंसादिकके कामोंमें अत्यत उत्साह होना ।

अथवा अन्य किसी पदार्थका सहारा लेकर कायोत्सर्ग करता है उसके कुड्य नामका दोष लगता है ॥ १६१ ॥ जो किसी वेदी, पटा आदिपर खडा होकर कायोत्सर्ग करता है उसके पट्टक नामका दोष लगता है। जो मस्तकसे ऊँचे स्थानपर माला वा रस्सी व.धकर उसका सहारा लेकर कायोत्सर्गके लिये खडा होता है उसके माला नामका दोष लगता है ॥१६२॥ जो भीलिनियोंके समान जघनस्थलको (गुह्य प्रदेशको) दोनो जघाओसे दबाकर (अथवा हाथसे ढककर) कायोत्सर्गके लिये खडा होता है उसके शबर नामका दोष होता है ॥१६३॥ जो कायोत्सर्गमें खडा होकर भी मस्तकको ऊँचा करता है अथवा नीचा करता है उसके लम्बोदर नामका दोष होता है ॥१६४॥ जो कायोत्सर्गमें खडा होकर भी अत्यन्त राग उत्पन्न करनेवाले अपने शरीरको अपने दोनो नेत्रोंकी दृष्टिसे देखता रहता है उसके तनुदृष्टि नामका दोष लगता है ॥१६५॥ जो कायोत्सर्गमें खडा होकर भी कौएके समान अपनी दोनों अगल बगलोंकी ओर देखता है उसके नेत्रोंसे उत्पन्न होनेवाला वह वायस नामका दोष कहलाता है। १६६ ॥ जिस प्रकार लगामके दुःखसे दुःखी हुआ घोडा दांत कटकटाकर मस्तक हिलाता है उसी प्रकार जो कायोत्सर्गके समीप दांतोंको कटकटाता हुआ मस्तक हिलाता है उसके मल उत्पन्न करनेवाला खलीन नामका दोष लगता है ॥ १६७ ॥ जिस प्रकार जूआके दुःखसे दुःखी हुआ बैल गर्दन फैलाता है उसी प्रकार जो गर्दनको फैलाकर सामायिक करता है उसके कायोत्सर्गमें दोष उत्पन्न करनेवाला युग नामका दोष होता है ॥ १६८ ॥ जो कपित्थ वा कैथके समान अपनी मुट्ठियोको बांधकर कायोत्सर्गके लिये खडा होता है उसके कपित्थ नामका दोष लगता है

विधत्ते यः कुड्यमाश्रित्य श्रावकः। अन्यद्वाश्रित्य तस्यैव कुड्यदोषः प्रजायते ॥ १६१ ॥ पीठिकादिकमारुह्य यो व्युत्सर्गं करोति च। मस्तकादूर्ध्वमाश्रित्य मालादोषं भजेत्स ना ॥१६२॥ जघाभ्या शबरवधूरिव निप्पीड्य तिष्ठति। यो जघन व्युत्सर्गे शबरदोष लभेत सः ॥१६३॥ व्युत्सर्गस्थित एवोन्नोन्नमन कुर्याद यो बुध। वाह्यधो नमनं प्राय. स लंबोदरदोषभाक् ॥ १६४ ॥ नयनाभ्या शरीरं यः स्वस्य दृष्ट्यातिरागदम्। कायोत्सर्गस्थितो दोष तनुदृष्टिं लभेत सः ॥ १६५ ॥ कायोत्सर्गान्वितो योऽपि पार्श्वं पश्यति काकवत्। तस्य वायस-दोषोऽत्र जायते नेत्रसभव ॥१६६॥ यो दन्तकटक सीसं कृत्वा व्युत्सर्गमाश्रयेत्। अश्ववत्खलिनाख्यं स श्रयेद्दोप मलप्रदम् ॥ १६७ ॥ ग्रीवा प्रसार्य य कुर्यात व्युत्सर्गं बलीवर्दवत। युगदोषो भवेत्तस्य कायोत्सर्गस्य दोषद. ॥१६८॥ कृत्वा कपित्थवन्मुष्टि यो व्युत्सर्गेण तिष्ठति। व्रजेत्कपित्थदोष स कायोत्सर्गमलप्रदम् ॥१६९॥ व्युत्सर्गेण स्थितो योऽपि नासिकामुखसभवम्। विकारं कुरुते तस्य मूकदोषं

॥ १८० ॥ जो बुद्धिमान् मुनि चंचलताको छोडकर काष्ठके समान निश्चल होकर शरीरके समस्त विकारोंको छोडकर अंग उपांगोंके हलन चलनको छोडकर तथा समस्त दोषोंका सागकर एकाग्रचित्तसे कायोत्सर्ग करता है उसे स्वर्ग मोक्षके सुख अवश्य ही प्राप्त होते हैं ॥ १८१–१८२ ॥

जो शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाला ज्ञानी पुरुष दो घडी पर्यंत एकाग्रचित्तसे कायोत्सर्ग करता है वह उस कायोत्सर्गसे अनेक जन्मके पापोंको नष्टकर देता है ॥१८३॥ कायोत्सर्ग धारण करनेसे बुद्धिमानोंका शरीरसे ममत्व छूट जाता है तथा शरीरसे ममत्वका छूट जाना ही महा धर्म और सुखकी खानि है ॥१८४॥ इस संसारमें मनुष्योंको कायोत्सर्गके समान तपश्चरण न तो आजतक हुआ है और न आगे कभी होसकता । यह कायोत्सर्ग स्वर्ग और मोक्षरूपी घरका द्वार है ॥ १८५ ॥ मनुष्योंके जो पैर कायोत्सर्ग धारण कर दृढताके साथ खडे हैं संसारमें उन्हींको पैर समझना चाहिये, वे ही पैर धन्य हैं, वे ही धीरवीर हैं, वे ही धर्म धारण करनेवाले है और वे ही पैर स्वर्ग मोक्ष देनेवाले हैं ॥१८६॥ जिन पैरोंसे कभी कायोत्सर्ग नही हुआ जो केवल आने जानेमें ही काम आते हैं और हिंसादिक पाप करते रहते हैं मनुष्योंके ऐसे पैरोंको सर्वथा व्यर्थ समझना चाहिये ॥ १८७ ॥ जो नीच समर्थ होकर भी कायोत्सर्ग नही करते है उनका जन्म कुमार्गगामी सेवकके समान व्यर्थ ही वीत जाता है ॥ १८८ ॥ जो कायोत्सर्ग धारण कर और घोर परीपहोंको जीतकर मोक्षके साम्राज्यमें जा विराजमान हुए है, संसारमें वे ही धन्य है और वे ही विद्वान् लोगोंके द्वारा माननीय वा पूज्य माने जाते हैं

तस्यैको दोषोऽपि न जायते ॥१८०॥ चचलत्व परित्यज्य काष्ठवन्निश्चलो याति । एकाग्रमनसा युक्तदेहादिविक्रिया सदा ॥१८१॥ सर्वांगस्पदनिर्मुक्त त्यक्तदोषान् सुधीर्भजेत्। यो व्युत्सर्गं भजेत्सोऽपि स्वर्गमुक्तिसुखादिकम् ॥१८२॥ एकचित्तेन व्युत्सर्ग यः कुर्याद् घटिकाद्वयम्। अनेकजन्मज पाप क्षिपेद् ज्ञानी स शुद्धधीः ॥१८३॥ ममत्व देहतो नश्येत् कायोत्सर्गेण धीमताम् । निर्ममत्वं भवेन्नूनं महाधर्मसुखाकरम् ॥१८४॥ न भूत भवते नृणा कायोत्सर्गसम तप । नाकमोक्षगृहद्वार नास्ति चाग्रे भविप्यति ॥१८५॥ मन्ये तावेव पादौ यौ कायोत्सर्गान्वितौ दृढौ । पुसा धर्मप्रदौ धन्यौ धीरौ स्वर्मुक्तिदायकौ ॥१८६॥ कायोत्सर्ग विना पादौ हिंसादिपरिवर्तिनौ । ज्ञेयौ व्यर्थौ मनुप्याणां गमनादिकतत्परौ ॥१८७॥ येऽधमा. शक्तिमापन्ना. कार्योत्सर्गं न कुर्वते । तेपा जन्म वृथा याति भृत्या इव कुमार्गगा ॥१८८॥ कायोत्सर्गं समादाय जित्वा घोरपरीषहान् । ये गता मुक्तिसाम्राज्ये ते धन्या विदुपा मता. ॥१८९॥ इति मत्वा विधातव्य' कायोत्सर्गो बुधो-

॥ १८९ ॥ यही समझकर उत्तम बुद्धिमानोंको प्रतिदिन अपनी शक्तिको प्रगटकर मोक्षका श्रेष्ठ सुख देनेवाला यह कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥ १९० ॥ यह कायोत्सर्ग समस्त सुखोंका निधि है, स्वर्गकी सीढ़ी है, नरकरूपी घरको बंद करनेके लिये किवाड है, दुःखरूपी दावानल अग्निके लिये मेघोंकी वर्षा है, निरुपम गुणोंकी खानि है और धर्मरूपी वृक्षका बीज है, इसलिये हे भव्य ! तू मोक्ष-सुख प्राप्त करनेके लिये इस कायोत्सर्गको धारण कर ॥१९१॥ हे मित्र ! यह सामायिक शम (परिणामोंका शांत होना) दम (इंद्रियोंको दमन करना) और यम (यम नियमरूपसे त्याग करना) से उत्पन्न होता है, मुक्तिरूपी स्त्रीका स्वामी है, स्वर्गके सुखोंका घर है, तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं, यह समस्त ऋद्धियोंका बीजभूत वा कारण है, अनन्तगुणोंसे भरपूर है और पापरूप अन्धकारको नाश करनेके लिये सूर्य है। हे मित्र ! ऐसे सामायिकको तू प्रतिदिन धारण कर ॥ १९२ ॥ यह सामायिक पापरूपी वनको उखाडनेके लिये कुठार वा कुल्हाडी है, मनरूपी हाथीको वश करनेके लिये सिंह है, विषयरूपी मछलियोंको पकड़नेके लिये जाल है, कर्मरूपी ईंधनको जलानेके लिये अग्नि है, दम शम यमका घर है, धर्मध्यान और शुक्लध्यानका कारण है तथा समस्त विकारोंसे रहित है और सबमें सारभूत है। हे मित्र ! ऐसे सामायिकको तू अवश्य धारण कर ॥ १९३ ॥ जो रत्नत्रयसे सुशोभित मुनिराज श्रुतज्ञानरूपी महासागरके पारगामी हुए हैं, अथवा उत्तम ग्रैवेयकमें जा विराजमान हुए हैं वे केवल इस सामायिककी आराधनासे ही हुए हैं। यह सामायिक श्रेष्ठ धर्मको देनेवाला सुखकी खानि है, मोक्षसुखका सारभूत है, विद्वानोंके लिये सारभूत है, इसके समान संसारमें अन्य

त्तमैः । स्वशक्तिं प्रकटीकृत्य प्रत्यहं सत्सुखाकरम् ॥१९०॥ सकलसुखनिधानं स्वर्गसोपानभूतं, नरकगृहकपाटं दुःखदावाग्निमेघम् । अतुलगुणसुखं वा धर्मवृक्षस्य बीजं, भज शिवसुखहेतोस्त्वं हि व्युत्सर्गमेव ॥१९१॥ शमदमयमजातं मुक्तिकान्तासुनाथं, सुरगतिसुखगेहं तीर्थनाथैः सुसेव्यम् । भज हि सकल रुद्धेर्बीजभूतं गुणाढ्यं, दुरिततिमिरसूर्यं मित्र सामायिकं वै ॥१९२॥ दुरितवनकुठारं चित्तमातंगसिंहं, विषयसफरजालं कर्मकक्षानलं भो । दमशमयमगेहं धर्मशुक्लादिहेतुं, भज विगतविकारं सारसामायिकं त्वम् ॥१९३॥ प्राप्ता ये मुनयः श्रुतार्णवधरा ग्रैवेयकं चाग्रिमं, तेऽप्याराध्य सुधर्मदं सुखकरं सामायिकं केवलम् । प्राभव्याः शिवसौख्यसारमपि ये रत्नत्रयालङ्कृता, तस्मात्त्वं बुधसारमेकमसमं सामायिकं भो भज ॥१९४॥

इति श्रीभट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे देशावकाशिकसामायिकप्ररूपको नामाष्टादशमः परिच्छेदः ।

कोई पदार्थ नहीं है, यह अद्वितीय है इसलिये हे भव्य ऐसे सामायिकको तू अवश्य धारण कर ॥ १०४ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें देशावकाशिक और सामायिक व्रतका निरूपण करनेवाला यह अठारहवा सर्ग समाप्त हुआ।

अथ उन्नीसवां परिच्छेद।

जो कर्मरूपी शत्रुको चूर चूर करनेके लिये महामल्ल हैं और भव्य जीवोंको धर्मोपदेश देनेवाले हैं ऐसे श्रीमल्लिनाथ भगवानको मैं अपने कर्म नष्टकरनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ इसप्रकार सामायिकका निरूपण कर अब आगे अनेक गुणोंको उत्पन्न करनेवाले प्रोपधोपवास नामके तीसरे शिक्षाव्रतको कहते हैं ॥ २ ॥ श्रावकोंको अष्टमी और चतुर्दशीके दिन सब तरहके पापोंका त्यागकर सदा प्रोपधोपवास करना चाहिये ॥३॥ जिस दिन प्रोपधोपवास करना हो उसके एक दिन पहिले धारणा और उपवासके दूसरे दिन पारणा की जाती है। मनुष्योंको धारणाके दिन एकाशन करना चाहिये और पारणाके दिन भी एकाशन करना चाहिये। इसप्रकार एक एकाशन, दूसरे दिन उपवास व तीसरे दिन एकाशन करनेको प्रोपधोपवास कहते हैं ॥४॥ बुद्धिमानोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये उपवासके दिन अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य इन चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देना चाहिये ॥ ५ ॥ धीरवीर पुरुषोंको उपवासके दिन अद्भुत साहस प्रगट कर पानीकी एक बूंद भी ग्रहण नहीं करनी चाहिये ॥ ६ ॥ जो उपवास ग्रहण करके कषाय द्रव्योंमे मिले हुए जलको (किसी काढेको या गर-

अथ एकोनविंशः सर्गः।

मल्लिनाथं महामल्लं कामारातिनिपातने। वंदे कर्मविनाशाय भव्यजीवप्रबोधकम् ॥ १ ॥ सामायिकं समाख्याय ततो वक्ष्ये गुणप्रदम्। शिक्षाव्रतं तृतीयं हि प्रोपधादिभवं नृणाम् ॥ २ ॥ अष्टम्यां च चतुर्दश्यां कर्तव्यं श्रावकैः सदा। सत्प्रोपधोपवासोपि सर्वसावद्यवर्जितः ॥ ३ ॥ दिने धारणके चैकभुक्तं यत् क्रियते नरैः। तथा पारणके प्रोपधोपवासः स उच्यते ॥ ४ ॥ सर्वाशनं च पानं च खाद्यं स्वाद्यं त्यजेद् बुधः। उपवासदिने मुक्त्यै कृत्स्नमाहारमञ्जसा ॥ ५ ॥ उपवासदिने धीरैः ग्राह्यं नीरं न कंडकम्। उपवासस्य सारस्य कृत्वा प्रोद्भुतसाहसम् ॥ ६ ॥ कषायद्रव्यसन्मिश्रं जलं गृह्णाति ये नराः। उपवासं समादाय तेषां स हीयतेतराम् ॥ ७ ॥ तंदुलादिकसन्मिश्रं ये

व्रत आदिको) पीते हैं उनके उपवासमें अवश्य कमी होती है ॥ ७ ॥ जो प्रोषधोपवास ग्रहण करके भात मिले हुए जलको (चावलोंके मांडको जिसमें कुछ चावलोंका तत्व मिला रहता है) पीते हैं उन मूर्खोंका प्रोषधोपवास अवश्य नष्ट होजाता है ॥८॥

भगवान जिनेन्द्रदेवने आहार पानी सबका त्याग करने व समस्त पाप और चिंताओंसे अलग रहनेको उत्कृष्ट उपवास कहा है ॥ ९ ॥ उपवासके दिन वीतराग भगवानके गुण प्राप्त करनेके लिये बुद्धिमानोंको एक वस्त्रको (धोतीको) छोड़कर अन्य सब वस्त्रोंका त्याग कर देना चाहिये तथा आभूषण, स्नान, गन्ध, पुष्प, कुंकुम, अञ्जन, तांबूल, अङ्ग उपांगोंके विकार और शय्या आदि सबका त्याग कर देना चाहिये ॥ १०–११ ॥ घरके व्यापारसे होनेवाली हिंसा, विकथा आदि असत्य, चोरी, अब्रह्म, द्रव्यपरिग्रह आदि सब पापोंका त्याग कर देना चाहिये। मनके सब अशुभ संकल्पोंका, हिंसा आदि पापोंके करनेवाले वचनोंका, आने जाने आदि क्रियाओंका तथा और भी पाप उत्पन्न करनेवाले कामोंका सबका त्याग कर देना चाहिये ॥ १२–१३ ॥ धीरवीर बुद्धिमानोंको उपवासके दिन मन, वचन, काय तीनों योगोंसे समस्त अशुभोंका त्याग कर मुनियोंके समान विराजमान रहना चाहिये ॥ १४ ॥ धीरवीर पुरुषोंको उपवास ग्रहण कर मुनियोंके आश्रममें (मुनियोंके समुदायमें वा उनके रहने योग्य स्थानोंमें) जिनालयमें, किसी सूने मकानमें अथवा पर्वतकी गुफा आदिमें रहना चाहिये ॥ १५ ॥ बुद्धिमानोंको ऐसे स्थानोंमें रहकर चित्त लगाकर धर्म और संवेगको बढानेवाले तथा श्री तीर्थंकरके मुखसे उत्पन्न हुए श्रुतज्ञानरूपी शुभ अमृतका पान करना चाहिये अर्थात् शास्त्र श्रवण करना चाहिये ॥ १६ ॥ यदि प्रोषधोपवास करनेवाला ज्ञानवान और धर्मात्मा हो तो उसे स्वयं धर्मरूपी अमृतका पान

पिबन्ति जल शठा । आदाय प्रोषध तेषा सः स्याद्भग्नस्ततो ध्रुवम् ॥ ८ ॥ उपवासो जिनैरुक्त पानाहारादिवर्जित । उत्कृष्टः सर्वसावद्यचिंतादिकपरान्मुख ॥९॥ उपवासदिने सारे सर्ववस्तुकदवकम् । विनैक भूषण स्नान गध पुष्पाणि कुंकुमम् ॥१०॥ अञ्जनं मुखसंस्कारं चागोपागादिविक्रियाम् । शय्यादिकं त्यजेद्धीमान् वीतरागगुणाप्तये ॥११॥ गृहव्यापारजा हिंसामसत्य विकथादिकम् । स्तेयमब्रह्मसेवां च द्रव्यादिकपरिग्रहम् ॥१२॥ अशुभं सकलसकल्पं वाचो हिंसादिकारणम् । गमनादिप्रयुक्त न कुर्वे वस्तु च पापदम् ॥१३॥ मनोवाक्काययोगेन त्यक्त्वा सर्वाशुभ बुधा । उपवासदिने धीराः तिष्ठन्ति मुनयो यथा ॥ १४ ॥ आदाय प्रोषधं धीरस्तिष्ठेत्साधुपमाश्रये । जिनागारेऽथवा शून्यगेहे गिरिगुहादिषु ॥ १५ ॥ श्रुत्वामृतं पिबेत्तत्र धर्मं सवेगकारणम् । एकचित्तेन तीर्थेशमुखोत्पन्नं शुभं सुधीः ॥ १६ ॥ ज्ञानवान्

करनी चाहिये और अपना वा दूसरोंका उपकार करनेके लिये अन्य भव्य जीवोंको उसका पान कराना चाहिये । अर्थात्
उसे स्वयं शास्त्र स्वाध्याय करना चाहिये और दूसरोंको सुनाना चाहिये ॥ १७ ॥ इसीप्रकार बारह अनुप्रेक्षाएं, छह द्रव्य,
सात तत्व, चारों प्रकारका धर्मध्यान और शास्त्रोंका मनन वा चिंतवन भी उन बुद्धिमानोंको करना चाहिये ॥ १८ ॥
इसीप्रकार बुद्धिमानोंको पाप और नरक देनेवाले संसार, शरीर और भोगोंसे वैराग्य भावनाओंका चिंतवन करना चाहिये,
क्योंकि यह वैराग्य ही स्वर्ग और मोक्षरूपी घरका आंगन है ॥ १९ ॥ धीरवीर बुद्धिमान मनुष्योंको केवलज्ञानरूपी सूर्यका
चिंतवन करना चाहिये, क्योंकि यह केवलज्ञानरूपी सूर्य लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाला है, अनंत गुणोंका समुद्र है,
मोक्षका कारण है और जिनेंद्रदेव भी इसका ध्यान करते हैं। इसीप्रकार अनंत महिमाओंसे सुशोभित परमात्माका
ध्यान भी उनको करना चाहिये ॥ २०-२१ ॥ इसीप्रकार उस दिन बुद्धिमानोंको चित्त लगाकर अरहंत, सिद्ध, आचार्य,
उपाध्याय व साधु इन पांचों परमेष्ठियोंके वाचक पंच नमस्कार मंत्रका जप और ध्यान करना चाहिये ॥ २२ ॥ हे मित्र !
बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? थोडेसेमें इतना समझ ले, कि प्रोषधोपवासके दिन स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये समस्त पापोंका
त्याग कर मुनिके समान रह ॥ २३ ॥ इसप्रकार जो बुद्धिमान वैराग्य धारण कर तथा हिंसा आदि समस्त पापोंका त्याग
कर प्रोषधोपवास करते हैं वे असंख्यात पापोंको नष्ट करते हैं ॥ २४ ॥ जो उपवास धारण करके भी गृहस्थीके आरंभ
व्यापार आदिके समस्त पाप करते हैं उनका वह उपवास हाथीके स्नानके समान व्यर्थ है-उस उपवाससे केवल खेद ही
होता है, पाप नष्ट नहीं होते ॥ २५ ॥ इसलिये धीरवीर पुरुषोंको उपवासके शुभ दिनमें प्राण नष्ट होनेपर भी घर संबंधी

धर्मसंयुक्तं स्वयं धर्मामृतं पिबेत् । अन्येषां पाययेद्वापि प्रोपकाराय स्वान्ययोः ॥१७॥ अनुप्रेक्षाश्च षट्द्रव्यसप्ततत्त्वादिकान् सुधीः । धर्म-
ध्यानं चतुर्भेदं स्वागमं वा विचिंतयेत् ॥ १८ ॥ संसारदेहभोगेषु पापश्वभ्रप्रदेषु वै । वैराग्यं भावयेद्धीमान् नाकमुक्तिगृहांगणम् ॥ १९ ॥
अनन्तगुणसन्दोहं केवलज्ञानभास्करम् । मुक्तिबीजं जिनेन्द्रध्येयं लोकालोकप्रकाशकम् ॥२०॥ असंख्यमहिमायुक्तं परमात्मानमंजसा । भजेद्धी-
मान् पुमान् धीरो मनः कृत्वा सुनिश्चलम् ॥ २१ ॥ एकचित्तेन वा धीमान् जपेत्पंचपदानि वै । अर्हदादिगुरूणां हि नामोत्पन्नानि निश्चि-
तम् ॥२२॥ किमत्र बहुनोक्तेन त्यक्त्वा सावद्यमंजसा । यतिवत्तिष्ठ भो मित्र प्रोषधे स्वर्गमुक्तये ॥२३॥ एवं यः प्रोषधं कुर्यात्सर्वहिंसादि-
वर्जितम् । क्षिपेद्वैराग्यमापन्नः एनः संख्याविवर्जितम् ॥२४॥ उपवासं विधत्ते यः कुर्यात्पापं गृहादिजम् । गजस्नान इव खेदस्तस्य पापक्षयो

आरंभादिक पाप कभी नहीं करने चाहिये ॥ २६ ॥ जो पुरुप पर्वके दिनोंमें भावपूर्वक उपवास धारण करते हैं वे स्वर्गके राज्यका उपभोग करके अंतमें अवश्य मुक्ति—स्त्रीके स्वामी होते हैं ॥२७॥ जो चतुर्दशीके दिन नियमपूर्वक प्रोपधोपवास करता है वह चौदह गुणस्थानोको पारकर मोक्षमें जा विराजमान होता है ॥ २८ ॥ चतुर्दशीके समान धर्म करनेयोग्य महा पवित्र और उपवास प्रोपधोपवास आदि करने योग्य उत्तम पर्व तीनो कालोमें भी अन्य कोई नहीं हो सकता ॥ २९ ॥ जो चतुर्दशीके दिन चित्त लगाकर प्रोपधोपवास करता है वह सोलहवे स्वर्गके सुख भोगकर मुक्तिरूपी सर्वोत्तम स्त्रीके समीप जा पहुचता है ॥३०॥ जो प्रत्येक चतुर्दशीके दिन घर संबंधी समस्त पापोंको छोडकर उपवास करता है और इसप्रकार चौदह उपवास करता है वह महा पुण्य उपार्जन करता है ॥ ३१ ॥ बुद्धिमानोंको चतुर्दशीके दिन धारण किया हुआ उपवास प्राण नष्ट होनेपर भी नहीं छोडना चाहिये, क्योंकि चतुर्दशीके दिन धारण किया हुआ उपवास धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारो पुरुपार्थोंको देनेवाला है ॥ ३२ ॥ जो सम्यग्दृष्टी उत्तम पुरुप अष्टमीके दिन उपवास करते हैं वे आठों कर्मोको नष्टकर मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥ ३३ ॥ अष्टमीका दिन सबमें सारभूत है। उस दिन जो उत्तम प्रोपधोपवास करता है वह इंद्रका साम्राज्य पाकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥ जो पुण्य प्राप्त करनेके लिये अष्टमीके दिन नियम पूर्वक उपवास करता है वह अपने आठो कर्मोको नष्टकर सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन आदि सिद्धोंके सर्वोत्तम आठों गुणोंको धारण करता है ॥ ३५ ॥ जो गृहस्थ अष्टमीके दिन उपवास धारण कर धर्म पालन करते है वे इस दिनके समस्त पापोको नष्टकर

न च ॥ २५ ॥ तस्माद्धीरैर्न कर्तव्य उपवासदिके शुभे । गृहपापादिकारम्भः प्राणान्तेऽपि कदाचन ॥२६॥ यः पर्वण्युपवास हि विधत्ते भावपूर्वकम् । नाकराज्यं च सप्राप्य मुक्तिनारीं वरिष्यति ॥ २७ ॥ प्रोषध नियमेनैव चतुर्दश्या करोति यः । चतुर्दशगुणस्थानान्यतीत्य मुक्तिमाप्नुयात् ॥२८॥ चतुर्दश्या सम पर्व नास्ति कालत्रये वरम् । महायोग्य महापूतमुपवासादिगोचरम् ॥२९॥ प्रोषधं यच्चतुर्दश्यामेकचित्तेन सभजेत् । प्राप्य षोडशम नाक व्रजेन्मुक्तिवरागनाम् ॥३०॥ द्विसप्ताद्युपवासेन पाप हत्वा गृहादिजम् । चतुर्दशादिसजात महापुण्यं लभेत ना ॥३१॥ प्राणान्तेऽपि न मोक्तव्यश्चतुर्दश्या हि धीधनैः । उपवासोऽतिधर्मार्थ काममोक्षफलप्रद. ॥ ३२ ॥ अष्टम्यामुपवास हि ये कुर्वन्ति नरोत्तमा । हत्वा कर्माष्टक तेऽपि यान्ति मुक्ति सुदृष्टय ॥ ३३ ॥ अष्टमे दिवसे सारे यः कुर्यात्प्रोषध वरम् । इन्द्रराज्यपद प्राप्य क्रमाद्याति स निर्वृतिम् ॥ ३४ ॥ नियमेनोपवास य. करोति पुण्यहेतवे । स्वाष्टकर्माणि हत्वा स भजेत्सार गुणाष्टकम ॥३५॥ सदृष्टम्यु-

महा पुण्य उपार्जन करते हैं ॥ ३६ ॥ इसलिये गृहस्थी पुरुषोंको प्राण नष्ट होनेपर भी अष्टमीके दिनका प्रोषधोपवास कभी नहीं छोडना चाहिये क्योंकि अष्टमीके दिन किया हुआ उपवास धर्म अर्थ काम मो चारों पुरुषार्थोंको देनेवाला है ॥३७॥ इसलिये हे भव्य! तू विना किसी इच्छाके केवल धर्मपालन करनेके लिये प्रत्येक महीनेमें सारभूत चार (दो अष्टमीके दो चतुर्दशीके) उपवास कर ॥३८॥ जो मूर्ख पर्वके दिनोंमें उपवासको छोडकर कामसेवन करते हैं वे नरकरूपी महासागरमें अवश्य डूबते हैं ॥ ३९ ॥ जो सारभूत अष्टमीके दिन स्त्रीसेवन करते हैं वे ग्म पापकर्मके उदयसे मरकर भिष्टाके कीडा होते हैं ॥ ४० ॥ जो चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमें व्रत नहीं करते वे भव में दरिद्री और नपुंसक होते हैं ॥ ४१ ॥ यही समझकर बुद्धिमानोंको पर्व आदिके विशेष दिनोंमें उपवास नामका तपश्चरण अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह पर्वके दिनोंमें किया हुआ उपवास स्वर्ग मोक्षरूपी लक्ष्मीको वश करनेवाला है ॥ ४२ ॥ यह उपवासजन्य तपश्चरण मुक्तिरूपी नगरमें जानेके लिये भरपूर पाथेय (मार्गमें खाने योग्य पदार्थ) है तथा यही उपवासरूपी तपश्चरण मुक्तिरूपी स्त्रीको वश करनेके लिये परम मंत्र है ॥ ४३ ॥ यह उपवासरूपी तपश्चरण इच्छानुसार पदार्थोंको देनेके लिये कल्पवृक्ष है और यही तपश्चरण मनमें सोचे हुए पदार्थोंको देनेके लिये चिंतामणि रत्नके समान है ॥ ४४ ॥ विद्वानलोग इसी तपश्चरणको रत्न आदि समस्त पदार्थोंकी खानिभूत निधि कहते हैं ॥ ४५ ॥ तीनों लोकोंमें रहनेवाली लक्ष्मीको आकर्षण करने-अपनी ओर खींचनेके लिये यही उपवासरूपी तप परम मंत्र है तथा जन्ममरणरूपी ज्वरको दूर करनेके लिये यही उपवास परम

पवासस्य धर्मेण गृहनायका. । अष्टादिदिनज पाप हत्वा पुण्य भजन्ति वै ॥ ३६ ॥ तस्मान्न प्रोषधस्त्याज्यः अष्टम्या च गृहान्वितैः । धर्मार्थकाममोक्षादिप्रद' प्राणात्यये क्वचित् ॥३७॥ इति मत्वा सदा सारमुपवासचतुष्टयम् । मासमध्ये कुरु त्व हि धर्माय त्यजकामया ॥३८॥ कामसेवा प्रकुर्वन्ति शठा सर्वदिनेषु ये । उपवासादिकं त्यक्त्वा मज्जन्ति श्वभ्रसागरे ॥ ३९ ॥ अष्टम्यादिदिने सारे रमन्ते रामया सह । तस्या अमेध्यमध्ये ते कृमियोनि भजन्त्यघात् ॥४०॥ चतुर्दश्या दिने पर्वव्रतं कुर्वन्ति ये न वै । दरिद्रत्वं च क्लीवत्वं ते भजन्ति भवे भवे ॥४१॥ इति मत्वा बुधै कार्यं तपोऽनशनगोचरम् । पर्वादिषु विशिष्टेषु स्वर्मुक्तिश्रीवशीकरम् ॥४२॥ तपो मुक्तिपुरीं गतु पाथेय स्याद्धि पुष्कलम् । मुक्तिरामावशीकर्तुं तपो मन्त्रोगिना भवेत् ॥४३॥ तपः समीहितस्यैव दातु कल्पद्रुमो भवेत् । तपश्चिंतामणिज्ञयश्चिंतितार्थप्रदोगिनाम् ॥४४॥ तपः कामदुघाप्युक्ता कामिकार्थप्रदा बुधैः । तपोनिधिश्च रत्नादि सर्ववस्त्वाकरो भवेत् ॥४५॥ तप' आकर्षणे मन्त्रः सर्व लोक

औषध है ॥ ४६ ॥ कर्मरूपी महा वनको जला देनेके लिये यही तपश्चरण अग्निके समान है और पापरूपी मलको धोनेके लिये गणधर देवोंने इसी उपवासरूपी तपश्चरणको जलके समान वतलाया है ॥ ४७ ॥ पापरूपी पर्वतको चूर चूर करनेके लिये भगवान जिनेंद्रदेवने इसी तपको वज्र वतलाया है और यही तपश्चरण अशुभरूपी महा शत्रुओंको नष्ट करनेके लिये तीक्ष्ण शस्त्रोके समान ॥ ४८ ॥ इंद्रियरूपी मदोन्मत्त हाथीको मारनेके लिये यह तपश्चरण सिंहके समान है और मनरूपी वंदरको रोकने वा वश करनेके लिये यही तपश्चरण जालके समान माना जाता ॥ ४९ ॥ तपश्चरणसे सुशोभित होनेवाला बुद्धिमान् तीनो कालोमे उत्पन्न होनेवाले और तीनो लोकोंमें रहनेवाले जिन जिन पदार्थोंकी इच्छा करता है वे सव पदार्थ उसके समीप अपने आप आजाते है ॥ ५० ॥ जिसका हृदय मुक्तिरूपी स्त्रीमें आसक्त है ऐसा जो बुद्धिमान पुरुष एकाग्र चित्त होकर तपश्चरण करता उसके लिये इस संसारमें कोई पदार्थ दुर्लभ नही है ॥ ५१ ॥ जो बुद्धिमान पहिले मोक्ष जा चुके है, अव जा रहे है अथवा आगे जांयगे वे केवल तपश्चरण ही गये हैं, तपश्चरणसे ही जा रहे हैं और तपश्चरणसे ही जायगे। तपश्च के सिवाय अन्य किसी भी कारणसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती ॥५२॥ जो धीरवीर पुरुष अपनी शक्तिको प्रगट कर तपश्चरणरूपी धनका संग्रह करते हैं वे विद्वानोंके द्वारा इस संसारमें धन्य माने जाते हैं ॥५३॥ तीर्थकर परमदेव होनहार मोक्षके स्वामी है और इंद्रादिक सव उनकी पूज करते हैं परंतु वे भी दो दिन चार दिन महीने दो महीने वा छह छह महीनेतक उपवा पी तपश्चरणको करते है ॥ ५४ ॥ इस संसारमें भगवान श्री ऋपभदेवने भी गणधरों साथ तपश्चरण किया था फिर भला अन्य लोगोकी तो वात ही क्या है, उन्हें तो अवश्य करना चाहिये ॥५५॥

स्थितश्रिया.। तप औषधमेव स्याज्जन्मज्वरविघातने ॥४६॥ तप कर्ममहारण्यदहने ज्वलनोपम । तप पापमलापाये जल प्रोक्त गणाधिपै ४७ तपो वज्र जिनैरुक्त दुरिताद्रिविखण्डने। तपोऽशुभमहाशत्रु हन्तु तीक्ष्णायुधोपमम् ॥४८॥ तप सिंहो भवेद्दक्ष मत्तमातंगघातने । मन मर्कटसंरोधे तप पाशोंगिना मतः ॥४९॥ तपसा कृतो धीमान् यद्यद्वस्तु समीहते । तत्तदेव समायाति त्रैलोक्ये त्रिजगत्यपि ॥५०॥ एकाचित्तेन यो धीमान् मुक्तिस्त्रीरजिताशय । [redacted] ति तस्यैव किंचिल्लोके न दुर्लभम् ॥ ५१ ॥ ये वुधा. मुक्तिमापन्ना यान्ति यास्यन्ति निश्चितम् । केवल तपसा तेऽपि नान्येन केन हेतुना ॥५२॥ हीने सहनने धीरा ये कुर्वन्ति तपोधनम् । स्वशक्तिं प्रकटीकृत्य ते धन्या विदुपा मता ॥५३॥ तीर्थनाथा ध्रुव मुक्तिनाथा इन्द्रादिपूजिता । तपः कुर्वन्ति ते नित्य पण्मासावधिगोचरम् ॥५४॥ आदिश्रीजिनदेवोऽपि समं गण-

जिसप्रकार सुहागा आदिके संयोगसे अग्निके द्वारा तपाया हुआ सोना शुद्ध होजाता है उसीप्रकार सम्यग्दर्शन संयोगसे तपरूपी अग्निके द्वारा तप्त हुआ यह जीव कर्ममल कालिमासे रहित होकर शुद्ध होजाता है ॥ ५६ ॥ जिसप्रकार मैल लगा हुआ वस्त्र पानीसे धोनेपर शुद्ध होजाता है उसीप्रकार तपरूपी जलसे धुलजानेपर अत्यंत नीच पुरुप भी शुद्ध होजाता है ॥५७॥ स्थूल शरीरमें आसक्त होकर जो पुरुप तपश्चरण नहीं करते वे पुरुप भवभवमें रोग क्लेश आदिके बहुतसे दुःखोंको भोगते रहते हैं ॥ ५८ ॥ जो तपश्चरण नहीं करता वह इस लोकमें रोग दुःख और दरिद्रता आदिसे महा दुःखी होता है तथा परलोकमें अने पापोका उपार्जन कर नरक और तिर्यंच गतिके अनेक दुःखोको भोगता है ॥ ५९ ॥ जिसने तपरूपी आभूषण छोडदिया है और जो पापरूपी मैलमें सदा आसक्त रहता है उसको. मिलने वाले नरक आदिके दुःखोंको हम लोग कह भी नहीं सकते हैं ॥ ६० ॥ जो राग द्वेप रूपी रोगोके कारण तपश्चरण नहीं करता उसे पंद्रह पंद्रह दिन महीने महीने भरके लंघन करने पडते हैं अथवा और भी ऐसे ही अनेक दुःख भोगने पडते हैं ॥ ६१ ॥ तपश्चरणके विना यह मनुष्य पशु ही है इसमें कोई संदेह नहीं। उपवासरूपी तपश्चरणके विना लगातार सव दिन भक्षण करनेसे यह जीव अवश्य ही दुःखी होता है ॥ ६२ ॥ यही समझकर हे धीरवीर मित्र ! अपने कर्मोको नष्ट करनेके लिये अपनी शक्तिको प्रगट कर तू प्रतिदिन तपश्चरण कर ॥ ६३ ॥ जो पांचों अतीचारोको छोडकर प्रत्येक महीनेके चारों पर्वोमें नियमपूर्वक प्रोपधोपवास करता है वह तीनों लोकोंके समस्त सुखोंको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

धरादिभि । तप करोति लोकेस्मिंस्तर्ह्यन्यै क्रियते न किम् ॥ ५५ ॥ तप्त यथाग्निना हेम शुद्ध भवति योगत । जीवस्तपोग्निना तप्त शुद्धो दृष्टयादियोगतः ॥ ५६ ॥ यद्वन्मलभृत वस्त्र शुद्ध नीरेण स्याद्ध्रुवम् । तपोजलेन धौतो हि नीच शुद्धो भवेन्महान् ॥ ५७ ॥ ये तपो नैव कुर्वन्ति स्थूलदेहादिलम्पटा । रोगक्लेशादिज दुःख ते लभन्ते भवे भवे ॥५८॥ तपो हीनो भवेद्रोगी दु खदारिद्र्यपीडित' । इहामुत्र महापापात् श्वभ्रतिर्यग्गतिं व्रजेत् ॥५९॥ तपोलकारत्यक्तो यो लिप्त पापमलादिभि । तस्य दु'ख न सक्तोऽहं वक्तु श्वभ्रादिगोचरम् ॥६०॥ तपो यो न विधत्ते ना कुर्याद्रागादिरोगत । लघनादिसमूह स पक्षमासादिगोचरम् ॥ ६१ ॥ तपो विना पुमान् ज्ञेय' पशुरेव न सशय'। इहामुत्र भवेद्दु'खी सर्वाह्निपरिभक्षणात् ॥६२॥ इति मत्वा तपो मित्र ! स्वशक्त्या कुरु प्रत्यहम् । वीर त्व प्रकटीकृत्य स्वकर्मक्षयहेतवे ॥६३॥ नियमेनैव यो दध्याच्चतु' पर्वेपु प्रोषधम् । पचातिचारनिष्क्रान्त श्रयेत्त्रैलोकज सुखम् ॥६४॥ भगवन् तान् व्यतीपातान् दिश त्व

प्रश्न–हे प्रभो ! कृपाकर उन अतिचारोंको मेरे लिये निरूपण कीजिये ?

उत्तर–हे वत्स ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं उन अतिचारोंका निरूपण करता हूं ॥ ६६ ॥ अदृष्टमृष्ट व्युत्सर्ग, अदृष्टमृष्ट आदान, अदृष्टमृष्ट संस्तरोपकरण, प्रोषधमें अनादर और अस्मरण ये पांच प्रोषधोपवासके अतिचार गिने जाते हैं। जो विना देखे विना शोधे अपने काममें आने योग्य जल आदिको पृथ्वीपर रख देता है उसके अदृष्टमृष्ट व्युत्सर्ग नामका दोष लगता है ॥ ६७ ॥ जो मनुष्य क्षुधासे पीडित होकर वा अन्य किसी कारणसे विना देखे विना शोधे वस्त्र वा पूजाके पदार्थोंको ग्रहण करता है उसके अदृष्टमृष्टदान नामका अतिचार लगता है ॥ ६८ ॥ जो मनुष्य प्रमादके कारण रात्रिमें पीछेसे विना शोधे वा नेत्रोंसे विना देखे विछोना वा सांथरा (सोनेके लिये चटाई आदिका विछाना) करता है उसके अदृष्टमृष्ट सस्तरोपकरण नामका अतिचार लगता है ॥ ६९ ॥ जो मनुष्य क्षुधासे पीडित होकर (भूखसे घवड़ाकर) आवश्यक आदि कार्योंमें अनादर करता है उसके अनादर नामका दोष लगता है ॥ ७० ॥ अपने हृदयको घरके काममें आसक्त रखनेवाला अथवा काम अर्थ इन दो ही पदार्थोंमें हृदयको आसक्त रखनेवाला जो पुरुष अपने चित्तको निश्चल नहीं करता है उसके अस्मरण नामका दोष लगता है। (जिसका चित्त निश्चल नहीं है उससे भूल होजाना स्वाभाविक ही है इसलिये चित्तका स्थिर न रहना ही अस्मरण कहलाता है।) ॥ ७१ ॥ जो बुद्धिमान् समस्त प्रमादोंको छोड़कर और अपने हृदयको निश्चलकर प्रोषधोपवास करता है उसके कोई अतिचार नहीं लग सकता ॥७२॥ यह प्रोषधोपवास पापरूपी वनको जलानेके लिये महा अग्नि है, धर्मरूपी वृक्षको बढ़ानेके लिये मेघकी धारा है, समस्त सुखोंका सागर है, दुःखरूपी

कृपया मम । प्रवक्ष्यामि शृणु त्वं ते स्थिरं कृत्वा मनो हि तान् ॥६५॥ अदृष्टामृष्टव्युत्सर्गादानसस्तरणादिषु । प्रोषधेऽनादरः प्रोक्तस्ततश्चास्मरणं भवेत् ॥६६॥ प्रमार्जनावलोकाभ्यां विना भूमौ हि यः क्षिपेत् । कार्यादिजं मलं दोषमुत्सर्गाख्यं लभेत ना ॥६७॥ विना यो दृष्टमृष्टाभ्यां वस्त्रं पूजादिवस्तु ना । क्षुत्पीडितोऽभिगृह्णाति चादानातिक्रमं श्रयेत् ॥६८॥ पिच्छिकानेत्रकर्मभ्यां विना रात्रौ प्रमादतः । विधत्ते सस्तरं योऽस्य संस्तरातिक्रमो भवेत् ॥६९॥ क्षुधादिपीडितो योऽपि पुमानावश्यकादिषु । अनादरं विधत्ते सः श्रयेद्दोषमनादरम् ॥ ७० ॥ गेहकार्यादिसंसक्तो यः करोति न निश्चलम् । चित्तं कामार्थसंयुक्तं भजेदस्मरणं स ना ॥७१॥ कृत्वातिनिश्चलं चित्तं यो धत्ते प्रोषधं सुधीः । प्रमादानपि संत्यक्त्वा सोऽतीचारं लभेत न ॥७२॥ दुरितवनमहाग्निं धर्मवृक्षस्य मेघं, सकलसुखसमुद्रं दुःखदावाग्निवृष्टिम् । सुरशिवगतिमार्गं

दावानल अग्निको शांत करनेके लिये पानीकी वर्षा है, स्वर्ग मोक्षका कारण है और साधुलोग भी उसकी सेवा करते हैं इसलिये हे भव्य ! निर्मल गुणोंको प्राप्त करनेके लिये सारभूत पर्वके दिनोंमें तू उस प्रोषधोपवासको धारण कर ॥ ७३ ॥ यह प्रोषधोपवास निर्मल गुणोंका निधि है, अपने हृदयरूपी सर्पको वश करनेके लिये महा मंत्र है, विषयरूपी वनको जलानेके लिये दावानल अग्नि है, कर्मरूपी वनको काटनेके लिये कुठार है, तीनों लोक उसकी पूजा करता है और तीर्थंकर परमदेवने इसका निरूपण किया है । इसलिये हे विद्वन् ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू इस प्रोषधोपवासको सदा धारण कर ॥ ७४ ॥ यह प्रोषधोपवास किसीके वश न होनेवाली इंद्रियरूपी मदोन्मत्त हाथीको मारने वा वश करनेके लिये सिंहके समान है, धर्मको प्रगट करनेवाला वा देनेवाला है और समस्त पापोंको नाश करनेवाला है इसलिये जो बुद्धिमान प्रत्येक पर्वके दिनोंमें इस प्रोषधोपवासको धारण करता है उसके समीप स्वर्गकी लक्ष्मी अपने आप आजाती है, निर्मल मुक्ति भी उसे सदा देखती रहती है, श्रेष्ठ वाणी वा सरस्वती अपने आप आ खड़ी होती है उसकी कीर्ति चारों ओर फैल जाती है और अनुपम मोक्षरूपी राज्यकी लक्ष्मी उसे अवश्य प्राप्त होती है, अतएव गृहस्थोंको पर्वके दिनोंमें अवश्य प्रोषधोपवास करना चाहिये ॥ ७५ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें प्रोषधोपवासको निरूपण करनेवाला यह उन्नीसवा परिच्छेद समाप्त हुआ ।



साधुलोकैः सुसेव्यं, भज विमलगुणाप्त्यै प्रोषधं पर्वसारे ॥७३॥ अमलगुणनिधानं स्वान्तसर्पस्य मंत्रं, विषयवनदवाग्निं कर्मवृक्षे कुठारम् । सकलभुवनपूज्यं तीर्थनाथैः प्रणीतं, बुधजन परिमुक्त्यै प्रोषधं सदा त्वम् ॥ ७४ ॥ स्वर्गश्रीरूपयाति न च विमला मुक्तिन्नमालोकयते, महाणी स्वयमेव कीर्तिरतुला राज्यादिलक्ष्मी ध्रुवम् । दुर्वृत्तेन्द्रियमत्तहस्तिदलने सिंहोपमं धर्मदं, पापारिक्षयदं बुधो हि कुरुते यः प्रोषधं पर्वसु ॥ ७५ ॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे प्रोषधोपवासप्ररूपको नाम एकोनविंशतितम परिच्छेदः ।

अथ वीसवां परिच्छेद ।

जो महाव्रतोंको धारण करनेवाले है, धीरवीर हैं और अनेक व्रतोंको प्रदान करनेमं समर्थ हैं ऐसे श्री मुनिसुव्रत भगवानको मैं पुण्य उपार्जन करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ ऊपरके सर्गमें प्रोपधोपवास नामके शिक्षाव्रतका व्याख्यान कर चुके। अब आगे अपने और दूसरोंके हितके लिये चौथे दान वा वैयावृत्य नामके शिक्षाव्रतको कहते हैं ॥२॥ भगवान जिनेंद्रदेवने गृहस्थोंको पुण्य संपादन करनेके लिये आहारदान, औपधदान, शास्त्रदान और वसतिका दान ऐसे चार प्रकारका दान वतलाया है ॥ ३ ॥ गृहस्थोंको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये दान, पात्र और विधिको जानकर चारों प्रकारका महा दान देना चाहिये ॥ ४ ॥ इस संसारमें पात्र तीन प्रकारके हैं–उत्तम, मध्यम और जघन्य । मुनि उत्तम पात्र हैं, श्रावक मध्यम पात्र हैं और असंयत सम्यग्दृष्टी जघन्य पात्र है ॥ ५ ॥ जो मुनिराज बाह्य अभ्यंतर सब तरहके परिग्रहोंसे रहित है, जो श्रेष्ठ व्रत और गुप्तियोसे शोभायमान हैं, धीरवीर आदि अनेक प्रकारके तपश्चरण करनेवाले हैं, जो मुखके सब संस्कारोसे रहित हैं, धूल मिट्टी आदि मैलसे जिनका समस्त शरीर लिप्त होरहा है, जिन्होने अपने शरीरसे ममत्व छोड दिया है, जो संसारमं अत्यत दुर्लभ हैं, तपश्चरणसे जिनका सब शरीर कृश होरहा है, जो परीपह सहन करनेमें चतुर हैं, मूलगुण उत्तरगुणोंसे सुशोभित हैं, असंख्यात गुणोंके सागर है, लाभ अलाभमें जिनके परिणाम एकसे रहते हैं, जो धीरवीर हैं, जो निंदा स्तुति दोनोसे प्रतिकूल हैं, तृण सुवर्ण दोनोमें समान भाव रखते हैं, जो अनेक दुःखोके सागर ऐसे संसारको

अथ विंशतितमः सर्गः ।

महाव्रतधर धीर वन्देऽहं मुनिसुव्रतम् । अनेकव्रतसदान प्रणीत पुण्यहेतवे ॥ १ ॥ शिक्षाव्रत तृतीयं च व्याख्याय कथयाम्यहम् । चतुर्थं दानसजात स्वस्यान्यस्य हिताय वै ॥२॥ आहार चौषध शास्त्रदान वसतिका जिनैः । चतुर्धा गृहिणां दान प्रणीत पुण्यहेतवे ॥३॥ ज्ञात्वा दान तथा पात्र विधिं स्वर्मुक्तिप्राप्तये । चतुर्विधं महादान दधीध्व गृहनायकाः ॥ ४ ॥ उत्कृष्टमध्यनिकृष्टैर्भजन्ति पात्रतां भुवि । मुनिश्रावकसदृष्टिजिना दर्शनशालिनः ॥ ५ ॥ सर्वसंगपरित्यक्ताः सदा सद्वृत्तगुप्तिभिः । धीरवीरस्तपस्तप्ता सुखसस्कारवर्जिताः ॥ ६ ॥ मलेन लिप्तसर्वागस्त्यक्तदेहाः सुदुर्लभाः । तपसा क्षायसर्वागाः परीपहसहा वराः ॥७॥ मूलोत्तरगुणाढ्याश्च असख्यगुणसागराः । लाभालाभे समा धीरा निन्दास्तुतिपरान्मुखाः ॥८॥ तृणहेमादिसतुल्या ससार दुःखवारिधिम् । स्वयं तरन्ति भव्यानां क्षमास्तारयितु बुधाः ॥९॥ कृता-

स्वयं तरते हैं और दूसरोंको तारदेने-पार कर देनेमें समर्थ हैं, जो कृत कारित अनुमोदना आदिके द्वारा किये हुए दोषोंसे सर्वथा रहित हैं, जो आहार करनेके लिये अमीर गरीब सबके घर विना किसी इच्छाके प्रवेश करते हैं, जो इंद्रियोंको जीतनेमें शूरवीर हैं, सब जीवोंका हित करनेवाले हैं, रत्नत्रयसे सुशोभित हैं, ज्ञान ध्यानमें सदा तल्लीन रहते हैं, जिनके नेत्र सदा ईर्यापथमें लगे रहते हैं, जिनका हृदय शुभ है, जो राग द्वेष मोह मद उन्माद भय आदि विकारोंसे रहित हैं, जो दान देने योग्य हैं, महा पूज्य हैं और दाताओंको संसारसे पार कर देनेवाले हैं ऐसे मुनिराजोंको ही तू उत्तम पात्र समझ ॥ ६-१३ ॥ जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे सुशोभित हैं, श्रावकोंके धर्मको पालन करनेमें सदा तत्पर रहते हैं, धर्म और संवेग (संसारसे डर) से सुशोभित हैं, प्रोपधोपवास आदि आवश्यक क्रियाओंको करनेवाले हैं, देव गुरु शास्त्रके भक्त हैं, और दान पूजा आदि कर्तव्यकर्मोको सदा पालन करते हैं, ऐसे श्रावकोंको तू मध्यम पात्र समझ ॥ १४-१५ ॥ जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हैं, श्री जिनेंद्रदेवके शासनके भक्त हैं, जो पूजा प्रतिष्ठा आदि करनेमें तत्पर हैं, संवेग आदि गुणोंसे सुशोभित हैं, जिनको सातों तत्त्वोंका वा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानादिका पूर्ण श्रद्धान है और जो आठ मूलगुणोंसे विभूषित हैं ऐसे असंयत सम्यग्दृष्टी जघन्य पात्र गिने जाते हैं ॥ १६-१७ ॥ गृहस्थोको अपने आप आये हुए पात्रोंके लिये शुद्ध, प्रासुक, चिकना वा मुलायम, कृतकारित, अनुमोदना आदि दोषोसे रहित, तपश्चरणको बढानेवाला, सचित्त रहित, सचित्तकी मिलावटसे रहित, सारभूत, सुख देनेवाला और जो कुटुम्बी आदिके लिये बनाया गया हो

दिभिर्महादोषैस्त्यक्ताहारावलोकिन । उच्चनीचगृहेष्वेव प्रविश्यन्तेऽतिनिस्पृहा ॥१०॥ इन्द्रियादिजये शूरा सर्वजीवहितप्रदा । रत्नत्रय-समायुक्ता ज्ञानध्यानपरायणा ॥११॥ सदेर्यापथसन्नेत्रा ये मुनीन्द्रा शुभाशया । रागद्वेषमदोन्मादभयमोहादिवर्जिता ॥१२॥ तानेवोत्तम-सत्पात्रान् विद्धि त्व मुनिनायकान् । दानयोग्यान् महापूज्यान् दातृसतारकान् भुवि ॥ १३ ॥ सम्यक्त्वादिगुणोपेतान् श्रावकव्रततत्परान् । धर्मसवेगसयुक्तान् सत्प्रोषधविधायिन ॥१४॥ देवगुर्वादिसंभक्तान् दानपूजादिकारकान् । विद्धि त्व श्रावकानेव पात्रमध्यमसज्ञकान् ॥१५॥ सम्यग्दर्शनसशुद्धा भक्ता श्रीजिनशासने । पूजादितत्परा लोके सवेगादिविभूषिता ॥१६॥ तत्त्वज्ञानादिश्रद्धानयुक्ता येऽष्टगुणान्विताः । ऐते च पात्रता प्राप्ता जघनाख्य सुदृष्टयः ॥१७॥ शुद्ध सत्प्रासुक स्निग्ध कृतादिदोषवर्जितम् । तपो वृद्धिकर सार त्यक्तमिश्रसचित्तकम् ॥१८॥ कुटुम्बकारणोत्पन्नमन्नदान सुखप्रदम् । स्वयमागतपात्राय दातव्य गृहनायकै ॥१९॥ श्रद्धा शक्तिश्च सद्भक्तिरलुब्धत्व दया क्षमा ।

ऐसा आहार दान देना चाहिये ॥१८–१९॥ मुनिराजोंने श्रद्धा, भक्ति, शक्ति, अलुब्धतता, दया, क्षमा और विज्ञान ये सात दाताओंके श्रेष्ठ गुण बतलाये हैं ॥ २० ॥ मुनियोंका पडगाहन करना, उनको ऊँचा आसन देना, उनके चरणकमल धोना, पूजा करना, चित्त लगाकर प्रणाम करना, मनको शुद्ध रखना, वचनको शुद्ध रखना, शरीरको शुद्ध रखना और आहारकी शुद्धि रखना ये नौ गृहस्थोंको पुण्य बढानेवाले दानकी विधिके भेद कहलाते हैं इन्हींको नवधाभक्ति कहते हैं ॥ २१–२२ ॥ नवधा भक्ति करनेवाले और ऊपर लिखे हुए सातों गुणोंसे सुशोभित गृहस्थोंको भक्तिपूर्वक उत्तम पात्रोंके लिये प्रासुक, हिंसादिक समस्त पापोंसे रहित योग्य सुख देनेवाला, लोकनिंदासे रहित और समस्त रोगोंको दूर करनेवाला आहार दान देना चाहिये ॥ २३–२४ ॥ उत्तम गृहस्थोंको किसी मुनिराजको रोगी जानकर उस रोगको शांत करनेके लिये उन्हे औषधि दान देना चाहिये ॥ २५ ॥ इसीप्रकार बुद्धि और संवेगको धारण करनेवाले ज्ञानी मुनियोंके लिये विवेकी गृहस्थोंको ज्ञानदान देना चाहिये तथा समस्त तत्त्वोंके कथनसे भरे हुए, लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाले, भगवान् जिनेन्द्रदेवके मुखसे उत्पन्न हुए, गौतमादि गणधरोंके द्वारा गूंथे हुए गृहस्थ व मुनियोंके चारित्रको निरूपण करनेवाले, द्रव्योंके गुण पर्यायोंके द्वारा होनेवाले भेद अभेदोंको प्रगट करनेवाले तथा पूर्वापर विरुद्ध आदि दोषोंसे रहित ऐसे शास्त्र अपना उपकार करनेके लिये और पात्रोंका अज्ञान दूर करनेके लिये अवश्य देने चाहिये। यह ज्ञान दान वा शास्त्र दान गृहस्थ भी मुनियोंके लिये करते हैं व मुनि भी परस्पर एक दूसरेके लिये करते हैं ॥ २८–२९ ॥ इसीप्रकार उत्तम पात्रोंको धर्मध्यानादिकी सिद्धिके लिये गृहस्थोंको ऐसी वसतिकाका दान

विज्ञान सद्गुणा उक्ता दातृणा हि मुनीश्वरैः ॥ २० ॥ प्रतिग्रहो मुनीन्द्राणामुच्चस्थानं तथैव च। पादप्रक्षालनं पूजा प्रणामश्चैकचित्ततः ॥२१॥ कायवाङ्मनसा शुद्धिरेषणाशुद्धिरेव हि। विधेर्नव सुभेदा. स्युर्गृहिणा पुण्यहेतवे ॥ २२ ॥ सप्तगुणयुक्तेन दानमाहारसञ्ज्ञकम्। नवपुण्यान्वितेनैव देय पात्राय भक्तित. ॥२३॥ प्रासुक सर्वहिंसादित्यक्त योग्य सुखप्रदम्। लोकनिन्दाविनिष्क्रान्त सर्वामयविनाशकम् ॥२४॥ व्याधिग्रस्तमुनीन्द्राय चौषध श्रावकोत्तमे। ज्ञात्वा रोग प्रदातव्यं तद्व्याध्याद्युपशान्तये ॥२५॥ विश्वतत्त्वादिसपूर्ण लोकालोकप्रकाशकम्। जिनेश्वरमुखोत्पन्न गृथित गौतमादिभि ॥ २६ ॥ आचारसूचकं सार मुनीनां गृहिणामपि। द्रव्याणा गुणपर्यायभेदाभेदप्ररूपकम् ॥२७॥ पूर्वापरविरुद्धादिदोषदूरं विवेकिभि। ज्ञानिनो हि सुपात्राय बुद्धिसवेगशालिने ॥२८॥ ज्ञानदान प्रदातव्य पुस्तकं वा मुनीश्वरैः। गृहस्थैः

देना चाहिये जिसमें शीत वायु आदि न जा सके, जो सूने घरके रूपमें हो वा सूने मठके रूपमें हो, जिसमें सूक्ष्म जीवोंका निवारा न हो, जो कारित आदि दोषोंसे रहित हो, स्वभावसे बनी हो, अच्छी हो और निर्मल हो। ऐसी वसतिकाका दान मुनियोंके लिये अवश्य देना चाहिये ॥ ३०-३१ ॥ श्रेष्ठ गृहस्थोंको अथवा मुनियोंको अपने व्रत शुद्ध रखनेके लिये पुण्य बढानेवाला अभयदान नामका महादान देना चाहिये और वह ऐसे जीवोंको देना चाहिये जो मृत्युके भयसे भयभीत हों, जो सदा दुःखी रहते हों और दुःख शोक आदिके फंदेमें पडगये हों, ऐसे त्रस वा स्थावर जीवोंको भी वह अभयदान देना चाहिये ॥ ३२-३३ ॥

आहारदान देनेसे मुनियोंके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि गुणोंकी वृद्धि होती है और फिर उत्तम ध्यान होनेसे उनके आत्मानुभवका आनंद आया करता है ॥ ३४ ॥ आहारदानके संबंधसे मुनियोंका शरीर कायोत्सर्ग आदि गुणरूप तपश्चरणमें पर्वतके समान स्थिर होजाता है ॥ ३५ ॥ जिसप्रकार उत्तम औषधिसे रोग नष्ट होजाते हैं और प्राण बच रहते हैं उसीप्रकार आहारसे उत्तम पात्रोंकी क्षुधा आदिक व्याधियां दूर होजाती हैं और उनके प्राण बने रहते हैं ॥३६॥ जिसप्रकार आहार छोडदेनेपर हाथी कुछ नहीं कर सकता उसीप्रकार विना आहारके मुनि भी तपश्चरण, चारित्र, ध्यान आदि कुछ नहीं कर सकते ॥ ३७ ॥ जिसप्रकार भोजनसे पुष्ट हुआ हाथी सब कुछ कर सकता है उसीप्रकार समस्त मुनिराज आहारके बलकी सामर्थ्यसे ही महा घोर तपश्चरण करते हैं ॥ ३८ ॥ इसलिये जिसने भावपूर्वक उत्तम

स्वोपकाराय पात्राज्ञानादिहानये ॥ २९ ॥ शीतवातादिसत्यक्ता शून्यगृहमठादिका । सूक्ष्मजीवादिनिर्मुक्ता कारितादिविवर्जिता ॥ ३० ॥ स्वभावनिर्मिता सारा देया वसतिकाऽमला । गृहस्थैः सारपात्राय धर्मध्यानादि सिद्धये ॥३१॥ मृत्य्वादिभयभीतेभ्यस्त्रस्तेभ्योऽपि निरन्तरम् । दुःखशोकादिग्रस्तेभ्य. स्थावरेभ्यो सुपुण्यदम् ॥३२॥ अभयाख्य महादान सर्वजीवेभ्य एव हि। दातव्यं व्रतशुद्ध्यै सद्गृहस्थैर्मुनिनायकैः ॥३३॥ आहारदानत सम्यग्ज्ञानवृत्तादयो गुणाः । वृद्धिं यान्ति यतीशाना यथानदासुध्यानतः ॥३४॥ वपु' स्थिर भवेन्नूनं व्युत्सर्गादितपोगुणे । आहारदानयोगेन मुनीना पर्वतादिवत् ॥३५॥ प्राणास्तिष्ठन्ति नश्येच्च क्षुधादिजनिता व्यथा । अशनात्सत्पात्रवृन्दाना यथा रोगो वरौषधात् ॥३६॥ आहारेण विना किंचित्तपोवृत्तादिकं मुनि' । अनुष्ठातु न शक्नोति त्यक्तग्रासो यथा गजः ॥ ३७ ॥ आहारवलसामर्थ्यात्तप सर्वे यतीश्वरा. । आचरन्ति महाघोर ग्रासपुष्टा गजा इव ॥३८॥ तस्माद्दत्तो वराहारो येन पात्राय भावत । सर्व यमादिक तेन दत्त ज्ञाना-

पात्रके लिये श्रेष्ठ आहार दिया उसने ज्ञानादिकके साथ साथ यम नियम आदि सब कुछ दिया ॥ ३९ ॥ यह संसार अनेक दुःखरूपी मगरमच्छोंसे भरा हुआ महा घोर सागर है इससे पार होनेके लिये गृहस्थोंको एक पात्र दान ही जहाज है ऐसा श्री जिनेंद्रदेवने कहा है ॥४०॥ विद्वान् लोग इस पात्र दानको महा हिंसा आदिसे उत्पन्न हुए पापकर्मरूपी ईंधनके समूहको जलानेके लिये अग्निके समान बतलाते है ॥ ४१ ॥ जिसप्रकार हाथकी अंजलिमें रक्खा हुआ जल क्षणभरमें नष्ट हो जाता है उसीप्रकार इस पात्रदानसे सब पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं और जिसप्रकार चन्द्रमाके निमित्तसे समुद्र बढता है उसीप्रकार इस पात्रदानसे महापुण्य बढता रहता है ॥ ४२ ॥ इस पात्रदानसे प्राणियोंको महासुखकी प्राप्ति होती है और जिसप्रकार सवेरेके समय चोर भाग जाते हैं उसीप्रकार इस पात्रदानसे सब दुःख भाग जाते हैं ॥ ४३ ॥ विवेकी श्रावकोको उत्तम पात्रोके लिये श्रेष्ठ दान देनेसे गुण सब बढते रहते हैं, दोष सब नष्ट होजाते हैं, कीर्ति अपने आप आकर आलिंगन करती है, अपकीर्ति स्वयं नष्ट होना चाहती है, लक्ष्मी अपनी स्त्रीके समान आदरपूर्वक अपने आप सामने आती है, जिसप्रकार औषधिसे व्याधि नष्ट होजाती है उसीप्रकार दरिद्रता सब नष्ट होजाती है, समस्त इंद्रियोंको सुख देनेवाले महा भोगोकी प्राप्ति होती है, अनेक दुःख देनेवाले रोग सब नष्ट होजाते हैं, सदाचार आजाता है और दुराचार अपने आप नष्ट होजाता है ॥ ४४–४७ ॥ आहारदान देनेसे जिसप्रकार पूज्य पात्रोका अत्यन्त उपकार होता है उसीप्रकार सातो गुणोंसे सुशोभित गृहस्थ मनुष्योंका उपकार भी दानसे ही होता है ॥ ४८ ॥ उत्तम पात्रोंको दान देनेमे

दिभि· समम् ॥३९॥ पात्रदान जिना· प्राहु पोत ससारसागरे । गृहस्थाना महाघोरे दु खमीनाकुले वरे ॥४०॥ महाहिंसादिजे पापकर्मेन्धनसमुत्करे । जगु सुपात्रदान हि वुधा सज्वलनोपमम् ॥४१॥ पाप विलायते दानाद् हस्ते न्यस्ताम्बुवत्क्षणम् । वर्द्धते च महापुण्यमिन्दुयोगेन वार्धिवत् ॥ ४२ ॥ जायते च महासौख्यं ध्यानजातमिवाङ्गिनाम् । दु खं पलायते दानात् प्रभाते तस्करादिवत् ॥४३॥ वृद्धि यान्ति गुणा सर्वे दोषा यान्ति पुन क्षयम् । कीर्तिरालिंगन दत्ते कुकीर्तिर्नाशमिच्छति ॥४४॥ लक्ष्मीः सन्मुखमायाति स्वभार्येव कृतादरा। दारिद्र्य च विनश्येच्च यथा व्याधिरौषधात् ॥ ४५ ॥ संजायन्ते महाभोगा· सर्वेन्द्रिय सुखप्रदा । सर्वे रोगा विनश्यन्ति कृत्स्नदु खप्रदा भुवि ॥४६॥ उत्तमाचारमायाति दुराचार न तिष्ठति । महासत्पात्रदानेन श्रावकाणा विवेकिनाम् ॥४७॥ गृहस्थतापि दानेन भवेद्गुणवता नृणाम् । पूज्यपात्रोपकारश्च यथा सजायतेतराम् ॥४८॥ यादृशं पात्रदानेन महत्पुण्य भवेन्नृणाम् । तादृश च व्रतेनैव जीवघातादिदूषिते

मनुष्योंको जैसे महापुण्यकी प्राप्ति होती है वैसे पुण्यकी प्राप्ति अन्य व्रत आदि किसीसे नहीं होती, क्योंकि उनमें भी जीव घात होनेकी सम्भावना है ॥ ४९ ॥ संसारमें वे मनुष्य धन्य हैं जिनके घर इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि सबके द्वारा महा पूज्य मुनिराज आहारके लिये आते हैं ॥ ५० ॥ इस पात्रदानकी केवल अनुमोदना करनेसे अनेक तिर्यंच भी परम आनन्दको देनेवाले भोग भूमिके सुख भोगकर स्वर्गमें जा उत्पन्न हुए हैं ॥ ५१ ॥ जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित हैं वे भी केवल एकवार पात्रोंको दान देनेसे भोगभूमिके सुख भोगकर स्वर्गमें देव हुए हैं ॥५२॥ जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे विभूषित हैं वे बुद्धिमान महापात्रोंको दान देनेसे सुखकी खानि ऐसे अच्युत स्वर्गमें उत्तम देव होते हैं ॥५३॥ उत्तम पात्रोंको दान देनेसे चतुर पुरुषोंको इस संसारमें इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकर आदिके द्वारा सेवन करने योग्य उत्तम भोग प्राप्त होते हैं ॥५४॥ जिसप्रकार मकान बनानेवाला कारीगर ज्यों ज्यों मकान बनाता जाता है त्यों त्यों ऊंचा चढता है उसीप्रकार दान देनेवाला गृहस्थ जैसे जैसे उत्तम पात्रोंको दान देता है वह उस दानके प्रभावसे वैसा ही उत्तम वा उच्च होता जाता है ॥५५॥ इस संसारमें दान देनेसे ही मनुष्योंको कल्पवृक्ष, चिंतामणि और कामधेनु आदि इच्छानुसार भोग देते हैं ॥ ५६ ॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ है? थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि इस पात्रदानके ही प्रभावसे बुद्धिमान लोग मनुष्य और देवोंके सुख भोग-कर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ५७ ॥

इसी प्रकार औषधदानसे समस्त परिग्रहोंका त्याग करनेवाले मुनियोंके सब रोग नष्ट हो जाते हैं और उनका शरीर स्वस्थ होजाता है ॥ ५८ ॥ शरीर स्वस्थ होनेसे ही वे मुनिराज सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धारण करनेमें

॥४९॥ धन्यास्ते सद्गृहे येषां समायान्ति मुनीश्वराः। आहारार्थं महापूज्या इन्द्रचक्रधरादिभिः ॥५०॥ पात्रदानानुमोदेन तिर्यंचोऽपि दिवं गताः। भोगभूमौ सुखं भुक्त्वा परमाह्लादकारणम् ॥ ५१ ॥ वारैकदानयोगेन दृष्टिहीना नरा गताः। देवालयं सुभुक्त्वापि भोगभूम्यादिजं सुखम् ॥ ५२ ॥ महापात्रस्य दानेन दर्शनादिविभूषिताः। अच्युताख्यं बुधा नाकं प्रगच्छन्ति सुखाकरम् ॥ ५३ ॥ भजन्ति पात्रदानेन इन्द्रचक्रधरादिजान्। दक्षा भोगांश्च लोकेऽस्मिन् तीर्थराजनिषेवितान् ॥५४॥ यथा शिल्पी व्रजेदूर्ध्वं कृतगेहादिभिः समम्। तथा दानोच्चपात्रेण समं दानादियोगतः ॥५५॥ पुंसां कल्पाङ्घ्रिपचिंतामणिकामदुघादयः। मनोभिलषितं भोगं प्रदद्युर्भुवि दानतः ॥ ५६ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन पात्रदानप्रभावतः। भुक्त्वा नृदेवजं सौख्यं यान्ति मुक्तिं क्रमाद्बुधाः ॥ ५७ ॥ औषधाख्येन दानेन नश्येद्रोगकदंबकम्। मुनीनां

समर्थ होते है और फिर उस सम्यग्ज्ञान वा सम्यक्चारित्रके प्रभावसे वे स्वर्ग मोक्षमे जा विराजमान होने हे ॥ ५९ ॥ इसलिये औषधदानसे मनुष्योंको महापुण्यकी प्राप्ति होती है, उनका शरीर सदा नीरोग रहता हे और लावण्यता आदिसे सुशोभित रहता है ॥ ६० ॥

ज्ञान दान देनेसे मुनियोंका वा पात्रोंका अज्ञान दूर होता है और मोक्षमार्गको दिखानेवाला महाज्ञान प्रगट होता है ॥ ६१ ॥ सम्यग्ज्ञानके कारण ही मुनि श्रेष्ठ ध्यान, चारित्र, यम, नियम आदि सबको पालनकर समस्त सुखोकी निधि ऐसे मोक्षमें जा विराजमान होते हे ॥ ६२ ॥ मुनिराज ज्ञानरूपी जहाजपर बैठकर अत्यन्त कठिनतासे पार करने योग्य इस संसाररूपी महासागरसे स्वय पार होजाते हे और अन्य कितने ही भव्य जीवोंको पार कर देते हे ॥ ६३ ॥ जो मुनि ज्ञान रहित है वे करने योग्य, न करने योग्य, शुभ, अशुभ, हेय, उपादेय, विवेक, बंध, मोक्ष आदि कुछ नही जानते हें ॥६४॥ इसलिये जो मनुष्य पात्रोंके लिये (मुनिराजोके लिये) ज्ञानदानरूपी महादान देते है वे अनेक भव्योंका उपकार करते हें, अतएव उनके उपार्जन किये हुए पुण्यको हम लोग जान भी नहीं सकते ॥ ६५ ॥ उत्तम विद्वान् इस ज्ञानदानके प्रतापसे इस लोक और परलोक दोनों लोकोमें मनोहर, सुस्वर, मधुर और कानोको सुख देनेवाली वाणी प्राप्त करते है। कविता करना, पांडित्य प्राप्त करना, वादी होना, प्रतापी होना समस्त शास्त्रोका सबसे अधिक ज्ञान होना, छह प्रकारका अवधिज्ञान प्राप्त होना, दोनो प्रकारका मनःपर्यय प्राप्त होना, कला विज्ञान आदिमें कुशल होना, समस्त लौकिक व्यवहारका प्राप्त होना

त्यक्तसगाना स्वस्थं सजायते वपु ॥५८॥ येन ज्ञानादिवृत्तादि सर्वमाचरितु क्षम । भवेन्मुनिस्ततो गच्छेत्स्वर्गमुक्तिगृहादिकम् ॥५९॥ तस्मादौषधदानेन महत्पुण्य भवेन्नृणाम् । त्यक्तरोग शरीर च लावण्यादिविभूषितम् ॥६०॥ ज्ञानदानेन पात्राणामज्ञान प्रपलायते । जायते च महज्ज्ञान लोकाग्रपथदीपकम् ॥६१॥ ज्ञानातसद्ध्यानवृत्तादि सर्वं यमकदवकम् । आचरित्वा व्रजेन्मुक्ति मुनि सर्वसुखाकराम ॥ ६२ ॥ ज्ञानपोत समारूढः ससाराब्धिदुस्तरम् । स्वय तरति भव्याना ताराय च मुनीश्वरः ॥६३॥ ज्ञानहीनो न जानाति कृत्याकृत्य शुभाशुभम् । हेयाहेय विवेकं च बंधमोक्षादिकं मुनि ॥६४॥ तस्माद् ज्ञान महादान यः पात्राय ददाति ना । वहु भव्योपकारत्वात्तस्य पुण्य न वेद्म्यहम् ॥६५॥ मनोज्ञां सुस्वरां वाणी मधुरां कर्णसौख्यदाम् । कवित्वं चैव पाडित्यं वादित्वं च प्रतापताम् ॥६६॥ समस्तशास्त्रविज्ञान मतिवाहुल्यमेव च । अवधि षड्विधं द्वेधा मनःपर्ययसंज्ञकम् ॥ ६७ ॥ कलाविज्ञानकौशल्यं लोकचेष्टादिकं तथा । लभन्ते ज्ञानदानेन चेहामुत्र

आदि सब ज्ञानदानके ही प्रतापसे प्राप्त होता है ॥ ६६-६८ ॥ इस सारभूत ज्ञानदानके प्रतापसे ज्ञानी पुरुष द्वादशांग, श्रुतज्ञानरूपी महासागरके पार होजाते हैं और फिर वे अनुक्रमसे उस संसारके भी पार होजाते हैं ॥६९॥ बुद्धिमान लोग इस संसारमें ज्ञानदानके ही प्रसादसे तीनों लोकोंको शोभित करनेका कारण ऐसे केवलज्ञानरूपी साम्राज्यको प्राप्त होते हैं ॥ ७० ॥ बुद्धिमान लोग इस ज्ञानदानके ही प्रभावसे गौतमादि गणधरोंकी विभूति पाकर तथा समस्त कर्मोंको नाशकर मोक्षरूपी परमपदमें जा विराजमान होते हैं ॥ ७१ ॥ उत्तम मनुष्य इस ज्ञानदानके ही प्रसादसे सबसे अंतिम स्वर्गको पाकर तथा श्रेष्ठ राज्य भोगकर और केवलज्ञान पाकर मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥ ७२ ॥

जो मनुष्य सुख प्राप्त करनेके लिये श्रेष्ठ पात्रोंको (मुनियोंको) वसतिका दान देते हैं वे इस लोक वा परलोकमें ऊंचे भवनोंमें अथवा उत्तम विमानोंमें जा विराजमान होते हैं ॥ ७३ ॥ मुनिराज हीन संहनन होनेपर उत्तम वसतिकाको पाकर ही ध्यान, अध्ययन वा तपश्चरण कर सकते हैं। बिना वसतिकाके वे ध्यानादिक नहीं कर सकते। हां जिनका शरीर वज्रके समान है, जो महा धीरवीर हैं, महा पराक्रमी हैं, जिनका हृदय शुभ है, जो परीषहोंको सहन करनेमें धीरवीर हैं, जो वज्रवृषभनाराच संहननको धारण करनेवाले हैं और जिन्होंने अपने शरीरसे ममत्वका त्याग कर दिया है ऐसे मुनि-राज पर्वतकी गुफाओंमें वा अन्यत्र भी ध्यान अध्ययन आदि समस्त कर्म कर सकते हैं ॥७४-७६॥ इसलिये जो मनुष्य उत्तम पात्रोंके लिये वसतिका दान देते हैं वे उत्तम भवन और सुंदर विमानोंको पाकर अंतमें मोक्षमहलमें जा विराजमान होते हैं ॥ ७७ ॥

बुधोत्तमा ॥६८॥ शास्त्रदानेन सारेण द्वादशांगमहोदधेः । व्रजन्ति ज्ञानिनः पारं संसारस्य क्रमात् पुन ॥ ६९ ॥ केवलज्ञानसाम्राज्यं त्रैलोक्यक्षोभकारणम् । ज्ञानदानप्रसादेन लभन्ते सुधियो भुवि ॥७०॥ ज्ञानदानप्रभावेन विभूतिं गौतमादिजाम् । प्राप्य हत्वा स्वकर्माणि बुधा यान्ति परं पदम् ॥७१॥ श्रुतज्ञानप्रदानेन लब्ध्वा नाकं महाश्रियम् । सद्राज्यं केवलं चापि यान्ति मोक्षं नरोत्तमा ॥७२॥ यो ना वसतिकां दत्ते सत्पात्राय सुखाप्तये । उच्चैर्गृहं विमानं स चेहामुत्र श्रयेत्स्फुटम् ॥ ७३ ॥ प्राप्य वसतिकां सारां ध्यानं चाध्ययनं तपः । मुनिः संहनने हीने कर्तुं शक्नोति नान्यथा ॥ ७४ ॥ वज्रकाया महाधैर्या महासत्त्वा शुभाशयाः । परीषहसहा धीरा ह्याद्यसंहननान्विताः ॥७५॥ ध्यानाध्ययनकर्मादि सर्वं गिरिगुहादिषु । भवन्ति मुनयः कर्तुं समर्थास्त्यक्तदेहिनः ॥७६॥ तस्माद्वसतिकादानं यः पात्राय ददाति

जो मनुष्य समस्त जीवोंके लिये उत्तम अभयदान देता है वह मनुष्य और देवोंके उत्तम सुख भोगकर अंतमें निर्भयस्थानमें-सब तरहके भयोसे रहित मोक्षस्थानमें-जा विराजमान होता है ॥ ७८ ॥ जिसप्रकार विना तपश्चरणके शरीर व्यर्थ है उसीप्रकार अभयदानके विना लोगोंके चारों दान सब व्यर्थ है ॥ ७९ ॥ जिस बुद्धिमानने समस्त जीवोंको सुख देनेवाला अभयदान दिया उसने पहिले कहे हुए चारों दान इकट्ठे दिये ऐसा समझना चाहिये ॥८०॥ जिसप्रकार ज्ञान दर्शन आदि आत्माके गुण आत्मासे भिन्न माने जाते हैं और उनका दान दिया जाता है उसीप्रकार अभयदानको समझना चाहिये अर्थात् अभय भी आत्माका ही गुण है और आत्माके साथ रहता है, परंतु भिन्न मानकर उसका दान दिया जाता है ॥ ८१ ॥ जिसप्रकार पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत मुख्य है और देवोंमें भगवान् जिनेंद्रदेव मुख्य हैं उसीप्रकार समस्त दानोंमें अभयदान ही मुख्य है और यही सबसे उत्तम है ॥८२॥ मुनि वा श्रावकोंको महा फल देनेवाले इस अभयदानके समान अन्य तीनो लोकोमें कोई नही होसकता ॥ ८३ ॥ यदि किसीको मरनेके बदलेमें रत्नोंसे भरी हुई समस्त पृथ्वी भी दे दी जाय तो भी कोई मरना स्वीकार नहीं करता ॥ ८४ ॥ अभयदानके प्रभावसे यह प्राणी वज्रवृषभनाराच संहननसे सुशोभित लावण्य आदि गुणोंसे विभूपित और समस्त रोगोंसे रहित ऐसे मनोहर शरीरको पाता है ॥८५॥ अभयदानके प्रतापसे मनुष्योंको मनोहर, शुभ, सारभूत धर्मोपदेश देनेमें चतुर और व्यक्त अक्षरोंसे सुशोभित ऐसी उत्तमवाणी प्राप्त होती है ॥८६॥ इस अभयदानके ही प्रतापसे मनुष्योंका हृदय सातों तत्त्वोंके चिंतवन करनेसे भरपूर, रागद्वेप रहित और अत्यंत धीरवीर

ना । सार गेह विमान च प्राप्य मुक्त्यालय व्रजेत् ॥ ७७ ॥ सर्वांगिभ्योऽभय दान गरिष्टं यो ददाति सः । नृदेवज सुख भुक्त्वा निर्भय स्थानमाप्नुयात् ॥७८॥ अभयाख्येन दानेन विना दानचतुष्टयम् । व्यर्थं भवति लोकाना तपोहीन यथा वपु ॥७९॥ दत्त येनाभय दान सर्वजीवसुखप्रदम् । तेन दत्त च पूर्वोक्त सर्वं दानकदवकम् ॥८०॥ यथात्मनोऽपृथग्भूता भवन्ति दर्शनादयः । गुणा दानादयस्तद्वदभयेन सदैव च ॥८१॥ अद्रिमध्ये यथा मेरुर्देवमध्ये जिनो यथा । प्रधानोऽपि सुदानानां चाभयाख्य वर भवेत् ॥८२॥ अभयेन सम दान न स्याल्लोकत्रये कचित् । मुनीना श्रावकाणा वा महाफलप्रदेन वै ॥८३॥ प्रदत्ते मरणार्थे ना कोपि कृत्स्नां धरा यदि । रत्नपूर्णा तथाप्यंगी नैव मृत्यु समीहते ॥८४॥ त्यक्तरोगवपुः कान्त लावण्यादिविराजितम् । आदिसहननोपेत लभते प्राणिनो भयात् ॥८५॥ मनोहरा शुभा सारा दक्षा धर्मोपदेशने । व्यक्ताक्षरान्विता वाणी पुसा स्यादभयेन च ॥८६॥ तत्वचिंतादिसंयुक्त रागद्वेषपरान्मुखम् । अभयाख्येन दानेन

होजाता है ॥ ८७ ॥ जो मनुष्य समस्त जीवोंको अभय दान देता है उसके घर तीनों लोकोंकी लक्ष्मी घरकी दासीके समान अपनेआप वश हो जाती है ॥ ८८ ॥ गृहस्थोंको दयादानके फलसे स्वर्गकी लक्ष्मी घरकी स्त्रीके समान अपने आप आकर आलिंगन करती है ॥ ८९ ॥ जो स्थूल सूक्ष्म समस्त जीवोंको सदा अभयदान देता रहता है उसके रोग भय आदिक सब स्वप्नमें भी कभी नहीं होते हैं ॥ ९० ॥ दयादान करनेवाले मनुष्योंको छहो खण्ड पृथ्वी, नौनिधि, चौदहरत्न और अनेक सुन्दर रानियोंसे भरपूर चक्रवर्तीकी लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ९१ ॥ अभयदानके प्रतापसे यह मनुष्य–अनेक करोड देव जिसकी पूजा करते हैं, जो महा भोगोंको देनेवाला है और सबसे उत्तम है ऐसे–इन्द्रपदको प्राप्त होता है ॥ ९२ ॥ अभयदानके ही प्रतापसे मनुष्योंको अनन्त महिमासे सुशोभित और इन्द्र, नरेन्द्र आदिके द्वारा पूज्य ऐसे तीर्थंकरपदकी प्राप्ति होती है ॥ ९३ ॥ उस दयादानसे ही पापकर्मोंका संवर होता है और निर्जरा होती है तथा उस दयादानसे ही प्रति-दिन मनुष्योंको सुख देनेवाले महाधर्मकी प्राप्ति होती है ॥ ९४ ॥ संसारमें जो पदार्थ अमूल्य हैं, जो कठिनतासे प्राप्त हो सकते हैं अथवा जो तपश्चरण आदिसे भी सिद्ध नहीं हो सकते ऐसे तीनों लोकोंमें रहनेवाले समस्त पदार्थ मनुष्योंको केवल अभयदानसे प्राप्त होजाते हैं ॥९५॥ उस दयादानके प्रतापसे मनुष्योंको अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य और इंद्रादिके द्वारा पूज्य ऐसा परम मोक्ष प्राप्त होता है ॥९६॥ यही समझकर श्रावकोंको और मुनियोंको केवल धर्मपालन कर-नेके लिये समस्त जीवोंको सदा अभयदान देते रहना चाहिये ॥९७॥ जो मनुष्य सुपात्रोंके लिये ऊपर कहे हुए समस्त दान

मनो धीर भवेन्नृणाम् ॥ ८७ ॥ यो ना दत्तेऽभय दान सर्वजीवेभ्य एव हि । तस्य श्रीगृहदासीव वश याति जगत्त्रितय ॥ ८८ ॥ आलिंगन समाटते स्वर्गश्री स्वयमेव हि । गृहस्त्रीव गृहस्थाना कृपादानविपाकत ॥८९॥ स्थूलसूक्ष्माङ्गिनां नित्य यो ददात्यभय सदा । स्वप्नेन तस्य जायन्ते सर्वे रोगभयादिका ॥९०॥ षट्खण्डवसुधारत्ननिधिदेव्यादिसंयुतम् । चक्रवर्तित्वमेव स्यात्कृपालानांदयानाशिनाम् ॥९१॥ अनेककोटिदेवैश्च पूज्यमिन्द्रत्वमेव भो । अगेनभयदानेन महाभोगप्रदं वरम् ॥ ९२ ॥ अनन्तमहिमोपेत पूज्य शक्रनृपादिभि । भवेत्ती-र्थेशत्व हि नृणा प्राभयदानत ॥९३॥ दयादानेन पापस्य सवरो निर्जरा भवेत् । जायते प्रत्यह नृणा महाधर्म सुखाकर ॥९४॥ अनर्घ्य यद्दुराराध्यमसाध्य तपसादिभि । तत्सर्वमभयात्पुंसां भवेत्त्रैलोक्यवर्ति स्थितम् ॥ ९५ ॥ अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यसौख्यादिको गुणाम् । पूज्य शक्रादिभिर्मोक्षो दयादानेन जायते ॥९६॥ इति मत्वा हि दातव्य दान चाभयसंज्ञकम् । धर्माय सर्वजीवेभ्य श्रावकै मुनिभि सदा ॥९७॥

सदा देता रहता है उन्हींका जन्म और उन्हींका गृहस्थाश्रम सफल समझना चाहिये ॥ ९८ ॥ जो मनुष्य धनी होकर भी कभी पात्रोंको दान नहीं देते उनका जन्म बकरीके गलेके स्तनोंके समान व्यर्थ समझना चाहिये ॥ ९९ ॥ जिस गृहस्थाश्रममें दान नहीं दिया जाता वह गृहस्थाश्रम पत्थरकी नावके समान समझना चाहिये। ऐसे गृहस्थाश्रममें रहकर मूर्खलोग अत्यंत अथाह संसाररूपी महासागरमें डूब जाते हैं ॥ १०० ॥ जिनका घर मुनियोंके चरणकमलोंके जलसे पवित्र नहीं हुआ है उनका घर श्मशानके समान है ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं ॥ १०१ ॥ यदि दान दिये विना ही गृहस्थ, गृहस्थ कहलाने लगे तो फिर घरके व्यापारमें लगे रहनेके कारण सब पक्षियोंको भी गृहस्थ कहना चाहिये ॥ १०२ ॥ संसारमें जो कंजूस मनुष्य पात्रोंको दान नहीं देता वह धनके मोहसे मरकर सर्प आदिकी कुगतिमें जन्म लेता है ॥ १०३ ॥ इस संसारमें दरिद्रता अच्छी परन्तु मनुष्योंको आगे नरकादिक कुगतियोंको देनेवाला तथा मोह उत्पन्न करनेवाला दान रहित धन अच्छा नहीं ॥ १०४ ॥ जो महालोभी मनुष्य समर्थ होकर भी मुनियोंको दान नहीं देता वह अपने परलोकके समस्त सुखोंको नष्ट कर देता है ॥ १०५ ॥ जो न तो पात्रोंको दान देता है और न तपश्चरण करता है, वह मनुष्य होकर भी सींग रहित पशुके समान समझा जाता है क्योंकि जिसप्रकार वह अपना ही पेट भरता है उसीप्रकार पशु भी अपना पेट भर लेते हैं ॥ १०६ ॥ इसलिये जो गृहस्थ मुनियोंका उपकार करते रहते हैं वे तीनों लोकोंमें प्रशंसनीय गिने जाते हैं

इत्यादिक महादानं ये ददति निरंतरम्। सुपात्रस्य भवेत्तेषां सफलं जन्म सद्गृहम् ॥९८॥ ये धनाढ्या न सत्पात्रदानं कुर्वन्ति नैव भो। व्यर्थं जन्म भवेत्तेषामजाकंठेस्तनादिवत् ॥ ९९ ॥ दृषन्नावसमो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रमः। तदारूढा निमज्जन्ति संसाराब्धौ सुदुस्तरे ॥१००॥ मुनिपादोदकेनैव यस्य गेहं पवित्रितम्। नैव श्मशानतुल्यं हि तस्यागारं बुधैः स्मृतम् ॥१०१॥ यदि विनान्नदानेन गृहस्था हि भवन्ति भो। तदा खगा गृहस्थाः स्युः गृहव्यापारयोगतः ॥१०२॥ दत्ते दानं न पात्राय यल्लोके कृपणो नरः। य स मोहेन मृत्वा हि सर्पादिकुगतिं व्रजेत् ॥ १०३ ॥ वरं दारिद्र्यमेवार्थं न च मोहकरं धनम्। दानहीनं नृणामग्रे श्वभ्रादिगतिकारणम् ॥१०४॥ समर्थो यो महालोभी ददाति मुनये न वै। दानं परत्रजं शर्म सोऽपि छिनत्ति चात्मनः ॥१०५॥ दत्ते दानं न पात्राय तपो नैव करोति यः। स ज्ञेयो मनुजत्वेपि त्यक्तशृंगपशोरिव ॥१०६ ॥ स्वोदरं पूरयन्त्येव पशवोऽपि मुनीशिनाम्। कुर्वन्ति चोपकारं ये ते श्लाघ्याः भुवनत्रये ॥१०७॥ इति ज्ञात्वा कुपात्रं चापात्रं त्यक्त्वा विधेहि भो। त्रिभेदाय सुपात्राय मित्र! दानं सुखाकरम् ॥१०८॥ कुपात्रापात्रयो स्वामिन्!

॥ १०७ ॥ यही समझकर हे मित्र ! कुपात्र और अपात्रोंको छोडकर तीनों प्रकारके पात्रोंके लिये (उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रोंके लिये) सुख देनेवाला दान सदा देते रहना चाहिये ॥ १०८ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! कृपाकर कुपात्र और अपात्रोंका लक्षण निरूपण कीजिये ।

उत्तर—हे वत्स ! चित्त लगाकर सुन, मैं उन दोनोंके लक्षण कहता हूं ॥ १०९ ॥ जो मनुष्य सम्यग्दृष्टी नहीं हैं किंतु भोगोंकी इच्छासे मुनि वा श्रावकोंके समस्त व्रत पालन करते हैं तथा घोर तपश्चरण करते हैं, प्रतिदिन शास्त्र पढते हैं और अनेक प्रकारके कायक्लेश करते हैं उनको भगवान जिनेन्द्रदेव कुपात्र कहते हैं ॥ ११०–१११ ॥ जो इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्त हैं, सम्यग्दर्शन और व्रतोंसे रहित हैं, जो धर्म संवेग आदिसे रहित हैं, समस्त पापोंकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं, जो देव शास्त्र और गुरुओंकी निंदा करनेमें तत्पर हैं और सदा घरके ही कामोंमें लगे रहते हैं उनको भगवान जिनेन्द्रदेव अपात्र कहते हैं ॥११२–११३॥ जो श्रावक अथवा मुनि तप वा चारित्र आदिसे सुशोभित होकर भी मिथ्यात्वकी पुष्टि करता है वह भी कुपात्रके ही पदको प्राप्त होता है इसमें कोई संदेह नहीं ॥११४॥ जो मनुष्य पुण्य संपादन करनेके लिये कुपात्रोंको श्रेष्ठ अन्न दान देता है वह कुभोग भूमिमें तिर्यंच अथवा कुमनुष्य होता है ॥११५॥ कालोद समुद्रमें वा लवण समुद्रमें कुभोग भूमियां हैं उनमें लंबकर्ण, लोकमुख, विद्युन्मुख आदि कुमनुष्य होने हैं तथा भोगभूमियोंमें अत्यन्त सुखी और दीर्घ आयुको धारण करनेवाले तीर्यंच होते हैं वे सब कुपात्रदानके फलसे ही होते हैं ऐसा विद्वान् लोगोंको समझ लेना चाहिये ॥ ११६–११७ ॥ ढाई द्वीपसे बाहर तिर्यंच लोकके असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें जो पशु प्राणी उत्पन्न

लक्षण कथय स्फुटम् । प्रवक्ष्येऽहं शृणु त्वं भो तयोर्लक्षणमत्र ते ॥१०९॥ सम्यक्त्वेन विना यो ना व्रतानि सकलान्यपि । मुनीनां श्रावकाणां च धत्ते भोगादिवाञ्छया ॥११०॥ तपः करोति घोरं च शास्त्रं पठति प्रत्यहम् । कायक्लेशं विधत्ते हि स कुपात्रो मतो जिनैः ॥१११॥ इन्द्रियादिकसंसक्तः सम्यक्त्वव्रतवर्जितः । त्यक्तधर्मादिसंवेगः सर्वपापप्रवर्तकः ॥११२॥ देवशास्त्रगुरूणां यो निन्दाकरणतत्परः । गृहकर्मरतोऽपात्रः स प्रोक्तः श्रीजिनाधिपैः ॥ ११३ ॥ तपोवृत्तादिसंयुक्तो मुनिर्मिथ्यात्वपोषणे । श्रावको वा कुपात्रस्य पदं प्राप्नोति निश्चितम् ॥ ११४ ॥ यः कुपात्राय ना दत्ते सदन्नं पुण्यहेतवे । कुभोगभूषु तिर्यक्त्वं कुनृत्वं वा लभेत सः ॥ ११५ ॥ कालोदधौ नृणां यः स्यात्कुनृत्वं लवणार्णवे । लंबकर्णादिसंयुक्तं लोकविद्युन्मुखादिजम् ॥ ११६ ॥ भोगभूमिषु तिर्यक्त्वं सदीर्घायुः सुखान्वितम् । तत्सर्वं

होते हैं वे सब कुपात्र दानके फलसे ही होते है ॥ ११८ ॥ राजघरोंमें जो घोडे और हाथी वडे सुखी होते है वे कुपात्रदानके ही फलसे होते है यह निश्चित है ॥ ११९ ॥ नीच पात्रोंको दान देनेसे ही मूर्ख प्राणी म्लेच्छ, खेटक, भील आदि धनाढ्य कुलोंमें जन्म लेता है ॥ २० ॥ कुपात्रोको दान देनेसे प्राणियोंको जो लक्ष्मी प्राप्त होती है वह कुमार्गमें खर्च होती है, वडी पापिनी होती है और नरक तिर्यंच आदि दुर्गतियोको देनेवाली होती है ॥ १२१ ॥ मनुष्योके घर जो लक्ष्मी अन्यायसे आती है वह लक्ष्मी पाप उत्पन्न करनेवाली होती है और वह कुपात्रदानसे ही आती है ऐसा विद्वानोंको जान लेना चाहिये ॥ १२२ ॥ महा नीच कुलोमें उत्पन्न हुए मनुष्योको जो नरकादिके कारणरूप पापोंको उत्पन्न करनेवाला सुख प्राप्त होता है वह सव कुपात्रदानके फलसे ही होता है ॥ १२३ ॥ मनुष्योंको दुःख देनेवाली और अनेक प्रकारके अन्याय करनेवाली जो लक्ष्मी महापापके कामोसे आती है वह भी कुपात्र दानके फलसे ही आती है ऐसा विद्वान् लोगोने कहा है ॥ १२४ ॥ इस संसारमें दुष्ट लोग जो अन्यायसे अशुभ भोगोपभोगोको प्राप्त करते हैं वे भी कुपात्र दानसे ही होते हैं और आगेके लिये पाप उत्पन्न करनेवाले होते है ऐसा निश्चितरूपसे समझ लेना चाहिये ॥ १२५ ॥ ये प्राणी कुपात्र दानके फलसे नीच योनियोंमें थोडेसे भोगोपभोग प्राप्त करते है परंतु उन भोगोंसे अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करते है और फिर उन पापकर्मोके उदयसे नरकरूपी महासागरमें ही डूबते है ॥ १२६ ॥ इस कुपात्रदानके दोपसे तिर्यंचगतिके थोडेसे सुख भोगकर फिर संसाररूपी वनमे जा पडते हैं और वहांपर अनेक प्रकारके दुःख भोगते हैं ॥१२७॥ मनुष्योको

विबुधैर्ज्ञेय कुपात्रदानज फलम् ॥ ११७ ॥ तिर्यग्द्वीपेष्वसख्येपु नरत्यकेपु जायते । पशुत्व प्राणिना नून कुपात्रादिप्रदानत. ॥ ११८ ॥ भोगान्वित गजत्व च घोटकत्व भजन्ति वै । जना' कुपात्रदानेन राजगेहेपु निश्चितम् ॥११९॥ म्लेच्छाखेटकभिल्लादिकुलेपु जन्मसंभवम् । लभन्ते नीचपात्रेण धनाढ्येषु शठा. भुवि ॥१२०॥ लक्ष्मी कुपात्रदानेन लभ्यते प्राणिभि स्फुटम् । कुमार्गजातिपापाढ्या' श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदा ॥१२१॥ अन्यायतोऽपि या लक्ष्मी समायाति गृहे नृणाम् । कुपात्रदानजा सापि बुधैर्ज्ञेयाघकारिणी ॥१२२॥ यत्सुख प्राप्यते लोके-महानीचकुलेपु भो । श्वभ्रादिकारण तच्च कुपात्रदानज भवेत् ॥१२३॥ महापापेन आयाति या नृणा दु.खदायिका । अन्यायकारिणी सापि बुधैरुक्ता कुपात्रजा ॥१२४॥ यो भोगो लभते लोके दुष्टैरन्यायतोऽशुभ । कुपात्रदानसभूतः सोऽपि ज्ञेयोऽशुभप्रद.॥१२५॥ कुपात्रदानतो

जो नीच कुलोंमें लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है वह सब पाप उत्पन्न करनेवाली लक्ष्मी कुपात्रदानसे ही होती है ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेवने बतलाया है ॥ १२८ ॥ जो मूर्ख इस कुपात्रदानसे स्वर्गोंके भोग चाहते हैं वे कुबुद्धि लोग गायके सींगोंसे दूध दुहना चाहते हैं ॥ १२९ ॥ यही समझकर हे भव्य ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तू कुपात्रोंको छोडकर सुपात्रोंके लिये स्वर्ग मोक्ष देनेवाला दान दे ॥ १३० ॥

इसी प्रकार अपात्रदानके दोषोंको कौन बुद्धिमान् कह सकता है। यह अपात्रदान इसलोक और परलोकके लिये पत्थरकी नावके समान है ॥ १३१ ॥ जिसप्रकार पत्थरकी शिलापर बोनेसे बीज निष्फल होजाता है उसी प्रकार अपात्रके लिये जो कुछ दिया जाता है वह सब निष्फल होजाता है ॥ १३२ ॥ जिसप्रकार किसी वनमें चोर लोग धनको छीन लेते हैं उसी प्रकार जिसने अपात्रको दान दिया वास्तवमें उसने वह द्रव्य कुमार्गमें नष्ट कर दिया समझना चाहिये ॥ १३३ ॥ जिसप्रकार पालन किया हुआ शत्रु वा सर्प प्राणियोंको दुःख ही देता है उसीप्रकार अपात्रको दिया हुआ दान केवल पाप ही उत्पन्न करता है ॥ १३४ ॥ जिसप्रकार पत्थरकी नावपर बैठा हुआ मनुष्य समुद्रमें डूबता ही है उसी प्रकार अपात्रको पालन पोषण करनेवाला मनुष्य भी संसाररूपी सागरमें डूब ही जाता है ॥ १३५ ॥ जो मूर्ख धर्म पालन करनेके लिये अपात्रोंको दान देता है वह उस अपात्रदानसे उत्पन्न हुए पापसे नरकादिक दुर्गतियोंमें जा पहुंचता है ॥ १३६ ॥ जिसप्रकार अपात्र पापोंके संयोगसे संसारमें परिभ्रमण करता है उसीप्रकार दाता भी पाप कर्मोंके संयोगसे प्रतिदिन चारों गतियोंमें

पतन्ति संसारवने जीवा कुदुःखिता ॥१२७॥ यत्काचिज्जायते लक्ष्मी. पुसां नीचकुलेषु भो। सा सर्वापि जिनैरुक्ता पापयुक्ता कुपात्रजा ॥१२८॥ कुपात्रदानतो नाकभोग वाञ्छन्ति ये शठा.। गोशृंगतोपि ते क्षीर समीहन्ते कुदुर्धिय ॥१२९॥ इति मत्वा कुपात्र हि त्यक्त्वा दान ददस्व भो। स्वर्गमुक्तिकर सत्पात्राय त्व हि मुक्तये ॥१३०॥ अपात्रदानज दोष वक्तु शक्नोति को बुध'। दृषत्पोतसम दान ह्यमुत्रगतमञ्जसा ॥१३१॥ शिलोपरि यथा उप्त बीज भवति निष्फलम्। तथापात्राय यद्दत्त तद्दान निष्फल भवेत् ॥१३२॥ येन दत्तमपात्राय दान तत्त्वेन नाशितम्। कुमार्गे हि यथारण्ये गृहीत तस्करैर्धनम् ॥ १३३ ॥ पोषितोपि यथा शत्रुरहि तद्दु खमञ्जसा। ददाति प्राणिना तद्वत् कुपात्रे दुरित परम् ॥१३४॥ अश्मपोताधिरूढो ना यथा मज्जति सागरे। अपात्रपोषकस्तद्वत् ससाराब्धौ प्रमज्जति ॥ १३५ ॥ अपात्राय प्रदत्ते यो दान धर्माय मूढधी। तद्दानजेन पापेन श्वभ्रादिकुगति व्रजेत् ॥ १३६ ॥ यथाऽपात्रो भ्रमत्येव ससारे पापयोगत। तद्दातापि तथा

ही परिभ्रमण करता रहता है ॥ १३७ ॥ मूर्ख लोग अपात्रदानसे जो पाप उत्पन्न करते हैं वैसे पाप कुशील सेवन आदि अन्य पापोंसे भी नही होते ॥ १३८ ॥ धनको नाश करनेके लिये अँधे कुएंमें डाल देना अच्छा, परन्तु अपात्रको देना अच्छा नही, क्योंकि अपात्रको देनेसे धन भी नष्ट होता है और नरकादिक दुर्गतियां भी प्राप्त होती हैं ॥ १३९ ॥ जिस प्रकार पाला हुआ बाघ छलमे अपने स्वामीको खा ही जाता है उसीप्रकार अपात्र भी अपने दाताओंको शीघ्र ही नरकमें पहुंचा देता है ॥ १४० ॥ जिसप्रकार बादलोंसे वर्षा हुआ पानी भूमिके सम्बन्धसे नीम और ईखरूप (नीममें पडकर कडवा और ईखमें पडकर मीठा) होजाता है उसीप्रकार सुपात्र और अपात्रको दियां हुआ दान भी पुण्य पापरूप होजाता है अर्थात् सुपात्रको दिया हुआ दान पुण्यरूप होजाता है और अपात्रोको दिया हुआ दान पापरूप होजाता है ॥ १४१ ॥ जिसप्रकार स्वाति नक्षत्रमें पडी हुई पानीकी बूंद (वर्षाकी बूंद) सीपमें जाकर मोती होजाती है और सर्पके मुंहमें जाकर विष होजाती है उसीप्रकार सुपात्रोंको दान देनेसे पुण्य होता है व अपात्रोंको देनेसे पाप होता है ॥ १४२ ॥ जिसप्रकार पाला हुआ सर्प विष ही देता है और पाली हुई गाय दूध ही देती है उसीप्रकार अपात्रोको दिया हुआ दान महा पाप उत्पन्न करता है और सुपात्रको दिया हुआ दान महा पुण्य उत्पन्न करता है ॥१४३॥ जिसप्रकार कल्पवृक्षोंसे भोगोपभोगोंकी ही प्राप्ति होती है और धतूरेसे विषकी ही प्राप्ति होती है उसी प्रकार सुपात्रोंको दान देनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और कुपात्रोंको देनेसे नरककी ही प्राप्ति होती है ॥१४४॥ जिसप्रकार गाय तृणोको खाती है और दूधरूपी अमृतको देती है-उसीप्रकार मुनिराज थोडासा आहार लेते है, परंतु उसीमे मनुष्योको स्वर्गरूपी वहुतसे अमृतकी प्राप्ति होजाती है ॥१४५॥ जिसप्रकार अच्छे

पापाच्चतुर्गतिपु प्रत्यहम् ॥१३७॥ अपात्रदानयोगेन यच्च पाप करोत्यधी. । मैथुनादिभव दाता श्रयेत्तस्यात्रमेव हि ॥१३८॥ अन्धकूपे वर क्षिप्त धन निर्नाशहेतवे । नैव दानमपात्राय यतो दुर्गतिदायकम् ॥१३९॥ पोपितो हि यथा व्याघ्र' छलादत्ति स्वस्वामिनम् । तथाऽपात्रोऽपि दातॄणां श्वभ्रं नयति शीघ्रत. ॥ १४० ॥ यथा मेघजल भूमियोगान्निवेक्षुनां व्रजेत् । सुपात्रापात्रयोर्दान तथा च पुण्यपापदम् ॥ १४१ ॥ स्वाति नक्षत्रज विंदु शुक्तिकाया च मौक्तिकम् । विष सर्पमुखे तद्वद्दानं पात्रादिके भवेत् ॥ १४२ ॥ यथाहि' पोपितो दत्ते विप क्षीरं च गौ च नु । तथाऽपात्रो महत्पापं पुण्यं सत्पात्र एव च ॥१४३॥ यथा कल्पद्रुमो दत्ते भोगं धत्तूरको विषम् । तथा स्वर्गं सुपात्रो वै कुपात्रः श्वभ्रमेव च ॥ १४४ ॥ तृणानत्ति यथा गौश्च दत्ते दुग्धामृतं नृणाम् । तथा च यमिन' स्तोकं भुक्तं स्वर्गामृतं धनम् ॥ १४५ ॥ वटवीजं

स्थानपर बोया हुआ वटका बीज बहुतसी छाया और फलोंसे फलता है उसीप्रकार सुपात्रोंको दिया हुआ दान भी भोग भूमि और स्वर्गादिके अनेक फलोंको फलता है ॥ १४६ ॥ दान चाहे सुपात्रको दिया जाय, चाहे कुपात्रको दिया जाय, चाहे अपात्रको दिया जाय परंतु उत्तम विद्वानोंको कुदान कभी नही देना चाहिये, क्योंकि कुदान देनेसे अपनेको भी पाप लगता है और दूसरेको भी (लेनेवालेको भी) पाप लगता है ॥ ४७ ॥

प्रश्न–हे भगवन् ! जिनसे पाप उत्पन्न होता है ऐसे कुदान कितने हैं और कौन कौन हैं ?

उत्तर–हे वत्स मैं उन दुःख देनेवाले कुदानोंके दस भेद कहता हूं, तू सुन ॥ १४८ ॥ गौ, कन्या, सुवर्ण, हाथी, घोडा, घर, पृथ्वी, तिल, रथ और दासी आदिका दान करना कुदान कहलाते हैं। संसारमें इन कुदानोंको अज्ञानी ही किया करते हैं ॥१४९॥ जो असत अज्ञानी पुरुष पुण्य संपादन करनेके लिये गायका दान देता है वह बंधन घात आदिसे उत्पन्न हुए अनेक पापोंको उत्पन्न करता है ॥ इसीप्रकार जो पुरुष पुण्य बढानेके लिये पापोंका महासागररूप कन्यादान करता है वह घर, मैथुन, हिंसा आदिसे उत्पन्न हुए समस्त पापोको प्राप्त होता है ॥ १५१ ॥ जो मनुष्य शुभ कर्मोंके लिये अनेक पापोंको उत्पन्न करनेवाले सुवर्णका दान देते हैं वे हिंसा, मोह आदिसे उत्पन्न हुए अत्यन्त भारी पापोंको उत्पन्न करते हैं ॥ १५२ ॥ जो अज्ञानी हाथी, घोडे, रथ, दासी, पृथ्वी, घर, तिल आदिकोका दान करता है वह अनेक जीवोंके घातका कारण होनेसे महा पापकर्मोंको उपार्जन करता है ॥१५३॥ मनुष्योंको पुण्य उपार्जन करनेके लिये धनका दान तो कभी देना ही नहीं चाहिये, क्योंकि धनका दान देना महा मोहको उत्पन्न करनेवाला है और ज्ञान चारित्र आदि गुणोंको

यथा स्तोक चोप्त भूरिगुण भवेत् । सुक्षेत्रे च महापात्रदान भोगधरादिषु ॥१४६॥ सुपात्राय कुपात्राय चापात्राय बुधोत्तमे । कुदान नैव दातव्य यत स्यात्स्वान्ययोरघम् ॥१४७॥ भगवन् ! किं कुदान तद्यत सजायतेऽशुभम् । दशभेद प्रवक्ष्येऽङ्ग कुदान च कुदु खदम् ॥१४८॥ गोकन्याहेमहस्त्यश्वगेहक्ष्मातिलस्यन्दिन' । दासी चेति कुदानानि प्रणीतानि शठेर्भुवि ॥१४९॥ गोदान योऽति मूढात्मा दत्ते पुण्यादिहेतवे। वधबन्धानि घातादिजात पाप लभेत स ॥१५०॥ कन्यादान प्रदत्ते य' पुण्याय दुरितार्णवम् । गेहमैथुनहिंसादिजातं पाप च तस्य हि ॥१५१॥ सुवर्ण च प्रदत्ते ना शुभाय पापकारणम् । हिंसामोहादिज पाप तस्य जायेत दुस्तरम् ॥१५२॥ हस्त्यश्वरथयद्दासीभूमिगेहतिलादिकम् । यो दत्ते मूढधीर्जीवघातात्पाप पर श्रयेत् ॥१५३॥ द्रव्यदान न दातव्य सुपुण्याय नरेः क्वचित् । महामोहकर ज्ञानवृत्तादिगुणघातकम् ॥१५४॥

घात करनेवाला है ॥१५४॥ जो मनुष्य हिंसा मोह आदिको बढानेवाले धनका दान करता है वह पाप और आरंभोंका मूल कारण ऐसे भारी पापोंको इकट्ठा करता है॥१५५॥ जिस दानसे महा पात्रता नष्ट होजाय, मोह, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिंता आदि उत्पन्न होजांय, ध्यान अध्ययन नष्ट होजांय, जीवोंका घात हो, वचन दुष्ट वा कठोर कहने पडें, मनुष्योंको राग वा द्वेष उत्पन्न होजाय, लोक निंदा हो वा और भी अनेक प्रकारके पाप हों, ब्रह्मचर्यका घात हो, मन मलिन होजाय, आर्त-ध्यान रौद्रध्यानकी प्रवृत्ति होजाय, धर्मध्यान और शुक्लध्यानमें विघ्न होजाय, मद उत्पन्न होजाय, इंद्रियां अपने व्यापारमें लग जांय, गुण नष्ट होजांय, व्रत छूट जांय और रत्नत्रयमें दोष लग जाय ऐसा दान उत्तम विद्वानोंको कंठगत प्राण होने-पर भी नही देना चाहिये ॥ १५६—१५९ ॥ हलाहल विष देना अच्छा परंतु कुपात्रोंको व्रत और ज्ञानको घात करनेवाला कुदान देना अच्छा नही, क्योंकि हलाहल विष देनेसे एक भवमें ही प्राण नष्ट होते हैं, परन्तु कुपात्रोंको कुदान देनेसे अनेक भवोंमें दुःख भोगना पडता है ॥ १६० ॥ जो अज्ञानी उत्तम मुनियोंके लिये पाप उत्पन्न करनेवाला कुदान देता है, वह सम्यक्चारित्रके घात करनेसे उत्पन्न हुए पापसे नरकमें ही पडता है ॥ १६१ ॥ संसारमें कृपण होना अच्छा परन्तु कुदा-नसे होनेवाले अनेक दुःखोंके कारण और पापोंके महासागर ऐसे दाताके दुर्गुण होना अच्छा नहीं ॥ १६२ ॥ जो धनी पुरुष मुनिराजोंके लिये सम्यक्चारित्रको नाश करनेवाला कुदान देता है वह महापापी होता है और उस पापसे भवभवमें दरिद्रता धारण करता है ॥ १६३ ॥ जो कुदानोंको देनेवाला है वह दाता कभी दाता नहीं कहा जासकता और जो सुदा-

---

द्रव्यदान प्रदत्ते यो हिंसामोहादिवर्द्धनम् । पापारभस्य मूल च श्रयेद्दुरितमुल्वणम् ॥ १५५ ॥ महापात्र प्रणस्येच्च मोह क्रोधोभयस्तथा । लोभ शोको महाचिंता ध्यानाध्ययनविच्युति ॥१५६॥ जीवघाते वचो दुष्ट द्वेषो रागोपि देहिनाम् । लोकनिन्दादिक पापमब्रह्म च मनोऽशुभम् ॥१५७॥ आर्तरौद्रद्वय ध्यान विघ्न च धर्मशुक्लयो । मदश्चेन्द्रिय व्यापारो गुणहानिर्व्रतच्युतिः ॥१५८॥ दोषो रत्नत्रयाणा च येन संजा-यतेतराम् । तद्दान नैव दातव्य प्राणान्तेपि बुधोत्तमै. ॥१५९॥ वर हालाहलं दत्त भवैक प्राणनाशनम् । न कुदान कुपात्रेभ्यो वृतज्ञानादि-घातकम् ॥१६०॥ कुदान सन्मुनिभ्यो यो दत्ते मूढोऽशुभप्रदम् । वृत्तघातादिसंजातपापात्श्वभ्रे पतत्यधी. ॥१६१॥ कृपणत्व वर लोके नैव दातृगुणो नृणाम् । कुदानप्रभवो दु.खकारण पापसागरः ॥ १६२ ॥ यो धनाढ्यो मुनीशेभ्यो दत्ते चारित्रनाशकम् । कुदान स श्रयेत्पापं दारिद्र्य च भवेभवे ॥१६३॥ कुदानस्यैव यो दाता स दाता कथ्यते न च । सुदानस्य प्रदत्ता यो दाता स उच्यते जिनै ॥ १६४ ॥

नका देनेवाला है, भगवान जिनेन्द्रदेवने उसीको दाता बतलाया है ॥ १६४ ॥ इसलिये चतुर पुरुषोंको अपने कर्म नष्ट करनेके लिये कुदानोंको छोडकर महापुण्य उत्पन्न करनेवाला उत्तम दान देना चाहिये ॥ १६५ ॥

प्रश्न–हे स्वामिन् ! यदि गृहस्थ लोगोंको धन आदिका दान नहीं देना चाहिये तो फिर संसारमें प्राप्त हुए बहुतसे धनका क्या करना चाहिये ॥ १६६ ॥

उत्तर–हे वत्स ! मोक्ष प्राप्त करनेके लिये शुभ कर्मके उदयसे प्राप्त हुए धनसे जिनभवन बनवाना चाहिये, जिनबिंब बनवाना चाहिये और भगवान जिनेन्द्रदेवकी प्रतिष्ठाकर पूजा आदि सत्कर्म सदा करते रहना चाहिये ॥१६७॥ जो धनी जिनबिंबके साथ साथ जिन भवन बनवाता है वहांपर पूजा, स्वाध्याय आदि नित्य कर्म सदा होते रहते है इसलिये उसके पुण्यरूप फलोंको हम जान भी नहीं सकते ॥ १६८ ॥ जो धनी अनेक जीवोंका आधारभूत (जिसमें अनेक जीव आकर पुण्य उपार्जन करते हैं) जिन भवन बनवाता है उसके प्रतिदिन धर्मकी वृद्धि होनेसे महाधर्म वा महापुण्य प्राप्त होता है ॥ १६९ ॥ गृहस्थोंको जिन भवन बनवानेके समान अन्य कोई पुण्य नहीं है। यह प्रथम तो स्वर्गकी सीढ़ी है और फिर अनुक्रमसे मुक्तिरूपी स्त्रीको देनेवाला है ॥ १७० ॥ सारभूत मनोहर जिन भवनोंमें मुनिराज आकर निवास करते है, उन मुनिराजोंसे धर्मकी वृद्धि होती है और धर्मसे मनुष्योंको परम संपत्तिकी प्राप्ति होती है ॥ १७१ ॥ भव्य जीव श्री जिनभवनमें जाकर चंदन पुष्प आदि उत्तम उत्तम द्रव्योंसे भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं और इस-प्रकार जिनभवनसे महा पुण्य उपार्जन करते हैं ॥ १७२ ॥ गृहस्थलोग जिनभवनमें जाकर भगवानको प्रणाम करते है,

तस्मात्त्यक्त्वा कुदानं हि दानमुत्तममञ्जसा । महत्पुण्यप्रदं दक्षैर्दातव्यं कर्महानये ॥ १६५ ॥ यदि स्वामिन्न दातव्यमन्यद्दानं गृहाश्रितैः । धनाढ्यैश्च महद्द्रव्यं लोके किं क्रियते वद ॥ १६६ ॥ कुरु वत्स जिनागारं बिम्बं च प्रपूज्य जिनम् । प्रतिष्ठादिकसत्कर्म मुक्त्यै द्रव्येण प्रत्यहम् ॥१६७॥ चैत्यगेहं विधत्ते यो जिनबिम्बसमन्वितम् । फलं तस्य न जानामि नित्यं धर्मप्रवर्द्धनात् ॥ १६८ ॥ अनेकजीवसाधारं जिनागारं करोति यः । धर्मप्रवर्द्धकं तस्य प्रत्यहं स्यान्महद्वृषम् ॥१६९॥ जिनगेहसमं पुण्यं न स्याच्च गृहिणां क्वचित् । स्वर्गसोपानमादौ च मुक्तिस्त्रीदायकं क्रमात् ॥१७०॥ जिनेन्द्रमंदिरे सारे स्थितिं कुर्वन्ति योगिनः । तेभ्यो संवर्द्धते धर्मो धर्मात्संपत्परं नृणाम् ॥ १७१ ॥ सारचंदनपुष्पादिद्रव्यैः पूजां विधाय वै । समर्जयन्ति सत्पुण्यं भव्या श्रीजिनमंदिरे ॥ १७२ ॥ प्रणामं नृत्यसद्गीतसत्तूर्यादिकदंबकम् ।

नृत्य, स्तुति करते हैं, उत्तम वाजे वजाते है और इसप्रकारके अनेक कामोंसे महापुण्य उपार्जन करते है ॥ १७३ ॥ विद्वान् लोग धर्मके आधारभूत जिनभवनमें चंदोवा, घंटा, चमर, ध्वजा, दीपक, झल्लरी, ताल, कंसाल, भृंगार, कलश आदि उत्तम उत्तम धर्मोपकरण देकर महापुण्य सम्पादन करते हैं ॥ १७४–१७५ ॥ जो गृहस्थ धर्मके कारणभूत श्री जिनभवनको वनवाता है वह समस्त संघके धर्मकी वृद्धिका कारण होता है इसलिये वह संघाधिपति (संघका स्वामी) कहलाता है ॥१७६॥ जिसप्रकार जिनभवनको वनाता हुआ कारीगर धीरे धीरे ऊपरको चढता जाता है उसीप्रकार उस जिनभवनको वनवानेवाला बुद्धिमान् गृहस्थ भी धर्मके निमित्तसे मोक्षमें जा विराजमान होता है ॥१७७॥ जिनभवन वनवानेवालेको उस भवनमें अनेक भव्योंके द्वारा होनेवाली पूजा आदिके संबंधसे जो एक दिनमें पुण्य होता है उसको भी कोई विद्वान् कह नहीं सकता ॥ १७८ ॥ जो पुरुष चैत्यालय वा जिनभवन वनवाता है वह अनेक भव्य जीवोंको पुण्य उपार्जन करनेरूप उपकारको करता है इसलिये वह सव लोगोंके द्वारा पूज्य होता है और समस्त लोकमें वंदनीय गिना जाता है ॥ १७९ ॥ जो पुरुष भक्तिमें तत्पर होकर जिनभवन वनवाता है वह सोलहवें स्वर्गके सुख भोगकर मोक्षका राज्य प्राप्त करता है ॥१८०॥ जो भव्य पुण्य उत्पन्न करनेवाले जिनभवनको वनवाता है उसीकी लक्ष्मी सफल और स्वर्ग मोक्ष देनेवाली होती है ॥१८१॥ श्री जिनेंद्रदेवका भक्त जो भव्य पुरुष जिनविंबोका निर्माण कराता है वह नित्यपूजा आदिके संबंधसे अपरिमित पुण्यको प्राप्त करता है, उसके पुण्यको कोई जान भी नही सकता ॥ १८२ ॥ जो पुरुष महा पुण्यको देनेवाली भगवानकी पूजा

कृत्वा पुण्यार्जन तत्र प्रकुर्वन्ति गृहेशिन. ॥१७३॥ चन्द्रोपकमहाघटाचामरध्वजदीपकान् । झल्लरीतालकसालभृगारकलशादिकान् ॥१७४॥ दत्वा चान्यानि साराणि धर्मोपकरणानि वै । अर्जयन्ति वुधा धर्म धर्माधारे जिनालये ॥१७५॥ स सघाधिपतिर्ज्ञेयो यो कुर्याच्छ्रीजिनालयम् । धर्महेतु हि सर्वस्य सघस्य धर्मवर्द्धनम् ॥१७६॥ यथा शिल्पी जिनागारं कुर्वनूर्ध्वं शनै' व्रजेत् । तथा तत्कारको धीमान् स मोक्ष धर्मयोगत ॥ १७७ ॥ दिनैकजातपुण्यस्य चैत्यगेहकरस्य ते । अनेकभव्यसयोगाद्वक्तु क स्यात्क्षमो वुध ॥१७८॥ चैत्यालय विधत्ते य स पूज्यश्चाखिलैर्जनै' । वदनीयो जगल्लोके भव्यपुण्योपकारत. ॥१७९॥ आलय जिनदेवस्य य कुर्याद्भक्तितत्पर. । प्राप्य पोडशम नाक राज्य च मुक्तिमाप्नुयात् ॥१८०॥ कारापयति यो भव्यो जिनेन्द्रभवन शुभम् । तस्यैव जायते लक्ष्मी सफला स्वर्गमुक्तिदा ॥ १८१ ॥ करोति जिनविम्वानि यो भव्योऽत्यतभक्तिमान् । नित्यपूजादिसंयोगात्तस्य पुण्य न वेद्म्यहम् ॥१८२॥ सज्जिनार्चा विधत्ते यो महत्पु-

प्रतिदिन करते हैं उनके लिये इंद्रपद अथवा चक्रवर्तीका पद कुछ कठिन नहीं है ॥ १८३ ॥ विद्वान्‌लोग जबतक उस प्रतिमाकी पूजा करते रहते हैं तबतक उसके निर्माण करनेवाले कर्ताको पुण्यकी प्राप्ति होती रहती है ॥ १८४ ॥ जिसके घरमें पुण्य उपार्जन करनेवाली भगवान जिनेंद्रदेवकी प्रतिमा नहीं है उसका घर पक्षियोंके घोंसलेके समान है और वह अत्यंत पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥ १८५ ॥ वे लोग तीनों लोकोंमें धन्य हैं जो केवल धर्म पालन करनेके लिये भगवानकी पूजा करते हैं, उनकी स्तुति करते हैं और जिनभवन अथवा जिनबिंबोंका निर्माण कराते हैं ॥ १८६ ॥ जो भव्य पुरुष चौबीस तीर्थंकरोंकी उत्तम प्रतिमाओंका निर्माण कराता है वह स्वर्गके राज्यको व मनुष्यलोकके राज्यको पाकर अंतमें मोक्षका साम्राज्य प्राप्त कर लेता है ॥ १८७ ॥ जो भव्य पुरुष सुवर्णकी, चांदीकी, रत्नोंकी अथवा पाषाण आदिकी उत्तम जिनप्रतिमा बनवाता है उसके धर्म और सुख देनेवाली लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ १८८ ॥ गृहस्थोंको बिंबप्रतिष्ठाके समान और कोई धर्म नहीं है, क्योंकि बिंबप्रतिष्ठामें अनेक भव्य जीवोंका उपकार होता है और धर्मरूपी महासागरकी वृद्धि होती है ॥ १८९ ॥ जो भव्य जीव बिंबप्रतिष्ठा कराता है वह श्रेष्ठ धर्मकी वृद्धिका कारण होता है इसलिये वह इंद्र और चक्रवर्तीके सुख भोगकर अंतमें मोक्षरूप महा ऋद्धिको प्राप्त करता है ॥ १९० ॥ जो बुद्धिमान श्री जिनेंद्रदेवकी उत्तम प्रतिष्ठा करते हैं वे तीर्थंकरका परम पद पाकर मुक्तिरूपी ललनाका सेवन करते हैं ॥ १९१ ॥ प्रतिष्ठामें जितनी प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा होती है और उनकी जबतक नित्य पूजा आदि होती रहती है[1] तबतक उसके कर्ताओंको धर्मकी प्राप्ति होती रहती है

ण्यप्रदा सदा। शक्रत्व चक्रवर्तित्व न स्यात्कस्यैव दुर्लभम् ॥१८३॥ पूजयन्ति बुधा यावत्काल सत्प्रतिमा वराम्। तावत्काल च तत्कर्ता श्रयेत्पुण्यात्तमेव हि ॥१८४॥ यस्य गेहे जिनेंद्रस्य बिम्ब न स्याच्छुभप्रदम्। पक्षिगृहसम तस्य गेह स्यादतिपापदम् ॥१८५॥ धन्यास्ते ये नरा बिम्ब पूजयन्ति स्तुवन्ति च। कारापयन्ति धर्माय जिनस्य भुवनत्रये॥१८६॥ चतुर्विंशतिका सारा प्रतिमा य करोति ना। नाकराज्य नृराज्य च प्राप्य मोक्ष व्रजेत् स ॥१८७॥ हेमरूपादिना सारा रत्नाश्मादिमयामपि। विधत्ते यो जिनेन्द्रस्य तस्य श्रीधर्मसौख्यदा॥१८८॥ न प्रतिष्ठासमो धर्मो विधत्ते गृहिणा क्वचित्। बहुभव्योपकारत्वाद् धर्मसागरवर्द्धनात् ॥१८९॥ य प्रतिष्ठा विधत्ते ना शक्रत्वं चक्रवर्तिताम्। प्राप्य नृर्द्धि प्रयात्येव स धर्मोदयकारणात् ॥१९०॥ ये कुर्वन्ति बुधा' सारा प्रतिष्ठा श्रीजिनेशिनाम्। तीर्थराज्यपद लब्ध्वा मुक्तिकान्तां भजन्ति

१ यह ऐसा कथन उपचारसे है वास्तवमें इतना पुण्य उसी समय होजाता है।

॥१९२॥ जो भव्य जीव प्रतिष्ठा कराते हैं वे देव विद्याधर सबके द्वारा पूज्य होते हैं, स्तुति और वंदना करने योग्य होते हैं और इसलोक तथा परलोक दोनों लोकोंमें महासागरके समान महा सुखको प्राप्त होते हैं ॥ १९३ ॥ बहुत कहनेसे क्या जो मनुष्य प्रतिष्ठा कराता है, संसारमें उसीका जन्म सफल है क्योंकि वह प्रतिष्ठा धर्म, अर्थ और सुख देनेवाली है ॥१९४॥ गृहस्थोंको भक्तिपूर्वक अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन जल चंदनादिकसे भुक्ति मुक्ति देनेवाली भगवान जिनेंद्रदेवकी उत्तम पूजा करनी चाहिये ॥ १९५ ॥ जो स्वभावसे ही स्वच्छ जलसे भगवान जिनेंद्रदेवकी प्रतिमाका अभिषेक करते हैं उस धर्मके प्रभावसे उनका समस्त पापरूपी कर्म नष्ट होजाता है ॥ १९६ ॥ जो प्रतिदिन कपूर और कुंकुमसे मिले हुए चंदनसे भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं वे उसके प्रभावसे स्वर्गमें अत्यंत सुगंधित शरीर पाते हैं ॥ १९७ ॥ जो भव्य जीव अखंड और उज्वल अक्षतोंसे भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं वे अक्षयपद वा मोक्षके परम सुखको प्राप्त होते हैं ॥ १९८ ॥ जो भव्य जीव जाति, चंपा, कमल, केतकी आदिके सुंदर पुष्पोंसे भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं वे स्वर्गमें भी पूज्य गिने जाते हैं ॥१०९। जो भव्य दूध, लड्डू, पकवान, शाली चावल, वड़े आदि नैवेद्यसे भगवानकी पूजा करते हैं वे तीनो लोकोंमें उत्पन्न हुए समस्त भोगोंको प्राप्त होते हैं ॥ २०० ॥ जो सम्यग्दृष्टी पुरुष कपूर और घीके बने हुए दीपकसे भगवानकी पूजा करते हैं वे केवलज्ञानको अवश्य प्राप्त करते हैं ॥ २०१ ॥ जो भव्य भगवानके सामने चंदन,

---

ते ॥१९१॥ यावन्ति जिनबिम्बानि पूजा नित्य श्रयन्ति वे । प्रतिष्ठाया च तत्कर्ता तद्धर्मं सभजेत् सदा ॥१९२॥ प्रतिष्ठा ये प्रकुर्वन्ति ते पूज्या नृसुरासुरै । स्तुत्या वंद्या इहामुत्र भजन्ति सुखसागरम् ॥ १९३ ॥ किमत्र वहुनोक्तेन य. प्रतिष्ठा करोति ना । तस्यैव सफलं जन्म सा धर्मार्थसुखप्रदा ॥१९४॥ कर्तव्या जिनसत्पूजा गृहस्थैर्भुक्तिमुक्तिदा । भक्त्या शक्त्यानुसारेण प्रत्यह स जलादिभि. ॥ १९५ ॥ जिनाग स्वच्छनीरेण क्षालयन्ति स्वभावत. । येऽतिपापमल तेषा क्षयं गच्छति धर्मत· ॥१९६॥ अर्चयन्ति जिनेन्द्रं ये नित्यं कर्पूरकुंकुमै । मिश्रै सच्चन्दनै. स्वर्गे सुगन्ध्यगं भजन्ति ते ॥१९७॥ शाल्यक्षतैरखंडैश्च सदुज्वलैर्जिनेश्वरान् । समर्चयन्ति ये भव्या. ते भजन्ति शिव सुखम् ॥१९८॥ जातिचंपकसत्पद्मकेतक्यादिप्रसूनकैः । पूजयन्ति जिनान् भव्या नाके ते यान्ति पूज्यताम् ॥१९९॥ क्षीरमोदकपक्वान्न-शाल्यन्नवटकादिभि. । जिनपूजां विधत्ते यो भजेद्भोगं त्रिलोकजम् ॥२००॥ अभ्यर्चयन्ति ये दीपै. सत्कर्पूरघृतादिजै· । अर्हन्तं केवलज्ञानं ते भजन्ते सुदृष्टय· ॥२०१॥ चन्दनागुरुकर्पूरसदद्रव्यादि दहन्ति ये । जिनाग्रे कर्मकाष्ठाना भस्मीभावं श्रयन्ति ते ॥२०२॥ सदाम्रकद-

अगुरु, कपूर आदि श्रेष्ठ द्रव्योंको दहन करते हैं, इनकी धूप बनाकर खेवते हैं वे कर्मरूपी ईंधनको भस्म कर डालते हैं ॥२०२॥ जो गृहस्थ आम, केला, नारियल, सुपारी आदि फलोंको भगवानके सामने समर्पण करते हैं वे इच्छानुसार फलको प्राप्त होते हैं ॥ २०३ ॥ जो गृहस्थ भगवान जिनेंद्रदेवपर पुष्पांजलि क्षेपण करते हैं वे पुष्पवृष्टिसे भरे हुए उत्तम स्वर्गमें जा विराजमान होते हैं ॥ २०४ ॥ इसप्रकार आठ भेदोंसे उत्पन्न हुई महा पूजाके महोत्सवोंसे जो भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं उनके सब तरहकी संपत्ति प्राप्त होती है ॥ २०५ ॥ जो विद्वान् भगवान जिनेंद्रदेवके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं वे प्राप्त हुए उस पुण्य कर्मके उदयसे इंद्रकी विभूति पाकर अनेक देवोंके द्वारा पूज्य होते हैं ॥२०६॥ भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करनेसे भव्य जीवोंको छहो खंड पृथ्वीसे सुशोभित तथा रत्न और निधियोंसे विभूषित चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त होती है ॥२०७॥ भव्य जीवोंको इस भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजाके प्रभावसे अनंत महिमासे सुशोभित और तीनों लोकोंके स्वामियोंके द्वारा पूज्य ऐसे तीर्थंकर पदकी प्राप्ति होती है ॥ २०८ ॥ भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा किये विना मनुष्योंको भोग और सुखकी प्राप्ति कभी नहीं होती है इसीलिये विद्वान्लोग भगवानकी पूजा सदा किया करते हैं ॥ २०९ ॥ जो उत्तम पुरुष सवेरे, दोपहर और शाम तीनों समय भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं वे तीनों लोकोंमें उत्पन्न होनेवाले समस्त भोगोंको भोगकर मोक्षपदमें जा विराजमान होते हैं ॥ २१० ॥ जो भव्य पुरुष भगवान जिनेंद्रदेवकी एकबार भी उत्तम पूजा कर लेता है वह समस्त सुखोंको पाकर मुक्तिस्त्रीको वश कर लेता है ॥ २११ ॥ यह भगवान जिनेन्द्रदेवकी

लीनालिकेरपूगीफलादिकान् । ढौकयन्ति जिनाग्रे ये लभन्ते फलमीप्सितम् ॥ २०३ ॥ पुष्पाजलिं जिनेन्द्राणा ये क्षिपन्ति गृहाधिपा । पुष्पवृष्टिसमाकीर्णं भजन्ति नाकमुत्तमम् ॥२०४॥ इत्यष्टभेदसजातैर्महापूजामहोत्सवे । अर्चयन्ति जिनेन्द्राश्च तेषा स्यु. सर्वसपद ॥२०५॥ पादपद्मौ जिनेन्द्राणा ये बुधा पूजयन्ति वै । इन्द्रभूतिं शुभात्प्राप्य देवैस्ते यान्ति पूज्यताम् ॥ २०६ ॥ जिनेन्द्रपूजया भव्या लभन्ते चक्रवर्तितान् । षट्खण्डवसुधायुक्ता रत्ननिध्यादिसयुताम् ॥२०७॥ जिनपूजाप्रभावेन सत्तीर्थेशपद नृणाम् । जायते महिमोपेत त्रैलोक्य-पतिपूजितम ॥२०८॥ पूजा विना जिनेन्द्राणा भोगसौख्यादिक सदा । जायते न मनुष्याणा तस्मात्सा क्रियते बुधै· ॥२०९॥ त्रिकालं जिननाथान् ये पूजयन्ति नरोत्तमा । लोकत्रयभव शर्म भुक्त्वा यान्ति पर पदम् ॥२१०॥ जिनाधीशस्य सत्पूजां वारैक यः करोति सः । सुख सार च सलब्ध्वा मुक्तिस्त्रीं च वश नयेत् ॥२११॥ पूजा कल्पद्रुम· पूजा कामधेनुश्च स्यान्नृणाम् । निधिश्चिन्तामणि· पूजा समी-

पूजा मनुष्योंको इच्छानुसार फल देनेवाले कल्पवृक्षके समान है, कामधेनुके समान है, निधिके समान है अथवा चिंतामणी रत्नके समान है ॥ २१२ ॥ जो मूर्ख मनुष्य अष्टद्रव्यसे भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा नही करते उनके हाथ व्यर्थ हैं, उनका जन्म व्यर्थ है और इस लोकमें उनका गृहस्थाश्रम व्यर्थ है ॥ २१३ ॥ यही समझकर विद्वानोंको अपने द्रव्यके अनुसार इसलोक परलोक दोनोंलोकोमें हित करनेवाली भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा नित्य और अवश्य करनी चाहिये ॥ २१४ ॥ भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे जीवोंके असह्य ज्वर, वात, कोढ आदि घोर दुःख देनेवाले रोग सब नष्ट होजाते हैं ॥ २१५ ॥ भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे मनुष्योंके शाकिनी, डाकिनी, भूत, पिशाच, दुष्ट, शत्रु, चोर, कोतवाल, राजा आदिसे उत्पन्न हुए समस्त उपद्रव नष्ट होजाते हैं ॥ २१६ ॥ भगवान तीर्थंकर परमदेवकी पूजा करनेसे वध बंधनसे होनेवाले दुःख तथा सांकल, सर्प विष आदिसे उत्पन्न होनेवाले संसारी मनुष्योंके दुःख सब नष्ट होजाते हैं ॥ २१७ ॥ भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवाले चतुर पुरुषको स्वयंवरमें आई हुई कन्याके समान तीनो लोकोंमें रहनेवाली लक्ष्मी अपने आप आकर स्वीकार कर लेती है ॥ २१८ ॥ जो भावपूर्वक भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करके द्रव्य कमानेके लिये दूसरे गांवोको जाते हैं उनको बहुतसी लक्ष्मी देनेवाला भारी लाभ होता है ॥२१९॥ भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे गृहस्थोंके विवाह आदि समस्त मंगलकार्य निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त होजाते है ॥२२०॥ इसलिये गृहस्थ लोगोंको निर्विघ्नपूर्वक कार्यकी समाप्तिके लिये अथवा पुण्योपार्जन करनेके लिये भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनी चाहिये ॥ २२१ ॥गृहस्थोंको

हितफलप्रदा ॥२१२॥ पूजयन्ति जिनेन्द्रान्न पूजया ये शठाः नराः । हस्तौ व्यर्थौ वृथा जन्म तेषां चात्र गृहाश्रम ॥२१३॥ इति मत्वा बुधैर्नित्य कर्तव्या श्रीजिनेशिनाम् । पूजा द्रव्यानुसारेण चेहामुत्र हितप्रदा ॥२१४॥ जिनानां पूजया रोगा नश्यन्त्येव कुदुःखदा । दुःसहा ज्वरसपत्तिवातकुष्टादयोंगिनाम् ॥२१५॥ शाकिनी गृहदुष्टारिचौरक्षोभनृपादिजाः । उपद्रवाः क्षय यान्ति पुसा श्रीजिनपूजनात् ॥२१६॥ वधवधाद्भवं दुःख शृंखलाहिविषादिजम् । नश्यत्येव नृणां लोके श्रीतीर्थेश्वरपूजया ॥ २१७ ॥ जिनपूजायुतं दक्ष लक्ष्मीः सवरते स्वयम् । भुवनत्रये च सजाता स्वय वरवधूरिव ॥ २१८ ॥ ये जिनार्चा विधायोच्चैर्ग्राम गच्छन्ति भावतः । द्रव्यार्थं जायते लाभस्तेषा बहु रैदायकः ॥२१९॥ निर्विघ्नेन भवन्त्येव मगलानि गृहेशिनाम् । विवाहादिस्वभावानि सर्वाणि जिनपूजया ॥ २२० ॥ तस्मात्पूर्वं गृहस्थैश्च कार्या पूजा जिनेशिनाम् । मंगलादिककार्यादौ निर्विघ्नार्थं शुभाय च ॥२२१॥ इहामुत्र हितार्थाय कर्तव्या गृहनायकैः । सदा पूजा जिनेन्द्राणां

इसलोक तथा परलोक दोनों लोकोंका हित करनेके लिये समस्त कल्याणोंको करनेवाली भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा सदा करते रहना चाहिये ॥ २२२ ॥ जो सम्यग्दृष्टी पुरुष भगवान जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करते हैं वे मेरु पर्वतपर जन्माभिषेक पाकर मोक्षमें जा विराजमान होते हैं—अर्थात् वे तीर्थंकर होते हैं, इसलिये मेरुपर्वतपर उनका जन्माभिषेक किया जाता है और अंतमें वे मोक्ष जाते हैं ॥ २२३ ॥ जो मनुष्य पुण्य उपार्जन करनेके लिये श्री जिनेन्द्रदेवको (उनके भवनमें) घंटा समर्पण करते हैं वे परलोकमें अनेक घंटाओंसे सुशोभित विमानपर चढ़कर गमन करते हैं ॥ २२४ ॥ जो मनुष्य मनोहर जिनभवनमें चंदोवा देते हैं वे अपने पुण्य कर्मके उदयसे एक छत्र महाराज्यका उपभोग करते हैं ॥ २२५ ॥ जो मनुष्य श्री जिनभवनकी शोभा बढ़ानेके लिये उसमें चमर समर्पण करता है वह अनेक ढुलते हुए चमरोंसे शोभायमान स्वर्गके साम्राज्यका उपभोग करता है ॥२२६॥ जो मनुष्य श्री जिनालयमें धर्मोपकरण देते हैं वे भवभवमें भोगोपभोगके उपकरण (साधन) प्राप्त करते हैं ॥ २२७ ॥ मनुष्योंको सिद्धांत ग्रंथोंका उद्धार करनेके लिये अवश्य द्रव्य प्रदान करना चाहिये। क्योंकि सिद्धांतोंका उद्धार करनेसे ही मनुष्योंका ज्ञान या सुख आदि सब सफल गिना जाता है ॥ २२८ ॥ धनाढ्य पुरुषोंको पुण्य उपार्जन करनेके लिये चारों प्रकारके संघको यथायोग्य रीतिसे चारों प्रकारका दान देना चाहिये ॥२२९॥ गृहस्थोंको अपना पुण्य बढ़ानेके लिये,जिनालयके लिये, जिन प्रतिमाओंके लिये, जिनपूजाका उद्धार करनेके लिये और सिद्धांत ग्रंथोंका उद्धार करनेके लिये अपना धन देना चाहिये ॥ २३० ॥ जो गृहस्थ धर्मकी वृद्धिके लिये ऊपर कहे हुए पुण्यक्षेत्रोंमें दान देता है वह उस पुण्य कर्मके उदयसे परलोकमें अनंत धनको प्राप्त होता है ॥ २३१ ॥ गृहस्थोंको अपना

सर्वाभ्युदयसाधिनी ॥ २२२ ॥ सद्दृष्टय प्रकुर्वन्ति चाभिषेकं जिनस्य ये। जन्मस्नानं च ते प्राप्य मेरौ याति शिवालयम् ॥ २२३ ॥ घंटा श्रीजिनदेवस्य दद्युः सत्पुण्यहेतवे। घंटादि सहितं यानमारूढा हि व्रजन्ति ते ॥२२४॥ दत्ते चन्द्रोपकं यो ना जिनागारे मनोहरे। एकछत्र महद्राज्यं श्रयेत्सोऽपि शुभोदयात् ॥२२५॥ शोभार्थं श्रीजिनागारे दद्युः सच्चामराणि ये। चामरैर्वीज्यमाणं ते नाकराज्यं व्रजन्ति वै ॥ २२६ ॥ धर्मोपकरणान्येव ये ददति जिनालये। भोगोपकरणान्येव ते लभन्ते भवे भवे ॥ २२७ ॥ सिद्धान्तादिसमुद्धारे दातव्यं द्रव्यमञ्जसा। सफलं येन तत्पुंसां भवेज्ज्ञानसुखादिकम् ॥ २२८ ॥ चतुर्विधाय संघाय दानं देयं चतुर्विधम्। द्रव्याढ्येन गृहस्थेन यथायोग्यं शुभाय वै ॥ २२९ ॥ जिनालये च तद्बिम्बे पूजोद्धारादिहेतवे। सिद्धान्तलेखने चापि धनं देयं शुभाप्तये ॥ २३० ॥

दयाधर्म बढानेके लिये दयापूर्वक जो हिंसक वा रुद्रपरिणामी नही है ऐसे दीन और अनाथ लोगोंको अन्नदान अवश्य देना चाहिये ॥ २३२ ॥ जो पुरुष करुणादान नहीं करते उनका मन कठोर होजाता है और मन कठोर हो जानेसे पाप लगता है इसलिये गृहस्थोंको सदा करुणादान देते रहना चाहिये ॥ २३३ ॥ उत्तम पुरुषोंको बावडी, कूआ और तलाव आदि नहीं करना चाहिये क्योंकि इनके बनवानेमें महा हिंसा होती है और इनसे संसारमें सदा पाप उत्पन्न होते रहते हैं ॥२३४॥ कूआ खोदनेवाला कारीगर जिसप्रकार नीचे ही नीचेको चलता जाता है उसी प्रकार उसका खुदानेवाला अज्ञानी पुरुष भी सातवें नरक तक नीचे ही नीचे चला जाता है ॥ २३५ ॥ जिसप्रकार चैत्यालयके बनवानेमें उसके बनवाने वालेको सदा पुण्यकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार कूआमें भी सदा जीवोंकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है इसलिये उनके बनवानेवालोंको भी सदा ही पापकी प्राप्ति होती रहती है ॥ २३६ ॥ तलावोंमें बडे बडे मगरमच्छ छोटी छोटी अनेक मछलियोंको खा जाते है, बगला, बाज, चकवा चकवी आदि अनेक पक्षियोका समुदाय मछलियोंकी हिंसा करते रहते हैं, और अनेक शिकारी आ आकर मछलियोंके लिये जाल फैलाते है । इन सब कामोसे महा हिंसा होती है ॥२३७–२३८॥ यही समझकर अहिंसाव्रतकी रक्षा करनेके लिये पापोंसे डरनेवाले श्रावकोंको पाप उत्पन्न करनेवाले बावडी कूआ तलाव आदि कभी नही बनवाना चाहिये ॥ २३९ ॥

हे भव्य! मुनियोके लिये आहारदान देना समस्त सुखोंका निधि है, समस्त भोग उपभोगकी खानि है, स्वर्गादिक निर्मल गतियोंको देनेवाला है, स्वर्गकी सीढी है.नरकरूपी घरको बंद करनेके लिये किवाड है, अपने और दूसरोंके लिये

इत्युक्तेतिसुक्षेत्रे यो दान दद्यादवृषाप्तये । परलोके श्रयेत्सोपि सख्यातीत धन शुभात् ॥ २३१ ॥ दीनानाथमनुष्येऽभ्यो प्रारौद्रेभ्यो गृहान्विते । अन्नदान च दातव्य कृपयाति दयाप्तये ॥ २३२ ॥ कृपादान न कुर्वन्ति ये तेषा कठिन मन । स्यादतो जायते पापं तस्माद्देय हि तत्सदा ॥ २३३ ॥ वापीकूपतडागादि सर्वं कार्यं न सन्नरे । महाहिंसाकर लोके नित्य दुरितदायकम् ॥ २३४ ॥ कूपादिखननात्शिल्पी यथाऽधो याति निश्चितम् । तद्वत्तत्कारको मूढो यावत्श्वभ्र च सप्तकम् ॥२३५॥ यथा चैत्यालये पुण्य नित्यं तत्कारिणां भवेत् । तथा कूपादिके पाप जीवोत्पत्तिविनाशतः ॥२३६॥ तडागेति महामत्स्य प्राप्ति मीनलघून् बहून् । वकसारससवश्च चक्रवाककद वकम् ॥२३७॥ आखेटिनः समागत्य तत्र जाल क्षिपन्ति भो । मत्स्यार्थं ततस्तेभ्यो महाहिंसा प्रवर्तते ॥२३८॥ इति मत्वा न कर्तव्य सर्वं

सुखका कारण है और सबसे सुंदर वा उत्तम है इसलिये हे भव्य ! तू मुनिराजोंके लिये सदा आहारदान दे ॥ २४० ॥ इसीप्रकार मुनियोंके लिये औषधदान देना मुनियोंके लिये सुखका कारण है, रोगरूपी हाथीको मारनेके लिये सिंहके समान है, निर्मल गुणोंका समुद्र है और अनंत सुखका घर है, इसलिये हे भव्य तू धर्मकी सिद्धिके लिये रोगी मुनियोंको सार-भूत और प्रासुक औषधि दे, अर्थात् औषधदान कर ॥२४१॥ आहारदान और औषधिदानके समान ज्ञानदान भी मोक्ष-महलमें पहुंचानेका कारण है, समस्त जीवोंका उपकार करनेवाला है, तीनो लोकोंके स्वामी तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं, यह समस्त तत्त्वोंको प्रगट करने–दिखलाने लिये दीपक है, पापरूपी अंधेरेको दूर करनेके लिये सूर्य है और धर्म-रूपी वृक्षकी जड़ है, इसलिये हे विद्वन् ! श्रुतज्ञानको प्राप्त करनेके लिये तू मुनियोंके लिये ज्ञानदान दे ॥ २४२ ॥ भगवान जिनेन्द्रदेवका जिनभवन धर्मकी खानि है, धर्मकी वृद्धि करनेवाला है, स्वर्ग मोक्षका कारण है, मुनिराज भी इसकी सेवा करते है (वंदना करते हैं) और यह जिनालय एक निधानके समान है। ऐसे जिनालयको जो विद्वान्‌लोग बनवाते हैं वे संसारमें वंदना करने योग्य हैं। उन्होंने अपनी बुद्धिको परलोककी सिद्धिमें ही लगा रक्खा है। ऐसे लोग उस इकठे किये हुए धर्मके प्रभावसे सुख देनेवाले अच्युत स्वर्गके राज्यको पाकर मोक्षमें जा विराजमान होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है ॥२४३॥ भगवान जिनेन्द्रदेवका प्रतिबिंब भी संसारभरमें पूज्य है, सदा पूजनीय है और श्रेष्ठ पुण्यका घर है, इसलिये जो भव्य पुरुष ऐसे महा सुंदर जिनबिंबका निर्माण कराते हैं, जिनप्रतिमा बनवाते है वे अनेक सुखोंको भोगकर अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ २४४ ॥ भगवान जिनेन्द्रदेवकी प्रतिष्ठा कराना सबमें सारभूत है, निर्मल गुणोंकी खानि है, श्रेष्ठ धर्मकी एक मात्र पृथ्वी

कूपादिकं क्वचित् । अहिंसाव्रतरक्षार्थं पापभीतैरघप्रदम् ॥ २३९ ॥ सकलसुखनिधानं सर्वभोगैकखानिं, विमलगतिकरं वै स्वर्गसोपानभूतम् । नरकगृहकपाटं स्वान्ययोः सौख्यहेतुं । सुभग ! सुमुनये त्वं पात्रदानं ददस्व ॥ २४० ॥ मुनिजनसुखहेतुं रोगमातंगसिंहं, विमलगुणसमुद्रं प्रासुकं धर्मसिद्ध्यै । मनुज हि यतये त्वं रोगग्रस्ताय सारं, प्रचुरसुखसुगेहं स्वौषधं वै ददस्व ॥२४१॥ शिवगतिगृहमार्गं सर्वलोकोपकारं, त्रिभुवनपतिसेव्यं विश्वतत्त्वप्रदीपं । दुरिततिमिरसूर्यं धर्मवृक्षस्य कन्दं, बुध ! कुरु श्रुतप्राप्त्यै ज्ञानदानं मुनिभ्यः ॥२४२॥ ये कुर्वन्ति जिनालयं बुधजना धर्माकरं धर्मदं, स्वर्मोक्षैकनिबंधनं यतिजनैः सेव्यं निधानोपमम् । ते बद्धा परलोकसाधनधियः प्राप्याच्युतं शर्मदं, राज्यं चानुव्रजन्ति मोक्षमतुलं धर्मोदयान्निश्चितम् ॥२४३॥ कुर्वन्ति बिम्बं भुवनैकपूज्यं, जिनेश्वराणां सुसमर्चनीयम् । सत्पुण्यगेहं च महा-

है अर्थात् श्रेष्ठ धर्मकी उत्पत्ति प्रतिष्ठासे ही होती है, यह असंख्यात लोगोंको पुण्य कर्मोका उपार्जन करानेवाली है और अनंत सुख देनेवाली है इसलिये जो विद्वान् जिनप्रतिमाकी प्रतिष्ठा कराते हैं वे संसारमें धन्य है और वे ही सुंदर हैं। ऐसे लोग श्रेष्ठ मोक्ष मार्गरूप धर्मकी वृद्धि करनेके कारण तीनों लोकोंमें उत्पन्न होनेवाली और अपरिमित सुख देनेवाली लक्ष्मीका उपभोगकर अंतमें अनंत सुखकी निधि ऐसे मोक्षस्थानमें जा विराजमान होते हैं ॥ २४५ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें चारोप्रकारके दानके स्वरूपको
वर्णन करनेवाला यह वीसवा परिच्छेद समाप्त हुआ।

अथ इक्कीसवां परिच्छेद।

जिन्हें समस्त शत्रुमंडल भी नमस्कार करता है और जो धर्मरूपी अमृतको वरसानेके लिये महामेघके समान हैं ऐसे श्री नमिनाथ जिनेन्द्रदेवको मैं सुखकी प्राप्तिके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ जो बुद्धिमान् पांचों अतिचारोंका त्यागकर मुनिराजके लिये आहारदान देता है वह तीनों लोकोंके भोगोंका अनुभव कर अन्तमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥ २ ॥

प्रश्न—हे भगवन् ! कृपाकर मेरे लिये उन अतिचारोंका निरूपण कीजिये।

उत्तर—हे मित्र ! सुन, मैं दानमें मल उत्पन्न करनेवाले उन अतिचारोंको कहता हूं ॥ ३ ॥ सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, अनादर, मत्सर और कालातिक्रम ये पांच दानमें दोष उत्पन्न करनेवाले अतिचार हैं ॥ ४ ॥ जो कमलपत्र

स्वरूप, भुक्त्वा सुखं तेऽपि व्रजन्ति मोक्षम् ॥२४४॥ ये कुर्वन्ति जिनेशिनां सुविमलां सारां प्रतिष्ठां बुधाः । सद्धर्मैकधरामसंख्यजनसत्पुण्यप्रदां सौख्यदाम् । ते धन्याः सुभगाः श्रियं सुखकरां लब्ध्वा त्रिलोकोद्भवां, पश्चाद्यान्ति शिवालयं सुखनिधिं सद्धर्मसंवर्द्धनात् ॥२४५॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे चतुर्विधदानप्ररूपको नाम विंशतितमः परिच्छेदः।

अथैकविंशतितमः सर्गः।

नमिनाथं जिनाधीशं नमिताशेषविद्विषम्। धर्मामृतमहामेघं नमस्यामि सुखाप्तये ॥१॥ पंचातिचारसंत्यक्तं मुनिभ्यो यो ददाति सः। अन्नदानं शिवं याति प्राप्य भोगं त्रिलोकजम् ॥२॥ भगवन् ! मे व्रतोपातान् दयां कृत्वा निरूपय। वक्ष्येऽहं शृणु ते मित्र ! दोषान्

आदि सचित्त पदार्थोंपर मुनिराजके लिये देनेयोग्य प्रासुक आहार रखता है उसके सचित्तनिक्षेप नामका अतिचार लगता है ॥ ५ ॥ जो पुरुष मुनिराजके लिये देनेयोग्य दानको कमलपत्र आदि सचित्त पदार्थसे ढकता है उसके सचित्तापिधान नामका अतिचार लगता है ॥ ६ ॥ जो उत्तम पात्रोंके लिये विना आदर सत्कारके दान देता है उसके पाप उत्पन्न करनेवाला अनादर नामका अतिचार लगता है ॥ ७ ॥ जो पुरुष अन्य दाताओंके दानसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंको सहन नहीं कर सकता है उसके मत्सर नामका अतिचार लगता है ॥ ८ ॥ जो घरमें पात्रको स्थापन करके प्रमादके कारण योग्य कालको उल्लंघन कर दान देता है उसके कालातिक्रम नामका अतिचार लगता है ॥ ९ ॥ जो पुरुष सदा दोषोंको छोडकर महापात्रोंके लिये उत्तम दान देता है उसके सब मनोरथ फलीभूत होते हैं ॥१०॥ जो विद्वान् सुपात्रोंके लिये चारों प्रकारका महादान देता है वह इसलोक और परलोक दोनों लोकोंके सुख भोगकर अंतमें मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन ! चारो प्रकारके दान देनेसे जिन्होने बहुत अच्छा सुख प्राप्त किया है उनकी कथा कृपाकर कहिये ॥ १२ ॥

उत्तर—हे महाभाग ! सुन मैं श्री शांतिनाथस्वामीकी महा पुण्य उत्पन्न करनेवाली कथा कहता हूं ॥१३॥ आहारदान देनेमें राजा श्रीषेण तीनो लोकोंमें प्रसिद्ध हुए हैं इसलिये मैं उनकी पुण्य उत्पन्न करनेवाली कथा संक्षेपसे कहता हूं ॥१४॥

दानमलप्रदान् ॥३॥ स्याता सचित्तनिक्षेपपिधाने स्यादनादर । मत्सरत्व च कालातिक्रमो दानस्य दोषत. ॥ ४ ॥ विचित्रपद्मपत्रादावन्न सस्थापयेन्नरः । प्रासुकस्यैव वा मध्ये पुण्यार्थं सोपि त श्रयेत् ॥ ५ ॥ पत्रादिनापि य· कुर्यादन्न यतेश्च हेतवे । आच्छादन श्रयेत्सोपि दोष लोके पिधानकम् ॥ ६ ॥ आदरेण विना दान सत्पात्राय ददाति यो । दानस्यानादरो दोषो जायते तस्य पापतः ॥ ७ ॥ अन्येषां योऽपि दातॄणा गुणदानसमुद्भवम् । सहते नैव तद्दोष भजते दानमदान्वित. ॥ ८ ॥ स्थापयित्वा गृहे पात्रं दत्ते दान प्रमादतः । योग्यकाल परित्यज्य स कालातिक्रमो भजेत ॥९॥ दूरीकृत्य जनो दोषान्सर्वान् दान ददाति य । महापात्राय प्राप्नोति मनोऽभीष्ट फल स वै ॥१०॥ चतुर्विध महादान दत्ते पात्राय यो वुध । इहाऽमुत्र सुख भुक्त्वा क्रमायाति शिवालयम् ॥११॥ चतुर्विधमहादानात्प्राप्त यैश्च सुख शुभम् । दक्षैस्तेषा कथा स्वामिन् ! कथयस्व ममादरात् ॥ १२ ॥ श्रृणु त्व भो महाभाग ! कथयामि कथां तव । महापुण्यकराद्दानाज्जाता शान्तिभवादिजाम् ॥ १३ ॥ श्रीषेणो यो नृपो ख्यातो दाने लोकत्रये भवेत् । कथा तस्य प्रवक्ष्यामि सक्षेपेण शुभप्रदाम् ॥ १४ ॥ मलयाख्ये

मलय नामके शुभदेशमें रत्नसंचयपुर नामके नगरमें अनेक गुणोका घर धीरवीर दाता ऐसा श्रीषेण नामका राजा राज्य करता था ॥ १५ ॥ उस राजा श्रीषेणके पुण्यके प्रभावसे सिंहनंदिता और अनिंदिता नामकी दो रानी थीं जो कि हाव भाव आदि समस्त गुणोसे सुशोभित थीं ॥ १६ ॥ उनके इंद्र और उपेंद्र नामके दो पुत्र थे जो अत्यंत चतुर थे, शास्त्रोंके जानकार थे और दान पुण्य करनेमें निपुण थे ॥ १७ ॥ उसी नगरमें एक सात्यकी नामका ब्राह्मण रहता था उसकी ब्राह्मणीका नाम जंबू था, उनके रूप और गुणोंसे सुशोभित सत्यभामा नामकी पुत्री थी ॥ १८ ॥ इधर पाटलिपुत्र नामके नगरमें रुद्रभट्ट नामका ब्राह्मण रहता था। वह विद्वान था और ब्राह्मणोंके पुत्रोंको पढाया करता था ॥ १९ ॥ उसके घरमें कपिल नामका उसकी दासीका पुत्र रहता था। वह उन पाठोंको सुनते सुनते सब शास्त्रोंका पारगामी होगया था ॥ २० ॥ उस दासीपुत्रको शास्त्रोंका पारगामी होता देखकर रुद्रभट्टने अपने घरसे निकाल दिया। तब उसने यज्ञोपवीत और उत्तरीय (जनेऊ, दुपट्टा आदि) आदि वस्त्र पहिनकर ब्राह्मणका भेष धारण किया तथा मिथ्याज्ञानमें तत्पर रहनेवाला वह कपिल इसप्रकार कपट धारण कर रत्नसंचयपुरमें पहुंचा ॥ २१-२२ ॥ वहांपर उसे सात्यकी ब्राह्मणने देखा उसे रूपवान् तथा वेदका पारगामी जानकर अपने घर ले आया और सत्यभामा नामकी शुभ और सती कन्या उसे व्याह दी ॥२३॥ रात्रिके समय सत्यभामाने उसका अच्छा व्यवहार न देखकर हृदयमें खेद माना और एक प्रकारसे निश्चयसा कर लिया कि यह उत्तम कुलीन नहीं है ॥ २४ ॥ किसी एक समय रुद्रभट्ट ब्राह्मण तीर्थयात्राके लिये परिभ्रमण करता हुआ उसी

शुभे देशे रत्नसचयसत्पुरे। नृपः श्रीषेणनामाभूद्धीरो दाता गुणैकभृ ॥ १५ ॥ तस्य राज्ये शुभे सिंहनिन्दितानिन्दिते वरे। स्याता पुण्यप्रभावेन हावभावविभूषिते ॥ १६ ॥ तयोः पुत्रौ समुत्पन्नाविन्द्रोपेन्द्रौ सुलक्षणौ। दक्षौ शास्त्रविचारज्ञौ दानपुण्यादिसंयुतौ ॥१७॥ सात्यकाख्यो भवेत्तत्र विप्रो जबूश्च ब्राह्मणी। सत्यभामा तयोः पुत्री जाता रूपगुणान्विता ॥ १८ ॥ पुरे पाटलिपुत्राख्ये रुद्रभट्टो द्विजो वसन्। पापदान् द्विजपुत्राणा वेदान् पाठयति क्रमात् ॥ १९ ॥ तदीय चेटिकापुत्रः कपिलाख्यो मतेर्बलात्। शृण्वानः कर्णसंघातान् जातस्तत्पारगोऽचिरात् ॥ २० ॥ रुद्रभट्टेन स तस्मात्पुरान्निर्घाटितो हठात्। सोत्तरीय च यज्ञोपवीत व स्त्रादिक दधौ ॥ २१ ॥ विप्रवेष समादाय स रत्नसचयाभिधे। पुरे कपटसंयुक्तो गतः कुज्ञानतत्परः ॥ २२ ॥ दृष्ट्वाशु सात्यकिस्तं च सुरूप वेदपारगम्। नीत्वा गृह-मदात्तस्मै सत्यभामा सतीं शुभाम् ॥२३॥ रतिकाले समालोक्य विट्चेष्टा कुकाकजाम्। विषाद विदधे सा न कुलजोऽयं भविष्यति ॥२४॥

रत्नसंचयपुरमें आ पहुंचा जहां कि कपिल ब्राह्मण रहता था ॥ २५ ॥ कपिलने देखते ही उसे नमस्कार किया और अपने घर लेजाकर भोजन कराकर तथा वस्त्र आभूषण देकर उसका खूब ही आदर सत्कार किया ॥ २६ ॥ उस मूर्ख कपिलने अपनी स्त्री और समस्त लोगोंके सामने उसीसमय स्पष्ट शब्दोंमें कह सुनाया कि ये मेरे पिता हैं ॥२७॥ किसी एक दिन सत्यभामाने रुद्रभट्टको बहुत ही उत्तम भोजन खिलाया और उसे बहुतसा सुवर्ण देकर तथा उसके पैरों पड़कर कपिलका कुल पूछा ॥२८॥ तब रुद्रभट्टने सच बात कह दी और कह दिया कि हे पुत्री ! यह कपिल नामका तेरा पति मेरी दासीका पुत्र नीच ब्राह्मण है ॥२९॥ इस बातको सुनकर वह अपने मनमें बड़ी विरक्त हुई और विचार करने लगी कि विष मिला भोजन खा लेना अच्छा, परंतु हीनकुल मनुष्यके साथ रहना अच्छा नहीं ॥ ३० ॥

तदनन्तर उसने उस दुष्टका त्याग कर दिया और अपने शीलभंग होनेके भयसे वह महाराज श्रीषेणकी रानी सिंहनंदिता तथा अनिंदिताके शरणमें जा पहुंची ॥ ३१ ॥ सिंहनंदिताने उसे अपनी धर्मपुत्री मानकर रक्खा। इसप्रकार दान पूजा आदि कार्योंको करती हुई वह सत्यभामा वहां रहने लगी ॥ ३२ ॥ किसी एक दिन ध्यान और अध्ययनमें तत्पर रहनेवाले दो चारण मुनिराज आहारके लिये महाराज श्रीषेणके घर पधारे ॥ ३३ ॥ उन्हें देखते ही महाराजने उन्हें स्थापन किया और उनके चरणकमलोंको नमस्कार किया। उन दोनों मुनिराजोंमें अर्ककीर्ति बड़े थे और अमितगति छोटे थे ॥ ३४ ॥ तदनन्तर भक्ति करनेमें तत्पर रहनेवाले महाराज श्रीषेणने उन दोनों मुनिरा-

एकदा रुद्रभट्टश्च तीर्थयात्रा परिभ्रमन् । समायात पुरे तत्र यत्र स्यात्कपिलो द्विज ॥ २५ ॥ कपिलेन नमस्कार कृत्वा नीत स्वमन्दिरे। भोजन कारयित्वा स दत्त वस्त्रादि भूषणम् ॥ २६ ॥ भार्यायाश्च लोकादीनामग्रेऽपि कथित स्फुटम् । मदीयोऽयं पिता व्यातन्येन मूढेन तत्क्षणम् ॥ २७ ॥ विशिष्ट भोजन दत्वा बहु स्वर्ण च तस्य वै । लगित्वा पादयो पृष्ट कपिलस्य कुल तया ॥ २८ ॥ ततस्तेन स्वग सत्यमुक्त पुत्रि ! तव प्रिय । मदीयश्चेटिकासूनु कपिलोय द्विजोत्तम ॥ २९ ॥ तदाकर्ण्य विरक्ता सा चिंतयामास मानसे । वर भुक्त विषान्न च नर हीनकुलजनम् ॥३०॥ ततस्त्यक्त्वापि त दुष्ट शीलभगभयाद् द्रुतम् । सिंहादिनिंदितादेव्याः प्रविष्टा शरण च सा ॥३१॥ तया सा प्रतिपन्ना सा धर्मपुत्री शुभोदयात् । सत्यभामा स्थिता तत्र दानपूजादि सयुता ॥३२॥ एकदा तद्गृहे धीरावागतौ चारणौ मुनी। आहारार्थं जगत्पूज्यौ ध्यानाध्ययनतत्परौ ॥३३॥ दृष्ट्वा तौ स्थापितौ राज्ञा प्रणम्य चरणद्वयम् । अर्ककीर्तिर्मुनिर्ज्येष्ठश्चामितादिगति लघु

जोंको विधि-पूर्वक उत्तम आहार दिया ॥ ३५ ॥ जिसप्रकार महाराज श्रीषेणने वह आहारदान देकर महापुण्य उपार्जन किया उसीप्रकार उस दानकी अनुमोदना करनेके कारण दोनों रानियोंने और सत्यभामाने भी पुण्य उपार्जन किया ॥३६॥ उस दानके फलसे राजा श्रीषेण अपनी दोनों रानियोंके साथ उत्तम भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ। तथा ब्राह्मणी सत्यभामा भी आहारदानकी अनुमोदना करनेसे और उसके पुण्यके फलसे उसी उत्तम भोगभूमिमें आयी हुई ॥३७–३८॥ वहांपर वस्त्रांग गृहांग, माल्यांग, भूषणांग आदि सब तरहके कल्पवृक्ष थे, उनके कारण अपनी इच्छानुसार, उपमा रहित, स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले, समस्त इंद्रियोंको प्रसन्न करनेवाले और समान प्रेम उत्पन्न करनेवाले भोग अपने पुण्य कर्मके उदयसे भोगने लगे इसप्रकार दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए दश प्रकारके भोग विना किसी रोग क्लेश आदि बाधाओंके उन्होने तीन पल्य तक भोगे थे ॥ ३९–४१ ॥ इसप्रकार सुखपूर्वक अपनी आयु पूरीकर राजा श्रीषेणके जीवने अनेक महा ऋद्धियोसे सुशोभित देवोकी विभूति पाई और इसप्रकार देव और मनुष्योंके उत्तम उत्तम सुख भोगकर अपने उस भवसे बारहवें शुभ भवमें शांतिनाथ तीर्थंकर हुए। उस पात्रदानके पुण्यसे उन्हें तीर्थंकर चक्रवर्ती और कामदेवका पद प्राप्त था ॥ ४२–४३ ॥ इस दानके ही प्रभावसे वैश्यकुलको सुशोभित करनेवाला सुकेतु देवोंसे भी अजेय हुआ था अर्थात् उसे देव भी नहीं जीत सकते थे तथा उसनें अनेक ऋद्धियोंसे सुशोभित होनेवाले तथा तीनो लोकोंमें प्रसिद्ध ऐसे देवोंके सुख भोगे। तदनन्तर उसने मुक्तिरूपी वधू अपने वशमें की, उसकी कथा चतुर पुरुषोंको पुण्यास्रव पुराणसे जान लेनी चाहिये ॥४४-४५॥

॥३४॥ ततो दत्तो वराहारो मुनिभ्यां विधिवत्स्वयम्। श्रीषेणनरेशेण भक्तितत्परचेतसा ॥३५॥ दानकाले महापुण्य श्रीपेणेन यथार्जितम्। तथा दानानुमोदेन राज्ञीभ्या सत्यभामया ॥ ३६ ॥ तत्फलेन मृतो राजा राज्ञीभ्या सह निश्चितम्। उत्कृष्टभोगभौमौ च सादृशा शुभयोगतः ॥ ३७ ॥ ब्राह्मणी सत्यभामापि तत्र जाता मनोहरा। आर्यादानानुमोदादिजातपुण्यविपाकत ॥ ३८ ॥ सद्वस्त्रगृहसन्मालाभूषणादि समन्वितम्। मनोभिलषितं नित्यं निरौपम्य शुभावहम् ॥ ३९ ॥ सर्वेन्द्रियसमाह्लादकारणं समप्रीतिजम्। पल्यत्रयप्रमाणायुरोग क्लेशादिविच्युतम् ॥ ४० ॥ इष्टं संदशभेदं सत्कल्पद्रुमद्विपचजम्। भुंक्ते तत्र सुखं चायः स्वपुण्यफलपाकत. ॥ ४१ ॥ कालातरेपि परिप्राप्य देवभूति महर्द्धिकम्। भुक्त्वा नृदेवज शर्म स द्वादश भवे शुभे॥ ४२ ॥ क्रमाच्छ्रीशान्तिनाथोऽयं जातस्तीर्थकराह्वय। पात्रदानसुपुण्येन कामदेवश्च चक्रभृत् ॥ ४३ ॥ दानेनैव सुकेत्वाख्यो देवानां दुर्जयोप्यभूत्। अनेकऋद्धिसंयुक्तो विख्यातो यो जगत्रये ॥४४॥

इसीप्रकार अत्यन्त गुणवान वैश्यपुत्र धन्यकुमारको दानसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यके फलसे अनेक प्रकारकी ऋद्धियां प्राप्त हुई थीं, निधियां प्राप्त हुई थी और अनेक प्रकारके भोगोपभोग प्राप्त हुए थे, उस धीरवीरकी कथा भी शास्त्रोंसे जान लेनी चाहिये ॥ ४६–४७ ॥ राजा श्रेयांसने भी श्री वृषभदेव तीर्थंकरको दान दिया था इसलिये वे तीनो लोकोंमें प्रसिद्ध हुए थे। देवोंने उनके घर रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य किये थे और अन्तमें उन्हें मोक्ष पद प्राप्त हुआ था, उनकी कथा आदिपुराणसे जान लेनी चाहिये ॥४८–४९॥ राजा वज्रजंघने भी चारण मुनियोंको आहार दान दिया था इसलिये वे अनुक्रमसे श्री वृषभदेव तीर्थंकर हुए थे। उनकी कथा धर्म और संवेगको प्रगट करनेवाले आदिनाथपुराणमें प्रसिद्ध है, वहांसे जान लेनी चाहिये ॥५०-५१॥ इस दानके प्रभावसे अन्य भी कितने ही मनुष्योंने तथा कितने ही पशुओंने सुख पाया है उन सबकी कथा कौन कह सकता है ॥५२॥ देखो इस दानके ही प्रभावसे भगवान शांतिनाथ तीनो लोकोंके स्वामी व तीनो लोकोंमें पूज्य हुए थे, धर्म तीर्थके कर्ता हुए थे, समस्त गुणोंके समुद्र और मोक्षके अनुपम सुख प्राप्त करनेवाले हुए थे यह पात्र दान अनेक सुखोंका कारण है इसलिये हे मित्र ! तू सदा पात्रदान कर ॥ ५३ ॥

इसप्रकार आहारदानमें प्रसिद्ध होनेवाले श्रीषेणकी कथा कहकर अब औषधि दानमें प्रसिद्ध होनेवाली वृषभसेनाकी कथा कहते हैं ॥ ५४ ॥ जनपद नामके देशके कावेरी नगरमें पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मके उदयसे राजा उग्रसेन राज्य

मुक्तिरामा करे प्राप्तः सद्वैश्यकुलमंडनः । तस्य ज्ञेया कथा दक्षैः शास्त्रे पुण्यास्रवाभिधे ॥४५॥ यो धन्यादिकुमारोऽत्र वैश्यपुत्रो गुणैकभूः । विविधर्द्धिसमायुक्तो संजातो निधिसंयुतः ॥ ४६ ॥ भोगोपभोगसंपन्नो दानपुण्यफलोदयात् । तस्य धीरस्य सज्ज्ञेया कथा शास्त्रे प्ररूपिता ॥ ४७ ॥ श्रेयो नाम नृपो जातो विख्यातो भुवनत्रये । वृषभाय जिनेन्द्राय स्वहस्तेनोपपोषिताय यः ॥ ४८ ॥ दत्वा दानं च संप्राप्य रत्नवृष्ट्यादिकं सुरैः । मुक्तिभर्तुः कथा तस्य ज्ञेया शास्त्रे वृषेशिनः ॥ ४९ ॥ वज्रजंघो नृपो दत्वा चारणाभ्यां सुभावतः । अन्नदानं क्रमादासीदादिनाथोऽपि यो जिनः ॥ ५० ॥ कथा तस्य बुधैर्ज्ञेया विख्याता भुवि कीर्तिता । आदिनाथपुराणेऽपि धर्मसंवेगकारणे ॥५१॥ अन्ये ये बहवः प्राप्ता पशवश्च नराः सुखम् । दानतोऽमुत्र कस्तेषां कथां सगदितुं क्षमः ॥५२॥ त्रिभुवनपतिपूज्यो धर्मतीर्थस्य कर्ता, सकलगुणगरिष्ठः शान्तिनाथो जिनेशः । शिवगतिसुखहेतुर्येन दानेन जातः, कुरु बुध ! सुखबीजं पात्रदानं सदा त्वम् ॥ ५३ ॥ अन्नदानभवा सारा कथा व्याख्याय ते पुनः । वक्ष्ये वृषभसेनायाः कथामौषधदानजाम् ॥५४॥ देशे जनपदाख्ये च कावेरीपत्तने शुभे । उग्रसेननृपो जातः

करता था ॥ ५५ ॥ उसी नगरमें एक धनपति नामका सेठ रहता था और उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था। उन दोनोके अनेक गुणोसे सुशोभित वृषभसेना नामकी पुत्री हुई थी ॥ ५६ ॥ उसकी एक धाय थी जो वड़ी बुद्धिमती थी और रूपवती उसका नाम था। वह वृषभसेनाको स्नान कराया करती थी और वस्त्र पहिनाया करती थी ॥ ५७ ॥ किसी एक दिन जिस गढेमें वृषभसेनाके स्नानका जल भर रहा था उसमें एक रोगी कुत्ता गिर गया। वह उस गढेमें कुछ लोटा पीटा और फिर नीरोग होकर उसमेंसे निकल आया ॥ ५८ ॥ उसे नीरोग होकर निकलते देखकर धायने यह विचार किया कि अवश्य ही इस वृषभसेनाके स्नानका जल रोगोंको दूर करनेका कारण है ॥ ५९ ॥ तव उसने परीक्षा करनेके लिये अपनी माताकी आंखोंपर वह जल लगाया। माताकी आंखें वारह वर्षसे विगड रही थीं वे उस जलके लगाते ही अच्छी होगईं ॥ ६० ॥ तव तो वह सुलक्षणा धाय समस्त रोगोंके दूर करनेमें प्रसिद्ध होगई और सव लोग उसे मानने लगे ॥ ६१ ॥ किसी एक समय राजा उग्रसेनने अपने पिंगल नामके मंत्रीको वडी सेनाके साथ अपने शत्रु राजा मधुपिंगलके साथ युद्ध करनेके लिये उसीके देशमें भेजा, परन्तु मधुपिंगलने वहांके जलोंमें विष डलवा रक्खा था इसलिये सेनाके सव लोग एक प्रकारके ज्वरसे रोगी होगये ॥ ६२–६३ ॥ वे लोग वहांपर ठहर नहीं सके इसलिये लौटकर चले आए और रूपवती धायके द्वारा उसी वृषभसेनाके स्नानके जलसे अच्छे होगये ॥ ६४ ॥ तव क्रोधित होकर राजा उग्रसेन स्वयं युद्ध करनेके लिये गया और उसीप्रकार रोगी होकर तथा युद्ध करनेमें असमर्थ होकर लौट आया ॥ ६५ ॥ राजाने उस जलकी वात

पूर्वोपार्जितपुण्यत ॥ ५५ ॥ श्रेष्ठी धनपतिस्तत्र धनश्रीर्वल्लभा शुभा। तयोर्वृषभसेनाख्या पुत्री जाता गुणान्विता ॥ ५६ ॥ तस्या रूपवती नाम धात्री शुद्धिसमन्विता। स्नानाञ्जनान्नसद्वस्त्रै· पोषिका स्याच्छुभोदयात् ॥५७॥ एकदा स्नानगर्तायां पुण्याद्रोगाढ्य कुर्कुर·। पतित्वा च लुठित्वापि त्यक्तरोगो वभूव वै ॥५८॥ त्यक्तरोग हि त दृष्ट्वा श्वान सचिंतित तया। पुत्रीस्नानजल चात्र भवेदारोग्यकारणम् ॥५९॥ तया तेन परीक्षार्थं धौते मातुर्ध्यलोचने। द्वादशाब्दमहाव्याधिग्रस्ते जाते शुभे स्वयम् ॥६०॥ ततो जाता प्रसिद्धा सा धात्रीलोके सुलक्षणा। सर्वामयविनाशेषु मान्या सर्वजनैस्तथा ॥ ६१ ॥ एकदाप्युग्रसेनेन मत्री पिगलसज्ञकः। वहुसैन्यसमायुक्तः प्रेषित· शत्रुशान्तये ॥६२॥ मेघपिंगलराज्यस्य देशे यावत्स्थितस्य सः। तावज्ज्वरेण सग्रस्तो विषोदकप्रसेवनात् ॥ ६३ ॥ तत्र स्थातुमशक्तोपि ततो व्याघुट्य चागत। रूपवत्याशु नीरोगी कृतस्तेन जलेन सः ॥६४॥ उग्रसेनो महाकोपादागतस्तत्र तथा ज्वरी। भूत्वा पुन समायातोऽसमर्थ· सगरा-

जल मंगवाया ॥ ६६ ॥ तब वृषभसेनाकी
मंत्रीके मुखसे स्वयं सुनी और फिर रूपवती धायसे वह रोगोंको दूर करनेवाला
माता धनश्रीने सेठसे कहा कि पुत्रीके स्नानका जल राजाके मस्तकपर किसप्रकार डालना चाहिये जरा इसका भी तो विचार
कीजिये ॥ ६७ ॥ तब सेठने उत्तर दिया कि यदि महाराज जलकी बात पूछेंगे तो सच बात ज्योंकी त्यों कह दी जायगी
फिर इसमें कोई दोष नहीं है ॥ ६८ ॥ तदनन्तर वह राजा उस वृषभसेनाके स्नानके जलसे नीरोग होगया। तब राजाने
रूपवतीसे उस जलके माहात्म्यकी बात पूछी ॥ ६९ ॥ रूपवतीने सब बात ज्योंकी त्यों कह सुनाई। तब राजाने सेठको
बुलाया, उस कन्याकी बड़ी प्रशंसा को और फिर अपने साथ विवाह करनेके लिये मांगी ॥ ७० ॥ इसके उत्तरमें सेठने
कहा कि हे महाराज ! यदि आप अष्टाह्निकाके दिनोंमें जिनालयमें जाकर भगवान अर्हंतदेवकी पूजा कर, पिंजड़ों रहनेवाले
सब पक्षियोंको छोडदें और अपने कारागारसे (जेलसे) सब मनुष्योंको छोडदें तो मैं आपके लिये उस कन्याको देसकता
हूं ॥ ७१–७२ ॥ महाराज उग्रसेनने यह सब स्वीकार कर उसके साथ विवाह कर लिया और उसे पट्टरानी बनाया।
प्रेमके कारण वह वृषभसेना राजाकी बहुत ही प्यारी होगई थी ॥ ७३ ॥ विवाहके समय राजा उग्रसेनने जब सबको छोडा
था तब भी बनारसके राजा पृथ्वीचन्द्रको नहीं छोडा था ॥ ७४ ॥ पृथ्वीचन्द्रकी रानीका नाम नारायणदत्ता था, उसने
अपने पतिको छुडानेके लिये मंत्रियोंसे सलाह लेकर रानी वृषभसेनाके नामसे बनारसमें बहुतसे उत्तम उत्तम सत्कार घर

दिके ॥६५॥ जलवार्ता समाकर्ण्य राज्ञा मन्त्रिमुखात्स्वयम्। तज्जल याचित धात्र्या पार्श्वे व्याधिविनाशनम् ॥६६॥ ततो धनश्रिया प्रोक्त
पुत्रीस्नानजल कथम्। क्षिप्यते मस्तके राज्ञः श्रेष्ठस्त्व हि विचारय ॥६७॥ स आह जलवार्ता स नृपो यदि च पृच्छति। कथनीय तदा
सत्य दोषो नास्ति कदाचन ॥६८॥ ततस्तया जलेनैव नीरोगी स कृतो नृप.। राज्ञा नीरस्य माहात्म्य पृष्टा रूपवती तदा ॥६९॥ निरू-
पित तया सत्य राज्ञा श्रेष्ठी समाह्वित। विधाय गौरव कन्या परिणेतु स याचितः ॥ ७० ॥ ततः सच्छ्रेष्ठिना प्रोक्त यदि राजन् ! करोषि
वे। अष्टाह्निकीं महापूजा बिम्बाना श्रीजिनालये ॥७१॥ पञ्जरस्थान् खगान् सर्वान् मनुष्यांश्चैव मुंचसि। कारागारात्तदा तेऽह ता ददामि
न चान्यथा ॥७२॥ उग्रसेनेन तत्सर्व कृत्वा परिणीतां हि सा। पट्टराज्ञी कृता स्नेहाज्जाता तस्यातिवल्लभा ॥७३॥ एकस्मिन् योऽपि
प्रस्तावे वाणारस्या नृपो धृत। आस्तेत्र पृथिवी चन्द्रस्तद्विवाहे न मोचितः ॥७४॥ या नारायणदत्ताख्या तस्य राज्ञी तया सह। मन्त्रीभि-
र्मंत्रितो मन्त्रो मोचनार्थं महीपते ॥७५॥ वाणारस्या तया नित्यं सत्काराः कारिता शुभा। राज्ञी वृषभसेनाया नाम्ना भर्तृविमुक्तये ॥७६॥

वनवाये ॥ ७०—७६ ॥ जो ब्राह्मणादिक उन सत्कारघरोंमें उत्तम भोजनकर कावेरी नगरमें पहुंचे थे उनसे उन सब सत्कार घरोंका हाल रूपवती धायने सुना ॥ ७७ ॥ तब उसने वृषभसेनासे कहा कि तूने वनारसमें अपने नामसे बहुतसे सत्कारघर वनवाये है सो क्या तूने विना मुझसे पूछे ही वनवा डाले ? ॥ ७८ ॥ इसके उत्तरमें पट्टरानी वृषभसेनाने कहा कि वनारसमें मैने कुछ नही वनवाया है, किसी कारणसे मेरे नामसे किसी औरने वनवाये होंगे ॥ ७९ ॥ तब इसकी खोज करनेके लिये रूपवतीने वनारसके लिये बहुतसे गुप्तचर (छिपकर जांच करनेवाले) भेजे और यथार्थ बात जानकर रानीसे सब हाल कह सुनाया ॥ ८० ॥ तब महारानी वृषभसेनाने महाराजसे प्रार्थनाकर उसी समय राजा पृथ्वीचन्द्रको छुडवा दिया ॥ ८१ ॥ वहांसे छूटकर पृथ्वीचन्द्रने एक चित्र वनवाया जिसमें राजा उग्रसेन और रानी वृषभसेनाका चित्र वनवाया और उनके नीचे प्रणाम करते हुए अपना चित्र वनवाया ॥ ८३ ॥ वह चित्र लेजाकर राजा उग्रसेनकी भेट किया और फिर राजा उग्रसेनको नमस्कार कर रानी वृषभसेनाकी बहुत प्रशंसा की ॥ ८४ ॥ राजा उग्रसेनने कहा कि तुम पिंगलको (मेघपिंगलको) पकडकर लाना यह कहकर राजा रानी दोनोंने पृथ्वीचन्द्रको वनारसके लिये बहुत शीघ्र विदा कर दिया ॥ ८५ ॥ पृथ्वीचन्द्रके छूट जानेपर राजा मेघपिंगलने विचारा कि मेरे मर्मको जाननेवाला पृथ्वीचन्द्र आगया है यह सोच समझकर वह स्वयं राजा उग्रसेनके समीप आया और नमस्कारकर उसका सेवक बन गया। राजा उग्रसेनने भी उसका आदर सत्कार किया और हित करनेवाले सामंत पदपर नियुक्त किया ॥ ८६—८७ ॥ राजा उग्रसेनने आज्ञा

ये तेषु भोजन कृत्वा कावेरीपत्तन गता । श्रुत तेभ्यो द्विजादिभ्यो धात्र्या वृत्तान्तमेव तत् ॥ ७७ ॥ तदोक्तं रूपवत्या मां वाणारस्यां खु हे सखे । अपृच्छन्ती हि सत्काराह्वय कारयसि स्वयम् ॥ ७८ ॥ प्ररूपित महिष्याऽह कारयामि स्फुट न तान् । मन्नाम्ना कारितास्तेपि केनापि कारणादिना ॥७९॥ तेषा शुद्धिं कुरु त्व हि धात्र्या चरनरादिभिः। परिज्ञाय यथार्थं तदग्रे राज्या निरूपितम् ॥८०॥ ततो विज्ञाय राजान पृथ्वीचन्द्राभिधो नृपः । मोचितस्तत्क्षणादेव राज्ञ्या वृषभसेनया॥८१॥ तेन सफलके रूपे नृपराज्ञोश्च कारिते । अध. प्रणामसयुक्त निजरूप सुकारितम् ॥ ८२ ॥ नीत्वा चित्रान्वित. सोऽपि फलकस्तेन दर्शितः । तयोः कृत्वा नमस्कारं सद्राज्ञी शसिता मुहु ॥ ८३ ॥ गन्तव्यं हि त्वया मेघपिंगलस्योपरि ध्रुवम्। इत्युक्त्वा प्रेषितस्ताभ्या तूर्णं वाणारसीं प्रति ॥८४॥ तदाकर्ण्य समालोच्य मर्मभेदी ममाप्ययम्। ज्ञात्वेति पृथिवीचन्द्र आगतो मेघपिंगलः ॥८५॥ नमस्कारं विधायोच्चैरुग्रसेन नृपस्य सः । अति सन्मानितो जातः सामतो हितकारकः

दी कि मेरे यहां जो भेट आवेगी तथा जो वस्त्र आभूषण आवेंगे उनमेंसे आधे राजा मेघपिंगलको दिये जांय और आधे रानी वृषभसेनाको दिये जांय। ऐसी व्यवस्था महाराज उग्रसेनने स्वयं करदी ॥ ८७-८८ ॥ किसी एक समय राजाकी भेटमें दो रत्नकंबल आए। राजाने दोनोंपर अलग अलग नाम लिखकर दोनोंको दे दिये अर्थात् वृषभसेनाका नाम लिखकर वृषभसेनाको दे दिया और मेघपिंगलका नाम लिखकर मेघपिंगलको दे दिया ॥ ८९ ॥ किसी एक समय किसी कामके लिये राजा मेघपिंगलकी रानी रूपवतीके (वृषभसेनाकी धायके) घर आई। दैवयोगसे वा पापकर्मके उदयसे वहांपर दोनोंके कंवल परस्पर वदल गये अर्थात् मेघपिंगलका कंवल वहां रह गया और वृषभसेनाका कंवल मेघपिंगलकी रानी ओढ़ गई। सो ठीक ही है, पापकर्मके उदयसे मनुष्योंके क्या क्या विपरीत कार्य नहीं होजाता है ॥ ९०-९१ ॥ किसी समय उस वदले हुए वृषभसेनाके कंवलको ओढकर राजा मेघपिंगल वड़ी प्रसन्नताके साथ राजा उग्रसेनकी राज सभामें आया ॥ ९२ ॥ राजा उग्रसेन उस कंवलपर वृषभसेनाका नाम देखकर वहुत ही क्रोधित हुआ और क्रोधसे उसके नेत्र लाल होगये। अपने आनेसे ही राजाको इसप्रकार क्रोधित देखकर राजा मेघपिंगल वहांसे भाग गया ॥ ९३ ॥ मेघपिंगलको भागता हुआ देखकर राजा उग्रसेनका संदेह और भी वढ गया। उसने वृषभसेनाके समीप आकर उसका कंवल देखा और उसपर मेघपिंगलका नाम देखकर रानी वृषभसेनाको मारनेके लिये अथाह जलसे भरे हुए किसी सागरमें डलवा दिया ॥ ९४ ॥ उस समय रानी वृषभसेनाने प्रतिज्ञा की कि यदि मैं इस उपसर्गसे वचूंगी तो पाप रहित तीव्र तपश्चरण करूँगी ॥९५॥ तदनन्तर वृषभसेनाके व्रतके प्रभावसे, उसके शीलके माहात्म्यसे तथा पुण्यकर्मके उदयसे जलदेवताने आकर

॥८६॥ राज्ञोक्तं हि ममास्थानस्थितस्य प्राभृतं वरम्। यदागच्छति तत्सारं वस्तु वस्त्रादिकं स्फुटम् ॥ ८७ ॥ मेघपिंगलराजस्य तस्यार्द्धं खु ददाम्यहम्। सार्द्धं वृषभसेनाया व्यवस्थेति कृता स्वयम् ॥८८॥ एकदा प्रागतं रत्नकंवलद्वयमेव हि। राजा नामाकितं कृत्वा तयोर्दत्तं पृथक् पृथक् ॥८९॥ प्रावृत्य कंवलं राज्ञी मेघपिंगलसत्पते। गता प्रयोजनेनैव रूपवत्या गृहे स्वयम् ॥९०॥ जातं पापोदयेनैव तत्र कंवलपद्विहं (?)। अघोदयेन जन्तूनां किं किं न स्याद्विरूपकम् ॥९१॥ ततो वृषभसेनाया. कवलं मेघपिंगलः। प्रावृत्य खु समायातः उग्रसेनसभां स्वयम् ॥ ९२ ॥ राजाऽभूच्च तमालोक्य रक्ताक्षोऽतिप्रकोपतः। तथाविधं नृपं दृष्ट्वा नष्टोतो मेघपिंगल. ॥ ९३ ॥ उग्रसेनेन रुष्टेन निक्षिप्ताऽगाधजले वने। राज्ञी वृषभसेनापि मारणार्थं च पापतः ॥९४॥ तदा तया गृहीतेति प्रतिज्ञा चोपसर्गतः। उद्धरिष्यामि चेद् वृत्त

सिंहासन रच दिया तथा और भी प्रातिहार्योंकी रचना कर दी ॥ ९६ ॥ देखो व्रतोंके माहात्म्यसे संसारमें जो कुछ हो सकता है वह सब मनुष्योंको होजाता है। इन व्रतोंके माहात्म्यसे स्वर्गका इंद्र भी दास बन जाता है ॥ ९७ ॥ वृषभसेनाकी यह महिमा सुनकर राजा उग्रसेन पश्चात्ताप करने लगा उसको लेनेके लिये वह स्वयं गया और वचनोंके द्वारा उससे अनेक प्रकारकी क्षमा मांगी ॥ ९८ ॥ वह रानी वृषभसेना आही रही थी कि उसे मार्गके एक वनमें भव्य जीवोंको धर्मोपदेश करनेवाले अवधिज्ञानी श्री गुणधरमुनिके दर्शन हुए ॥ ९९ ॥ रानी वृषभसेनाने उनके चरणकमलोंको नमस्कार किया और समीप बैठकर अपने पहिले जन्मके भव पूछे ॥ १०० ॥ मुनिराज कहने लगे—हे पुत्री ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं तेरे पुण्य–पापको सूचित करनेवाले पहिले भव कहता हूं ॥ १०१ ॥ इसी पुण्यवती नगरीमें तू पहिले एक ब्राह्मणकी पुत्री थी। नागश्री तेरा नाम था। तू राजाके जिनभवनमें झाड़ू बुहारी देनेका काम किया करती थी ॥ १०२ ॥ किसी एक दिन महाराजके उसी जिनभवनमें भीतर मुनिदत्त नामके धीरवीर मुनिराज आकर वायुसे रहित एक गढेमें विराजमान हो गये ॥ १०३ ॥ वे ज्ञानी मुनिराज मौन और कायोत्सर्ग धारण कर पर्यंकासनसे विराजमान होगये ॥ १०४ ॥ झाड़ू देते देते जब वह नागश्री मुनिराजके समीप आगई तब वह मुनिराजसे कहने लगी कि "हे मुनिराज ! उठो उठो, मैं यहां झाड़ू दूंगी, महाराज आते ही होंगे, आप अब दूसरी जगह चले जाइये।" परन्तु मुनिराज न तो कुछ बोले और न हटे, क्योंकि वे तो ध्यानमें लीन थे, वे मौन धारण कर काठके समान अचल विराजमान थे ॥ १०५–१०६ ॥ तब नागश्रीने क्रोधित

करिष्यामि तपोनघम् ॥९५॥ ततो व्रतप्रभावेन जलदेवतया कृतम्। सिंहासनादिसत्प्रातिहार्य तस्या शुभोदयात् ॥ ९६ ॥ यत्प्रासाध्य च यद्दूरं तत्सर्वं जायते नृणाम्। अहो सद्व्रतमाहात्म्यादिन्द्रोऽपि किंकरायते ॥९७॥ तच्छ्रुत्वा नृपतिः पश्चात्तापं कृत्वा स्वय गतः। तामानेतु क्षमा सापि कारिता वचनादिभिः ॥९८॥ आगच्छन्त्या तया दृष्टो मार्गे गुणधराधिपः। वनमध्येऽवधिज्ञानी मुनिर्भव्यप्रबोधकः ॥ ९९ ॥ प्रणम्य चरणौ तस्य पार्श्वे पृष्ट स्व चेष्टितम्। प्राग्भवार्जितपुण्येन भव वृषभसेनया ॥१००॥ मुनिराह वश कृत्वा शृणु देवि मनो निजम्। वक्ष्ये पूर्वभव तेऽहं शुभाशुभसमन्वितम् ॥१०१॥ अत्रैव नगरे पुत्री नागश्रीः स्याद् द्विजस्य वै। सन्मार्जनं करोषि त्वं राज्ञो देवकुले सदा ॥१०२॥ तत्र देवकुले चैकदापराह्णे समागतः। मुनिदत्ताभिधो धीरः प्राकाराभ्यन्तरे मुनिः॥१०३॥ स्थितो निर्वातगर्तायां कायोत्सर्गं विधाय च। मौनं ध्यानसमारूढो ज्ञानी पर्यंकसंयुतः ॥१०४॥ प्रजल्पित त्वया लीकमुत्तिष्ठोत्तिष्ठ भो मुने। सन्मार्जनं करोम्यत्र प्रागत

होकर सब जगहसे झाड़ बुहार कर सब कूडेका ढेर मुनिराजके चारों ओर लगा दिया और उस कूडेसे उस गढेको ढक दिया ॥ १०७ ॥ मुनिराज शरीरसे ममत्व छोडकर मेरुपर्वतके समान निश्चल होकर अपने कर्मोंको नाश करनेके लिये घोर उपसर्ग सहन करने लगे ॥१०८॥ प्रातःकाल ही वहांपर राजा आया। मुनिराजके श्वास लेनेसे वह कूडा कचरा कुछ हिल रहा था, उसे देखकर राजाको कुछ संदेह हुआ और उसने उसी समय कूडा हटाकर मुनिराजको निकाला। उन धीरवीर मुनिराजको देखकर राजाको बहुत ही आश्चर्य हुआ और उसने विचार किया कि ये मुनि बडे ही धीरवीर हैं, इनकी धीर वीरता आश्चर्यके योग्य है ॥१०९-११०॥ नागश्रीने यह देखकर अपनी बडी निंदा की और अपनेको वारवार धिक्कारा। उसका धर्ममें प्रेम वढ गया और मुनिराजके चरणकमलोंमें नमस्कार कर उनसे क्षमा प्रार्थना की ॥ १११ ॥ तदनन्तर मुनिराजका रोग दूर करनेके लिये नागश्रीने उन्हें औषधि दी और भक्तिपूर्वक उन मुनिराजकी बहुत ही वैयावृत्य की ॥ ११२ ॥ वहांसे मरकर तू इस वैश्य कुलमें अत्यन्त रूपवान और पाप-पुण्यके फलको प्रगट करनेवाली वृषभसेना हुई है ॥ ११३ ॥ पहिले जन्ममें तूने मुनिराजको औषधदान दिया था उसके फलसे ही तेरे स्नानके जलमें समस्त रोगोंके दूर करनेकी शक्ति होगई है। तथा मुनिराजकी अवज्ञा की थी इसलिए तू सागरमें फेंक दी गई थी ॥११४॥ देखो इंद्रियोंको तृप्त करनेकी लालसा करता हुआ यह प्राणी इस संसाररूपी समुद्रमें वारवार डूबता और उछलता हुआ अपने किये हुए पुण्य और पापोंका फल सदा भोगता रहता है ॥११५॥ मुनिराजके वचन सुनकर उस वृषभसेनाको कर्मोंको नाश करनेवाला

कटकान्नृप. ॥१०५॥ आगमिष्यति तत्रैव गच्छान्यत्र त्वमेव हि । मुनिर्ध्यानसमालम्ब्य स्थितो मौनेन काष्ठवत् ॥१०६॥ रुष्टया च त्वया तस्योपरि सन्मार्जन कृतम्। पूरयित्वा हि तद्गर्तं कतवाहेण तत्क्षणम् ॥१०७॥ त्यक्तदेहो मुनिस्तत्र स्थितो मेरुरिवाचल. । जित्वा घोरोपसर्गं स स्वकर्मक्षयहेतवे ॥१०८॥ प्रभाते चागतेनैव तत्र क्रीडादिहेतवे । उच्छ्वसितं प्रदेशं तं दृष्ट्वा निच्छ्वसित पुनः॥१०९॥ अभूत्स्वन्यप्रदेशं तं मुनिं निस्सारितो द्रुतम्। राज्ञा कृत्वा महाश्चर्यमहो धीरगुणो मुनि. ॥११०॥ तत कृत्वात्मनो निंदां सद्धर्मस्य रुचिर्मुहुः। गर्हां च मुनिसत्पादौ प्रणम्य च क्षमा त्वया ॥१११॥ पश्चाद्रोगविनाशार्थं दत्त चैवौषध त्वया । वैयावृत्तिं विधायोच्चै मुनये भक्तिपूर्वकम् ॥ ११२ ॥ ततो मृत्वा निदानेन कुले वैश्यसमुद्भवे। इहोत्पन्ना सुरूपा हि त्वं पुण्याघफलान्विता ॥११३॥ सर्वौषधर्द्धिरेवात्र जाता चौषधदानतः। कलङ्कितापि ते निंद्या कतवाहप्रपूरणात् ॥ ११४ ॥ पुण्यपापफलान्येव भुक्ते जीवो भवार्णवे । मज्जनोन्मज्जनं कुर्वन्नित्यं चेन्द्रियलालसः

अत्यन्त दुःख देनेवाले संसार शरीर और भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥ ११६ ॥ तदनन्तर वृषभसेनाने अपने आत्माको संसारके बंधनसे छुडाया, वह मुनिराजके चरणकमलोंको नमस्कार कर उन्हीके समीप अर्जिका होगई और निर्दोष घोर तपश्चरण करने लगी ॥११७॥ इसप्रकार निर्मल औषधिदानके फलसे ही नागश्री अनेक प्रकारके भोगोंको सेवन करनेवाली और अनेक गुणोंसे सुशोभित सेठकी पुत्री और राजाकी पट्टरानी वृषभसेना हुई थी जिसे सर्वोषधि ऋद्धि प्राप्त हुई थी तथा निर्दोष तपश्चरण कर उसने स्वर्गलोककी संपदा प्राप्त की थी इसलिये प्रत्येक गृहस्थको सदा दान देते रहना चाहिये ॥११८॥

इसप्रकार औषध दानमें प्रसिद्ध होनेवाली श्री वृषभसेनाकी कथा कहकर अब शास्त्रदानमें प्रसिद्ध होनेवाले कौंडेश मुनिकी कथा कहता हूं ॥११९॥ इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें धर्म और सुखसे भरपूर एक कुरुमरी नामका गांव था ॥१२०॥ वहांपर एक गोविंद नामका गवालिया रहता था जो कि शुभ परिणामी था। उसने किसी एक दिन एक वृक्षके कोटरमें एक शास्त्रजी देखे ॥१२१॥ उन्हें वह घर ले आया और प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा। कितने दिनके बाद वे शास्त्रजी उसने बडी भक्तिके साथ मुनिराज श्री पद्मनंदिके लिये दे दिये ॥ १२२ ॥ मुनिराज पद्मनंदि आदि कितने ही मुनियोंने वे शास्त्रजी पढ़कर अनेक लोगोंको धर्मोपदेश दिया, लोगोंसे उनकी महापूजा कराई और फिर उन्हें किसी कोटरमें रखकर देशांतरको चले गये। गोपाल उन शास्त्रजीको कोटरमें देखकर फिर प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा ॥ १२३–१२४ ॥ अंतमें वह निदान करके मरा और किसी गांवमें उस गांवके स्वामीके यहां कौंडेश नामका पुत्र हुआ ॥ १२५ ॥ किसी

॥११५॥ श्रुत्वा तद्वचन रागाद्वैराग्य कर्मघातकम्। संसारदेहभोगेषु दुःखशोकविधायिषु ॥११६॥ मोचयित्वा तदात्मान तत्समीपेऽपि सार्यिका। जाता प्रणम्य तत्पादौ ततो कुर्यात्तपोनघम् ॥११७॥ इति विमलसुदानादौषधाद्भोगयुक्ता, अजनि वृषभसेना श्रेष्ठिपुत्री गुणाढ्या। सुवरनृपतिभार्या ऋद्धियुक्ता तपो नु, विमलमपि सुकृत्वा देवलोक गता सा ॥ ११८ ॥ कथामौषधदानस्य व्याख्याय कथयाम्यहम्। कथां श्री श्रुतदानस्य कौंडेशमुनिसभवाम् ॥११९॥ जबूद्वीपे प्रसिद्धेऽस्मिन् क्षेत्रे भरतनामनि। सद्ग्रामं कुरुमर्याख्यं भवेद्धर्मसुखप्रदम् ॥१२०॥ गोविन्दो नाम गोपालो भवेत्तत्र शुभाशयः। दृष्टं तेनैकदा सारं पुस्तक वृक्षकोटरे ॥ १२१ ॥ तदादाय प्रपूज्याशु पश्चाद्दत्त शुभप्रदम्। पद्मनन्दिमुनीन्द्राय भक्तिनिर्भरचेतसा ॥१२२॥ तत्पुस्तकमटव्यां च केचिद्भट्टारकाः जनैः। कारयित्वा महापूजां कृत्वा व्याख्याय प्रत्यहम् ॥१२३॥ धृत्वा तु कोटरे तत्र गतो देशान्तरं ततः। गोपालेनापि तद्दृष्ट्वा कृत्वा पूजा निरन्तरम् ॥ १२४ ॥ गोविंदोपि निदानेन मृत्वा

एक दिन उसे उन्हीं मुनिराज श्री पद्मनंदिके दर्शन हुए और पहिले जन्ममें दिये हुए ज्ञानदानके प्रतापसे मुनिराजको देखते ही उसे जातिस्मरण हो आया ॥ १२६ ॥ उसी समय उसे संसार शरीर और भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने स्वर्ग मोक्षके सुख देनेवाली जिन दीक्षा धारण करली ॥ १२७ ॥ थोडे ही दिनमें ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे बुद्धिमान् और अनेक भव्य जीवोंको धर्मोपदेश देनेवाला वह कौंडेश समस्त श्रुतज्ञानरूपी महासागरका पारगामी हो गया ॥ १२८ ॥ देखो ज्ञानदानके प्रभावसे श्री कौंडेश मुनिराज समस्त श्रुतज्ञानरूपी महासागरके पारगामी होगये थे, समस्त तत्त्वोंके ज्ञाता होगये थे, पूर्ण चारित्रको धारण करनेवाले होगये थे, वे अनेक गुणोंसे विभूषित होगये थे और समस्त संसारमें पूज्य होगये थे ऐसे श्री कौंडेश मुनिराज सदा जयशील हों ॥ १२९ ॥ इसप्रकार ज्ञानदानमें प्रसिद्ध होनेवाले कौंडेशकी कथा कह चुके।

अब वसतिका दानमें प्रसिद्ध होनेवाले शूकरकी कथा कहते हैं ॥ १३० ॥ इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें मालवा देशके घटगांवमें एक देवल नामका भद्र कुम्हार रहता था तथा उसी गांवमें धर्मल नामका महादुष्ट और कुमार्गगामी एक नाई रहता था ॥१३१–१३२॥ उन दोनोंने मिलकर धर्म और कीर्तिकी वृद्धिके लिये तथा पथिकोंके ठहरनेके लिये एक धर्मशाला बनवाई थी ॥ १३३ ॥ किसी एक दिन देवलने वह धर्मशाला किसी मुनिराजके लिये दे दी। वे मुनिराज उसमें आकर धर्मध्यान धारण कर बैठ गये। तदनन्तर धर्मलने एक सन्यासीको लाकर वहां विठा दिया। वहांपर मुनिराजको देख-

ग्रामेऽपि ग्रामकूटस्य कौंडेशाख्यः सुतोप्यभूत्॥१२५॥ एकदा त समालोक्य पद्मनंदिमुनीश्वरम्। जातो जातिस्मर सोऽपि तत्र शुभे दिने। ज्ञानदानप्रभावत ॥१२६॥ तत्क्षण जातसवेगो देहभोगभवादिषु। आददे जिनमुद्रा स स्वर्गमुक्तिसुखप्रदाम् ॥ १२७ ॥ तत पार गतो धीमान् समस्तश्रुतवारिधे। ज्ञानावृत्युदयाभावाद भव्यश्रेणिप्रबोधकः ॥१२८॥ सकलश्रुतसमुद्रे पारमेवाप्त एव, विदितनिखिलतत्वो वृतचरणसमग्रोऽपीह कौंडेश नामा, जयतु भुवनपूज्य सन्मुनीन्द्रो गुणाढ्यः ॥ १२९ ॥ प्रव्याख्याय श्रुतज्ञानफल ज्ञानदानप्रभावात्। वक्ष्ये तत कथाम्। वरा वसतिकाजाता शूकरस्योपमान्विताम् ॥ १३० ॥ जबूपलक्षिते द्वीपे सत्क्षेत्रे भरताभिधे। मालवाख्ये शुभे देशे ग्रामोऽस्ति घटसज्ञकः ॥१३१॥ देविलाख्यो भवेत्तत्र कुम्भकारोऽतिभद्रकः। धर्मिलाख्यो महादुष्टो नापितश्च कुमार्गग ॥ १३२ ॥ ताभ्या प्रकारित देवकुल स्थित्यर्थमेव हि। पथिकादिजनाना च धर्मकीर्त्यादिहेतवे ॥१३३॥ एकदा वसतिर्दत्ता मुनये देवलेन वै। प्रथम तत्र

कर धर्मल और सन्यासी दोनोने मिलकर मुनिराजको बाहर कर दिया ॥ १३४-१३५ ॥ शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले वे मुनिराज शीत और डास मच्छरोंकी महाबाधाको सहन करते हुए किसी वृक्षके नीचे ध्यान लगाकर विराजमान होगये ॥ १३६ ॥ सवेरा होते ही देवल और धर्मल दोनों ही क्रोधपूर्वक लडने लगे और दोनों ही एक दूसरेकी चोटसे मर गये ॥ १३७ ॥ वे दोनो एक दूसरेपर द्वेष करते हुए आर्तध्यानसे मरे थे इसलिये वे दोनों वडे क्रोधी और क्रूर मूकर और वाघ हुए (देवलका जीव मूकर हुआ था और धर्मलका जीव वाघ हुआ था) ॥ १३८ ॥ जिस गुफामें मूकर रहता था उसमें किसी एक दिन समाधिगुप्त और त्रिगुप्त नामके मुनिराज आ विराजमान हुए ॥१३९॥ उन्हें देखते ही उस मूकरको पुण्यकर्मके उदयसे जाति स्मरण होगया । उसने उन मुनिराजके चरणकमलोंको नमस्कार किया और शांत होकर बैठ गया ॥ १४० ॥ मुनिराजने स्वयं कृपाकर उसके सामने स्वर्ग मोक्ष देनेवाला, सारभूत और श्रावकोंके व्रतोंको मूचित करनेवाले धर्मका स्वरूप कहा ॥ १४१ ॥ सुख देनेवाले धर्मका स्वरूप सुनकर उसने अत्यन्त कठिनतासे त्याग करने योग्य पापोंका भी त्याग कर दिया और श्रावकके व्रतोको धारण कर मुनिराजके समीप ही बैठ गया ॥ १४२ ॥ ठीक इसी समय वह दुष्ट वाघ मनुष्यकी गन्ध सूंघकर उन मुनिराजको भक्षण करनेके लिये शीघ्र ही वहां आ पहुंचा ॥ १४३ ॥ मूकर उस वाघको देखकर शीघ्र ही उसके सामने गया और उन मुनिराजकी रक्षा करनेके लिये उस गुफाके दरवाजेपर जा बैठा

धर्मादिध्यानेनैव स्थितो मुनि ॥१३४॥ परिव्राजक आनीय धर्मिलेन ततो धृतः । तत्र देवकुलाच्छीघ्र ताभ्या निस्सारितो यति ॥१३५॥ स मुनि. वृक्षमूलेऽपि स्थितो ध्यानेन शुद्धधी' । सहमानो महावाधा दशशीतादिसभवाम् ॥१३६॥ प्रभातेऽतिमहाकोपात्कृत्वा युद्ध परस्परम् । तन्निमित्तेन घातेन मृतौ देवलधर्मलौ ॥ १३७ ॥ विद्वेषेण क्रमेणैव चार्तध्यानप्रयोगत' । प्रजातौ शूकरव्याघ्रौ क्रूरौ तौ कोपसंयुतौ ॥ १३८ ॥ तिष्ठति शूकरो यत्र गुहाया तत्र चैकदा । स्थितौ समाधिगुप्ताख्यौ शुद्धशीलौ मुनीश्वरौ ॥ १३९ ॥ दृष्ट्वा तौ सोऽपि पुण्येन भूत्वा जातिस्मर स्वयम् । प्रणम्य मुनिसत्पादौ स्थित शाम्यान्वितोऽशठः ॥ १४० ॥ तस्याग्रे कथितो धर्म. मुनिना कृपया स्वयम् । स्वर्गमुक्तिकर सार श्रावकव्रतसूचक ॥१४१॥ श्रुत्वा धर्म सुखागार त्यक्त्वा पाप सुदुस्त्यजम् । स्थितो मुनिसमीपे स आदाय श्रावकव्रतम् ॥१४२॥ तत्प्रस्तावे मनुष्यस्य गधमाघ्राय दुष्टधीः । व्याघ्रस्तत्रागत शीघ्र भक्षणार्थं च सन्मुनेः ॥१४३॥ शूकरस्त समालोक्य गत्वा तूर्णं स सन्मुखम् । गुहाद्वारेस्थितस्तत्र मुनेरक्षादिहेतवे ॥ १४४ ॥ तौ तत्रापि महायुद्धं कृत्वा कोपात्परस्परम् । मृतौ वाक्प्रहारेण

॥१४४॥ वाघ आया ही था कि दोनोंका युद्ध होने लगा और दोनों वडे क्रोधसे युद्ध करने लगे। दोनों एक दूसरेपर चोट करने लगे और उस चोटसे दोनों मर गये ॥ १४५ ॥ देवलका जीव जो सूकर था वह मुनिराजकी रक्षाके लिये लडा तथा मरा था इसलिये वह सौधर्म स्वर्गमें जाकर वडी ऋद्धिका धारक देव हुआ ॥ १४६ ॥ वाघ मुनिराजको भक्षण करनेके अभिप्रायसे लडा और मरा था इसलिये वह पापकर्मके उदयसे असन्त दुःख देनेवाले महा घोर और तीव्र नरकमें जाकर पडा था ॥ १४७ ॥ इसप्रकार मुनिकी रक्षा करनेके अभिप्रायसे केवल वसतिका दान देनेरूप व्रतको पालन करनेके कारण सूकर मुनिराजके चरणकमलोंको हृदयमें रखकर मरा था इसलिये वह उस निर्मल पुण्यके प्रभावसे सारभूत सौधर्म स्वर्गमें निर्मल गुणोंका समुद्र ऐसा उत्तम देव हुआ था ॥ १४८ ॥

प्रश्न—हे प्रभो! भगवन् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेसे जिसको उत्तम फल मिला है उसकी कथा कृपाकर मेरे लिये कहिये ॥ १४९ ॥

उत्तर—हे श्रावकोत्तम तू एक चित्त होकर सुन। भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेमें तल्लीन हुए एक मेडकके पुण्यसे होनेवाले फलको मै कहता हूं ॥ १५० ॥ इसी प्रसिद्ध जम्बूद्वीपके मगध नामके शुभ देशमें एक मनोहर राजगृह नगर शोभायमान है जिसके सब घर प्रायः धर्म अर्थ आदि पुरुषार्थोंसे भरपूर हैं ॥ १५१ ॥ उस नगरमें राजा श्रेणिक राज्य करता था वह राजा भव्य जीवोंका शिरोमणि था, बुद्धिमान् था, धीरवीर था, धर्मकी प्रभावना करनेवाला था और क्षायिक सम्यग्दर्शनसे सुशोभित था ॥१५२॥ किसी एक दिन उसने वनपालसे (मालीसे) विपुलाचल पर्वतपर श्रीमहावीर-

---

वेदनान्वितविग्रहौ ॥१४५॥ शूकरो मुनिरक्षाभिप्रायेणैव महर्द्धिकः। सौधर्मे हि सुरो जातो यः पूर्वं देवलाभिधः ॥१४६॥ मुनेर्भक्षणध्यानेन गतो व्याघ्रोऽपि पापतः। तीव्रं घोरतरं श्वभ्रं महादुःखाकरं भुवि ॥ १४७ ॥ इति व्रतगुणयुक्तः सारसौधर्मकल्पे, धृतमुनिवरपादौ मानसे स्वस्य जातः। सुकृतविमलयोगाच्छूकरो निर्जरोऽत्र, विपुलसुखसमुद्रः सन्मुने रक्षणाच्च ॥१४८॥ परिप्राप्तं फलं येन स्वामिन्! श्रीजिनपूजया। कथां तस्य ममाग्रे त्वं कृपां कृत्वा निरूपय ॥१४९॥ एकचित्तान्वितो भूत्वा शृणु श्रावक ते कथाम्। वक्ष्ये पूजासमासक्तभेकपुण्यफलोद्भवाम् ॥ १५० ॥ जम्बूद्वीपेऽतिविख्याते सद्देशे मगधाभिधे। रम्यं राजगृहं भाति पुरं धर्मादिसद्गृहम् ॥ १५१ ॥ तत्र स्यात् श्रेणिको भूपो भव्यलोकशिरोमणिः। क्षायिकालंकृतो धीमान् धीरो धर्मप्रभावकः ॥१५२॥ स चैकदा समाकर्ण्य वनपालमुखात्स्वयम्। ततो

स्वामीके आनेके समाचार सुने इसलिये वह स्वयं अपनी बडी सेनाको साथ लेकर उनकी वंदना करनेके लिये निकला। वहांपर जाकर उसने जगतगुरु भगवान जिनेन्द्रदेव महावीरस्वामीकी तीन प्रदक्षिणाएं दी और हाथ मस्तकपर रखकर उनको नमस्कार किया ॥ १९३–१९४ ॥ तदनन्तर उस बुद्धिमानने बडी भक्तिसे आठो द्रव्य लेकर भगवानकी पूजा की और फिर वह राजा श्रेणिक भगवान महावीरस्वामीकी स्तुति करने लगा ॥ १९५ ॥ हे देव ! आप जगतके स्वामी हैं विना ही कारणके समस्त जीवोंकी रक्षा करनेवाले हैं और सर्वज्ञ हैं तथा मैं नितांत बुद्धि रहित हूं फिर भला मैं आपकी स्तुति किसप्रकार कर सकता हूं ॥ १९६ ॥ तथापि मै अत्यन्त मंदबुद्धि होकर भी केवल भक्तिके भारसे प्रेरित होकर आपकी स्तुति करता हूं ॥ १९७ ॥ हे देव ! आप सबकी रक्षा करनेवाले हैं और किसीकी भी रक्षा करनेवाले नहीं हैं, तथापि महा रक्षक हैं। आप सबके स्वामी हैं, किसीके भी स्वामी नहीं हैं तथापि तीनों लोकोंके स्वामी हैं। आप वीर हैं, वीर नहीं हैं और महावीर हैं इसलिये हे देव ! आपको नमस्कार हो ॥१९८॥ आप सिद्ध हैं, महा सिद्ध हैं और प्रसिद्ध हैं, आप बुद्ध (सर्वज्ञ) हैं, महा बुद्ध हैं और अतिशय बुद्धिको देनेवाले हैं। आप धीर हैं, महा धीर हैं और धीरतों रहित हैं इसलिये हे नाथ ! आपके लिये नमस्कार हो ॥ १९९ ॥ आप अहिंसाधर्मकी प्रवृत्तिकरनेवाले हैं, तथापि कर्मोंको वा राग-द्वेषादिको नष्ट करनेके कारण हिंसक कहलाते हैं। अनंत विभूति होनेके कारण आप सधन हैं, सुधन हैं और धनी हैं। आप अत्यंत रूपवान हैं। शुद्ध आत्मस्वरूप होनेके कारण अरूपी हैं तथापि परम मनोहर हैं इसलिये हे देव ! आपके लिये

नन्तु महावीरं महासैन्यसमन्वितः ॥१९३॥ विपुलाद्रिस्थित वीर त्रिःपरीत्य जगद्गुरुम् । स्वहस्तौ मस्तके धृत्वा सोऽनमच्छ्रीजिनाधिपम् ॥१९४॥ अष्टभेदान्विता पूजा कृत्वा भक्तिभरात्पुनः । स्तवन कर्तुमारब्धं श्रेणिकेनातिधीमता ॥१९५॥ त्वं देव जगता नाथस्त्व त्राता कारणं विना । कथ स्तुवे हि सर्वज्ञं त्वामह बुद्धिवर्जित.॥१९६॥ तथापि प्रेरितो देव भक्तिभारेण त्वा प्रति । करोमि स्तवन किंचिदह मंदधियान्वितः ॥१९७॥ त्राता त्राता महात्राता भर्ताभर्ता जगत्प्रभो ! । वीरोवीरो महावीरस्त्व देवाऽसि नमोऽस्तु ते ॥१९८॥ सिद्धोऽसिद्ध प्रसिद्धस्त्वं बुद्धो बुद्धोऽतिबुद्धिदः । धीरो धीरोऽतिधीरश्च त्व देवासि नमोस्तु ते ॥१९९॥ हिंसको हिंसकोऽहिंस्य सधनः सुधनोधनी । रूपोऽरूपो

१ आपके प्रतापसे स्वय रक्षा होजाती है परंतु आप किसीकी रक्षा करते नहीं । २ आप किसीको सेवक नहीं मानते । ३ क्योंकि आपमें क्रोधका अभाव है । ४ क्योंकि आपने वड़ी शीघ्रताके साथ कर्मोंको नष्ट किया है ।

नमस्कार हो ॥१६०॥ हे देव ! आप देव हैं, देवाधिदेव हैं और महादेव हैं, आप गुणोंके निधान हैं, निधियोंके स्वामी हैं, आप नाथ हैं, आपका कोई स्वामी नहीं है इसलिये आप अनाथ हैं, तथापि आप जगन्नाथ कहलाते हैं इसलिये हे देव ! आपको नमस्कार हो ॥ १६१ ॥ हे नाथ ! आप ध्यान करनेवाले ध्याता हैं, महाध्याता हैं तथापि सब आपका ध्यान करते हैं। आप किसीका ध्यान नहीं करते इसलिये आप ध्याता नहीं हैं। आप दयालु हैं, महादयालु हैं और निर्दयतासे कर्मोंको नाश करनेके कारण दया रहित हैं। आप सब तरह योग्य हैं, महायोग्य हैं परंतु सांसारिक कार्योंके लिये अयोग्य हैं इस-लिये हे देव ! मैं आपको नमस्कार करता हूं ॥१६२॥ आप प्रतिदिन तीनों समय उपदेश देनेके कारण वक्ता हैं, सुवक्ता हैं तथापि आपकी भाषा दिव्यध्वनि निरक्षरी होनेके कारण आप अवक्ता ही हैं। आप इच्छा रहित हैं तथापि समस्त जीवोंका कल्याण करनेकी भावना होनेके कारण इच्छावाले गिने जाते हैं। आप ब्रह्मा हैं, महाब्रह्मा हैं तथापि सृष्टिके कर्ता न होनेके कारण आप ब्रह्मा नहीं हैं। हे नाथ ! ऐसे आपको वारवार नमस्कार हो॥ १६३॥ हे देव ! आप सशरीर हैं, परमोत्कृष्ट शरीरको धारण करनेवाले हैं तथापि शरीर रहित हैं। आप निश्चल हैं, स्थिर हैं तथापि सब जगह विहार करनेके कारण अस्थिर हैं। आप एक रत्न हैं, महारत्न हैं और परिपूर्ण रत्नत्रयसे सुशोभित हैं इसलिये हे देव ! आपके लिये वार वार नमस्कार हो ॥ १६४ ॥ हे प्रभो ! इंद्र भी आपके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं, आप मुक्तिके स्वामी हैं, सदा उसी अवस्थामें रहनेवाले अव्यय हैं, धर्मरूपी अमृतके समुद्र हैं, सुखके निधि हैं, केवलज्ञानको प्रकाशित करनेवाले हैं, तीनों लोकोंको इस असार संसारसे पार कर देनेके लिये अद्वितीय विद्वान् हैं और मोहके महा अभिमानको चूर चूर करनेवाले हैं। हे जिनराज ! हे गुरुदेव ! हे प्रभो ! मैं आपकी शरण आया हूं, आप कृपाकर मेरी रक्षा कीजिये ॥ १६५ ॥ इसप्रकार देवोंके नाथ परम

समारूपस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१६०॥ देवदेवो महादेवो निधानो निधिनायकः । नाथो नाथो जगन्नाथस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१६१॥ ध्याता ध्याता महाध्याता सदयो सदयोदयः । योग्यो योग्यो महायोग्यस्त्वं देवासि नमोस्तु ते ॥ १६२ ॥ वक्तावक्ता सुवक्ता च सस्पृहो-सस्पृहो स्पृहः । ब्रह्माब्रह्मा महाब्रह्मा त्वं देवासि नमोस्तु ते ॥१६३॥ देहोऽदेहो महादेहो निश्चलोनिश्चलोऽचलः । रत्नोरत्न सुरत्ना-ढ्यस्त्वं देवासि नमोऽस्तु ते ॥१६४॥ त्व देवस्त्रिदशेश्वरार्चितपदस्त्वं मुक्तिनाथोऽव्ययः, त्वं धर्मामृतसागरः सुखनिधिस्त्वं केवलोद्योतकः । त्वं लोकत्रयतारणैकचतुरस्त्वं मोहदर्पापहः, प्राप्तोऽहं शरणं जिनेश्वर प्रभो ! ते पाहि मां भो गुरो ! ॥१६५॥ इति स्तुत्वा महावीरं प्रणम्य

पूज्य भगवान महावीरस्वामीकी स्तुति कर और उनको प्रणाम कर राजा श्रेणिक प्रसन्नचित्त होकर मनुष्योंके कोठेमें जा बैठा ॥ १६६ ॥ वहांपर बैठकर उसने छहों द्रव्य, सातों तत्त्वोंका स्वरूप सुना और मुनि तथा गृहस्थोंके सुख देनेवाला धर्मका स्वरूप सुना ॥ १६७ ॥ उसी समय वहांपर एक बड़ी ऋद्धिको धारण करनेवाला देव बडी विभूतिके साथ भगवानकी पूजा करनेके लिये आया जिसके मुकुटमें मेंढ़कका चिन्ह था ॥१६८॥ महाराज श्रेणिकने उसे देखकर ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले गौतमस्वामीको नमस्कार किया और उस देवके मुकुटमें लगे हुए मेंढ़कके चिन्हका कारण पूछा ॥१६९॥ इसके उत्तरमें श्री गौतमस्वामी कहने लगे कि यह अभी जाकर स्वर्गमें देव हुआ है और तुरन्त ही भगवानकी पूजा करनेके लिये आया है ॥ १७० ॥ यह सुनकर महाराज श्रेणिकने फिर पूछा कि हे स्वामिन्! पहिले भवमें इसने कौनसा दान दिया था, कौनसी पूजा की थी अथवा कौनसा तप किया था जिसके पुण्यसे यह ऐसा देव हुआ है, हे स्वामिन्! आप कृपाकर सब मुझसे कहिये ॥ १७१ ॥ यह सुनकर श्री गौतम गणधर कहने लगे कि हे श्रेणिक! तू मन लगाकर सुन, मै पुण्य बढानेवाली इसकी कथा कहता हूं ॥ १७२ ॥

इसी तेरे नगरमें एक नागदत्त नामका सेठ रहता था। वह सेठ अत्यन्त मायाचारी था, उसकी स्त्रीका नाम भवदत्ता था ॥१७३॥ किसी एक दिन वह सेठ आर्तध्यानसे मरा और उस आर्तध्यानके पापके फलसे अपने ही घरके आंगनकी बावडीमें मेंढक हुआ ॥१७४॥ जब पानी भरनेके लिये उसकी स्त्री उस बावडीमें आई तब उसे देखकर उसे जातिस्मरण होगया

च सुरार्चितम्। श्रितः श्रेणिकभूपालो मर्त्यकोष्ठ प्रहृष्टधी ॥ १६६ ॥ तत्र सुश्राव षड्द्रव्यसप्ततत्त्वान् नरेश्वरः। यतीना च गृहस्थाना धर्मं सर्वसुखाकरम् ॥ १६७ ॥ तत्रागतो महाभूत्या युक्तो देवो महर्द्धिकः। मुकुटे भेकचिन्ह च कृत्वा पूजयितु जिनम् ॥ १६८ ॥ श्रेणिकेन तमालोक्य भेकचिन्हस्य कारणम्। प्रणम्य गौतमस्वामी पृष्टो ज्ञानविलोचन ॥१६९॥ उक्त श्रीगौतमेनैव सजातोऽय सुरो दिवि। इदानी चैव पूजार्थमागतोऽत्र जिनेशिनः ॥१७०॥ अनेन किं कृत स्वामिन्! दान पूजा तपोऽथवा। जातोऽयं येन पुण्येन तत्सर्वं मे निरूपय ॥१७१॥ तच्छ्रुत्वा गौतमः प्राह शृणु श्रेणिक! सच्छुभम्। कथयामि कथामस्य स्थिर कृत्वा निजं मन ॥ १७२ ॥ तत्रैव नगरे श्रेष्ठी नागदत्ताह्वयो भवेत्। भार्यास्य भवदत्ताभून्नित्य मायान्वितात्मनः ॥१७३॥ अथैकदार्तध्यानेन मृत्वा श्रेष्ठी गृहागणे। पापी फलेन वाप्यां

और पहिले भवके मोहके कारण वह उस भवदत्ताके शरीरपर उछलकर चढने लगा, परन्तु भवदत्ताने वह नीच मेंढक वहुत दूर फेंक दिया, परन्तु पूर्वकर्मोंके उदयसे वह मेंढक चिल्लाता हुआ टर्टर्र करता हुआ फिर शीघ्रतासे आकर उसके ऊपर चढने लगा ॥१७५–१७६॥ तव उस बुद्धिमती भवदत्ताने अपने मनमें समझ लिया कि यह मेरा कोई अभीष्ट (संवंधी—या मुझसे प्रेम रखनेवाला) होगा ॥ १७७ ॥ तदनंतर किसी एक दिन उस सेठानीने अवधिज्ञानसे सुशोभित श्री सुव्रत नामके मुनिराजसे उस मेंढककी कथा पूछी ॥ १७८ ॥ तव मुनिराजने कहा कि हे पुत्री ! यह तेरे पतिका जीव पापकर्मके उदयसे अत्यंत दुःखी मेंढक हुआ है ॥ १७९ ॥ भवदत्ताने उस मेंढकको अपने पतिका जीव जानकर मोहके कारण तथा उसपर भक्ति करनेके लिये उसे अपने घर लाकर वडे आदरसे रक्खा ॥ १८० ॥ हे राजन् ! श्री महावीरस्वामीके यहां पधारने पर तू आनंदभेरी दिलाकर भक्तिपूर्वक भगवानकी वंदना करनेके लिये आया ॥१८१॥ तव वह भवदत्ता सेठानी भी वडी भक्तिसे अपने भाई कुटुम्बियोके साथ वैभार पर्वतपर भगवान वर्द्धमानस्वामीकी पूजा करनेके लिये आई ॥ १८२ ॥ यह देखकर वह मेंढक भी भक्तिमें तल्लीन होकर अपनी वावडीमेंसे एक कमलका दल लेकर भगवानकी पूजा करनेके लिये निकला ॥ १८३ ॥ वह मार्गमें आरहा था और उधर हाथी आरहा था इसलिये वह मेंढक मार्गमें ही हाथीके पैरसे दवकर चूरचूर होगया, परन्तु उसके हृदयमें भगवानकी पूजा करनेके भाव वने ही रहे ॥ १८४ ॥ भगवानकी पूजा करनेके परिणाम वने रहनेके कारण उसके पुण्य प्रभावके कारण यह सुखके सागर ऐसे सौधर्म स्वर्गमें वडी ऋद्धिको धारण

तया निर्घाटितो दूराद्गटत्येव वराककः । पुनर्वेगेन चागत्य चढत्येव विधेर्वशात् ॥ १७६ ॥ ततस्तया मदीयोऽयं कोप्यभीष्टो भविष्यति । इति सचिंतित स्वस्य मानसे धीसमन्विते ॥१७७॥ श्रेष्ठिन्या चैकदा पृष्ट सुव्रताख्यतपोधन । अवधिज्ञानसम्पन्नस्तद्भेकस्य कथा शुभाम् ॥१७८॥ अनूक्त मुनिना तस्या अग्रे श्रेष्ठी तव प्रिय' । पापार्जितेन सजातो भेकोऽय दु खपीडित ॥१७९॥ ज्ञात्वा भर्ता स्वकीयोऽति गौरवेण धृतस्तया । भेरो मोहेन वानीय स्वगेहे भक्ति हेतवे ॥ १८० ॥ दापयित्वा त्वमानदभेरीमत्रागतोसि भो । राजन् ! श्रीवर्द्धमानस्य वन्दनार्थं स्वभक्तित ॥१८१॥ तदागत्य महाभव्या' श्रेष्ठिनीसह बान्धवै । आगता जिनपूजार्थं सारे वैभारपर्वते ॥ १८२ ॥ भेकोपि निज वाप्या हि नीत्वा सत्कमल पथि । निर्गतस्तीर्थनाथस्य पूजार्थं भक्तितत्पर. ॥१८३॥ मार्गे सम्मार्जिते गच्छन् यावत्पादेन हस्तिना । चूर्णयित्वा जिनाधीशपूजाभावान्विताशय. ॥१८४॥ सोनुपुजादिसद्भावजातपुण्यप्रभावत । देवो महर्द्धिको जात सौधर्मे सौख्यसागरे ॥१८५॥

करनेवाला देव हुआ है ॥१८५॥ उत्पन्न होनेके समयसे अंतर्मुहूर्तमें ही यह युवा होगया था और श्रेष्ठ दिव्य वस्त्रोंको धारण करनेवाला तथा अनेक आभूषणोंसे सुशोभित होगया था ॥ १८६ ॥ यह देव अपने अवधिज्ञानसे पहिले भवकी सब बात जानकर अपनी बडी भारी विभूतिके साथ भगवान महावीरस्वामीकी पूजा करनेके लिये आया है ॥ १८७ ॥ हे श्रेणिक ! केवल भगवानकी पूजाके परिणाम होनेके कारण इस देवको स्वर्गमें बहुतसी विभूतियां और बहुतसे भोग प्राप्त हुए हैं ॥ १८८ ॥ देखो, भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजाका फल मनुष्योंको महा लक्ष्मी और सुखका कारण है तथा इसलोक परलोक दोनों लोकोंके सब अनिष्ट दूर करनेवाला है ॥ १८९ ॥ यही विचारकर राजा श्रेणिकके अत्यंत सुख देनेवाले भगवान जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोंकी प्रतिदिन पूजा करनेके भाव उत्पन्न होगये ॥ १९० ॥ मेंढककी इस कथाको सुनकर कितने ही भव्य जीव पापोंसे डरकर और संवेग वैराग्यमें तल्लीन होकर प्रतिदिन भगवानकी पूजा करनेके भाव करने लगे ॥ १९१ ॥ तदनंतर राजा श्रेणिक परम आनंदित होकर और जगतगुरु भगवान महावीरस्वामीको तथा गौतम गणधरको नमस्कार कर अपने घर जा पहुंचा ॥ १९२ ॥ देखो, शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाला मेंढक केवल भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेके भाव उत्पन्न करनेके कारण प्राप्त हुए निर्मल पुण्यके प्रतापसे समस्त सुखोंके घर ऐसे स्वर्गमें बडी ऋद्धिको धारण करनेवाला देव हुआ था ॥ १९३ ॥ जो मनुष्य भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करता है वह तीनों लोकोंमें उत्पन्न होनेवाली समस्त ऋद्धियोंको पाकर तथा अंतमें समस्त कर्मोंको नष्ट कर देनेके कारण सुखकी खानि ऐसे मोक्षमें अवश्य ही जा विराजमान होता है ॥ १९४ ॥ यह भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा नरकरूपी घरको बंद करनेके लिये अर्गल है,

---

अन्तमुहूर्तमध्येऽभूद्यौवनान्वितविग्रहः । दिव्याम्बरधरो धीरआभरणादिविभूषितः ॥ १८६ ॥ पूर्वं भव परिज्ञायावधिज्ञानेन सोऽमरः । आगतो जिनपूजार्थं महापूजोपलक्षितः ॥१८७॥ शुभाः श्रेणिक ! स्वर्गेऽस्य देवस्यातिविभूतयः । जाता बहुतरा भोग्याः पूजाभावेन केवलम् ॥१८८॥ अहो पूजाफल नृणा महाश्रीसुखसाधनम् । इहामुत्र भवेन्नून सर्वानिष्टविनाशनम् ॥१८९॥ इति संचिन्त्य संजातः पूजाभावान्वितो नृपः । पादपद्मे जिनेन्द्रस्य प्रत्यह स सुखाकरे ॥१९०॥ तद्भेकस्य कथां श्रुत्वा भव्याः पूजान्विताशयः। सन्त्रस्ताः पापतो जाताः संवेगादिरताश्च ते ॥१९१॥ ततो नत्वा गणधीशं गौतम च जगद्गुरुम् । जगाम स्वगृह राजा परमानन्दनिर्भरः ॥१९२॥ इति जिनेश्वरयज्ञसुभावतः, सकलसौख्यगृहे त्रिदशालये। भो ! महर्द्धिकसुरोऽजनि शुद्धधीः, विमलपुण्यवशादपि भेककः ॥१९३॥ वितनुते वरनरो जिनपूजां,

गुणोंकी खानि है, स्वर्गमें चढनेके लिये सीढ़ी है, अपरिमित सुखकी खानि है, अत्यंत निर्मल है, दुःखरूपी महासागरसे पार कर देनेवाली है, अशुभ वा पापरूपी ईंधनको जलानेके लिये अग्निके समान है, धर्मको देनेवाली है और श्री तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करनेवाली है इसलिये हे बुद्धिमानों ! इस संसारमें भगवान तीर्थंकर परमदेवकी पूजा प्रतिदिन करो ॥१९५॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें चारों दानोंमें प्रसिद्ध होनेवाले श्रीषेण, वृषभसेना, कौंडेश और शूकरीकी कथाको तथा भगवानकी पूजामें प्रसिद्ध होनेवाले मेंढककी कथाको कहनेवाला यह इक्कीसवां सर्ग समाप्त हुआ ।



अथ बाईसवाँ परिच्छेद ।

जो नेमिनाथ भगवान जगतपूज्य हैं, इच्छानुसार फल देनेवाले हैं, कामदेवको नष्ट करनेवाले हैं, समस्त इंद्रियरूपी हाथियोंकी सेनाको वश करनेके लिये सिंह हैं और महा बलवान हैं ऐसे श्री नेमिनाथस्वामीको मैं नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ मोक्ष प्राप्त करनेके लिये बारह व्रतोंका निरूपण कर अब मोक्ष प्राप्त होने पर्यंत सुख देनेवाली सल्लेखनाको कहते हैं ॥ २ ॥ असन्त बुढापा आ जानेपर दृष्टि, इंद्रिय आदि सब शिथिल हो जानेपर, शरीरकी शक्ति छूट जानेपर, व्रतोंके भंग होनेके कारण उपस्थित हो जानेपर, धर्मके नाश हो जानेपर, जिसका कोई उपाय नहीं होसकता ऐसे महारोगके हो जानेपर, तिर्यंच वा मनुष्योंसे होनेवाले महाघोर उपसर्गके होनेपर और महादुर्भिक्षके पडनेपर उत्तम पुरुषोंको धर्मपालन करने और

प्राप्य ऋद्धिमपि त्रिलोकसस्थिताम् । शिवपद स प्रयाति सुखाकर, निजसमर्जितकर्मक्षयादध्रुवम् ॥ १९४ ॥ पूजा श्वभ्रगृहार्गला गुणकरा सोपानमाला घना, स्वर्गस्यैव सुखादिखानिममला दुःखार्णवोत्तारिकाम् । तीर्थेशस्य कुपापकक्षदहने ज्वालोपमा धर्मदा, सत्तीर्थंकरकर्मदा बुधजना नित्य कुरुध्व भुवि ॥१९५॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे श्रीषेणवृषभसेनाकौंडेशशूकरभेककथाप्ररूपको नामैकविंशतितम परिच्छेदः ।

अथ द्राविंशतितमः सर्गः ।

नेमिनाथ जगत्पूज्य कामद कामघातकम् । सर्वेन्द्रियगजानीकसिंहं वन्दे महाबलम् ॥१॥ व्रतान्यपि समाख्याय द्वादशैव विमुक्तये । तत सल्लेखना वक्ष्ये मुक्तिपर्यन्तसौख्यदाम् ॥२॥ वृद्धत्वेऽपि जराग्रस्ते मदहष्ट्यादिकेन्द्रिये । शक्तित्यक्तशरीरे च व्रतभङ्गादिकारणे ॥३॥

समाधि धारण करनेके लिये स्वर्गमोक्षके सुख देनेवाली सल्लेखना अवश्य धारण करनी चाहिये ॥ ३–५ ॥ जो मुनि जीवनपर्यंत घोर तपश्चरण करते हैं वे जब प्राण छूटनेके समय सल्लेखना धारण करते हैं तभी उनका वह तप सफल होता है ॥ ६ ॥ जो गृहस्थ समस्त व्रतोंको पालन कर अन्तमें समाधिमरण धारण करता है उसीके सब प्रकारके सुख देनेवाले व्रत सफल कहे जाते है ॥ ७ ॥ कदाचित् सर्प आदिके काट लेनेसे अथवा किसी भारी उपसर्गके आ जानेपर असमयमें ही मृत्यु आजाय और वह संदेहरूपमें हो अर्थात् जिसमें जीने मरने दोनोंका संदेह हो तो उस समय इसप्रकार समाधिमरण धारण करना चाहिये कि यदि इस घोर परीषहसे इसी समय मेरी मृत्यु होगई तो मेरे चारो प्रकारके आहारके त्यागका नियम है। यदि मैं किसीप्रकार जीवित होगया तो फिर भोजन करूंगा ॥ ८–१० ॥ अथवा अपने आए हुए मरणका निश्चयकर हे भव्य ! तू विधिपूर्वक इस समाधिमरणको धारण कर ॥ ११ ॥ हे मित्र ! तू स्त्री मित्र आदिकोंमें होनेवाले प्रेम, स्नेह, मोहको सर्वथा छोड दे तथा आत्माको शुद्ध करनेके लिये धन धान्य और शरीरादिकमें होनेवाले ममत्वका सर्वथा त्याग करदे ॥ १२ ॥ हे भव्य ! विधिपूर्वक समाधिमरण धारण करनेके लिये रोग आदिके होजानेपर अथवा दूसरी जगह भी वैर, द्वेष और कलुषता आदि समस्त शत्रुओंके समुदायका त्याग कर देना चाहिये ॥ १३ ॥ समाधिमरण धारण करनेमें तत्पर होनेवाले और शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले धीरवीर आराधकको कोमल वचनोंके

धर्मनाशे महारोगे प्रतीकारादिवर्जिते । महाघोरोपसर्गे च तिर्यङ्मर्त्यादिसभवे ॥ ४ ॥ दुर्भिक्षे च सुधर्माय प्रानुष्ठेया नरोत्तमे । सल्लेखना समाध्यर्थं नाकमोक्षसुखप्रदम् ॥ ५ ॥ कृत्वा तपोऽनघ यावज्जीव सल्लेखनां पुनः । प्रणान्ते यो मुनि. कुर्यात्तस्य स्यात्सफल तप. ॥ ६ ॥ धृत्वा वृत्तानि योऽगारी सन्यास कुरुते पुनः । मरण सफल तस्य व्रत सर्वसुखाकरम् ॥७॥ अकाले यदि चायाति मृत्यु' सर्पादिदंशत. । ससशयो मनुष्याणा प्रोपसर्गादियोगत ॥८॥ ईदृश हि तदा कार्यं सन्यास सत्त्वरेण वै । मृत्युः स्याद्यदिमेऽत्रैव घोरात्यत परीषहात् ॥९॥ चतुर्विधे महाहारे ममास्तु नियम ध्रुवम् । जीविष्यामि कथचिच्चेत्ततो भोक्ष्येऽशनादिकम् ॥ १० ॥ अथवा स्वस्य निश्चित्य मरण प्रागतं ध्रुवम् । सल्लेखनां कुरु त्व भो ! रमा सद्विधिनान्विताम् ॥ ११ ॥ नारीमित्रादिके स्नेह राग मोह च सर्वथा। धनधान्यादिके देहे ममत्व त्यज शुद्धये ॥ १२ ॥ वैर द्वेप च कालुष्य सर्वं शत्रुकदम्बके । रोगादिकेऽथवान्यत्र जहि सन्याससिद्धये ॥१३॥ क्षात्वापि स्वजन सर्वं भार्यापुत्रादिक स्वयम् । भृत्यादिक महाशत्रु पूर्ववैरानुबन्धिनम् ॥१४॥ कोमलैर्वचनालापैर्मनोवाक्कायकर्मभिः । स्फुट च क्षमयेद्धीर सन्या

द्वारा मन वचन कायसे अपने सब कुटुंबियोंसे, स्त्रीसे, पुत्रादिकोंसे, सेवकोंसे तथा पहिलेसे वैरभाव रखनेवाले महा शत्रुओंसे क्षमा करानी चाहिये और सबको स्वयं क्षमा कर देना चाहिये ॥ १४–१५ ॥ इसी प्रकार हे भव्य ! समाधिमरण धारण करते समय जो पाप कृत कारित अनुमोदनासे किये हैं, जो पाप जीवनपर्यंत होनेवाले घरके व्यापारसे हुए हैं, जो पाप मिथ्यात्व, अविरत, कपाय, प्रमाद और योगोंसे हुए हैं, जो बुरी संगतिसे, विषयोंसे वा अन्य कारणोंसे हुए हैं उन सब पापोंको नाश करनेके लिये आचार्यके समीप दश दोपोंसे रहित होकर स्वयं आलोचना कर ॥ १६–१८ ॥ आकंपित अनुमानित, दृष्ट, वादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवित ये दश दोप उत्पन्न करनेवाले आलोचनाके दोष गिनेजाते हैं ॥ १९–२० ॥ जो इन सब दोपोंका त्यागकर आचार्यके निकट बालकके समान (विना किसी छल कपटके) आलोचना करता है उसकी आलोचनामें कोई दोप नहीं लग सकता ॥ २१ ॥ यही समझकर हे भव्य ! पापोंको

सोद्यतशुद्धधीः ॥१५॥ कृतस्य कारितस्यापि पापस्यानुमतस्य च । यावज्जीवाश्रितस्यैव गृहव्यापारजस्य च ॥१६॥ मिथ्यात्वाविरतेर्योगात्कषायातिप्रमादतः । कुसंगविपयाच्चापि जातस्याप्यन्यहेतुत. ॥ १७ ॥ सर्वाघौघविनाशार्थं सत्सूरिनिकटे स्वयम् । आलोचन कुरु त्व हि दशदोषविवर्जितम् ॥१८॥ आकंपिताख्यदोपोनुमानितो दृष्ट एव च । वादरः सूक्ष्म एव छन्न स्याच्छब्दाकुलो ध्रुवम् ॥१९॥ दोषो बहुजनो नामा व्यक्तो आलोचनस्य वै । तत्सेवा स्युर्दशैवास्य दोपादोप विधायक ॥ २० ॥ सर्वान् दोषान् परित्यज्य बालवत्सूरि सन्निधौ ।

१ यदि कुछ उपकरण देकर दोप कहूंगा तो कम प्रायश्चित मिलेगा ऐसा विचारना आकंपित दोष है । मैं रोगी हू, दुर्बल हू, मुझे थोडा प्रायश्चित्त दिया जायगा तो मैं सब दोष कह दूंगा ऐसा कहना अनुमानित दोष है । केवल देखे हुए दोषोंको कहना दृष्ट दोष है। केवल बड़े दोष कहना छोटे छिपा लेना वादर दोष है, केवल छोटे दोप कहना बड़े छिपा लेना सूक्ष्म दोष है, ऐसा अतिचार लगनेपर क्या प्रायश्चित होगा इस उपायसे पूछना छन्न दोष है । वार्षिक, मासिक वा पाक्षिक आलोचनाके होते हुए तथा उनके ऊँचे शब्द होनेपर पहिलेके दोष कहना (जो सुनाई न पडे) शब्दाकुलित दोष है । गुरुने जो प्रायश्चित्त दिया है वह ठीक है वा नहीं, शास्त्रानुकूल है या नहीं इसप्रकार थोडा प्रायश्चित लेनेके अभिप्रायसे अनेक लोगोंसे पूछना बहुजन दोष है । अपना कुछ भी प्रयोजन विचार कर अपने समानवाले किसी मुनिसे अपना दोष कहना अव्यक्त दोष है । किसीके द्वारा किसी अपराधके कहने और प्रायश्चित् बतलानेपर ठीक ऐसा ही मेरा अपराध है मुझे भी यही प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये इस प्रकारके दोषको तत्सेवित दोष कहते हैं ।

नाश करनेके लिये और आत्माको शुद्ध करनेके लिये तू मनको शुद्धकर गुरुके समीप आलोचना कर ॥ २२ ॥ तदनंतर मोक्ष प्राप्त करनेके लिये समस्त परिग्रहोंका साग कर समस्त महाव्रत धारण करने चाहिये ॥ २३ ॥ हे धीरवीर तू मन ः समस्त संकल्प विकल्पोंको छोडकर शरीरादिकमें तथा भाई, बंधु आदि कुटुम्बी लोगोंमें निर्ममता (ममताके त्याग करनेका) चितवन कर ! अर्थात् ममताका त्याग कर ॥ २४ ॥ तदनन्तर तू शोक, भय, स्नेह, कलुपता, अरति, रति, मोह, विषाद और रागद्वेप आदिको स्वयं छोड ॥ २५ ॥ ये संसार, देह, भोग, नरक और तिर्यंच गतिके दुःख देनेवाले हैं और सब प्रकारके दुःखोंके घर हैं इसलिये हे भव्य ! तू इनमें वैराग्य धारण कर ॥ २६ ॥ हे मित्र ! तू अपने आत्माकी सिद्धिके लिये अपना उत्साह प्रगट कर और अपनी शक्तिको प्रगट कर सुख देनेवाले वारह प्रकारके घोर तपश्चरणको धारण कर ॥ २७ ॥ इसी प्रकार सिद्धांत ग्रन्थोका अमृत पान कर तथा महा आराधना ग्रन्थोको पढकर और तत्त्व व वैराग्यको निरूपण करनेवाले ग्रन्थोंको पढकर तू अपना मन अत्यन्त शांत कर ॥ २८ ॥ बुद्धिमानोंको अवमोदर्य तपश्चरणके द्वारा अपना आहार प्रतिदिन थोडा थोडा घटाना चाहिये और इसप्रकार अनुक्रमसे थोडा थोडा घटाते घटाते समस्त आहारका त्याग कर देना चाहिये ॥ २९ ॥ आराधकको इसप्रकार समस्त आहारका त्याग कर दूधका सेवन करना चाहिये और फिर समाधि धारण करनेके लिये दूधका भी त्याग कर तक्र वा छाछका सेवन करना चाहिये ॥ ३० ॥ फिर ध्यानकी सिद्धिके लिये अनुक्रमसे छाछका भी साग कर गर्म जल लेना चाहिये और फिर गर्मजलका भी त्यागकर केवल शुभ उपवास करना

कुर्यादालोचना यो ना तस्य दोषा. भवन्ति न ॥२१॥ इति मत्वा मन शुद्धिं कृत्वा सालोचनां गुरोः । पार्श्वे कुरु स्वपापस्य क्षयार्थं शुद्धि हेतवे ॥२२॥ ततो गृहाण सम्पूर्णं महाव्रतकदम्बकम् । सर्वसगपरित्याग कृत्यमुक्त्यर्थयजसा ॥२३॥ निर्ममत्व शरीरादौ वंधुवर्गादिके परे । भावय त्व महाधीर ! निर्विकल्पेन चेतसा ॥२४॥ तत. शोकं भय स्नेहं कालुष्यमरति तथा । रति मोह विपादं च रागद्वेप त्यज स्वयम् ॥२५॥ संसारदेहभोगेषु श्वभ्रतिर्यक्प्रदेपु च । सर्वदुःखनिदानेपु वैराग्य चितयस्व भो ॥२६॥ उदीर्य त्वमुत्साहं च स्ववीर्यं च तपोऽनघम् । द्विषड्भेदं स्वसिद्ध्यर्थं तपोग्र कुरु शर्मदम् ॥२७॥ प्रशान्त स्वमन.कार्यं सिद्धातामृतपानकै । वृहदाराधनाग्रन्थैस्तत्त्ववैराग्यतन्त्रकैः॥२८॥ आहारं प्रावमोदर्यं तपसा सत्यजेद्बुधः । क्रमाद्दिनं प्रति स्तोक स्तोकेन सर्वमेव हि ॥२९॥ सर्वाहार ततस्त्यक्त्वा ग्राह्यं दुग्धादिपानकम् । ततो दुग्ध परित्यज्य ग्राह्य तक्र समाधये ॥३०॥ त्यक्त्वा तक्रं क्रमान्नीरमादेय ध्यानसिद्धये । परिहार्य जल कार्याः केवला प्रोपधाःशुभाः ॥३१॥

चाहिये ॥ ३१ ॥ समस्त सिद्धांतशास्त्रोंके पारगामी निर्यापक (समाधिमरण करानेवाले) महाचार्यको निवेदन कर उनकी आज्ञानुसार जन्मपर्यंततकके लिये उपवास धारण करना चाहिये और उसका निर्वाह वडे प्रयत्नसे करना चाहिये ॥ ३२ ॥ समाधिमरण धारण करनेवाले आराधकको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अंतसमयमें एकचित्त होकर पांचो परमेष्ठियोंके नामको प्रगट करनेवाले मंत्रोंका जप करना चाहिये ॥ ३३ ॥ यदि उसका शरीर क्षीण होगया हो और वह पांचो परमेष्ठियोंके वाचक मंत्रोंका जप करनेमें असमर्थ हो तो उसे श्री तीर्थंकरके वाचक " णमो अरहताणं " इस एक पदका ही जप करना चाहिये ॥ ३४ ॥ यदि वह अत्यंत क्षीण होगया हो और उस मंत्रको वचनसे न जप सकता हो तो उसे अपने स्वभावसे ही जीवन पर्यंत अपने मनमें ही उन मंत्रोंका जप करना चाहिये ॥३५॥ यदि सन्यास धारण करनेवालेका कंठ सर्वथा क्षीण होगया हो और वह अपने मनमें भी उन मंत्रोंका जप न कर सकता हो तो फिर उसकी उत्तरसाधना करनेवाले वैयावृत्य करनेवाले अन्य लोगोंको प्रतिदिन उसके कानमें मंत्रराजका (पंचनमस्कारमंत्रका) जप करना चाहिये अर्थात् उसके कानमें सुनाना चाहिये ॥ ३६ ॥ इसप्रकार विवेकी आराधकको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये समाधिमरण धारण कर और अन्तमें जिन मुद्रा धारण कर वडे प्रयत्नके साथ प्राणोंका त्याग करना चाहिये ॥ ३७ ॥ यदि समाधिमरण धारण करनेवाला उत्तम विद्वान् चरमशरीरी हुआ तो वह आठो कर्मोंको नाश कर अनन्त सुख देनेवाले मोक्षमें अवश्य ही जा विराजमान होगा ॥ ३८ ॥ यदि समाधिमरण धारण करनेवाला चरमशरीरी नहीं है तो वह उस शरीरको तथा पापकर्मोंको नष्ट कर और महा पुण्य उपार्जन कर सर्वार्थसिद्धिमें जा विराजमान होता है ॥ ३९ ॥ इस समाधिमरणको धारण करनेसे कितने ही

निर्यापक महाचार्यं सर्वसिद्धांतपारगम् । विधाय प्रोषधा कार्या यावज्जीव प्रयत्नत. ॥३२॥ अन्तकाले जपेन्मन्त्र गुरुपचकनामजम् । एक चित्तेन मुक्त्यर्थं सन्यासस्थितमानवः ॥ ३३ ॥ यदि सर्व महामत्र जपितु न क्षमो भवन् । क्षीणदेहे जपेदेक पद तीर्थेशगोचरम् ॥ ३४ ॥ वचसा जपितु मत्र न समर्थो भवेद्यदि । जपेत्स्वमनसा धीमान् यावज्जीव स्वभावतः ॥३५॥ सन्यासयुक्तसत्पुसो हीनकंठस्य प्रत्यहम् । कर्णे जपन्तु मत्रेश अन्ये प्रोत्तरसाधका ॥३६॥ इति सर्वप्रयत्नेन त्याज्या. प्राणा विवेकिभिः। जिनमुद्रा समादाय सन्यास च विमुक्तये ॥३७॥ यदि स्याच्चरम देह सन्यासे स वुधोत्तमः । हत्वा कर्माष्टकं गच्छेन्मोक्ष सौख्याकर ध्रुवम् ॥३८॥ अथवा चरमं देहं दुष्कर्माणि विमुच्य ना। सर्वार्थसिद्धिमेवासौ यान्ति पुण्यमुपार्ज्य वै ॥३९॥ केचित्सन्यासयोगेन यान्ति ग्रैवेयक बुधाः । केचित्षोडशम नाक धर्मसौख्याकर परम् ।

विद्वान् ग्रैवेयकोंमें जन्म लेते हैं, और कितने ही विद्वान् धर्म और सुखकी खानि ऐसे परमोत्तम सोलहवें स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं ॥ ४० ॥ विधिपूर्वक समाधिमरण धारण करनेसे कितने ही लोग सुखके घर और अनेक प्रकारके भोगोपभोगोंकी सामग्रियोंसे भरे हुए ऐसे सौधर्म स्वर्गसे लेकर अच्युतस्वर्ग तक किसी भी स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं ॥ ४१ ॥ कितने ही उत्तम पुरुष इस समाधिमरणसे प्राणोंको छोडकर और इंद्रका उत्तम पद पाकर पीछे मोक्षमें जा विराजमान होते हैं ॥४२॥ कितने ही सम्यग्दृष्टी पुरुष इस समाधिमरणके प्रभावसे स्वर्गके महा सुखोका उपभोग कर अंतमें तीर्थंकरके परम पदको प्राप्त होते है ॥ ४३ ॥ धर्मात्मा पुरुष इस समाधिमरणके प्रभावसे ही स्वर्गके सुख भोगकर चक्रवर्तीकी विभूतिको पाते हैं ॥४४॥ जो विद्वान् इस समाधिमरणको जघन्य रीतिसे धारण करते है वे देव और मनुष्योंके सुख भोगकर सात आठ भवमें मोक्ष प्राप्त कर लेते है ॥ ४५ ॥ वहुत कहनेसे क्या ? थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि मनुष्योंको इस समाधिमरणके समान कल्याण करनेवाला धर्म तीनों कालमें नही होसकता ॥ ४६ ॥ इसप्रकार जो श्रावक मरनेके समय अतिचार रहित समाधिमरण धारण करता है संसारमें उसीके व्रत सफल होते हैं ॥ ४७ ॥

प्रश्न—हे भगवन् ! धर्म पालन करनेके लिये और समाधिमरणको शुद्धतापूर्वक धारण करनेके लिये कृपाकर उन समाधिमरणके अतिचारोंका निरूपण कीजिये ॥ ४८ ॥

उत्तर—हे विद्वन् ! तू चित्त लगाकर सुन, मैं समाधिमरणको विशुद्ध रखनेके लिये उस समाधिमरणरूपी धर्ममें दोष लगानेवाले समाधिमरणके अतिचारोंको कहता हूं ॥४९॥ जीविताशंसा, मरणेच्छा, भय, मित्रस्मृति और निदान ये पांच

॥ ४० ॥ सन्यासविधिना केचित् सौधर्मादिसुखालयम् । यावदच्युतकल्प च वहुभोगसमन्वितम् ॥ ४१ ॥ सन्यासमरणात्केचित् त्यक्त्वा प्राणान् नरोत्तमा । प्राप्य शक्रपदं नून पश्चाद्यान्ति शिवालयम् ॥ ४२ ॥ सल्लेखनाविधानेन केचिदभुक्त्वा महासुखम् । स्वर्गे भुजन्ति तीर्थेशसंपद दर्शनान्विता ॥४३॥ मरणाराधनेनैव देवलोकभव सुखम् । भुक्त्वा व्रजन्ति चक्रेशभूर्ति धर्मान्विता नरा ॥४४॥ जघन्याराधनेनैव सुख भुक्त्वा नृदेवजम् । सप्ताष्टभवपर्यन्तं यान्ति मुक्तिं क्रमाद् बुधा ॥४५॥ किमत्र वहुनोक्तेन सन्यासेन समो वृषः । न स्यात्कालत्रये नून नराणा शर्मसाधन ॥४६॥ एवं करोति सन्यास प्राणान्ते योऽपि श्रावक । अतिचारविनिर्मुक्तं सफल तस्य सद्व्रतम् ॥४७॥ सन्यासस्य व्यतीपातान् दिशध्व कृपया मम । भगवंश्च सुधर्माय सन्यासादि प्रसिद्धये ॥४८॥ एकचित्तेन भो धीमन् ! शृणु वक्ष्ये व्यति-

समाधिमरणके अतिचार गिनेजाते हैं ॥५०॥ जो समाधिमरण धारण करके भी अपने जीवित रहनेकी इच्छा रखता है उसके सल्लेखना व्रतमें जीविताशंसा नामका पहिला अतिचार लगता है ॥ ५१ ॥ जो उपवास धारण करके रोग क्लेश वा परीषहोंके कारण शीघ्र ही अपने मरनेकी इच्छा करता है उसके मरणाशंसा नामका अतिचार लगता है ॥ ५२ ॥ जो इस लोक तथा परलोक संबंधी तीव्र भय करता है उसके सन्यासमें मल उत्पन्न करनेवाला भय नामका अतिचार लगता है ॥ ५३ ॥ जो मोहके कारण अपने मित्रोंका तथा बालकपनके खेल कूदोंका स्मरण करता है उसके मित्रानुराग नामका अशुभ अतिचार लगता है ॥ ५४ ॥ जो पुरुष भोगोपभोगोंके कारणोंकी इच्छा करता है, आगेके लिये स्वर्गादिक राज्य चाहता है और इसप्रकार निदान करता है उसके अत्यन्त पाप उत्पन्न करनेवाला निदान नामका अतिचार लगता है ॥ ५५ ॥ जो बुद्धिमान् गृहस्थ पांचों अतिचारोंको छोडकर समाधिमरण धारण करता है उसको मुनिके समान फल मिलता है ॥ ५६ ॥ यह समाधिमरण समस्त गुणोंका निधान है, स्वर्ग मोक्षका एक अद्वितीय कारण है, जिनराज और गणधरदेव भी इसकी प्रशंसा करते हैं, यह पापरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुठार है, समस्त इंद्रियोंको वश करनेके लिये जाल है, व्रतोंसे परिपूर्ण है और पुण्यसे भरपूर है, इसलिये हे भव्य ! तू भी मरनेके समय होनेवाला समाधिमरण अवश्य धारण कर ॥ ५७ ॥ यहां तक व्रत प्रतिमाका निरूपण किया।

जो बुद्धिमान् प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल तीनों समय नियमपूर्वक सदा सामायिक करता है उसके तीसरी

क्रमात् । सन्यासस्य विमुक्त्यर्थं सन्यासव्रतदोपदान् ॥४९॥ भवेच्च जीविताशंसा मरणेच्छा ततो भयं । मित्रस्मृति निदानं च स्युःसन्यासे व्यतिक्रमा ॥५०॥ यः सन्यासं समादाय वाञ्छेत्स्वस्यैव जीवितम् । सल्लेखनाव्रतस्यैव तस्य दोषो भवेद्ध्रुवम् ॥ ५१ ॥ गृहीत्वाऽनशनं यस्तु रोगक्लेशपरीषहात् । इच्छेत्स्वमरणं सोऽपि व्यतीचारं भजेन्नरः ॥ ५२ ॥ करोति यो भयं तीव्रमिहामुत्र भवादिजम् । श्रयेत्सोऽपि व्यतीपातं सन्यासस्य मलप्रदम् ॥ ५३ ॥ मित्रानुस्मरणं योऽपि बाल्यावस्थादिक्रीडितम् । करोति मोहतस्तस्य जायतेऽतिक्रमोऽशुभः ॥५४॥ कुर्याद्योऽपि निदानं ना स्वर्गराज्यादिगोचरे । भोगहेतुं भजेत्सोऽपि मलं घोराशुभप्रदम् ॥५५॥ यो गृहस्थोतिधीयुक्तस्त्यक्त्वातीचारपञ्चकम् । सन्यासं कुरुते तस्य फलं मुनिसमं भवेत् ॥ ५६ ॥ सकलगुणनिधानं स्वर्गमोक्षैकहेतुं, जिनगणधरसेव्यं पापवृक्षे कुठारम् । सकलकरणपाशं सद्व्रतानां शुभाढ्यं, बुध कुरु मरणे त्वं सारसन्यासमेव ॥५७॥ करोति नियमेनैव नित्यं सामायिकं सुधीः । कालत्रये लभेत् सोपि तृतीया

सामायिक प्रतिमा कही जाती है॥५८॥ सामायिकका लक्षण उसकी विधि आदि सब हमने पहिले सामायिक नामके शिक्षाव्रतमें निरूपण किया है अतएव दूसरा कथन होजानेके कारण यहां नहीं कहा ॥ ५९ ॥ तीसरी प्रतिमा धारण करनेवाले बुद्धिमानोंको आवर्त नमस्कार आदि सहित सामायिकका स्वरूप वहांसे जान लेना चाहिये ॥ ६० ॥

जो गृहस्थ अष्टमी और चतुर्दशी दिन प्रत्येक महीनेके चारो पर्वोंमें प्रोषधोपवास करता है और प्राण नष्ट होनेपर भी उसको नहीं छोडता उसके चौथी प्रोपधोपवास प्रतिमा समझना चाहिये ॥ ६१ ॥ इस प्रोपधोपवासका स्वरूप पहिले प्रोपधोपवास नामके शिक्षाव्रतमें कह चुके हैं अब पुनरुक्त दोषके कारण और विस्तार होनेके डरसे यहां नहीं कहते हैं॥६२॥ चौथी प्रतिमा धारण करनेवाले गृहस्थोंको जिसमें समस्त पापोंका त्याग किया जाता है ऐसे इस प्रोपधोपवासकी विधि लक्षण कर्तव्य आदि सब वहींसे जान लेना चाहिये ॥ ६३ ॥

सचित्तविरत नामकी पांचवी प्रतिमा धारण करनेवाले बुद्धिमान् गृहस्थोंको आम, नारंगी, खजूर, केला आदि सब प्रकारके फल, नींव आदिक फूल, गेहूं, तिल, चावल, मूग, चना, इलाइची, जीरा आदि जिनमें अलग जीव रहनेकी संभावना है, अदरक आदि कंद वृक्षोंकी जड मूली, गीली छाल, पत्तियां, शाखा, कोंपल और अनंत जीवोंसे भरे हुए नागवेलके पान आदि सब प्रकारके सचित्त पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये ॥६४–६७॥ सचित्तविरत नामकी पांचवी प्रतिमा धारण करनेवाले धीरवीर पुरुषोंको अपनी पांचवीं प्रतिमाका पालन करनेके लिये जो पदार्थ अग्निपर पकाये हुए नही हैं, अथवा

प्रतिमां वराम् ॥५८॥ प्रोक्त सामायिकस्यैव पूर्वं सल्लक्षण मया । शिक्षाव्रते पुनर्नोक्तं द्विवारोक्तिभयात्स्फुटम् ॥५९॥ ज्ञातव्य तत्त्वतस्तत्र शुद्ध सामायिकं बुधै । तृतीयप्रतिमायुक्तैरावर्तनुतिसयुतम् ॥ ६० ॥ अष्टम्या च चतुर्दश्यां प्रोषध यो भजेत्सुधीः । प्राणान्तेऽपि त्यजेन्नैव चतुर्थीप्रतिमां श्रयेत ॥ ६१ ॥ सत्प्रोषधोपवास्य प्रोक्त पूर्वं सुलक्षणम् । पुनरुक्तिभयान्नैव प्रोक्त तद्विस्तरं मया ॥ ६२ ॥ ज्ञेयं तत्रोपवासस्य विधिकर्तव्यमंजसा । सर्वसावद्यत्यक्तस्य चतुर्थप्रतिमान्वितेः ॥६३॥ आम्रनारगखर्जूरकदल्यादिभत्र फलम् । सर्वक्षीरादिजं पुष्प निंवादिप्रभव तथा ॥ ६४ ॥ गोधूमतिलसच्छालिमुद्गसच्चणकादिकं । एलाजीरादिज बीज पृथक् जीवसमन्वितम् ॥ ६५ ॥ श्रृंगवेरादिजं कदमूलं वृक्षादिसभवम् । आर्द्रा तरुत्वक्शाखां कोपलादिकमेव च ॥ ६६ ॥ नागवल्यादिजं पत्र सर्वजीवसमाकुलम् । सचित्तं वर्जयेद्धीमान् सचित्तविरतो गृही ॥ ६७ ॥ अनग्निपक्वमन्यद्वा चेतनादिगुणान्वितम् । साचित्तविरतैर्धीरैर्नादेयं पतिमाप्तये ॥ ६८ ॥

जिनमें किसी प्रकारका भी चेतना गुण है ऐसे सचित्त पदार्थोंका अवश्य त्यागकर देना चाहिये ॥६८॥ पांचवी प्रतिमा धारण करनेवाले गृहस्थोंको जिसका निजका वर्ण वा रंग बदला नहीं है, न जिसका स्पर्श बदला है, ऐसे अप्रासुक और बिना गर्म किये हुए जलका त्याग कर देना चाहिये ॥ ६९ ॥ पांचवी प्रतिमा धारण करनेवाले गृहस्थोंको लौंग, काली मिरच आदि द्रव्योंके सम्बन्धसे जिसके निजका वर्ण बदल गया है अथवा जो अग्निमें गर्म कर लिया गया है ऐसा जल आंखोंसे परीक्षा कर ग्रहण करना चाहिये ॥७०॥ जो गृहस्थ बिना पके हुए अथवा आधे पके हुए सचित्त कंद, बीज, फल आदिको ग्रहण नहीं करता है उसके सचित्त विरत नामकी पांचवीं प्रतिमा होती है ॥ ७१ ॥ जो बुद्धिमान् सब तरहके प्राणियोंके भरे हुए सचित्त पदार्थोंको नहीं खाता वह दयाकी मूर्ति समझा जाता है और संसारमें उसीका जन्म सफल गिना जाता है ॥ ७२ ॥ जो दुष्ट अपनी जिह्वाकी लंपटताके कारण जीव सहित सचित्त पदार्थोंको जानकर भी खाता है वह क्या अनेको अमर समझता है ॥ ७३ ॥ जो समस्त सचित्त पदार्थोंको खाता है उसका मन निर्दय होजाता है और मनके निर्दय होनेसे नरकको लेजानेवाला पाप उत्पन्न होता है ॥ ७४ ॥ यही समझकर पापोंसे डरनेवाले चतुर पुरुषोंको प्राण नाश होनेपर भी महापाप उत्पन्न करनेवाले और अनेक जीवोंका घात करनेवाले सचित्त पदार्थ कभी ग्रहण नहीं करने चाहिये ॥ ७५ ॥ हे भव्य ! इन सचित्त पदार्थोंका ग्रहण करना समस्त पापोंकी खानि है, नरकमें पहुंचानेके लिये चतुर है, दुष्ट पुरुष ही इसका ग्रहण करते हैं, इसमें अनेक जीव रहते हैं, यह विषयसुखोंको उत्पन्न करनेवाला है और धीरवीर धर्मका शत्रु है इसलिये हे भव्य ! स्वर्ग मोक्षादिको सिद्ध करनेके लिये तू विषके समान इन सचित्त पदार्थोंका त्यागकर ॥ ७६ ॥

अत्यक्तात्मीयसद्वर्णरसस्पर्शादिकमञ्जसा । अप्रासुकमथातप्तं नीरं त्याज्यं व्रतान्वितैः ॥६९॥ वारि प्रात्मीयवर्णादित्यक्तं द्रव्यादियोगतः । तप्तं वाचाग्निनादेयं नयनाभ्यां परीक्ष्य भो ॥७०॥ अपक्वमर्द्धपक्वं वा कंदबीजफलादिकम् । सचित्तं नात्ति यस्तस्य पंचमी प्रतिमा भवेत् ॥७१॥ सचित्तं नात्ति यो धीमान् सर्वप्राणिसमाकुलम् । दयामूर्तेर्भवेत्तस्य सफलं जीवितं भुवि ॥७२॥ सचित्तं जीवसंयुक्तं ज्ञात्वा योऽश्नाति दुष्टधीः । स्वजिह्वालंपटात्किं स स्वं वेत्ति मरणच्युतम् ॥७३॥ अश्नात्येव सचित्तं यस्तस्यस्यान्निर्दयं मनः । मनो निर्दयतः पापं जायते श्वभ्रसाधकम् ॥ ७४ ॥ इति मत्वा न तद्द्रव्यं ग्राह्यं प्राणात्यये क्वचित् । पापभीतैर्महापापदायकं जन्तुघातकम् ॥७५॥ अशुभसकलखानिं श्वभ्रसदानदक्षं, कुजनगणगृहीतं सत्त्वयुक्तं सचित्तम् । विषयसुखकरं भो धीर ! धर्मस्य शत्रुं, त्यज विषमिव सर्वं स्वर्गमोक्षादिसिद्ध्यै ॥७६॥ अन्नपानं च

जो बुद्धिमान् रात्रिमें अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि चारों प्रकारके आहार पानीका त्याग कर देता है उसके रात्रिभोजन त्याग नामकी छठी प्रतिमा होती है ॥ ७७ ॥ रात्रिमें मनुष्योंकी थालियोंमें डांस, मच्छर, पतंग आदि छोटे छोटे अनेक जीव आ पडते हैं ॥ ७८ ॥ रात्रिमें यदि दीपक न जलाया जाय तो स्थूल जीव भी दिखाई नहीं पड सकते। यदि दीपक जला लिया जाय तो उसके प्रकाशसे थाली आदिमें और अनेक जीव आजाते हैं ॥ ७९ ॥ भोजन पकते समय भी उस अन्नकी वायु चारों ओर फैलती है इसलिये उस वायुके कारण उन पात्रोंमें अनन्त जीव आ आकर पडते हैं ॥ ८० ॥ पापोसे डरनेवाले मनुष्योंको ऊपर लिखे हुए अनेक दोपोसे भरे हुए रात्रि भोजनको विप मिले हुए अन्नके समान सदाके लिये अवश्य त्याग कर देना चाहिये ॥८१॥ चतुर पुरुषोंको लड्डू, पेडा, वरफी आदि खानेकी चीजें वा नारियलका दूध, फल आदि कोई भी पदार्थ ग्रहण नही करना चाहिये ॥ ८२ ॥ जो पुरुष रात्रिमें पेडा, वरफी आदि स्वाद्य पदार्थोंको खाते हैं—अन्नके पदार्थ नहीं खाते वे भी पापी हैं, क्योंकि अन्न व स्वाद्य पदार्थोंमें कोई भेद नहीं है ॥ ८३ ॥

चतुरपुरुषोंको रात्रिमें सुपारी, जावित्री आदि भी नहीं खानी चाहिये क्योंकि इनमें भी अनेक कीडोकी संभावना रहती है। इसलिये इनका खाना भी महा पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥ ८४ ॥ धीरवीर पुरुषोंको अपना दयाधर्म पालन करनेके लिये प्यास लगनेपर भी अनेक सूक्ष्म जीवोंसे भरे हुए जलको भी रात्रिमें कभी नहीं पीना चाहिये ॥ ८५ ॥ जो विद्वान् रात्रिमें चारों प्रकारका आहार त्याग कर देते है उन्हे प्रत्येक महीनेमें पंद्रह दिन उपवास करनेका फल प्राप्त

खाद्य च स्वाद्यं यो नात्ति शुद्धधीः। भजेत् रात्रौ सदा सोऽपि षष्ठी सुप्रतिमा वराम् ॥ ७७ ॥ दंशकीटपतंगादिसूक्ष्मजीवा अनेकधाः। स्थालमध्ये पतन्त्येव रात्रिभोजनसंगिनाम् ॥७८॥ दीपकेन विना स्थूला दृश्यन्ते नांगिनः क्वचित्। तदुद्योतवशाद्ये प्रागच्छन्तीव भाजने ॥७९॥ पाकभाजनमध्येषु पतन्त्येवांगिनो ध्रुवम्। अन्नादिपचनाद्रात्रौ म्रियन्तेऽनन्तराशय ॥ ८० ॥ इत्येव दोषयुक्तं त्याज्यं सभोजनं निशि। विषान्नमिव निःशेषं पापभीतैर्नरैः सदा ॥८१॥ दक्षैर्निशि नचादेयं स्वाद्यं सन्मोदकादिकम्। अन्यद्वा चाम्रपत्रालिकेरक्षीरफलादिकम् ॥८२॥ भक्षितं येन रात्रौ च खाद्यं तेनान्नमजसा। यतोन्नखाद्ययोर्भेदो न स्याद्धान्यादियोगतः ॥८३॥ भक्षणीयं भवेन्नैव पत्रपूगीफलादिकम्। कीटाढ्यं सर्वथा दक्षैर्भूरिपापप्रदं निशि ॥८४॥ न ग्राह्यं प्रोदकं धीरैर्विभावर्यां कदाचन। तृट्शान्तये स्वधर्माय सूक्ष्मजन्तुसमाकुलम् ॥८५॥ चतुर्विधं सदाहारं ये त्यजन्ति बुधा निशि। तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासस्य जायते ॥८६॥ इति मत्वा सदा त्याज्यं

होता है ॥ ८६ ॥ यही समझकर मनुष्योंको धर्मकी सिद्धिके लिये, तपके लिये वा मोक्ष प्राप्त करनेके लिये, रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग सदाके लिये कर देना चाहिये ॥ ८७ ॥ जो मनुष्य व्रत पालन करनेके लिये रात्रिमें अन्नपान आदि सब प्रकारके आहारका त्याग कर देता है उसके आत्माको शुद्ध करनेवाला अपार पुण्य होता है ॥ ८८ ॥ रात्रिमें आहारका त्याग कर देनेसे इंद्रियां सब वशीभूत होजाती हैं और इंद्रियोंके वशीभूत होनेसे जीवोंके वात पित्त आदिसे उत्पन्न हुए सब रोग नष्ट होजाते हैं ॥ ८९ ॥ जो गृहस्थ रात्रिमें स्वयं पानी तकका भी त्याग कर देते हैं उनके लिये तीनो लोकोंमें रहनेवाली लक्ष्मी अपने आप आजाती है ॥ ९० ॥ रात्रिभोजनका त्याग करनेसे प्राणियोंके रोग सब नष्ट होजाते हैं, उनके शरीरमें लावण्यता आजाती है, अनेक गुण आजाते हैं और वे सवतरहसे सुंदर होजाते हैं ॥ ९१ ॥ रात्रिभोजनका त्याग करनेसे जीवोंको अनेक भोगोपभोगोंसे भरे हुए और अपरिमित सुखसे भरे हुए राज्यकी प्राप्ति होती है इसमें कोई संदेह नहीं ॥ ९२ ॥ रात्रिमें आहार पानीका त्याग कर देनेसे जीवोंको स्वर्गके देवोंकी विभूतियोंसे सुशोभित निरुपम सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ९३ ॥ जो अज्ञानी सदा रात्रिमें भोजन करते रहते हैं उनके इस लोकमें भी कोढ वा वायु आदिके अनेक प्रकारके महा रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ९४ ॥ रात्रिमें भोजन करनेवाले मनुष्योंकी लक्ष्मी सब भग जाती है और महा दुःख देनेवाली घोर दरिद्रता उनके सामने आ उपस्थित होती है ॥९५॥ जो मनुष्य जिह्वाके स्वादसे लंपटी होकर रात्रिमें भोजन करते हैं उनके महा पाप उत्पन्न होता है और वे अगले जन्ममें नरकमें ही जाकर पडते हैं ॥९६॥

जेत रात्रौ चतुर्विधम् । आहार धर्मसिद्धयर्थं तपोर्थं वा विमुक्तये ॥८७॥ पानादिसर्वमाहार ये त्यजन्ति जना निशि । व्रताय जायते पुण्य तेषा सार सुखाकरम् ॥ ८८ ॥ वातपित्तादिज रोग सर्वं नश्यति देहिनाम । रजन्याहारसंत्यागादिन्द्रियरोपकारणात् ॥ ८९ ॥ नीरादिक गृहस्था ये वर्जयन्ति निशि स्वयम् । ताश्च लक्ष्मी. समायाति लोकत्रितयसस्थिता ॥९०॥ रोगमुक्त लभेत्प्राणी वपुर्लावण्यसयुतम् । गुणाढ्य कमनीय च रात्रिभोजनवर्जनात् ॥९१॥ भूरिभोगोपभोगाढ्य राज्य सौख्याकर भुवि । निशाहारपरित्यागाद्भजेत् जीवो न सशय ॥९२॥ अनौपम्य सुख नृणा जायते स्वर्गगोचरम् । देवविभवसपन्नं भुक्तात्यजनान्निशि ॥ ९३ ॥ निशीथिन्यां सदाहार ये खादन्ति खला इह । महारोगा हि स्युस्तेषा कुष्टवातादिजा. सदा ॥९४॥ लक्ष्मीः पलायते पुसा रात्रिभोजनकारिणाम् । भूरिदु खप्रद घोर दारिद्र्य सन्मुखायते ॥ ९५ ॥ अश्नन्त्येव शठा रात्रौ ये भक्त स्वादलंपटा- । भूरिपापभरादश्वभ्रकूपे पतन्ति ते ॥ ९६ ॥ शृगालश्वानमार्जारनृपभादिगतिं

रात्रिभोजनमें लालसा रखनेवाले मनुष्य मरकर परलोकमे गीदड़, कुत्ता, बिल्ली, बैल आदि नीच गतियोंमें जाकर उत्पन्न होते है ॥ ९७ ॥ रात्रिभोजनके पापसे यह मनुष्य परलोकमें भील, चांडाल, बहेलिया आदिके नीच कुलोमें महा दरिद्री उत्पन्न होता है ॥ ९८ ॥ रात्रिमें भोजन करनेके पापसे अनेक दोषोंसे परिपूर्ण, पाप उत्पन्न करनेवाली, मलिन, रागद्वेषसे अंधी, शीलरहित, कुरूपिणी और दुःख देनेवाली स्त्री मिलती है ॥ ९९ ॥ रात्रिभक्षण करनेसे इस मनुष्यको पुत्र अनेक बुरे व्यसनोंसे रंगे हुए मिलते है, पुत्रियां शीलरहित मिलती हैं और भाई बंधु आदि शत्रुओके समान दुःखदाई मिलते हैं ॥ १०० ॥ यह जीव रात्रिभोजनके पापसे भवभवमें अन्धा, बौना, कुब्जा, दरिद्री, कुरूप, बदसूरत, लंगडा, कुशीली अनेक बुरे व्यसनोंका सेवन करनेवाला, दुःखी, डरपोक, अपनी ही अपकीर्ति फैलानेवाला, थोडी आयुवाला, पापी, कुजन्मा, अङ्ग भङ्ग शरीरवाला, दुर्गतियोमें जानेवाला, कुमार्गगामी और अत्यन्त निंद्य होता है ॥ १०१–१०३ ॥ बहुत कहनेसे क्या ! थोडेसेमे इतना समझ लेना चाहिये कि संसारमें जो कुछ दुःख हैं वे सब मनुष्योंको रात्रिभोजनके पापसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ १०४ ॥ जो मूर्ख रात्रिमें भी आहार पानी नहीं छोडते वे आठों पहर भक्षण करनेके कारण पशु ही समझे जाते है ॥ १०५ ॥ रात्रिभोजनमें सदा तत्पर रहनेवाले मनुष्य कीडे, मकोडे, पतंगे आदि अनेक सूक्ष्म जीवोंको भक्षण कर जाते हैं इसालिये वे मांस भक्षियोंके ही समान गिने जाते हैं ॥ १०६ ॥ जो अज्ञानी मनुष्य पान सुपारी आदि भी रात्रिमें खाते हैं वे भी उसके साथ अनेक कीडे मकोडेका भक्षण कर जाते है इसलिये मांस त्यागका नियम उनके भी नहीं निभ सकता

खलाः ।ब्रजन्ति परलोकेऽपि रात्रिभोजनलालसा ॥९७॥ भिल्लमातगव्याघ्रादिकुलं दारिद्र्यसंकुलम् । रात्रिभोजनसंजातपापादग्रे श्रयेन्नरः ॥ ९८ ॥ दोषाढ्या पापदा घोरा रागांधा शीलवर्जिता । कुरूपा जायते नारी भोजनान्निशि दुःखदा ॥ ९९ ॥ पुत्रान् दुर्व्यसनोपेतान् सुताः शीलादिवर्जिताः । बांधवान् शत्रुतुल्यांश्च लभेन्ना रात्रिभक्षकः ॥१००॥ अंधत्वं वामनत्वं च कुब्जत्वं च दरिद्रताम् । दुर्भगत्वं कुरूपित्वं पंगुत्वं शीलहीनताम् ॥१०१॥ व्यसनत्वं च दुःखित्वं भीरुत्वं च कुकीर्तिताम् । अल्पायुश्च कुजन्मत्वं पापित्वं विकलांगताम् ॥१०२॥ दुर्गतित्वं कुमार्गत्वं परलोकेऽतिनिन्दिताम् । रात्रिभोजनपापेन लभेत्प्राणी भवे भवे ॥ १०३ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन संसारे दुःखमेव यत् । तत्सर्वं जायते पुंसां रात्रिभोजनपापतः ॥१०४॥ रात्रावपि न ये मूढा आहारं त्यजन्ति भो । पशवस्ते नरा नैव चाष्टप्रहरभक्षणात् ॥१०५॥ आमिषाशीसमो ज्ञेयो रात्रिभोजनतत्परः । सूक्ष्मकीटपतंगादिजीवराशिप्रभक्षणात् ॥ १०६ ॥ ये रात्रौ च प्रखादन्ति शठाः पत्रादिकं सदा ।

॥ १०७ ॥ जो मनुष्य आंखसे दिखाई देनेवाले अनेक कीडोंसे भरे हुए जलको रात्रिमें पीते हैं वे अन्य पापोंके समान
अहिंसाव्रतको किसप्रकार पालन कर सकते हैं अर्थात् जैसे अन्य पापोंमें अहिंसाव्रत नहीं पल सकता उसीप्रकार रात्रि-
भोजनमें भी अहिंसाव्रत नहीं पल सकता ॥ १०८ ॥ चतुर पुरुषोंको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अनेक जीवोंकी हिंसा
करनेवाला, महा पाप उत्पन्न करनेवाला और महा पापरूप ऐसे चारों प्रकारके आहारका रात्रिभोजन अवश्य छोडदेना
चाहिये ॥ १०९ ॥ संसारमें एकवार प्राणोंको नाश करनेवाला हलाहल विष खालेना अच्छा, परंतु अनेक भवोंतक दुःख
देनेवाला रात्रिभोजन करना अच्छा नहीं ॥ ११० ॥ यही समझकर विद्वानोंको प्राणोंके वियोग होनेका समय आनेपर भी
अभक्ष्यके समान रात्रिमें सब प्रकारके आहारका त्याग सदाके लिये कर देना चाहिये ॥१११॥ पापोंसे डरनेवाले गृहस्थोंको
मन वचन कायसे रात्रिमें किसी भूखेको भी पाप उत्पन्न करनेवाला भोजन नहीं देना चाहिये ॥ ११२ ॥ जो मनुष्य मन
वचन कायसे व कृत कारित अनुमोदनासे रात्रिभोजन नहीं करता उसके यह रात्रिभोजन त्याग नामका व्रत निर्मल रीतिसे
पालन होता है ॥ ११३ ॥ हे मित्र ! यह रात्रिभोजन त्याग नामका व्रत नरकरूपी घरको बंद करनेके लिये किवाड है,
स्वर्गरूपी घरके लिये मुख्य मार्ग है, समस्त सज्जन इसका पालन करते हैं, समस्त श्रेष्ठ व्रतोंकी जड है, पाप रहित है,
आत्माको सुख देनेवाला है और धर्मरत्नकी खानि है। हे मित्र ! ऐसे इस रात्रिभोजनका त्याग नामके व्रतको तू सदा

ये पिबन्ति जना नीरं कीटाढ्यं दृष्टिगोचरम्। अघा इव कथं तेषामहिंसाख्यं व्रतं
कीटादिभक्षणे तेषामामिषे नियमः कथम् ॥१०७॥ वरं हालाहलं लोके भक्षितं
निशि ॥१०८॥ महापापप्रदं त्याज्यं सदाहारं चतुर्विधम्। जीवहिंसाकरं दक्षैः स्वर्गमुक्तिप्रसिद्धये ॥१०९॥ प्राप्ते प्राणवियोगेपि न
प्राणनाशकम्। वारैकं हि न चाहारं रुख्यातीतं भवे नृणाम् ॥११०॥ इति ज्ञात्वा बुधैः सर्वमाहारं निशि सर्वथा। ॥११२॥ कायवाङ्मनसा
भोक्तव्यमखाद्यवत् ॥१११॥ क्षुधातुराय कस्मैचिन्न दातव्यं गृहान्वितैः। भोजनं निशि पापाय भक्तैः पापकरं त्रिधा ॥११२॥ कायवाङ्मनसा
योऽपि नात्ति चाहारमञ्जसा। सक्तादिकं सकलैः तस्य स्यान्निर्मलं व्रतम् ॥११३॥ नरकगृहकपाटं स्वर्गगेहाग्रमार्गं, सकलसुजनसेव्यं सद्व्रत-
स्यापि मूलम्। स्वसुखकरमपापं धर्मरत्नस्य खानिं, व्रतमपि भज मित्र ! रात्र्यभुक्ताख्यनाम ॥ ११४ ॥ आद्याः षट्प्रतिमा योऽपि धत्ते
सच्छ्रावको भुवि। स जघन्यो जिनैरुक्तः पूज्यो नाकेश्वैरपि ॥ ११५ ॥

इति श्रीभट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे सल्लेखनासामायिकादिप्रतिमाचतुष्टयप्ररूपको नाम द्वाविंशतितम परिच्छेदः।

पालन कर ॥ ११४ ॥ जो इन पहिली छह प्रतिमाओंका पालन करता है वह जघन्य श्रावक कहलाता है और इंद्रके द्वारा भी पूज्य होता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ११५ ॥

इसप्रकार आचार्य श्री सकलकीर्तिविरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें सल्लेखना, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग और रात्रिभोजन त्याग प्रतिमाओंको निरूपण करनेवाला यह बाइसवां परिच्छेद समाप्त हुआ।



अथ तेईसवाँ परिच्छेद।

जो पार्श्वनाथ भगवान देवोंके द्वारा पूज्य है, शिष्योंको अपने समीप ही स्थान देनेवाले है, और जिनके समीपका निवास अनन्त सुख देनेवाला है ऐसे श्री पार्श्वनाथ तीर्थकर परम देवको मैं उनके समीप पहुचनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ अब मैं मोक्ष प्राप्त करनेके लिये तीनों लोकोंमें पूज्य और कातर जीवोंके लिये अत्यन्त कठिन ऐसी ब्रह्मचर्य प्रतिमाको कहता हूं ॥ २ ॥ जो मनुष्य मनके सब राग भावोको छोडकर छोटी कन्याओंको अपनी पुत्रीके समान देखता है, रूप लावण्यसे सुशोभित यौवनवती स्त्रियोंको अपनी बहिनके समान देखता है और असन्त गुणवती वृद्ध स्त्रियोंको अपनी माताके समान देखता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है ॥ ३–४ ॥ देखो, स्त्रियोका मुंह कफसे भरा हुआ है, चमडेसे मढा हुआ हड्डियोंका समूह है ,सब बुरी चीजोंका आधार है, दुर्गंधमय है और कुटिल है ॥५॥ स्त्रियोंके स्तन मांसके पिंड है, नेत्रोंको लोभ उत्पन्न करनेवाले हैं और नरककी सीडी है, पेट विष्ठा व अनेक प्रकारके कीडोंसे भरा हुआ है, ॥ ६ ॥

अथ त्रयोविंशातितमः सर्गः।

पार्श्वनाथ जिनं वन्दे सुपार्श्वं पार्श्वदायकम्। विनेयाना सुरैरर्च्यं प्रभुं तत्पार्श्वहेतवे॥१॥ भुवनत्रयसंपूज्यां वक्ष्ये स्वर्मुक्तिहेतवे। प्रतिमा ब्रह्मचर्याख्या दुष्करां कातरागिनाम् ॥२॥ बालां सत्कन्यकां सारां रूपलावण्यभूषिताम्। नारीं सद्यौवनोन्मत्तां वृद्धां सर्वगुणाकराम् ॥३॥ स्वपुत्री भगिनीमातृसमां पश्यति यः सदा। त्यक्त्वा च मनसा रागं ब्रह्मचारी भवेत्स ना ॥४॥ मुख श्लेष्मादिसंसक्त चर्मबद्धास्थि-सञ्चयम्। सर्वामनोग्यताधारं दुर्गन्धं कुटिलान्वितम् ॥ ५ ॥ मांसपिंडौ स्तनौ श्रेणिभूतौ नेत्रादिलोभदौ। प्रोदरं सप्तसंधातुविष्ठाकृम्यादि-सकुलम् ॥ ६ ॥ स्रवन्मूत्रादिकं निंद्यं बीभत्सं जघनं सदा। पूतिगंधाकरं घोरं श्वभ्रकूपमिवाशुभम् ॥७॥ इत्येव च वरस्त्रीणां रूपं चित्ते स

स्त्रियोंका जघनस्थल अत्यन्त घृणाजनक है, निंद्य है, मूत्रादिक मल सदा उससे बहता रहता है, अत्यन्त दुर्गंध सहित है और घोर नरक कूपके समान अशुभ है ॥ ७ ॥ पवित्र ब्रह्मचर्यमें तत्पर रहनेवाले मनुष्योंको अपने हृदयमें स्त्रियोंका स्वरूप इसप्रकार चिंतवन करना चाहिये। यह स्त्रियोंका रूप केवल बाहरसे ही सुन्दर दिखता है ॥ ८ ॥

स्त्रियोंका स्वरूप इसीप्रकारका है, वह केवल ऊपरसे चमडेसे ढका हुआ है, जो पुरुष ऐसी स्त्रियोंका त्याग करता है उसके निर्मल ब्रह्मचर्य होता है ॥ ९ ॥ जो पुरुष ब्रह्मचर्यका पालन नहीं करते उनके अत्यंत दुःख देनेवाले कास, श्वास, कंप, वायु आदि अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होजाते हैं ॥१०॥ स्त्रीसेवनसे कभी तृप्ति नहीं होती, प्राप्त होनेपर यह अत्यंत नीरस होता है, अत्यंत अपवित्र है, अपवित्रता करनेवाला है, निंद्य है, निंद्य क्रियासे उत्पन्न होता है, अशुद्ध स्थानोंसे उत्पन्न होता है, भयानक है, तीव्र दुःख उत्पन्न करनेवाला है, महा मुनिराज दूरसे ही इसका त्याग कर देते है, यह सर्पके घरके समान है, रात्रिमें नीच लोगोंके द्वारा सेवन किया जाता है, गधा आदि नीच पशु सदा इसका सेवन करते हैं अथवा दुष्ट मूर्ख इसे अमृत समझकर इसका आदर करते हैं, यह स्त्रियोंके शरीरके संघट्टनसे उत्पन्न होता है, नरक तिर्यंच आदि कुगतियोंको देनेवाला है, दाह कंपा आदि अनेक रोगोंको उत्पन्न करनेवाला है, पापकी जड है, अत्यंत घृणित है, और अनेक दोषोंसे भरपूर है ! ब्रह्मचारियोंको अपने निर्दोष ब्रह्मचर्यको पालन करनेके लिये इस स्त्रीसेवनका सदा इसीप्रकार चिंतवन करते रहना चाहिये ॥ ११–१५॥ स्त्रियोंका शरीर स्वभावसे ही निंद्य है, अनेक जंतुओंसे भरा हुआ है और अनेक जीवोंके उत्पन्न होनेका स्थान है ऐसे अपवित्र और अशुद्ध स्त्रियोंके शरीरमें भला कौन ज्ञानी प्रेम करेगा ॥ १६ ॥

चिंतयेत् । बाह्ये सत्सुन्दरं मध्ये पवित्र ब्रह्मतत्परः ॥८॥ ईदृग्विधं सुनारीणां रूपं चर्मावृतं सदा । पश्येद् यो ना भजेत्सोऽपि ब्रह्मचर्यं सुनिर्मलम् ॥९॥ कासश्वासादिसद्रोगाः कंपवातादिसंभवाः । अब्रह्मचारिणां पुंसां जायन्ते दुःखदायकाः ॥ १० ॥ अतृप्तजनकं सेवा प्रान्ते चात्यन्तनीरसम् । अपवित्रकरं निंद्यं निंद्यकर्मसमुद्भवम् ॥ ११ ॥ अशुचिस्थानजं घोरं तीव्रदुःखाकरं भुवि । महामुनिजनैस्त्याज्यं सर्पागार-मिवानिशम् ॥१२॥ सेव्यं नीचजनैर्नित्यं पशुभिर्गर्दभादिभिः । आदरेण शठैर्दुष्टैः मन्यमानैर्सुधामृतम् ॥१३॥ नार्यंगसंपदोद्भूतं श्वभ्रतिर्य-ग्गतिप्रदम् । दाहकं पापदं दुष्टं पापमूलं घृणास्पदम् ॥१४॥ बहुदोषसमायुक्तं मैथुनं चिंतयेत्सदा । ब्रह्मचारी विनिर्मुक्तो दोषैर्ब्रह्मवृषाप्तये ॥१५॥ स्त्रीणां स्वभावतः काये निंद्ये जन्तुसमाकुले । जीवोत्पत्तिप्रदेशे च को ज्ञानी रमतेऽशुचौ ॥१६॥ योनिस्तनप्रदेशेषु हृदि कक्षान्त-

स्त्रियोंकी योनिमें, स्तनोंमें, कांखोंमें अत्यन्त सूक्ष्म मनुष्य सदा उत्पन्न होते रहते हैं ॥ १७ ॥ उन जीवोंकी संख्या नौ लाख है और वे सब स्त्रीसेवन करनेसे मर जाते हैं ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने अपने केवलज्ञान रूपी नेत्रोंसे देखकर बतलाया है ॥ १८ ॥ जिसप्रकार कपास वा रुईसे भरी हुई नाली अग्निके संयोगसे जल जाती है उसीप्रकार स्त्री सेवन करनेसे योनिके सब जीव मर जाते हैं ॥ १९ ॥ स्त्री सेवन करनेसे अनेक जीवोंका घात होता है और नरकमें पहुंचानेवाला महा राग उत्पन्न होता है इसलिये मनुष्योंको स्त्री सेवन करनेसे महापाप उत्पन्न होता है ॥ २० ॥ मनुष्योंको हलाहल विष खा लेना अच्छा, परन्तु स्त्री सेवन करना अच्छा नहीं, क्योंकि हलाहल विष खानेसे एक भवमें ही मृत्यु होगी परन्तु स्त्रीसेवन करनेसे असंख्यात भवोंमें महा दुःख प्राप्त होगा ॥ २१ ॥ फणा निकाले हुए क्रोधित हुई सर्पिणीका आलिंगन कर लेना अच्छा परन्तु महा दुःख देनेवाली और नरकरूपी घरकी देहलीके समान स्त्रीका आलिंगन करना अच्छा नहीं ॥ २२ ॥ जिसप्रकार सर्पिणीकी दुःख देनेवाली संगति अच्छी नहीं उसीप्रकार ब्रह्मचारियोंको कुछ नहीं तो कलंक लगनेकी शंकासे ही स्त्रियोंकी संगतिका त्याग कर देना चाहिये ॥ २३ ॥ सांप, वाघ, शत्रु व चोर आदिकोंके साथ रहना तो अच्छा परन्तु स्त्रियोंके समीप क्षणभर भी रहना अच्छा नहीं क्योंकि स्त्रियोंके साथ रहनेमें क्षणभरमें ही कलंक लगनेकी शंका रहती है ॥ २४ ॥ जिस मकानमें स्त्रियोंके चित्र भी हों उस मकानमें भी व्रतियोंको रहना ठीक नहीं है फिर भला जिनमें स्त्रियं स्वयं रहती हों उनमें तो रहना बहुत ही बुरा है ॥ २५ ॥ व्रतियोंको स्त्रियोंके साथ रहनेमें पहिले अमिट कलंक लगता है, फिर व्रतभंग होता है और फिर नरकगतिमें महा दुःख भोगने पडते हैं ॥ २६ ॥ ब्रह्मचर्यको पालन करते हुए उस व्रतके

रेष्वपि । अतिसूक्ष्माः मनुष्याश्च जायन्ते योषिता सदा ॥१७॥ नवलक्षागिनोऽत्रैव म्रियन्ते मैथुनेन भो । इत्येव जिननाथेन प्रोक्त केवललोचनात् ॥१८॥ कर्पासेनभृता यद्वन्नालिकानलयोगतः । ज्वलत्येव तथा जीवा म्रियन्ते लिंगघट्टनात् ॥ १९ ॥ मैथुनेन महापाप जायते प्राणिनां ध्रुवम् । जीवघातान्महारागसंभवात् श्वभ्रसाधकम् ॥२०॥ वरं हालाहलं भुक्तमंगिनां न च मैथुनम् । भवैकमृत्युदं संख्याव्यतीतभवदुःखदम् ॥२१॥ वरमालिंगिता क्रुद्धा सर्पिणी फणसंयुता । न च स्त्री श्वभ्रगेहस्य प्रतोली भूरिदुःखदा ॥ २२ ॥ ब्रह्मचारी पुमान् नित्य त्यजेत्सग सुयोपिताम् । कलकशंकयात्यतमहिसंगमिवाशुभम् ॥ २३ ॥ एकत्र वसति श्लाघ्या सर्पव्याघ्रारितस्करैः । न च नारीसमीपेऽपि क्षणमेकं कलकवत् ॥२४॥ चित्रादिनिर्मिता नारी यत्र स्यान्मन्दिरेऽशुभा । तत्र स्थानं न योग्यं च व्रतीनां किं तदाश्रिते ॥२५॥ कलंकं

साथ श्रेष्ठ मरण कर जाना अच्छा परंतु ब्रह्मचर्यव्रतके विना असंख्यात वर्ष भी जीवित रहना अच्छा नहीं ॥ २७ ॥ जो कोई मनुष्य अनेक शास्त्रोंका जानकार हो, गुणवान हो और तपश्चरणसे सुशोभित हो परंतु ब्रह्मचर्य पालन न करता हो तो फिर संसारमें उसका कहीं कोई आदर सत्कार नहीं करता ॥ २८ ॥ जिसप्रकार विना दांतोंके हाथी शोभायमान नहीं होता, विना हाथोंके शूरवीर शोभा नहीं देता और विना दानके गृहस्थ शोभा नहीं देता उसीप्रकार ब्रह्मचर्यके विना व्रती मनुष्य भी शोभा नही देता ॥ २९ ॥ जिसप्रकार बुझाया हुआ अग्नि अपमानको प्राप्त होता है, निंद्य समझा जाता है उसी-प्रकार ससारमें ब्रह्मचर्यरूपी तेजसे रहित होनेपर व्रती मनुष्य भी सर्वथा निंद्य समझा जाता है ॥ ३० ॥ जो ब्रह्मचर्यसे रहित है वह घरका स्वामी होकर भी अपने ही कुटुंबीलोगोंसे अपमानित होता है फिर भला वह अन्य लोगोंसे अपमानित क्यों न होगा ॥ ३१ ॥ कहीं कहीं पर योगीलोग सर्प, शत्रु और वाघ आदिके साथ रहना अच्छा समझते हैं परंतु पापोंसे डरकर ब्रह्मचर्य व्रतको भंग करनेवालोंके साथ स्वप्नमें भी रहना स्वीकार नहीं करते ॥ ३२ ॥ ब्रह्मचर्यको भंग करनेवाले मनुष्योंको इसलोकमें भी राजाकी ओरसे भी वध बंधन आदिके अनेक दुःख भोगने पडते हैं इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ३३ ॥ ब्रह्मचर्यको न पालने वाले महा मूर्ख मनुष्य महा पापके भारसे परलोकमें भी घोर महा दुःखोंसे भरे हुए दुर्गतियोंके दुःख भोगते हैं ॥३४॥ ब्रह्मचर्यव्रतके साथ साथ एक दिन भी जीवित रहना अच्छा परंतु विना ब्रह्मचर्यके करोडों पूर्वोतक भी जीवित रहना अच्छा नही ॥ ३५ ॥ जिस व्रतीने समस्त सुख देनेवाला ब्रह्मचर्यव्रत छोड दिया उसने समस्त

लभते पूर्वं दुस्त्यज योपिताश्रयात् । व्रतिभिर्व्रतभग च पश्चात् श्वभ्रगतिप्रदम् ॥२६॥ वर सन्मरणं लोके ब्रह्मचर्यसमायुतम् । तद्विना न च जीवाना जीवितव्यमसख्यत' ॥२७॥ शास्त्रवान् तपयुक्तोपि तपसालकृतो व्रती । ब्रह्मचर्यच्युतो लोके सर्वत्रैवावमन्यते ॥२८॥ दन्तभग्नो यथा नागो हस्तहीनो भटो नरः । दानहीनो गृही नामादब्रह्मचर्यच्युतो व्रती ॥२९॥ विध्यापितोऽनलो यद्वल्लभत्येवापमानताम् । सद्ब्रह्मते-जसा हीनो व्रती लोके च सर्वथा ॥३०॥ विकलो ब्रह्मचर्येण यो यतिः स्वजनादिभिः । असत्कार लभेदत्र किन्न सोऽन्यजनैरपि ॥ ३१ ॥ क्वचित्सर्पारिव्याघ्राणा सगमिच्छन्ति योगिन' । न च स्वप्नेऽघभीत्येव ब्रह्मव्रतच्युतात्मनाम् ॥३२॥ राजादिकजनात्सर्वं वधवधसमुच्चयम् । अब्रह्मचारिणो जीवा लभन्तेऽत्र न सशयः ॥३३॥ अमुत्र दुर्गतिं यान्ति ब्रह्मव्रतच्युता' शठाः । महापापभरेणैव घोरदु.खाकुलां ध्रुवम् ॥३४॥ जीवितव्य वर चैकदिन ब्रह्मव्रतान्वितम् । तद्विना न च पूर्वाणा कोटीकोटी विशेषतः ॥३५॥ ब्रह्मचर्यं परित्यक्त व्रतिना येन

व्रतोंको छोड दिया ही समझना चाहिये क्योंकि विना ब्रह्मचर्यके कोई व्रत हो ही नहीं सकता ॥ ३६ ॥ ब्रह्मचर्यका भंग करनेसे हिंसा होती है, झूठ वोलना पडता है और स्त्री आदि पर पदार्थोंकी इच्छा करनी पडती है। इसप्रकार उसे सब प्रकारके पाप करने पडते है ॥ ३७ ॥ जिसप्रकार दिनके विना सूर्य दिखाई नही देता उसीप्रकार चतुर पुरुषोंको विना ब्रह्मचर्यके कोई भी व्रत दृष्टिगोचर नही होता ॥ ३८ ॥ अन्य सव व्रतोंके विना इस संसारमें एक ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करना सवसे उत्तम है क्योंकि विना ब्रह्मचर्यके मनुष्योंको कोई व्रत हो ही नहीं सकता है ॥ ३९ ॥ यही समझकर धीर-वीर पुरुषोंको वडी दृढताके साथ शीलव्रत पालन करना चाहिये और दुर्लभ निधिके समान उसे प्राण नाश होनेपर भी नहीं छोडना चाहिये ॥ ४० ॥ इस ब्रह्मचर्य व्रतको धीरवीर ज्ञानी व्रतोंके पालन करनेमें सदा तत्पर रहनेवाले मनुष्य ही पालन कर सकते हैं अन्य कातर मनुष्योंसे यह कभी पालन नहीं हो सकता ॥ ४१ ॥ जो शूरवीर मनुष्य वाणोंकी वर्षासे भरे हुए युद्धमें अचल खडे रहते हैं वे ही शूरवीर स्त्रियोंके कटाक्षोंके युद्धमें कभी नहीं ठहर सकते ॥ ४२ ॥ हाथी वाघ और शत्रुओंको गिरादेने वाले वहुतसे शूरवीर देखे जाते हैं परंतु कामदेवरूपी मल्लको गिरादेने वाला कोई भी दिखाई नही देता। काम मल्लको मारनेवाले केवल उत्तम मुनि ही हैं ॥४३॥ इस संसारमें ब्रह्मचर्य पालन करनेवालोंको ही ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली सव पदार्थोंको सिद्ध करनेवाली महाविद्याएं सिद्ध होती हैं इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ४४ ॥ संसारमें वे ही मनुष्य धन्य हैं और वे ही मनुष्य तीनों लोकोंमें पूज्य हैं जो वड़ी दृढताके साथ अखंड शीलव्रतका पालन करते हैं और जो स्त्रियोंके द्वारा वा अन्य लोगोके द्वारा घोर उपसर्ग और परीषहोंके आजानेपर भी स्वप्नमें भी उसे नहीं छोडते

सौख्यदम् । सर्वं व्रतादिकं तेन तद्विना च यतो न तत् ॥ ३६ ॥ अब्रह्माज्जायते हिंसा वचोऽसत्यं नृणा ध्रुवम् । आकांक्षा च परस्यैव लक्ष्मीरामादिगोचरा ॥ ३७ ॥ दिवसेन विना सूर्यो तथा नैवोपलभ्यते । यथा सर्वव्रत दक्षैर्ब्रह्मचर्यं विना न च ॥ ३८ ॥ सर्वव्रतच्युतं लोके श्लाघ्यं ब्रह्मव्रतं भुवि । तद्विना न च सत्पुसां सर्वं व्रतसमुच्चयम् ॥३९॥ इति मत्वा जनैर्धीरै ग्राह्यं शीलव्रतं दृढम् । प्राणान्तेपि न मोक्तव्यं निधानमिव दुर्लभम् ॥४०॥ धीरैर्वीरैर्नरैर्दक्षैर्ज्ञानिभिर्व्रततत्परैः । ब्रह्मचर्यं व्रतं धर्तुं शक्यते न च कातरैः ॥४१॥ वाणवृष्टि-समाकीर्णे रणे तिष्ठन्ति ये भटाः । योषित्कटाक्षसंग्रामे न च स्थातु क्षमा हि ते ॥ ४२ ॥ दृश्यन्ते वहवः सूराः हस्तिव्याघ्रादिपातने । काममल्लनिपाते ते न च सन्मुनयः परम् ॥४३॥ ब्रह्मव्रतात्मना पुसां सिद्ध्यंति च न संशयः। महाविद्याःसमस्तार्थसाधका ज्ञानसंभवा ॥४४॥

॥ ४५ ॥ ब्रह्मचर्य पालन करनेवालोंके चरणकमलोंको इंद्र आदि समस्त देव भी भक्तिके बोझसे नम्र होकर मस्तक झुकाकर
नमस्कार करते है ॥ ४६ ॥ इस शीलव्रतके प्रभावसे भक्तिसे नम्रीभूत हुए देवोंके भी आसन कंपायमान होजाते हैं अथवा
इस शीलव्रतके प्रभावसे इस संसारमें क्या क्या महिमा प्राप्त नहीं होती है अर्थात् सब प्रकारकी महिमा प्राप्त होजाती है
॥ ४७ ॥ ब्रह्मचर्यव्रतको पालन करनेवाले मनुष्योंके चरणकमलोंको चक्रवर्ती आदि महापुरुष] भी भक्तिके बोझसे दवकर
नमस्कार करते हैं फिर भला अन्य राजाओंकी तो वात ही क्या है ॥ ४८ ॥ इस ब्रह्मचर्यव्रतके फलसे ही मनुष्योंको महा
विभूतियोंसे सुशोभित स्वर्ग भी अपने घरका आंगन वन जाता है ॥ ४९ ॥ शीलव्रतको धारण करनेवाले धीर पुरुषोंको
इंद्रकी भी विभूति प्राप्त होती है जो महा माहिमासे सुशोभित होती है और जिसे सब देव नमस्कार करते हैं ॥ ५० ॥ इस
ब्रह्मचर्यके फलसे मनुष्योंको नौ निधि, चौदह रत्न और छहो खण्ड पृथ्वीकी विभूतिसे सुशोभित चक्रवर्तीकी विभूति और
उपभोग प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥ इस ब्रह्मचर्यरूपी रत्नसे सुशोभित होनेवाले मनुष्य तीर्थंकर पदको प्राप्त होते हैं, जो तीनों
लोकोंमें चमत्कार करनेवाला है और समस्त देवों वा इंद्रोंके द्वारा वंदनीय है ॥ ५२ ॥ इस ब्रह्मचर्यरूपी सिंहासनपर विरा-
जमान हुआ मनुष्य इस संसारमें जो जो चाहता है वह चाहे तीनों लोकोंमें कहीं भी क्यों न हो उसके पुण्यके प्रभावसे
उसे अवश्य प्राप्त होजाता है ॥ ५३ ॥ वहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि संसारमें जो कुछ
उत्तम सुख है वह सब ब्रह्मचर्यके फलसे ही मनुष्योंको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥ यह सुखकी खानि शीलव्रत स्वर्ग लोकमें

धन्यास्ते भुवने पूज्या यैरखण्ड व्रत धृतम् । शीलं स्वप्नेपि न त्यक्तं योषिदादिपरीषहैः ॥४५॥ इन्द्राद्याः हि सुराः सर्वे शिरसा प्रणमन्ति
भो । भक्तिभारेण सनम्रा. पादौ शीलयुतात्मनाम् ॥४६॥ शीलव्रतप्रभावेन कपयत्यासनानि भो । सुराणां भक्तिनम्राणा किं किं वा नोप-
जायते ॥४७॥ ब्रह्मसचेतसा पादौ चक्रवर्त्यादयो गुणात् । नमन्ति भक्तिभारेण का कथान्यनृपेषु च ॥४८॥ ब्रह्मव्रतफलेनैव स्वर्ग स्यात्स्व-
गृहागणम् । महाविभवसम्पन्न सर्वभोगान्वित नृणाम् ॥४९॥ शीलव्रतधरा धीरा इन्द्रभूतिं भजंति वै । अत्यतमहिमोपेता सर्वामरनमस्कृ-
ताम् ॥ ५० ॥ भजन्ति चक्रवर्तित्व रत्ननिध्यादिसकुलम् । षट्खण्डविभवोपेतं ब्रह्मचर्यफलान्नराः ॥ ५१ ॥ प्राप्नुवन्ति जिनेशत्वं
ब्रह्मरत्नविभूषितम् । चमत्कारकर लोके वद्य सर्वामरेश्वरैः ॥५२॥ ब्रह्मसिंहासनासीनो यद्यदगी समीहते । तत्तदेव समायाति पुण्याल्लोक-
त्रयेषु च ॥ ५३ ॥ किमत्र वहुनोक्तेन ससारे यत्सुख वरम् । ब्रह्मचर्यफलात्तच्च सर्वं सप्राप्यते जनैः ॥५४॥ दुर्लभं स्वर्गलोकेऽत्र महाशील

भी दुर्लभ है परन्तु इस लोकमें मनुष्योंको सुगमतासे प्राप्त हो जाता है इसलिये चतुर पुरुषोंको क्या वह स्वीकार नहीं करना चाहिये ? अवश्य करना चाहिये ॥ ५५ ॥ शीलव्रतरूपी आभूषणोंसे सुशोभित होनेवाले मुनियोंको मुक्ति स्त्री भी आकर रागपूर्वक स्वयं स्वीकार करती है फिर भला स्वर्गकी देवांगनाओंकी तो बात ही क्या है ॥ ५६ ॥ उत्तम पुरुष इस शील-व्रतरूपी बहुमूल्य महारत्नको पाकर उसकी रक्षा करनेके लिये महाप्रयत्न करते हैं ॥५७॥ इस ब्रह्मचर्य व्रतकी रक्षा करनेमें तत्पर रहनेवाले मनुष्य हावभाव विलासोंसे सुशोभित और वस्त्र व आभूषणोंसे विभूषित ऐसे स्त्रीके रूपको कभी नहीं देखते हैं ॥ ५८ ॥ इसमें संदेह नहीं कि स्त्रियोंका रूप देखनेसे चित्त मोहित होजाता है यही समझकर उत्तम पुरुष अपने चित्तको शुद्ध रखनेके लिये स्त्रियोंके रूपको कभी नहीं देखते हैं ॥ ५९ ॥ ब्रह्मचारी पुरुष अपना ब्रह्मचर्य पालन करनेके लिये लड्डू आदि अत्यन्त उत्तम पदार्थ, दूध, अधिक घी और पौष्टिक पदार्थ आदिकोंको कभी सेवन नहीं करते हैं ॥६०॥ पौष्टिक आहार करनेसे स्वप्नमें मनुष्योंका वीर्य च्युत होजाता है तथा स्त्रियोंका समागम मिलनेपर उसके व्रत (ब्रह्मचर्य) का भंग होजाता है। यही समझकर सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंको अपने ब्रह्मचर्य व्रतकी पूर्ण रक्षा करनेके लिये विष मिले हुए अन्नके समान सब प्रकारके पौष्टिक आहारोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ ६१–६२ ॥ ब्रह्मचारी पुरुषोंको अपना मुंह धोकर सदा स्नानकर, अँजन लगाकर, आभूषण पहिनकर, सुगन्धित द्रव्य लगाकर, माला, कोमल शय्या, कोमल आसन, धुले हुए वस्त्र, तथा और भी राग उत्पन्न करनेवाले भोगोपभोगोंसे अपने शरीरका संस्कार नहीं करना चाहिये ॥ ६३–६४ ॥ अपने

सुखाकरम् । नराणा सुलभ चात्र तर्त्कि दक्षैर्न गृह्यते ॥५५॥ मुक्तिनारी वृणोत्येव शीलाभरणमडितम् । मुनि रागेण चागत्य का कथा स्वर्गयोषिताम् ॥५६॥ महारत्नमिवानर्घ्यं प्राप्य शील नरोत्तमाः । महायत्न प्रकुर्वन्ति तद्रक्षादिकहेतवे ॥५७॥ हावभावविलासाढ्यं वस्त्राभरणमडितम् । नारीरूपं न पश्यन्ति ब्रह्मरक्षादितत्पराः ॥ ५८ ॥ स्त्रीरूपदर्शनाच्चित्त मोमुह्यति न सशयः । इति मत्वा न पश्यन्ति तन्नरा चित्तशुद्धये ॥५९॥ मोदकादिवराहारं दुग्धात्यंतघृतादिजम् । न चात्ति सवलाहारं ब्रह्मचारी तदाप्तये ॥६०॥ सवलान्नेन स्यात्पुसां स्वप्ने शुक्रच्युतिः ध्रुवम् । नार्यादिसंगमं प्राप्य भवेद्भंगं व्रतस्य भो ॥ ६१ ॥ इति मत्वा त्यजेत्सर्वमाहार सवलं सदा । विषान्नमिव सुज्ञानी तद्व्रताक्षयहेतवे ॥ ६२ ॥ मुखप्रक्षालनैर्नित्यं स्नानाजनविभूषणैः । गधमाल्यादिकैर्भोगैः कोमलैः शयनासनैः ॥ ६३ ॥ धौतवस्त्रैस्तथान्यैश्च रागोत्पादककारणैः । स्वशरीरस्य संस्कारं ब्रह्मचारी चरेन्न च ॥ ६४ ॥ वपुः संस्कारयोगेन कामाग्निः प्रकटो भवेत् ।

शरीरका संस्कार करनेसे कामाग्नि प्रगट होजाती है यही समझकर उत्तम ब्रह्मचारियोंको अपने शरीरका संस्कार—अपने शरीरको विभूषित कभी नहीं करना चाहिये ॥ ६५ ॥ ब्रह्मचारियोंको हावभाव विलासोंसे भरी हुई, शृंगारको बढानेवाली और स्त्रियोंमें राग उत्पन्न करनेवालीं कथाएँ न कभी करनी चाहिये और न कभी सुननी चाहिये ॥ ६६ ॥ शृंगारकी कथाएँ कहने सुननेसे ब्रह्मचारियोंको राग उत्पन्न होता है और राग उत्पन्न होनेसे उनका व्रत नष्ट होता है इसलिये ब्रह्मचारी लोग ऐसी कथाएँ कभी नहीं सुनते हैं ॥ ६७ ॥ इसीप्रकार जितेंद्रिय पुरुष पहिले भोगे हुए भोगोंका स्मरण भी कभी नहीं करते हैं क्योंकि उनका स्मरण करनेसे मनकी स्थिरता नष्ट होजाती है और मनकी स्थिरता नष्ट होनेके साथ साथ योगियोंके द्वारा निंदा करने योग्य ऐसा अनन्त राग उत्पन्न होता है ॥६८॥ पहिले भोगे हुए भोगोंको स्मरण करनेसे कामाग्नि प्रज्वलित हो उठती है इसलिये व्रती लोग पहिले भोगे हुए भोगोंको कभी स्मरण नहीं करते हैं ॥६९॥ व्रती लोग अपना चित्त शुद्ध करनेके लिये स्त्रियोंके साथ न तो कभी हँसी करते हैं न उनके साथ वात करते हैं न कथा वार्ता करते हैं न गोष्ठी (एक साथ बैठना, उठना, चलना आदि) करते हैं और न उनके साथ प्रेम करते हैं ॥ ७० ॥

ब्रह्मचारी व्रती केवल पापोंकी शंकासे ही जिस घरमें स्त्रियां रहती हैं, उसमें न तो सोते हैं, न बैठते हैं और न क्षणभर वहां रहते हैं ॥ ७१ ॥ कोई २ बुद्धिमान सांप आदि भयानक जन्तुओंसे भरे हुए घरमें ठहर सकते हैं परन्तु महा निंद्य और कलंक उत्पन्न करनेवाले स्त्रियोके घरमें कभी नहीं ठहरते ॥ ७२ ॥ पहिले समयमें जो मुनि स्त्रियोंकी संगति पाकर नष्ट होगये हैं उनकी कथा चतुर पुरुष शास्त्रोंमें सुनते ही हैं ॥ ७३ ॥ जिसप्रकार अग्निके सम्बन्धसे वर्तनमें रक्खा

मत्वेति सद्व्रतेनैव कुर्यात्स्वागरय मंडनम् ॥ ६५ ॥ हावभावविलासाढ्य कथा शृंगारसयुतम् । स्त्रीणां रागकरां नैव कुर्याच्छ्रूयान्न सद्यतिः ॥६६॥ शृंगारकथया रागो जायते ब्रह्मचारिणाम् । ततो नश्येद्व्रतं तस्मात्तन्न शृण्वन्ति योगिनः ॥६७॥ पूर्वानुभूतसभोगान् न स्मरन्ति जितेन्द्रिय । मनोभगमिवात्यतरागदं योगिनिन्दितम ॥६८॥ कामवन्हिर्ज्वलत्येव कामभोगानुचिन्तनात् । ज्ञात्वेति व्रतिनो भोग चिन्तयन्ति न पूर्वजम् ॥६९॥ नार्या समं न कुर्वंति हास्यवार्तादिजल्पनम् । गोष्ठीं वा स्वकचित्प्रीतिं व्रतिनश्चित्तशुद्धये ॥७०॥ स्त्रीसंयुक्तालये नैव कुर्यात्सच्छयनाशनम । स्थितिं वा क्षणमेकं हि व्रती पापादिशंकया ॥७१॥ सर्पादिसयुते गेहे केचित्तिष्ठति धीधनाः । न पुनर्योषितागारे महानिन्द्ये कलंकदे ॥७२॥ नष्टा ये मुनय पूर्वं संगमासाद्य योषिताम् । केवलं श्रूयते दक्षैः कथा तेषा श्रुतार्णवे ॥ ७३ ॥

हुआ जल भी गर्म होजाता है उसीप्रकार स्त्रियोंके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाली अग्निसे मनुष्योंका हृदय भी तप जाता है ॥ ७४ ॥ पहिले तो स्त्रियोंमें थोडेसे चित्तसे (ऊपरी मनसे) दृष्टिपात होता है अर्थात् मन स्त्रियोंके देखनेमें लगता है, फिर उनके समागमके लिये मनमें संकल्प होता है । तदनन्तर हृदयमें समस्त शरीरको संतप्त करनेवाली कामकी जलन उत्पन्न होती है, उस जलनसे पीडित होकर यह जीव लज्जा और अभिमान सबको छोड देता है । फिर कामाग्निसे संतप्त होकर और किसी सुंदरीको एकांतमें पाकर सब व्रतोंको छोडकर पापकर्ममें डूब जाता है ॥ ७५–७७ ॥ तदनन्तर कामसेवन करनेसे उसका तप, ज्ञान, व्रत, कीर्ति, बडप्पन, अभिमान आदि सब जलकर भस्म होजाता है ॥ ७८ ॥ इसप्रकार व्रतोंको भंग करनेवाले स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए दोषोंको समझकर बुद्धिमानोंको जिसके देखने मात्रसे विष चढ़कर मनुष्य मर जाता है ऐसी दृष्टिविष सर्पिणीके समान स्त्रियोंके समागमका त्याग कर देना चाहिये ॥ ७९ ॥ जिसप्रकार हाथ पैर रहित और नाक कान रहित कुरूपा स्त्रीको छोड देते हैं उसीप्रकार व्रतियोंको दूरसे ही स्त्रियोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ ८० ॥ संसारमें अग्निकी ज्वालाके समान स्त्रियां समझी जाती है और मनुष्योंका मन मक्खनके समान समझा जाता है फिर भला वे दोनों एक स्थानमें मिल जानेपर विना अनर्थ किये किस प्रकार रह सकते हैं ॥ ८१ ॥ जो पुरुष इस लोक परलोक दोनों लोकोंमें दुःख देनेवाले स्त्रियोंके स्मरणको स्वप्नमें भी नहीं करते हैं संसारमें उन्हींका मन शुद्ध होसकता है और तप, ज्ञान, यम, नियम आदि सब कुछ उन्हींका फल सकता है ॥ ८२ ॥ जो पुरुष स्त्रियोंके समागमको छोडकर मन, वचन, काय तीनों

तपत्येव यथा नीरमग्निना भाजनाश्रितम् । पुंसां चित्तं तथा रागाश्रयसंजातवन्हिना ॥७४॥ दृष्टिपातो भवेत्पूर्वं स्त्रीमुखे स्वल्पचेतसा । पश्चाद्भवन्ति संकल्पाः तस्याः संगमहेतवे ॥ ७५ ॥ ततो विजृम्भते कामदाहः सर्वांगतापनः । तेन संपीडितो जीवस्त्यजेल्लज्जाभिमानताम् ॥७६॥ ततः कामाग्निना तप्त एकान्ते प्राप्य सुन्दरीम् । निमज्जति व्रतं त्यक्त्वा सर्वं तत्कायकर्दहे ॥७७॥ ततो भस्मीभवत्येव तपोज्ञानव्रतादिकम् । कीर्तिपूजाभिमानं च तस्य कामादिसेवया ॥७८॥ एवं दोषं परिज्ञाय स्त्रीजातं व्रतभंगदम् । रामासंगं त्यजेद्धीमान् यथा दृष्टिविषामहीम् ॥७९॥ हस्तपादविहीनां च नासिकाकर्णवर्जिताम् । कुरूपां दूरतो नारीं वर्जयेन्मुनिनायकः ॥ ८० ॥ अग्निज्वालोपमा नारी नवनीतसमं मनः । तिष्ठतः कथमेकत्र तावनर्थं विना नृणाम् ॥ ८१ ॥ मनःशुद्धिः भवेत्तेषां तपोज्ञानयमादिकम् । स्वप्नेष्वपि न कर्तव्य चेहामुत्रादि दुःखदम् ॥ ८२ ॥ कायवाक्चित्तयोगं च स्थिरं कृत्वा भजेत्तपः । त्यक्त्वा स्त्रीसंगमं यो ना तस्य स्यान्निर्मलं व्रतम् ॥ ८३ ॥

योगोंको स्थिर कर तप करता है संसारमें उसीके व्रत निर्मल रीतिसे पल सकते हैं ॥८३॥ जो पुरुष उन्मत्त करनेवाली यौवन अवस्थामें तपश्चरण रूपी तलवारसे कामरूपी शत्रुको मारकर ब्रह्मचर्यको पालन करते हैं संसारमें वे ही पुरुष धन्य कहलाते हैं और तीनों लोकोंमें वे ही पुरुष पूज्य गिनेजाते हैं ॥८४॥ जिनका अत्यन्त दुर्लभ शीलरूपी रत्न स्त्री आदि चोरोंने कहीं स्वप्नमें भी हरण नहीं किया उन्हींका जन्म इस संसारमें सफल माना जाता है ॥८५॥ जिन्होंनें यौवन अवस्थामें अनेक स्त्रियोंसे घिरे रहनेपर भी और प्राण नाश होनेपर भी अपना ब्रह्मचर्य नही छोडा है उन्हीके ब्रह्मचर्यको मैं वास्तविक ब्रह्मचर्य मानता हूं ॥८६॥ यौवनरूपी ईंधनके संयोगसे तथा स्त्रीरूपी वायुकी प्रेरणासे और पौष्टिक आहाररूपी तैलसे यह कामरूपी अग्नि प्रगट होती है उस अग्निको बुझानेके लिये धीरवीर पुरुषोंने शीलरूपी पानी ही बतलाया है, स्त्रियोंके सेवन करने आदि अन्य कार्योंसे वह अग्नि कभी नही बुझ सकती ॥८७-८८॥ जो मूर्ख स्त्रियोके सेवन करने आदि कार्योसे कामरूपी अग्निको बुझाना चाहता है वह मूर्ख अपनी कुबुद्धिके कारण घीसे अग्निकी भारी ज्वालाको बुझाना चाहता है ॥८९॥ यही समझकर हे विद्वानो ! अपने मनमें समस्त विषयोंको त्यागकर यौवन अवस्थामें भी पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करो ॥ ९० ॥ जो मनुष्य कामसेवनमें अत्यन्त लोलुपी होता हुआ अपने मस्तकपर सफेद बालोंको देखकर भी (बूढा होकर भी) कामसेवनका त्याग नहीं करता वह मूर्ख अपने भाग्यसे ठगा जाता है ॥९१॥ दुर्बुद्धिको धारण करनेवाले जो मूर्ख वृद्धावस्थामें भी विषयोंकी आसक्तता नही छोडते वे पापकर्मके उदयसे कुत्तेके समान मरकर अनेक दुर्गतियोमें परिभ्रमण करते हैं ॥ ९२ ॥ जो बूढा

धन्यास्ते भुवने पूज्या ब्रह्मचर्यं चरन्ति ये । उन्मत्तयौवने हत्वा कामारिं च तपोऽसिना ॥८४॥ जन्मेह सफलं तेषां शीलरत्नं सुदुर्लभम् । नार्यादितस्करैर्येषां स्वप्नेऽपि न हृतं क्वचित् ॥८५॥ ब्रह्मचर्यमहं मन्ये तेषां ये यौवनान्वितैः । स्वैरामादिभिस्त्यक्तं न च प्राणात्ययेऽपि भो । ॥८६॥ यौवनेंधनसंयोगाद्रामावातप्रेरणात् । सबलाहारतैलेन कामाग्निः प्रकटो भवेत् ॥८७॥ तस्यैव सुमनो धीरैः शीलनीरं प्रकीर्तितम् । नचान्यद्भुवने कामसेवनादिवमेव हि ॥ ८८ ॥ योषित्सेवादिभिर्यो धीः कामाग्निं हतुमिच्छति । स मूढश्च महाज्वालां घृतेनैव कुबुद्धितः ॥ ८९ ॥ इति मत्वा मनः कृत्वा निःशेषविषयच्युतम् । पालयध्वं बुधा ब्रह्मचर्यं सद्यौवने सदा ॥ ९० ॥ आलोक्य पलितं केशं स्वमूर्ध्नि योऽतिलोलुपः । कामसेवां त्यजेन्नैव वञ्चितो विधिना शठः ॥९१॥ वृद्धत्वे विषयासक्ता ये न मुञ्चति दुर्धियः । मण्डलामिव ते मृत्वा यान्ति पापात्कुदुर्गतिम् ॥९२॥ यो वृद्धो मृत्युपर्यन्तं भार्यासेवां करोति सः । यमेन नीयमानोऽतिदुःखी स्यादतिचौरवत् ॥९३॥ इति मत्वा गृह-

होकर भी मृत्युपर्यंत स्त्रीका सेवन करता है वह जिससमय यमराजके द्वारा पकडा जाता है-मरता है उससमय वह महाचोरके समान अत्यन्त दुःखी होता है ॥ ९३ ॥ यही समझकर गृहस्थोंको यौवन अवस्थामें स्त्रीको स्वीकार करना चाहिये और वृद्धावस्थामें बाल सफेद होनेपर स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अवश्य ही ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये ॥ ९४ ॥ यह ब्रह्मचर्य समस्त गुणोंकी निधि है, स्वर्ग मोक्षके अद्वितीय कारण है, संसाररूपी महासागरसे पार करनेके लिये जहाज है, दुःख और संतापको दूर करनेवाला है, पापरूपी वनको जलानेके लिये महा अग्नि है और धर्मरूपी रत्नोंका घर है इसलिये हे भव्य ! तू अपने आत्माकी सिद्धिके लिये अत्यन्त सुदृढ शक्तिसे इस ब्रह्मचर्यका पालन कर ॥ ९५ ॥ यह ब्रह्मचर्य एक उत्तम देवता है, यह संसाररूपी महासागरसे पार कर देनेवाला है, नरकके द्वारको बंद करनेके लिये अत्यन्त मजबूत अर्गल वा बेंड़ा है, पुण्य बढानेवाला है, श्री तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं, इन्द्रादिक समस्त देव इसकी पूजा करते हैं, यह अत्यन्त आदर सत्कार देनेवाला है, सबमें सार है और समस्त गुणोंकी खानि है। हे मित्र ! ऐसे इस ब्रह्मचर्यरूपी देवताकी सदा आराधना कर ॥ ९६ ॥

इसप्रकार सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमाका निरूपण कर अब कर्मोंका संवर वा निर्जरा करनेके लिये आरम्भ त्याग नामकी आठवीं प्रतिमाका निरूपण करते है ॥९७॥ जो पुरुष मन, वचन, कायसे छहो कायके जीवोंका नाश करनेवाले सब तरहके आरम्भोंका त्याग करता है उसके पुण्य बढानेवाली आठवीं प्रतिमा होती है ॥ ९८ ॥ जो बुद्धिमान धर्मध्यान धारण कर और अनेक शास्त्रोंका पठनकर सदा अपना समय व्यतीत करता है वह व्रत पालन करनेवालोंमें सबसे मुख्य गिना जाता है ॥९९॥ आरम्भ करनेसे अनेक जीवोंको दुःख देनेवाली हिंसा होती है, उस हिंसासे चारों गतियोंका कारण

स्त्रीश्च ग्राह्य सगतयौवने । पालितं ब्रह्मचर्यं तत स्वर्गमुक्तिसुखाप्तये ॥९४॥ सकलगुणनिधानं स्वर्गमोक्षैकहेतु, भवजलनिधिपोतं दुःखसंताप दूरम् । दुरितवनमहाग्निं धर्मरत्नादिगेहं, भज दृढतरशक्त्या ब्रह्मचर्यं स्वसिद्ध्यै ॥ ९५ ॥ संसाराम्बुधितारकां सुखकरां स्वर्मोक्षसोपानतां, श्वभ्रद्वारदृढार्गलां शुभप्रदां सेव्यां जिनाधीश्वरैः । पूज्यां चेन्द्रपुरस्सरैः सुरगणैः सन्मानदानादिदां, सारां सर्वगुणाकरां भज सदा त्वं ब्रह्मसद्देवताम् ॥९६॥ ब्रह्मचर्यं समाख्याय प्रारम्भरहिता वराम् । अष्टमीं प्रतिमां वक्ष्ये संवरादिकहेतवे ॥९७॥ सर्वारम्भं त्यजेद्यस्तु षड्जीवादिविरोधकम् । त्रिशुद्ध्या जायते तस्य प्रतिमा स्वष्टमी शुभा ॥९८॥ धर्मध्यानेन शास्त्रादिपठनेन सदा च यः । स्वकालं गमयेद्धीमान् सोऽग्रणी

ऐसा महापाप उत्पन्न होता है और उस पापमे अत्यन्त दुःखी हुआ वह जीव दुःखरूपी सिंह वाघोंसे भरे हुए इस संसाररूपी वनमें सदा परिभ्रमण किया करता है इसमें कोई संदेह नहीं है ॥१००–१०१॥ यही समझ कर चतुर पुरुषोंको महापापका कारण ऐसे घोर आरम्भका त्यागकर हिंसासे सर्वथा रहित और अनेक गुणोंकी खानि ऐसे धर्मका सेवन करना चाहिये ॥१०२॥ आरम्भ त्याग प्रतिमाको धारण करनेवाले धीरवीर व्रती पुरुषोंको अपने आरम्भका त्याग करनेके लिये मन, वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे पृथ्वी खोदना, कपडे धोना, दीपक मसाल आदिका जलाना, वायु करना, वनस्पतियोंको तोडना, काटना, छेदना, गेहूं, जौ आदि बीजोंको कूटना, पीसना, दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेन्द्रिय आदि जीवोंको बाधा पहुंचाना वा उनकी ताडना करना आदि निंद्य आरम्भोंका बहुत शीघ्र त्याग कर देना चाहिये ॥ १०३–१०५ ॥ आरम्भ त्याग प्रतिमा धारण करनेवाले व्रतियोंको प्राण नष्ट होनेपर भी स्थूल जीवोंकी हिंसा करनेवाले और निंद्य ऐसे रथ आदि सवारियोंपर चढकर कभी नहीं चलना चाहिये ॥१०६॥ आरम्भ त्यागी चतुर पुरुषोंको दया धारण कर व्यापार आदिके महारम्भ, विवाहादिक कार्य और घर बनाना आदि आरम्भके कार्योंका सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये ॥१०७॥ जो पुरुष जीवोंकी हिंसा करनेवाले घर सम्बन्धी सब तरहके आरम्भोंका मन, वचन, कायसे त्याग कर धर्मसेवन करता है उसके आरम्भ त्याग नामका यह व्रत निर्मल रीतिसे पालन होता है ॥१०८॥ यह घर सम्बन्धी आरम्भ चारों गतियोंमें परिभ्रमण करानेवाला है, पापकी खानि है, नरकका मुख्य कारण है, स्वर्गरूपी घरको बंद कर देनेके लिये किवाड है, रोग

व्रतिना मत ॥९९॥ आरम्भाज्जायते हिंसा प्राणिना दुःखदायिका । तया सजायते पाप चतुर्गतिनिबधनम् ॥ १०० ॥ तेन ससारकान्तारे दुःखव्याघ्रादिसकुले । भ्रमत्येव न सदेहो जीवो दुःखेन पूरित ॥१०१॥ इति मत्वा सदारम्भ घोर पापनिबधनम् । त्यक्त्वा धर्म भजेद्दक्षो हिंसात्यक्त गुणाकरम् ॥१०२॥ पृथिवीखनन धीरारम्भ वस्त्रादिधोवनम् । दीपादिज्वालन निंद्य वातादिकरण तथा ॥१०३॥ वनस्पत्यङ्घ्न छेद धानादिबीजमर्दनम् । द्वित्रीन्द्रियादिजतना बाधन ताडनादिकम् ॥ १०४ ॥ मनोवचनकायेन कारितादिभिरंजसा । नैव कुर्याद् व्रती नित्य प्रारम्भपरिहानये ॥१०५॥ रथाद्यारोहण निंद्य स्थूलजीवविघातकम् । प्राणान्तेपि न कर्तव्य त्यक्तारम्भै. कदाचन ॥१०६॥ वाणिज्यादिमहारम्भ विवाहादिकमजसा । गेहादिकारण दक्षैस्त्याज्य च कृपया सदा ॥ १०७॥ यत्किंचिच्च गृहारम्भं जन्तुहिंसाकर त्रिधा । त्यक्त्वा धर्मं चरेद्यस्तु तस्य स्याद्विशद व्रतम् ॥१०८॥ चतुर्गतिकर पापखानिं श्वभ्रादिसाधकम् । स्वर्गगृहकपाट च रोगक्लेशभयादिदम् ॥१०९॥

क्लेश, भय आदिको देनेवाला है, अनेक जीवोंका घातक है, अपने और दूसरोंके लिये दुःखकी जड है, धर्मका शत्रु है, धीर-वीर चतुर मुनियोंके द्वारा साग करने योग्य है और झूठ चोरी आदि पापोंका सागर है और वडी कठिनतासे त्याग किया जाता है। जो पुरुष संतोष धारण कर इसका त्याग करता है वह अवश्य ही मोक्षस्थानको प्राप्त करता है ॥१०९–१११॥ जो मनुष्य सब तरहके आरम्भोंका त्यागकर थोडा भी तप करता है, वह इस लोक तथा परलोक दोनों लोकोंमें तीनों लोकोंमें उत्पन्न हुए समस्त महासुखोंको प्राप्त होता है ॥ ११२ ॥ जो पुरुष आरम्भोंके साथ साथ तप करता है उसका वह तप करना हाथीके स्नानके समान व्यर्थ है उस तपसे उसके कर्म कभी नष्ट नहीं होसकते ॥ ११३ ॥ जो पुरुष अपने व्रत पालन करनेके लिये अपनी सब शक्ति लगाकर पापरूप आरम्भोंका त्याग करता है वह सोलहवें स्वर्गके सुख भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ११४ ॥ जिसने समस्त पापोंकी निर्जरासे रहित ऐसे आरम्भका त्याग कर दिया है मैं उसीके जन्मको सफल मानता हूं ॥ ११५ ॥ यह घर सम्बन्धी आरम्भ अत्यन्त निंद्य है। जो इस आरम्भका त्याग करता है उसीके तप और संवर होता है ॥ ११६ ॥ यही समझकर व्रती पुरुषोंको स्वयं स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अपनी पूर्ण शक्तिको प्रगट कर सब तरहके आरम्भोंका सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये ॥ ११७ ॥ यह आरम्भ विद्वानोंके द्वारा निंद्य है, पाप और संतापकी खानि है, भयंकर नरकका मार्ग है, धर्मरूपी घरका चोर है, समस्त गुणोंके वनको जलानेके लिये अग्नि है और स्वर्ग मोक्षका एक अद्वितीय शत्रु है इसलिये हे भव्य ! तू इस सब तरहके आरम्भका सदाके लिये त्यागकर ॥ ११८ ॥ यह आरम्भ त्याग नामकी आठवी प्रतिमाका व्रत समस्त सज्जनोंके द्वारा सेवा करने योग्य है, धर्म

जीवघातकरं दुःखमूलं स्वस्य परस्य च । धर्मशत्रु परित्यक्तं दक्षैर्धीरैर्मुनीश्वरैः ॥११०॥ असत्यादिसमुद्रं च गृहारम्भं सुदुस्त्यजम् । त्यजेत्संतोषतो योऽत्र लभेत्सोप्यव्ययं पदम् ॥१११॥ सर्वारंभं परित्यज्य तपः स्वल्पं करोति यः । इहाऽमुत्र लभेत्सोपि बृहत्सौख्यं त्रिलोकजम् ॥११२॥ आरंभेन समं कुर्यात्तपो दुस्तरमेव यः । गजस्नानमिवेह स्यात्तस्य कर्मक्षयो न हि ॥११३॥ पापारम्भं त्यजेद्यस्तु व्रताय सर्वशक्तितः प्राप्य षोडशमं नाकं क्रमाद्याति शिवालयम् ॥११४॥ मन्येऽहं सफलं जन्म तस्य येन विवर्जितः । पूर्वाघनिर्जरामुक्तिगृहारंभो विवर्जितः ॥११५॥ गृहारंभो जिनैर्निंद्यस्तेन सूरपि भूपिता । यो वर्जयेद्गृहारंभं तस्य स्यात्तपः संवरः ॥११६॥ इति ज्ञात्वा सदा त्याज्यः सर्वारंभो व्रतान्वितैः । स्वशक्तिं प्रकटीकृत्य स्वस्य स्वर्मुक्तिहेतवे ॥११७॥ विबुधजनविनिंद्यं पापसंतापखानिं, विषमनरकमार्गं तस्करं धर्मगेहे ।

रूपी अमृतका कूआ है, पापरूपी वृक्षके लिये कुठार है, स्वर्ग देनेके-लिये अत्यन्त समर्थ है, सब गुणोंका समुद्र है, मुक्तिको देनेवाला है और सुखोंका घर है। इसलिये हे भव्य ! तू इस आरम्भ त्याग नामके व्रतको अर्थात् आठवीं प्रतिमाको अवश्य धारण कर ॥ ११९ ॥

इसप्रकार आठवीं प्रतिमाका स्वरूप वर्णन कर अब मोक्ष प्राप्त करनेके लिये पुण्य वढानेवाली परीग्रहत्याग नामकी नौवीं प्रतिमाको कहते हैं ॥१२०॥ जो पुरुष क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, दास, पशु, आसन, शयन, कुप्य, भांड इन सब पाप वढानेवाले दस प्रकारके परिग्रहोंमेंसे केवल वस्त्रोंको छोडकर तथा अपने मनको इच्छाको रोककर बाकीके सब परिग्रहोंका त्याग कर देता है उसके नौवीं प्रतिमा कही जाती है ॥ १२१-१२२ ॥ जो मनुष्य संतोषरूपी अमृतको पीकर सब तरहके परिग्रहोंका त्याग कर देता है उसके इस लोकमें भी आत्मासे उत्पन्न हुआ अनुपम सुख प्राप्त होता है ॥ १२३ ॥ सोना चांदी आदि धनके होनेसे कामका उद्रेक, माया, लोभ, क्रोध, असह्य मनका द्वेष, राग, चिंता, शोक, भय, आशा आदि सब विकार उत्पन्न होते हैं, झूठ बोलना पडता है तथा उसके नाश होनेसे मनुष्योंको वडा भारी दुःख होता है, और मान भंग होता है। यही समझकर व्रत धारण करनेवालोंको अपना धर्म सिद्ध करनेके लिये काली सर्पिणीके समान इस धनको स्वप्नमें भी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ १२४-१२६ ॥ इस नौवीं प्रतिमाको धारण करनेवाले व्रतियोंको वीतरागताको सूचित करनेवाले, वस्त्रोंको छोडकर अन्य चिंता उत्पन्न करनेवाले, रोग उत्पन्न करनेवाले अधिक मूल्यके वस्त्र कभी ग्रहण

सकलगुणवनाग्नि स्वर्गमोक्षैकशत्रु, निखिलमपि त्यज त्वं नित्यमारभमेव ॥११८॥ अखिलवसुजनसेव्य धर्मपीयूषकूप, दुरिततरुकुठार नाकदानैकदक्षम् । सकलगुणसमुद्र मुक्तिद सौख्यधाम, व्रतमपि भज सार सर्वथारम्भमुक्तम् ॥११९॥ अष्टमीं प्रतिमा पूर्वं व्याख्याय नवमीं वराम् । वक्ष्येऽहं प्रतिमा मुक्त्यै त्यक्तसगा सुपुण्यदाम् ॥१२०॥ क्षेत्रवास्तुधनं धान्य सेवक च चतुष्पदम् । आसन शयन कुप्य भांड सर्वाशुभाकरम् ॥ १२१ ॥ इत्येव दशभेद य. सग वस्त्र विना त्यजेत् । हत्वा स्वमनसामिच्छा नवमी प्रतिमा लभेत् ॥ १२२ ॥ सर्व परिग्रह योपि पीत्वा सतोषजामृतम् । जहेता प्रत्यह तस्य सुखमत्रैव स्वात्मजम् ॥१२३॥ कामोद्रेकोतिमाया च लोभक्रोधोतिऽदुस्सहम् । मनोद्वेपश्च रागश्च चिताशोकभयादिकः ॥१२४॥ आशा तन्नाशतो दुःख मानभगो नृणा भुवि । रूप्यहेमादिकादद्रव्यादसत्य जायते वचः ॥१२५॥ इति मत्वा न सग्राह्य कृष्णाहिमिव तद्धनम् । स्वप्नेऽपि धर्मसिद्ध्यर्थं कचित्सद्व्रतधारिभिः ॥१२६॥ वस्त्र नैव

नही करने चाहिये ॥ १२७ ॥ व्रती मनुष्योंको अपनी सेवा चाकरी करनेके लिये अपने पासमें अव्रती मनुष्य कभी नहीं रखना चाहिये ॥ १२९ ॥ विद्वान् त्यागियोंको अपने रहनेके लिये अत्यन्त ममता उत्पन्न करनेवाला और महा हिंसा करनेवाला मठ आदि कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ १२८ ॥ इसीप्रकार व्रती मनुष्योंको अनेक जीवोंकी हिंसा करनेवाले हिंसाके पात्र, पाप वढानेवाले और राग उत्पन्न करनेवाले गाय, घोडा आदि पशु भी नहीं रखने चाहिये ॥१३०॥ संसारमें जो जो परिग्रह मनुष्योंके द्वारा निंद्य गिने जाते है, और जो व्रतोंमें दोप उत्पन्न करनेवाले हैं वे सव परिग्रह विप मिले हुए अन्नके समान व्रती लोगोंको छोड देने चाहिये ॥ १३१ ॥ जो मनुष्य लोभके कारण सोना, चांदी आदि धनको छोड नही सकता वह पुरुष पुरुष नही नपुंसक है, ऐसा नपुंसक मनुष्य आगे चलकर कर्मरूपी सेनाको किसप्रकार नष्टकर सकता है ॥ १३२ ॥ जो मनुष्य परिग्रहोंका त्याग किये विना ही मोक्षकी इच्छा करता है वह मूर्ख है। भला जो लंगडा मार्गमें गिरता पडता हुआ चलता है वह मेरुपर्वतको किसप्रकार उल्लंघन कर सकता है ॥ १३३ ॥ जो भाग्यहीन मनुष्य परिग्रहके साथ साथ मोक्षकी इच्छा करते है वे आकाशके फूलोंसे वंध्यापुत्रका मुकुट वनाना चाहते हैं ॥ १३४ ॥ जो मनुष्य परिग्रह रखते है उनके ध्यान सिद्ध होनेके लिये समस्त पापोंसे रहित और गुणोंकी खानि ऐसी मनकी शुद्धि होना अत्यन्त कठिन है ॥ १३५ ॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवने परिग्रहोंका त्याग मनुष्योंका मन शुद्ध करनेके लिये वतलाया है, तथा परिग्रहोंका त्याग किये विना व्रतोंका पालन करना (नौवीं प्रतिमा धारण करना) छिलके कूटनेके समान है–अर्थात् छिलके कूटनेसे जैसे चावल नही निकलते उसीप्रकार परिग्रहोंका त्याग किये विना यह प्रतिमा हो नहीं सकती ॥ १३६ ॥ जिसप्रकार पत्थरकी

समादेय रागद बहमूल्यदम् । वीतरागं परित्यज्य दक्षैश्चितादिकारकम् ॥१२७॥ व्रतहीनो नरो नैव रक्षणीय कदाचन । स्वपार्श्वे व्रतसंयुक्ते सुश्रूषादिकहेतवे ॥१२८॥ मठादिक न च ग्राह्य स्वस्याधिष्ठानकारणम् । हिसादिकरमप्युच्चै ममत्वादिप्रद बुधैः ॥ १२९ ॥ चतुप्पद न चादेय जीवघातकर हि सा । भाजन रागसयुक्त पापद व्रततत्पैर ॥१३०॥ यत्किंचिन्मुनिना निंद्य सद्व्रतादिमलप्रदम् । तत्सर्वं नाश्रयेत्सग विषान्नमिव सद्व्रतम् ॥ १३१ ॥ द्रव्यादिक परित्यक्तु योऽक्षमो नात्र लोभत । स क्लीव कथमग्रेति कर्मसैन्य हनिप्यति ॥ १३२ ॥ यो परित्यज्य सग न मुक्तिमिच्छति मदधीः । स पगु प्रस्खलन्मार्गे कथ मेरु च लघयेत् ॥ १३३ ॥ सगेन सह ये मोक्ष वाच्छन्ति विधिवचिता । खपुष्पैरिह ग्रथन्ति ते बध्यासुतशेखरम् ॥१३४॥ परिग्रहवतां पुसा शुद्धि स्वप्नेपि दुर्घटा । मनसो ध्यानसिद्ध्यर्थं पापहीनाः

नावपर बैठा हुआ मनुष्य अवश्य ही समुद्रमें डूबता है उसीप्रकार व्रती मनुष्य भी परिग्रहके भारसे इस संसार-सागरमें अवश्य डूबता है ॥ १३७ ॥ इसप्रकार परिग्रहके दोषोंको समझकर जो बुद्धिमान इन परिग्रहोंका त्याग कर देता है उसके पास स्वर्गरूपी लक्ष्मीके साथ साथ मुक्तिरूपी लक्ष्मी अपने आप आ जाती है ॥१३८॥ इस संसारमें जिसकी इच्छा धनादिकसे नष्ट होजाती है, संसारमें मैं उसीको पुण्यवान मानता हूं और उसीसे ये पृथिवीके सब गुण सुशोभित होते हैं ॥ १३९ ॥ जो उत्तम मनुष्य धनादिकमें संतोष धारण करता है उसके पास तीनों लोकोंमें रहनेवाली सब लक्ष्मी अपने आप आ जाती है ॥१४०॥ सन्तोष धारण करनेसे व्रती पुरुषोंको पुण्यकर्मके उदयसे इन्द्र, चक्रवर्ती, गणधर और तीर्थंकर आदिके समस्त उत्तम पद प्राप्त होते हैं इसमें कोई संदेह नहीं ॥ १४१ ॥ जो लोभी पुरुष धनसे अपना लोभ छोड देते हैं वे इस लोक और परलोकमें स्वर्ग मोक्षपर्यंततकके सुख प्राप्त करते हैं ॥ १४२ ॥ निर्लोभी मनुष्य जिसप्रकार इस लोकमें यश, बडप्पन आदि प्राप्त करते हैं उसीप्रकार उन्हें परलोकमें भी अनेक प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं ॥१४३॥ लोभका त्याग करनेसे मन शुद्ध होता है, मन शुद्ध होनेसे ध्यान होता है, ध्यानसे कर्म नष्ट होते हैं और कर्म नष्ट होनेसे मोक्ष प्राप्त होती है इसमें कोई संदेह नहीं। तथा मोक्षमें विद्वानोंको समस्त विषयोंसे रहित, संसारमें अन्य कोई जिसकी उपमा नहीं ऐसा आत्मासे उत्पन्न हुआ परमोत्तम सारभूत अनन्त सुख सदा प्राप्त होता रहता है ॥ १४४-१४५ ॥ विद्वानोंको संतोषके इस प्रकार गुण जानकर पाप उत्पन्न करनेवाला लोभ छोड देना चाहिये और परिग्रह त्याग नामका व्रत धारण करना चाहिये

गुणाकरा ॥१३५॥ सगत्यागो जिनैरुक्तो मनशुद्ध्यर्थमजसा । नृणा तस्यापरित्यागाद्व्रत स्यात्तुपखडनम् ॥१३६॥ दृपन्नावसमारूढा यथा मज्जन्ति तेऽर्णवम् । तथावसग भारेण व्रती ससारसागरे ॥१३७॥ एव दोप परिज्ञाय सग यो वर्जयेत्सुधीः । मुक्तिश्री स्वयमायाति धर्मात्स्वर्गश्रिया समम् ॥१३८॥ मन्ये स एव पुण्यात्मा यस्या सा निधनं गताः । द्रव्यादिष्वत्र तेनैव भूषिताः पृथिवीगुणा. ॥१३९॥ द्रव्यादिके समादत्ते सतोप यो नरोत्तम । त सुसपत्समायाति सर्वलोकत्रये स्थिता ॥१४०॥ शक्रत्व चक्रवर्तित्व गणेशत्वं जिनेशिता । भवत्येव न सदेह सतोषाद व्रतिना शुभात् ॥१४१॥ ये लोभ वर्जयत्येव धनादत्यन्त लोभिन. । स्युरत्रामुत्र स्वर्गादिमुक्तिपर्यन्तसौख्यके ॥ १४२ ॥ जन्यतेऽत्र यथा लोके ख्यातिपूजादिक नरै । निस्पृहत्वेन तद्वच्च परत्र सुखमजसा ॥ १४३ ॥ निस्पृहत्वेन स्याच्चित्तशुद्धिर्ध्यान पुनस्तया । ध्यानात्कर्मक्षयस्तस्मान्मुक्तिरेव न सशय ॥ १४४ ॥ तत्रानन्त सुख सार नित्य त्यक्तोपम बुधैः । प्राप्यते विषयातीत

॥ १४६ ॥ यह परिग्रह त्याग नामका व्रत समस्त गुणोंका निधि है, धर्मात्मा लोगोंके द्वारा धारण किया जाता है, समस्त सुखोंका सागर है, मोक्ष प्राप्त करानेमें चतुर है, समस्त संसारमें पूज्य है और दुःख चिंता आदिसे दूर है, इसलिये हे भव्य ! निर्मल गुणोंको प्राप्त करनेके लिये तू इस परिग्रह त्याग व्रतको (नौवीं प्रतिमाको) अवश्य धारण कर ॥ १४७ ॥ यह परिग्रह त्याग व्रत अनन्त गुणोंको देनेवाला है, अत्यन्त निर्मल है, स्वर्ग मोक्षमें पहुंचा देनेवाला है, धर्मध्यानका कारण है, पुण्यरूपी वृक्षोंके लिये बाग है, देवोंके द्वारा पूज्य है, चिंता आदि दोषोंसे रहित है, सुखका घर है, विद्वानोंके द्वारा सेवा करने योग्य है, अत्यन्त पवित्र है और हिंसादि पापोंसे सर्वथा रहित है। हे भव्य ! ऐसे इस परिग्रह त्याग व्रतको तू सदा धारण कर ॥ १४८ ॥ जो पुरुष मन, वचन, कायकी शुद्धता पूर्वक दर्शन प्रतिमासे लेकर परिग्रह त्याग नामकी नौवीं प्रतिमा तक नौ प्रतिमाओंका पालन करते हैं वे इस संसारमें श्री जिनेन्द्रदेवके द्वारा मध्यम श्रावक कहे जाते हैं ॥ १४९ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग प्रतिमाओंका निरूपण करनेवाला यह तेईसवा परिच्छेद समाप्त हुआ।



अथ चौबीसवां परिच्छेद ।

जो श्री वर्द्धमानस्वामी जगतपूज्य हैं, भव्यरूपी कमलोंके लिये सूर्य है, और गुणोंके समुद्र हैं ऐसे श्री महावीर-स्वामीको मैं सिद्धपद प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ ऊपर लिखे अनुसार परिग्रह त्याग प्रतिमाका निरूपण

स्वात्मज परम वरम् ॥ १४५ ॥ इत्येव च परिज्ञाय गुण सन्तोषज बुधा. । हत्वा लोभ दुराय त कुरुध्व भो सदा वलात् ॥ १४६ ॥ अखिलगुणनिधान धर्मसत्त्वैर्निषेव्य, सकलसुखसमुद्र मुक्तिसदानदक्षम् । निखिलभुवनपूज्य दुःखचिन्तादिदूर, भज विमलगुणाप्त्यै त्यक्तसंगं व्रत त्वम् ॥ १४७ ॥ अतातीतगुणप्रद सुविमल स्वर्मुक्तिसम्पादक, धर्म्यध्यान निवधन शुभनगाराम सुरैः पुजितम् । चिंतात्यक्तसुखास्पद बुधजनैः सेव्य पवित्र सदा, भो हिंसादिविवर्जित भज सदा त्व त्यक्तसग व्रतम् ॥१४८॥ दृष्ट्यादि नव पर्यन्तं प्रतिमां योऽत्र पालयेत् । त्रिशुद्ध्या स जिनैरुक्तो मध्यमः श्रावको भुवि ॥ १४९ ॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे ब्रह्मचर्यादिप्रतिमानवप्ररूपको नाम त्रयोविंशतितमः परिच्छेदः ।

कर अब समस्त पापोंको शांत करनेके लिये संक्षेपमें पापरूप अनुमतिका त्याग करने रूप अनुमति त्याग नामकी दशवीं प्रतिमाको कहते हैं ॥ २ ॥ जो दयालु मनुष्य पापोंसे डरकर किसी आरम्भमें, घरके काममें, खेती करनेमें, व्यापारमें विवाहादि कार्योंमें तथा और भी ऐसे ही कार्योंमें अपनी सम्मति नहीं देता है उसके पुण्य बढानेवाली दशवीं उत्तम प्रतिमा होती है ॥ ३–४ ॥ संसारमें मनके संकल्प करने मात्रसे मनुष्योंको विना ही प्रयोजनके नरक तिर्यंच गतिका कारण ऐसा घोर पाप उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥ शरीरसे और वचनसे तो कभी कभी पाप होता है परन्तु संसारमें मनकी चंचलतासे मनुष्योंको निरंतर घोर पाप लगता रहता है ॥ ६ ॥ विना वश किया हुआ यह मन महापापरूप कार्योंमें सम्मति देकर रात्रि दिन पाप करता रहता है ॥ ७ ॥ जो मूर्ख घरके आरम्भ करता है और जो उसमें सम्मति देता है उन दोनोंको एकसा पाप लगता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ८ ॥ स्वयंभूरमणसमुद्रमें जो तंदुल मत्स्य है वह महामत्स्यके पापोंका संकल्प करनेसे ही नरकमें जाकर पडता है ॥ ९ ॥ यही समझकर व्रती बुद्धिमानोंको पापोंसे डरकर हिंसा आदि पापरूप कार्योंमें तथा धनमें अपनी सम्मति कभी नहीं देनी चाहिये ॥ १० ॥ व्रती श्रावकको अपने वा दूसरेके घर नीरस वा सरस अनेक प्रकारके आहारमें जान बूझकर कभी सम्मति नहीं देनी चाहिये ॥ ११ ॥ चतुर व्रतियोंको राग छोडकर अपने घर वा

अथ चतुर्विंशतितमः सर्गः ।

महावीरं जगत्पूज्यं कर्मशत्रुविनाशकम् । भव्यपद्माकरे सूर्यं वंदे सिद्ध्यै गुणार्णवम् ॥१॥ संगत्यागं मनाक्याय पापानुमतिवर्जनम् । व्रतं वक्ष्ये समासेन सर्वसावद्यशान्तये ॥ २ ॥ आरंभे गृहकार्यादौ कृष्यादिकरणे तथा । वाणिज्यादौ विवाहादिकार्येऽन्यस्मिन् तथाविधौ ॥३॥ यो धत्तेऽनुमतिं नैव पापभीतो दयापरः । प्रतिमां दशमीं सोऽपि लभेत्पुण्यकरां वराम् ॥ ४ ॥ मनः संकल्पतो लोके पापं संजायते नृणाम् । विना प्रयोजनं घोरं श्वभ्रतिर्यग्निबन्धनम् ॥ ५ ॥ उत्पद्यते क्वचित्पापं कायेन वचसा तथा । चित्तचंचलतो लोके पुंसां घोरं निरन्तरम् ॥६॥ अहोरात्रं मनः पापं तनोति निग्रहं विना । अनुमत्यादियोगेन महापापकरकर्मणा ॥७॥ यः करोति गृहारम्भं यो धत्तेऽनुमतिं शठः । द्वयोरपि समं पापं प्रोक्तं श्रीजिनस्वामिना ॥ ८ ॥ शालिसिक्थाख्यमत्स्योऽगात्स्वयंभूरमणार्णवे । महामत्स्यस्य पापेन श्वभ्रं स्वस्य विकल्पतः ॥ ९ ॥ इति मत्वा सुधीर्नित्यं न धत्तेऽनुमतिं क्वचित् । हिंसारम्भादिसत्कार्ये पापभीतो व्रतैर्युतः ॥१०॥ नीरसे सरसे वापि स्वान्यस्य गृहसंभवे । आहारे विविधे ज्ञानात्कुर्यान्नानुमतिं व्रती ॥११॥ दत्तेराहारमादेयं कृतादिकविवर्जितम् । हत्वा रागं यथालब्धं स्वगृहे वा परगृहे ॥ १२ ॥

दूसरेके घर जहां कहीं कृत कारित अनुमोदना आदि दोषोंसे रहित आहार मिल जाय वही कर लेना चाहिये ॥ १२ ॥ जो व्रती घर सम्बन्धी समस्त कार्योंमें अपनी सम्मति देनेका त्याग कर देता है उसके किसी समयमें भी अशुभ कर्मोका वन्ध नही होता है ॥ १३ ॥ किसी प्रकारका संकल्प न करनेरूप तलवारके बलसे जिसने अपना चित्त जीत लिया है, उसके मोक्षके कारणकी प्राप्ति होना आदि सब मनोरथ सिद्ध होजाते है ॥ १४ ॥ जो व्रती ध्यान रूपी तलवारसे अपने चॅचल मनको वशकर तथा अत्यन्त निस्पृह होकर समस्त आरम्भोंका त्याग कर रहते हैं, किसीमें अपनी सम्मति नही देते वे मनुष्य तीनों लोकोंमें धन्य गिनेजाते हैं ॥ १५ ॥ जिसने अपना मन जीत लिया उसने समस्त इंद्रियोंको जीत लिया और कर्मोंके समूहको जीत लिया तथा सुखकी खानि ऐसा महापुण्य उसने प्राप्त कर लिया ॥ १६ ॥ इस दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाले व्रतियोंको पापरूप सम्मतिके त्याग करदेनेसे परलोकमें चक्रवर्ती, इन्द्र और तीर्थंकर पदकी प्राप्ति होती है ॥ १७ ॥

जिसने अपने मनके संकल्प विकल्पोंके समूहको नाशकर अपना चित्त वशमें कर लिया है मैं इस संसारमें उसीका जन्म सफल मानता हूं ॥ १८ ॥ वहुत कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि जिन्होंने अपना पूर्ण उद्योत कर मन, वचन, कायसे सम्मति देनेका त्याग कर दिया है वही मनुष्य परलोकमें पूज्य और महापुरुष होता है ॥१९॥ हे भव्य ! यह अनुमतित्याग व्रत शुभ गतियोंमें जानेका मार्ग है, मोक्ष महलकी सीढियोंकी पंक्ति है, पापरूपी वनको जला देनेके लिये अग्नि है, धर्मरूपी रत्नोंका पिटारा है, समस्त पापोंसे रहित है और कर्मोंका शत्रु है इसलिये हे भव्य ! तू अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिये इस अनुमति त्याग नामके व्रतको अवश्य धारण कर ॥ २० ॥

सर्वेषु गृहकार्येषु यः संकल्पं निवारयेत् । न तस्याशुभकर्मणां वधः स्याद्धि कचित्क्षणे ॥१३॥ चित्त विनिर्जित येन निःसंकल्पासिना भवेत् । तस्य समीहित सिद्ध सर्वं मुक्त्यादि कारणम् ॥१४॥ ये हत्वा मानसं ध्यानखड्गेनाढ्याः सुनिस्पृहाः । तिष्ठंति विगतारम्भा धन्यास्ते भुवनत्रये ॥ १५ ॥ जितं स्वमानसं येन तेन चेन्द्रियसंजयम् । कर्मजालं महापुण्यं ननु प्राप्तं सुखाकरम् ॥१६॥ पापानुमतित्यागाच्च चक्रेशत्वं सुरेशताम् । अमुत्र तीर्थनाथत्वं प्राप्यते च व्रतान्वितैः ॥१७॥ जन्मेह सफलं तस्य मन्येऽहं येन संस्कृतम् । स्वचित्तं स्ववशे हत्वा सकल्पादिकदम्बकम् ॥ १८ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन यैस्त्यक्तानुमतिस्त्रिधा । पूज्यतां महतां लोके परत्र विहितोधर्मैः ॥ १९ ॥ सुगतिगमनमार्गं मुक्तिसोपानपंक्तिं, दुरितगहनवन्हिं धर्मरत्नादिभांडम् । रहित सकलपापं संव्रतं कर्मशत्रुं, अनुमतिरहितं स्वस्यात्मशुद्ध्यै भज त्वम् ॥२०॥

इसप्रकार दशवीं प्रतिमाका वर्णन कर अब धर्मके लिये उद्दिष्टाहार त्याग नामकी ग्यारहवीं प्रतिमाका निरूपण करते हैं ॥ २१ ॥ जो गृहस्थ संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त होकर तथा घर और कुटुंबका त्याग कर मुनिराजके समीप जाता है, तथा वहां जाकर इंद्र चक्रवर्ती आदि महापुरुषोंके द्वारा पूज्य ऐसे मुनिराजके चरणकमलोंका आराधन कर और खंड वस्त्र धारण कर क्षुल्लककी दीक्षा धारण करता है, सदा मुनिराजके समीप रहता है और भिक्षा भोजन करता है उसके उद्दिष्ट त्याग नामकी ग्यारहवीं प्रतिमा होती है ॥ २२–२४ ॥ अपने व्रतोंको पालन करनेवाले क्षुल्लक श्रावकको दो तीन अथवा चार महीने बाद अपने मस्तकको मुडवा डालना चाहिये वा कैंचीसे कतरवा डालना चाहिये अथवा लोंच कर देना चाहिये ॥ २५ ॥ व्रत पालन करनेमें तत्पर रहनेवाले क्षुल्लक श्रावकको लीख जूं आदि पडनेके डरसे बाल नहीं रखना चाहिये और राग पाप वा हिंसा होनेके डरसे स्नान नहीं करना चाहिये ॥ २६ ॥ केशोंका लोंच करना वैराग्यको बढानेवाला है, धीरवीर पुरुषोंको लोभका त्याग करनेवाला है और कातर जीवोंको अपनी शक्ति बढानेवाला है। इसलिये सदा लोंच करना ही अच्छा है ॥ २७ ॥ ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेवाले व्रती क्षुल्लकोंको राग बढानेवाले कोमल बिछोनेपर कभी नहीं सोना चाहिये अथवा कामोद्वेग होनेके डरसे वा पाप उत्पन्न होनेके डरसे ऐसे बिछोनेपर कभी नहीं सोना चाहिये ॥ २८ ॥ जो विद्वान् व्रती कोमल बिछोनेपर सोता है उसका ब्रह्मचर्य कामदेवके डरसे दूर भाग जाता है ॥२९॥ व्रती क्षुल्लकोंको गद्दोंपर सोजाना अच्छा परंतु राग बढानेवाले, पाप तथा कामको उत्पन्न करनेवाले ऐसे रुई आदिके

इदानीं सप्रवक्ष्येऽहमुद्दिष्टाहारवर्जनम् । व्याख्याय प्रतिमा पूर्वं दशमीं धर्महेतवे ॥ २१ ॥ गृहस्थः प्राप्य वैराग्य देहभोगभवादिषु । त्यक्त्वा गृहं कुटुंबं च प्रागायान्मुनिसन्निधिम् ॥२२॥ आराध्यमुनिसत्पादौ शक्रभूपेन्द्रपूजितौ । गृहीत्वा क्षुल्लकीं दीक्षा खंडवस्त्रसमन्विताम् ॥२३॥ गुरुपार्श्वे स्थितो नित्य सोऽत्ति भिक्षां परगृहात् । उद्दिष्टवर्जिताख्यैका दशमीं प्रतिमां लभेत् ॥२४॥ मस्तके मुंडनं लोचः कर्तनं वा समाचरेत् । द्वित्रिभिर्वा चतुर्मासैर्व्रती सद्व्रतसंयुतः ॥२५॥ न केशधारणं कुर्यात्स्नानं च व्रततत्परः । यूकादिभयतो रागपापहिंसादिकारणम् ॥ २६ ॥ लोचः प्रकल्पते नित्यं वैराग्यादिविवर्द्धकः । धीराणां त्यक्तलोभोऽपि कातराणां स्ववीर्यदः ॥ २७ ॥ संस्तरे कोमले नैव रागयुक्ते भजेत्क्वचित् । कामादिभयतोऽघाद्वा शयनं ब्रह्मरक्षकः ॥ २८ ॥ विधत्ते शयनं योऽत्र कोमले संस्तरे बुधः । मन्मथादिभयात्तस्य ब्रह्मचर्यं पलायते ॥ २९ ॥ वरं सद्व्रतिना शस्त्रादिकेषु शयनं न च । तुलिकादिषु सरागपापकामादिहेतुषु ॥ ३० ॥ कदोपवेशनं नैव कर्तव्यं

विछौनेपर सोना अच्छा नहीं ॥ ३० ॥ राग द्वेष और सुखका त्याग कर देनेवाले ब्रह्मचारी व्रतियोंको गद्दा आदि कोमल आसनोंपर कभी नही बैठना चाहिये ॥ ३१ ॥ अपने आत्माको सुखमें तल्लीन कर देनेवाले जो व्रती गद्दा आदि कोमल आसनोंपर बैठते है उनके ब्रह्मचर्यव्रत किसप्रकार पल सकता है ? अर्थात् कभी नही ॥ ३२ ॥ ब्रह्मचारी क्षुल्लकोंको शौचके लिये पापरहित, वीतरागरूप, और सब तरहके भयोसे रहित ऐसा कमण्डलु ग्रहण करना चाहिये ॥ ३३ ॥ जो अच्छी (अधिक मूल्यकी) धातुओसे बना हो, जिसका मुंह छोटा हो, और जिसका मध्यदेश दिखाई न पडता हो ऐसा भय उत्पन्न करनेवाला कमण्डलु वा वर्तन चतुर व्रतियोंको कभी नही लेना चाहिये ॥ ३४ ॥ इसलिये जिसका मुंह वडा हो, जो योग्य हो, थोडे मूल्यका हो, प्रासुक हो, जिसके रखनेमें किसी तरहका भय न हो और जिससे वा जिसके निमित्त किसी तरहकी हिंसा न होती हो ऐसा कमण्डलु गृहण करना चाहिये ॥ ३५ ॥ व्रती क्षुल्लकोंको कोपीन और खण्ड वस्त्र रखना चाहिये और वह ऐसा रखना चाहिये जिसके रखनेमें न तो राग हो न किसी तरहका भय हो, जो थोडे मूल्यका हो और दूसरेके द्वारा दिया गया हो ॥ ३६ ॥ चतुर क्षुल्लकोंको प्राण नाश होनेपर,भी अधिक मूल्यका और वडा वस्त्र कभी गृहण नही करना चाहिये क्योंकि ऐसा वस्त्र पाप राग चिंता शोक और भय आदि अनेक विकार व पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥ ३७ ॥ जो कुमार्गगामी पुरुष लोभके कारण सुन्दर वस्त्रोंको ग्रहण करता है उनके उस वस्त्रके चले जाने आदिका सदा भय लगा रहनेके कारण धर्मध्यान आदि सब नष्ट होजाता है ॥ ३८ ॥ व्रती क्षुल्लकोंको पापके डरसे अप्रासुक जलसे कभी उन वस्त्रोंको नही धोना चाहिये क्योंकि उन वस्त्रोंके धोनेमें अनेक जीवोंकी हिंसा होगी ॥ ३९ ॥

गद्यकादिषु । ब्रह्मव्रतधरैस्तस्य रागद्वेषसुखादिके ॥ ३१ ॥ आसन ये प्रकुर्वन्ति गद्यकादिषु कोमले । कुतो ब्रह्मव्रत तेषां स्वात्मसुखरतात्मनाम् ॥ ३२ ॥ शौचार्थं सगृहीतव्यो निष्पाप सत्कमटलु । वीतरागपरित्यक्तभयः सद्ब्रह्मचारिभिः ॥ ३३ ॥ सद्धात्वादिसमुत्पन्नः सकीर्णमुख एव स. । अदृष्टमध्ये देशे न ग्राह्यो दक्षैर्भयप्रद ॥३४॥ ततो वृहन्मुखो योग्य स्वल्पमूल्यो कमडलुः । प्रासुको भयसत्यक्तो ग्राह्यो हिसादिवर्जित ॥ ३५ ॥ कोपीन खडवस्त्र च गृहीतव्य व्रतान्वितै । अल्पमूल्यं परैर्दत्तं त्यक्तरागभवादिकम् ॥ ३६ ॥ वृहद्वस्त्रं नचादेय दक्षैरत्यलमूल्यजम् । प्राणांते पापसंरागचिंताशोकभयादिदम् ॥३७॥ गृह्णन्ति सुन्दर वस्त्रं ये लोभेन कुमार्गगा । नश्येद्धर्म्यादि-सद्ध्यान तेषा नाशादिसभयात् ॥३८॥ क्षालितव्य न तद्वस्त्र पापभीतैर्व्रतात्मजैः । अप्रासुकजलेनैव जन्तुसघातघातनात् ॥३९॥ जीवयुक्त-

जो व्रती अप्रासुक जलसे ही अपने वस्त्रोंको धो डालते हैं उनके अनेक जीवोंकी हिंसा होनेसे अहिंसाव्रत कभी नहीं पल सकता ॥ ४० ॥ व्रती क्षुल्लकोंको भिक्षाके लिये एक छोटासा पात्र रखना चाहिये और वह ऐसा होना चाहिये जिसके रखनेमें चोरी आदिका डर न हो, जो वीतराग रूप हो और जिसके रखनेमें अपनी मान मर्यादा व रक्षा करनेकी चिंता आदि न करनी पडे ॥ ४१ ॥ व्रती क्षुल्लकोंको अधिक मूल्यकी थाली आदि कभी नहीं रखना चाहिये क्योंकि ऐसे पात्रोंके रखनेमें राग, द्वेष, चिंता, भय, शोक आदि सब विकार, उत्पन्न होजाते हैं ॥ ४२ ॥ बहुमूल्यके पात्र रखनेमें धर्मध्यान नहीं होसकता और न व्रत ही पल सकते हैं तथा उसके चोरी चले जानेसे मनुष्यके आर्तध्यान उत्पन्न होता है ॥ ४३ ॥ यही समझकर धर्मध्यानादिकमें तत्पर रहनेवाले क्षुल्लकोंको बहुमूल्यके और बडे पात्र कभी गृहण नहीं करने चाहिये। उनको वीतरागताको सूचित करनेवाला और जो शंका चिंता आदि न करनेवाला हो ऐसा छोटा पात्र ही रखना चाहिये ॥४४॥ उस पात्रको लेकर सात मुहूर्त दिन चढ जानेपर योग्य समयमें क्षुल्लक व्रतीको योग्य भिक्षाके लिये चर्या करनी चाहिये ॥ ४५ ॥ क्षुल्लकोंको भिक्षाके लिये न तो शीघ्र गमन करना चाहिये न धीरे धीरे चलना चाहिये न देर करके जाना चाहिये और न मार्गमें खडे होकर कुछ बातचीत करनी चाहिये ॥ ४६ ॥ सब जीवोंपर दया करनेवाले क्षुल्लकोंको अपने दोनों नेत्रोंसे चार हाथ भूमि देखकर यत्नाचार पूर्वक पैर रखना चाहिये ॥ ४७ ॥ भिक्षाके लिये चर्या करनेवाले क्षुल्लकको संसार शरीर और भोगोंमें वैराग्य धारण करते हुए निर्दोष श्रेष्ठ घरमें प्रवेश करना चाहिये ॥ ४८ ॥ यह घर गरीबका है वा धनीका है ऐसा विचार संयमीको कभी नहीं करना चाहिये। तथा

जलेनैव ये वस्त्रं क्षालयन्ति भो। अहिंसाख्य व्रत तेषा नश्येज्जन्तुविघातनात् ॥ ४० ॥ भिक्षायै भाजन स्वल्प ग्राह्य चौरभयातिगम्। विराग त्यक्तसन्मानरक्षाचिन्तादिकं नरैः ॥४१॥ स्थाल्यादिक महामूल्य नादेय व्रतधारिभिः। रागद्वेष महार्चिताभयशोकादिसद्गृहम् ॥४२॥ द्रव्याढ्यभाजनान्नस्याद्धर्मध्यानं व्रतादिकम्। चौरादिगृहणात्पुसा चार्तध्यान प्रजायते ॥ ४३ ॥ इति मत्वा न तद्ग्राह्य धर्मध्यानादितत्परैः। वीतराग परित्यज्य शकाचिंताकर क्वचित् ॥४४॥ योग्यकाले तदादान मुहूर्तसप्तसगते। दिने परिग्रहे योग्ये भिक्षार्थं सभ्रमेत् व्रती ॥४५॥ न शीघ्र गमन चैव कुर्यान्मद न सद्यतिः। विलवित न सन्मार्गे स्थित्वा नैव प्रजल्पनम् ॥४६॥ निरीक्ष्य यत्नतो भूमि चतुर्हस्तप्रमाणकम्। नयनाभ्या न्यसेत्पाद सर्वसत्त्वदयापर ॥ ४७ ॥ वैराग्य भावयन् गच्छेत् देहभोगभवादिषु। सद्गृहं त्यक्तसंदोष भिक्षान्वेषणतत्पर. ॥४८॥

उसे घरकी पंक्तियोंमें अनुक्रमसे ही प्रवेश करना चाहिये वीचमें किसी घरको छोडना नहीं चाहिये ॥ ४९ ॥ संयमीको घरके दरवाजे तक जाना चाहिये, यदि भिक्षा मिल जाय तो लेलेना चाहिये यदि न मिले दूसरे घरमें जाना चाहिये। भिक्षाके मिलने न मिलने दोनोंमें संतोष धारण करना चाहिये ॥ ५० ॥ व्रती क्षुल्लकोंको अग्निपर विना पकाया हुआ आहार, वीज, कंद, फल, पत्र, पुष्प, आदि निंद्य आहार कभी नहीं लेना चाहिये ॥५१॥ जो आहार स्वादिष्ट हो, गरम हो, जिसमें जीव हों और जो एक ही पात्रमें दो जगह रक्खा हो ऐसा आहार ब्रह्मचारी क्षुल्लकोंको कभी नहीं लेना चाहिये ॥५२॥ जो आहार कामाग्निको वढानेवाला है और जो तीव्र है, ऐसे लड्डू आदि निंद्य आहार विषमिले अन्नके समान क्षुल्लकोंको सर्वथा नहीं लेना चाहिये ॥ ५३ ॥ जिससे जिह्वामें लंपटता आजाय और जो कामको उत्तेजित करनेवाला हो ऐसा दूध आदिसे मिला हुआ अन्न व्रती क्षुल्लकोंको त्याग कर देना चाहिये ॥ ५४ ॥

तदनन्तर क्षुधा रोगसे असमर्थ हुए उस क्षुल्लकको किसी एक घरमें बैठकर वह भिक्षामें प्राप्त हुआ भोजन खा लेना चाहिये। उस समय उसे अपनी जिह्वा इंद्रिय वशमें कर लेनी चाहिये और रूखा चिकना, ठंडा गर्म, नमकीन, विना नमकका स्वाद रहित जैसा कुछ आगया है वैसा सब भोजन उसे कर लेना चाहिये ॥ ५५–५६ ॥ पापसे डरनेवाले व्रती क्षुल्लकोंको अनेक पापोंका कारण और अनेक जंतुओंसे भरा हुआ ऐसा रात्रिका रक्खा हुआ दही अथवा छाछ कभी नहीं लेना चाहिये ॥ ५७ ॥ मांस, रुधिर, चर्म, हड्डी, मद्य, जीवोंका वध और त्याग किया हुआ पदार्थ ये सात प्रकारके

श्रीहीनोऽय धनाढ्योऽय चेति चिंता परित्यजेत्। विशेदनुक्रमेणैव गृहपंक्ति स संयमी ॥४९॥ गृहद्वारं स समासाद्य प्राप्य भिक्षां न वा ततः। लाभालाभेन सन्तुष्टो विशेदन्यगृहं पुनः ॥५०॥ अनाग्निपक्वमाहारं वीजकंदफलादिकम्। पत्र पुष्पादिकं नैव निंद्यं गृह्णाति सद्व्रती ॥५१॥ आहारं न समादेय यत्पात्रैकद्विसंस्थितम्। सुस्वादु ज्वलितं जन्तुयुक्तं सब्रह्मचारिणा ॥५२॥ न ग्राह्य व्रतिना निंद्य प्राहारं मोदकादिकम्। कामाग्निदीपकं तीव्रं विषान्नमिव सर्वथा ॥ ५३ ॥ लंपटत्व भजेज्जिह्वा येन कामोत्कटो भवेत्। तत्त्याज्यं यतिना वान्नं दुग्धादिरससंयुतम् ॥ ५४ ॥ पश्चादेकगृहे स्थित्वा प्राप्तभिक्षां तथाविधाम्। क्षुधारोगासमर्थः स्वजिह्वानिग्रहतत्परः ॥ ५५ ॥ रूक्षं स्निग्धं तथा शीतमुष्णं वा लवणान्वितम्। त्यक्तसल्लवणं वापि त्यक्तस्वादु यथागतम् ॥ ५६ ॥ रात्रौ स्थितं नचादेयं तक्रं जीवसमाकुलम्। सयतैर्दधिपापाद्भीतैः सावद्यकारणम् ॥ ५७ ॥ आमिषं रुधिरं चर्म वास्थि मद्यं वधोगिनः। प्रत्याख्यानं स्वभुक्तेऽन्तरायं सप्तधा भवेत् ॥ ५८ ॥ यः पश्यति पत्र

भोजनके अन्तराय गिनेजाते हैं, क्षुल्लकोंको इनको टालकर भोजन करना चाहिये ॥ ५८ ॥ जो व्रती भोजन करता हुआ मांसको देख लेता है उसके शक्तिको बढानेवाला भोजनका अन्तराय गिना जाता है ॥ ५९ ॥ जो व्रती भोजन करता हुआ चार अँगुल प्रमाण रुधिरकी धाराको देख लेता है उसके भी भोजनका अन्तराय समझा जाता है ॥ ६० ॥ यदि भोजन करता हुआ व्रती गीले चमडेको देखले अथवा सूके चमडेसे उसका स्पर्श होजाय वा किसी कारणसे भोजनमें हड्डी आजाय तो वह भी भोजनका अन्तराय माना जाता है ॥ ६१ ॥ व्रतियोंको मद्यकी धारा देखकर आहार छोड देना चाहिये और घी अथवा छाछ आदिमें दो इंद्रिय आदि जीवोंका घात होगया हो तो भी आहार छोड देना चाहिये ॥ ६२ ॥ त्याग किये हुए पदार्थोंका भक्षण कर लेनेसे व्रतोंका भंग होता है इसलिये व्रतीमनुष्योंके लिये यह भी भोजनका अंतराय माना जाता है ॥ ६३ ॥ हिंसाका त्याग करनेवाले चतुर पुरुषोंको विना अंतरायके थोडासा भी अन्न नहीं छोडना चाहिये, सब खा लेना चाहिये क्योंकि अन्नके छोडनेसे हिंसाकी प्रवृत्ति होती है ॥ ६४ ॥ यदि भोजनमें कोई अंतराय आजाय तो चाहे वह भोजन खाया हो, वा न खाया हो, उद्दिष्ट त्यागीको वह अवश्य छोड देना चाहिये ॥ ६५ ॥ तदनंतर व्रती श्रावकको (उद्दिष्ट त्यागीको) प्रासुक जलसे आचमन (कुल्ला) कर लेना चाहिये और फिर अपना पात्र धोकर शीघ्र ही अपने गुरुके समीप चले जाना चाहिये ॥६६॥ गुरुको नमस्कार कर अपने हृदयको धर्म ध्यानमें तल्लीन करनेवाले व्रतीको उनके मुखसे ही चारो प्रकारका प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये ॥ ६७ ॥ इसप्रकार पापरहित आहारकी प्रवृ-

कुर्वन्भोजन स व्रती स्वयम् । अन्तराय लमेत्सोऽपि भोजनस्य स्ववीर्यदम् ॥ ५९ ॥ पश्येद्यो रुधिरस्यैव चतुरंगुलसम्मितम् । धारां भुक्त्वा-न्वितस्तस्य प्रान्तरायः प्रजायते ॥६०॥ पश्येद्यार्द्रचर्माशु शुष्कं यो वा स्पृशेत्कचित् । भोजनेप्वागत चास्थि सोऽतरायं लभेद्यमी ॥६१॥ मद्यधारां समालोक्य त्यजेदाहारमञ्जसा । वधं च द्वीन्द्रियादीना घृततक्रादिके व्रती ॥६२॥ अन्तरायो भवेन्नृणा त्यक्तवस्त्वादिभक्षणात् । व्रतादिभगतश्चापि पापसगादिहेतुतः ॥६३॥ विनान्तराय न स्तोकं प्रान्नं त्याज्यं कचिन्न वै । हिंसादिविरतैर्दक्षैर्यतो हिंसा प्रवर्तते ॥६४॥ यद्यागतोऽत्र वै कोपि प्रान्तरायः स्वभोजने । तदा स्वान्नं प्रभुक्त वा न भुक्तं वा त्यजेद्यतिः ॥ ६५ ॥ ततः प्रासुकनीरेण विधायाचमनं व्रती । प्रक्षाल्य भाजन प्रायात् सद्गुरोः निकट द्रुतम् ॥ ६६ ॥ गुरुं प्रणम्य संग्राह्य प्रत्याख्यान चतुर्विधम् । तन्मुखाद्व्रतिना धर्मध्यान सयुक्तचेतसा ॥ ६७ ॥ एव सदा प्रकर्तव्यं भिक्षाहारं व्रतोचितम् । यावज्जीव प्रयत्नेन निष्पापाहारभोगिना ॥ ६८ ॥ स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य

करनेवाले व्रती त्यागीको अपने जीवनपर्यंत प्रयत्नपूर्वक सदा इसी प्रकार आहार ग्रहण करना चाहिये ॥६८॥ व्रती त्यागियोंको अपनी शक्तिको प्रगट कर अनशन आदि बारह प्रकारका तप करना चाहिये तथा वेला नेला आदि भी करना चाहिये। संसारमें यह तप ही स्वर्गरूपी महलकी सीढ़ी है, मुक्तिको वश करनेवाला है, अत्यंत कठिन है, संसाररूपी समुद्रसे पार करनेवाला है, तथा इंद्र चक्रवर्ती और तीर्थंकर आदिके पद देनेवाला है। इसलिये कर्मोंसे डरनेवाले त्यागियोंको ऐसा तपश्चरण अवश्य करना चाहिये॥६९-७१॥ व्रती त्यागियोंको अनेक उपवास करके भी पारणाके दिन नीच वा निंद्य क्रियाओंसे उत्पन्न हुआ और पाप बढानेवाला आहार कभी नहीं लेना चाहिये ॥ ७२ ॥ यथायोग्य और निर्दोष आहार प्रतिदिन ग्रहण करना अच्छा परन्तु एक महीनाके उपवासके बाद किये हुए पारणाके दिन सदोष आहार ग्रहण करना अच्छा नहीं ॥ ७३ ॥ जिस प्रकार यथायोग्य व्यवहार करनेवाले सद्गृहस्थोंकी शुद्धि बतलाई है उसीप्रकार क्षुल्लक वा मुनियोंकी भी भिक्षा शुद्धि कही गई है ॥७४॥ जो त्यागी सदोष आहार ग्रहण करते है उनके विषमिले दूधके समान अनेक उपवास मौन, और वीरासन आदि स्थान सब व्यर्थ हैं ॥ ७५ ॥ समस्त व्रतोंमें अहिंसाव्रत ही प्रधान है, यह व्रत सब व्रतोंकी जड है और मोक्षका साधक है, वही अहिंसाव्रत सदोष आहार ग्रहण करनेवालोंके नही होसकता क्योंकि सदोष आहार ग्रहण करनेसे छहों कायके जीवोंकी हिंसा होती हैं ॥ ७६ ॥ जो त्यागी सदोष आहार ग्रहण करते हैं वे छहो कायके जीवोंकी विराधना करते हैं इसलिये जीवोकी हिंसा होनेसे उनका आहार इस संसारमें संवेगको बढानेवाला कैसे हो सकता है ? ॥ ७७ ॥ जो अज्ञानी मुनि सदोष आहारमें लीन रहता है वह गृहस्थपनेको प्राप्त होता है तथा हिंसा करनेके कारण वह दोनों ओरसे भ्रष्ट होता

तपः कुर्याद् द्विषड्विधम् । सदोपवासभेदादिसंभव कर्मघातकम् ॥ ६९ ॥ षष्टाष्टमाससजात सोपान स्वर्गधामनि । मुक्तेर्वशीकर घोर संसाराम्बुधितारकम् ॥ ७० ॥ शक्रचक्रेशतीर्थेशपदादिप्रापणे क्षमम् । सर्वशक्त्या करोत्येव तपः कर्मादिशकिता ॥७१॥ कृत्वा बहूपवास च न ग्राह्य पारणादिके । अधःकर्मभवाहार पापदं व्रतधारिभिः ॥ ७२ ॥ वर प्रत्यहमाहार निःसावद्यं यथोचितम् । न च मासोपवासादिपारणे दोषसंयुतम् ॥ ७३ ॥ यथोक्तव्यवहारस्य शुद्धिः सद्गृहमेधिनाम् । यतीना च तथा सा हि भिक्षाशुद्धिरुदाहृता ॥७४॥ बहूपवासं मौनं च स्थान वीरासनादिकम् । सदोषाहारिणा सर्व व्यर्थं स्याद्विषदुग्धवत् ॥७५॥ अहिंसाख्यं व्रत मूलं व्रताना मुक्तिसाधकम् । नश्येत् षड्जीवघातेन सदोषाहारग्राहिणाम् ॥ ७६ ॥ षडंगिविधिकाना च सावद्याहारवर्तिनाम् । कथं स्यादशनं लोके सवेग चांगिबाधनात् ॥७७॥

है क्योंकि गृहस्थपनेको प्राप्त होकर भी वह दान पूजा आदि गृहस्थोंके शुभ कर्म नहीं करता ॥ ७८ ॥ जो नीच गृहस्थाश्रम छोडकर दीक्षा धारण करता है और फिर भी सदोष आहार ग्रहण करता है उसकी दीक्षा लेना व्यर्थ ही समझना चाहिये ॥ ७९ ॥ जिह्वा लंपटी जो पुरुष महा निंद्य पापरूप आहार ग्रहण करता है वह अनेक जीवोंकी हिंसा करता है और इसी-लिये संसारमें उसकी अपकीर्ति होती है ॥ ८० ॥ सदोष आहार ग्रहण करनेवाले व्रतियोंका हृदय निर्दय रहता है, इसलिये उनको परलोकमें भी सुख नहीं मिल सकता है, ऐसे लोगोंको परलोकमें पाप और दुर्गतियोंसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके भारी भारी दुःख भोगने पडते हैं ॥ ८१ ॥ निर्दोष गृहस्थ पद अच्छा परन्तु इंद्रिय सेवन, स्त्री जन्य दोष वा राग, द्वेष आदिसे कलंकित हुआ मनुष्योंका मुनिपद अच्छा नहीं ॥ ८२ ॥ एकवार प्राणोंका नाश करनेवाला हलाहल विष खा लेना अच्छा परन्तु संसाररूपी समुद्रमें डुबानेवाला सदोष आहार ग्रहण करना अच्छा नहीं ॥८३॥ यही समझकर व्रती पुरुषोंको प्राण नाश होनेपर भी अभक्ष्यके समान सदोष आहारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ ८४ ॥ जो त्यागी निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं उन्हींका तप, व्रत, यम आदि सब सफल है, उन्हींके तप यमादिक मोक्षरूपी वृक्षके बीज हैं और पुण्यको अतिशय संचय करनेवाले हैं ॥८५॥ जिसने अपने समस्त इंद्रियोंके सुखोंका त्याग कर दिया है और वैराग्यरूपी जालमें फंसकर जिसने अपनी जीभको वशमें कर लिया है उसीका जन्म इस संसारमें सफल माना जाता है ॥ ८६ ॥ संसारसे भयभीत होनेवाले और भावनाओंमें तत्पर रहनेवाले व्रती त्यागियोको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये प्रतिदिन धर्मध्यानपूर्वक रहना चाहिये ॥ ८७ ॥ श्रेष्ठ गुणोंको धारण करनेवाले त्यागियोंको दुःख देनेवाले कर्म नाश करनेके लिये

सदोषान्नरतो याति गृहस्थत्व यति कुधी. । हिंसयोभयभ्रष्टत्व वादानादिकवर्जनात् ॥ ७८ ॥ गृहस्थत्वं परित्यज्य दीक्षामादाय योऽधमः । सदोषमतिप्राहार तस्य दीक्षा वृथा भवेत् ॥ ७९ ॥ पापासन महानिंद्य यो जिह्वालपटोत्ति ना । तस्येह जायते लोके कुकीर्तिर्जन्तुघातनात् ॥ ८० ॥ न स्यात्सुखममुत्रापि निर्दयान्वितचेतसाम् । भूरिदु ख भवेन्नून पापदुर्गतिज घनम् ॥ ८१ ॥ अच्यं वर गृहस्थत्वं यतित्व न कलंकितम् । इंद्रियदारदोषैश्च रागद्वेषादिकैर्नृणाम् ॥८२॥ श्रेष्ठ हालाहलं भुक्त यत्सकृत्प्राणनाशनम् । सदोषान्न पुनर्नैव संसाराम्बुधिपातनम् ॥ ८३ ॥ इति मत्वा सदा त्याज्य दोषाढ्य प्रान्नमजसा । अखाद्यमिव नादेय प्राणान्तेपि व्रतान्विते. ॥ ८४ ॥ निर्दोषाहारिणा सर्वं तपोव्रतयमादिकम् । भवेन्मोक्षतरोर्वीज सफल पुण्यपुण्यदम् ॥ ८५ ॥ जन्मेह सफल तस्य येन जिह्वा वशी कृता । बद्ध्वा वैराग्यपाशेन

सदा प्रयत्नपूर्वक ध्यान और अध्ययनमें ही अपना समय विताना चाहिये ॥ ८८ ॥ विद्वान् पुरुषोंको यह दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर सदा धर्मध्यान करते रहना चाहिये । विना धर्मध्यानके प्रमादमें एक घडी भी कभी नहीं खोनी चाहिये ॥८९॥ दूसरोंका दिया हुआ अन्न ग्रहण करके विरागी पुरुषोंको महापाप उत्पन्न करनेवाली और निंद्य विकथाएं स्वप्नमें भी कभी नहीं करनी चाहिये ॥ ९० ॥ जो त्यागी दूसरेके घर आहार ग्रहण कर विकथा कहते हैं वे उस पापके भारसे मरकर परलोकमें वैल होते हैं ॥ ९१ ॥ बुद्धिमानोंको चोर कथा, राज कथा, भोजन कथा और स्त्री कथा कभी नहीं करनी चाहिये क्योंकि ये विकथाएं व्यर्थ ही पाप उत्पन्न करनेवाली हैं इसीप्रकार देश भाषा आदिकी अन्य ऐसी ही कथाएं भी विकथाएं हैं वे भी त्यागियोंको नहीं करनी चाहिये ॥ ९२ ॥ प्रमादमें डूवे हुए तथा विकथा करने सुननेवाले त्यागियोंका जन्म ही निरर्थक जाता है और उनकी ली हुई दीक्षा निःसंदेह व्यर्थ गिनी जाती है ॥९३॥ त्यागियोंको या तो मौन धारण करना चाहिये वा श्रेष्ठ धर्मका उपदेश देना चाहिये या सिद्धांत शास्त्रोंका पठन-पाठन करना चाहिये अथवा परमेष्ठियोंका ध्यान करना चाहिये ॥ ९४ ॥ अथवा व्रती त्यागियोंको अपने वैराग्यको सुदृढ़ वनानेके लिये अपने मनमें सदा कर्मोंको नाश करनेवाली सारभूत वारह अनुप्रेक्षाओंका चितवन करना चाहिये ॥ ९५ ॥ धर्मात्मा त्यागियोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अपने मनमें उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दस धर्मोंका सदा चिंतवन करते रहना चाहिये ॥ ९६ ॥ चतुर त्यागियोंको तीर्थंकरकी विभूति देनेवाली दर्शन विशुद्धि आदि सोलहकारण

त्यक्तेन्द्रियसुखस्य वै ॥ ८६ ॥ धर्मध्यानेन स्यातव्य प्रत्यह स्वर्गमुक्तये । संसारे भयभीतैश्च भावनादिपरायणैः ॥८७॥ ध्यान वाध्ययनं नित्य कार्यं सद्गुणशालिभिः । प्रयत्नेन क्षयायेव कर्मणां दुःखदायिनाम् ॥ ८८ ॥ प्रमादेन न नेतव्या चैका कालकला क्वचित् । मानुष्यं दुर्लभं प्राप्य धर्मध्यानं विना बुधैः ॥८९॥ परान्नं हि समदाय न कार्या विकथा क्वचित् । महापापाकरा निंद्या स्वप्नतेपि विरागिभिः॥९०॥ भक्षयित्वा पराहारं विकथां ये वदन्ति ते । अमुत्र पापभारेण वलीवर्दा भवन्ति वै ॥ ९१ ॥ चौरराजान्ननारीणां कथा कार्या न धीधनैः । वृथा पापप्रदा घोरा देशभाषादिका परा ॥ ९२ ॥ विकथाचारिणां याति जन्म एव निरर्थकम् । वृथा दीक्षा भवेन्नूनं प्रमादाधिष्ठितात्मनाम् ॥ ९३ ॥ मौनमेव प्रकर्तव्यं वाशु धर्मोपदेशनम् । सिद्धान्तस्य पठनं वा ध्यानं वा परमेष्ठिनाम् ॥ ९४ ॥ चिंतनीयाः सदा सारा अनुप्रेक्षा व्रतान्वितैः । वैराग्यादि प्रसिद्ध्यर्थं मानसे कर्मनाशिकाः ॥ ९५ ॥ क्षमादिदशसद्भेदं ब्रह्मचर्यान्तमंजसा । चित्ते संभावयेन्नित्यं धर्मं धर्मी

भावनाओंका चिंतवन सदा करते रहना चाहिये ॥९७॥ व्रती त्यागियोंको स्वर्गमोक्ष प्राप्त करनेके लिये आज्ञाविचय, अपाय विचय, विपाक विचय, संस्थानविचय ये चारों प्रकारके धर्मध्यान सदा धारण करते रहना चाहिये ॥ ९८ ॥ बुद्धिमान त्यागियोंको अपने मनके समस्त संकल्प विकल्प छोडकर अनंत कर्मोंके समूहको नाश करनेवाली, अपने आत्माके चिंतवन करनेकी भावना सदा करते रहना चाहिये ॥ ९९ ॥ चतुर त्यागियोंको अपने कर्म नाश करनेके लिये समता वंदना आदि छहों प्रकारके आवश्यक प्रयत्न पूर्वक रात दिन पालन करते रहना चाहिये ॥ १०० ॥ धीरवीर त्यागियोंको प्राण नाश होनेपर भी व्रतोंके दोषोंको नाश करनेवाले और सब प्रकारके सुखोंकी खानि ऐसे सर्वोत्तम आवश्यक कभी नहीं छोडने चाहिये ॥ १०१ ॥ जिसप्रकार विना दांतोंके हाथी शोभायमान नहीं होता, विना दाढोंके सिंह शोभायमान नहीं होता और विना दानके गृहस्थ शोभायमान नहीं होता उसीप्रकार विना आवश्यकोंके संयमी भी शोभायमान नहीं होता ॥ १०२ ॥ पूर्ण व्रतोंको पालन करनेवाले त्यागियोंको सबसे पहिले आवश्यकोंका पालन करना चाहिये और फिर ध्यान अध्ययन आदि अन्य समस्त कार्य करने चाहिये ॥ १०३ ॥ पुस्तक, जल, पात्र, वस्त्र अथवा और भी धर्मोपकरण जो कुछ दयालु व्रतियोंको लेना वा रखना हो वह सब मुलायम उपकरणसे वार वार देख शोधकर तथा उस पदार्थ वा स्थानको अच्छी-तरह देखकर उठाना वा रखना चाहिये ॥ १०४–१०५ ॥ इसप्रकार चतुर त्यागियोंको जीवोंके दुःख दूर करनेके लिये किसी पदार्थको उठाने वा रखनेमें प्रत्येक पदार्थको देख व शोध लेना चाहिये ॥ १०६ ॥ दिनमें कभी नींद नहीं लेनी

स्वमुक्तये ॥ ९६ ॥ भावनीयाः सदा दक्षैः षोडशात्मकभावनाः । दृष्ट्यादिकविशुद्धाद्यास्तीर्थनाथविभूतिदाः ॥ ९७ ॥ आज्ञापायविपाकाख्य संस्थानविचयात्मकम् । धर्मध्यान सदा पेय व्रतिभिः स्वर्गमुक्तये ॥ ९८ ॥ संकल्पवर्जित कृत्वा मनः कार्यात्मभावना । अनन्तकर्मसन्तान-घातका स्वस्य सद्बुधैः ॥ ९९ ॥ आवश्यक प्रकर्तव्य षड्विध यत्नतोऽनिशम् । समतादिप्रद दक्षैः स्वकर्मक्षयहेतवे ॥१००॥ प्राणान्तेपि न मोक्तव्य सर्वसौख्याकर परम् । आवश्यक सदा धीरैर्व्रतादिमलनाशकम् ॥१०१॥ दन्तहीनो यथा हस्ती दंष्ट्राहीनो मृगाधिपः । दानहीनो गृही नाभात्यक्तावश्यकसंयमी ॥१०२॥ विधायावश्यक पूर्वं सम्पूर्ण व्रतसंयुतैः । ततः सर्वं विधातव्य सद्ध्यानाध्ययनादिकम् ॥ १०३ ॥ यत्किंचिच्च समादेय पुस्तक नीरभाजनम् । वस्त्रादिक यथान्यद्वा धर्मोपकरण वरम् ॥१०४॥ पूर्वं निरीक्ष्य तत्सर्वं ग्राह्य त्याज्य दयान्वितैः । सूक्ष्मोपकरणेनैव प्रतिलेख्य पुनः पुन ॥१०५॥ एव दक्षैः प्रकर्तव्य वस्तूना प्रतिलेखनम् । निक्षेपे वा सदा दाने जन्तुपीडाप्रहानये ॥१०६॥

चाहिये क्योंकि दिनमें नींद लेना प्रमाद बढानेवाला, पाप उत्पन्न करनेवाला, और समस्त दोषोंको प्रगट करनेवाला है इसलिये पूर्ण व्रतोंको न पालनेवाले क्षुल्लकोंको भी दिनमें नहीं सोना चाहिये ॥ १०७ ॥ चतुर त्यागियोंको यत्नपूर्वक भूमिपर संस्तर करना चाहिये वह संस्तर शरीरके समान हो बडा न हो, वीतरागरूप हो और स्त्री जंतु आदिसे सर्वथा रहित हो ॥ १०८ ॥ बुद्धिमानोको दिनमें अथवा रातमें तीनों समय अथवा सदा कर्मरूपी ईंधनको जलानेके लिये अग्निके समान ऐसा कायोत्सर्ग अवश्य करना चाहिये ॥ १०९ ॥ उत्तम व्रतियोंको पहिले तो अपने आवश्यक करने चाहिये और फिर रातमें डेड पहर (साडे चार घंटे) रात वीत जानेपर केवल परिश्रमको शांत करनेके लिये दो घडी नींद लेनी चाहिये ॥ ११० ॥ परलोकको सिद्ध करनेवाले और इंद्रिय सम्बन्धी सुखोंका त्याग करदेनेवाले उत्तम व्रतियोंको अपने व्रत पालन करनेके लिये ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंको नाश करनेवाली अधिक नींद कभी नहीं लेनी चाहिये ॥१११॥ व्रतियोंको तीव्र निद्रा दूर करनेके लिये और सुखका साग कर देनेके लिये धनुषके आकारकी शय्या बनानी चाहिये वा दंडाकार सोना चाहिये अथवा मृतकासनसे सोना चाहिए ॥११२॥ संयमियोंको रात्रिके पिछिले पहर शय्यासे उठकर छहों आवश्यकोंके अन्तर्गत रहनेवाला धर्मध्यान अवश्य करना चाहिये ॥११३॥ वहुत कहनेसे क्या, थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि घर गृहस्थीका त्याग करनेवाले क्षुल्लकोंको अपना सदाका समस्त समय धर्मध्यान पूर्वक ही व्यतीत करना चाहिये ॥ १४ ॥ जो बुद्धिमान मन वचन कायकी शुद्धता पूर्वक इन ग्यारह प्रतिमाओंका पालन करने हैं वे इस संसारमें श्री तीर्थंकर परमदेवके द्वारा उत्तम श्रावक कहे जाते हैं ॥ ११५ ॥ जो जीव इस संसारमें व्रत और चारित्रके आचरण करनेसे ही लोगोंके द्वारा सर्वथा पूज्य

दिने निद्रा प्रकर्तव्या प्रमादाशुभदायका । कृत्स्नदोषकरा तीताचारैरपि न सयतैः ॥१०७॥ प्रमार्ज्य यत्नतो दक्षैः कार्यो भूमौ स्वसस्तरः । वपुस्तुल्यो विरागश्च स्त्रीजन्त्वादिविवर्जितः ॥१०८॥ कायोत्सर्गो विधातव्यो रजन्या वा दिने बुधैः । कालत्रयेऽथवा नित्य कर्मेन्धनहुताशनः ॥१०९॥ रात्रावावस्यकं कृत्वा सार्द्धयामे गते सति । निद्रां मौहूर्तिकीं कुर्यात्सद्व्रती श्रमशान्तये ॥११०॥ बहुनिद्रा न कर्तव्या-ब्रह्मचर्यादिनाशिका । परलोकार्थिभिस्त्यक्तसुखे. सद्व्रतसिद्धये ॥१११॥ धनुःशय्या विधातव्या दंडाख्या मृतका तथा । तीव्र नेद्राविनाशार्थं व्रतिभिः सौख्यहानये ॥११२॥ रजन्याः पश्चिमे यामे शयनादुत्थाय सयतैः । धर्मध्यान विधातव्य षडावश्यकगोचरम् ॥ ११३ ॥ किमत्र वहुनोक्तेन त्यक्तगेहैश्च क्षुल्लकैः । धर्मध्यानेन कर्तव्यः कालः सर्वोऽपे शास्वतः ॥ ११४ ॥ एकादशसप्रतिमा त्रिशुद्ध्या पालयेत्सुधीः । यो

हुए हैं वे ही संसारमें धन्य हैं और वे ही संसारमें पूज्य हैं ॥११६॥ जो उत्तम श्रावक (क्षुल्लक) स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये व्रत पालन करता है उस धर्मके प्रभावसे वह स्वर्गकी ऐसी संपदा प्राप्त करता है जो समस्त गुणोंकी निधि है, सब देवोंके द्वारा पूज्य है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानोंसे सुशोभित है, सबमें सारभूत है, आठों ऋद्धियोंका घर है और निरुपम गुणोंकी खानि है ॥११७॥ उत्तम श्रावक अपने निरुपम (उपमारहित) व्रतोंके पालन करनेसे सोलहवें अच्युत स्वर्गको प्राप्त करता है। वह अच्युत स्वर्ग सब गुणोंका सागर है, समस्त भोगोंका एक मात्र स्थान है, अनेक गुणोंसे भरपूर है, ज्ञान और ऋद्धियोंसे सुशोभित है, सब प्रकारके दुःखोंसे रहित है और पुण्यकी जड़ है ॥ ११८ ॥ उत्तम श्रावकोंको उनके द्वारा पालन किये गये उत्तम व्रतोंसे उत्पन्न हुए पुण्यसे चक्रवर्तियोंका उत्तम पद प्राप्त होता है। वह चक्रवर्तियोंका पद छहों खंड पृथिवीसे उत्पन्न हुए सुखोंका घर है और नौनिधि तथा चौदह रत्नोंसे सुशोभित है ॥ ११९ ॥ उत्तम श्रावकोंको व्रतोंके प्रभावसे श्री तीर्थंकरकी विभूति प्राप्त होती है। यह तीर्थंकरकी विभूति इंद्र चक्रवर्तियोंके द्वारा पूज्य है, तीनों लोकोंमें पूज्य है, घोर तपश्चरण करनेवाले महा मुनिराज भी घोर तपश्चरणके द्वारा इसकी प्रार्थना करते हैं, यह अनंत गुणोंकी खानि है, अत्यंत निर्मल है, परम सुखका घर है, और मुक्तिको देनेवाली है। ऐसी यह तीर्थंकरकी विभूति उत्तम श्रावकोंको प्राप्त होती है ॥ १२० ॥ बुद्धिमानोंको इस उत्तम गृहस्थधर्मके प्रभावसे अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त होती है। इस मोक्षको मुनिराज भी श्रेष्ठ तपश्चरणके द्वारा प्रार्थना करते हैं, यह जन्म जरा मरणसे रहित है, अनुपम गुणोंसे सुशोभित है और समस्त सुखोंका सागर है ॥ १२१ ॥ उत्तम मनुष्य गृहस्थधर्ममें उत्पन्न हुए पुण्यके प्रभावसे तीनों लोकोंमें जो

जिनेन्द्रैः स संप्रोक्तः उत्तमः श्रावको भुवि ॥११५॥ ते धन्या त्रिजगत्पूज्याः गता ये प्रार्चता जनात्। लोकेस्मिन् सद्व्रताचाराचरणे नैव सर्वथा ॥११६॥ अखिलगुणनिधानं सर्वदेवैः प्रपूज्य, अवगमत्रययुक्त सारमष्टर्द्धिगेहम्। निरुपमगुणखानिं प्रोत्तमः श्रावकोत्र, व्रतजनितवृषाद्वै सलभेत्स्वर्गमुक्त्यै ॥११७॥ अखिलगुणसमुद्र कृत्स्नभोगैकधाम, विविधगुणसुपूर्णं ज्ञानऋद्धयादिकाढ्यम्। विगतसकलदुःख पुण्यमूल गृहस्थो, निरुपमव्रतयोगादच्युत याति नाकम् ॥११८॥ षट्खण्डभूप्रभवसौख्यगेहं, रामादिसप्तद्वयरत्नयुक्तम्। निध्याकर सद्व्रतजातपुण्यात्संलभ्यते चक्रिपद गृहस्थैः ॥११९॥ यद्देवेन्द्र नरेन्द्रवदितमहो लोकत्रये पूजितं, प्रार्थ्यं यन्मुनिनायकैः कृतमहाकष्टैस्तपोदुष्करात्। अन्तातीतगुणाकर सुविमल सौख्यालय मुक्तिद, तन्नूणा प्रभवेत्सुगेहिव्रततःसर्वज्ञसद्वैभवम् ॥ १२० ॥ मुनिवरगणप्रार्थ्यो दुष्करैः सत्तपोभिरजर इह क्रमात्

सुख सबसे उत्तम है उनको पाकर अनुक्रमसे समस्त दुःखोसे रहित और सुखका समुद्र ऐसे मोक्षरूप परम स्थानको प्राप्त होते है ॥ १२२ ॥ श्री जिनेंद्रदेवने यह उत्तम धर्म दो प्रकारका बतलाया है–एक मुनियोका और दूसरा गृहस्थोंका। मुनियोंका धर्म अत्यंत कठिन है। जो इसे पालन नही कर सकते उन्हें गृहस्थोंके ये व्रत अवश्य पालन करने चाहिये ॥१२३॥ यह गृहस्थ धर्म संसाररूपी समुद्रसे पार कर देनेवाला है, सुख देनेवाला है, स्वर्गरूपी घरको उघाडनेवाला है, नरकके द्वारके किवाडोंको वंद कर देनेवाला है, अनेक गुण प्रगट करनेवाला है, सबमें सारभूत है, अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करानेवाला है, इसमें उत्तम मध्यम जघन्य सब प्रकारके व्रत पालन किये जाते हैं, और यह समस्त दोषोंसे रहित है। हे विद्वानो! तुम लोग स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिये ऐसे इस गृहस्थ धर्मका सेवन करो ॥ १२४ ॥ जो चतुर पुरुष इस गृहस्थ धर्मका पालन करते हैं वे मनुष्य और देवोंके समस्त सुख पाकर तथा सबके द्वारा पूज्य ऐसे तीर्थंकर परमपदको पाकर और केवलज्ञानकी परम विभूतिको पाकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते है ॥ १२५ ॥ जो पुरुष भक्तिपूर्वक इस श्रावकाचार ग्रंथका पठन पाठन करते हैं वे उन आचरणोंका पालन कर देव मनुष्योंके सब सुख पाते है और अंतमें मोक्षपदको प्राप्त होते हैं ॥ १२६ ॥ जो बुद्धिमान अपने परिणामोंको शुद्धकर इस श्रावकाचारका पठन पाठन करते हैं वे इस संसारमें अपनी निर्मल कीर्ति फैलाते हैं तथा अनेक गुण देनेवाले शुभ अशुभ पदार्थोंको जानकर और समस्त पापोंका त्याग कर अतिशय पुण्यको प्राप्त होते है ॥ १२७ ॥ जो पुरुष इस ग्रंथको गुणी श्रावकोंके लिये अथवा अपने पुत्रोंके लिये पढाते हैं अथवा

स जन्मजातकदूरम्। निरुपमगुणयुक्तो मोक्ष एवाप्यते वै, अखिलसुखसमुद्रः सद्बुधैर्गहि धर्मात् ॥१२१॥ यत्सुख त्रिभुवनाखिले वर, तद्गृहाश्रितसुपुण्यपाकतः। प्राप्य याति सुपदं नरोत्तमस्त्यक्तदुःखसुखसागर क्रमात् ॥१२२॥ श्रीजिनेन कथितो वरधर्मः, सद्गृहेशमुनिगोचरो द्विधा। दुष्करो मुनिवृषे विलाक्षमास्ते धरन्तु गृहिणा व्रतमेतत् ॥१२३॥ ससाराम्बुधितारक सुखकर स्वर्गगृहोद्घाटन, श्वभ्रद्वारकपाटद गुणकर सार क्रमान्मुक्तिदम्। उत्कृष्टव्रतपालनादिविषय ससारधर्मं बुधाः, सेवध्व परित्यक्तदोषमखिल स्वर्मोक्षसौख्याप्तये ॥ १२४ ॥ ये पालयन्ति निपुणा हि गृहस्थधर्मं, ते प्राप्य सौख्यमखिल नृसुरादिजातम्। लब्ध्वापि तीर्थकरभूतिमपीह पूज्य, वा मुङ्केवलिपदं च प्रयांति मुक्तिम् ॥१२५॥ श्रोपासकाचारमिद पवित्र, पठन्ति ये शास्त्रमपीह भक्त्या। ते प्राप्य सौख्य नृसुरादिजात, प्राचारतस्ते नु प्रयान्ति मुक्तिम् ॥१२६॥ ये तत्पठन्ति सुधियः परिणामशुद्ध्या, ते कीर्तिमेव विमला समवाप्य लोके। ज्ञात्वार्थतोतिगुणद च शुभाशुभं वै, त्यक्तेन सो घनतर प्रभजन्ति

जैनी श्रावकोंके मध्यमे बैठकर इसका व्याख्यान करते हैं, सुनाते हैं वे ज्ञान दानके प्रभावसे निर्मल केवलज्ञानको पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ १२८ ॥ जो गृहस्थ एकाग्रचित्तकर बडी भक्तिसे पुण्य बढानेवाले इस ग्रंथको सुनते हैं वे उस ज्ञानसे और निर्मल चारित्रको धारण करनेसे तीनो लोकोंके सुख पाकर अंतमें मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ १२९ ॥ हे पुण्यवान मनुष्यो ! यह ग्रंथरूपी अमृत संवेग और धर्मको उत्पन्न करनेवाला है, गुणोंसे सुशोभित है, गृहस्थोंके समस्त श्रावकाचारको कहनेवाला है और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानरूपी निर्मल जलसे भरा हुआ है। हे पुण्यवानो, ऐसे इस ग्रंथरूपी अमृतका तुम लोग पान करो, अर्थात् इसका पठन पाठन मनन श्रवण आदि करो ॥ १३० ॥ जो राग द्वेष रहित और अनेक शास्त्रोंके जानकार मुनि इसीके समान किसी दिगम्बर आचार्यके बताये हुए शास्त्रोंसे श्रावकाचारको कहनेवाले इस ग्रंथका शोधन करते हैं वा इसका निरूपण करते हैं वे भी अनंत पुण्यके भागी होते हैं ॥ १३१ ॥ यह उपासकाचार ग्रंथ अर्थरूपसे तो भगवान् अरहंत देवके मुखसे प्रगट हुआ है, गणधर देवोंके द्वारा अनेक प्रकारके अक्षरोंसे गूंथा गया है और इस संसारमें मुनिराज सकलकीर्तिके द्वारा विस्तारताको प्राप्त हुआ है ॥ १३२ ॥ जो तीर्थंकर परमदेव तीनों लोकोंमें इन्द्रादिकोंके द्वारा प्रतिदिन पूज्य हैं, जो संसाररूपी समुद्रसे पार कर देनेवाले हैं, जो गणधर और मुनिराजोंके द्वारा वंदनीय हैं, जो अनन्त सुख आदि निर्मल गुणोंसे सुशोभित हैं और संसारमें जिनकी कोई उपमा नहीं है ऐसे श्री तीर्थंकर परमदेवके चरणकमलोंको मैं निर्मल बुद्धि प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १३३ ॥ जो समस्त इन्द्रादि देवोंके द्वारा पूज्य हैं, अनुपम

पुण्यम् ॥१२७॥ ये पाठयन्ति गुणिनो गृहिणां स्वपुत्रान्, व्याख्या वदन्ति निजश्रावकजैनमध्ये। ग्रंथस्य तेऽतिश्रुतदानत एव लब्ध्वा, सत्केवल सुविमलं च भजन्ति मोक्षम् ॥ १२८ ॥ शृण्वन्ति येऽतिशुभदं परम हि ग्रन्थमेकाग्रचित्तसहिता परमातिभक्त्या। ते ज्ञानतोऽतिविमलाचरणात्प्रयान्ति, मुक्तिं समाप्य भुवनत्रयज सुख च ॥१२९॥ संवेगधर्मजनन विमल गुणाढ्य, प्राचारकृत्स्नकथकं गृहमेधिना च। सद्दर्शनावगमनिर्मलनीरपूर्णं, ग्रन्थामृत सुकृतिनो हि पिबध्वमेव ॥१३०॥ ग्रन्थ गृहस्थचरणान्वितमेव सार, संशोधयन्ति मुनयो बहुशास्त्रवन्त। रागादिदोषरहिता हि निरूपयन्तरतत्तुल्यशास्त्रसहितेन दिगम्बरेण ॥१३१॥ अर्थो जिनेश्वरमुखादिह जातमेतत्, संग्रथितं गणधरैर्विविधाक्षरैश्च। लोके बभूव प्रकट सुमुनीन्द्रवर्गात्, सर्वादिकीर्तिविशदाच्च व्युपासकाख्यम् ॥ १३२ ॥ पूज्या ये भुवनत्रये जिनवरा इन्द्रादिभिः प्रत्यह। संसाराम्बुधितारका. गणधरैर्वन्द्या मुनीन्द्रादिभि.। अन्तातीतसुखादिनिर्मलगुणैर्युक्ता व्यतीतोपमास्तेषा तीर्थकृता नमामि चरणौ

गुणोंसे सुशोभित है और इंद्रिय तथा कामदेवको जीतनेवाले हैं ऐसे पूर्व विदेहमें विराजमान श्री सीमंधर तीर्थंकर परमदेवकी मैं उनके समस्त गुण प्राप्त करनेके लिये स्तुति करता हूं ॥ १३४ ॥ जो तीर्थंकर परमदेवकी सारभूत विभूतिको प्राप्त हुए हैं, इन्द्रादिक देव भी जिनकी सेवा करते हैं, जो अनन्त गुणोंकी खानि है, अनन्त गुण देनेवाले हैं, और जिनकी उपमा संसारभरमें कोई नहीं है ऐसे भूत, भविष्यत, वर्तमान तीनों कालोंमें होनेवाले अनन्तानन्त तीर्थंकरोंके पुण्य बढानेवाले चरणकमलोंको मैं केवल मोक्ष प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १३५ ॥ जो सिद्ध भगवान् लोकशिखरपर विराजमान होते हैं, सम्यक्त्व आदि आठों गुणोंसे सुशोभित हैं, संसारमें जिनकी कोई उपमा नहीं, जिन्हें अनेक मुनिराजोंके समूह भी नमस्कार करते हैं, जो शरीरके भारसे रहित हैं, सारभूत अनंत सुखोंकी खानि है, अत्यंत निर्मल है, जो मध्य अंत रहित हैं और जो धर्मको प्रदान करनेवाले हैं, ऐसे श्री सिद्ध भगवानके समस्त गुण प्राप्त करनेके लिये मैं उनका प्रतिदिन ध्यान करता हूं ॥१३६॥ जो आचार्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप और वीर्य इन पांचो आचारोंको स्वयं पालन करते हैं और शिष्योंसे पालन कराते हैं तथा जो शुद्ध आचरणोके द्वारा मोक्षके कारण बने रहते हैं ऐसे समस्त आचार्योंको मैं सदा नमस्कार करता हूं ॥१३७॥ जो उपाध्याय ज्ञान देनेवाले अंग पूर्वरूप श्रुतज्ञानको स्वयं पढते हैं और अपने शिष्य मुनियोंको पढाते हैं ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीके चरणकमलोंकी मैं शुभ श्रुत ज्ञान प्राप्त करनेके लिये स्तुति करता हूं ॥ १३८ ॥ जो मुनिराज सद्धर्मरूपी महासागरके मध्यमें विराजमान हैं, जो रत्नत्रयसे सुशोभित हैं, जिन्होंने

सदबुद्धिससिद्धये ॥१३३॥ अमरगणसुसेव्य धर्मसद्रत्नभाण्ड, निरुपमगुणयुक्त पूर्वपूर्वे विदेहे। विजितकरणमार त हि सीमधराख्यं, सकलगुणसमाप्त्यै सस्तुवे तीर्थनाथम् ॥१३४॥ ते तीर्थेश्वरभूतिसारकलिता देवेन्द्रसंसेवितातीतानागतवर्तमानसकले काले जिनेन्द्रा भुवि। अन्तातीतगुणाकरा गुणप्रदास्त्यक्तोपमा मुक्तये, ह्यतातीतजिनेशिनां सुचरणौ तेषा प्रवन्दे शुभौ ॥१३५॥ ये सिद्धा नमिता मुनीश्वरगणैर्लोकाग्रगेहे स्थिताः। सम्यक्त्वादिगुणाष्टका निरुपमा देहादिभारोज्झिताः। सारानन्तसुखाकरा हि विमला अन्तातिगा धर्मदास्तेषा तद्गुणप्राप्तये प्रतिदिनं ध्यानं करोम्येव वै ॥ १३६ ॥ पंचाचारं ये चरन्ति स्वय वै, सच्छिष्याणां चारयन्त्येव शुद्धम्। मुक्तेरंगं नित्यमाचारशुद्धं, वन्दे सर्वान् तान् सदा सूरिसंघान् ॥ १३७ ॥ ये पठन्ति श्रुतमंगपूर्वजं, पाठयन्ति च विनेयमुनीनाम्। ज्ञानद शुभश्रुताय पाठका, संस्तुवे पदयुगं खलु तेषाम् ॥ १३८ ॥ येसद्धर्ममहाब्धिमध्यविगता रत्नत्रयालंकृता, ध्यानध्वस्तसमस्तकिल्विषविषा स्वर्मोक्षससाधका। अन्ता-

अपने ध्यानसे समस्त पापरूपी विष धोडाला है, जो स्वर्ग मोक्षको सिद्ध करनेवाले हैं, अनंत गुणोंको धारण करनेवाले हैं, जो तपश्चरणरूपी धनसे ही धनी हैं, और जो रत्नत्रयमें सदा लीन रहते हैं ऐसे मुनिराजोंके समस्त गुण प्राप्त करनेके लिये मैं उनके चरणकमलोंको सदा नमस्कार करता हूं ॥ १३९ ॥ यह श्री तीर्थंकर परमदेवका शासन सब सुखोंकी खानि है, समस्त भव्योंका हित करनेवाला है, विद्वानोंके द्वारा पूज्य है, इंद्रादि समस्त देव भी इसकी पूजा करते हैं, यह तीनों लोकोंमें सर्वोत्तम है, और जिनका मन संसारसे भयभीत है उनकेलिये परम शरण है, ऐसा यह श्री तीर्थंकर परमदेवका शासन (जैनमत) सदा जयशील हो ॥ १४० ॥ इस संसारमें सम्यग्ज्ञान ही सार है, गणधर और मुनिराज भी इसकी सेवा करते है, यह समस्त तत्त्वोंको प्रगट करनेके लिये दीपक समान है, समस्त दोषोंसे रहित है, श्री जिनेंन्द्रदेवने स्वयं इसका निरूपण किया है, देव विद्याधर सब इसकी पूजा करते हैं और यह समस्त सुखोंकी निधि है ऐसे सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये मैं उसे नमस्कार करता हूं ॥ १४१ ॥ यह उपासकाचार (प्रश्नोत्तर श्रावकाचार) ग्रंथ देवोंके द्वारा भी पूज्य है, उत्तम धर्मका निरूपण करनेवाला है, अनेक गुणोंसे भरपूर है, उत्तम पुण्यका कारण है और श्री सकलकीर्ति मुनिराजका वनाया हुआ है ऐसा यह प्रश्नोत्तर श्रावकाचार संसारभरमें जयशील हो ॥ १४२ ॥ यह ग्रंथ न तो कीर्ति वढानेके लिये वनाया गया है, न किसी लाभके लोभसे वनाया है और न अपने कवि होनेके अभिमानसे वनाया है, किंतु इस संसारमें अपना कल्याण करनेके लिये तथा दूसरोंका कल्याण करनेके लिये और अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिये (परलोक सुधारेनके लिये) ही मैने यह ग्रंथ वनाया है ॥ १४३ ॥ अपने अज्ञानके कारण अथवा प्रमादके कारण इसमें अक्षर स्वर संधि पद मात्रा आदि जो कुछ कम हो वह सब ज्ञानी मुनिराजोंको क्षमा कर देना चाहिये ॥ १४४ ॥ इस ग्रंथकी संख्या

तीतगुणास्तपोधनधना रत्नत्रये सस्थितास्तेपा तद्‌गुणप्राप्तये क्रमयुग वन्दे यतीना सदा ॥ १३९ ॥ सौख्याकरं सकलभव्यहित वुधार्च्यं, सपूजितं सुरगणैर्भुवनैकज्येष्ठम् । ससारत्रस्तमनसा शरण पर यत, तच्छाशन जयतु श्रीजिनपुगवानाम् ॥१४०॥ गणधरमुनिसेव्य विश्वतत्त्वप्रदीप, विगतसकलदोप श्रीजिनेन्द्रैः प्रणीतम् । खचरसुरसमर्च्यं ज्ञानसिद्ध्यै प्रवन्दे, निखिलसुखनिधान ज्ञानमेवात्र सारम् ॥ १४१ ॥ उपासकाख्यो विवुधै' प्रपूज्यो, ग्रन्थो महाधर्मकरो गुणाढ्यः । समस्तकीर्त्यादिमुनीश्वरोक्तः, सुपुण्यहेतुर्जयतात् धरित्र्याम् ॥१४२॥ न कीर्तिपूजादिसुलाभलोभात्कृतः कवित्वाद्यभिमानतो न । ग्रन्थोयमत्रैव हिताय स्वस्य, परोपकाराय मया विशुद्ध्यै ॥१४३॥ अक्षरस्वरसुसधि-

मुनिराजोंने दोहजार आठसौ अस्सी (२८८० श्लोक) वतलाई है। ऐसा यह ग्रंथ इस पृथ्वीपर जवतक समय रहे तबतक वृद्धिको प्राप्त होता रहे ॥ १४९ ॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग नामकी उत्तम प्रतिमाओंको निरूपण करनेवाला यह चौवीसवा परिच्छेद समाप्त हुआ।

पदादि-मात्रयारहितमुक्तमपीह। ज्ञानहीन त एव प्रमादतस्तत्क्षमध्वमृपि नायका हि मे ॥१४४॥ शून्याष्टाष्टद्वयांकाढ्यः संख्यया मुनिनोदितः। नंदते चावनौ ग्रन्थो यावत्कालान्तमेव हि ॥ १४९ ॥

इति श्रीभट्टारक सकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे अनुमतित्यागउद्दिष्टत्यागप्रतिमानिरूपको नाम चतुर्विंशतितमः परिच्छेदः।

समाप्तोऽयं श्री श्रावकाचार ग्रन्थः।

इसप्रकार यह प्रश्नोत्तरश्रावकाचार ग्रंथ समाप्त हुआ।

चुने हुए स्वाध्यायोपयोगी ग्रंथ।

भगवान महावीर–इसमें अंतिम तीर्थंकर श्री महावीरस्वामीके ऐतिहासिक वर्णनके साथ २ अन्य २३ तीर्थंकरोंका भी वर्णन है, साथमें चन्दना, जीवंधरकुमार, श्रेणिक और चेटक, अभयकुमार, म० बुद्ध व भगवान महावीर तथा श्वेताम्बराम्नायकी उत्पत्ति आदि बहुतसी बातें व जीवनचरित हैं। मू० १।।।) सजिल्द २)

संक्षिप्त जैन इतिहास–इसमे जैनधर्मकी प्राचीनता, क्या जैनी भारतीय हैं, आर्य म्लेच्छ, जातिया, भोगभूमि काल, कर्मभूमि आदि बातोंका वर्णन है, प्रस्तावनाके ७७ पेजोंमें इतिहासके साधन, सागर, पल्य आदि कई बातोंपर प्रकाश डाला गया है। मू० ॥≡)

जैन व्रतकथासंग्रह–(शास्त्राकार बडी साइज) इसमें मुख्य मुख्य रत्नत्रय, दशलक्षण, सोलहकारण, सुगंधदशमी, रविवार, अष्टान्हिका, औषधिदान, परधनलोभ आदि २८ व्रत कथाएं हैं। साथमें विधि व करनेवालोंका नाम भी है। मूल्य १)

श्रावकाचार (पूर्वार्द्ध)–इसमें सम्यग्दर्शनका वर्णन बडी ही सरल रीतिसे किया है। जैनधर्मसे अनभिज्ञ व्यक्ति भी इससे उत्तम उपदेश ग्रहण कर सक्ता है। मूल्य ।।।)

श्रावकाचार–(उत्तरार्द्ध) इसमें विशदतया सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्रका वर्णन है तथा साथमें पहले दूसरे भागकी विषय-सूची व अंतमें मूल ग्रंथ भी छपा है। मू० ।।।)

ज्ञानतत्वदीपिका–(प्रवचनसार प्रथमभाग) की अनेक उदाहरणपूर्व सुलभ टीका। जीव–कर्मका स्वरूप जानकर बादमें मोक्षमार्ग स्वरूप शुद्धात्माका अनुभव करानेमें अपूर्व ग्रंथ। मू० १।।) पृ० ४००

ज्ञेयतत्वदीपिका–(प्र० दूसरे भागकी टीका) यह भी प्रथम भागके समान अनेक उदाहरण पूर्ण लिखी गई है। इसमें छह द्रव्योंका स्वरूप उलट पुलटकर सरल रीतिसे समझाया गया है। अपनी आत्माको छह द्रव्य स्वरूप जानकर उसे असार संसारसे निकालनेका प्रयत्न करानेको अपूर्व ग्रंथ। मू० १।।।) पृ० ४००,

चारित्रतत्वदीपिका–(प्र० तीसरा भाग) इसमें उद्दिष्ट त्यागी व मुनियोंके आचार विचार, वेष आदिके वर्णनके साथ, भोजनके दोष, अंतराय, मल आदिका विवेचन है, स्त्रीको मोक्ष क्यो नहीं होसक्ती, इसका अच्छा खुलासा है। मू० १।।।) पृ० ३७५।

गृहस्थधर्म–(अनेक श्रावकाचार ग्रन्थोंका सार) इसमें १६ सस्कारोंके वर्णनके साथ श्रावक, उसकी पात्रता, ११ प्रतिमाएं, २२ अभक्ष्य, १२ व्रत, सप्तव्यसन, क्षुल्लक ऐलकका कर्तव्य आदि क्रियाओंका वर्णन है। सिद्धयंत्र व नित्यपूजा भी है। मूल्य १।।) १।।।)

सोलहकारण धर्म–(दर्शनविशुद्ध्यादि १६ भावनाओंका विस्तृत सरल वर्णन) कथा भी है। मूल्य ।।)

दशलक्षणधर्म–विशेष संशोधनके साथ नवीन आवृत्ति। मू० ।=)

आचार्य श्रीसकलकीर्तिविरचित—

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार

भाषावचनिका समाप्त।

"जैनविजय" प्रेस–सूरत।